अच्युतग्रन्थमालायाः (ख) विभाग षष्ठं प्रसूनम्

श्रीमदप्पय्यदीक्षितविरचित

सिद्धान्तलेशसंग्रह

[भाषानुवादसहित]

प्रकाशनस्थान—

अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय,

काशी ।

अच्युतग्रन्थमालायाः (ख) विभागे षष्ठं प्रसूनम्

श्रीमदप्पय्यदीक्षितविरचितः

सिद्धान्तलेशसंग्रहः

वेदान्ताचार्यपं०श्रीमूलशङ्करव्यासविरचितेन सटिप्पणभाषानुवादेन

समलङ्कृतः

श्रीजो०म०गोयनका-संस्कृतमहाविद्यालयाध्यक्षेण पं०श्रीचण्डीप्रसादशुक्लशास्त्रिणा

अच्युतग्रन्थमालाध्यक्षेण पं० श्रीश्रीकृष्णपन्तशास्त्रिसाहित्याचार्येण च

सम्पादितः।

प्रकाशनस्थानम्—

अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालयः, काशी।

संवत्

प्रथमावृत्तिः] १९९२ [मूल्यम् ३)

प्रकाशक—
श्रेष्ठिप्रवर श्रीगौरीशङ्कर गोयनका
अच्युतग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी।



मुद्रक
ना० रा० सोमण
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस।

'भूमिका'

कुछ लिखनेके पहले उन श्रद्धेय महानुभावोंको मैं कदापि नहीं भूल सकता हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थके अनुवादकी आशातीत सफलताके लिए अनेक कष्टोंको सहकर परिश्रम किया है और उपयोगी सलाह देते रहे हैं। यदि उनकी सलाह न होती तो ऐसे क्लिष्ट ग्रन्थका अनुवाद होना प्रायः असम्भव ही था। वे महानुभाव हैं—श्रद्धेय वयोवृद्ध पू० पं० चण्डिप्रसाद शुक्लजी और मान्यवर श्रद्धेय पं० श्रीकृष्ण पन्तजी।

सिद्धान्तलेशसंग्रहके प्रणेता पण्डित अप्पय्यदीक्षित उन महान् पण्डितोंमें थे, जिनका नाम आज तक विद्वत्समुदायमें बड़े गौरव और श्रद्धासे लिया जाता है, इन्होंने अपनी लेखनीसे ऐसे-ऐसे अनेक ग्रन्थ लिख डाले हैं, जिन्हें देखकर सरस विद्वानोंका मस्तक अपने-आप उनके चरणोंमें झुक जाता है।

इतिहासज्ञोंने ई० १५२० से १५९३ तक इनका जीवनकाल निश्चित * किया है। पं० अप्पय्यदीक्षितका जन्म काञ्चीके आस-पास 'अडपप्पल' गाँवमें हुआ था, अभी तक उनके कुछ वंशज उस प्रान्तमें विद्यमान हैं। अप्पय्यदीक्षितके पितामहका नाम आचार्यदीक्षित था, क्योंकि उन्होंने न्यायरक्षामणि ग्रन्थमें † पितामहका नामग्रहण करके नमस्कार किया है। इनका

---

* यद्यपि इस विषयमें कुछ मतभेद है अर्थात् कुछ लोग १५५०—१६२२ तक इनकी स्थितिका काल मानते हैं, तथापि तत्सम्बन्धी विचार पुरुषार्थचतुष्टयान्यतमोत्पादक न होनेके कारण प्रकृतमें अनावश्यक-सा है। और ऐतिहासिक लोग अन्य ग्रन्थोंसे भी इसका अवधारण कर सकते हैं। इसलिए मैं इसपर अधिक लिखना पसन्द नहीं करता।

† 'आसेतुबन्धतटमा च तुषारशैलादाचार्यदीक्षित इति प्रथिताभिधानम्।
अद्वैतचित्सुखमहाम्बुधिमग्नभावमस्मत्पितामहमशेषगुरुं प्रपद्ये॥'
इस प्रकारका श्लोक न्यायरक्षामणिमें उपलब्ध होता है।

वक्षःस्थलाचार्य भी दूसरा * नाम था। ये अपने समयके प्रौढ़ विद्वान् और दानी थे। उन्होंने बड़े-बड़े अनेक यज्ञ किये थे।

अप्पय्यदीक्षितके पिताका नाम 'रङ्गराजाध्वरी' था। ये भी अनेक शास्त्रोंमें अप्रतिम पण्डित थे। अप्पय्यदीक्षितने इन्हींसे सब शास्त्र पढ़े थे, इस विषयका स्वयं दीक्षितजीने ही अनेक स्थानोंमें स्पष्टीकरण किया है †।

अनेक प्रमाणोंसे दीक्षितजीका नाम 'अप्प' दीक्षित ही मालूम होता है, परन्तु आन्ध्र, कर्णाटक आदि देशोंकी भाषासरणिसे इनके 'अप्पय या अप्पय्य' ऐसे भिन्न नाम भी व्यवहारमें प्रचलित हैं। ये विजयनगरके अधीश्वर चिन्न बोम्म, नरसिंहदेव और वेंकटपतिरावके समकालिक थे, इसमें ‡ अनेक प्रमाण मिलते हैं। सिद्धान्तकौमुदीके विख्यात रचयिता भट्टोजीदीक्षितने भी सिद्धान्तकौमुदीकी रचनाके बाद दक्षिणमें जाकर अप्पय दीक्षितजीसे पढ़ा था, उसके बाद उन्होंने तत्त्वकौस्तुभनामका ग्रन्थ लिखा था, जिसमें अपने गुरु अप्पयदीक्षितको ही प्रणाम किया है।

अप्पयदीक्षितने अपने जीवनकालमें सौसे अधिक ग्रन्थ लिखे थे, ऐसा प्रमाण मिलता है, × क्योंकि उनके नामके आगे 'चतुरधिकशतप्रबन्धनिर्वाहका-

---

* यहाँपर चित्रमीमांसाका कुछ अंश प्रमाणरूपसे उद्धृत करते हैं—यथास्मत्कुलकूटस्थवक्षस्थलाचार्यविरचितवरदराजवसन्तोत्सवे—

'काञ्चित् काञ्चनगौराङ्गीं वीक्ष्य साक्षादिव श्रियम्।
वरदः संशयापन्नो वक्षःस्थलमवेक्षते॥'

† इसी ग्रन्थके 'तातचरणव्याख्यावचःख्यापितान्' 'विद्वद्गुरोर्विहितविश्वजिदध्वरस्य' इत्यादि पद्य इसमें प्रमाण हैं।

‡ इस विषयमें ये प्रमाण मिलते हैं—

हेमाभिषेकसमये परितो निषण्णसौवर्णसंहतिमिषाच्चिनबोम्मभूपः।
अप्पय्यदीक्षितमणेरनवद्यविद्याकल्पद्रुमस्य कुरुते कनकालवालम्॥१॥
द्विर्भावः पुष्पकेतोर्विबुधविटपिनां पौनरुक्त्यं विकल्पश्चिन्तारत्नस्य वीप्सा
तपनतनुभवो वासवस्य द्विरुक्तिः। द्वैतं देवस्य दैत्याधिपमथनकलाकेलिकारस्य कुर्वन्नानन्दं कोविदानां जगति विजयते श्रीनृसिंहः क्षितीन्द्रः॥२॥
अमुं कुवलयानन्दमकरोदप्पदीक्षितः।
नियोगाद् व्यङ्कटपतेर्निरुपाधिकृपानिधेः॥३॥

ये तीनों पद्य क्रमशः समरपुङ्गवदीक्षितके यात्राप्रबन्धमें, अप्पयदीक्षितविरचित चित्रमीमांसामें और कुवलयानन्दमें मिलते हैं।

× यद्यपि अप्पय्यदीक्षितके सभी ग्रन्थोंके नाम ज्ञात नहीं हो सके हैं। गुरुपरम्परा एवं अन्यान्य ग्रन्थोंसे जितने नाम हमें उपलब्ध हो सके हैं, उनका निम्न प्रकारसे उल्लेख किया है—

चार्य' अर्थात् एक सौ चार ग्रन्थोंके निर्माण करनेवाले आचार्य, यह उपाधि लगी हुई कहीं-कहींपर मिलती है।

अस्तु जो कुछ हो, परन्तु इतना तो निर्विवाद सिद्ध होता है कि दीक्षित-जीका सब शास्त्रोंमें अप्रतिहत पाण्डित्य और उनकी प्रतिपादनशैली विलक्षण ही थी। ये परम आस्तिक थे। इनका गोत्र भारद्वाज था। ये * ७२ वर्षकी दीर्घ आयु तक जीवित रहे। शायद इतनी बड़ी आयुवाले पण्डित संसारमें अल्प ही हुए हैं।

इतिहासप्रेमियोंके लिए इतनी ही सामग्री छोड़कर अब अन्य प्रकृतोपयोगी विचार करते हैं—

सिद्धान्तलेशसंग्रह वेदान्तदर्शनका एक बड़ा उपयोगी ग्रन्थ है, क्योंकि इसके यथावत् अध्ययन करनेपर अद्वैतवेदान्तशास्त्रका ऐसा कोई भी मत अज्ञात नहीं रह जाता है, जो इसमें न आया हो। इस ग्रन्थमें ग्रन्थकारने जिन-जिन मतोंका सङ्ग्रह किया है, उनका आगे जाकर दिग्दर्शन करायेंगे। इसके पहले यह बतलानेकी चेष्टा करते हैं कि दर्शनशब्दका क्या अर्थ है, वे कितने हैं, और उनकी क्या आवश्यकता है।

यद्यपि दर्शनशब्दके प्रकरणानुसार अनेक अर्थ होते हैं, और उनका कोषोंमें निरूपण भी मिलता है †, तथापि जहां शास्त्रशब्दके ‡ साथ दर्शनशब्द आता

कुवलयानन्द, चित्रमीमांसा, वृत्तिवार्तिक, नामसंग्रहमाला, और इसकी व्याख्या, नक्षत्रवादावली, प्राकृतचन्द्रिका, चित्रपुट, विधिरसायन, सुखोपयोजनी, उपक्रमपराक्रम, परिमल, न्यायरक्षामणि, सिद्धान्तलेशसंग्रह, मतसारार्थसंग्रह, नयमञ्जरी, न्यायमुक्तावली, नयमयूखमालिका, शिवार्कमणिदीपिका, मणिमालिका, रत्नत्रयपरीक्षा, शिखरिणीमाला, शिवतत्त्वविवेक, ब्रह्मतर्कस्तव, शिवकर्णामृत, रामायणतात्पर्यसंग्रह, भारततात्पर्यसंग्रह, शिवाद्वैतनिर्णय, शिवार्चनचन्द्रिका, बालचन्द्रिका, शिवध्यानपद्धति, आदित्यस्तवरत्न, मध्वतन्त्रमुखमर्दन और मध्वमतविध्वंसन आदि।

* इस विषयमें दीक्षितजीके भ्राताके पुत्र नीलकण्ठ द्वारा विरचित शिवलीलार्णवके प्रथम सर्गमें एक श्लोक प्रमाणरूपसे मिलता है—

कालेन शम्भुः किल तावताऽपि कलाश्चतुष्षष्टिमिताः प्रणिन्ये।
द्वासप्ततिं प्राप्य समाः प्रबन्धाञ्छतं व्यधादप्पयदीक्षितेन्दुः॥

और इसी प्रमाणसे दीक्षितजीने सौ ग्रन्थ बनाये हैं, यह भी साबित होता है।

† जैसे नेत्र, स्वप्न, बुद्धि, धर्म, दर्पण आदि।

‡ शास्त्रशब्दका लक्षण यों मिलता है—प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा। पुंसां

है, वहाँ पर उसका अर्थ होता है—दृश्यते—यथार्थरूपतया ज्ञायते अलौकिकार्थो येन, इस व्युत्पत्तिसे ठीक-ठीकरूपसे अलौकिक अर्थका (लौकिकचक्षु आदि प्रमाणोंसे ज्ञात नहीं होनेवाले अर्थका) परिज्ञान जिससे होता हो—ऐसा शास्त्र।

दर्शनशास्त्रोंके सामान्यरूपसे पहले दो विभाग किये जा सकते हैं—आस्तिकदर्शन और नास्तिकदर्शन। आस्तिकदर्शन उन्हें कहते हैं, जिनमें वेदोंके प्रामाण्यका अङ्गीकार करके पारलौकिक अर्थका निरूपण किया गया हो। और नास्तिकदर्शन उन्हें कहते हैं—जिनमें वेदोंके प्रामाण्यका अङ्गीकार न करके केवल युक्तिसे अर्थका प्रतिपादन किया गया हो। इस प्रकारसे सामान्यतः द्विधा विभक्त दर्शनशास्त्रोंका पुनः इस प्रकार अवान्तर विभाग किया गया है—आस्तिकदर्शन-शास्त्रोंके फिर तीन विभाग हैं—न्याय, सांख्य और मीमांसा। न्यायशब्दसे गौतम और कणाद महर्षि द्वारा प्रणीत न्याय और वैशेषिक, ये दो शास्त्र विवक्षित हैं। साङ्ख्यशब्दसे कपिल और पतञ्जलि द्वारा लोकमें आविर्भूत सांख्य और योग शास्त्र विवक्षित हैं। मीमांसाशब्दसे जैमिनि और भगवान् वेदव्यास द्वारा प्रणीत पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा विवक्षित हैं। इसीलिए व्यवहार होता है कि आस्तिकदर्शन छः प्रकारके हैं।

इसी रीतिसे नास्तिकदर्शनोंके भी पहले पहले चार्वाक, बौद्ध और जैन इस प्रकार तीन विभाग करनेके बाद विनेयोंकी (शिष्योंकी) बुद्धिके अनुसार विभक्त माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिकके भेदसे बौद्धदर्शनके चतुर्विध होनेसे वे भी छः प्रकारके हैं। यद्यपि दर्शनशास्त्रके अन्य भी अवान्तर भेद हैं, तथापि मुख्यरूपसे उनकी गणना न होनेके कारण व्यावहारिक प्रसिद्धि नहीं है।

वेदप्रामाण्यवादी समुदायकी दृष्टिसे नास्तिकदर्शनोंमें परमपुरुषार्थ-प्रयोजकता विवादास्पद है, क्योंकि किसी खास * प्रमाणविशेषका अनङ्गीकार

येनोपदिश्येत शास्त्रं शास्त्रविदो विदुः॥ अर्थात् हितसाधनोंमें प्रवृत्ति और अहितसाधनोंसे निवृत्ति जिससे बोधित होती हो, उसे शास्त्र कहा जाता है।

* अर्थात् सर्वप्रमाणधिराज अपौरुषेय वेदवाक्योंके आधारके विना ही केवल यौक्तिक बलके आधरपर नास्तिकमतावलम्बियोंका विचार प्रस्तुत हुआ है, अतः युक्ति अप्रतिष्ठित

करके केवल यौक्तिकत्वादका ही उनमें अङ्गीकार किया गया है। वेदविरुद्ध युक्तिके अप्रतिष्ठित होनेके कारण यथार्थरूपसे तत्त्वविनिश्चय उनसे नहीं हो सकता। यद्यपि इस विषयमें सत्प्रतिपक्ष हो सकता है कि आस्तिकदर्शनशास्त्रोंमें मोक्षोपयुक्तमार्गप्रदर्शकत्व नहीं है और नास्तिकदर्शनोंमें है। तथापि उभयदर्शनज्ञ प्रेक्षावान् पुरुषकी विचार-कसौटिमें कसे जानेके बाद नास्तिकदर्शन ही उक्तार्थमें पूतिकूष्माण्डीकृत प्रतीत होते हैं, अतः उक्त सत्प्रतिपक्ष प्रेक्षावत्पुरुषश्रद्धेय नहीं हो सकता है।

आस्तिक और नास्तिक दर्शनोंका परस्पर भेद जिस-जिस अंशमें है, उसे संक्षेपसे बतलाना प्रकृतमें अनुपयुक्त नहीं होगा, अतः उसको दिखाते हैं—

न्यायशास्त्र

न्यायशास्त्रके मूल रचयिता महर्षि गौतम हैं। इन्होंने सोलह पदार्थ माने हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान *। इनके मतमें चार प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। इन सोलह पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे अनात्मभूत देह आदिमें आत्माकी जो मिथ्याज्ञानरूप भ्रान्ति है, उसकी निवृत्ति होती है और उससे राग † आदि दोषोंकी निवृत्ति होती है। दोषोंकी निवृत्तिसे शुभाशुभकर्मकी निवृत्ति, इससे निमित्तके अभावसे नैमित्तिक अनेक योनियोंमें जन्मकी निवृत्ति, और इससे गर्भावाससे लेकर मरण तकके सम्पूर्ण दुःखोंकी निवृत्तिरूप मुक्ति होती है।

वैशेषिकशास्त्र

वैशेषिक दर्शनके रचयिता कणाद मुनि हैं। इनके मतमें छः पदार्थ हैं—

होनेसे तद्दृष्टसविचार नित्यनिरतिशयसुखप्रदर्शक नहीं हो सकते हैं। और पुरुषबुद्धिके भ्रमविप्रलम्भादिदोषग्रस्तत्वात् होनेके कारण भी उनका तत्त्वप्रतिपादन अवश्य भ्रान्त हो सकता है। अपौरुषेय वेदवाक्योंके निरस्तसमस्तदोषकलङ्क होनेके कारण उनमें ऐसी सम्भावना नहीं हो सकती है, ऐसा आस्तिकोंका तात्पर्य है।

* इन पदार्थोंका प्रतिपादन करनेवाला गौतमका यह प्रथम सूत्र है—प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः [गौ० सूत्र १ अ० आ० १ सू० १]।

† दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः, यह सूत्र इसमें प्रमाण है।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। प्रत्यक्ष और अनुमान दो ही प्रमाण हैं। उक्त छः * प्रकारके पदार्थोंके ईश्वरानुग्रहवश यथार्थज्ञानसे आत्यन्तिक दुःखकी निवृत्तिरूप मोक्षकी उत्पत्ति होती है। यद्यपि उक्त प्रकारसे न्याय और वैशेषिकका परस्पर भेद है, तथापि प्रतिज्ञादिन्यायप्रयुक्त विचारकी प्रवृत्ति होनेसे दोनों शास्त्रोंमें न्यायशास्त्रत्वका व्यवहार होता है †।

निरीश्वरसांख्यशास्त्र

इस शास्त्रके प्रधान आचार्य कपिल मुनि हैं—इनके मतमें संक्षेपसे पहले चार प्रकारके पदार्थोंका विभाग किया गया है—प्रकृति, विकृति, प्रकृतिविकृति और प्रकृतिविकृतिसे रहित ‡। इन सामान्यरूपसे परिगणित पदार्थोंके विशेष-रूपसे पच्चीस विभाग हैं—प्रकृति, पुरुष, महत्तत्त्व, अहङ्कार, मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ×। और इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, ये तीन प्रमाण हैं। परम पुरुष जगत्के प्रति कारण नहीं है, किन्तु प्रकृति ही कारण है। सत्त्व, रज, और तम इन तीन गुणोंकी साम्यावस्थाको प्रकृति कहते हैं। किसी एक गुणके उद्रेक होनेपर वह प्रकृति कार्यकारणरूपमें परिणत होती

---

* यद्यपि अभावको लेकर सात पदार्थ काणाद मतमें यत्र तत्र उपवर्णित हैं, तथापि अभावपदार्थके तुच्छ होनेसे वैशेषिक सूत्रमें उसकी गणना नहीं की गई है। धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायानां पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्।

† अथवा न्यायशब्दका अर्थ परार्थानुमान होता है, और परार्थानुमान सम्पूर्ण ज्ञानोंका अनुग्राहक है और सब कर्मोंके अनुष्ठानमें परम्परया प्रयोजक भी है, अतः 'प्राधान्येन व्यपदेशाः भवन्ति' इस न्यायसे इन शास्त्रोंमें न्यायशब्दका व्यवहार होता है। इस विषयमें अभियुक्तोंने कहा है कि 'सोयं परमो न्यायो विप्रतिपन्नपुरुषप्रतिपादकत्वात्' इत्यादि।

‡ मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तुविकारो न प्रकृति र्नाऽपि विकृतिः पुरुषः।

यह श्लोक इस पदार्थविभागमें प्रमाण है।

× इन पदार्थोंकी उत्पत्ति इस प्रकार बतलाई गई है—

प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि च षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥

अर्थात् प्रकृतिसे महत्तत्त्व, (बुद्धितत्त्व) महत्तत्त्वसे अहङ्कार, अहङ्कारसे एकादश इन्द्रिय और पञ्चतन्मात्रा, और इन सोलहमें स्थित पञ्चतन्मात्रासे आकाशादि पञ्चभूत पदार्थ उत्पन्न होते हैं।

है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थोंमें सत्त्वादि गुणत्रयकी अवस्थिति है, अतः उनका कारण गुणत्रयवती प्रकृति ही हो सकती है, यह उनका सिद्धान्त है। इसमें ईश्वरका प्रतिपादन नहीं है, अतः यह निरीश्वरसाङ्ख्य कहलाता है। इस मतमें प्रकृति और पुरुषके विवेक-प्रत्ययसे मुक्ति होती है। इसका अन्य अवान्तर भेद साङ्ख्यकारिका आदि ग्रन्थोंसे जानना चाहिए।

सेश्वरसाङ्ख्यशास्त्र

सेश्वरसाङ्ख्यशास्त्रको योगशास्त्र कहते हैं। इसके मूलभूत प्रणेता आचार्य पतञ्जलि मुनि हैं। इन्होंने सम्पूर्ण योगशास्त्रके तत्त्वोंका चारपादोंमें समावेश किया है, इसीको योगसूत्र कहते हैं। पदार्थविवेकमें पूर्वोक्त साङ्ख्यशास्त्रकी अपेक्षा एक अधिक परमेश्वर पदार्थ* माना गया है, अतः इनके मतमें छब्बीस पदार्थ हैं। प्रकृतिमें अधिष्ठित परमात्माके महत्तत्त्व, काल और पुरुष—कार्योपाधि जीव—इस प्रकार तीन पदार्थ भी ये लोग मानते हैं। जब परमात्माकी असीम कृपासे अष्टाङ्गयोग द्वारा जीवका अज्ञान नष्ट हो जाता है, तब अपनेको बुद्धि आदि पदार्थोंसे भिन्न समझता हुआ वह कैवल्यरूप अमृतसागरमें अवगाहन कर समस्त दुःखोंसे विमुक्त हो जाता है, इस प्रकार उनके मतका संक्षेप है।

पूर्वमीमांसाशास्त्र

पूर्वमीमांसाशास्त्रकी सूत्रों द्वारा सबसे पहले आचार्य जैमिनिने संसारमें प्रसिद्धि की। इन्होंने 'अथातो धर्मजिज्ञासा' आदि सूत्रोंसे बारह अध्यायोंमें केवल धर्माधर्मका ही विचार किया है। पूर्वमीमांसाको छोड़कर दर्शन शास्त्रोंमें से किसी भी शास्त्रमें इतने सूत्र नहीं हैं। इस शास्त्रमें दो मत प्रचलित हैं—कुमारिलभट्टका मत और प्रभाकरका मत। इन मतोंको भाट्टमत और गुरुमत भी कहते हैं। इनमें भाट्टानुसारी छः प्रमाणोंसे वस्तुकी सिद्धि करते हैं। वे छः प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि हैं। और प्रभाकरके मतमें अनुपलब्धिप्रमाणके न होनेसे प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति पांच ही प्रमाण हैं, क्योंकि वे अभावको पदार्थ नहीं मानते हैं, प्रत्युत उसे अधिकरणस्वरूप मानते हैं, अतः अभावके प्रत्यक्षके लिए अनुपलब्धिप्रमाणकी इनके मतमें आवश्यकता

---

* 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' अर्थात् क्लेश आदिसे रहित पुरुषविशेष ईश्वर है, यह सूत्र पतञ्जलिके मतमें ईश्वरकी स्वीकृतिका प्रमाणरूप है।

नहीं है। प्रमेयविभागके अवसरमें प्रभाकरानुयायी—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, शक्ति, सङ्ख्या और सादृश्य इस प्रकारसे आठ पदार्थ मानते हैं। मीमांसक ईश्वरको नहीं मानते। कुछ साम्प्रदायिक कहते हैं कि मीमांसक ईश्वर नहीं मानते, ऐसी बात नहीं है, किन्तु ईश्वरके होते हुए भी वह स्वतन्त्र नहीं है अर्थात् तत्-तत् कर्मोंके अनुसार तत्-तत् प्राणियोंको शुभाशुभ फल देनेके कारण वह ईश्वर परतन्त्र है, अतएव उसका अस्तित्व अकिञ्चित्कर होनेसे नहींके बराबर ही है। मनुष्य धर्माधर्मका ठीक-ठीक परिज्ञान करके उनके अनुष्ठान द्वारा स्वर्ग प्राप्त कर सकता है। यही मोक्ष है, क्योंकि स्वर्गकी प्राप्तिसे किसी प्रकारका कष्ट नहीं होता, वह सुखस्वरूप है। ज्ञानकाण्डको ये लोग स्वार्थमें प्रमाण नहीं मानते हैं। अन्य अधिक विस्तार मीमांसाग्रन्थोंसे जानना चाहिए।

उत्तरमीमांसाशास्त्र

उत्तरमीमांसा शास्त्रका सूत्रों द्वारा भगवान् वेदव्यासने ग्रथन किया है। इसका सम्पूर्ण विचार चार अध्यायोंमें है, जिनका क्रमशः समन्वयाध्याय, अविरोधाध्याय, साधनाध्याय और फलाध्यायसे भी व्यवहार होता है। उत्तरमीमांसामें वेदके ज्ञानकाण्डका विचार है। प्रकृतमें मीमांसाशब्दका अर्थ पूजित विचार होता है। उसी विचारको पूजित विचार कहते हैं—जो कि मनुष्योंको निरतिशयनित्यसुखकी साधनताका यथार्थ परिज्ञान करानेमें समर्थ हो। और पूर्वमीमांसामें आये हुए मीमांसाशब्दका अर्थ—धर्माधर्मविषयक विचार—करना चाहिए। इस प्रकारके भिन्नार्थकत्वमें केवल पूर्वोत्तरशब्द ही प्रमाणरूपसे बस हैं। इसी उत्तरमीमांसाके लिए वेदान्तशब्दका व्यवहार होता है। यद्यपि वेदान्तशब्दका मुख्य अर्थ वेदका उपनिषद्भाग * है, तथापि परम्परया उपनिषद्भागके अर्थनिर्वचनमें उपकारक शारीरकमीमांसा † आदि भी वेदान्तशब्दका अर्थ होता है।

---

* वेदका सामान्यतः तीन काण्डोंमें विभाग किया गया है—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, इनमें ज्ञानकाण्डको अर्थात् आत्मतत्त्वप्रतिपादक वेदविभागको उपनिषत् कहते हैं।

† शारीरक—जीवात्मा—त्वंपदवाच्य पदार्थ, उसका तत्पदवाच्य परमात्माके साथ अभेद प्रतिपादनके लिए जो मीमांसा है, उसको शारीरकमीमांसा कहते हैं, अर्थात् ब्रह्मसूत्रभाष्य आदि।

भगवान् शङ्कराचार्यके सिवा ब्रह्मसूत्रके ऊपर अन्य भी कई-एक आचार्योंने अपने-अपने अभिमत साम्प्रदायिक अर्थके प्रतिपादनके लिए भिन्न-भिन्न भाष्य बनाए हैं, इनमेंसे रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, और निम्बार्काचार्य प्रसिद्ध हैं।

रामानुजाचार्यका मत

श्रीरामानुजाचार्य द्वारा प्रचारित सिद्धान्तको विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त कहते हैं। विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तशब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—द्वयोर्भावः—द्विता, द्विता एव—द्वैतम्—न द्वैतम् अद्वैतम्—अभेदः, विशिष्टस्य—स्वव्यतिरिक्तसमस्तचेतनाचेतनविशिष्टस्य ब्रह्मणः अद्वैतम्—विशिष्टाद्वैतम्, तदेव सिद्धान्तः—विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तः अर्थात् ब्रह्म अद्वैत है, किन्तु स्वभिन्न चेतन और अचेतन पदार्थोंसे विशिष्ट है।

इनके मतमें चित्, अचित् और ईश्वरके भेदसे अर्थात् भोक्ता, भोग्य और नियामकके भेदसे तीन पदार्थ हैं। जैसे कि इन्होंने ही अपने ग्रन्थमें कहा है—

'ईश्वरश्चिदचिच्चेति पदार्थत्रितयं हरिः।
ईश्वरश्चित इत्युक्तो जीवो दृश्यमचित् पुनः॥'

चित्शब्दसे कहलानेवाला जीवात्मा परमात्मासे भिन्न अणु तथा अविनाशी है अचित्-शब्दवाच्य पदार्थ भोग्य, भोगोपकरण और भोगायतनके भेदसे त्रिविध हैं। इस त्रिविध जगत्का कर्ता वासुदेवपदवाच्य परमात्मा है। इसीकी उपासनासे * जीवकी मुक्ति होती है, इत्यादि।

मध्वाचार्यका मत

मध्वाचार्य द्वैतवादी हैं। इन्होंने ब्रह्मसूत्रके ऊपर भाष्य बनाकर द्वैतवाद सिद्ध करनेकी चेष्टा की है। स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र ये दो इनके मतमें तत्त्व हैं। सम्पूर्ण शुभगुणसम्पन्न विष्णु स्वतन्त्र तत्त्व है, और इतर सब अस्वतन्त्र हैं। स्वतन्त्र ईश्वर और जीवका परस्पर भेद ज्ञात हो जानेपर मुमुक्षु सांसारिक कष्टसे मुक्त हो जाता है, और दुःखरहित आनन्दका उपभोग करता हुआ वह

---

* ईश्वरकी पांच प्रकारसे उपासना मानी गई है—अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय, और योग। देवताके स्थान और मार्ग आदिको साफ-सुथरा करना अभिगमन, गन्ध, पुष्प आदि देवताओंकी सामग्रीका सम्पादन उपादान, देवतापूजन इज्या, अर्थानुसन्धानपूर्वक स्तोत्रादिका पाठ स्वाध्याय और देवानुसन्धान योग कहलाता है।

ईश्वरके पास प्रमोद प्राप्त करता है। रामानुजोंके समान ये भी जीवाणुवादी ही हैं। इनके मतको पूर्णप्रज्ञदर्शन * भी कहते हैं।

वल्लभाचार्यका मत

वल्लभाचार्यका जो ब्रह्मसूत्रके ऊपर भाष्य है, उसको अणुभाष्य भी कहते हैं। ये भी जीवाणुवादी ही हैं, परन्तु पूर्वोक्त मतोंसे इनके मतमें यह विशेष है कि गोलोकाधीश्वर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही उपास्य है, अन्य नहीं। किञ्च, यह मानते हैं कि यद्यपि वस्तुतः द्वैत है, तथापि शुद्धाद्वैत ही वेदान्तप्रतिपाद्य है, अर्थात् शुद्ध जीव और परमात्माका अद्वैत है, क्योंकि जीव और ईश्वरकी अविद्या और मायारूप उपाधि वे नहीं मानते हैं, इसलिए अग्नि और विस्फुलिङ्गके समान शुद्ध जीव और परमात्माका ऐक्य हो सकता है और अविकृतपरिणामवाद भी इन्होंने माना है।

निम्बार्काचार्यका मत

ब्रह्मसूत्रके ऊपर निम्बार्काचार्यकी सौरभ नामकी अति संक्षिप्त व्याख्या है, इसीको भाष्य भी कहते हैं। इनका मत भेदाभेदवाद कहलाता है। इनके मतमें चित्, अचित् और ब्रह्म ये तीन पदार्थ मूलरूपसे माने गये हैं। चित्शब्दसे जीव लिया गया है, जो कि अणु, ज्ञानरूप और ज्ञातृत्व आदि धर्मवाला एवं अहंपदवाच्य है। अचित्पदार्थ प्राकृत, अप्राकृत और कालके भेदसे तीन प्रकारका है। सत्त्व आदि तीन गुणोंका आश्रयीभूत द्रव्य प्राकृत पदार्थ है और विष्णुपद, परमपद आदिसे कहलानेवाला अप्राकृत है। इन दोनोंसे भिन्न अचेतन द्रव्यका नाम काल है। जगत्कर्तृत्व आदि गुणोंसे युक्त नारायण, वासुदेवपदवाच्य श्रीकृष्ण ही ब्रह्मशब्दका अर्थ है। ये चित्, अचित् और ब्रह्म पदार्थ अनेक वाक्योंसे † परस्पर भिन्न और

---

* प्रथमस्तु हनूमान् स्यात् द्वितीयो भीम एव च।
पूर्णप्रज्ञस्तृतीयः स्यात् भगवत्कार्यसाधकः॥

इस श्लोकसे मध्वमतप्रवर्तकपरम्पराके ऊपर कुछ आभास पड़ता है—अर्थात् वायुके अवतारभूत—हनूमान् आदि द्वारा यह मत प्रस्तुत हुआ है।

† अर्थात् 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि वाक्योंसे पदार्थोंकी भिन्नता भासती है और 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंसे उक्त पदार्थोंकी परस्पर अभिन्नता भासती है, अतः इन वाक्योंके आधारपर चिदचिद्भिन्नाभिन्न ब्रह्म जिज्ञास्य है, यह इन लोगोंका कथन है।

अभिन्न भी मालूम पड़ते हैं, इसलिए भिन्नार्थप्रतिपादक और अभिन्नार्थप्रतिपादक वाक्योंका स्वार्थमें प्रामाण्य होनेके कारण ब्रह्माधीनस्थितिप्रवृत्तिमत्त्वरूपसे * और प्रत्येकवृत्ति असाधारणधर्मसे चिदचिद्भिन्नाभिन्न ब्रह्म ही मुमुक्षु द्वारा जिज्ञासितव्य है। उक्त प्रकारके ब्रह्मज्ञानसे भगवद्भावापत्तिरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है, यह निम्बार्कका संक्षिप्तसे मत है।

उक्त प्रकारसे आस्तिकदर्शनोंका साधारणरूपसे दिग्दर्शन कराया गया है। इनका अधिक विस्तार तो उनके ग्रन्थोंसे जानना चाहिए। अब नास्तिक दर्शनोंका कुछ विवेचन करते हैं—

चार्वाकमत

चार्वाकशब्दका अर्थ है—आपाततः रमणीय वाणीको कहनेवाला मत-विशेषप्रवर्तक आचार्य। चार्वाकमतके आलोचनसे रागतः प्रवृत्तिशील पुरुषोंको उनका मन्तव्य अच्छा ही लगता है। इनके मतमें चार तत्त्व हैं—पृथ्वी, जल, तेज और वायु। ये ही चार तत्त्व देहाकारमें परिणत होकर मदशक्तिसे युक्त मद्यके समान † चैतन्ययुक्त हो जाते हैं और चैतन्ययुक्त देहेन्द्रियादि ही इनके मतमें आत्मा है। इनसे अतिरिक्त 'आत्मा' कोई पदार्थ नहीं है। और इस मतमें केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है, अनुमानादि नहीं। इस मतके मूल प्रवर्तक आचार्य बृहस्पति हैं। ये लोग अतीन्द्रिय पदार्थ मानते ही नहीं ‡।

---

* चक्षु आदि इन्द्रियाँ यद्यपि परस्पर स्वकीय असाधारणधर्मसे भिन्न हैं, तथापि प्राणाधीनस्थितिकत्वरूपसे अभिन्न हैं। वैसे ही चित्, अचित् और ब्रह्मके विषयमें भी उक्त दृष्टान्त घट सकता है, यह इनका मनोगत भाव है।

† जैसे सुरा जिस पदार्थसे बनती है, उस पदार्थमें मादकता पहलेसे नहीं रहती है, किन्तु उसकी विशेषक्रिया द्वारा उसमें अकस्मात् मादकता आ जाती है, वैसे ही पृथ्व्यादि पदार्थोंमें प्रत्येकरूपसे चैतन्यशक्तिके न होनेपर भी उनके परस्पर विलक्षण आकृतिमें परिणत हो जानेके बाद चैतन्यशक्ति आ जाती है, यह चार्वाकोंका तात्पर्य है। जैसे कि इन्हीं लोगोंकी उक्ति है—

अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्य्यनलानिलाः।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥१॥
किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः ॥२॥

‡ अर्थात् अतीन्द्रिय पदार्थोंकी सिद्धि अनुमानसे की जा सकती है और अनुमान तो इनके मतमें प्रमाण नहीं है, अतः इनके मतमें अतीन्द्रिय पदार्थ नहीं है, यह तात्पर्य है।

वौद्धमत

वौद्धमत चार प्रकारसे विभक्त है—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक। चार्वाकमतसे इनके मतमें अनेक विलक्षणताएँ हैं। ये लोग अनुमानको भी प्रमाण मानते हैं।

इन चारोंके मतमें 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्, सर्वं दुःखं दुःखम्, सर्वं स्वलक्षणं स्वलक्षणम् और सर्वं शून्यं शून्यम्, इस प्रकारकी चतुर्विध भावनासे * परम पुरुषार्थ होता है, ऐसा माना गया है। इनका मत है कि शिष्योंको गुरुके पास जाकर योग और आचार दो क्रियाएँ करनी चाहिएँ। † योग—अप्राप्त वस्तुकी यथार्थरूपसे प्राप्तिके लिए शङ्का। आचार—गुरुने जो उत्तररूपसे कहा हो, उसका अङ्गीकार। गुरुजीने जो उपदेश दिया हो उसका अङ्गीकार कर पर्यनुयोग (शङ्का) नहीं करनेपर माध्यमिकसंज्ञा होती है। ये माध्यमिक सर्वशून्यवादी हैं और अनुमान प्रमाण मानते हैं।

योगाचारमत

माध्यमिक वौद्ध सर्वशून्यवादी हैं। और ये योगाचार बाह्यार्थशून्यवादी हैं अर्थात् आन्तरज्ञानरूप अर्थकी क्षणिकरूपसे स्थिति मानते हैं। इसमें युक्ति है कि यदि ज्ञानरूप अर्थ न माना जाय, तो जगदान्ध्यप्रसक्ति होगी, इसलिए बुद्धितत्त्व माननेकी आवश्यकता है। इनकी 'योगाचार' संज्ञा इसलिए हुई कि गुरु द्वारा कहे गए भावनाचतुष्टय और बाह्यार्थशून्यत्वका अङ्गीकार करनेके अनन्तर आन्तरज्ञानरूप अर्थकी शून्यता कैसे हो सकती है? इस प्रकार पर्यनुयोग किया है। ये लोग क्षणिकत्वरूपसे बुद्धितत्त्वका अङ्गीकार करके बाह्यार्थवादका खण्डन करते हैं अर्थात् बाह्य पदार्थ ज्ञानरूप ही है, उसकी ज्ञानसे अतिरिक्त सत्ता नहीं मानते हैं। केवल वासनाविशेषसे ज्ञानमें अनेक आकार भासते हैं। पूर्वोक्त भावनाचतुष्टयसे सम्पूर्ण वासनाओंका उच्छेद हो जानेसे केवल विशुद्ध विज्ञानका उदय होना ही इनके मतमें मोक्षपदार्थ है।

सौत्रान्तिक मत

सौत्रान्तिकमतमें ज्ञानके सिवा बाह्यार्थ वस्तुकी सत्ता अनुमानसे मानी गई

---

* अर्थात् सब क्षणिक है, दुःखात्मक है, स्वलक्षण है और शून्य है, इस प्रकारकी भावनासे ही मोक्ष हो सकता है, यह वौद्धोंका कथन है।

† अप्राप्तार्थस्य प्राप्तये पर्य्यनुयोगो योगः। गुरूक्तस्यार्थस्याङ्गीकरणमाचारः, इस प्रकार योग और आचारका लक्षण मिलता है।

है। उनका कहना है—यदि बाह्यार्थका सर्वथा अभाव माना जाय, तो 'बाहरके समान आन्तर वस्तुका अवभास होता है, यह योगाचारका कथन ही नहीं बन सकेगा, क्योंकि बाह्य पदार्थके सर्वथा अभावमें तन्निरूपित दृष्टान्तका न होना निश्चित ही है। इन्होंने रूपस्कन्ध, विज्ञानस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध और संस्कारस्कन्ध, इस भेदसे पाँच स्कन्ध माने हैं। शब्दादि विषय और इन्द्रियाँ रूपस्कन्ध हैं, आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञानका प्रवाह विज्ञानस्कन्ध है, सुखदुःखादिप्रत्ययका प्रवाह वेदनास्कन्ध है और संस्कारस्कन्धशब्दसे धर्माधर्मादि कहे जाते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् दुःखरूप और दुःखसाधन है, इस प्रकारकी भावना करके उसके निरोधके लिए तत्त्वज्ञानका सम्पादन करना चाहिए और वह तभी हो सकता है जब दुःख, आयतन, समुदय और मार्ग रूप चार तत्त्वोंका * ठीक-ठीक परिज्ञान हो। एवञ्च इसीके परिज्ञानसे मोक्ष होता है। इन लोगोंकी सौत्रान्तिक इसलिए संज्ञा हुई कि इन्होंने सूत्रके परम रहस्यको पूछा है।

वैभाषिकमत

वैभाषिक लोग बाह्य अर्थको प्रत्यक्षसे ही सिद्ध करते हैं, अनुमानसे नहीं; क्योंकि व्याप्तिज्ञानके बिना अनुमान हो ही नहीं सकता। अनुमानमें प्रत्यक्षात्मक ही व्याप्तिग्रह अपेक्षित होता है, यह सर्वानुभवसिद्ध है। इसलिए ग्राह्य और अध्यवसेय भेदसे दो प्रकारका अर्थ वैभाषिक लोगोंने माना है। पूर्वमतमें बाह्य अर्थकी सत्ता अनुमानसे ही मानी गई है और इस मतमें प्रत्यक्षसे मानी गई है, यह विशेष है। प्रत्यक्षप्रमाणसे गम्य अर्थ ग्राह्य है और अनुमानसे गम्य अर्थ अध्यवसेयरूप है, यह समझना चाहिए। यद्यपि आदि बुद्ध एक ही हैं, तथापि उन्होंने बाह्य और आन्तर पदार्थोंमें सर्वथा अनास्था रखनेवाले शिष्योंके प्रति उपदेशके लिए पहले शून्यवादका उपदेश दिया, विज्ञानमात्रमें आस्था रखनेवालोंके प्रति केवल विज्ञान ही सत् है, ऐसा उपदेश दिया और विज्ञान एवं बाह्य पदार्थोंमें श्रद्धा रखनेवालोंके प्रति दोनों सत्य हैं, ऐसा उपदेश दिया है, इसलिए विनेयभेदसे बुद्धकी भाषा भिन्न-भिन्न है—इस बातको यह चतुर्थ बुद्ध कहता है, अतः इसकी वैभाषिकसंज्ञा हुई।

---

* रूपादि पञ्चस्कन्ध दुःख है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच विषय, मन और बुद्धि दुःखका आयतन है। मनुष्योंके हृदयमें जो राग, द्वेषका उदय होता है, वही समुदयपदार्थ है और सब पदार्थ क्षणिक हैं, इस प्रकारकी स्थिर वासना-मार्गपदार्थ है, इन चार पदार्थोंके ज्ञानसे मोक्ष होता है।

यही कारण है कि उक्त चार प्रकारके बौद्धोंको उपदेश देनेवाले मूलभूत बुद्धके एक होनेपर भी तत्-तत् स्वोपदेष्टव्य शिष्योंकी मतिके वैचित्र्यसे चार प्रकारके बौद्ध कहलाते हैं।

जैनमत

इस मतको आर्हत मत भी कहते हैं, क्योंकि इसके प्रवर्तक 'अर्हत्' नामके आदि पुरुष थे। ये आत्माको स्थायी मानते हैं। इस मतमें पहले जीव और अजीव भेदसे दो तत्त्व माने गये हैं।

फिर इसीका विस्तार जीव, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गलास्तिकायसे भी किया गया है। अस्तिकायशब्द पदार्थवाची है। ये संसारी और मुक्तभेदसे दो प्रकारके जीव मानते हैं। अजीव पदार्थका ही आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल विस्तार है।

और जैनोंने प्रकारान्तरसे जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध और मोक्ष, इस प्रकार सात पदार्थ माने हैं। परोक्ष और अपरोक्ष दो प्रकारके इनके मतमें प्रमाण हैं। इनके मतमें श्वेताम्बर और दिगम्बर आदि अनेक अवान्तर भेद हैं। स्याद्वाद सभी जैनोंको सम्मत होनेपर भी क्रियांशमें इन मतोंकी भिन्नता है। सम्पूर्ण कर्मबन्धनोंसे छुट जानेके बाद असङ्गरूपसे जीवकी अवस्थिति ही इनका मोक्षपदार्थ है। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चरित्र मोक्षप्राप्तिके मार्ग माने गये हैं।

पूर्वोक्त प्रकारसे आस्तिक और नास्तिक दर्शनोंका अत्यन्त सूक्ष्म रीतिसे विभाग किया गया है। परन्तु उनका अधिक विस्तार तत्-तत् ग्रन्थोंमें अधिक विस्तृतरूपसे मिलता है। प्रकृतमें सूक्ष्मरीत्या इसलिए बतलाए गये हैं कि उनके अभिमत पदार्थोंका आकलन सूत्ररूपसे तत्-तत् दर्शनशास्त्रोदितपदार्थजिज्ञासुओंको हो सके।

दर्शनशास्त्रोंकी रचनामें आचार्योंकी प्रवृत्तिका कारण

प्रत्येक दर्शनकारोंकी दर्शनरचनामें प्रवृत्ति इसलिए हुई कि अनेक प्रकारके दुःखोंसे परिपीडित सांसारिक जीवोंकी दुःखोंसे मुक्ति हो और उन्हें सुख प्राप्त हो। तब तक मनुष्योंको चिरस्थायिनी शान्ति प्राप्त नहीं होती है, जब तक कि उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त नहीं होता। यद्यपि व्यावहारिक साधन-

विशेषोंकी सम्पत्ति कुछ व्याहारिक अड़चनोंको हटा सकती है, तथापि उससे पारमार्थिक चिरस्थायिनी शान्ति नहीं मिलती है, अतः जगत्के साधारण जनोंके उपकारको मनमें रखकर तत्-तत् दर्शनकारोंने सूत्ररूपसे अधिकारि-विशेषोंके लिए तत्-तत् प्रकारोंका अनेक युक्ति-प्रयुक्तियोंसे दिग्दर्शन इसलिए कराया है कि उतने दरजेके अधिकारी पुरुषोंको कुछ-न-कुछ शान्ति अवश्य मिल जाय, और उन्हींके मूलभूत सिद्धान्त या सूत्रोंके आधारपर आगेके व्याख्यानकारोंने भी विशद व्याख्या की है।

अब इस विषयमें समझनेकी आवश्यकता है कि किसी खास वस्तुको प्राप्त करनेके लिए उसके भिन्न-भिन्न मार्ग हो सकते हैं, परन्तु उस वस्तुके स्वरूपमें सैद्धान्तिक भेद नहीं हो सकता। जैसे कि कोई लक्ष्मीकी प्राप्तिके लिए अनेक मार्गोंका अनुसरण कर सकता है, परन्तु उससे प्राप्तव्य लक्ष्मीरूप अर्थके स्वरूपमें भिन्नता नहीं हो सकती है। वैसे ही तृप्त्यर्थ भोजनके मार्ग भले ही अनेक प्रकारके हों, परन्तु उससे साध्य तृप्तिके स्वरूपमें भेद नहीं हो सकता। बस, इसी दृष्टान्तको लेकर ठीक-ठीक यदि विचार किया जाय, तो भले ही मानसिक निरवधिक शान्ति या मोक्षके लिए अनेक मार्ग मिल जायँ, परन्तु लक्ष्यके स्वरूपमें उनका भेद नहीं हो सकता। यदि उसीके स्वरूपमें भेद हो गया, तो उसे मोक्ष या मानसिक शान्ति कैसे कह सकते हैं?

पूर्वोद्धृत दर्शनोंके विषयमें यही गड़बड़ी भरी पाई जाती है, अर्थात् उनमेंसे किसीने मोक्षका एक-सा रूप नहीं बतलाया है, प्रत्युत अपने-अपने वैयक्तिक भावसे प्रेरित होकर मोक्षके भिन्न-भिन्न स्वरूप निर्धारण किये हैं। जो आस्तिक-दर्शनविभागमें मत उपन्यस्त किये गये हैं, उनमें श्रुतिवाक्योंकी खींचातानी ही की गई है। और नास्तिक-दर्शनोंका तो कोई मूलभूत आधार ही नहीं है, अतः उनमें तो दर्शनत्व भी सन्दिग्ध है।

यद्यपि कुछ महापुरुष उक्त सभी दर्शनोंका एक-सा समन्वय करनेके लिए भी प्रवृत्त होते हैं, परन्तु उनका वह समन्वय केवल उसी प्रकारका होता है—जैसा कि कोई घट और पटको द्रव्यत्वरूपसे एक स्वरूप बना कर जलाहरणक्रिया पटसे करनेकी इच्छा करता हो। और उस प्रकारका समन्वय दर्शनकारोंने अपनी किसी भी पंक्तिमें नहीं बतलाया है।

और दूसरी बात यह भी है कि वेदान्तदर्शनको छोड़कर न्याय आदि

आस्तिक-दर्शनशास्त्र आत्मतत्त्वविज्ञानाख्य मोक्षके प्रतिपादनके लिए मुख्यरूपसे प्रवृत्त नहीं हुए हैं, परन्तु अन्यान्य द्रव्यादि पदार्थोंका निरूपण करनेके लिए प्रवृत्त हुए हैं। जैसे न्यायमें द्रव्यादि पदार्थोंका निरूपण, सांख्यमें प्रकृति, पुरुष और योगका निरूपण, पूर्वमीमांसामें *धर्माधर्मका निरूपण किया गया है।* उनमें आत्माका निरूपण खासरूपसे नहीं किया गया है, अतः उनसे साक्षात् आध्यात्मिक उन्नतिकी मनुष्यको आशा नहीं करनी चाहिए। हां, इतना अवश्य हो सकता है कि उनके अध्ययनसे व्युत्पत्ति हो जानेके कारण बुद्धिदोषकी निवृत्ति होनेसे वेदान्तके अध्ययनमें सरलता होती है। इसीलिए उनमें परम्परया—मोक्षशास्त्रव्युत्पादन द्वारा—मोक्षोपयुक्तज्ञानसाधनता आ सकती है, अतः हम उनके ऋणी हो सकते हैं।

आचार्यपाद श्रीशङ्करका श्रुतिसम्मत अद्वैततत्त्व

अब आइए वेदान्तदर्शनमें, वेदान्तमें भी आत्मस्वरूपके प्रतिपादनावसरमें श्रीशङ्कराचार्यके सिवा अन्यान्य आचार्योंने श्रुतिके वास्तविक तात्पर्यको विरुद्धरूपसे ही बतलाया है, अतः उनके व्याख्यानसे आत्मतत्त्वप्रतिपत्तिकी आशा व्यर्थ है। जब हम भगवान् आचार्यपाद श्रीशङ्करके विस्तृत भाष्योंको देखते हैं, तभी हमें एक आशाका स्थान और सन्तोष प्राप्त होता है।

यह सर्वसाधारणको विदित है कि जो कोई पुरुष कपट आदि दोषोंसे रहित होता है, उसके कहे हुए वाक्यमें भी एकार्थता ही रहती है, भिन्नार्थता नहीं। यदि उस वाक्यको, जो उस निर्दुष्ट पुरुषने जिस अर्थके परिज्ञानके लिए प्रयुक्त किया है, बुद्धिकौशल्यसे अन्यार्थपरक मान लें, तो उस वक्ताके साथ अन्याय अवश्य होगा। इसी प्रकार वेदवाक्योंका, जो कि अपौरुषेय होनेके कारण सर्वथा दोषरहित हैं, मूल तात्पर्य छोड़ कर यदि अन्य स्वाभिमत ही अर्थ करें, तो अवश्य हम दोषी ठहरेंगे। भगवान् शङ्कराचार्यने उन श्रुतियोंका ऐसा ही व्याख्यान किया है, जो उनका वस्तुतः प्रतिपाद्य था। शङ्कराचार्य साक्षात् भगवान् ही थे, जिनमें छद्म या व्यर्थाभिमानका लेश भी नहीं था, अतः *निर्दुष्ट अपौरुषेय वाक्योंका भगवान् ही ठीक-ठीक व्याख्यान* कर सकते हैं।

अपि च, श्रुतिके प्रत्येक वाक्योंके तात्पर्यका निर्णय करनेके लिए उपक्रमोपसंहार आदि छः प्रमाणोंकी अपेक्षा अवश्य होती है। उपक्रमोपसंहारादिषड्विध श्रुतितात्पर्यनिश्चायक प्रमाणोंकी उपेक्षा करके केवल यदि मनगढ़न्त अर्थ किया

जाय, तो उन वाक्योंका वास्तविक अर्थ हाथमें नहीं आ सकता है। अतः इन प्रमाणोंके आधारपर ही श्रुतियोंका अर्थ निश्चय करना चाहिए। किसी प्रकार भी श्रुतिवाक्यार्थनिर्णयावसरमें इन प्रमाणोंकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि श्रुतिवाक्योंका यह स्वभाव है कि उनके स्वार्थनिर्णयमें उपक्रमोपसंहारादिकी अपेक्षा होती है। अतः श्रुत्यर्थनिर्णायकत्वरूपसे स्वभावतः प्राप्त उन प्रमाणोंकी यदि कोई उपेक्षा करे, तो इससे यही कहा जा सकता है कि वह वह्निके उष्णत्वस्वभावका भी अपलाप करता है।

जब इस स्वभावस्थितिका अवलम्बन करके श्रुतियोंके अर्थका निर्णय किया जाता है, तब श्रुतियां द्वारा भगवान् शङ्कराचार्यपादने जिस निर्गुण सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वैत अर्थका प्रतिपादन किया है, वही अद्वैत अर्थ श्रुतिवाक्योंसे अपने-आप प्राप्त हो जाता है, इतर नहीं, क्योंकि श्रुतिने बार-बार उक्त अद्वैतवस्तुका ही प्रतिपादन किया है, कारण कि निम्नलिखित—

द्वितीयाद्वै भयं भवति।
एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।
नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।
ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्।
सर्वं खलु इदं ब्रह्म।
आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।
योऽन्यां देवतामुपास्ते न स वेद।
अहं ब्रह्मास्मि।
तत्त्वमसि।
इदं सर्वं यदयमात्मा।
एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति।
सलिल एको द्रष्टाद्वैतः।
अथात आदेशो नेति नेति।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।
नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा।
यत्र द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति, यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्।

इत्यादि अनेक श्रुतियाँ अद्वैत—समस्त द्वैतप्रपञ्चसे शून्य—स्वतःप्रकाश आनन्दस्वरूप ब्रह्मका ही प्रतिपादन करती हैं और भ्रमसे प्रतीयमान द्वैत-वस्तुका निषेध करती हैं। इसी श्रुतिसम्मत अद्वैततत्त्वका भगवान् बादरायणने अपने ब्रह्मसूत्रोंसे भी प्रतिपादन किया है। और उसीको भगवत्पाद शङ्कराचार्यने लोक-कल्याणार्थ विशद किया है। अन्य मतावलम्बियोंने जो खींचा-तानी की है, उसका तो उक्त श्रुतियोंसे ही निराकरण हो जाता है, अतः उनके विषयमें

अधिक कुछ लिखनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है'। यही अद्वैतब्रह्म माया-शबलित होकर समस्त प्रपञ्चके प्रति अभिन्न निमित्तोपादान होता है।

श्रुतिसम्मत मायाका स्वरूप

कुछ लोग मायावादका, जिसका कि आचार्यपादने वर्णन किया है, खण्डन करनेके लिए प्रस्तुत होते हैं। परन्तु उनका वह कथन केवल अज्ञान-मूलक ही है। पहले जिस मायावादका वे खण्डन करनेके लिए प्रस्तुत होते हैं, उनको यदि धर्मिकुक्षिप्रविष्ट मायाका परिज्ञान है, तो वे किसका खण्डन करेंगे। यदि नहीं है, तो खण्डनमें खण्डनीय वस्तुके परिज्ञानकी, जो कि सर्वतन्त्र-सिद्धान्तसम्मत है, आवश्यकता होनेके कारण उसके अस्तित्वाभावमें उनका खण्डन केवल उपहासास्पद ही होगा।

अपि च भगवान् आचार्यपादने किस रूपमें मायाका अङ्गीकार किया है, उसे भी पहले समझना चाहिए, और उसे टटोलना चाहिए कि वह वेदसम्मत है ? या नहीं। अनन्तर उसकी परीक्षा की जाय तो परीक्षा ठीक होती है, परन्तु ऐसा नहीं किया जाता। ऋग्वेदादिमें मायाशब्दका आचार्यसम्मत अर्थमें प्रचुररूपसे प्रयोग किया गया है। जैसे कि —

मायाविनं वृत्रमस्फुरन्निः
मायिनो दानवस्य माया अपादयत् [म० २ सू० ११ म० ९–१०]
श्रुतस्य महीं मायाम्
कवितमस्य मायाम् [म० ५ सू० ९६ ५–६]
निर्माया उत्ये असुरा अभूवन् त्वञ्च मा वरण कामयासे।
ऋतेन राजन्ननृतं विविंचन्मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेहि [म० १० सू० १२४ मन्त्र ५]
मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः [म० १ सू० १२]
मायिनाममिनाः प्रोत मायाः [म० १ सू० ३२]

इस प्रकारके मायाशब्दघटित अनेक वाक्य ऋग्वेदादिमें उपलब्ध होते हैं। उनका उपक्रमोपसंहार आदिके आधारपर निर्णय करनेसे वही मायाशब्दार्थ लब्ध होता है जो कि पूज्यपाद श्रीशङ्कराचार्यजीने माना है। आचार्यपादने बार-बार कहा है कि सत्यस्वरूप तत्त्वज्ञानसे असत्यस्वरूप मायाकी निवृत्ति होती है—यही बात ऋग्वेदके 'ऋतेन राजन्' (सत्यसे अनृतकी अर्थात् मायाकी निवृत्ति होती है) इत्यादि मन्त्रसे स्पष्ट भासती है; एवं—

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ।
मायान्तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनन्तु महेश्वरम् ।
मायामेतां तरन्ति ।
अनृतेन ही प्रत्यूढाः ।

इत्यादि अन्याऽन्य श्रुतिवाक्य भी उक्तार्थमें ही प्रमाण हैं। और मायाको अनिर्वचनीय मानना भी श्रुतिने ही बतलाया है—'न सत् तन्नासदुच्यते' अर्थात् माया सत्त्व और असत्त्वसे रहित है—अनिर्वचनीय है।

पूर्वापरभावका विचार न करके जो लोग अपनी निरालम्ब बुद्धिके आधारपर विचार करते हैं, उनसे वेदके यथार्थ अर्थकी आशा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ऐसे पुरुषोंसे हमेशा श्रुति डरा करती है, इस अर्थका पोषक—

'बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरेदिति ।
इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ॥'

इस प्रकार प्रसिद्ध वचन भी मिलता है।

और मायाशब्दका लोकप्रसिद्ध अर्थ किया जाय, तो भी वही अर्थ होता है, जो कि आचार्यचरणने माना है, क्योंकि कोषकारोंने मायाशब्दके छद्म, कापट्य, इन्द्रजाल और मिथ्याबुद्धिहेतु अज्ञान अर्थ माने हैं। यदि मायाशब्द उक्त अर्थवाला नहीं होता, तो इस अनादिप्रवाहकी गति कैसे होती?

और सूत्रकार बादरायणको भी यही बात सम्मत है, क्योंकि यह बात वेदान्तजगत्में प्रसिद्ध है कि एकके विज्ञानसे सभी वस्तुका विज्ञान हो जाता है। इसी विचारको लेकर सूत्रकारने 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः' इत्यादि सूत्रोंसे प्रतिज्ञा और दृष्टान्तके अनुसार ब्रह्मको जगत्की प्रकृति माना है और कार्यकी ब्रह्मसत्तासे पृथक् सत्ताका खण्डन किया है। एवमेव आकाशादिकी ब्रह्ममें अध्यस्तता मानी है। इसीसे यह परिस्फुट है कि प्रतिज्ञावाक्य औरोंसे प्रधान है, उस प्रतिज्ञावाक्यकी तभी उपपत्ति हो सकती है जब कि विवर्तवादका आश्रयण किया जाय, अन्यथा नहीं हो सकती, कारण कि एकके विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा करके दृष्टान्त दिया गया है कि 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव

सत्यम्' इस श्रुतिकी आचार्यपादकी प्रणालीके सिवा अन्य प्रणालीसे उपपत्ति नहीं हो सकती है। इस श्रुतिमें एकविज्ञानसे सर्वविज्ञान जो प्रतिज्ञात है, वह तत्-तत् व्यक्तित्वरूपसे विवक्षित नहीं है, किन्तु मुमुक्षुके लिए जो अभीष्ट ज्ञान है, उसका प्रतिपादन करती है। वह है—मोक्षसाधनीभूत अद्वितीय ब्रह्मज्ञान। श्रुति जिसका प्रतिपादन करना चाहती है, उसमें शिष्यको शङ्का हो कि द्वैत प्रपञ्च तो विद्यमान है, फिर कैसे अद्वितीयत्वका ज्ञान हो सकता है? तो इस शङ्काका परिहार करनेके लिए 'यथा सोम्यैकेन' इत्यादि श्रुतिकी प्रवृत्ति हुई है। तात्पर्य यह हुआ कि जैसे शुक्तिमें आरोपित रजतादिका और रज्जुमें आरोपित सर्पादिका स्वरूप शुक्ति आदि ही हैं, क्योंकि आरोपितकी अधिष्ठानसे अतिरिक्त सत्ता नहीं हो सकती। अतः शुक्ति आदिके तत्त्वज्ञानसे उनमें आरोपित सकल पदर्थोंका सत्त्व विदित हो जाता है, आरोपित रजतादिका तत्त्व शुक्ति आदि है और यथार्थ ज्ञान भी वही हो सकता है, जो तत्त्वावगाही हो। जो तत्त्वावगाही ज्ञान नहीं होता, वह मिथ्याज्ञान है। अतः शुक्तिमें रजतका ज्ञान मिथ्याज्ञान है, इसलिए उक्त श्रुतिमें एक विज्ञानसे सर्वविज्ञानका जो कथन है, वह भी अधिष्ठानभूत सत्य वस्तुके विज्ञानसे आरोपित पदार्थोंका स्वरूपविज्ञान विवक्षित है याने ब्रह्मभूत अधिष्ठानकी सत्तासे पृथक् द्वैतपदार्थोंकी वास्तविक सत्ता नहीं है, अतः वे मिथ्याभूत ही हैं। इस प्रकारका ज्ञान विवक्षित है, । 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि छान्दोग्योपनिषद्का उपक्रम भी उक्त ज्ञानकी सम्पत्तिके लिए ही है, यह समझना चाहिए। विस्तारभयसे प्रकृतमें विचार नहीं करते। यदि इतरमतोंका अवलम्बन किया जाय, तो श्रुतिका प्रतिज्ञा-दृष्टान्तवाक्य कभी नहीं युक्तियुक्त होगा। इसलिए जिनकी आशङ्का है कि निर्विशेष अद्वैतवाद सूत्रकारको सम्मत नहीं है, उसका 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा' इत्यादि सूत्रोंसे स्पष्ट खण्डन हो जाता है, अतः उनका कथन भ्रान्त है।

यदि विवर्तवाद न मान कर परिणामवाद माना, जाय, तो यह प्रश्न भी उपस्थित हो सकता है—ब्रह्म एक देशसे परिणत होता है, या सर्वात्मना परिणत होता है? यदि प्रथम पक्ष माना जायगा, तो सावयवत्वकी प्रसक्ति होगी और निरवयवप्रतिपादक श्रुतियाँ विरुद्ध होंगी। यदि द्वितीयपक्ष माना जायगा, तो ब्रह्मसे अतिरिक्त विकारकी अनवस्थिति और ब्रह्मका अभाव प्रसक्त होगा।

अतः इसी पूर्वपक्षकी 'कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा' इस सूत्रसे उत्थान करके 'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्' इससे आपाततः समाधान करके 'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि' इस सूत्रसे सूत्रकारने विवर्तवादके आश्रयणसे ही समाधान किया है कि जैसे स्वप्नद्रष्टा जीवका उसके स्वरूपके अनुपमर्दसे परिणाम न होनेपर भी अनेक प्रकारकी रथादि सृष्टिका प्रादुर्भाव होता है, वैसे ही ब्रह्ममें भी स्वरूपके अनुपमर्दसे अनेकाकार सृष्टिका भास होता है। वाचस्पतिमिश्रने भी कहा है कि 'अनेन स्फुटितो मायावादः' अर्थात् इससे मायावादका स्पष्टीकरण हो ही जाता है।

यद्यपि सूत्रकारका अभिमत मायावाद (विवर्तवाद) अत्यन्त स्पष्ट है, तथापि प्राक्तन कर्मविशेषोंके प्रभावसे और सम्प्रदायशुद्ध शास्त्रीय परिज्ञान न होनेके कारण मनुष्यस्वभावोचित भ्रमका होना स्वाभाविक है; फिर भी उपक्रम आदि तात्पर्यनिश्चायक प्रमाणके अनुसार विज्ञ जनोंसे साम्प्रदायिक अध्ययन करनेपर उक्त भ्रम अपने-आप मिट जाता है।

कुछ लोगोंकी इस विषय में भी विप्रतिपत्ति है कि ब्रह्मसूत्रोंमें ब्रह्मज्ञानसे मोक्षरूप फल नहीं बतलाया गया है, अतः ब्रह्मजिज्ञासा क्यों करनी चाहिए? परन्तु यह भी असङ्गत है, क्योंकि उपक्रम और उपसंहारके सूत्रोंको देखनेसे यह शङ्का विलीन हो जाती है। जैसे—पहले उपक्रमका सूत्र है—'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'। साधन चतुष्टय सम्पन्न पुरुषोंको ब्रह्मजिज्ञासा क्यों करनी चाहिए? इस प्रकारकी शङ्काका समाधान उपसंहारके 'अनावृत्तिः शब्दात् अनावृत्तिः शब्दात्' इस सूत्रसे स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि ब्रह्मजिज्ञासा करनेसे उस पुरुषकी संसारमें आवृत्ति नहीं होती है, ऐसा 'न स पुनरावर्तते' इस श्रुतिसे ज्ञात होता है।

सूक्ष्म विचारसे इन सब पूर्वपक्षोंका समाधन हो सकता है, अतः मायावाद श्रुति-स्मृति-सूत्र-सम्मत है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं करना चाहिए, और उसीका आचार्य गौडपाद और आचार्य शङ्कराचार्यजी द्वारा विस्तार किया गया है, जिससे कि साधारण मनुष्योंका उपकार हो।

भगवदवतार श्रीआचार्यपादके मुखाम्बुजसे निकले हुए वचनोंके अनुसार अद्वैततत्त्वके प्रतिपादनके लिए भिन्न-भिन्न शैलियोंसे जिन आचार्योंने सिद्धान्त-भेद बतलाये हैं, उनका तत्-तत् ग्रन्थोंसे शब्दसंक्षेप द्वारा सङ्ग्रह करके श्रीअप्पय्यदीक्षितने इस ग्रन्थमें संग्रह किया है। इस ग्रन्थकी उपयोगिता,

मौलिकता आदिके विषयमें यही प्रमाण सर्वोच्च हो सकता है कि इसके प्रणेता अप्पय्य दीक्षित हैं। इस ग्रन्थमें अप्पय्यदीक्षितजीने निम्नलिखित मतोंका सङ्ग्रह किया है—

(१) प्रकटार्थकारका मत
(२) विवरणकारका मत
(३) विवरणके एकदेशियोंका मत
(४) संक्षेपशारीरककारका मत
(५) वार्तिककारका मत
(६) आचार्य वाचस्पतिमिश्रका मत
(७) कौमुदीकारका मत
(८) माया और अविद्याके भेदवादियोंका मत
(९) उक्त भेदवादियोंके एकदेशीका मत
(१०) माया और अविद्याके अभेदवादियोंका मत
(११) पदार्थतत्त्वनिर्णयकारका मत
(१२) विवर्तवादियोंका मत
(१३) परिणामवादियोंका मत
(१४) सिद्धान्तमुक्तावलीकारका मत
(१५) प्रकटार्थविवरणकारका मत
(१६) सत्त्व-विवेककारका मत
(१७) नैष्कर्म्यसिद्धिकारका मत
(१८) ब्रह्मानन्दका मत
(१९) दृग्दृश्यविवेककारका मत
(२०) कल्पतरुकारका मत
(२१) भारतीतीर्थका मत
(२२) तत्त्वशुद्धिकारका मत
(२३) न्यायचन्द्रिकाकारका मत
(२४) पञ्चदशीकारका मत
(२५) तत्त्वप्रदीपिकाकारका मत
(२६) तत्त्वशुद्धिकारका मत
(२७) कवितार्किकका मत
(२८) पञ्चपादिकाकारका मत
(२९) न्यायसुधाकारका मत
(३०) विवरणवार्तिककारका मत
(३१) शास्त्रदीपिकाकारका मत
(३२) न्यायरत्नमालाकारका मत
(३३) अद्वैतविद्याचार्यका मत
(३४) विवरणोपन्यासकारका मत
(३५) न्यायनिर्णयकारका मत
(३६) वेदान्तकौमुदीकारका मत
(३७) शास्त्रदर्पणकारका मत
(३८) चित्सुखाचार्यका मत
(३९) रामाद्वयाचार्यका मत
(४०) आनन्दबोधाचार्यका मत
(४१) अद्वैतदीपिकाकारका मत
(४२) दृष्टिसृष्टिवादियोंका मत
(४३) सृष्टिदृष्टिवादियोंका मत

इनसे अन्य भी कई मतोंका उपन्यास किया है।

भगवान् शङ्कराचार्यजी द्वारा प्रतिपादित अद्वैत सिद्धान्तोंका कितने गौरव और श्रद्धाके साथ अनेक आचार्योंने स्वीकार किया है, यह इसी ग्रन्थके

अध्ययनसे ज्ञात हो सकता है। आचार्यपादके सिवा अन्य कोई सिद्धान्त नहीं है, जिसका कि इतने आदरसे अनेक प्रगल्भ पण्डितों द्वारा आदर किया गया हो।

ऐसे विशिष्ट ग्रन्थकी हिन्दी भाषा हो जानेसे उन लोगोंको अवश्य आनन्द मिलेगा जो लोग अनुदित हिन्दी भाषाके समझनेमें अच्छी व्युत्पत्ति रखते हैं। हिन्दी भाषाके सारल्यमें अत्यन्त ध्यान रखा गया है, और जहाँ मूलमें काठिन्य मालूम हुआ है, वहाँ टिप्पणी द्वारा उस अंशको ठीक-ठीक साफ करनेकी चेष्टा की है। विशेषतः टिप्पणीमें यह भी बतलानेका अधिक यत्न किया गया है कि जिन ग्रन्थोंसे मूलकारने मत लिया है, उन ग्रन्थोंकी अक्षरशः पङ्क्तियाँ रखकर उनके पृष्ठाङ्क भी दिये हैं और उनका भाव भी लिखा है।

दूसरी बात इस ग्रन्थमें आये हुए मतोंका संक्षेपसे आकलन हो, इसलिए साथ-साथ वेदान्तसूक्तिमञ्जरीका भी अनुवादके साथ समावेश किया गया है। इसके रचयिता श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्य गङ्गाधरसरस्वतीथे। ये अच्छे शास्त्रवेत्ता होंगे, ऐसा उनकी सूक्तिमञ्जरीकी रचनासे ज्ञात होता है, इससे अधिक उनके विषयमें जाननेकी सामग्री नहीं मिल सकी है।

जिस आनन्दकन्द परमेश्वरकी असीम कृपासे इस सिद्धान्तलेशका अनुवाद-प्रकाशन कार्य निर्विघ्न समाप्त हुआ है, उसको सहस्रशः प्रणाम करते हुए विश्रान्ति लेते हैं।

काशी।
वसन्तपञ्चमी १९९२

मूलशङ्कर व्यास

॥ श्रीः ॥

सिद्धान्तलेश-सङ्ग्रहकी विषय-सूची

प्रथम परिच्छेद [पृ० १–२६२]

द्वितीय परिच्छेद [पृ० २६३–४१४]

तृतीय परिच्छेद [पृ० ४१५–५१०]

चतुर्थ परिच्छेद [पृ० ५११–५५९]

इति ।



ॐ

श्रीगणेशाय नमः ।

सिद्धान्तलेशसङ्ग्रह

[भाषानुवादसहित]



प्रथम परिच्छेद

अधिगतभिदा पूर्वाचार्यानुपेत्य सहस्रधा
सरिदिव महीभेदान् सम्प्राप्य शौरिपदोद्गता ।
जयति भगवत्पादश्रीमन्मुखाम्बुजनिर्गता
जननहरणी सूक्तिर्ब्रह्माद्वयैकपरायणा ॥ १ ॥

जैसे भगवान् श्रीहरिके चरण-कमलसे निकली हुई गङ्गाजीने अनेक प्रदेशोंको प्राप्त होकर हजारों भेद धारण किये, वैसे ही व्याख्यान करनेवाले अनेक पूर्वाचार्योंको व्याख्येयरूपसे प्राप्त होकर हजारों भेदोंको प्राप्त हुई, शुद्ध अद्वितीय ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली अत एव जन्मका नाश करनेवाली भगवान् शङ्कराचार्यके सुन्दर मुख-कमलसे निकली हुई (भाष्यरूपा) सुललित वाणी सर्वोत्कृष्ट है अर्थात् मैं उसे प्रणाम करता हूँ * ॥ १ ॥

* ग्रन्थाध्ययनमें मनुष्योंकी प्रवृत्ति होनेके लिए ग्रन्थके आरम्भमें विषय, प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्ध ये चार अनुबन्ध बतलाये जाते हैं। प्रकृत श्लोकमें 'ब्रह्माद्वयैकपरायणा' विशेषणसे प्रपञ्चशून्य सच्चिदानन्द ब्रह्म सूक्तिपदसे सूचित भाष्यका विषय तथा 'जननहरणी' पदसे मुक्तिरूप प्रयोजन बतलाया गया है। मुक्तिको चाहनेवाला इसका अधिकारी है और मुक्ति प्राप्य और अधिकारी प्राप्त करने वाला है इस प्रकार प्राप्यप्रापकभाव सम्बन्ध है, यह अर्थतः सूचित होता है। अतः निरवधिक सुख चाहनेवालेको इस ग्रन्थके अध्ययनमें अवश्य प्रवृत्त होना चाहिए, क्योंकि 'यह मेरा इष्ट साधन है' ऐसा ज्ञान प्रवर्तक होता है। निरवधिक सुखसे बढ़कर अन्य कोई इष्ट नहीं हो सकता। इस प्रकार भाष्यरूप शास्त्रके विषय, प्रयोजन आदि अनुबन्धोंका प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकारने भाष्यके प्रकरण—एकदेशरूप होनेसे अपने ग्रन्थके भी वे ही विषय, प्रयोजन आदि हैं, यह सूचित किया है।

प्राचीनैर्व्यवहारसिद्धविषयेष्वात्मैक्यसिद्धौ परं
सन्नह्यद्भिरनादरात् सरणयो नानाविधा दर्शिताः ।
तन्मूलानिह सङ्ग्रहेण कतिचित् सिद्धान्तभेदान् धिय-
श्शुद्ध्यै सङ्कलयामि तातचरणव्याख्यावचःख्यापितान् ॥ २ ॥

तेषूपपादनापेक्षान् पक्षान् प्रायो यथामति ।
युक्त्योपपादयन्नेव लिखाम्यनतिविस्तरम् ॥ ३ ॥

आत्माके ऐक्यकी अर्थात् अद्वितीय आत्मतत्त्वकी सिद्धिमें परम तात्पर्य (अत्यन्त आदर) रखनेवाले प्राचीन आचार्योंने केवल भ्रमसे प्रतीत होनेवाले जीव, ईश्वर और जगत्‌रूप पदार्थोंमें आदर न होनेसे परस्पर विरुद्ध अनेक प्रकार—मार्ग दिखलाये हैं । इस ग्रन्थमें, प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रदर्शित उन्हीं अनेक मार्गोंके आधारपर पूज्य पिताजीके व्याख्यारूप वचनोंसे बोधित कुछ सिद्धान्तोंका, अपनी बुद्धिकी विशदताके लिए, मैं संकलन करता हूँ ॥ २ ॥ *

प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रदर्शित उन विविध सिद्धान्तोंमेंसे उपपत्तिकी अपेक्षा रखनेवाले सिद्धान्तोंका अपनी बुद्धिके अनुसार युक्तिसे उपपादन करता हुआ मैं संक्षेपसे चित्रण करता हूँ ॥ ३ ॥

* यहाँपर शङ्का होती है कि जैसे भिन्न-भिन्न वस्तुओंमें अभिनिवेश होनेसे भेदवादियोंके वचनोंमें प्रामाण्य नहीं है, वैसे ही अद्वैतियोंमें कोई आचार्य एक जीव मानते हैं, तो कोई अनेक जीव मानते हैं, कोई जीवको प्रतिविम्ब मानते हैं, तो किसीके मतमें प्रतिविम्ब ही ईश्वर है और किसीके मतमें विम्ब ईश्वर है इत्यादि विरुद्ध पक्षोंमें अभिनिवेश रखनेवाले प्राचीन आचार्योंके मतमें भी आस्था कैसे हो सकती है। परन्तु इस शङ्काका परिहार श्लोकमें कहे हुए 'अनादरात्' शब्दसे हो जाता है। उन उपर्युक्त पक्षोंमें आचार्योंका आदर—तात्पर्य नहीं है, किन्तु विवक्षित जो जीव और ब्रह्मका अभेद है, उसके यथार्थ ज्ञानके लिए उपायरूपसे वे बतलाये गये हैं। अतः वे अनेक मार्ग दोषावह नहीं हैं, प्रत्युत अलङ्कारके लिए ही हैं, क्योंकि मनुष्योंकी बुद्धि भिन्न-भिन्न है। अत एव किसी एकको किसी एक प्रकारसे और अन्यको अन्य प्रकारसे ब्रह्मात्मत्वका ज्ञान होगा। अतः उक्त शङ्काका अवसर नहीं है। 'यया यया भवेत् पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि। सा सैव प्रक्रियेह स्यात् साध्वी सा चानवस्थिता।' यह सुरेश्वराचार्यका वाक्य भी इसी अर्थका समर्थक है, इसका भाव यही है कि जिस जिस प्रक्रियासे पुरुषोंको आत्म-सम्बन्धी ज्ञान हो, वही प्रक्रिया उनके लिए निर्दिष्ट है। और वह प्रक्रिया अनेक प्रकारकी हो सकती है। [क्योंकि संसारमें मनुष्योंकी बुद्धि एक प्रकारकी नहीं है]। इस श्लोकसे ग्रन्थकारने अपने चिकीर्षितका—अभीष्ट

[वेदान्तसूक्तिमञ्जरी]

तरणिशतसवर्णं कर्णघूर्णद्द्विरेफा-
वलिवलितकपोलोद्दामदानाभिरामम् ॥
गिरिशगिरिसुताभ्यां लालितं नित्यमङ्के
स्वजनभरणशीलं शीलये विघ्नराजम् ॥ १ ॥

श्रीमद्गुरुपदाम्भोजद्वन्द्वमानम्य भक्तितः ॥
सिद्धान्तलेशसिद्धान्तान् कारिकाभिर्निदर्शये ॥ २ ॥

अपूर्वो नियमोऽन्यस्य परिसङ्ख्येति च क्रमात् ॥
त्रयो हि विधयस्तेषु श्रोतव्य इति को विधिः ॥ ३ ॥

सैकड़ों सूर्योंके समान तेजस्वी, कानोंके आघातसे इधर उधर उड़ते हुए भँवरोंसे आच्छादित गण्डस्थलोंसे अप्रतिहत गतिसे बहते हुए मदजलसे सुशोभित, अपने भक्तोंका भरण-पोषण करनेवाले, श्रीमहादेवजी तथा पार्वतीजी दोनों अपनी गोदमें बैठाकर जिनका नित्य लालन-पालन करते हैं ऐसे श्रीगणेशजी का मैं ध्यान करता हूँ ॥ १ ॥

मैं श्रीगुरुजीके सुन्दर चरणकमलोंमें भक्तिपूर्वक प्रणाम करके सिद्धान्तलेशमें संगृहीत सिद्धान्तोंको कारिकाओंसे दर्शाता हूँ ॥ २ ॥

अपूर्वविधि, नियमविधि और परिसङ्ख्याविधि इस प्रकार क्रमसे तीन विधियाँ कही गई हैं, उनमेंसे 'श्रोतव्यः' (ब्रह्मसाक्षात्कारके लिए श्रवण करना चाहिए) यह कौन विधि है ॥ ३ ॥

(१) तत्र तावत् 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः' इति अधीतसाङ्गस्वाध्यायस्य वेदान्तैरापातप्रतिपन्ने ब्रह्मात्मनि समुदितजिज्ञासस्य तज्ज्ञानाय वेदान्तश्रवणे विधिः प्रतीयमानः किंविध इति चिन्त्यते—

सर्व प्रथम यहाँपर यह विचार किया जाता है कि जिसको अङ्गोंके साथ समग्र वेदका अध्ययन करनेसे वेदान्तवाक्यों द्वारा साधारणरूपसे ब्रह्मरूप आत्मा ज्ञात है और विशेषरूपसे ब्रह्मको जाननेकी प्रबल इच्छा हुई है, उस पुरुषके विशेषरूपसे ब्रह्मज्ञानके लिए 'आत्मा वा अरे०' (हे मैत्रेयि ! आत्माका अपरोक्ष—साक्षात्कार करना चाहिए, श्रवण करना चाहिए और मनन करना चाहिए) इत्यादि श्रुतिसे वेदान्तोंके श्रवणमें विधिकी प्रतीतिहोती है, वह विधि किस प्रकारकी है ?

कर्तव्यका—प्रदर्शन भी किया है। 'तातचरण' इत्यादिवाक्यसे ग्रन्थकारका वेदान्त-ज्ञान आचार्यपरम्पराप्राप्त है, यह भी सूचित होता है।

तिस्रः खलु विधेर्विधाः—अपूर्वविधिः, नियमविधिः, परिसङ्ख्याविधिश्चेति। तत्र कालत्रयेऽपि कथमप्यप्राप्तस्य प्राप्तिफलको विधिराद्यः, यथा 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इति। नाऽत्र व्रीहीणां प्रोक्षणस्य संस्कारकर्मणो विना नियोगं मानान्तरेण कथमपि प्राप्तिरस्ति।

पक्षप्राप्तस्याऽप्राप्तांशपरिपूरणफलको विधिर्द्वितीयः। यथा 'व्रीहीन-

---

विधिके तीन भेद होते हैं—अपूर्वविधि, नियमविधि और परिसंख्याविधि। इन तीनोंमें से—[दृष्ट या अदृष्ट अर्थके लिए] तीनों कालोंमें किसी भी प्रमाणसे जो प्राप्त नहीं है, उसकी प्राप्ति करानेवाली विधि अपूर्वविधि है। जैसे 'व्रीहीन् प्रोक्षति' (व्रीहियोंका—धानोंका प्रोक्षण करे) यहाँ व्रीहियोंका प्रोक्षणरूप संस्कार-कर्म विधायक श्रुतिके बिना अन्य किसी प्रमाणसे प्राप्त नहीं है। [तात्पर्य यह है कि दर्शपूर्णमासके प्रकरणमें पुरोडाशके लिए व्रीहियोंकी—धानोंकी अपेक्षा होती है। पुरोडाशके लिए अपेक्षित धानोंका जलसे प्रोक्षण करना पड़ता है। दृष्ट या अदृष्ट किसी भी प्रयोजनके लिए अन्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे व्रीहिप्रोक्षणकी प्राप्ति नहीं है, केवल 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इस विधायक वाक्यसे ही उसकी प्राप्ति है, इसलिए वह विधायक शब्द अपूर्वविधि है]।

पक्षमें जो प्राप्त है उसके अप्राप्त अंशकी परिपूर्ति करनेवाली विधि नियमविधि कहलाती है। [अपूर्वविधिसे नियमविधिमें यह विशेषता है कि नियमविधिमें श्रुतिके बिना भी अन्य प्रमाणसे एक पक्षमें क्रिया प्राप्त होती है। जब एक वस्तुमें एक क्रिया की जायगी, तब उस कालमें उसमें अन्य क्रिया नहीं की जा सकती, क्योंकि एक कालमें एक वस्तुमें दो क्रियाएँ नहीं हो सकतीं हैं, इसलिए पक्षान्तरमें ही भिन्न-भिन्न क्रियाएँ होंगी, जैसे चावल निकालनेके लिए जिस क्षणमें धान मूसलसे कूटे जाते हैं, उस क्षणमें नखोंसे उनका विदारण नहीं कर सकते और जिस क्षणमें नखोंसे विदारण किया जाय, उस क्षणमें कूटना नहीं बन सकता। इसलिए अन्य-अन्य पक्षमें ही उन क्रियाओंकी प्रसक्ति है। दर्शपूर्णमासमें आये हुए पुरोडाशके लिए धानोंका छिलका अवश्य निकालना पड़ेगा, अन्यथा पुरोडाश ही नहीं बन सकेगा। अतः अर्थापत्तिरूप प्रमाणसे अवघात आदिकी विधायक श्रुतिके बिना भी प्राप्ति है। अपूर्वविधिमें ऐसा नहीं है।

वहन्ति' इति। अत्र विध्यभावेऽपि पुरोडाशप्रकृतिद्रव्याणां व्रीहीणां तण्डुलनिष्पत्त्याऽऽक्षेपादेवाऽवहननप्राप्तिर्भविष्यतीति न तत्प्राप्त्यर्थोऽयं विधिः, किन्त्वाक्षेपादवहननप्राप्तौ तद्वदेव लोकावगतकारणत्वाविशेषात् नखविदलनादिरपि पक्षे प्राप्नुयादिति अवहननाप्राप्तांशस्य सम्भवात् तदंशपरिपूरणफलकः।

इसी भावको 'यथा' इत्यादिसे ग्रन्थकार कहते हैं] जैसे 'व्रीहीनवहन्ति' (व्रीहियोंका अवघात करे अर्थात् चावल निकालनेके लिए मूसलसे धानोंको कूटे) ऐसा विधिवाक्य है। 'प्रकृतमें अवघातका विधान न भी किया जाय, तो भी व्रीहियोंका, जो पुरोडाशके प्रकृतिद्रव्य हैं, अवहनन तण्डुलनिष्पत्तिसे आक्षेप द्वारा ही प्राप्त हो जायगा, इसलिए अवघातकी अपूर्व प्राप्ति करानेके लिए यह विधि नहीं है। [स्पष्टार्थ यह है कि दर्श और पूर्णमास यागमें आग्नेय आदि यागोंके उत्पत्तिवाक्यमें (आग्नेयोऽष्टाकपालो भवति) पुरोडाशद्रव्यका विधान किया गया है और उस स्थलमें यागका अनुवाद कर व्रीहियोंका भी विधान है। यद्यपि व्रीहि यागके साक्षात् साधन नहीं हैं, तो भी पुरोडाशके प्रकृतिद्रव्य होनेसे व्रीहियोंमें परम्परासे यागसाधनत्व है, क्योंकि व्रीहिसे उत्पादित चावलोंका बना हुआ पुरोडाश ही यागका साक्षात् कारण है। इसी प्रकार चावलकी उत्पत्ति अवघातके बिना नहीं हो सकती है, इसलिए वह तण्डुलोत्पत्ति भी अवश्य अपने अवघातरूप कारणका आक्षेप करेगी, क्योंकि अन्वय और व्यतिरेकसे चावलके उत्पादनमें अवघात कारणरूपसे निश्चित है, अतः 'व्रीहीनवहन्ति' विधिके बिना भी पूर्वोक्त प्रणालीसे व्रीहिका अवघात प्राप्त है, अतः उक्त वाक्य अपूर्व अर्थका प्रतिपादक नहीं हो सकता। यदि अवहनन लोकसे प्राप्त है, तो उसीसे नित्य प्राप्त हो? इसपर 'किन्तु' इत्यादिसे कहते हैं] परन्तु जैसे तण्डुलनिष्पत्तिसे आक्षेप द्वारा अवहननकी प्राप्ति होगी, वैसे ही लोकमें [चावल बनानेमें] ज्ञात जो कारण हैं, उनके सामान्य होनेसे पक्षमें नखविदलन [नखोंसे छिलना] आदि भी प्राप्त होंगे, इससे अवहननके अप्राप्तांशका सम्भव होनेसे अप्राप्तांशकी परिपूर्तिके लिए यह 'व्रीहीनवहन्ति' नियमविधि है। [अर्थात् पुरोडाशके लिए तण्डुलकी उत्पत्ति अवघातसे ही करनी चाहिए न कि नखविदलनसे। इस नियमविधिसे

द्वयोः शेषिणोरेकस्य शेषस्य वा एकस्मिञ्छेषिणि द्वयोः शेषयोर्वा नित्यप्राप्तौ शेष्यन्तरस्य शेषान्तरस्य वा निवृत्तिफलको विधिस्तृतीयः। यथा अग्निचयने—'इमामगृभ्णन्रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते' इति, यथा वा चातुर्मास्यान्तर्गतेष्टिविशेषे गृहमेधीये 'आज्यभागौ यजति' इति। अग्निचयने अश्वरशनाग्रहणम्, गर्दभरशनाग्रहणं चेति द्वयमनुष्ठेयम्।

अप्राप्तांशकी परिपूर्ति होती है—सर्वदा अवघात ही प्राप्त होता है और दूसरे नखविदलन आदिकी अर्थात् निवृत्ति होती है।]

दो शेषियोंमें—अङ्गियोंमें एक शेषकी—अङ्गकी नित्य प्राप्ति होनेपर एक शेषीकी निवृत्ति करनेवाली विधि परिसंख्याविधि है तथा एक शेषीमें दो शेषोंकी नित्य प्राप्ति होनेपर अन्य शेषकी निवृत्ति करनेवाली विधि भी परिसंख्याविधि है। जैसे अग्निचयनमें* 'इमामगृभ्णन्रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते ('इमामगृभ्णन्' इत्यादि मन्त्रसे अश्वकी रशनाका—रस्सीका ग्रहण करे) अथवा चातुर्मास्ययागके† अन्तर्गत गृहमेधीय‡ इष्टिमें 'आज्यभागौ यजति' (आज्यभाग याग करे) यह विधि है। अग्निचयनमें दोनोंका—अश्वरशनाग्रहण

---

* अग्निचयन नामका एक स्थण्डिल होता है। यह सोमयागका अङ्ग है। चयन—ईंटोंसे बनाया हुआ स्थलविशेष। सोमयागकी उत्तर वेदीको बढ़ाकर वहाँ ईंटोंसे चयनका निर्माण कर उसके ऊपर आवहनीय अग्निको रखकर उसमें होम किया जाता है। यह स्थण्डिल अग्निका आधार है, इसलिए उसका नाम भी अग्निचयन हुआ और उस स्थण्डिलपर किया जानेवाला यागविशेष भी अग्निचयन है, जिसका वर्णन (का० श्रौ० सू० १६।१ आदिमें) विस्तारसे है। अग्निके पांच भेद हैं—आवहनीय, आवसथ्य, सभ्य, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि, इनका अग्निहोत्र आदिमें उपयोग होता है।

† चातुर्मास्य नामके याग हैं, ये याग चार मासोंमें अनुष्ठित होते हैं, अतः 'चातुर्मास्य' शब्दसे इनका व्यवहार किया जाता है। इनमें चार पर्व होते हैं—वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेधाः और शुनासीरीय। पहला पर्व फाल्गुनकी पूर्णिमामें, दूसरा चार मास बीतनेके बाद आषाढ़की पूर्णिमामें, तीसरा कार्तिककी पूर्णिमामें और चौथा फाल्गुनकी शुक्ल प्रतिपदामें पड़ता है, इस प्रकार बारंबार अनुष्ठानका आवर्तन होता है।

‡ गृहमेधीय नामकी इष्टि होती है। यह चातुर्मास्यान्तर्गत साकमेधाख्यपर्वके, जो दो दिनमें निष्पन्न होता है, अनुष्ठानके पहले दिन सायंकालमें 'मरुद्भ्यो गृहमेधिभ्यः सर्वासां दुग्धे सायमोदनम्' इस वाक्यसे विहित है, इसमें गृहमेधी मरुत् देवता है, दूधमें पकाया हुआ चरु द्रव्य है और ऋषभ दक्षिणा है।

तत्राऽश्वरशनाग्रहणे 'इमामगृभ्णन्' इति मन्त्रो लिङ्गादेव रशनाग्रहण-प्रकाशनसामर्थ्यरूपान्नित्यं प्राप्नोतीति न तत्प्राप्त्यर्थः, तदप्राप्तांशपरि-पूरणार्थो वा विधिः, किन्तु लिङ्गाविशेषात् गर्दभरशनाग्रहणेऽपि मन्त्रः प्राप्नुयादिति तन्निवृत्त्यर्थः। तथा गृहमेधीयस्य दर्शपूर्णमासप्रकृतिकत्वा-दतिदेशादेवाऽऽज्यभागौ नित्यं प्राप्नुत इति न तत्र विधिः तत्प्राप्त्यर्थः,

और गर्दभरशनाग्रहणका अनुष्ठान होता है। ऐसी परिस्थितिमें रशनाके ग्रहणरूप अर्थके प्रकाशनसामर्थ्यरूप लिङ्गप्रमाणसे ही 'इमामगृभ्णन्' इत्यादि मन्त्रकी अश्वरशनाग्रहणमें नित्य प्राप्ति है। इससे 'अश्वाभिधानीमादत्ते' यह विधि अश्वरशनाग्रहणमें उक्त मन्त्रकी अपूर्वप्राप्ति करानेके लिए अपूर्वविधि नहीं है। अथवा उसके अप्राप्तांशके परिपूरणरूप प्रयोजनके लिए नियमविधि भी नहीं है, किन्तु अर्थप्रकाशनरूप लिङ्गके सामान्य होनेसे गर्दभकी रशना (रस्सी) के ग्रहणमें भी 'इमाम०' इत्यादि मन्त्र प्राप्त होगा, इसलिए रासभकी रशनाके ग्रहणमें उस मन्त्रकी प्राप्तिकी निवृत्ति करनेके लिए 'अश्वाभिधानी०' इत्यादि परिसंख्याविधि है। [परिसंख्याविधिके प्रथम लक्षणका समन्वय इस प्रकार करना चाहिए—दो शेषी हैं—अश्वरशनाग्रहण और रासभरशनाग्रहण, उन दोनों शेषियोंमें लिङ्गप्रमाणसे 'इमामगृभ्णन्' इत्यादि शेषरूप मन्त्र नित्य प्राप्त है और शेषीकी—गर्दभरशनाके ग्रहणकी निवृत्ति भी होती है—'इमाम-गृभ्णन्' इत्यादि मन्त्रसे अश्वरशनाग्रहण ही करना चाहिए, गर्दभरशनाका ग्रहण नहीं करना चाहिए] उसी प्रकार दर्श और पूर्णमास* गृहमेधीय इष्टिकी प्रकृति हैं, इसलिए प्रकृतिवत् विकृतिः कर्तव्या (प्रकृति यागमें जो उपयुक्त है, वही विकृति यागमें भी लेना चाहिए) इस प्रकारके अतिदेश वाक्यसे प्रकृति यागमें प्राप्त आज्यभाग गृहमेधीय विकृति यागमें प्राप्त होंगे ही, इसलिए

* दर्श-पूर्णमास शब्दसे छः याग लिए जाते हैं—आग्नेय याग, उपांशु याग, अग्नीषोमीय याग, आग्नेय याग और दो सान्नाय्य याग। प्रथम तीन याग पूर्णिमाके दिन होते हैं और अन्तिम तीन याग अमावास्याके दिन होते हैं। आग्नेय याग पूर्णिमा और अमावास्या दोनों दिन होता है, इसलिए 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिमें दर्शपूर्णमासशब्दसे उक्त छः यागोंका ग्रहण है। द्विवचनकी उपपत्ति दो त्रिकमें रहनेवाले त्रित्व-त्रित्वरूप दो धर्मोंके अभिप्रायसे विवक्षित है। दर्श और पूर्णमास सभी इष्टियोंकी प्रकृति हैं, क्योंकि 'दर्शपूर्णमासाविष्टीनां प्रकृतिः' [आप० श्रौ० २४।३।३२] इत्यादि सूत्र इस अर्थमें प्रमाणभूत है।

तन्नियमार्थो वा, किन्त्वतिदेशात् प्रयाजादिकमपि प्राप्नुयादिति तन्निवृत्त्यर्थः। गृहमेधीयाधिकरण-(१०-७-९)-पूर्वपक्षरीत्येदमुदाहरणं यत्र क्वचिदुदाहर्तव्यमित्युदाहृतम्।

न च नियमविधावपि पक्षप्राप्तावहननस्याऽप्राप्तांशपरिपूरणे कृते तदवरुद्धत्वात् पाक्षिकसाधनान्तरस्य नखविदलनादेर्निवृत्तिरपि लभ्यते इतीतरनिवृत्तिफलकत्वाविशेषान्नियमपरिसङ्ख्ययोः फलतो विवेको न युक्त

'आज्यभागौ यजति' यह विधि अपूर्व आज्यभागकी प्राप्ति करानेके लिए नहीं है, अथवा अप्राप्त अंशके पूरणरूप नियमके लिए भी नहीं है, किन्तु अतिदेशवाक्यके साधारण होनेसे आज्यभागके समान प्रयाज आदिकी भी प्राप्ति होगी, इसलिए प्रयाज आदिकी निवृत्ति 'आज्यभागौ' इत्यादि विधिका प्रयोजन है। [यहांपर परिसंख्याविधिके द्वितीय लक्षणकी सङ्गति इस प्रकार है—एक शेषी है—गृहमेधीय इष्टि, उसमें आज्यभाग और प्रयाज आदिरूप दो शेषोंकी अतिदेशवाक्यसे प्राप्ति होनेपर उनमेंसे एक प्रयाज आदिरूप शेषकी निवृत्ति होती है, अतः द्वितीय लक्षण घट गया। यद्यपि अन्यतरत्वरूपसे परिसंख्याका एक ही लक्षण है, तो भी सुगमतासे लक्षणसमन्वय बतलानेके लिए विभाग करके दो लक्षण कहे गये हैं, यह जानना चाहिए। परन्तु पूर्वमीमांसामें सिद्धान्तरूपसे 'आज्यभागौ यजति' यह परिसंख्याविधि नहीं मानी गई है, अतः यहां इसका उदाहरण देना उचित नहीं है ? यदि इस प्रकारकी शङ्का किसीको हो, तो उसका निराकरण करनेके लिए 'गृहमेधीयाधिकरण' इत्यादिसे कहते हैं] यद्यपि गृहमेधीयाधिकरणमें यह पूर्वपक्षरूपसे उदाहरण है, तथापि [परिसंख्याविधिके स्वरूपके प्रदर्शनमें] कहीं भी उदाहरण दे सकते हैं, इसलिए यहां इसका उदाहरणरूपसे कथन किया गया है।

यदि कोई शङ्का करे कि नियमविधिमें भी एक पक्षमें प्राप्त जो अवघात है, उसके अप्राप्तांशकी परिपूर्ति करनेपर तदवरुद्ध होनेसे—अवघातसे ही तण्डुलकी उत्पत्तिसे होनेवाले आक्षेपकी शान्ति होनेसे—पाक्षिक नखविदलन आदि अन्य (व्रीहिके छिलके दूर करके अन्य) साधनोंकी निवृत्ति भी होती है, इससे—नियमविधिमें इतरकी निवृत्तिरूप

इति शङ्क्यम्, विधितोऽवहननियमं विना आक्षेपलभ्यस्य नखविदलनादेर्निवर्तयितुमशक्यतया अप्राप्तांशपरिपूरणरूपस्य नियमस्य प्राथम्यात् विधेयावहननगतत्वेन प्रत्यासन्नत्वाच्च तस्यैव नियमविधिफलत्वोपगमात्। तदनुनिष्पादिन्या अविधेयगतत्वेन विप्रकृष्टाया इतरनिवृत्तेः सन्निकृष्टफलसम्भवे फलत्वानौचित्यात्।

एवं विविक्तासु तिसृषु विधेर्विधासु किंविधः श्रवणविधिराश्रीयते।

प्रयोजनका भी लाभ होनेसे फलतः नियमविधि और परिसंख्याविधिमें कोई भेद नहीं है? [फलतः कहनेसे नियम और परिसंख्यामें स्वरूपतः भेद है, यह मालूम होता है, क्योंकि नियमविधि पक्षमें प्राप्त अवघातक्रियाका विधान करती है और परिसंख्याविधि नित्य प्राप्त क्रियाका विधान करती है, इसलिए स्वरूपतः भेद होनेपर भी फलतः भेद नहीं है, यह शङ्का हो सकती है] परन्तु ऐसी शङ्का करना युक्त नहीं है, क्योंकि विधिसे जब तक अवघातका नियम न किया जाय, तब तक तण्डुलनिष्पत्तिसे होनेवाले आक्षेपसे प्राप्त नखविदलन आदिकी निवृत्ति नहीं की जा सकती, इससे अप्राप्तांशका परिपूरणरूप नियम ही प्रथम उपस्थित है, और साक्षात् विधिसे लभ्य अवघातमें ही (अप्राप्तांशकी पूर्ति होनेसे) अप्राप्तांशपरिपूरणरूप नियम ही विधिके प्रति प्रत्यासन्न—निकटवर्ती है, इसलिए अप्राप्तांशपरिपूरणरूप नियमको ही नियमविधिका फल मानना चाहिए, इतरनिवृत्ति नियमविधिका फल नहीं है, क्योंकि इतरनिवृत्ति अप्राप्तांशपरिपूरणकी उपस्थितिके अनन्तर उपस्थित होती है और अविधेय जो नखविदलन है, उसमें रहनेके कारण निकटवर्ती नहीं है, इसलिए सन्निकृष्ट वस्तुमें जब तक फलत्वका सम्भव हो, तब तक असन्निकृष्टमें (नखविदलन आदिकी निवृत्तिमें) फलत्वकी कल्पना करना उचित नहीं है?

पूर्वोक्त तीन प्रकारकी विधियोंमें से श्रवणविधि कौन विधि है? [ग्रन्थके इतने अंशसे अपूर्व, नियम और परिसंख्या विधिका निरूपण किया गया, परन्तु 'श्रोतव्यः' यह श्रवणविधि अपूर्वविधि है या नियमविधि है अथवा परिसंख्या विधि है, इसका विचार नहीं हुआ, इसलिए पूर्वपक्षी पूछता है कि 'श्रोतव्यः' यह श्रवणविधि किस विधिके अन्तर्गत है अर्थात् उसको अपूर्वविधि मानना चाहिए या नियमविधि मानना चाहिए अथवा परिसंख्याविधि मानना चाहिए?]

तत्रोपायापरिज्ञानादलौकिकसमीक्षणे ॥
प्रकटार्थकृतः प्राहुरपूर्वं श्रवणे विधिम् ॥ ४ ॥

प्रकटार्थकार कहते हैं कि ब्रह्मसाक्षात्कारमें श्रवणरूप उपायका किसी प्रमाणसे परिज्ञान न होनेके कारण उक्त तीन विधियोंमें से श्रवणमें अपूर्वविधि है ॥ ४ ॥

अत्र प्रकटार्थकारादयः केचिदाहुः—अपूर्वविधिरयम्, अप्राप्तत्वात्। नहि 'वेदान्तश्रवणं ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुः' इत्यत्र अन्वयव्यतिरेकप्रमाण-

---

इसपर प्रकटार्थकार आदि कहते हैं—'श्रोतव्यः' यह अपूर्वविधि है, क्योंकि वेदान्तश्रवण अप्राप्त है, अर्थात् वेदान्तश्रवण ब्रह्मसाक्षात्कारके प्रति कारण है, यह 'श्रोतव्यः' इस विधिको छोड़कर अन्य किसी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणसे नहीं जाना जाता। [परन्तु वेदान्तश्रवणमें ब्रह्मसाक्षात्कारकी हेतुता अन्य प्रमाणसे प्राप्त नहीं है, यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि वक्ष्यमाण अन्वय और व्यतिरेकरूप* प्रमाणसे वेदान्तश्रवणमें ब्रह्मसाक्षात्कारकी हेतुता प्राप्त है इसपर 'नहि' इत्यादिसे कहते हैं] वेदान्तका श्रवण ब्रह्मसाक्षात्कारका कारण है, इस कार्यकारणभावमें अन्वय या व्यतिरेक-

---

* कार्य और कारणके अवधारणमें अर्थात् यह इसका कारण है और यह इसका कार्य है, इस प्रकारके कार्यकारणभावका निश्चय करनेमें अन्वय और व्यतिरेककी आवश्यकता होती है। अन्वयके लिए बहुत जगहोंमें अन्वयसहचार और अन्वयव्याप्तिका भी प्रयोग देखा जाता है, इसी तरह व्यतिरेकके लिए व्यतिरेकव्याप्ति और व्यतिरेकसहचारका प्रयोग भी देख पड़ता है। इसलिए कहींपर ऐसे शब्द आवें, तो घबराना नहीं चाहिए। कारणके रहनेपर कार्यका अवश्य रहना अन्वय है, जैसे—दण्डके रहनेपर घटका रहना। कारणके अभावमें कार्यका अभाव होना व्यतिरेक है; जैसे—दण्डरूप कारणके अभावमें घटरूप कार्यका अभाव होना अर्थात् दण्डके विना घट कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः इस प्रकारके अन्वय और व्यतिरेकके होनेसे दण्डमें घटकारणत्वका निश्चय होता है। यदि अन्वय और व्यतिरेक न हों, तो किसी भी वस्तुमें कारणत्वका निश्चय नहीं होगा। अन्वय और व्यतिरेकका अभाव होनेपर यदि वस्तुमें कारणत्व माना जाय, तो अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेक-व्यभिचार दोष प्राप्त होते हैं। अन्वयव्यभिचारका अर्थ है—अन्वय न होना अर्थात् कारणके रहनेपर भी कार्योत्पत्ति न होना और व्यतिरेकव्यभिचार—व्यतिरेकव्याप्तिका न रहना अर्थात् कारणके अभावमें भी कार्यकी उत्पत्ति होना। ये दोनों—अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेक-व्यभिचार दोष क्रमशः अन्यथासिद्धत्वज्ञानद्वारा और साक्षात् प्रतियोगित्वज्ञानद्वारा कारणत्व-ज्ञानमें प्रतिबन्धक होते हैं। भाव यह है कि पहला अन्वयव्यभिचार परम्परासे कारणत्वका विरोधी है और दूसरा व्यतिरेकव्यभिचार साक्षात् कारणत्वका विरोधी है, क्योंकि कारण उसे कहते हैं जो अनन्यथासिद्ध होकर पूर्वक्षणमें कार्यके अधिकरणमें रहे, इसलिए

मस्ति। लोके कृतश्रवणस्याऽपि बहुशस्तदनुत्पत्तेः, अकृतश्रवणस्याऽपि गर्भगतस्य वामदेवस्य तदुत्पत्तेरुभयतो व्यभिचारात्। न वा 'श्रवणमात्रं

रूप कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि लोकमें प्रायः देखा जाता है कि वेदान्तश्रवण करनेपर भी आत्मसाक्षात्कार नहीं होता। और वेदान्तश्रवण न करनेपर भी गर्भाशयमें ही वामदेव मुनिको आत्माका साक्षात्कार हुआ था। इसलिए दोनों अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेकव्यभिचार हैं। [वामदेवके विषयमें श्रुति है कि 'गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच' (गर्भमें ही सोते हुए वामदेवने आत्मज्ञानके बलसे अपनी शक्तिका परिचय दिया—मैं मनु हुआ इत्यादि) इससे यह बात स्पष्ट होती है कि श्रवण न होनेपर भी वामदेवको आत्मज्ञान हुआ। यह कल्पना भी नहीं कर सकते हैं कि गर्भमें उसने श्रवण किया होगा, अत एव उसको आत्मज्ञान हुआ, क्योंकि गर्भमें श्रावयिताके अभावसे यह सब होना असम्भव है। परन्तु यहाँपर यह शङ्का होती है कि गान्धर्वशास्त्रके (गानशास्त्रके) श्रवणसे षड्ज आदि स्वरोंका साक्षात्कार होता है, और गान्धर्वशास्त्रका श्रवण न होनेपर उन स्वरोंका साक्षात्कार नहीं होता, यह बात निर्विवाद है, इस परिस्थितिमें श्रोतव्य अर्थविशेषके—स्वरोंके साक्षात्कारके प्रति गान्धर्वशास्त्रविचाररूप श्रवणको कारण माननेकी अपेक्षा लाघवप्रमाणसे 'श्रोतव्य जितने अर्थ हैं उन सभीके साक्षात्कारके प्रति श्रवणमात्र कारण है, ऐसे कार्यकारणभावका ग्रहण करना उचित है, अतः ब्रह्मसाक्षात्कार और वेदान्तवाक्यश्रवणका विशेषरूपसे कार्यकारणभाव न होनेपर भी सामान्यरूपसे आत्मसाक्षात्कार और वेदान्तश्रवणका परस्पर कार्यकारणभाव है, क्योंकि आत्मसाक्षात्कार श्रोतव्य अर्थका साक्षात्कार है और वेदान्तका विचार श्रवण है, इसलिए श्रोतव्य (विचारने योग्य) आत्मरूप अर्थके साक्षात्कारके प्रति वेदान्त-

यदि अन्वयव्यभिचार होगा, तो अनन्यथासिद्ध नहीं होगा, और व्यतिरेकव्यभिचार होगा तो कार्यके अधिकरणमें नहीं रहेगा। प्रकृतमें वेदान्तश्रवणके रहते भी अनेक मनुष्योंको आत्माका साक्षात्कार नहीं होता और वेदान्तश्रवणके अभावमें भी वामदेव ऋषिको आत्माका साक्षात्कार हुआ था, अतः वेदान्तश्रवणमें अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेकव्यभिचार दोष होनेसे लोकतः वह आत्म-साक्षात्कारके प्रति कारण नहीं है, यह भाव है। इसलिए श्रवणविधिको अपूर्वविधि मानना चाहिए यह प्रकटार्थकार आदिका अभिप्राय है।

श्रोतव्यार्थसाक्षात्कारहेतुः' इति शास्त्रान्तरश्रवणे गृहीतः सामान्यनियमोऽस्ति। येनाऽत्र विशिष्य हेतुत्वग्राहकाभावेऽपि सामान्यमुखेनैव हेतुत्वं प्राप्यत इत्याशङ्क्येत। गान्धर्वादिशास्त्रश्रवणस्य षड्जादिसाक्षात्कारहेतुत्वाभ्युपगमेऽपि कर्मकाण्डादिश्रवणात् तदर्थधर्मादिसाक्षात्कारादर्शनेन व्यभिचारात्। तस्मादपूर्वविधिरेवाऽयम्।

विचारमें हेतुता प्राप्त ही है, तो 'श्रोतव्यः' यह अपूर्वविधि नहीं हो सकती है*, इस शङ्काका 'न वा' इत्यादिसे परिहार करते हैं] और श्रोतव्यरूप अर्थके साक्षात्कारके प्रति श्रवणमात्र कारण है, इस प्रकारका सामान्य नियम भी गान्धर्व आदि अन्य शास्त्रके श्रवणमें गृहीत नहीं है, जिससे कि इस स्थलमें विशेषरूपसे हेतुताका ग्रहण करानेवाले प्रमाणके न रहनेपर भी सामान्यरूपसे [वेदान्तश्रवणमें आत्मसाक्षात्कारकी] हेतुता प्राप्त होगी, इस प्रकारकी आशङ्का की जाय, क्योंकि षड्ज आदि साक्षात्कारके प्रति गान्धर्व आदि शास्त्रके श्रवणको हेतुरूपसे स्वीकार करनेपर भी कर्मकाण्ड आदि शास्त्रके श्रवणसे उसके धर्म आदि अदृष्ट अर्थका साक्षात्कार नहीं देखा जाता, इसलिए पूर्वकथित सामान्य नियममें व्यभिचार है। इससे 'श्रोतव्यः' यह अपूर्वविधि ही है। [यद्यपि पूर्वमें सामान्य नियमके विषयमें लाघव बतलाया गया है तो भी धर्मके श्रवणस्थलमें अदृष्ट रूपधर्म अथवा अलौकिक स्वर्गके साधनत्वसे विशिष्ट याग आदि धर्मका, प्रत्यक्षके अयोग्य होनेसे, साक्षात्कार नहीं देखा जाता] इससे पूर्वोक्त

---

* षड्जादि सात प्रकारके स्वरोंका संगीतशास्त्रमें वर्णन मिलता है—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद। इनकी उत्पत्ति श्रुतियोंसे मानी गई है। इस विषयमें संगीतरत्नाकरमें यों कहा गया है—

श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः।
पञ्चमो धैवतश्चाथ निषाद इति सप्त ते॥

षड्जशब्दका लक्षण भी सङ्गीतरत्नाकरके टीकाकारने बतलाया है—

षण्णां स्वराणां जनकः षड्भिर्वा जन्यते स्वरैः।
षड्भ्यो वा जायतेऽङ्गेभ्यः षड्ज इत्यभिधीयते॥

इसका अर्थ—इतर छः स्वरोंका कारण, छः स्वरोंसे प्रकाशित होनेवाला अथवा कण्ठ आदि छः स्थानोंसे उत्पन्न होनेवाला स्वर षड्ज कहलाता है। इसी प्रकार ऋषभ आदिके भी लक्षण सङ्गीतरत्नाकरमें [पृ० ३९ आनन्दाश्रम पूना, संस्करण] बतलाये गये हैं।

भाष्येऽपि 'सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्' (३-४-४७) इत्यधिकरणे 'विद्यासहकारिणो मौनस्य बाल्यपाण्डित्यवद्विधिरेवाऽऽश्रयितव्यः, अपूर्वत्वाद्' इति—पाण्डित्यशब्दशब्दिते श्रवणे अपूर्वविधिरेवाऽङ्गीकृत इति ।

सामान्य कार्यकारणभावमें व्यभिचार दोष है, अतः लाघव अप्रयोजक है अर्थात् लाघवके रहनेपर भी व्यभिचारके भयसे सामान्य नियम नहीं मान सकते । प्रत्युत गान्धर्वशास्त्रश्रवणका और षड्ज आदि साक्षात्कारका परस्पर कार्यकारणभाव है, क्योंकि उन्हींका अन्वय और व्यतिरेक देखनेमें आता है, यह भाव है, और इस विषयमें भाष्यकारकी सम्मति भी देते हैं—'भाष्येऽपि' इत्यादिसे] ।

भाष्यमें भी 'सहकार्यन्तरविधिः'* इस अधिकरणमें 'विद्याके सहकारी कारण निदिध्यासनकी भी बाल्य और पाडित्यके समान विधि ही माननी चाहिए, क्योंकि बाल्य और पाडित्यके समान निदिध्यासन भी अपूर्व है अर्थात् विद्याके साधनरूपसे अन्य प्रमाणसे प्राप्त नहीं है' इस प्रकार पाण्डित्य कहलानेवाले श्रवणमें अपूर्वविधिका ही अङ्गीकार किया गया है ।

---

* इस अधिकरणमें भाष्यका अभिप्राय यह है—बृहदारण्यक उपनिषत्में इस प्रकारकी श्रुति है कि 'तस्मात् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् बाल्यञ्च पाण्डित्यं च निर्विद्य थ मुनिः'—चूंकि भूतकालीन ब्राह्मणोंने श्रवण आदि साधनोंसे आत्माका साक्षात्कार करके सम्पूर्ण विक्षेपोंसे रहित जीवन्मुक्तिका व्यञ्जक परमहंसाश्रम प्राप्त किया था, इससे ब्रह्मसाक्षात्कारके अभिलाषी आधुनिक ब्राह्मण भी पाण्डित्य प्राप्त करके बालभावसे रहनेकी इच्छा करें और बाल्य और पाण्डित्यका सम्पादन करके मुनि—ध्यानशील हों। पण्डाशब्दका अर्थ है—विचार करनेके लिए उपयुक्त साधारण बुद्धि, वह जिस पुरुषको प्राप्त है, वह पण्डितशब्दसे कहा जाता है। उस पण्डितका कार्य पाण्डित्य कहा जाता है। और छोटे बच्चेका जो कृत्य—दम्भ आदिका अभाव है, वह बाल्य कहलाता है, यद्यपि यथेष्ट चेष्टा करना भी बालभाव है, तथापि विद्यामें उपयुक्त न होनेसे उसका यहाँ ग्रहण नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार मुनिशब्दका अर्थ—ध्यान है, क्योंकि व्यास प्रभृति ध्याननिष्ठोंमें ही मुनिशब्दका प्रयोग देखा जाता है। और ध्यानके बिना विचार मात्रसे शान्ति रखनेवाले पुरुषमें मुनिशब्दका प्रयोग नहीं देखा जाता। इस परिस्थितिमें जैसे अपूर्व होनेसे श्रवण विधि माना जाता है, वैसे ही विद्याकी उत्पत्तिमें सहकारी कारण मौनकी भी विधि माननी चाहिए, यह भाव है। सूत्रका अर्थ है—तद्वतः—श्रवण और मननके प्रभावसे जिसको तत्त्वनिर्णयरूप विद्या प्राप्त हुई है, ऐसे तत्त्वसाक्षात्कारकी अभिलाषा करनेवाले संन्यासीके लिए पाण्डित्य और बाल्यकी अपेक्षासे तीसरे मौनका—ध्यानका भी विधान किया जाता है। यहाँ-

विचारस्य विचार्यार्थनिर्णयं प्रति हेतुता ॥
अपरोक्षप्रमाणस्य तत्साक्षात्कारहेतुता ॥ ५ ॥
प्राप्तैव, किन्त्वनियता भ्रान्तिः प्राप्ताऽन्यसाधनैः ॥
ततो नियम इत्याहुः सर्वे विवरणानुगाः ॥ ६ ॥

विचार विचारणीय अर्थके निश्चयके प्रति हेतु है, इस प्रकार अपरोक्षार्थविषयक प्रमाण अपरोक्षार्थसाक्षात्कारके प्रति हेतु है, यह प्राप्त ही है, किन्तु अनियत प्राप्ति है, अतः अन्य साधनोंके साथ श्रवणकी प्राप्ति होनेसे सन्देह होगा कि यह साधन है अथवा यह ? अतएव विवरणानुयायी सब आचार्य श्रवणको नियमविधि कहते हैं ॥ ५ ॥ ६ ॥

अन्ये तु—वेदान्तश्रवणस्य नित्यापरोक्षब्रह्मसाक्षात्कारहेतुत्वं न अप्रा-

---

कुछ लोगोंका मत है कि वेदान्तके श्रवणमें नित्य अपरोक्ष अर्थात् सदा प्रत्यक्षरूपसे भासमान आत्माके साक्षात्कारकी कारणता प्राप्त नहीं है, ऐसा नहीं है, अर्थात् विचारसे युक्त वेदान्तरूप श्रवणमें ब्रह्मसाक्षात्कारकी कारणता

पर यह शङ्का होती है कि ध्यानकी विधि माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जैसे रत्नके यथार्थ स्वरूपकी जिज्ञासा करनेवाला पुरुष स्वयं ही रत्नतत्त्वके ज्ञानके प्रवाहमें अर्थात् रत्नकी ठीक पहचान करनेके लिए बार बार उसके परिदर्शनमें तत्पर होता है, वैसे ही आत्मतत्त्वसाक्षात्कारका अभिलाषी भी स्वयं ही ध्यानमें प्रवृत्त होगा, अतः मौनविधि व्यर्थ है ? इसपर कहते हैं—'पक्षेण' अर्थात् सूत्रकार कहते हैं कि विद्यामें सहकारिभूत मौनकी—निदिध्यासनकी विधिका भी स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि पक्षमें उसकी अप्राप्ति है। यद्यपि साक्षात्कारके लिए मनुष्य स्वतः ध्यानमें प्रवृत्त होता है, तो भी विषयदर्शनके प्रभावसे कदाचित् ध्यानकी अप्राप्तिका भी सम्भव है, अतः मौनविधि अपूर्वविधि नहीं है; परन्तु नियमविधि है, यह सिद्ध होता है। जब नियमविधि सिद्ध हुई, तो उसके अतिक्रमण करनेपर नियमादृष्टका लाभ नहीं होगा और उसके अलाभसे साक्षात्कारका भी उदय नहीं होगा, इसलिए स्वभावसे प्राप्त विषयदर्शनका प्रयत्नसे निवारण करके ध्यानमें ही प्रवृत्त होता है, यह 'पक्षेण' इसका भाव है। परन्तु ब्रह्मविद्याके प्रकरणमें ध्यानविधि कैसे होगी ? यदि मानोगे, तो वाक्यभेद होगा, इसपर कहते हैं—विध्यादिवत्—अङ्गविधिके समान—जैसे प्रधानविधिके प्रकरणमें अवान्तरवाक्यभेदसे प्रयाजादि अङ्गकी विधि है, वैसे ही ब्रह्मविद्याके अङ्गभूत ध्यान आदिकी भी विधि है, यह भाव है। इस रीतिसे मौन विधिके नियमत्वकी सिद्धि होनेपर भाष्यमें जो 'अपूर्वत्व' शब्दका कथन है, वह पाक्षिक अप्राप्तिके सद्भावमें है। सूत्रके अनुसार 'पक्षमें प्राप्ति नहीं होनेसे' इस प्रकार न कहकर भाष्यमें 'अपूर्वत्वात्' (अपूर्व होनेसे) यह जो कहा है वह श्रवणको अपूर्वविधि बतलानेके लिए कहा गया है, और दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकका सद्भाव केवल अप्राप्तिमात्रमें ही विवक्षित है।

सम् ; अपरोक्षवस्तुविषयकप्रमाणत्वावच्छेदेन साक्षात्कारहेतुत्वस्य प्राप्तेः शाब्दापरोक्षवादे व्यवस्थापनात् । तदर्थमेव हि तत्प्रस्तावः । न च तावता ब्रह्मप्रमाणत्वेनाऽऽपातदर्शनसाधारणब्रह्मसाक्षात्कारहेतुत्वप्राप्तावप्यविद्यानिवृ-त्त्यर्थमिष्यमाणसत्तानिश्चयरूपतत्साक्षात्कारहेतुत्वं श्रवणस्य न प्राप्तमिति

विधिके विना भी प्राप्त है, क्योंकि अपरोक्ष वस्तुओंको विषय करनेवाले सभी प्रमाण साक्षात्कारके हेतु हैं, इसका शब्दापरोक्षवादमें (जिसमें शब्दसे भी अपरोक्ष ज्ञान होता है ऐसा प्रतिपादन किया गया है, उस प्रकरणमें) प्रतिपादन किया गया है। वेदन्तवाक्य ब्रह्मके अपरोक्ष साक्षात्कारके जनक हैं, इस प्रकारकी वेदान्तोंमें अपरोक्षसाक्षात्कारकी कारणतासिद्धिके लिए ही शाब्दापरोक्षवादका उपक्रम है। [परन्तु इसपर यह शङ्का होती है कि शाब्दापरोक्षवादमें इसीकी सिद्धि की गई है कि अपरोक्ष वस्तुको विषय करनेवाला प्रमाण अपने विषयकी अपरोक्षप्रमा उत्पन्न करता है, इसलिए वेदान्तवाक्योंमें भी नित्य अपरोक्ष ब्रह्मरूप अपने विषयके सामान्य अपरोक्ष ज्ञानकी कारणता प्राप्त होगी, किन्तु ब्रह्मसत्ताका निश्चयात्मक जो साक्षात्कार है, उसकी कारणता वेदान्तोंमें प्राप्त नहीं होगी, और यह साक्षात्कार अर्थात् ब्रह्मसत्ताका निश्चया-त्मक साक्षात्कार विचारविशिष्ट वेदान्तरूप श्रवणसे ही हो सकता है, अन्यथा— यदि ऐसा स्वीकार न किया जाय, तो विचारके विना भी ब्रह्मसत्ताका निश्चया-त्मक साक्षात्कार उत्पन्न होगा। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। जिसको अविद्याकी निवृत्ति करनी है, उसे तो ब्रह्म-सत्ताका निश्चयात्मक ज्ञान ही अपे-क्षित है, क्योंकि साधारण ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति नहीं हो सकती। इसीसे श्रुतियोंमें बार बार प्रश्न और प्रतिवचनोंसे सत्ता-निश्चयरूप ब्रह्मसाक्षात्कार ही अविद्याका निवर्तक कहा गया है। अतः सत्तानिश्चयरूप ब्रह्मसाक्षात्कारके हेतु रूपसे वेदान्तश्रवण प्राप्त नहीं है, उसीका विधान करनेके लिए 'श्रोतव्यः' यह अपूर्वविधि है, इस प्रकार 'न च' इत्यादिसे शङ्का करते हैं] यद्यपि वेदान्त-वाक्य ब्रह्मज्ञानके साधन हैं, इससे वेदान्तोंमें संशयात्मक और निश्चयात्मक ब्रह्मज्ञानसामान्यके प्रति हेतुता प्राप्त है, तथापि अविद्याकी निवृत्ति करनेमें समर्थ अभिलषित जो ब्रह्मसत्तानिश्चयात्मक साक्षात्कार है, उसके प्रति वेदान्तश्रवण कारण हैं, ऐसा प्राप्त नहीं है, इस प्रकारकी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि

वाच्यम्; विचारमात्रस्य विचार्यनिर्णयहेतुत्वस्य ब्रह्मप्रमाणस्य तत्साक्षात्कारहेतुत्वस्य च प्राप्तौ विचारितवेदान्तशब्दज्ञानरूपस्य श्रवणस्य तद्धेतुत्वप्राप्तेः। न चोक्त उभयतो व्यभिचारः, सहकारिवैकल्येनाऽन्वयव्य-

---

विचारमात्रमें विचारविषयके निर्णयात्मक ज्ञानके प्रति हेतुता प्राप्त है, और ब्रह्मप्रमाण वेदान्तमें ब्रह्मसाक्षात्कारकी हेतुता प्राप्त है, इससे विचारित वेदान्तात्मक शब्दोंसे होनेवाले ज्ञानरूप श्रवणमें भी सत्ता-निश्चयात्मक ब्रह्मसाक्षात्कारकी कारणता प्राप्त ही है। [भाव यह है कि अन्वय और व्यतिरेकसे दो कार्यकारण-भाव प्राप्त हैं—एक तो जिसके विषयमें विचार होता है, वह विचार उस विषयके निर्णयात्मक ज्ञानके प्रति कारण है और दूसरा अपरोक्ष वस्तुके विषयमें प्रवृत्त प्रमाण अपरोक्षसाक्षात्कारके प्रति कारण है, इन दो कार्यकारणभावोंके मिला देनेसे इस स्थलमें विचारित वेदान्तका ज्ञानरूप जो श्रवण है, वह सत्ता-निश्चयरूप ब्रह्मसाक्षात्कारके प्रति कारण है, यह कार्यकारणभाव सिद्ध होता है, इसलिए सत्तानिश्चयात्मक ब्रह्मसाक्षात्कार विचारे हुए वेदान्तोंके श्रवणसे प्राप्त ही है और उससे अविद्याकी निवृत्ति भी हो सकती है, तो 'श्रोतव्यः' यह विधायकशब्द अपूर्व अर्थका विधान नहीं करता, अतः अपूर्वविधि नहीं है] परन्तु यहाँपर शङ्का होती है कि पहले अन्वय और व्यतिरेक व्यभिचार कहा गया है, अर्थात् आत्मसाक्षात्कारके प्रति वेदान्तश्रवण कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वेदान्तश्रवण करनेपर भी अनेक मनुष्योंको आत्मज्ञान नहीं होता और वामदेवको वेदान्तश्रवण न करनेपर भी आत्मज्ञान हुआ था, इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक व्यभिचारके होनेसे विचारित वेदान्तश्रवण भी आत्मसत्ताके निश्चयात्मक ज्ञानके प्रति कारण नहीं हो सकता है। यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि अन्य सहकारी कारणके न रहनेसे अन्वय व्यभिचार दोष नहीं है। [भाव यह है कि आत्मसाक्षात्कारके प्रति केवल वेदान्तश्रवण ही कारण नहीं है किन्तु चित्तकी एकाग्रता आदि भी कारण हैं। इससे वेदान्तश्रवण करनेपर यदि ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं हुआ, तो कल्पना करनी चाहिए कि चित्तकी एकाग्रता आदि जो सहकारी कारण हैं, वे वहाँ नहीं रहे होंगे, इसलिए आत्मसाक्षात्कार नहीं हुआ, अतः अन्वयव्यभिचार नहीं है। इसीसे दण्ड आदि सहकारी कारणके न रहते मिट्टीसे घटके उत्पन्न

भिचारस्याऽदोषत्वात्। जातिस्मरस्य जन्मान्तरश्रवणात् फलसम्भवेन व्यतिरेकव्यभिचाराभावात्। अन्यथा व्यभिचारेणैव हेतुत्वबाधे श्रुत्याऽपि तत्साधनताज्ञानासम्भवात्। घटसाक्षात्कारे चक्षुरतिरेकेण त्वगिन्द्रियमिव ब्रह्मसाक्षात्कारे श्रवणातिरेकेण उपायान्तरमस्तीति शङ्कायां व्यतिरेकव्यभिचारस्याऽप्यदोषत्वात्। तथा च प्राप्तत्वान्नाऽपूर्वविधिः।

न होनेपर भी मिट्टीमें अन्वयव्यभिचार नहीं है।] पूर्वजन्मके वेदान्तश्रवणसे आत्मसाक्षात्काररूप फलका संभव होनेसे पूर्व जन्मका स्मरण करनेवाले वामदेवमें व्यतिरेकव्यभिचार नहीं है। यदि इस रीतिसे अन्वय और व्यतिरेक व्यभिचारका परिहार न माना जाय, तो इन दो व्यभिचारोंसे ही वेदान्तश्रवणमें आत्मसाक्षात्कारकी साधनताका बाध होनेसे श्रुतिसे भी वेदान्तश्रवणमें साक्षात्कारकी साधनताका ज्ञान नहीं हो सकेगा *। [ब्रह्मके साक्षात्कारमें जैसे श्रवण कारण है, वैसे ही तपश्चर्या या उत्तमजन्मप्राप्ति आदि अन्य कारण भी हैं। ऐसी परिस्थितिमें 'वामदेवको उत्तमजन्मप्राप्ति आदि अन्य कारणोंसे ज्ञान उत्पन्न हुआ होगा' इस प्रकारकी शङ्का होनेसे वामदेवमें श्रवणका व्यतिरेकव्यभिचारज्ञान श्रवणकी साक्षात्कारसाधनताका प्रतिबन्धक नहीं हो सकता। एक पदार्थके ज्ञानमें परस्पर निरपेक्ष दो कारणोंके न होनेसे ब्रह्मसाक्षात्कारमें कारणान्तर नहीं है, यह बात नहीं है; क्योंकि लोकमें एक पदार्थके परिज्ञानमें परस्पर निरपेक्ष दो कारण भी देखे जाते हैं, इस भावको 'घटसाक्षात्कारे' इत्यादिसे बतलाते हैं—] जैसे घटके प्रत्यक्षमें चक्षुसे अन्य त्वगिन्द्रिय भी कारण है, वैसे ही ब्रह्मके साक्षात्कारमें श्रवणसे अतिरिक्त अन्य कारण है, इस प्रकारकी शङ्का होनेपर व्यतिरेकव्यभिचार भी दोषावह नहीं है। इससे—विधिके बिना भी श्रवणमें ब्रह्मसाक्षात्कारसाधनताके प्राप्त होनेसे श्रवणविधि अपूर्वविधि नहीं है अर्थात् नियमविधि है।

---

* यह निश्चित है कि अन्वयव्यभिचार या व्यतिरेकव्यभिचारके निश्चयसे हेतुत्वका बाध होता है, अतः यदि प्रदर्शित रीतिसे अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेकव्यभिचारका परिहार न किया जाय, तो श्रवणविधिसे भी श्रवणमें तत्त्वज्ञानकी साधनता प्राप्त न होगी, अतः श्रवणकी अपूर्वविधि अप्रमाण होगी, यह भाव है।

अत एव 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' (४।१।१) इत्यधिकरणभाष्ये 'दर्शनपर्यवसानानि हि श्रवणादीन्यावर्त्यमानानि दृष्टार्थानि भवन्ति, यथाऽवघातादीनि तण्डुलनिष्पत्तिपर्यवसानानि' इति श्रवणस्य ब्रह्मदर्शनार्थस्य दृष्टार्थतया दार्शपूर्णमासिकावघातन्यायप्राप्तावावृत्त्युपदेशः। अपूर्वविधित्वे तु स न सङ्गच्छते, सर्वौषधावघातवत्। अग्निचयने—'सर्वौषधस्य पूरयित्वाऽवहन्ति अथैतदुपदधाति' इत्युपधेयोलूखलसंस्कारार्थत्वेन विहितस्याऽवघातस्य दृष्टार्थत्वाभावात् नाऽऽवृत्तिरिति हि तन्त्रलक्षणे (११।१।६) स्थितम्; अतो नियमविधिरेवाऽयम्। तदभावे हि यथा वस्तु किञ्चिच्चक्षुषा वीक्षमाणस्तत्र स्वागृहीते सूक्ष्मे विशेषान्तरे केनचित् कथिते तदवगमाय तस्यैव चक्षुषः पुनरपि सप्रणिधानं व्यापारे प्रवर्तते, एवं मनसा 'अहम्' इति गृह्यमाणे जीवे वेदान्तैरध्ययनगृहीतैरुपदिष्टं निर्विशेषब्रह्मचैतन्यरूपत्व-

---

इसीसे जैसे तण्डुलकी उत्पत्ति ही जिनका प्रयोजन है, ऐसे अवघात आदि दृष्टार्थक होनेसे जब तक चावल न निकलें तब तक पुनः पुनः किये जाते हैं, वैसे ही साक्षात्कार जिनका प्रयोजन है, ऐसे दृष्टार्थक श्रवण आदिकी ब्रह्मसाक्षात्कारपर्यन्त आवृत्ति होती है, इस प्रकार 'आवृत्तिरसकृदुपदेशाद्' इस आवृत्त्यधिकरणके भाष्यमें ब्रह्मसाक्षात्कारके लिए किये गये श्रवणके दृष्टार्थक होनेसे दर्शपूर्णमाससम्बन्धी अवघातन्यायके आधारपर श्रवणादिकी आवृत्तिका उपदेश किया गया है। श्रवणमें यदि अपूर्वविधि मानी जाय, तो सब ओषधियोंके अवघातके समान आवृत्तिका उपदेश सङ्गत न होगा, क्योंकि अग्निचयनमें 'सर्वौषधस्य०' (ऊखलमें सब ओषधियोंको भरकर कूटे अनन्तर उस ऊखलका स्थापन करे) इस प्रकार उपधेय ऊखलके संस्कारके लिए विहित अवघात, दृष्टार्थक न होनेसे, पुनः पुनः नहीं किया जाता, इस प्रकार पूर्वमीमांसाके ग्यारहवें अध्यायमें विचार किया गया है। इससे श्रवणके प्राप्त होनेसे यह नियमविधि ही है। यदि नियमविधि न मानें, तो जैसे किसी रत्न आदि वस्तुका निरीक्षण करनेवाला पुरुष, किसी दूसरेके कहनेपर अपनेसे अदृष्ट उसकी अन्य सूक्ष्म विशेषताका परिज्ञान करनेके लिए, फिर भी उसी चक्षुके सप्रणिधान व्यापारमें प्रवृत्त होता है, वैसे अन्तःकरण द्वारा अहंरूपसे गृहीत जीवमें 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस अध्ययनविधिसे प्राप्त वेदान्तोंसे उपदिष्ट निर्विशेषब्रह्मचैतन्यस्वरूपताका

माकर्ण्य तदवगमाय तत्र सावधानं मनस एव प्रणिधाने कदाचित् पुरुषः प्रवर्तेतेति वेदान्तश्रवणे प्रवृत्तिः पाक्षिकी स्यात्। 'अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुतिः 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' इत्यपि श्रवणेनाऽनवहितमनोविषयेति शङ्कासम्भवात्।

अथवा 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः'

परोक्षज्ञान करनेके अन्तर उसी निर्विशेषस्वरूपके अपरोक्ष परिज्ञानके लिए अवधान पूर्वक मनके प्रणिधानमें ही कदाचित् पुरुष प्रवृत्त होगा, इससे श्रवणमें पाक्षिक प्रवृत्ति होगी। वेदान्तश्रवणके समान मनके व्यापारमें पुरुषकी प्रवृत्ति न होगी, क्योंकि 'अप्राप्य मनसा सह' (सत्य, ज्ञान आदि शब्द शक्तिवृत्तिसे ब्रह्मका प्रतिपादन न करके मनके साथ ही निवृत्त होते हैं—लक्षणावृत्तिका आश्रयण करते हैं) यह श्रुति ब्रह्मकी मनोविषयताका निषेध करती है अर्थात् ब्रह्मका ग्रहण मनसे नहीं हो सकता, यह स्पष्टरूपसे कहती है, अतः मनके व्यापारमें पुरुषकी प्रवृत्ति कैसे होगी? ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' (मनसे ही ब्रह्म जानना चाहिए) 'दृश्यते०' (सावधान मनसे आत्मा देखा जाता है) इत्यादि श्रुतियोंके सद्भावसे 'मनसा सह' इत्यादि श्रुति अनवहित* मनका अवलम्बन करती है, इस प्रकार कल्पना हो सकती है†।

अथवा‡ 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य०' (बड़े बड़े ऋषियों द्वारा सेवित

* अनवहित—एकाग्रतासे रहित।

† 'निश्चयासम्भवात्'के स्थानमें 'शङ्कासम्भवात्' इस कथनका भाव यह है कि निर्गुण ब्रह्मके साक्षात्कारमें मन करण नहीं है, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म औपनिषद—उपनिषत्प्रमाणमात्रसे वेद्य कहा गया है। सोपाधिक आत्माके साक्षात्कारमें भी मन कारण नहीं है, क्योंकि सोपाधिक आत्मसाक्षात्कार नित्यसाक्षिरूप है। इसलिए 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इसमें 'मनसा' यह जो साधन तृतीया है, वह वाक्यजन्यवृत्तिसाक्षात्कारके प्रति साधनताके अभिप्रायसे है, यह शाब्दापरोक्षवादमें कहा जायगा। इससे—आत्मसाक्षात्कारके प्रति मनके करण न होनेसे 'मनके ही व्यापारमें कदाचित् पुरुषकी प्रवृत्ति होगी' इससे कहा गया नियमविधिका व्यावर्त्य अयुक्त है।

‡ इसका तात्पर्य यह है कि व्याकरण आदि छः अङ्गोंके साथ वेदाध्ययन करनेके बाद 'तरति शोकमात्मवित्' (आत्माको जाननेवाला दुःखसे मुक्त हो जाता है) इत्यादि अनेक श्रुतियोंसे 'आत्माका यथार्थ ज्ञान मुक्तिका साधन है' यह ज्ञात होता है, परन्तु लोकमें प्रायः देखा जाता है कि साङ्गवेदका अध्ययन करनेपर भी विचारके बिना आत्मतत्त्वज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि अनेक अभिप्रायोंसे आत्मरूप अर्थका प्रतिपादन करनेवाले वेदान्तोंमें तात्पर्यकी

इत्यादिश्रवणात् भिन्नात्मज्ञानात् मुक्तिरिति भ्रमसम्भवेन मुक्तिसाधनज्ञानाय भिन्नात्मविचाररूपे शास्त्रान्तरश्रवणेऽपि पक्षे प्रवृत्तिस्स्यादित्यद्वैतात्मपर-वेदान्तश्रवणनियमविधिरयमस्तु। इहाऽऽत्मशब्दस्य 'इदं सर्वं यदय-

ईश्वरके स्वरूपको जब देखता है, तब ईश्वरकी महत्ताको प्राप्त करता है और शोक–दुःखसे निर्मुक्त हो जाता है) इत्यादि श्रुतियोंके श्रवणसे जीवसे भिन्न—आत्माके ज्ञानसे मुक्ति होती है, इस प्रकारका भ्रमात्मक ज्ञान हो सकता है। जिनमें परमात्मा जीवसे पृथक् है, ऐसा विचार किया गया है, ऐसे अन्य शास्त्रों—न्याय, सांख्य आदिमें उक्त भ्रमसे ही मुक्तिके साधनीभूत ज्ञानके लिए प्रवृत्ति होगी, इससे अद्वैत आत्मतत्त्वका बोध करानेवाले वेदान्तके श्रवणमें मनुष्यकी प्रवृत्ति पक्षमें होगी, अतः उसकी व्यावृत्ति करनेके लिए यह श्रवणविधि नियमविधि है। प्रकृतमें 'आत्मा वा अरे' इत्यादि श्रुतिमें आत्मशब्द अद्वितीय आत्मपरक है, क्योंकि 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (जो सब यह चारों तरफ देखा जाता है, वह आत्मा

भ्रान्ति हो सकती है अर्थात् विचारके बिना वेदान्तोंका ठीक तात्पर्य किसमें है, यह निर्णय नहीं हो सकता। इसलिए मुक्तिके साधनकी अन्वेषणा करनेवाला तथा तत्त्वज्ञानके प्रतिबन्धक तात्पर्यभ्रम और संशय आदिकी निवृत्ति करनेके लिए वेदान्तके विचारमें प्रवृत्त हुआ पुरुष जैसे उत्तरमीमांसाशास्त्रमें प्रवृत्त होता है, वैसे ही न्याय, सांख्य आदि शास्त्रोंमें भी प्रवृत्त होगा; क्योंकि उनमें भी उनके अभिप्रायानुकूल वेदान्तका विचार है। यद्यपि सांख्य आदि शास्त्रोंमें अद्वितीय आत्मतत्त्वका प्रतिपादन नहीं है, तो भी 'जीवभिन्न आत्माका ज्ञान मुक्तिका साधन है' इस प्रकार भ्रमात्मक ज्ञानसे उन शास्त्रोंमें प्रवृत्ति हो सकती है। और 'भिन्नात्मज्ञान मुक्तिका साधन है' ऐसा भ्रमात्मक ज्ञान साङ्गवेदाध्यायीको नहीं होता है, यह भी हम नहीं कह सकते हैं, क्योंकि 'जुष्टं यदा' इत्यादि श्रुतिमें अन्य शब्द पढ़ा गया है, इससे उसको भ्रम हो सकता है। वस्तुतः इस श्रुतिका अर्थ—समीपमात्रसे बुद्धि आदिका प्रवर्तक बुद्धि आदिसे वस्तुतः भिन्न [जीव भिन्न नहीं है, क्योंकि जीव और ब्रह्मका भेद प्रत्यक्ष सिद्ध होनेसे उपदेश व्यर्थ होगा] और ऋषियोंसे सेवित ईश्वरका आत्मरूपसे जब ज्ञान करता है, तब ईश्वरके वास्तविकरूपकी प्राप्ति करता है और शोकरहित हो जाता है। अतः भ्रमसे शास्त्रान्तरके विचारमें प्रसक्त प्रवृत्तिका निराकरण करनेके लिए 'श्रोतव्यः' यह नियमविधि है। परन्तु 'श्रोतव्यः' इस श्रुतिसे केवल आत्मविचार ही प्राप्त होता है, अद्वैत आत्मविचार प्राप्त नहीं होता, अतः इस श्रुतिसे भिन्नात्मविचारकी व्यावृत्ति कैसे होगी, इस शङ्काको दूर करनेके लिए 'इह' इत्यादि ग्रन्थसे उत्तर देते हैं। इसमें आदिशब्दसे 'आत्मनि ज्ञाते सर्वं विदितं भवति' (आत्माके ज्ञात होनेपर सब विदित होता है) इत्यादि प्रतिज्ञावाक्य लिया जाता है। इससे यह जाना जाता है कि 'आत्मा वा अरे' इत्यादिमें 'आत्मा'से अद्वितीय आत्माका ही ग्रहण है, यह भाव है।

मात्मा' इत्यादिप्रकरणपर्यालोचनया अद्वितीयात्मपरत्वात्। नहि वस्तुसत्साधनान्तरप्राप्तावेव नियमविधिरिति कुलधर्मः; येन वेदान्तश्रवण-नियमार्थवत्त्वाय नियमादृष्टजन्यस्वप्रतिबन्धककल्मषनिवृत्तिद्वारा सत्तानिश्चय-रूपब्रह्मसाक्षात्कारस्य वेदान्तश्रवणैकसाध्यत्वस्याऽभ्युपगन्तव्यत्वेन तत्र वस्तुतः साधनान्तराभावान्न नियमविधिर्युज्यत इति आशङ्क्येत; किन्तु यत्र साधनान्तरतया सम्भाव्यमानस्य पक्षे प्राप्त्या विधित्सितसाधनस्य पाक्षिक्यप्राप्तिर्निवारयितुं न शक्यते, तत्र नियमविधिः। तावतैवाऽप्राप्तांश-परिपूरणस्य तत्फलस्य सिद्धेः।

है) इस श्रुतिके प्रकरणके पर्य्यालोचनसे ऐसा ज्ञात होता है।

[यहाँपर शङ्का होती है कि तण्डुलकी उत्पत्तिमें अवघातके समान नखविदलनकी वस्तुतः साधनरूपसे प्राप्ति है, इससे उसकी निवृत्तिके लिए वहाँ नियमविधि मानना उचित है, परन्तु प्रकृतस्थलमें अद्वितीय आत्माके साक्षात्कारमें भिन्नात्म-विचार वास्तविक साधन नहीं है, अतः प्रकृतमें नियमविधि उसकी व्यावृत्तिके लिए नहीं हो सकती *। इसका उत्तर 'नहि' इस ग्रन्थसे देते हैं] 'वस्तुसत् अन्य साधनकी प्राप्ति रहते ही नियमविधि होती है' यह कोई कुलधर्म नहीं है अर्थात् जैसे कुलक्रमसे प्राप्त धर्मकी आवश्यकता है, वैसे वस्तुसत् अन्य साधनकी प्राप्तिकी आवश्यकता नहीं है, जिससे कि वेदान्त-श्रवणके नियमकी सार्थकताके लिए यह स्वीकार किया जाय कि नियमापूर्वसे* उत्पन्न जो ब्रह्मसाक्षात्कारके प्रतिबन्धकीभूत पापोंका निरसन, उसके द्वारा सत्तानिश्चयात्मक ब्रह्मका अपरोक्षसाक्षात्कार वेदान्तके श्रवणमात्रसे साध्य है, ऐसा मानकर ब्रह्मसाक्षात्कारमें वस्तुतः अन्य साधनका अभाव होनेसे प्रकृतमें नियम-विधि युक्त नहीं है, ऐसी आशङ्का की जाय। किन्तु जहाँपर सम्भावित अन्य-साधनकी पक्षमें प्राप्ति होनेसे विधानके लिए अभीष्ट साधनकी पाक्षिक अप्राप्तिका निवारण नहीं कर सकते हैं, वहाँपर नियमविधि होती है। इसीसे अप्राप्तां-शपरिपूरणरूप नियमविधिके फलकी सिद्धि हो जाती है।

---

* सत्तानिश्चयात्मक ब्रह्मसाक्षात्कारके प्रति विधित्सित गुरुके अधीन वेदान्तश्रवणके समान गुरुसे निरपेक्ष वेदान्तश्रवण भी कारण है, इसलिए गुरुके अधीन वेदान्तश्रवणका नियम माना जायगा, परन्तु उसका कोई प्रत्यक्ष फल तो है नहीं। अतः नियमापूर्व मानना होगा। और उससे पापोंकी निवृत्ति होगी और उसके द्वारा नियमादृष्ट ब्रह्मसाक्षात्कारमें साधन होगा, इस प्रकार नियमविधिमें कल्पना करनी होगी।

अथवा गुरुमुखाधीनाध्ययनादिव निपुणस्य स्वप्रयत्नमात्रसाध्यादपि वेदान्तविचारात् सम्भवति सत्तानिश्चयरूपं ब्रह्मापरोक्षज्ञानम्, किन्तु गुरुमुखाधीनवेदान्तवाक्यश्रवणनियमादृष्टमविद्यानिवृत्तिं प्रति कल्मषनिरासेनोपयुज्यत इति तदभावेन प्रतिबद्धमविद्यामनिवर्तयत् परोक्षज्ञानकल्पमवतिष्ठते। न च ज्ञानोदये अज्ञानानिवृत्त्यनुपपत्तिः, प्रतिबन्धकाभावस्य सर्वत्राऽपेक्षितत्वेन सत्यपि प्रत्यक्षविशेषदर्शने उपाधिना प्रतिबन्धात् प्रति-

अथवा गुरुमुखसे किये गये वेदान्तविचारके समान व्युत्पन्न पुरुषको केवल अपने प्रयत्नसे किये गये वेदान्तविचारसे भी सत्तानिश्चयरूप ब्रह्मके अपरोक्ष—साक्षात्कारका सम्भव है, परन्तु गुरुमुखसे किये गये वेदान्तवाक्योंके श्रवणसे उत्पन्न हुआ नियमापूर्व कल्मषनिवृत्तिपूर्वक अविद्याकी निवृत्तिके प्रति उपयोगी है, इससे यदि गुरु द्वारा वेदान्तश्रवण न किया जाय—अपने प्रयत्नसे ही किया जाय, तो वेदान्तश्रवणसे कल्मषोंकी निवृत्ति नहीं होगी, अतः कल्मषोंसे प्रतिबद्ध होनेसे अपने प्रयत्नसे किया हुआ निपुणपुरुषका सत्तानिश्चात्मक अपरोक्ष—साक्षात्कार अविद्याकी निवृत्ति न करता हुआ परोक्षज्ञानके सदृश* ही स्थित रहेगा। परन्तु यह असङ्गत है, क्योंकि अज्ञानके उत्पन्न होनेपर अविद्या निवृत्त न हो, यह अनुपपन्न है अर्थात् ज्ञानसे अवश्य ज्ञानकी निवृत्ति होती है, [कारण कि जो प्रमा होती है वह अपने अज्ञाननिवृत्तिरूपकार्यको उत्पन्न करती ही है, जैसे शुक्तिप्रमासे उसका अज्ञान नष्ट होता है।] नहीं, यह नियम नहीं है कि ज्ञान होनेपर अज्ञान निवृत्त होता है, क्योंकि प्रतिबन्धकके अभावकी † सर्वत्र अपेक्षा होनेसे प्रत्यक्षसे विशेषदर्शनके रहते भी

* यहाँपर मतभेदसे व्यवस्था करनी चाहिए, किसी आचार्यके मतमें नियमादृष्ट कल्मषनिवृत्ति द्वारा ज्ञानोत्पत्तिमें कारण है और किसी आचार्य्यके मतमें नियमादृष्ट कल्मषनिवृत्ति द्वारा अविद्यानिवृत्तिमें कारण है—अन्यथा पूर्व ग्रन्थमें 'नियमार्थवत्त्वाय' इत्यादिसे कल्मषनिवृत्ति द्वारा ज्ञानकी उत्पत्तिमें नियमादृष्टको कारण बतलाया है और यहाँपर नियमादृष्टको प्रतिबन्धरूप कल्मषकी निवृत्ति द्वारा उत्पन्न ज्ञानसे जननीय अविद्याकी निवृत्तिमें कारण बतलाया है, इससे विरोधका प्रसङ्ग अवश्य आ सकता है।

† यद्यपि वेदान्तसिद्धान्तमें प्रतिबन्धकाभाव कारण नहीं माना गया, तथापि 'अप्रतिबद्ध सामग्री कार्यकी हेतु है' इसका स्वीकार होनेसे विशेषणरूपसे प्रतिबन्धकाभावकी अपेक्षा है, क्योंकि सामग्रीमें अप्रतिबद्ध यह विशेषण है, और इसका अर्थ है—प्रतिबन्धकाभावसहकृत सामग्री, इसलिए विशेषणविधया उसकी अपेक्षा है, यह भाव है—

विम्बभ्रमानिवृत्तिवत् तदनिवृत्त्युपपत्तेः। एवं च लिखितपाठादिनाऽपि स्वाध्यायग्रहणप्रसक्तौ गुरुमुखाधीनाध्ययननियमविधिवत् स्वप्रयत्नमात्र-पूर्वकस्याऽपि वेदान्तविचारस्य सत्तानिश्चयरूपब्रह्मसाक्षात्कारार्थत्वेन पक्षे प्राप्तौ गुरुमुखाधीनश्रवणनियमविधिरयमस्तु।

न च 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' इति गुरूपसदनविधिनैव

उसकी उपाधिसे प्रतिबद्ध होनेके कारण जैसे प्रतिविम्बके विभ्रमकी निवृत्ति नहीं होती, वैसे ही कल्मषोंसे प्रतिबद्ध सत्तानिश्चयात्मक ब्रह्मका अपरोक्ष साक्षात्कार भी अविद्याकी निवृत्ति नहीं कर सकता। ऐसा होनेपर अर्थात् गुरुनिरपेक्ष वेदान्तविचाररूप व्यावर्त्यका लाभ होनेपर जैसे लिखित* पाठ आदिसे स्वाध्याय—वेदराशिके ग्रहणकी प्राप्ति होनेपर गुरुमुखाधीन अध्ययनकी नियमविधिसे उसकी—लिखित पाठ आदिकी व्यावृत्ति होती है, वैसे ही सत्तानिश्चयात्मक ब्रह्मसाक्षात्कारके लिए अपने प्रयत्नमात्रसे किये गये वेदान्तविचारकी पक्षमें प्राप्ति होनेपर गुरुमुखाधीन श्रवणकी यह नियमविधि है।

[परन्तु स्वप्रयत्नसाध्य वेदान्तविचारकी व्यावृत्ति करनेके लिए 'श्रोतव्यः' यह नियमविधि है, यह कथन असङ्गत है, क्योंकि ब्रह्मज्ञानके लिए गुरुके पास जानेका श्रुतिमें वर्णन है। और गुरूपगमन ब्रह्मसाक्षात्कारका साक्षात् साधन नहीं है, किन्तु परम्परासे साधन है। इसलिए वह ज्ञानके उत्पादनमें किसी द्वारकी अपेक्षा करेगा और वह द्वार योग्यतासे गुरुके अधीन विचार

---

* यहां सारांश यह है कि चाहे अभ्युदयका अभिलाषी पुरुष हो चाहे निःश्रेयसका अभिलाषी हो दोनोंको वेदार्थका अनुष्ठान करना चाहिए, क्योंकि वेदार्थके अनुष्ठानके विना अभ्युदय या निःश्रेयसकी सिद्धि नहीं हो सकती है। और अनुष्ठान तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि वेदके अर्थका ठीक ठीक परिज्ञान न हो। वेदके अर्थका परिज्ञान वेदके ग्रहणके विना नहीं हो सकता। और वेदका ग्रहण दो रीतिसे हो सकता है, एक तो गुरु द्वारा और दूसरा लिखित पाठसे, कारण कि ये दोनों प्रकार लोकमें देखे जाते हैं। इस परिस्थितिमें अध्ययनविधिवाक्य यह काम करता है कि अध्ययनसे ही वेदाक्षर ग्रहण करे। इससे लिखित पाठ आदिकी व्यावृत्ति होती है। इसी तरह प्रकृत स्थलमें भी आत्मसाक्षात्कारके प्रति गुरु द्वारा सम्पादित वेदान्तविचार कारण है और निपुण पुरुषोंसे अपने प्रयत्न द्वारा किया गया वेदान्तविचार भी कारण है। इस अवस्थामें 'श्रोतव्यः' यह नियमविधि स्वप्रयत्न-प्राप्त वेदान्तविचारकी व्यावृत्ति करेगी, अर्थात् इससे यह सिद्ध होगा कि अपने प्रयत्नसे किया गया वेदान्तविचार आत्मसाक्षात्कारमें समर्थ नहीं है, किन्तु गुरुमुख द्वारा सम्पादित वेदान्तश्रवण ही साक्षात्कारमें समर्थ है।

गुरुरहितविचारव्यावृत्तिसिद्धेर्विफलो नियमविधिरिति शङ्क्यम्; गुरूपसदनस्य श्रवणाङ्गतया श्रवणविध्यभावे तद्विधिरेव नास्तीति तेन तस्य वैफल्याप्रसक्तेः। अन्यथा अध्ययनाङ्गभूतोपगमनविधिनैव लिखितपाठादिव्यावृत्तिरित्यध्ययननियमोऽपि विफलः स्यात्।

ही होगा। अदृष्टको द्वार नहीं मान सकते, क्योंकि दृष्ट द्वारका सम्भव होनेपर अदृष्टकी कल्पना करना ठीक नहीं है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो गया कि गुरुसे प्राप्त वेदान्तविचार द्वारा अभिगमनविधिसे ही गुरूपगमन आत्मसाक्षात्कारके प्रति कारण है और इसीसे गुरुरहित वेदान्तविचारकी व्यावृत्ति होगी, तो श्रवणकी नियमविधि निरर्थक है। इस प्रकारका मनमें तात्पर्य रखते हुए शङ्का करते हैं 'न च' इत्यादिसे] यदि कोई शङ्का करे कि *'तद्विज्ञानार्थम्०' (आत्मतत्त्वके परिज्ञानके लिए उसको गुरुके पास जाना चाहिए) इस प्रकारकी गुरूपसदनविधिसे ही गुरुसे रहित—गुरुके बिना अपने आप किये गये विचारका निरास हो सकता है, तो यह नियमविधि निरर्थक है? नहीं, इस प्रकारकी आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि गुरूपसदनके श्रवणाङ्ग होनेसे श्रवणविधिके अभावमें गुरूपसदनविधि ही नहीं हो सकती है, इसलिए गुरूपसदनविधिसे श्रवणविधिकी विफलता नहीं प्रसक्त होती। यदि इसे स्वीकार न करें, तो अध्ययनके अङ्गभूत उपगमनके विधानसे ही लिखित पाठ आदिकी व्यावृत्ति होनेसे अध्ययनकी नियमविधि भी विफल हो जायगी।

* 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' इस श्रुतिके पहले श्रुति है—'ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन' इसका अर्थ है कि ब्राह्मणको वैराग्य करना चाहिए, क्योंकि अकृत—नित्यस्वरूप जो मोक्ष है, वह कृतेन—अनित्यकर्मसे प्राप्त नहीं हो सकता। अतः मोक्षको ब्रह्मज्ञानसाध्य जानकर वैराग्य सम्पन्न ब्राह्मण श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास ब्रह्मज्ञानके लिए जाय, यह 'तद्विज्ञानार्थम्' इत्यादि श्रुतिका अर्थ हुआ। इसमें 'तत्' शब्दसे पहलेकी श्रुतिमें उक्त ब्राह्मणका ही परिग्रह है। यहाँ तात्पर्य यह है—'श्रोतव्यः' यह प्रधान नियमविधि है और इससे गुरुके अधीन विचारका नियमन होता है, इससे विचारके नियमित होनेपर उक्त प्रधानविधिके अङ्गरूपसे गुरूपसदनका विधान होता है, अतः उपगमनविधि अङ्गविधि हुई। एवञ्च यदि प्रधान श्रवणविधि न मानी जाय, तो अप्रधानविधिका स्वरूप ही नहीं बन सकेगा इसलिए उपगमनविधिसे श्रवणविधिकी निरर्थकता सिद्ध नहीं हो सकती है, इस अभिप्रायसे परिहार किया गया है। यहाँ 'अन्यथा' शब्दका अर्थ है—अङ्गविधिसे प्रधानविधिकी विफलता मानी जाय, तो।

अथवा अद्वैतात्मपरभाषाप्रबन्धश्रवणस्य पक्षे प्राप्त्या वेदान्तश्रवणे नियमविधिरस्तु। न च 'न म्लेच्छितवै' इत्यादिनिषेधादेव तदप्राप्तिः; शास्त्रव्युत्पत्तिमान्द्यात् वेदान्तश्रवणमशक्यमिति पुरुषार्थनिषेधमुल्लङ्घ्याऽपि भाषाप्रबन्धेनाऽद्वैतं जिज्ञासमानस्य तत्र प्रवृत्तिसम्भवेन नियमविधेरर्थवत्त्वोप-

अथवा अद्वैत आत्मतत्त्वबोधक भाषा-ग्रन्थोंके श्रवणकी पक्षमें प्राप्ति होनेसे उसकी निवृत्तिके लिए वेदान्तश्रवणमें यह नियमविधि है अर्थात् अद्वैत आत्माकी जिज्ञासा करनेवाला वेदान्तका ही श्रवण—विचार करे, भाषा-ग्रन्थोंका विचार न करे। यदि कोई कहे कि 'न म्लेच्छितवै' (भाषा-प्रबन्धरूप अव्यक्त शब्दोंका उच्चारण नहीं करना चाहिए) इत्यादि निषेधशास्त्र-से ही अद्वैतपरक भाषाप्रबन्धोंकी व्यावृत्ति हो जायगी, फिर भाषाप्रबन्धके श्रवणकी व्यावृत्तिके* लिए नियमविधि क्यों मानी जाय? नहीं, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि शास्त्रीय व्युत्पत्तिकी न्यूनतासे वेदान्तके श्रवणका संभव न होनेसे पुरुषार्थनिषेधका उल्लङ्घन करके भी भाषाग्रन्थोंसे अद्वैत ब्रह्मकी जिज्ञासा करनेवालेकी भाषाप्रबन्धके श्रवणमें प्रवृत्ति हो सकती है, उसकी व्यावृत्तिके लिए नियमविधि सार्थक है। [भाव यह है कि 'न म्लेच्छितवै' इत्यादि जो भाषाप्रबन्धका निषेध है वह ज्ञानका अङ्ग नहीं है, पुरुषार्थ है। यदि ज्ञानाङ्ग होता, तो ज्ञानकी अनुत्पत्तिके भयसे उसमें पुरुष प्रवृत्त न होता, परन्तु पुरुषार्थ होनेसे उसका उल्लङ्घन करके महाफल—मोक्षके लिए भाषाप्रबन्धके श्रवणमें प्रवृत्त हो सकता है। भाषाप्रबन्धके श्रवणमें मनुष्यके प्रवृत्त होनेपर पक्षमें वेदान्तश्रवणकी अप्राप्ति होगी, अतः उसके अप्राप्तांशकी परिपूर्तिके लिए श्रवणविधिको नियमविधि मानना चाहिए। पुरुषार्थनिषेधका उल्लङ्घन करके महाफलकी अभिलाषासे निषिद्धमें प्रवृत्ति होती है, इसलिए उसकी निवृत्तिके लिए नियमविधिकी अर्थवत्ता मीमांसकोंने मानी

* यद्यपि नियमविधिका फल अप्राप्तांश परिपूरण ही है इतरव्यावृत्ति नहीं है, क्योंकि वह तो परिसंख्याविधिका फल है, तथापि नियमविधिका फल अयोग-व्यावृत्ति मीमांसकोंने माना है और अन्ययोगव्यावृत्ति परिसंख्याका फल माना है। अतः नियमविधिके फलमें व्यावृत्तिशब्दका प्रयोग कदाचित् आवे, तो अयोगव्यावृत्ति समझना चाहिए।

पत्तेः । अभ्युपगम्यते हि कर्त्रधिकरणे व्युत्पादितम्—पुरुषार्थे अनृतवदननिषेधे सत्यपि दर्शपूर्णमासमध्ये कुतश्चिद्धेतोरङ्गीकृतनिषेधोल्लङ्घनस्याऽविकलां क्रतुसिद्धिं कामयमानस्याऽनृतवदने प्रवृत्तिस्स्यादिति पुनः क्रत्वर्थतया दर्शपूर्णमासप्रकरणे 'नानृतं वदेत्' इति निषेध इति क्रत्वर्थतया निषेधस्याऽर्थवत्त्वम् ।

है,] क्योंकि दर्शपूर्णमासमें * पुरुषार्थरूप असत्यभाषणनिषेधके रहनेपर भी किसी कारणवश निषेधके उल्लङ्घनका अङ्गीकार करके अविकल क्रतुसिद्धिकी अभिलाषा करनेवाला पुरुष अनृतवदनमें (असत्य भाषणमें) प्रवृत्त हो सकता है, इसलिए दर्शपूर्णमासके प्रकरणमें क्रतुके अङ्गरूपसे 'नानृतं वदेत्' (असत्य भाषण न करे) ऐसा निषेध किया गया है, इस प्रकार कर्त्रधिकरणमें क्रत्वर्थरूपसे व्युत्पादित निषेधकी अर्थवत्ताका (प्रकृतमें भी) अङ्गीकार किया है।

---

* इसका जिस अधिकरणमें विचार किया गया है, उसका नाम है—अनृतवदननिषेधस्य क्रतुधर्मत्वाधिकरण—असत्यभाषणके निषेधमें क्रतुधर्मताका प्रतिपादन करनेवाला अधिकरण; [अधिकरण उसे कहते है, जिसमें संशय, विषय, पूर्वपक्ष, और सङ्गतिका प्रदर्शन करके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया हो] इसका विचार 'अकर्म क्रतुसंयुक्तं संयोगात् नित्यानुवादः स्यात्' इस सूत्रमें है। भावार्थ यह है कि दर्शपूर्णमासके प्रकरणमें 'नानृतं वदेत्' (असत्य भाषण न करे) यह वाक्य सुना जाता है। यहांपर—'यह उपनयनमें नित्य जो अनृतवदन निषेध है, उसका अनुवाद है अथवा अपूर्वविधि है ? इस प्रकारका संशय होनेपर पूर्वपक्षी—कहता है कि क्रतुसंयुक्त—क्रतुप्रकरणमें पठित अकर्म—'नानृतं वदेत्' यह असत्यभाषणनिषेधवाक्य नित्यानुवादः—नित्यानुवादरूप है। किससे ? इससे कि 'संयोगात्' अर्थात् उपनयनकालमें ही 'सत्यं वद' 'धर्मं चर', इस प्रकारके उपदेशसे अनृतवदनका निषेध नित्य ही प्राप्त है, इस प्रकार पूर्वपक्षकी प्राप्ति होनेपर—

सिद्धान्ती—'विधिर्वा संयोगान्तरात्' यह सूत्र कहते हैं, अर्थात् क्रतुप्रकरणमें पठित अनृतवदननिषेध विधि ही है, क्योंकि यह संयोगान्तर—अन्य संयोग है—उद्देश्यका भेद है। तात्पर्य यह है कि उपनयन कालमें जो विधि है, वह पुरुषको उद्देश्य करके प्रवृत्त हुई है और क्रतुप्रकरणमें जो अनृतवदननिषेधविधि है वह क्रतुको उद्देश्य करके प्रवृत्त है, अतः उद्देश्यका भेद होनेसे उक्त निषेधको क्रतुप्रकरणमें विधि ही मानना चाहिए—इस प्रकार सुबोधिनी वृत्तिमें [पू० मी० सू० १२-१३ अ० ३ पा० ४ पृ० १२४ काशीमुद्रित] विचार किया गया है।

यद्वा, यथा 'मन्त्रैरेव मन्त्रार्थस्मृतिः साध्या' (पूर्वमी० अ० १ पा० २ अ० ४) इति नियमः, तन्मूलकल्पसूत्रात्मीयग्रहणकवाक्यादीनामपि पक्षे प्राप्तेः; तथा वेदान्तमूलेतिहासपुराणपौरुषेयप्रबन्धानामपि पक्षे प्राप्तिसम्भवान्नियमोऽयमस्तु । सर्वथा नियमविधिरेवायम् ।

'सहकार्यन्तरविधिः' (अ० ३ पा० ४ अधि० १४ सू० ४७) इत्यधिकरणभाष्ये अपूर्वविधित्वोक्तिस्तु नियमविधित्वेऽपि पाक्षिकाप्राप्तिसद्भावात् तदभिप्रायेति तत्रैव 'पक्षेण' इति पाक्षिकाप्राप्तिकथनपरसूत्रपदयोजनेन स्पष्टीकृतमिति विवरणानुसारिणः ।

अथवा जैसे * 'मन्त्रैरेव' (मन्त्रोंसे ही मन्त्रार्थका स्मरण करे) यह नियम माना गया है, क्योंकि यदि यह नियम न माना जाय, तो मन्त्रमूलक कल्पसूत्र, आत्मीयग्रहणक वाक्य आदिकी भी पक्षमें प्राप्ति होगी, वैसे ही प्रकृतमें भी वेदान्तमूलक इतिहास, पुराण और पुरुषनिर्मित ग्रन्थोंके श्रवणमें भी पक्षमें प्राप्ति हो सकती है (उसकी निवृत्तिके लिए श्रोतव्यः) यह नियमविधि है । इससे सर्वथा यह नियमविधि ही है ।

और 'सहकार्यन्तरविधिः' इत्यादि अधिकरणके भाष्यमें अपूर्वविधिका जो कथन है, वह नियमविधिके रहते भी पाक्षिक अप्राप्तिके सद्भावके अभिप्रायसे है, यह प्रकार पूर्वोक्त अधिकरणके भाष्यमें ही 'पक्षेण' इस शब्दसे पाक्षिक अप्राप्तिके कथनपरक सूत्रके पदके योजनसे स्पष्ट किया गया है, यह विवरणानुसारी लोगोंका मत है ।

---

* 'मन्त्रैरेव मन्त्रार्थस्मृतिः साध्या' इसका निर्णय पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष द्वारा निम्न रीतिसे किया गया है—पहले पूर्वपक्ष होता है कि 'उरु प्रथस्व' (हे पुरोडाश तुम प्रचुर परिमाणमें बढ़ो) इत्यादि जितने मन्त्र प्रयोगोंमें उपयुक्त हैं वे सबके सब केवल अदृष्ट ही उत्पन्न करते हैं—अर्थप्रकाशनके लिए उनका उच्चारण नहीं होता, क्योंकि उरु प्रथनरूप अर्थ ब्राह्मणवाक्यसे भी प्रतीत होता है—उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति' इससे मन्त्रोंका केवल अदृष्ट ही प्रयोजन है, इस प्रकार पूर्वपक्षके प्राप्त होनेपर—

सिद्धान्ती कहते हैं कि यह तुमारा पूर्वपक्ष एक दम निरर्थक है, क्योंकि यदि दृष्ट प्रयोजन मिलता हो, तो अदृष्ट प्रयोजन की कल्पना करना धृष्टता है, अतः यागोंमें प्रयुक्त मन्त्रोंका दृष्ट—अर्थोंका अनुस्मरण ही प्रयोजन है, यदि ब्राह्मण वाक्यसे भी मन्त्रार्थस्मरण होता है, यह कहो, तो 'मन्त्रसे ही मन्त्रार्थका स्मरण करना चाहिए' इस प्रकारका जो नियम बनेगा, उसका अदृष्ट प्रयोजन होगा, अतः यह सिद्ध हुआ

तथा तदीयाः शब्दस्तु परोक्षज्ञानकृत् पुरा ॥
मननादियुतोऽध्यक्षं कुर्याद्विधुरचित्तवत् ॥ ७ ॥

विवरणानुयायियोंमें से कुछ लोग कहते हैं कि शब्द पहले परोक्ष ज्ञान उत्पन्न करता है तदनन्तर वही शब्द मनन, निदिध्यासनसे युक्त होकर विधुरके चित्तके समान (अर्थात् जैसे विधुरका चित्त कामिनीपरिभावित होकर कामिनीका अपरोक्ष साक्षात्कार करता है, वैसे ही) अपरोक्ष साक्षात्कार उत्पन्न करता है ॥ ७ ॥

कृतश्रवणस्य प्रथमं शब्दान्निर्विचिकित्सं परोक्षज्ञानमेवोत्पद्यते, शब्दस्य परोक्षज्ञानजननस्वाभाव्येन क्लृप्तसामर्थ्यानतिलङ्घनात्। पश्चात्तु कृतमनननिदिध्यासनस्य सहकारिविशेषसम्पन्नात् तत एवाऽपरोक्षज्ञानं

['श्रोतव्यः' इस वाक्यसे श्रवणका जो विधान किया जाता है, वह निश्चयात्मक शब्दजन्य परोक्षज्ञानके उद्देश्यसे ही किया जाता है, शब्दजन्य अपरोक्षज्ञानके लिये नहीं किया जाता, क्योंकि शब्द स्वभावसे ही परोक्षज्ञानका जनक होता है और जैसे संस्कारसे सहकृत चक्षु 'स एवायं देवदत्तः' इस प्रत्यभिज्ञाका जनक होता है अथवा भावनाधिक्यसे युक्त वियोगी पुरुषका मन कामिनीके साक्षात्कारका जनक होता है, वैसे ही मनन और निदिध्यासनसे युक्त शब्द अपरोक्षज्ञान जनक भी हो सकता है। इससे यह विधि परोक्षज्ञान अथवा अपरोक्षज्ञानके लिए अपूर्वविधि नहीं है किन्तु नियमविधि है, क्योंकि विधिके बिना भी पूर्वोक्त दो कार्यकारणभावोंके प्रभावसे विचारविशिष्ट वेदान्तात्मकश्रवण प्राप्त है, इसलिए पूर्वोक्त भाषाप्रबन्ध आदिकी व्यावृत्ति करनेके लिए यह नियमविधि ही है इस प्रकार विवरणानुसारियोंके एकदेशियोंके मतका प्रतिपादन करते हैं—'कृतश्रवणस्य' इत्यादि ग्रन्थसे] वेदान्तश्रवणकर्त्ता पुरुषको प्रथम शब्दसे निश्चयात्मक परोक्ष ज्ञान ही उत्पन्न होता है, क्योंकि परोक्ष ज्ञानके उत्पादनमें ही शब्दकी सामर्थ्य है, इससे अपने निश्चित स्वभावका शब्द उलङ्घन नहीं कर सकता। तदनन्तर अर्थात् शब्दसे निश्चयात्मक परोक्ष ज्ञान होनेपर मनन और निदिध्यासन करनेवाले पुरुषको मनन आदि सहकारी कारणोंसे युक्त शब्दसे ही अपरोक्ष ज्ञान होता है। क्योंकि सहकारी कारणकी विचित्रतासे कार्यमें विचित्रता देखी जाती है, इसीसे जैसे 'सोऽयं

कि मन्त्रोंसे ही मन्त्रार्थका अनुस्मरण करना चाहिए। [द्रष्टव्य—अधिकरण न्या० पृ० २५ आनन्दाश्रम मु०]।

जायते। तत्तांशगोचरज्ञानजननासमर्थस्याऽपीन्द्रियस्य तत्समर्थसंस्कारसाहित्यात् प्रत्यभिज्ञानजनकत्ववत् स्वतोऽपरोक्षज्ञानजननासमर्थस्याऽपि शब्दस्य विधुरपरिभावितकामिनीसाक्षात्कारस्थले तत्समर्थत्वेन क्लृप्तभावनाप्रचयसाहित्यादपरोक्षज्ञानजनकत्वं युक्तम्। ततश्च शब्दस्य स्वतः स्वविषये परोक्षज्ञानजनकत्वस्य भावनाप्रचयसहकृतज्ञानकरणत्वावच्छेदेन विधुरान्तःकरणवदपरोक्षज्ञानजनकत्वस्य च प्राप्तत्वात् पूर्ववन्नियमविधिरिति तदेकदेशिनः।

देवदत्तः' (वही यह देवदत्त है) इत्यादि प्रत्यभिज्ञानात्मकज्ञानके 'तद्' अंशका ग्रहण करनेमें इन्द्रियके समर्थ न होनेपर भी तत्तांशके ज्ञानमें समर्थ संस्कारके सान्निध्यसे—सहभावसे इन्द्रिय—चक्षु—प्रत्यभिज्ञानात्मकज्ञानकी कारण होती है, वैसे ही इस स्थलमें यद्यपि शब्द स्वयं अपरोक्षज्ञानके उत्पादनमें असमर्थ है, तथापि विधुरपुरुष * द्वारा परिभावित कामिनीके साक्षात्कारके समान निश्चित भावनाप्रचयके सहभावसे शब्दमें अपरोक्ष ज्ञानकी जनकता युक्त है। ऐसा सिद्ध होनेपर जनकता स्वरूपतः शब्दमें स्वविषय—वाच्यके परोक्षज्ञानकी जनकता और भावनाधिक्यके सहभावसे ज्ञानकरणमात्रमें विधुरके अन्तःकरणके समान अपरोक्षज्ञानकी जनकता प्राप्त है, अतः पूर्वोक्त विवरणमतके समान यह नियमविधि है—अपूर्वविधि नहीं है। इस प्रकार विवरणके एकदेशियोंका मत है। †

---

* यह आशय है कि कामिनीकी भावनासे युक्त विधुर पुरुषका अन्तःकरण कामिनीके अपरोक्ष साक्षात्कारमें हेतु रूपसे देखा जाता है, इस स्थलमें बाहरके पदार्थके ग्रहणमें यद्यपि अन्तःकरण स्वतन्त्र नहीं है अर्थात् चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियोंकी अपेक्षा करता है, तो भी बाह्य वस्तुकी भावनासे युक्त होकर बाह्य वस्तुके साक्षात्कारमें हेतु होता है, इस प्रकार विशेष कार्य-कारणभावके ग्रहण करनेकी अपेक्षा लाघवसे और बाधकके न होनेसे भावनासहकृत यावत् ज्ञानके करण अपरोक्ष ज्ञानके साधन हैं, इस प्रकार सामान्य कार्य-कारणभाव मानना उचित है। अतः शब्दके ज्ञान-करण होनेसे भावनाविशिष्ट शब्द भी अपरोक्ष ज्ञानका जनक हो सकता है, इसलिए स्वभावतः शब्द परोक्षज्ञानका कारण है, तो भी भावनासे युक्त होकर वही शब्द अपने विषयका अपरोक्ष साक्षात्कार करेगा, और भावनाविशिष्ट शब्दमें अपरोक्ष साक्षात्कारकी जनकता अप्राप्त नहीं है, परन्तु ऊपरके कार्य-करणभावके बलसे प्राप्त ही है, अतः 'श्रोतव्यः' यह नियमविधि ही है।

† यह एकदेशीका मत युक्त नहीं है, क्योंकि परोक्षज्ञान उत्पन्न करना ही शब्दका

अन्ये परोक्ष एवात्मज्ञाने नियममास्थिताः ।
मनसैवेदमाप्तव्यमित्यादिश्रुतिदर्शनात् ॥ ८ ॥

कुछ लोग परोक्ष ज्ञानके उत्पादनमें शब्दकी सामर्थ्य होनेसे 'श्रोतव्यः' को परोक्ष आत्मज्ञानमें ही नियमविधि मानते हैं, क्योंकि 'मनसैवेदमाप्तव्यम्' (यह आत्मतत्त्व मनसे ही प्राप्त करने योग्य है) इत्यादि श्रुति देखी जाती है ॥ ८ ॥

वेदान्तश्रवणेन न ब्रह्मसाक्षात्कारः, किन्तु मनसैव, 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इति श्रुतेः। 'शास्त्राचार्योपदेशशमदमादिसंस्कृतं मन आत्मदर्शने करणम्' इति गीताभाष्यवचनाच्च। श्रवणं तु निर्विचिकित्सपरोक्षज्ञानार्थमिति तादर्थ्येनैव नियमविधिरिति केचित्।

वेदान्तके श्रवणसे ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता, किन्तु अन्तःकरणसे ही होता है, क्योंकि 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' (मनसे ही साक्षात्कार करना चाहिए) इस प्रकारकी श्रुति है, और 'शास्त्राचार्योपदेशशमदमादिसंस्कृतं०' ('तत्त्वमसि' आदि शास्त्र *, आचार्यका उपदेश, शम, दम, तितिक्षा आदिसे शुद्ध हुआ मन ही आत्माके अपरोक्षानुभवमें करण है) ऐसा श्रीमद्भगवद्गीताके भाष्यमें वचन भी है। श्रवणका फल तो निश्चयात्मक परोक्षज्ञान ही है, इसलिए निश्चयात्मक शब्दजन्य परोक्षज्ञानरूप प्रयोजनके लिए श्रवणकी नियमविधि है, इस प्रकार कोई लोग कहते हैं †।

स्वभाव है, यह बात नहीं है। इसीलिए ज्ञानमें रहनेवाला परोक्षत्वधर्म किसी कारणविशेषसे प्राप्त होता है, इसका खण्डन किया जायगा, अतः शब्दजन्य अपरोक्षज्ञानके प्रति मनन आदिके समान श्रवणकी विधि भी अयुक्त नहीं है, इसलिए एकदेशी, ऐसा कहा गया है।

* आचार्यका उपदेश—आचार्य द्वारा किया गया वाक्यार्थोंका विवरण अर्थात् 'तत्त्वमसि' आदि अद्वैतपरक वाक्योंके अर्थोंका स्पष्ट रीतिसे प्रतिपादन।

† इस मतमें पूर्व मतसे इतना विशेष है कि यहाँ ब्रह्मसाक्षात्कार मानस—मनसे होनेवाला कहा गया है, अतः मनकी सहकारितारूपसे मनन और निदिध्यासनमें विधि है और पूर्व मतमें ब्रह्मसाक्षात्कार शाब्द—शब्दसे होनेवाला कहा गया है, इसलिए शाब्दज्ञानके कारण शब्दकी सहकारितारूपसे मनन और निदिध्यासनमें विधि है।

गान्धर्वशास्त्रवत् चित्तसहकारितयेष्यते ॥
आत्माऽपरोक्षे श्रवणं, तत्रैव नियमम्परे ॥ ९ ॥

जैसे षड्ज आदिका अपरोक्षज्ञान अन्तःकरणकी सहकारिता द्वारा गान्धर्वशास्त्रसे उत्पन्न होता है, वैसे ही अन्तःकरणकी सहकारितासे श्रवण आत्माका अपरोक्षज्ञान उत्पन्न कर सकता है, अतः अपरोक्षज्ञानके लिए ही श्रवणको नियमविधि मानते हैं, इस प्रकार भी कुछ लोगोंका मत है ॥ ९ ॥

अपरोक्षज्ञानार्थत्वेनैव श्रवणे नियमविधिः; 'द्रष्टव्यः' इति फलकीर्तनात्। तादर्थ्यं च तस्य करणभूतमनःसहकारितयैव, न साक्षात्। शब्दादपरोक्षज्ञानानङ्गीकरणात्।

न च तस्य तेन रूपेण तादर्थ्यं न प्राप्तमित्यपूर्वविधित्वप्रसङ्गः। श्रावणेषु षड्जादिषु समारोपितपरस्पराविवेकनिवृत्त्यर्थं गान्धर्वशास्त्रश्रवण-

---

अपरोक्ष ब्रह्मसाक्षात्कारके लिए ही श्रवणमें नियमविधि है, क्योंकि 'द्रष्टव्यः' इस प्रकार श्रवणके फलका कथन है [भाव यह है 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि वाक्यसे विहित श्रवण आदिका 'द्रष्टव्य' शब्दसे दर्शन ही फल कहा गया है और दर्शनशब्दका प्रयोग साक्षात्कार ज्ञानमें ही होता है।] और श्रवणमें अपरोक्षज्ञानार्थता करणभूत मनकी सहकारितासे ही हो सकती है साक्षात् नहीं हो सकती, क्योंकि शब्दसे अपरोक्ष—साक्षात्कार नहीं होता और उसका अङ्गीकार भी नहीं किया गया है।

परन्तु यह तुम्हारा कथन तभी युक्त हो सकता है, जब वेदान्तश्रवणमें साक्षात्कारके करणभूत मनकी सहकारिता रूपसे अपरोक्षानुभवार्थता कहीं प्राप्त देखी गई हो, परन्तु वह किसी प्रमाणसे प्राप्त ही नहीं है, इसलिए यह नियमविधि नहीं है, प्रत्युत अपूर्वविधि ही है, यदि इस प्रकार कोई शङ्का करे तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्षके विषयीभूत अर्थात् कानसे प्रत्यक्ष किये जानेवाले षड्ज* आदि ध्वनिविशेषोंमें

---

* षड्ज आदि स्वरोंका पूर्वमें निरूपण किया जा चुका है, जिसने सङ्गीतशास्त्रका अभ्यास न किया हो, ऐसे पुरुषको स्वरोंका विशदरूपसे भान नहीं होता, परन्तु सभी स्वर एकसे प्रतीत होते हैं—उन स्वरोंका परस्पर भेद प्रतीत नहीं होता है और गन्धर्वशास्त्रका अभ्यास करनेपर उन स्वरोंका ठीक ठीक भेद प्रतीत होता है, इसी प्रकार मनसे, जो भीतर की इन्द्रिय है, अनुभव किये जानेवाले शरीर, प्राण और चिदात्मा आदिमें परस्पर

सहकृतश्रोत्रेण परस्परासङ्कीर्णतद्याथार्थ्यापरोक्ष्यदर्शनेन प्रकाशमाने वस्तुन्यारोपिताविवेकनिवृत्त्यर्थशास्त्रसद्भावे तच्छ्रवणं तत्साक्षात्कारजनकेन्द्रियसहकारिभावेनोपयुज्यते इत्यस्य क्लृप्तत्वादित्यपरे।

ऊहापोहात्मिका चित्तक्रियैव श्रवणं विधेः।
अपरोक्षं परोक्षं वा नाऽमानस्यास्य तत्फलम् ॥ १० ॥
तस्मात् पुन्दोषतात्पर्यभ्रान्तिसंस्कारशान्तये।
नियमोऽस्येति सङ्क्षेपशारीरककृतो विदुः ॥ ११ ॥

ऊहापोहात्मक मानसिक क्रिया ही श्रवण है, अतः अप्रमाणरूप इस श्रवणकी विधिसे आत्माका अपरोक्ष या परोक्षज्ञानलक्षण फल नहीं हो सकता है, इससे पुरुषगत तात्पर्यभ्रम या उसके संस्कार आदि दोषोंकी शान्तिके लिए यह श्रवण नियम विधि है, ऐसा संक्षेपशारीरककार—सर्वज्ञात्ममुनि मानते हैं ॥ १० ॥ ११ ॥

वेदान्तवाक्यानामद्वितीये ब्रह्मणि तात्पर्यनिर्णयानुकूलन्यायविचारा-

---

अज्ञानसे—गन्धर्वशास्त्रके अनभ्यासप्रयुक्त अज्ञानसे आरोपित जो परस्पर एकरूपता है, उसकी निवृत्तिके लिए गान्धर्वशास्त्रीय विचारसहकृत श्रोत्रसे उन षड्जादि स्वरोंकी परस्पर असंकीर्णता और यथार्थ अपरोक्षताका दर्शन होनेसे प्रकाशमान वस्तुमें आरोपित अविवेकनिवृत्तिरूप प्रयोजनवाले शास्त्रके सद्भावमें उस शास्त्रका श्रवण प्रकाशमान वस्तु साक्षात्कारकी कारण इन्द्रियके सहभावसे साक्षात्कारका हेतु हो सकता है, इस प्रकार वेदान्तश्रवणमें साक्षात्कार करणभूत इन्द्रियकी सहकारिता निश्चित है, अतः विधिके विना भी प्राप्त होनेसे यह अपूर्वविधि नहीं है, प्रत्युत नियमविधि है, ऐसा भी कोई लोग कहते हैं।

वेदान्तवाक्योंका अद्वितीय ब्रह्ममें तात्पर्य * निश्चय करानेवाला न्यायविचारात्मक जो अन्तःकरणका परिणामरूप श्रवण है, उसका ब्रह्ममें परोक्ष

भेद प्रतीत नहीं होता—एकरूपता प्रतीत होती है, यह सभीके अनुभवसिद्ध है, इसलिए यहाँ भी विचारवान् पुरुष षड्जादि स्वरोंके साक्षात्कारके दृष्टान्तसे कल्पना करता है कि यदि आरोपनिवर्तक शास्त्र है, तो उस आरोपनिवर्तक शास्त्रके सहकारसे आन्तर इन्द्रिय ही बुद्धि आदिसे विविक्त आत्माका, जो ब्रह्मरूपसे वेदान्तोंसे प्रतीत होता है, साक्षात्कार करावेगा। इसी भावको 'प्रकाशमान' इत्यादिसे व्यक्त करते हैं।

* प्रमेयकी असम्भावनाका निवर्तक जो मनन है उसमें अतिव्याप्ति वारण करनेके लिए

त्मकचेतोवृत्तिविशेषरूपस्य श्रवणस्य न ब्रह्मणि परोक्षमपरोक्षं वा ज्ञानं फलम्, तस्य शब्दादिप्रमाणफलत्वात्। न चोक्तरूपविचारावधारिततात्पर्यविशिष्टशाब्दज्ञानमेव श्रवणमस्तु तस्य ब्रह्मज्ञानं फलं युज्यत इति वाच्यम्, ज्ञाने विध्यनुपपत्तेः। श्रवणविधेर्विचारकर्तव्यताविधायकजिज्ञासासूत्रमूलत्वो-

या अपरोक्ष फल नहीं है, क्योंकि परोक्ष या अपरोक्ष ज्ञानरूप फल शब्द आदि प्रमाणोंसे ही उत्पन्न होता है। परन्तु यहाँ यह 'श्रवणशब्दका अर्थ नहीं है, प्रत्युत अद्वैत ब्रह्ममें वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य करानेवाले न्याय-विचारोंसे निश्चित तात्पर्यसे युक्त जो शाब्दज्ञान—शब्दजनित ज्ञान—है, वही प्रकृतमें श्रवण पदार्थ है, और उससे ब्रह्मज्ञानरूप फल हो सकता है, इस प्रकारकी शङ्का नहीं करनी चाहिए। क्योंकि ज्ञानमें विधिकी उपपत्ति नहीं हो सकती अर्थात् श्रवणके ज्ञानरूप होनेसे ज्ञानात्मक श्रवणकी विधि नहीं होगी—ज्ञान विषयतन्त्र है विधेय नहीं है। और श्रवणविधि विचार-कर्तव्यताके † विधायक जिज्ञासासूत्रकी मूल है, ऐसा स्वीकार भी किया

तात्पर्यनिर्णयानुकूल कहा। तात्पर्यका निश्चय करनेमें उपक्रम और उपसंहारका ऐक्य, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति इन छःकी आवश्यकता होती है, इसी अर्थमें प्रामाणभूत एक श्लोक भी है—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥

छान्दोग्यके षष्ठ अध्यायमें 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इस प्रकार अद्वितीय ब्रह्मका उपक्रम करके 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इस प्रकार उपसंहार किया गया है, इसलिए वहाँके सम्पूर्ण सन्दर्भका तात्पर्य उपक्रम और उपसंहारके ऐक्यसे अद्वितीय ब्रह्ममें ही है। 'तत्त्वमसि' इस वाक्यका नौ वार पाठ है, इसलिए अभ्यासरूप तात्पर्यलिङ्गसे इसका अद्वितीय ब्रह्ममें तात्पर्य माना गया है। 'यं वै सोम्य' इत्यादिसे अन्य प्रमाणोंके अयोग्यत्वकथनसे अपूर्वरूप लिङ्गसे अद्वितीय ब्रह्मका निश्चय होता है। 'तस्य तावदेव' इत्यादिका तात्पर्य भी अद्वितीय ब्रह्ममें है, क्योंकि विदेहकैवल्य-रूप फलका कथन है। 'अनेन जीवेन' इसका अर्थवादरूप प्रमाणसे अद्वितीय ब्रह्ममें तात्पर्य निश्चित होता है, 'एकेन मृत्पिण्डेन' इत्यादिका उपपत्तिसे अद्वितीय ब्रह्ममें तात्पर्य निर्णीत होता है।

अन्तःकरणके वृत्तिविशेषके कथनसे यत्नसाध्य क्रियावृत्तिकी विवक्षा है। तदसाध्य ज्ञानरूप वृत्तिकी विवक्षा नहीं है, क्योंकि ज्ञान विधिके अयोग्य है। मूलमें 'ब्रह्मणि' यह सप्तमी विषयार्थक है, इसलिये ब्रह्मविषयक परोक्ष या अपरोक्ष फल श्रवणका नहीं हो सकता, यह पूर्वपक्षका भाव है।

† ब्रह्मजिज्ञासासूत्र है—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'। इसका अर्थ है कि वैराग्य आदि साधन-

पगमाच्च । ऊहापोहात्मकमानसक्रियारूपविचारस्यैव श्रवणत्वौचित्यात् ।

न च विचारस्यैव तात्पर्यनिर्णयद्वारा, तज्जन्यतात्पर्यभ्रमादिपुरुषापराधरूपप्रतिबन्धकविगमद्वारा वा ब्रह्मज्ञानं फलमस्त्विति वाच्यम्, तात्पर्यज्ञानस्य

गया है। इसलिए ऊहापोहात्मक ‡ मानसिक क्रियारूप विचारको ही श्रवण मानना उचित है।

अब यह शङ्का होती है कि परम्परया—तात्पर्यके निश्चय द्वारा अथवा विचारजन्य तात्पर्यभ्रम आदि पुरुषके दोषोंके निरसन द्वारा विचारका भी ब्रह्मज्ञान फल हो सकता है, फिर श्रवणसे ब्रह्मविषयक परोक्ष ज्ञान या अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता यह कहना असङ्गत है [शङ्काका भावार्थ यह है कि 'सदेव सोम्य' 'तत् सत्यम् स आत्मा' (हे सोम्य ! पहले यह सद्रूप था, वह सत्यस्वरूप है वह आत्मा है) इस प्रकार 'सदेव' से लेकर 'स आत्मा तत्त्वमसि' तक वाक्यसमूह अद्वैत आत्मपरक है, अद्वैतप्रतिपादक उपक्रम और उपसंहारका ऐक्य होनेसे, इस रीतिके विचारका अनुमितिरूप अद्वैत तात्पर्यका निश्चय साक्षात्—अव्यवहित फल है—इसके द्वारा और जो प्रतिबन्धक दोष हैं, उनका निवर्तन भी विचारका फल है। इनके द्वारा विचार भी ब्रह्मज्ञानका हेतु बन सकता है, इसलिए जैसे ज्ञान शब्द आदि प्रमाणोंका फल है, वैसे ही विचारका भी तात्पर्यनिर्णय द्वारा अथवा तज्जन्य प्रतिबन्धकोंके निरास द्वारा फल हैं इससे 'श्रवणस्य न ब्रह्मणि परोक्षमपरोक्षं वा ज्ञानं फलम्' इत्यादि उक्ति असङ्गत है, इसपर उत्तर देते हैं—उक्त शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि] तात्पर्यज्ञान शाब्दबोधमें कारण है, इस प्रकारके कार्यकारणभावका स्वीकार नहीं किया गया है और प्रतिबन्धकके अभावका कहींपर भी

सम्पत्तिके अनन्तर मनुष्यको ब्रह्मके अपरोक्ष ज्ञानके लिए वेदान्तविचार करना चाहिए, क्योंकि सूत्रमें कहे गये जिज्ञासाशब्दकी विचारमें लक्षणा है और इस जिज्ञासासूत्रका मूल है 'श्रोतव्यः' इत्यादि वाक्य। इससे श्रवणका अर्थ यदि ज्ञान मान लिया जाय, तो 'श्रोतव्यः' इसका 'श्रवणरूप ज्ञान करना चाहिए'—यह अर्थ होगा। इस परिस्थितिमें जिज्ञासासूत्र और श्रोतव्यवाक्यका परस्पर मूलमूलिभाव अर्थात् प्रयोज्यप्रयोजकभाव नहीं होगा, क्योंकि दोनोंकी एकार्थता नहीं है, इसलिए यदि 'श्रोतव्यः' यह श्रुति जिज्ञासासूत्रका मूल है, तो श्रवणका अर्थ हम ज्ञान नहीं कर सकते, यह भाव है।

‡ ऊह—न्यायाभासोंको—दुष्ट न्यायोंको—हटाकर निर्दुष्ट न्यायोंका प्रदर्शन। अपोह—न्यायाभासका निराकरण।

शाब्दज्ञाने कारणत्वानुपगमात्, कार्ये क्वचिदपि प्रतिबन्धकाभावस्य कारण-

कारणरूपसे स्वीकार नहीं किया गया, अतः तात्पर्यज्ञानमें और विचारसे होनेवाले प्रतिबन्धकाभावमें द्वारत्वकी उपपत्ति ही नहीं हो सकती है—भाव यह है कि वेदान्तसिद्धान्तमें शाब्दबोधके प्रति तात्पर्यज्ञान और प्रतिबन्धकका (प्रतिबन्धक उसे कहते हैं जो कार्यकी उत्पत्ति न होने दे) अभाव कार्यमात्रके प्रति कारण नहीं माने गये हैं, इसलिए उनके द्वारा विचार ब्रह्मज्ञानका, जो शब्द प्रमाणका फल है, कारण नहीं हो सकता, क्योंकि द्वार शब्दका अर्थ है—'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम्' अर्थात् जो स्वयं कारणसे उत्पन्न होकर कारणसे उत्पन्न होनेवाले कार्यके प्रति कारण हो, जैसे घटके प्रति दण्ड कारण होता है, इसमें द्वार है—भ्रमि, भ्रमि दण्डसे उत्पन्न होती है और दण्डसे उत्पन्न होनेवाले घटके प्रति कारण है, इसलिए भ्रमिमें द्वारता है। प्रकृतमें जब शाब्दबोधके प्रति तात्पर्यज्ञान * और कार्यके प्रति प्रतिबन्धकाभाव † कारण ही नहीं हैं, तब

* शाब्दबोधके प्रति यदि तात्पर्यज्ञान कारण माना जाय, तो शुक (सुग्गा) से कहे गये शब्दसे शाब्दबोध न होगा, क्योंकि वहाँ वक्ताके तात्पर्यका अभाव है और लोकमें व्यवहार भी होता है—'शुक आदिके शब्दसे अर्थका बोध होता है, लेकिन वहां तात्पर्य नहीं है' इससे शाब्दबोधके प्रति तात्पर्यज्ञान हेतु नहीं है, यह स्पष्टतः ज्ञात होता है। 'वहां भी ईश्वरका तात्पर्य है' इस प्रकारकी कल्पना भी नहीं कर सकते हैं, क्योंकि ईश्वरके तात्पर्यकी शाब्दबोधरूप फलके बाद कल्पना होगी, पहले तो ईश्वरतात्पर्य दुर्बोध ही है, शब्दके सान्निध्यसे भी तात्पर्यका निर्णय नहीं कर सकते, क्योंकि 'अहो ! विमलं जलं नद्याः कच्छे महिषाश्चरन्ति' इत्यादिमें 'नद्याः' का सन्निधान जल और कच्छके साथ एकसा है और 'पय लाओ' ऐसा कहनेपर 'जल' या 'दूध' इस प्रकार प्रश्न होनेसे यह कल्पना अवश्य होती है—वक्ताके तात्पर्यका परिज्ञान न रहनेपर भी शाब्दबोध होता है, इसलिए शाब्दज्ञानमें तात्पर्यज्ञान कारण नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है।

† प्रतिबन्धकाभाव कार्यमें कारण नहीं है, इसमें युक्ति यह है कि प्रतिबन्धकाभावको कार्यकी सामग्रीमें अन्तर्भाव नहीं कर सकते, क्योंकि 'सामग्रीके रहनेपर भी प्रतिबन्धकके रहनेसे कार्य उत्पन्न नहीं हुआ' इस प्रकार व्यवहार देखा जाता है, यदि सामग्रीके अन्दर प्रतिबन्धका-भावका समावेश होता, तो प्रतिबन्धकसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं हुई, इस प्रकार न बोलते। इससे यह ज्ञात होता है कि अप्रतिबद्ध सामग्री कार्यके प्रति कारण है। इस अवस्थामें अप्रतिबद्ध-प्रतिबन्धका-भावयुक्त, यह सामग्रीका विशेषण हुआ अर्थात् सामग्रीकी कारणताका अवच्छेदक—विशेषण हुआ। जो कारणताका अवच्छेदक होता है, वह कार्यका कारण नहीं होता, क्योंकि वह अन्यथासिद्ध होता है। इसीलिए घटके प्रति दण्डत्व कारण नहीं है, परन्तु दण्ड कारण है, प्रकृतमें भी प्रतिबन्धकाभावके

त्वानुपगमाच्च तयोर्द्वारत्वानुपपत्तेः । ब्रह्मज्ञानस्य विचाररूपातिरिक्तकारणजन्यत्वे तत्प्रामाण्यस्य परतस्त्वापत्तेश्च । तस्मात्तात्पर्यनिर्णयद्वारा पुरुषापराधनिरासार्थत्वेनैव विचाररूपे श्रवणे नियमविधिः । 'द्रष्टव्यः' इति तु दर्शनार्हत्वेन स्तुतिमात्रम्, न श्रवणफलसङ्कीर्तनमिति सङ्क्षेपशारीरकानुसारिणः ॥

कारणघटित द्वारत्वकी उपपत्ति ही उनमें नहीं हो सकती है । और यदि यह मानें कि ब्रह्मज्ञान शब्दप्रमाणसे अतिरिक्त विचाररूप कारणसे उत्पन्न होता है, तो ब्रह्मज्ञानके प्रामाण्यको परतस्त्व प्राप्त होगा । परन्तु इसे स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि वेदान्तसिद्धान्तमें ज्ञान स्वतः प्रमाण माना गया है अर्थात् ज्ञानमें रहनेवाला प्रामाण्य ज्ञान-ग्राहक सामग्रीसे ही ग्राह्य होता है, इतरसे नहीं, यही प्रामाण्यका स्वतस्त्व है । और यदि ज्ञानग्राहक शब्द आदि सामग्रीसे अन्य विचारको ज्ञानके प्रति कारण मानें, तो ज्ञानके प्रामाण्यमें परतस्त्वकी आपत्ति स्पष्टरूपसे प्राप्त होगी और सिद्धान्तकी हानि होगी, इसलिए ब्रह्मज्ञानके प्रति विचारको परम्परया या साक्षात् कारण नहीं मान सकते । इससे—ब्रह्मज्ञानके विचारफल न होनेसे—तात्पर्यके निर्णय द्वारा (वेदान्तोंका अद्वितीय ब्रह्मके प्रतिपादनमें तात्पर्य है, अन्यत्र नहीं है इस प्रकारके निश्चय द्वारा) पुरुषके तात्पर्यभ्रम आदि अपराधोंके निरास द्वारा ही विचाररूप श्रवणमें नियमविधि है, अर्थात् तात्पर्यनिर्णय द्वारा पुरुषोंके दोषोंका निरास ही विचारका फल है, और श्रवणसे ही इस फलका सम्पादन करना चाहिए, अन्य साधनोंसे नहीं, यह भाव है । परन्तु 'द्रष्टव्यः' (अपरोक्ष साक्षात्कार करना चाहिए) इस प्रकार श्रवणके फलका कथन है, इसलिए श्रवणसे—विचारसे अपरोक्ष साक्षात्कार हो सकता है ? यदि इस प्रकार कोई शङ्का करे तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मा द्रष्टव्य है—दर्शनके योग्य है, इस प्रकार यह दर्शन केवल स्तुतिमात्र है, वस्तुतः श्रवणसे अपरोक्ष ज्ञान होता है, इस प्रकार श्रवणके फलका कथन नहीं है, यह संक्षेपशारीरकानुयायियोंका मत है * ।

अवच्छेदक होनेसे अन्यथासिद्धिशून्यत्वके न रहनेसे प्रतिबन्धकाभाव कारण नहीं हो सकता है, इसलिए प्रतिबन्धकाभावमें भी द्वारता नहीं है, अतः तद्द्वारा विचार ब्रह्मज्ञानका कारण नहीं हो सकता है, यह भाव है ।

* इस अभिप्रायके सूचक संक्षेपशारीरकके निम्नलिखित श्लोक हैं—

चिकित्साशास्त्रवत् प्राप्तव्यापारान्तरवारिणी ।
श्रवणे परिसङ्ख्येयमिति वार्तिकवेदिनः ॥ १२ ॥

जैसे ओषधियोंके ज्ञानके लिए आयुर्वेदके अध्ययनमें प्रवृत्त पुरुषको मध्यमें अन्य व्यापार प्राप्त होता है, वैसे ही ब्रह्मज्ञानार्थ प्रवृत्त पुरुषको मध्यमें अन्य व्यापार प्राप्त हो सकता है, अतः प्राप्त अन्य-व्यापारका निवारण करनेवाली परिसंख्या-विधि ही श्रवणमें है, ऐसा वार्तिकके अभिज्ञोंका मत है ॥ १२ ॥

पुरुषापराधमलिना धिषणा निरवद्यचक्षुरुदयापि यथा ।
न फलाय भर्गुविषया भवति श्रुतिसम्भवापि तु तथात्मनि धीः ॥१४॥
पुरुषापराधविगमे तु पुनः प्रतिबन्धकव्युदसनात् सफला ।
मणिमन्त्रयोरपगमे तु यथा सति पावकाद् भवति भूमलता ॥१५॥
पुरुषापराधविनिवृत्तिफलः सकलो विचार इति वेदविदः ।
अनपेक्षतामनुपलभ्य गिरः फलवद् भवेत् प्रकरणं तदतः ॥१६॥
पुरुषापराधशतसङ्कुलता विनिवर्तते प्रकरणेन गिरः ।
स्वयमेव वेदशिरसो वचनाद् अथ बुद्धिरुद्भवति मुक्तिफला ॥१७॥

इत्यादि (सं० शा० पृ० २३ पूना मुद्रित)। पहले श्लोकका भाव है—

भर्गुनामक कोई राजाका प्रीतिपात्र सेवक था। उससे द्वेष करनेवाले राजाके अन्य नौकर छलसे उसे अन्यत्र कहीं ले गये, और उस स्थलपर उसको छोड़कर राजाके पास आकर बोले कि आपका यह नौकर मर गया है। इसके अनन्तर कभी उस राजाने उसे अपने उपवनमें देखा। राजा उसे देखकर पिशाचकी भ्रान्तिसे डर गया और भाग गया। इस अवस्थामें निर्दोष चक्षुसे होनेवाला सेवक-विषयक राजाका ज्ञान—'यह मेरा नौकर ही है पिशाच नहीं है' इस प्रकार निश्चयात्मक ज्ञान—उत्पन्न नहीं कर सका, क्योंकि 'मर गया' इस विपरीत संस्कारसे उसका प्रतिबन्ध हो गया था। इसी प्रकार निर्दोष श्रुतिसे उत्पन्न 'मैं ब्रह्म हूँ' इस तरहका ज्ञान भी प्रमाताके पूर्वकालीन विपरीत भावनासे प्रतिबद्ध होनेके कारण ब्रह्मविषयक निश्चयात्मक ज्ञानको उत्पन्न नहीं कर सकता, इसलिए पहले प्रतिबन्धकका निरास करना अत्यन्त अपेक्षित है।

असम्भावना और विपरीतभावना आदि पुरुषके दोषोंका निराकरण होनेपर असम्भावना आदि प्रतिबन्धकोंके विनाशसे उक्त ज्ञान सफल है, जैसे—मणि और मन्त्रोंके अपगमसे वह्निसे भूमलता उत्पन्न होती है ॥१५॥

चूँकि सम्पूर्ण धर्म और ब्रह्मविचार पुरुषके अपराधकी निवृत्तिके लिए हैं, ऐसा वेदविद् कहते हैं, इसीलिए 'अर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्' (जै० १।१।५) इस सूत्रमें वेदवाक्यकी निर्णीत अनपेक्षताका बाध न करके शास्त्र और प्रकरण सफल होते हैं, ऐसा कहा गया है ॥ १६ ॥

प्रकरण या शास्त्रसे पुरुषके दोषोंका विनाश होनेपर मुक्तिरूप फलका उत्पादन करनेवाली 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंसे स्वयं ही बुद्धि उत्पन्न होती है ॥१७॥

इस प्रकार ऊपरके सभी श्लोकोंका भाव है, इनके देखनेसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि विचारका फल—प्रतिबन्धकका विनाश ही संक्षेपशारीरककार मानते हैं।

ब्रह्मज्ञानार्थं वेदान्तश्रवणे प्रवृत्तस्य चिकित्साज्ञानार्थं चरकसुश्रुतादिश्रवणे प्रवृत्तस्येव मध्ये व्यापारान्तरेऽपि प्रवृत्तिः प्रसज्यत इति तन्निवृत्तिफलकः 'श्रोतव्यः' इति परिसङ्ख्याविधिः ।

'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (छा० २ । २३ । १) इति छान्दोग्ये अनन्यव्यापारत्वस्य मुक्त्युपायत्वावधारणात् सम्पूर्वस्य तिष्ठतेः समाप्तिवाचितया ब्रह्मसंस्थाशब्दशब्दिताया ब्रह्मणि समाप्तेरनन्यव्यापाररूपत्वात् । 'तमेवैकं जानथ अन्या वाचो विमुञ्चथ' इत्याथर्वणे कण्ठत एव व्यापारा-

---

औषधोंके परिज्ञानके लिए चरक, सुश्रुत आदि आयुर्वेदके ग्रन्थोंके विचारमें प्रवृत्त हुए पुरुषके समान ब्रह्मज्ञानके लिए वेदान्तविचारमें प्रवृत्त हुए पुरुषकी बीच-बीचमें विचारके उपराम कालमें अन्य व्यापारोंमें भी प्रवृत्ति हो सकती है, अतः उनकी निवृत्तिके लिए 'श्रोतव्यः' यह परिसंख्याविधि है। भाव यह है कि औषधोंके परिज्ञानके लिए वैद्यकके ग्रन्थोंके श्रवणमें पुरुपकी प्रवृत्ति होती है, क्योंकि औषधका ज्ञान केवल वैद्यकग्रन्थोंसे ही होता है, अन्य ग्रन्थोंसे नहीं होता। इस परिस्थितिमें यद्यपि दवाके ज्ञानके लिए वैद्यकग्रन्थोंके श्रवणके विना अन्य व्यापारकी प्रसक्ति नहीं है, तो भी विषयवासनाओंके बलसे मध्यमें इतर व्यापारोंमें पुरुषकी प्रवृत्ति होती है, इसी प्रकार ब्रह्मतत्त्वके यथार्थज्ञानके लिए वेदान्तश्रवणमें प्रवृत्त पुरुष जन्म-जन्मान्तरकी भेदवासनाओंसे आकृष्ट होकर कदाचित् मध्य-मध्यमें अन्य लौकिक और वैदिक व्यापारोंमें भी प्रवृत्त हो सकता है, अतः मध्यमें प्राप्त अन्य व्यापारोंकी निवृत्ति करनेके लिए 'श्रोतव्यः' यह परिसंख्याविधि है ।

[परन्तु जैसे सुश्रुत, चरक आदिके श्रवणमें प्रवृत्त पुरुषको अन्य व्यापार—अन्य शास्त्र श्रवण आदि करनेपर भी चिकित्साका ज्ञान होता है, वैसे ही वेदान्तके श्रवणमें प्रवृत्त पुरुषको बीच-बीचमें अन्य व्यापार करनेपर भी ब्रह्मज्ञान हो सकता है, इसलिए परिसंख्याविधिका स्वीकार निष्फल है ? नहीं, निष्फल नहीं है] क्योंकि 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (ब्रह्मनिष्ठ पुरुष अमृतत्व प्राप्त करता है) इस श्रुतिसे छान्दोग्यमें अनन्यव्यापारत्वका ही मुक्तिके प्रति उपायरूपसे अवधारण किया गया है, कारण कि सम्पूर्वक 'स्था' धातुके समाप्तिवाची होनेसे ब्रह्मसंस्थाशब्दसे बोधित—ब्रह्ममें समाप्ति अनन्यव्यापाररूप है । और 'तमेवैकं जानथ अन्या

न्तरप्रतिषेधाच्च । 'आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया' इत्यादिस्मृतेश्च । न च ब्रह्मज्ञानानुपयोगिनो व्यापारान्तरस्य एकस्मिन् साध्ये श्रवणेन सह समुच्चित्य प्राप्त्यभावान्न तन्निवृत्त्यर्थः परिसङ्ख्याविधिर्युज्यते इति वाच्यम् , 'सहकार्यन्तरविधिः' (उ० मी० अ० ३ पा० ४ अधि० १४ सू० ४७) इत्यादिसूत्रे 'यस्मात् पक्षे भेददर्शनप्राबल्यान्न प्राप्नोति, तस्मान्नियमविधिः' इति तद्भाष्ये च कृतश्रवणस्य शाब्दज्ञानमात्रात्

वाचो विमुञ्चथ' (हे मुमुक्षु लोगो ! जिस आधारमें आकाश आदि समस्त जगत् अध्यस्त है, उसी आधारभूत एकरूप आत्माको जानो और अनात्मप्रतिपादक शब्दोंका त्याग करो) इस श्रुतिसे आथर्वणमें कण्ठसे ही अर्थात् अभिधावृत्तिसे ही शास्त्रान्तरश्रवणका प्रतिषेध किया है, और 'आसुप्तेरामृतेः कालम्०' (सुप्ति और मृति पर्यन्त कालको वेदान्तके चिन्तनसे बितावे) इस प्रकारकी स्मृति भी है अर्थात् यह स्मृति भी अन्य व्यापारका प्रतिषेध करती है । परन्तु* ब्रह्मज्ञानरूप एक साध्यमें श्रवणके साथ साथ अनुपयुक्त अन्य व्यापारकी प्राप्ति नहीं होनेसे उसकी निवृत्तिके लिए परिसंख्याविधि युक्त नहीं है ? नहीं, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'सहकार्यन्तरविधिः' इत्यादि सूत्रमें और 'यस्मात् पक्षे भेददर्शनप्राबल्यात् न प्राप्नोति, तस्मान्नियमविधिः' इस प्रकारके उस सूत्रके भाष्यमें—जिसने श्रवण किया

---

* शङ्का और उत्तर करनेवालोंका अभिप्राय यह है कि परिसंख्याविधि वहीं होती है, जहाँ एक वस्तुके उत्पादनमें एक साथ दो साधनोंकी प्राप्ति हो । परन्तु प्रकृतमें ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यहाँ ब्रह्मज्ञानका उत्पादन करना है, इसके उत्पादनमें श्रवण कारण है, न कि अन्य व्यावहारिक व्यापार, इसलिए एक साथ दो साधनोंकी प्राप्ति न होनेसे अन्य व्यापारकी निवृत्तिके लिए परिसंख्याविधि कैसे होगी ? इसका उत्तर प्रतिबन्दी है अर्थात् भाष्यकारने निदिध्यासनमें नियमविधि मानी है, इसमें कारण केवल यही बतलाया है—श्रवणके बाद शब्दज्ञानसे अपनेको धन्य समझनेवाला निदिध्यासनमें, जो साक्षात्कारका उपयोगी है, कदाचित् प्रवृत्त न होकर अन्य अनुपयुक्त लौकिक व्यापारमें प्रवृत्त हो जाय, इसलिए निदिध्यासनमें नियमविधिका अङ्गीकार है । उत्तरवादीका भाव यह है—साक्षात्कारके जननमें पक्षमें असाधनकी प्राप्तिकी संभावनामात्रसे निदिध्यासनके अप्राप्तांशकी परिपूर्तिसे जैसे नियमविधि मानी गई है, वैसे ही प्रकृतमें श्रवणके साथ समुच्चयसे सम्भावनामात्रसे असाधन की प्राप्ति है, इससे उसकी निवृत्तिके लिए अवश्य श्रवणको परिसंख्याविधि मानना चाहिए ।

कृतकृत्यतां मन्वानस्याऽविद्यानिवर्तकसाक्षात्कारोपयोगिनि निदिध्यासने प्रवृत्तिर्न स्यादिति अतत्साधनपक्षप्राप्तिमात्रेण निदिध्यासने नियमविधेरभ्युपगततया तन्न्यायेनाऽसाधनस्य समुच्चित्य प्राप्तावपि तन्निवृत्तिफलकस्य परिसङ्ख्याविधेः सम्भवादिति ।

नियमः परिसङ्ख्या वा विध्यर्थोऽत्र भवेद्यतः ॥
अनात्मादर्शनेनैव परात्मानमुपास्महे ॥ १ ॥ इति वार्तिकवचनानुसारिणः केचिदाहुः ॥

श्रवणं ह्यागमाचार्यवाक्यजं ज्ञानमिष्यते ॥
अयोग्येऽत्र विधिर्नेति वाचस्पतिमतानुगाः ॥१३॥

शास्त्र और आचार्यके वचनोंसे उत्पन्न होनेवाला आत्मज्ञान ही श्रवण है, अतः उक्त तीनों विधियोंके अविषय श्रवणमें (कोई भी) विधि नहीं है, यह वाचस्पतिके अनुयायियोंका मत है ॥ १३ ॥

'आत्मा श्रोतव्यः' इति मननादिवत् आत्मविषयकत्वेन निबध्य-

है और जो शब्दके श्रवणसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानमात्रसे अपनेको कृतकृत्य मानता है तथा अन्य व्यापारोंमें भी जिसकी प्रवृत्ति है, ऐसे पुरुषकी अविद्याकी निवृत्ति करनेवाले साक्षात्कारके उपयोगी निदिध्यासनमें कदाचित् प्रवृत्ति न हो, इसलिए पक्षमें ज्ञानके असाधनकी प्राप्तिमात्रसे निदिध्यासनकी—नियमविधि मानी गई है, इसी न्यायसे समुच्चयसे असाधनकी प्राप्ति होनेपर उसकी निवृत्तिके लिए परिसंख्याविधि हो सकती है, इस प्रकार 'नियमः परिसंख्या वा०' (इस 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इत्यादि वाक्यमें नियम विधिप्रत्ययका अर्थ होगा। अथवा श्रवणके नित्य प्राप्त होनेसे नियम यदि विधिका अर्थ न हो सके, तो परिसंख्या ही विधिप्रत्ययका अर्थ हो, क्योंकि हम उपासक लोग अनात्मादर्शनसे ही—अनन्यव्यापारसे ही परमात्माकी उपासनामें प्रवृत्त हैं) इस वार्तिकवचनका अनुसरण करनेवाले कुछ लोग कहते हैं।

मनन आदिके समान 'आत्मा श्रोतव्यः' (आत्माका श्रवण करना चाहिए) इस प्रकार आत्मविषयकत्वरूपसे कहा गया श्रवण भी आगम—शास्त्र और

मानं श्रवणमागमाचार्योपदेशजन्यमात्मज्ञानमेव, न तु तात्पर्यविचाररूपमिति न तत्र कोऽपि विधिः ।

आचार्यके उपदेशसे उत्पन्न होनेवाला आत्मज्ञान ही है, तात्पर्यविचाररूप नहीं है, अतः श्रवणमें कोई विधि नहीं है। भाव यह है कि जैसे मनन और निदिध्यासन, जो आत्माको विषय करते हैं, ज्ञानरूप हैं, वैसे ही श्रवण भी, जो आत्माको विषय करता है, ज्ञानरूप ही है, क्योंकि 'आत्मा श्रोतव्यः' इस श्रुतिमें आत्मा और श्रवणका परस्पर विषय-विषयिभाव सम्बन्ध प्रतीत होता है, अतः श्रवण आत्मविषयक है। यदि श्रवण विचाररूप माना जाय, तो वह आत्मविषयक न होगा और श्रवणक्रियाका कर्म आत्मा न होगा, किन्तु वेदान्तवाक्य होंगे। इससे मनन आदिमें क्लृप्त आत्मरूप कर्मका परित्याग होनेसे प्रक्रमका भङ्ग होगा। [परन्तु मनन आदिका जो दृष्टान्त दिया गया है, उसपर कुछ आलोचना करनी चाहिए, क्योंकि आपाततः मननशब्दका अर्थ—ज्ञान नहीं होता है। मननका अर्थ है—युक्तियोंसे किसी वस्तुकी आलोचना करना अर्थात् एक वस्तुको युक्ति-प्रयुक्तियोंसे टटोलना, इससे हम मननको ज्ञानरूप नहीं मान सकते, व्यापारात्मक ही मान सकते हैं। इसी प्रकार निदिध्यासन भी ज्ञानरूप नहीं हो सकता, क्योंकि निदिध्यासन शब्दकी निष्पत्ति चिन्तार्थक 'ध्यै' धातुसे हुई है, इसलिए 'मनन आदिके समान' यह दृष्टान्त युक्त नहीं है। इसपर यह कहा जाता है कि मनन व्यापाररूप नहीं है, किन्तु अनुमितिज्ञानरूप है। और वह अनुमिति—आत्मा ब्रह्मस्वभाव है, चिद्रूप होनेसे, ब्रह्मके समान। बुद्धि आदि कल्पित हैं, दृश्य होनेसे, शुक्तिरजतके समान—इस प्रकार है। इसमें मैत्रेयीब्राह्मणका वार्तिक प्रमाण है—

आगमार्थविनिश्चित्यै मन्तव्य इति भण्यते ।
वेदशब्दानुरोध्यत्र तर्कोऽपि विनियुज्यते ॥
पदार्थविषयस्तर्कः तथैवाऽनुमितिर्भवेत् ।

श्रुतिके अर्थको दृढ करनेके लिए तर्करूप मननका विधान किया जाता है, वह तर्क वेदाविरोधी होता है तथा तत्त्वंपदार्थविषयक और अनुमित्यात्मक होता है, यह इसका भाव है। जब अनुमितिरूप मनन है, तो उसे ज्ञानरूप मानने-

अत एव समन्वयसूत्रे (उ० मी० अ० १ पा० १ सू० ४) आत्मज्ञानविधिनिराकरणानन्तरं भाष्यम्—'किमर्थानि तर्हि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इत्यादीनि वचनानि विधिच्छायानि ? स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानीति ब्रूमः' इत्यादि ।

में क्या हानि है ? इसी प्रकार निदिध्यासन भी ज्ञानरूप है, क्योंकि बृहदारण्यके ४र्थ और ६ष्ठ अध्यायगत मैत्रेयीब्राह्मणमें भगवती श्रुति कहती है—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः' । अनन्तर छठे अध्यायमें 'मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते' और चौथे अध्यायमें 'मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन' इस प्रकार निदिध्यासनके अनुवादके लिए विज्ञानशब्दका प्रयोग किया गया है, इससे वार्तिककार ज्ञानरूपसे निदिध्यासनका भी अङ्गीकार करते हैं, अतः 'अपरायत्तबोधोऽत्र निदिध्यासनमुच्यते' इस प्रकार वार्तिककारकी उक्ति भी उपलब्ध होती है । इसलिए मनन आदिका ज्ञानरूपसे अङ्गीकार होनेसे दृष्टान्तासिद्धि नहीं है—अब प्रसङ्गसे यहाँ एक शङ्का यह भी होती है—निदिध्यासन और दर्शनके अर्थात् 'निदिध्यासितव्यः' और 'द्रष्टव्यः' इन दो पदोंके एकार्थक होनेसे पुनरुक्ति होगी ? नहीं, यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि 'द्रष्टव्यः' इस शब्दसे विचारप्रयोजक—विचारमें प्रवृत्तिके उपयुक्त आपाततः दर्शनका अनुवाद है और 'निदिध्यासितव्यः' इस शब्दसे विचारका फलभूत जो साक्षात्कार है, उसका अनुवाद है, अतः पुनरुक्ति नहीं है] ।

[श्रवणमें विधि नहीं है, इसमें भाष्यकी सम्मति भी है] इसीसे—श्रवण और मनन आदिके ज्ञानरूप होनेके कारण विधिके अयोग्य होनेसे—'तत्तु समन्वयात्' इस समन्वयसूत्रमें आत्मज्ञानकी विधिके निराकरणके पश्चात् भाष्य है—'किमर्थानि तर्हि 'आत्मावा अरे····ब्रूमः' इत्यादि । (यदि आत्मज्ञानकी विधि नहीं है, तो 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः' इत्यादि 'अध्येतव्यः' इत्यादि विधिके समान वचन किसलिए हैं ? स्वाभाविक प्रवृत्तिके विषयसे विमुख करनेके लिए ऐसे वचन हैं, ऐसा हम कहते हैं)

---

* स्वभावसे—अविद्यासे होनेवाली प्रवृत्तिका नाम स्वाभाविक प्रवृत्ति है ।

† इसमें आदिशब्दसे 'यो हि वहिर्मुखः पुरुषः प्रवर्तते' 'इष्टञ्च मे भूयादनिष्टञ्च मा भूत्' इत्यादि भाष्यका संग्रह करना चाहिए, इस भाष्यका अभिप्राय है कि जो पुरुष वहिर्मुख है, वह मुझे इष्ट वस्तु प्राप्त हो और अनिष्ट प्राप्त न हो, इस बुद्धिसे बाहरके विषयोंमें ही प्रवृत्त होता

यदि च वेदान्ततात्पर्यविचाररूपं श्रवणम्, तदा तस्य तात्पर्यनिर्णयद्वारा वेदान्ततात्पर्यभ्रमसंशयरूपप्रतिबन्धकनिरास एव फलम्; न प्रतिबन्धकान्तरनिरासो ब्रह्मावगमो वा। तत्फलकत्वं च तस्य लोकत एव प्राप्तम्। साधनान्तरं च किञ्चिद्विकल्प्य समुच्चित्य वा न प्राप्तमिति न तत्र विधित्रयस्याऽप्यवकाशः।

इत्यादि। [तात्पर्य यह है यदि 'श्रोतव्यः' इत्यादि वेदान्तवाक्य विधायक नहीं हैं, तो 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि विधायक-वाक्योंमें तव्यप्रत्यय निरर्थक होंगे ? इस प्रश्नपर भगवान् भाष्यकारका कहना है कि निरर्थक नहीं हैं, क्योंकि उन तव्य आदि प्रत्ययोंसे श्रवण आदिकी स्तुति होती है। जो मुमुक्षु श्रवण आदिमें मोक्षकी साधनताका अनुभव करके भी संन्यास, ब्रह्मचर्य आदिके अनुष्ठानके क्लेशोंसे उनमें उत्साहपूर्वक प्रवृत्त नहीं होता और साधारणतया प्राप्त वर्णाश्रमके अनुकूल कर्म और उपासनाओंका अनुष्ठान करता हुआ भी उनसे निवृत्ति नहीं पाता है, उन वर्णाश्रम कर्मोंमें आत्यन्तिक मोक्षसाधनताके अभावका अनुसन्धान कराते हुए ये 'तव्य' आदि प्रत्यय उसके प्रति श्रवण आदिकी प्रशंसा करते हैं अर्थात् 'मुमुक्षु पुरुष सम्पूर्ण उत्साहसे श्रवण आदिमें ही प्रवृत्त हो, क्योंकि वे ही मुक्तिके साधन हैं' इस प्रकार प्रशंसा द्वारा 'तव्य' आदि प्रत्यय पुरुषके प्रवर्तक हैं, अतः विधायक न होनेपर भी 'तव्य' आदि प्रत्यय निरर्थक नहीं हैं]।

यदि श्रवणको ज्ञानरूप न मानकर वेदान्ततात्पर्यविचाररूप ही मानें, तो भी तात्पर्यनिश्चय द्वारा वेदान्तोंके तात्पर्यभ्रम या तात्पर्यसंशयरूप प्रतिबन्धकका निराकरण ही श्रवणका फल है; अन्य प्रतिबन्धकका—पापका निरास या ब्रह्मज्ञान उसका फल नहीं है। भ्रमादिरूप जो प्रतिबन्धक है, उसका निराकरणरूप श्रवणका फल तो लोकसे ही प्राप्त है और अन्य साधन—अर्थात् ब्रह्मज्ञानमें श्रवण आदिसे अन्य कोई कारण विकल्पसे या समुच्चयसे प्राप्त भी नहीं है, इसलिए तीन विधियोंमें से किसी भी विधिका अवकाश नहीं है।

है, 'आत्मा वा अरे' इत्यादि श्रुतिस्थ तव्य प्रत्यय उस पुरुषकी स्वाभाविक बाह्य प्रवृत्तिको हटाकर प्रशंसा द्वारा आभ्यन्तर प्रवृत्ति कराते हैं।

विचारविध्यभावेऽपि विज्ञानार्थतया विधीयमानं गुरूपसदनं दृष्टद्वार-सम्भवे अदृष्टकल्पनायोगात् गुरुमुखाधीनवेदान्तविचारद्वारैव विज्ञानार्थे पर्यवस्यतीति। अत एव स्वप्रयत्नसाध्यविचारव्यावृत्तिः। अध्ययनविध्यभावे तूपगमनं विधीयमानमक्षरावाप्त्यर्थत्वेनाऽविधीयमानत्वान्न तदर्थं गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणमध्ययनं द्वारीकरोतीति लिखितपाठादिव्यावृत्त्यसिद्धेः सफलोऽध्ययननियमविधिः।

वेदान्तविचारकी विधि न होनेपर भी गुरूपसदनका—गुरुके पास विज्ञानार्थ गमनका, जिसका कि विज्ञानरूप प्रयोजनके लिए विधान है, गुरुमुखके अधीन वेदान्तविचारके द्वारा ही विज्ञानमें पर्यवसान होता है अर्थात् 'गुरुमेवोपगच्छेत्' इत्यादिसे गुरुके समीपमें विहित जो गमन है, वह गुरुमुखसे सम्पादित वेदान्तविचाररूप दृष्ट द्वारा विज्ञानकी—आत्मज्ञानकी उत्पत्ति करेगा अदृष्ट द्वारा नहीं। क्योंकि जब तक दृष्ट द्वारकी सम्भावना हो, तब तक अदृष्ट द्वारका अङ्गीकार करना उचित नहीं है। इसीसे—'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्' (उसके ज्ञानके लिए गुरुके पास ही जावे) इस उपगमनविधिसे ही अपने आप—गुरुके बिना स्वतः प्रयत्नसे किये गये वेदान्तविचारकी व्यावृत्ति हो सकती है, तो पुनः 'श्रोतव्यः' को स्वप्रयत्नसाध्य विचारके निरासके लिए विधि माननेकी आवश्यकता नहीं है। [परन्तु पहले कहा जा चुका है कि उपगमनविधि विचारविधिकी अङ्ग है, अतः विचारविधि यदि न मानी जाय तो उपगमनविधिका स्वरूप ही न बनेगा, इसलिए विचारविधिका स्वीकार अवश्य करना चाहिए ? नहीं—इसकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ब्रह्मज्ञानके प्रति गुरूपसदन जब द्वारकी (मध्यवर्ती व्यापारकी) अपेक्षा करेगा, तब लोकसिद्ध गुरुके अधीन विचार ही द्वाररूपसे प्राप्त हो सकता है, अतः श्रोतव्यविधिकी अपेक्षा ही नहीं है, तो उपगमनविधि विचारविधिकी अङ्ग नहीं है और विचारके समान उपगमन भी विद्याका अङ्ग हो सकता है, इससे पूर्वोक्त शङ्काका अवसर नहीं है।] यदि अध्ययनविधि न मानी जाय, तो विधीयमान जो उपगमन है, वह अक्षरग्रहणके लिए नहीं है, इससे वह अक्षरग्रहणके लिए गुरुमुख-उच्चारणके अनन्तर उच्चारणकी अर्थात् अध्ययनकी (वेदाध्ययनमें पहले वेदमन्त्रको गुरु कहते हैं अनन्तर शिष्य उसीका उच्चारण

न च तात्पर्यादिभ्रमनिरासाय वेदान्तविचारार्थिनः कदाचित् द्वैत-शास्त्रेऽपि प्रवृत्तिः स्यात्। तत्राऽपि तदभिमतयोजनया वेदान्तविचार-सत्त्वात् इत्यद्वैतात्मपरवेदान्तविचारनियमविधिरर्थवानिति वाच्यम् , स्वय-मेव तात्पर्यभ्रमहेतोस्तस्य तन्निरासकत्वाभावेन साधनान्तरप्राप्त्यभावात्।

करता है) द्वाररूपसे अपेक्षा नहीं करेगा, अतः लिखित पाठ आदिकी व्यावृत्ति-रूप फलकी असिद्धि होनेसे अध्ययनविधि सार्थक है। [तात्पर्य यह है कि पहले अतिप्रसङ्ग दिया है—'श्रवणविधिको, जो गुरूपसदनके प्रति प्रधानविधि है, न मानकर अङ्गभूत उपगमनविधि मानी जाय, तो अध्ययनाङ्ग उपगमन-विधिसे ही लिखित पाठकी व्यावृत्ति हो जायगी, अतः अध्ययनकी नियमविधि व्यर्थ होगी', इस अतिप्रसङ्गका परिहार करनेके लिए उपर्युक्त ग्रन्थ है अर्थात् अध्ययनविधिका अङ्गीकार न किया जायगा, तो उपगमनविधिसे लिखित-पाठकी व्यावृत्ति नहीं होगी, क्योंकि 'गुरुमुखसे अक्षरोंका ग्रहण करना इस अर्थका विधायक न उपगमनविधिवाक्य है और न इतरविधिवाक्य है, इसलिए अध्ययनविधि उक्त व्यावृत्तिके लिए अपेक्षित है, अतः श्रवणविधिके न माननेपर भी कोई अतिप्रसङ्ग नहीं है]।

[अब श्रवणको विधि माननेवाले यह शङ्का करते हैं कि यद्यपि तुम्हारे कथनके अनुसार श्रवणविधिका स्वप्रयत्नसाध्य विचार व्यावर्त्य नहीं है, तथापि अन्य व्यावर्त्य है, क्योंकि] वेदान्तके विचारको चाहनेवाले पुरुषकी तात्पर्य आदिके भ्रमके निराकरण करनेके लिए कदाचित् द्वैतशास्त्रमें (उस शास्त्रमें, जिसमें ईश्वर और जीवका भेदप्रतिपादन किया गया है) प्रवृत्ति हो सकती है, कारण कि द्वैतप्रतिपादक शास्त्रमें भी अपने मतके अनुकूल वेदान्तका विचार किया गया है, इसलिए अद्वैत आत्मपरक वेदान्तविचार श्रवणकी नियमविधि सार्थक है—श्रवणविधिका खण्डन करना अकाण्डताण्डव है? नहीं, यह शङ्का व्यर्थ है, क्योंकि जो स्वयं तात्पर्यभ्रमका कारण है, वह तात्पर्यभ्रमका निराकरणकर्ता कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता, इसलिए अन्य साधनकी प्राप्ति ही नहीं है [भाव यह है कि जो द्वैतशास्त्र हैं, वे सबके सब तात्पर्यभ्रमको उत्पन्न करनेवाले हैं, हटानेवाले नहीं हैं, इससे तात्पर्यभ्रमके दूरीकरणके लिए अद्वैत-शास्त्रको छोड़कर द्वैत-

तन्निरासकत्वभ्रमेण तत्रापि कस्यचित्प्रवृत्तिः स्यादित्येतावता 'श्रोतव्यः' इति नियमविधेरभ्युपगम इत्यपि न। ईश्वरानुग्रहफलाद्वैतश्रद्धारहितस्य श्रोतव्यवाक्येऽपि पराभिमतयोजनया सद्वितीयात्मविचारविधिपरत्वभ्रमसम्भवेन भ्रमप्रयुक्ताया अन्यत्र प्रवृत्तेर्विधिशतेनाऽप्यपरिहार्यत्वात्।

शास्त्रकी प्राप्ति ही नहीं है, अतः द्वैत-शास्त्रीय विचारकी व्यावृत्ति करनेके लिए श्रवणकी नियमविधि मानना केवल दुराग्रह है। इस विषयमें और भी शङ्का करते हैं कि] यद्यपि द्वैत-शास्त्रीय विचार तात्पर्यभ्रमका निवर्तक नहीं है, तथापि निरासकत्वभ्रमसे—'भिन्नात्मज्ञानं मुक्तिसाधनम्' (द्वैतात्मज्ञान मुक्तिका हेतु है) इस प्रकारके भ्रमसे द्वैतशास्त्रमें भी किसी पुरुषकी प्रवृत्ति हो सकती है, इससे उसकी निवृत्तिके लिए 'श्रोतव्यः' इस नियमविधिका अङ्गीकार है, परन्तु यह भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि अद्वैत-श्रद्धासे, जो ईश्वरकी अनुकम्पाका फल है, शून्य पुरुषकी 'श्रोतव्यः' वाक्यमें भी अन्यमतानुसारी योजनासे सद्वितीयात्मविचारविधिपरत्वका भ्रम हो सकता है इससे भ्रमप्रयुक्त द्वैतवस्तुपरक शास्त्रमें प्रवृत्तिका सैकड़ों विधियोंसे भी परिहार नहीं हो सकता। इसका विशद भाव यह है—इस बातका शास्त्रोंमें निर्विवादरूपसे प्रतिपादन किया गया है कि श्रवणविधिमें वही पुरुष अधिकारी है, जिसको जन्म-जन्मान्तरमें यज्ञ आदिके अनुष्ठानसे बलवती ब्रह्मज्ञानकी इच्छा है और साधन-चतुष्टयसम्पत्ति भी—अर्थात् नित्य और अनित्य वस्तुका विवेचनात्मक ज्ञान, इस लोकके और परलोकके फलभोगमें वैराग्य, मुमुक्षुता, और शम-दमादि—जिसको प्राप्त है। क्योंकि यज्ञ आदिसे सम्पादित जो अदृष्ट है, वह निष्प्रपञ्च अद्वितीय ब्रह्मसाक्षात्कारमें साङ्गवेदान्तके अध्ययनसे लब्ध वेदान्तोंसे मुक्तिकी साधनताके निश्चयका सम्पादन करके अद्वितीय आत्मसाक्षात्कारमें विविदिषाकार अद्वैत ब्रह्मज्ञानकी इच्छाका उत्पादन करता है और उसके द्वारा अद्वितीय आत्मसाक्षात्कारके साधन अद्वितीयात्माके श्रवण आदिमें मुमुक्षु पुरुषको प्रवृत्त करता है, नकि जीवभिन्न आत्मज्ञानमें मुक्तिकी साधनताका भ्रमात्मक ज्ञान उत्पन्न कर उसके द्वारा भिन्नात्मज्ञान और इसके कारणविचार आदिमें इच्छा, प्रवृत्ति आदिका उत्पादन करता है, क्योंकि द्वैतात्मज्ञानकी इच्छामें भिन्नात्मविचार द्वारा यज्ञ आदिके फलभूत निष्प्रपञ्च ब्रह्मसाक्षात्कारकी हेतुता

न च व्यापारान्तरनिवृत्त्यर्था परिसङ्ख्येति वाच्यम्, असंन्यासिनो व्यापारान्तरनिवृत्तेरशक्यत्वात्। संन्यासिनस्तन्निवृत्तेः ब्रह्मसंस्थया सह संन्यासविधायकेन 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इति श्रुत्यन्तरेण

नहीं है; ऐसी स्मृति भी है—

'ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना'

यज्ञ आदिसे सम्पादित ईश्वरानुग्रहसे ही पुरुषोंको अद्वैत ब्रह्मज्ञानकी इच्छा होती है, यह भाव है। इससे जिस पुरुषको भिन्न आत्मज्ञानमें मुक्तिसाधनत्वका भ्रम है उसमें अद्वैत साक्षात्कारकी इच्छा आदिके न रहनेसे श्रवणविधिमें उसका अधिकार ही नहीं है और उसके प्रति नियमविधि सार्थक भी नहीं है, इसलिए भ्रमी पुरुषकी अन्यत्र प्रवृत्तिका किसी प्रकारसे भी निराकरण नहीं कर सकते हैं, और ईश्वरके अनुग्रहसे अद्वैतमें जिसकी श्रद्धा ही नहीं हुई है, ऐसे पुरुषकी पराभिमतयोजनासे—'आत्मा श्रोतव्यः' इस श्रुतिमें आत्माका अर्थ जीव है, परमात्मा नहीं, क्योंकि 'आत्मनस्तु कामाय' इत्यादि पूर्व वाक्यमें जीव ही प्रकृत है, और 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इस प्रकारके वाक्यशेषमें परमात्माका प्रतिपादन किया गया है, इससे 'श्रोतव्यः' वाक्यमें आत्मा—परमात्मा ही है यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि वाक्यशेषमें भी परमात्माका प्रतिपादन नहीं कर सकते, कारण कि 'जो यह सब है, वह परमात्मा है' इस प्रकार प्रपञ्च और परमात्माका, जो जड़ और चेतन हैं, परस्पर तादात्म्य नहीं बन सकता। अतः उक्त श्रुति अभेदध्यानपरक है, अद्वैतपरक नहीं—इस प्रकारकी श्रवणवाक्यकी योजनासे भी द्वैतविचारमें भ्रमप्रयुक्त प्रवृत्ति हो सकती है, उसका निराकरण सैकड़ों विधियोंसे भी नहीं हो सकता।]

श्रवणमें परिसंख्याविधि माननेवाले शङ्का करते हैं कि अन्य व्यापारकी निवृत्ति करनेके लिए 'श्रोतव्यः' वाक्यमें परिसंख्याविधि माननी चाहिए; परन्तु यह युक्त नहीं है, क्योंकि [श्रवणविधिसे गृहस्थ आदिके व्यापारकी निवृत्ति होती है या संन्यासीके व्यापार की निवृत्ति होती है? इन दो विकल्पोंमें पहला पक्ष युक्त नहीं है] असंन्यासीके—गृहस्थ आदिके व्यापारकी निवृत्ति नहीं कर सकते, कारण कि ऐसा करनेपर अन्य श्रुतियोंसे, जो ब्रह्मसंस्थासे अतिरिक्त व्यापारोंका गृहस्थके प्रति विधान करती हैं, विरोध होगा, [द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि] संन्यासीके

सिद्धतया संन्यासविधायकश्रुत्यन्तरमपेक्ष्य श्रोतव्यवाक्येन तस्य व्यापारान्तरनिवृत्त्युपदेशस्य व्यर्थत्वात् ।

न च विचारविध्यसम्भवेऽपि विचारविषयवेदान्तनियमविधिः सम्भवति, भाषाप्रबन्धादिव्यावर्त्यसत्त्वादिति शङ्क्यम् । सन्निधानादेव वेदान्तनियमस्य लब्धत्वेन विधिविषयत्वायोगात्, 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यर्थावबोधार्थनियमविधिबलादेवाध्ययनगृहीतवेदोत्पादितं वेदार्थज्ञानं फलपर्यवसायि, न कारणान्तरोत्पादितमित्यस्यार्थस्य लब्धत्वेन वेदार्थे ब्रह्मणि

(व्यावहारिक) अन्य व्यापारकी निवृत्ति तो ब्रह्मसंस्थाके साथ संन्यासविधायक 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (ब्रह्मसंस्थ पुरुष अमृत पाता है) इस इतर श्रुतिसे सिद्ध ही है, इसलिए संन्यासविधायक अन्य श्रुतिकी अपेक्षा करके 'श्रोतव्यः' वाक्यसे उस अन्य व्यापारकी निवृत्तिका उपदेश करना सर्वथा व्यर्थ है।

और यह भी शङ्का नहीं करनी चाहिए कि विचारविधिके न रहनेपर भी विचारविषयत्वरूपसे वेदान्तमें नियमविधि हो सकती है, क्योंकि भाषाप्रबन्ध आदि व्यावर्त्य हैं। कारण कि सन्निधिसे ही वेदान्तनियमके प्राप्त होनेसे (वेदान्त) विधिविषयके अयोग्य हैं । [शङ्काकर्ताका अभिप्राय यह है कि विचारविधिका खण्डन करनेपर भी वेदान्तनियमविधि—अर्थात् विचार करना चाहिए, तो वेदान्तोंका ही, इस प्रकारकी विधि—हो सकती है । और इससे भाषाप्रबन्धोंकी व्यावृत्ति होगी । उत्तरदाताका यह भाव है कि—इस प्रकारका नियम श्रवणविधिसे पहले ही प्राप्त हो जाता है, क्योंकि साङ्गवेदका जिसने अध्ययन किया है और साधारणतः ज्ञात ब्रह्मकी विशेषरूपसे जिसको जिज्ञासा हुई, ऐसे पुरुषको जिज्ञासाके निवर्तकका निर्णय करनेके लिए कर्तव्यरूपसे विचारकी प्राप्ति होनेपर विचारविषयके अन्वेषण करनेमें सर्वप्रथम वेदान्त ही बुद्धिस्थ होते हैं। इससे 'वेदान्तोंका ही विचार करना चाहिए' इस प्रकार सबसे पहले बुद्धिके उदय होनेसे वेदान्तविधिके लिए श्रवणविधिकी कोई आवश्यकता नहीं है] और 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (स्वाध्याय—वेद पढ़ना चाहिए) इस अर्थके परिज्ञानके लिए (विद्यमान) नियमविधिके प्रभावसे यह अर्थ प्राप्त होगा कि अध्ययनसे गृहीत वेद द्वारा उत्पादित वेदके अर्थका ज्ञान ही फलका पर्यवसायी है, मोक्ष आदि फलका उत्पादक है, अन्य कारणसे उत्पादित वेदार्थज्ञान

मोक्षाय ज्ञातव्ये भाषाप्रबन्धादीनामप्राप्तेश्च । न च 'सहकार्यन्तरविधिः' इत्यधिकरणे बाल्यपाण्डित्यमौनशब्दितेषु श्रवणमनननिदिध्यासनेषु विधिरभ्युपगत इति वाच्यम्, विचारे विचार्यतात्पर्यनिर्णयहेतुत्वस्य वस्तुसिद्ध्यनुकूलयुक्त्यनुसन्धानरूपे मनने तत्प्रत्ययाभ्यासरूपे निदिध्यासने च वस्त्ववगमवैशद्यहेतुत्वस्य च लोकसिद्धत्वेन तेषु विध्यनपेक्षणात् विधिच्छायार्थवादस्येव प्रशंसाद्वारा प्रवृत्त्यतिशयकरत्वमात्रेण तत्र विधिव्यवहारात् । एवं च श्रवणविध्यभावात् कर्मकाण्डविचारवत् ब्रह्मकाण्डविचारोऽप्यध्ययनविधिमूल इत्याचार्यवाचस्पतिपक्षानुसारिणः ॥ १ ॥

फलका पर्यवसायी होगा, इससे मोक्षके लिए ज्ञातव्य वेदके अर्थभूत ब्रह्ममें भाषाग्रन्थ आदिकी व्यावृत्ति सिद्ध ही है, अतः भाषाप्रबन्धकी निवृत्तिके लिये वेदान्तनियमविधिकी कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु 'सहकार्यन्तरविधिः' इत्यादि अधिकरणमें श्रवण, मनन और निदिध्यासनमें, जिनका क्रमशः पाण्डित्य, बाल्य और मौनशब्दसे व्यवहार किया गया है, सूत्रकार और भाष्यकारने विधि मानी है, इसलिए श्रवण-विधि नहीं है, यह कहना असङ्गत है, नहीं असङ्गत नहीं है, क्योंकि विचारमें विचार-विषय-तात्पर्यके निश्चयात्मक ज्ञानकी हेतुता एवं वस्तुकी सिद्धिमें हेतुभूत युक्तिके ज्ञानरूप मननमें और तत्प्रत्ययाभ्यासरूप—वस्त्वाकार वृत्तिके अभ्यासरूप—निदिध्यासनमें वस्तुके परिज्ञानकी विशदताकी—प्रतिबन्धशून्यताकी—हेतुता लौकिक प्रमाणोंसे निश्चित ही है, इसलिए मनन आदिमें विधिकी अपेक्षा न होनेसे विधिके तुल्य अर्थवादके समान प्रशंसाके द्वारा केवल प्रवृत्तिमें अतिशय करनेसे श्रवणादिमें विधित्वका व्यवहार [सूत्र और भाष्यमें] किया गया है। इसलिए श्रवणविधिका अभाव होनेसे कर्मकाण्डके विचारके समान ब्रह्मकाण्डका विचार भी अध्ययन विधिसे ही प्राप्त है, यह आचार्य वाचस्पतिके पक्षका अनुसरण करनेवाले वेदान्तियोंका मत है* ॥ १ ॥

---

* आचार्य वाचस्पति श्रवण आदिमें विधि नहीं मानते हैं। इसका उन्होंने भामती ग्रन्थमें बड़े ऊहापोहसे विचार किया है। वहांका कुछ अंश नीचे उद्धृत किया जाता है—'ननु 'आत्मेत्येवोपासीत' इत्यादयो विधयः श्रूयन्ते । न च प्रमत्तगीताः, तुल्यं हि साम्प्रदायिकत्वम्, तस्माद्विधेयेनात्र

[टिप्पणी]

भवितव्यमित्यत आह—तद्विषया लिङादय इति । सत्यं श्रूयन्ते लिङादयः, न त्वमी विधिविषयाः, तद्विषयत्वेऽप्रामाण्यप्रसङ्गात् । हेयोपादेयविषयो हि विधिः । स एव च हेय उपादेयो वा, यं पुरुषः कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्नोति । तत्रैव च समर्थः कर्ताधिकृतो नियोज्यो भवति । न चैवंभूतान्यात्मश्रवणमननोपासनदर्शनानीति विषयतदनुष्ठात्रोर्विधिव्यापकयोरभावाद्विधेरभाव इति प्रयुक्ता अपि लिङादयः प्रवर्तनायामसमर्था उपल इव क्षुरतैक्ष्ण्यं कुण्ठमप्रमाणीभवन्ति इति । 'अनियोज्यविषयत्वात्' इति । समर्थो हि कर्ताधिकारी नियोज्यः, असामर्थ्ये तु न कर्तृता ततो नाधिकृतोऽतो न नियोज्य इत्यर्थः । यदि विधेरभावान्न विधिवचनानि, किमर्थानि तर्हि वचनान्येतानि विधिच्छायानीति पृच्छति—'किमर्थानि' इति । न चानर्थकानि युक्तानि, स्वाध्यायविध्यधीनग्रहणत्वानुपपत्तेरिति भावः । उत्तरम्—स्वाभाविकेति । अन्यतः प्राप्ता एव हि श्रवणादयो विधिस्वरूपैर्वाक्यैरनूद्यन्ते, न चानुवादोऽप्यप्रयोजनः, प्रवृत्तिविशेषकरत्वात् । तथाहि—तत्तदिष्टानिष्टविषयेप्साजिहासापहृतहृदयतया वहिर्मुखो न प्रत्यगात्मनि समाधातुमर्हति । आत्मश्रवणादिविधिसरूपैस्तु वचनैर्मनसो विषयस्रोतः खिलीकृत्य प्रत्यगात्मस्रोत उद्घाट्यते इति प्रवृत्तिविशेषकरताऽनुवादानामस्तीति सप्रयोजनतया स्वाध्यायविध्यधीनग्रहणत्वमुपपद्यत इति। [भामती कल्पतरु पृ० १२९ पं० २२ निर्णयसा०] इसी भामतीके नीचे कल्पतरुकारने व्याख्यारूपसे कहा है कि 'दर्शनार्थं कर्तव्यत्वेनान्वयव्यतिरेकावगतान् श्रवणादीननुवदन्ति वचांसि तद्गतप्राशस्त्यलक्षणया तेषु रुचिमुत्पाद्यानात्मचिन्तायामरुचिं कुर्वन्ति, प्रवृत्त्यतिशयं जनयन्तीत्यर्थः । [वेदान्तकल्पतरु पृ० १३० नि० सा० पं० २८] इस ग्रन्थका भाव यह है—'आत्मेत्येवोपासीत' (आत्माकी उपासना करे) इत्यादि विधि सुनी जाती है, इसलिए वेदान्तोंको विधायक मानना चाहिए । ये किसी प्रमत्त—पागल व्यक्तिसे कहे गये हैं, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि साम्प्रदायिकता तुल्य है, इसलिए विधेय हो सकते हैं, इसपर कहते हैं—'तद्विषया लिङादयः' । यद्यपि लिङ् आदि सुने जाते हैं, परन्तु वे विधिविषयक नहीं हैं, अन्यथा अप्रामाण्य प्रसक्त होगा । हेय और उपादेयमें विधि होती है । और वही हेय और उपादेय होता है जिसमें पुरुष उलटफेर कर सके, और उसीमें नियोज्य अधिकारी समर्थ होता है, आत्माके श्रवण, मनन और निदिध्यासन आदि वैसे नहीं हैं, अतः विधिव्यापक विषय और अनुष्ठाताका अभाव होनेसे लिङ् आदिके प्रयुक्त होनेपर भी प्रवर्तनामें असमर्थ होते हुए पत्थरके ऊपर प्रयुक्त छुरेकी धारके समान कुण्ठित होकर अप्रमाण होते हैं । जो समर्थ है, वही कर्ता और अधिकारी होता है, सामर्थ्यके अभावमें न कर्तृता है और न अधिकारिता ही है, यह तात्पर्य है । यदि विधि न होनेसे ये विधिवचन नहीं हैं तो ये वचन विधिसदृश क्यों हैं ? ऐसा (भाष्यमें) पूछते हैं—'किमर्थानि' इत्यादिसे । यदि अनर्थक विधिवाक्य होते, तो स्वाध्यायविधिसे ग्रहण नहीं हो सकता था, इसलिए अनर्थक नहीं हैं, यह भाव है । भाष्यकार उत्तर देते हैं—'स्वाभाविकेति' अन्यसे—लोकसे—प्राप्त होनेके कारण श्रवण आदिका विधिसदृश वाक्योंसे अनुवाद किया जाता है, और अनुवादका प्रयोजन है—प्रवृत्ति करना अर्थात् मनुष्यकी श्रवण आदिमें । भाव यह है कि लौकिक इष्ट और अनिष्ट वस्तुकी प्राप्ति और परिहारमें जिसका हृदय लगा हुआ है, ऐसा वहिर्मुख पुरुष प्रत्यक् आत्मामें अपने चित्तका

[टिप्पणी]

आधान नहीं कर सकता है, परन्तु आत्माके विधायकसदृश वाक्योंसे, तो मनकी विषयवृत्तिका परिहार करके प्रत्यगात्मामें मानसिक वृत्तिके प्रवाहका उद्घाटन करेगा, अतः प्रवृत्तिविशेष-कारिता अनुवादवाक्योंमें है, इसलिए उनका प्रयोजन होनेसे स्वाध्यायविधिसे ग्रहण उपपन्न हो सकता है। कल्पतरुवाक्यका अर्थ है—अपरोक्ष ज्ञानके लिए कर्तव्यरूपसे ज्ञात श्रवण आदिका अनुवाद करते हुए विधिसदृश वाक्य श्रवण आदिमें प्राशस्त्यका बोधन करके उनमें रुचि उत्पन्न करते हैं और अनात्मविचारमें अरुचि उत्पन्न करते हुए प्रवृत्तिके अतिशयको उत्पन्न करते हैं।

और भी 'द्रष्टव्यः' (दर्शन करना चाहिए) इस विधिका खण्डन करते हुए वाचस्पति-मिश्र कहते हैं—'अत्र चात्मदर्शनं न विधेयम्' तद्धि दृशेरुपलब्धिवचनत्वात् श्रावणं वा स्यात् प्रत्यक्षं वा। प्रत्यक्षमपि लौकिकमहंप्रत्ययो वा भावनाप्रकर्षपर्यन्तजं वा। तत्र श्रावणं न विधेयम्; स्वाध्यायविधिनैवास्य प्रापितत्वात्, कर्मश्रावणवत्। नापि लौकिकप्रत्यक्षम्, तस्य नैसर्गिकत्वात्, न चौपनिषदात्मविषयं भावनाधेयवैशद्यं विधेयम्, तस्योपासनाविधानादेव वाजिनवदनुनिष्पादितत्वात्। इतना कहकर आगे कहते हैं—'द्रष्टव्यः' इत्यादयस्तु विधिसरूपा न विधय इति। ('द्रष्टव्यः' इससे यहाँ वेदान्तमें आत्माके दर्शनका भी विधान नहीं है, क्योंकि दृश्‌धातुका अर्थ ज्ञान होनेसे यह विकल्प होता है कि वह श्रावण ज्ञानका (कानसे होनेवाले ज्ञानका) विधान करता है या प्रत्यक्ष ज्ञानका विधान करता है, प्रत्यक्ष ज्ञानमें भी लौकिक अहंप्रत्ययका अथवा भावनाके प्रकर्षसे होनेवाले प्रत्यक्षका? इसमें श्रावण ज्ञानका विधान नहीं कर सकते, क्योंकि वह तो स्वाध्यायविधिसे ही प्राप्त है, और प्रत्यक्ष ज्ञानका भी विधान नहीं, कर सकते, क्योंकि लौकिक प्रत्यक्ष तो स्वभावतः होता ही है औपनिषद आत्मविषयक भावना वैशद्य भी विधेय नहीं है, क्योंकि वह उपासनाके विधानसे ही वाजिनके समान पीछेसे उत्पन्न होगा (दूधको फाड़नेसे जो घना भाग होता है उसे आमिक्षा—पनीर कहते हैं और जो पानी बचता है, उसे वाजिन कहते हैं, इस स्थलमें जैसे आमिक्षाके विधानसे ही वाजिन बन जाता है उसके विधानकी आवश्यकता नहीं है, वैसेही उपासनाके विधानसे भावनावैशद्य भी उत्पन्न होगा इसलिए उसका भी विधान करना कोई आवश्यक नहीं है, यह भाव है। इस प्रकारके विकल्पोंसे दर्शनका विधान सिद्ध नहीं कर सकते हैं, इसलिए 'द्रष्टव्यः' आदि—श्रोतव्यः, मन्तव्यः और निदिध्यासितव्यः—विधिके सदृश ही हैं, वस्तुतः विधि नहीं है, यह भाव है। इसमें आदि-शब्दसे आचार्य वाचस्पतिमिश्रने मनन आदिके विधित्वका खण्डन किया है, यह भली भांति अवगत होता है, इस वाचस्पतिमिश्रके मतकी परिपुष्टिके लिए भामतीव्याख्याकारने एक श्लोक भी लिखा है। वह यों है—

"वेदान्ता यद्युपास्तिं विदधति, विधिसंशोधिमीमांसयैव
प्राप्त्या तद्धीरितार्था इति विफलमिदं ब्रह्मजिज्ञासनं स्यात्।
अप्युत्युच्चातिनीचो जनिमृतिभयभाग्वैधधीसाध्यमोक्षः
कर्मोत्थैः स्वर्गपश्वायतिमधुरफलैः कोऽपराधः कृतो नः ॥१॥

[पृ० ११३ क० नि०]

[टिप्पणी]

यदि वेदान्तवाक्य भी उपासना (आदिका) विधान करें, तो विधिके संस्कारके लिए प्रवृत्त पूर्वमीमांसासे ही गतार्थ होंगे, यह ब्रह्मजिज्ञासा विफल हो जायगी और विधि-साध्यमोक्ष उत्पत्तिविनाशशील एवं न्यूनाधिकभावग्रस्त हो जायगा, अतः कर्मजन्य स्वर्ग पश्वादि फलोंने, जो अत्यन्त आवश्यक हैं, क्या अपराध किया ? अर्थात् कर्मोंसे होनेवाले स्वर्ग, पशु आदि फलोंसे मोक्षमें कुछ विशेषता नहीं रहेगी । अतः इससे श्रवणादि विधि नहीं है, यह अत्यन्त स्फुट है । इसी प्रकार 'मनननिदिध्यासनयोरपि न विधिः, तयोरन्वयव्यतिरेकसिद्धसाक्षात्कारफलयोर्विधिसरूपैर्वचनैरनुवादात्' (१५३ भाम० नि०) यह कहा गया है, इसलिए वाचस्पतिमतानुयायी श्रवण आदिको विधि नहीं मानते हैं, यह युक्त है । एक और स्थलमें भी श्रवण आदिके विधित्वके खण्डनमें प्रमाण मिलता है— 'ननु 'आत्मा ज्ञातव्यः' इत्येतद्विधिपरैर्वेदान्तैः तदेकवाक्यतयाऽवबोधे' इत्यादिसे आरम्भ कर 'अयमभिसन्धिः—न तावत् ब्रह्मसाक्षात्कारे पुरुषो नियोक्तव्यः; तस्य ब्रह्मस्वाभाव्येन नित्यत्वात्, अकार्यत्वात्, नाप्युपासनायाम्; तस्या अपि ज्ञानप्रकर्षे हेतुभावस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धतया प्राप्तत्वेनाऽविधेयत्वात् । नापि शाब्दबोधे, तस्याप्यधीतवेदस्य पुरुषस्य विदितपदतदर्थस्य समधिगतन्यायतत्त्वस्याप्रत्यूहमुत्पत्तेः' इत्यादि । इसका भाव प्रायः पूर्ववत् ही है ।

विधिच्छायार्थवाद—विधिके सदृश अर्थवाद, जैसे 'उपांशु यागमन्तरा यजति' (आग्नेय और अग्नीषोमीय पुरोडाशके बीचमें उपांशुयाग करे) इस प्रकार कहकर फिर कहते हैं— 'विष्णुरुपांशु यष्टव्यः, प्रजापतिरुपांशु यष्टव्यः, अग्नीषोमावुपांशु यष्टव्यौ' यहां पहले जो उपांशुयागमन्तरा' इत्यादि अन्तरा वाक्य है, वह आग्नेय और अग्नीषोमीय पुरोडाशके मध्यवर्ती कालमें उपांशुयागका विधान करता है, इसलिए 'विष्णुरुपांशु' इत्यादि तीन वाक्य मन्त्रवर्णोंसे प्राप्त वैकल्पिक देवताओंका अनुवाद करके 'उपांशु यागमन्तरा यजति' इस अन्तरा वाक्यसे विहित यागकी स्तुति करनेवाले अर्थवाद ही हैं, इस प्रकार पूर्वमीमांसामें प्रतिपादन किया गया है (अ० २ पा० २ अधि० ४) वैसे ही 'आत्मा श्रोतव्यः' इत्यादि वाक्य भी अर्थवाद हैं और प्रशंसार्थक हैं, ऐसा समझना चाहिए ।

कोई लोग श्रवण आदिकी विधि माननेके लिए यह भी कहते हैं कि यदि श्रवण में नियम विधि न मानी जाय, तो 'तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नम्' इत्यादि श्रुतिमें कहे गये योगकी व्यावृत्ति नहीं होगी, इसलिए नियम मानना चाहिए, परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि विधिके न माननेपर भी विचार प्राप्त ही है, कारण कि जो विचार करनेकी सामर्थ्य रखता है, उसे किसी कालमें अपनी या अन्यकी अनुपपत्तिसे तत्त्ववस्तुमें सन्देह हो सकता है, इससे निश्चयात्मक वेदान्तार्थके ज्ञानके लिए विधिके विना भी योग्यतासे विचार अवश्य प्राप्त हो सकता है, अतः विधिकी आवश्यकता नहीं है । सगुण उपासनाकी व्यावृत्तिके लिए कोई नियम-विधि मानते हैं, उनका भी पक्ष युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि जो एकदम निस्पृह है, वह ब्रह्मलोककी प्राप्तिके द्वारा मुक्तिके प्रति साधनभूत सगुणोपासनामें कैसे प्रवृत्त होगा अर्थात् कभी नहीं होगा, अतः सगुणोपासनाकी व्यावृत्तिके लिए भी नियमविधि नहीं मान सकते हैं ।

जगज्जन्मस्थितिलयेष्वेकैकं ब्रह्मलक्षणम्
प्रत्येकं ब्रह्मलिङ्गत्वात् इत्याहुः कौमुदीकृतः ॥ १४ ॥

जगत्के जन्म, स्थिति और लय इनमें से प्रत्येक ब्रह्मका असाधारण धर्म है, अतएव प्रत्येक ब्रह्मका लक्षण हो सकता है यह कौमुदीकार का मत है ॥ १४ ॥

(२) विचार्यस्य च ब्रह्मणः जगज्जन्मस्थितिलयकारणत्वं लक्षणमुक्तं

---

* विचार्य ब्रह्मका—(जिस ब्रह्मका विचार प्रस्तुत हुआ है उसका) जग-

---

• यहाँ पूर्व ग्रन्थसे सङ्गति इस प्रकार है—पूर्व ग्रन्थमें 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस प्रथम सूत्रका अर्थ संगृहीत किया गया, ब्रह्मका विचार करना चाहिए, इससे ब्रह्म-साक्षात्कारके लिए जिस ब्रह्मविचारकी प्रतिज्ञा हुई, उस विचारके विषय—ब्रह्मका लक्षण करना अत्यन्त आवश्यक है। उसके अनन्तर विचार या विभाग आदि किया जाता है, अतः 'पूर्वं प्रतिज्ञाऽथ प्रतिज्ञातस्य लक्षणं ततो विभागादिकम्' इस प्रकार शास्त्रीय परिपाटी है, इससे ब्रह्मके लक्षणके लिए 'जन्माद्यस्य यतः' इस द्वितीय सूत्रके अर्थका इस ग्रन्थसे संग्रह करते हैं।

प्रसङ्गवश लक्षणशब्दार्थका निर्वचन करते हैं, लक्षणशब्दका व्यवहार लक्षण—असाधारण धर्म और लक्ष्यमें देखा जाता है, क्योंकि 'लक्ष्यते अनेन' वा 'लक्ष्यते यत्' इति लक्षणम्, इस प्रकार करण और कर्म व्युत्पत्तिसे असाधारण धर्म और लक्ष्य स्वरूप बोधित होते हैं। प्रकृतमें करणव्युत्पत्तिके आधारपर विचार है, जो असाधारण धर्म होता है अर्थात् जिस धर्ममें अव्याप्ति अतिव्याप्ति और असम्भव दोष नहीं होते हैं, उस धर्मको लक्षण कहते हैं। जो लक्ष्यके एक देशमें—अवयवमें न रहे, उस धर्मको अव्याप्तिदोषसे युक्त कहते हैं, जैसे किसीने गौका लक्षण किया—जिसका कपिल रूप हो, वह गौ है, परन्तु यह नहीं बन सकता, क्योंकि श्वेत गौमें कपिल रूप नहीं है, अतः गोलक्ष्यके एक देशमें—श्वेत गौमें—इस लक्षणके न रहनेसे यह लक्षण अव्याप्तिदोषसे आक्रान्त हुआ। इसी प्रकार अतिव्याप्तिदोष युक्त उसे कहते हैं—जो लक्ष्य में रहकर अलक्ष्यमें भी रहे—जिसकी पूँछ हो, उसे गौ कहना, यह लक्षण यदि गायका किया जाय, तो नहीं बन सकता, क्योंकि महिष आदिकी भी पूँछ होती है, इसी प्रकार असम्भव दोषयुक्त लक्षण उसे कहते हैं—जो धर्म सर्वथा लक्ष्यमें न रहे, जैसे एकशफ जिस पशुका हो, वह गाय है, परन्तु गाय ऐसी नहीं है, क्योंकि गायके दो शफ—खुर होते हैं, अतः यहाँ असम्भव दोष है। गौका इन तीनों दोषोंसे रहित 'सास्नावत्त्व' लक्षण है (सास्ना—गौके गलेके नीचेका लटका हुआ भाग)। लक्षणके दो भेद हैं—स्वरूपलक्षण और तटस्थलक्षण। स्वरूपलक्षण माने वस्तुका स्वरूप ही वस्तुका लक्षण है, ब्रह्मका स्वरूप है—सत्य, ज्ञान और आनन्द, इसलिए सत्य, ज्ञान और आनन्द ब्रह्मके स्वरूपलक्षण हैं, यद्यपि पहले असाधारण धर्म ही लक्षण कहा गया है, तथापि सत्य आदिमें अपनी अपेक्षासे ही धर्म-धर्मिभावकी कल्पना करके लक्ष्य-लक्षणभावका निर्वाह करना चाहिए, अतः 'आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वञ्चेति सन्ति धर्मा अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात् पृथगिवावभासन्ते' (आनन्द, विषयका अनुभव और नित्यता ये धर्म यद्यपि अपृथक्—अभिन्न ही हैं, तथापि चैतन्यसे भिन्न जैसे भासते हैं) इस प्रकार

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादिश्रुत्या। जगज्जन्मस्थितिलयेषु

जन्मस्थितिलयकारणत्वरूप लक्षण 'यतो वा इमानि०' (जिस ब्रह्मसे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं) इत्यादि श्रुतिसे ही कहा गया है, [फलितार्थ यह हुआ कि हम ब्रह्म उसे कहते हैं जो समस्त जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयका कारण हो, इसलिए ब्रह्ममें जो जगत्की उत्पत्ति, स्थिति (पालन) और लयकी कारणता है, वही आसाधारण धर्म होनेसे ब्रह्मका लक्षण है।

वचन भी मिलता है। तटस्थ लक्षण उसे कहते हैं—लक्ष्यके यावत्कालमें न रहकर व्यावर्तक हो, जैसे कि पृथ्वीका गन्ध—तटस्थ लक्षण है, परन्तु यह सभी कालमें नहीं रहता है, क्योंकि महाप्रलयमें परमाणु और उत्पत्तिकालमें घट आदिमें नहीं रहता है, प्रकृतमें ब्रह्मका—जगत्की उत्पत्ति आदिका कारणत्व—तटस्थ लक्षण है। स्वरूप लक्षण तो ऊपर कहा गया ही समझना चाहिए।

'विचार्यस्य च' इसमें चकारका अर्थ—एव—अवधारण है और इसका आगेके 'इत्यादिश्रुत्या' शब्दके साथ सम्बन्ध है। भाव यह होगा कि हम जो ब्रह्मका जगज्जन्मादिकारणत्व लक्षण करते है, वह श्रुति ही कहती है, हम अपनी बुद्धिसे व्याप्ति आदि लक्षणके समान उसे नहीं कहते हैं। 'इत्यादिश्रुत्या'में आदि शब्दसे 'येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्म' यह वाक्यशेप गृहीत होता है। मूलमें स्थित 'यतो वा' श्रुतिमें 'यत्' शब्दसे ब्रह्मवल्लीमें कहे गये सत्यज्ञानानन्दानन्तात्मक ब्रह्मका परिग्रह होता है, क्योंकि प्रधानका ही सर्वनाम परामर्श करता है, यही कारण है कि 'यत्' शब्दके प्रभावसे 'यतो वा' इत्यादिसे स्वरूपलक्षणका भी लाभ होता है, पञ्चमीके प्रकृत्यर्थक अथवा सामान्यकारणत्ववाची होनेसे अभिन्ननिमित्तोपादानत्वरूप लक्षण प्राप्त होता है। वाक्यशेपसहित 'यतो वा' इत्यादिश्रुतिका यह अर्थ होता है—'इमानि' इस इदं शब्दसे प्रत्यक्षसे उपस्थित सम्पूर्ण पदार्थोंका ग्रहण होता है, यद्यपि भूतशब्द पृथ्वी आदि महाभूत और प्राणियोंमें रूढ है, तथापि प्रकृतमें रूढिका परित्याग करके 'भवन्ति इति भूतानि' (जो उत्पन्न होते हैं वे सब भूत हैं) इस प्रकारकी व्युत्पत्तिसे कार्यमात्रका भूतशब्दसे लाभ करना चाहिए। 'जीवन्ति' शब्दका अर्थ है—स्थितिको पाते हैं। प्रयन्त्यभिसंविशन्ति—लीन होकर जिसके साथ तादात्म्य प्राप्त करते हैं, अर्थात् दिखानेवाले ये समस्त पदार्थ जिस चेतनसे उत्पन्न होनेसे जिसमें स्थित हैं और जिसमें लीन होकर जिसके साथ तादात्म्य लाभ करते हैं, वह—कारण ब्रह्म है और उसे विशेषरूपसे—सच्चिदानन्दैकरसपूर्णप्रत्यक्रूपसे प्रत्यक्ष करनेकी इच्छा करो अर्थात् पूर्वोक्त लक्षणके द्वारा ब्रह्मका विचाररूप। श्रुतिका एकरूपसे पाठ होनेके कारण उक्त एक ही लक्षण प्राप्त होता है, यदि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, तद् ब्रह्म, येन जीवन्ति तद् ब्रह्म' इत्यादि भिन्न-भिन्नरूपसे पाठ होता, तो जगत्की उत्पत्तिका कारण जो है वह ब्रह्म है, स्थितिके प्रति जो कारण है, वह ब्रह्म है और लयके प्रति जो कारण है वह ब्रह्म है, इस प्रकार तीन लक्षण होते, परन्तु वैसा है नहीं, अतः यह शङ्का हो ही नहीं सकती।

एकैककारणत्वमप्यनन्यगामित्वाल्लक्षणं भवितुमर्हतीति चेत्, सत्यम्। लक्षण-

[परन्तु जैसे जगज्जन्मस्थितिलयकारणत्वरूप एक लक्षण करते हैं, वैसे] जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय इन तीनोंमेंसे एक-एकका कारणत्व भी अनन्यगामी होनेसे ब्रह्मका लक्षण हो सकता है। [शङ्काका भाव यह है कि जगत्के जन्म, स्थिति और लय इन तीनोंका जो कारण है, वह ब्रह्म है, इस प्रकार जन्म आदि तीनोंको मिलाकर एक लक्षण क्यों किया जाता है, क्योंकि 'जगज्जन्मकारणत्व, जगत्स्थितिकारणत्व और जगल्लयकारणत्व' अर्थात् जगत्की उत्पत्तिका कारण, जगत्की स्थितिका कारण और जगत्के लयका कारण, इस प्रकार तीन परस्पर निरपेक्ष ब्रह्मके लक्षण हो सकते हैं और ब्रह्मको छोड़कर अन्यत्र जाते भी नहीं हैं *, किन्तु केवल ब्रह्ममें ही रहते हैं, अतः निर्दुष्ट भी हैं, इसलिए एक लक्षण करना अयुक्त है] सत्य है परस्पर निरपेक्ष ये तीन ही लक्षण हैं। इसीलिए † 'अत्ता चराचरग्रहणात्'

* यद्यपि जगज्जन्म आदिकी कारणता ब्रह्मके समान साङ्ख्याभिमत प्रधानमें भी है, अतः उक्त लक्षण अनन्यगामी नहीं हुआ, क्योंकि प्रधानको सांख्यानुगामी लोग जगत्के उपादान-रूपसे जगज्जन्मके प्रति हेतु, जगत्का आधार होनेसे स्थितिका हेतु और लयका आश्रय होनेसे लयके प्रति भी हेतु मानते हैं, तथापि जगत्की उत्पत्ति आदिका कर्ता होकर उनके प्रति जो हेतु हो, वह ब्रह्म है, इस प्रकार लक्षणमें कर्तृत्वका निवेश करनेसे जड़ प्रधानमें अतिव्याप्ति नहीं है, अतः उक्त शङ्का केवल धूलिप्रक्षेप है। इसपर यदि शङ्का की जाय कि जन्म आदिके प्रति जो कर्ता है, वही ब्रह्म है, लक्षणके गर्भमें कारणका निवेश क्यों करना? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जीवमें अतिव्याप्ति होगी, कारण कि जीव भी अदृष्टके द्वारा जगत्का कर्ता होता है, लक्षणमें कारणके प्रवेशसे जीवमें दोष नहीं होगा, क्योंकि स्वल्प जीव जगत्का कारण नहीं हो सकता है। (यहाँ कारणशब्द उपादानकारणपरक है, यह ख्याल रखना चाहिए) इसपर यह कहा जाय कि जीवमें अतिव्याप्ति दोषके निवारण करनेके लिए साक्षात् जगत्की उत्पत्तिके प्रति कर्ता—साक्षात्जगज्जन्मकर्तृत्वरूप ब्रह्मका लक्षण करते हैं, अतः पर-म्परया जगत्के कर्ता-जीवमें दोष नहीं होनेसे कारणत्वका लक्षणमें प्रवेश व्यर्थ है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उपादानत्वकी—अर्थात् जगत्के प्रति उपादानत्वकी—भी स्वतन्त्र लक्षण-रूपसे विवक्षा हो सकती है, माया ब्रह्मरूप उपादानमें घटक है और प्रधान आदि अप्रामाणिक हैं, अतः उनमें दोष नहीं है, यह भाव है।

† 'अत्ता चराचरग्रहणात्' इस सूत्रका निम्नलिखित अर्थ होता है—अत्ता—'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः' (जिसके ब्रह्म—ब्राह्मण और क्षत्त्र—क्षत्रिय अदनीय हैं और मृत्यु उपसेचन (दाल आदि) है, ऐसा संहार करनेवाला

त्रयमेवेदं परस्परनिरपेक्षम्। अत एव 'अत्ता चराचरग्रहणात्' इत्याद्यधिकरणेषु (उ० मी० अ० १ पा० २ अधि० १ सू० ९) सर्वसंहर्तृत्वादिकं ब्रह्मलिङ्गतयोपन्यस्तमिति कौमुदीकारः।

उपादानत्वविज्ञत्ववस्त्वन्तरानिराक्रियाः।
व्युत्क्रमाल्लब्धुमाचख्युरन्ये संवलितं त्रयम् ॥ १५ ॥

व्युत्क्रमसे अर्थात् जगज्जन्मस्थितिलयकारणत्वरूप लक्षणके घटक उलटे पदोंसे—(लयकारणत्व, स्थितिकरणत्व और उत्पत्तिकारणत्वके कथनसे) एक ही ब्रह्मरूप वस्तुमें उपादनत्व, सर्वज्ञत्व और अन्य वस्तुके निराकरणके लाभके लिए तीनोंको मिलाकर एक ही जगज्जन्मस्थितिलयकारणत्वरूप लक्षण है, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं ॥ १५ ॥

अन्ये तु जन्मकारणत्वस्य स्थितिकारणत्वस्य च निमित्तकारणसाधारण्यात् उपादानत्वप्रत्यायनाय प्रपञ्चस्य ब्रह्मणि लयो दर्शितः। अस्तु ब्रह्म

इत्यादि अधिकरणोंमें सर्वसंहर्तृत्व (सबका संहारकर्ता) आदिका ब्रह्मके लिङ्ग—ज्ञापकरूपसे उपन्यास किया है, इस प्रकार कौमुदीकार कहते हैं।

जन्मकारणता और स्थितिकारणताके निमित्तकारणसाधारण होनेसे उपादानकारणताका सूचन करनेके लिए ब्रह्ममें प्रपञ्चका विलय ['यतो वा' इत्यादि श्रुतिमें 'यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' शब्दसे] दिखलाया गया है, [यदि उपादानत्वका सूचन प्रपञ्चके विलयके प्रदर्शनके विना नहीं हो सकता है, तो केवल लयकारणत्व ही ब्रह्मका लक्षण करो, क्योंकि इसीसे ब्रह्ममें उपादानकारणत्वका लाभ होगा, इसपर 'अस्तु' इत्यादिसे कहते हैं] ब्रह्म जगत्का उपादान भले ही हो, परन्तु जैसे घटकी उत्पत्तिमें मिट्टीरूप उपादान कारणसे 'अन्य निमित्तकारण—कुलाल होता है, वैसे जगत्की उत्पत्तिमें ब्रह्मरूप उपादानसे

परमात्मा, जिस निर्विशेषमें भेदकल्पनासे है, उस निर्विशेष परमात्माको उक्तरूपसे कौन जानता है अर्थात् कोई नहीं जानता) इस श्रुतिमें कहा गया अशनकर्ता परमात्मा ही है, क्योंकि चर और अचरका अत्तृत्व परिगृहीत है, अतः जीव आदिका परिग्रह नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वह चराचरका अत्ता नहीं हो सकता।

'इत्याद्यधिकरणमें' आदि शब्दसे अन्तर्याम्यधिकरण [उ० मी० अ० १ पा० २ अ० ५ सू० १८] और जगद्वाचित्वाऽधिकरण [उ० मी० अ० १ पा० ४ अधि० ५ सू० १६] ये दो अधिकरण लिये जाते हैं।

सर्वसंहर्तृत्वादिमें आदि शब्दसे सर्वनियन्तृत्वरूप सर्वस्थितिकर्तृत्व और सर्वजगदुपत्तिकर्तृत्व इन दोनोंका ग्रहण करना चाहिए।

जगदुपादानम्, तज्जन्मनि घटजन्मनि कुलालवत्, तत्स्थितौ राज्यस्थेमनि राजवच्च उपादानादन्यदेव निमित्तं भविष्यतीति शङ्काव्यवच्छेदाय तस्यैव जगज्जननजीवननियामकत्वमुक्तम् । तथा चैकमेवेदं लक्षणम् अभिन्ननिमित्तोपादानतयाऽद्वितीयं ब्रह्मोपलक्षयतीत्याहुः ॥ २ ॥

तत्रोपादानता विश्वविवर्ताश्रयता चितः ।
स्वाभिन्नन्यूनसत्ताऽर्थो विवर्त इति कथ्यते ॥ १६ ॥

लक्षणमें जो उपादानता है, वह ब्रह्मकी समस्त प्रपञ्चरूपसे विवर्ताश्रयतारूप है और विवर्त उसे कहते हैं—जो उपादानरूपसे अभिमत वस्तुसे अभिन्न होकर न्यूनसत्तावाला हो ॥ १६ ॥

ब्रह्मणश्च उपादानत्वम् अद्वितीयकूटस्थचैतन्यरूपस्य न परमाणूनामिवारम्भकत्वरूपम्, न वा प्रकृतेरिव परिणामित्वरूपम्, किन्त्वविद्यया वियदादिप्रपञ्चरूपेण विवर्तमानत्वलक्षणम् ।

अन्य कर्तृरूप कोई निमित्तकारण होगा। जैसे पालनरूप राज्यकी स्थिरतामें पालनीय प्रजा आदिके उपादानसे भिन्न राजा निमित्त कारण है, वैसे ही जगत्की स्थिति और पालनमें उपादानसे अन्य नियन्तृरूपसे स्थितिहेतुभूत कोई निमित्त कारण होगा, इस प्रकारकी शङ्काका निराकरण करनेके लिए उसी एक ही ब्रह्ममें श्रुति द्वारा जगज्जननजीवननियामकता—जगत्के जन्म और पालनके प्रति कारणता कही गई है, अतः जगज्जन्मनियामकता और जगत्पालननियामकतासे जगदुपादानमें ही जगत्के जनन आदिके प्रति निमित्तकारणताके सिद्ध होनेपर यह श्रुति द्वारा कहा गया जगज्जन्म-स्थिति-लयकारणत्वरूप एक ही लक्षण होकर अभिन्ननिमित्तोपादानत्वरूपसे अद्वितीय ब्रह्मको उपलक्षित करता है—ब्रह्मसे भिन्न वस्तुके अस्तित्वकी शङ्काके निराकरण द्वारा अद्वितीय ब्रह्मका बोधन करता है। तीन लक्षण इस अर्थके प्रतिपादक नहीं हैं, यह भाव है ॥२॥

अद्वितीय कूटस्थ चैतन्यरूप ब्रह्ममें जो जगत्की उपादानकारणता है, वह परमाणुओंके समान आरम्भकत्वरूप नहीं है अथवा प्रकृतिके समान परिणामितारूप भी नहीं है, किन्तु अविद्यासे आकाश आदि प्रपञ्चके आकारसे विवर्तमानतारूप है।

वस्तुनस्तत्समसत्ताकोऽन्यथाभावः परिणामः, तदसमसत्ताको विवर्त इति वा; कारणसलक्षणोऽन्यथाभावः परिणामः, तद्विलक्षणो विवर्त इति वा;

[नैयायिकोंके मतमें द्व्यणुक आदि जगत्‌के प्रति परमाणु उपादान कारण होते हैं, परन्तु आरम्भकत्वरूपसे होते हैं तथा साङ्ख्यमतावलम्बी प्रकृतिको परिणामितारूपसे जगत्‌के प्रति उपादान कारण मानते हैं, इन दो मतोंके अनुसार अर्थात् आरम्भकत्व और परिणामित्व रूपसे ब्रह्मको जगत्‌के प्रति उपादान कारण नहीं मानना चाहिए, क्योंकि जो कूटस्थ अद्वितीय चैतन्यात्मा है, वह आरम्भक नहीं हो सकता और परिणामवादमें परिणाम और परिणामीका अभेद होनेसे ब्रह्ममें भी विकारिता और जन्म आदिकी प्रसक्ति होगी, अतः उक्त दोनों पक्ष सङ्गत नहीं हैं, इसलिए अविद्या द्वारा प्रपञ्चरूपसे विवर्तमानतारूप उपादानता ही ब्रह्ममें अभीष्ट है अर्थात् जैसे रज्जु आदिमें आरोपित सर्प आदिकी अधिष्ठानता है, वैसे ही ब्रह्ममें जगद्रूप विवर्ताधिष्ठानता है, यह भाव है। इसपर एक विचार होता है कि ब्रह्म और उसके विवर्त जगत्‌का परस्पर अभेद सिद्धान्तमें माना जाता है, अतः आरम्भवादमें आरभ्य और आरम्भकका अभेद न होनेसे उसके त्याग करनेपर भी परिणामवादमें अभेदका सम्भव होनेसे परिणामवाद और विवर्तवादमें कोई वैषम्य सिद्ध नहीं होता है? इसलिए विवर्त और परिणामके भिन्न स्वरूप प्रदर्शनार्थ उनके पृथक् पृथक् लक्षण करते हैं—]

उपादानरूपसे अभिमत वस्तुकासमान सत्तावाला अन्यथाभाव—पूर्वरूपकी अपेक्षा अन्यरूपसे अवस्थान—परिणाम है और उपादानसे विलक्षणसत्तावाला अन्यथाभाव विवर्त है। अथवा कारण—उपादानकारणका समानलक्षण—समानधर्मी अन्यथाभाव परिणाम है और उपादानसे विलक्षण—असमानधर्मी—अन्यथाभाव विवर्त है *।

* वस्तुनस्तत्समानसत्ताकोऽन्यथाभावः—इस लक्षणमें वस्तुशब्दसे उस वस्तुका ग्रहण है, जो उपादानत्वरूपसे अभिमत हो, पूर्वरूपकी अपेक्षा अन्यरूपसे अवस्थान—अन्यथाभाव अर्थात् अवस्थाविशेष, यह कैसा होना चाहिए? तत्समानसत्ताक—तेन समा सत्ता यस्य—अन्यथाभावस्य स तथा अर्थात् उपादानभूत वस्तुकी सत्ता और उससे उत्पन्न हुए कार्यकी सत्ता समान होनी चाहिए, यह भाव है। जैसे—मृत्तिकाका परिणाम है—घट, घटका उपादान कारण है—मृत्तिका और घट है मृत्तिकाका अन्यथाभाव, घटकी जो व्यावहारिक सत्ता है, वही उपादान कारण मृत्तिकाकी

[टिप्पणी]

है, अतः घटरूप मृत्तिकाके अन्यथाभावमें मृत्तिकारूप उपादानकी समानसत्ता होनेसे घट मृत्तिकाका परिणाम हुआ। ब्रह्मका जगत् परिणाम नहीं हो सकता है, क्योंकि ब्रह्मकी सत्ता त्रिकालाबाधित है अर्थात् पारमार्थिक है और जगत्की सत्ता व्यावहारिक है। उपादानका अन्यथाभाव उपादानकी सत्तासे यदि विषमसत्तावाला हो, तो वह विवर्त होगा, जैसे—शुक्तिका विवर्त है—रजत। शुक्ति और उसमें उत्पन्न प्रातीतिक रजतकी समान सत्ता नहीं है, क्योंकि शुक्तिकी व्यावहारिक सत्ता है और रजतकी प्रातिभासिक सत्ता है। इन लक्षणोंका परिष्कार इस प्रकार किया जाता है—उपादानत्वाभिमतवस्तुसत्तासमानसत्ताकत्वे सति तदवस्थाविशेषरूपत्वम्—तत्परिणामत्वम्। सत्यन्त अर्थात् विशेषण दल इसलिए दिया गया है कि विवर्तमें अतिव्याप्ति दोष न हो और विशेष्य दल इसलिए दिया गया है—घट आदिमें तन्तु आदिके परिणामत्वका निराकरण हो। इसी प्रकार विवर्तका लक्षण—'उपादानत्वाभिमतवस्तुसत्ताविषमसत्ताकत्वे सति तदवस्थाविशेषरूपत्वम्' है। परिणामका वारण करनेके लिए सत्यन्त विशेषण है और विशेष्यदल ब्रह्ममें मृत्परिणामत्वकी व्यावृत्तिके लिए है। ये उपर्युक्त दो लक्षण पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ताओंको मानकर किये गये हैं। यदि ये तीन सत्ताएँ न मानी जायँ और घट, शुक्ति, रजत आदि सब जगह ब्रह्मस्वरूपसत्ता ही मान ली जाय, तो इस पक्षमें उक्त दो लक्षण परिणाम और विवर्तके नहीं होंगे, इसलिए 'कारणसलक्षणो' इत्यादिसे परिणाम और विवर्तका अन्य लक्षण करते हैं। इसका अर्थ होगा 'उपादानत्वाभिमतवस्तुलक्षणसमानलक्षणत्वे सति तदवस्थाविशेषत्वं तत्परिणामत्वम्' यहाँ जडत्वरूप धर्मसे सालक्षण्य सजातीयत्व विवक्षित है अर्थात्—उपादानत्वरूपसे गृहीत जो वस्तु है उसके जडत्वरूप धर्मसे सजातीय उपादानकी अन्य अवस्था परिणाम होगी, मृत्तिकाके परिणाम घटमें यह घटता है—उपादानभूत वस्तु है मृत्तिका और उसकी अन्य अवस्था है—घट, इन उपादान और उपादेयमें जडत्वरूप धर्मके अस्तित्वसे सजातीयता है। ब्रह्मके विवर्त जगत्में, चेतनत्वके न होनेसे, ब्रह्मरूप-उपादानसजातीयताका अभाव है, अतः ब्रह्मके विवर्त जगत्में परिणामका लक्षण नहीं गया, इसलिए अतिव्याप्ति दोष नहीं है। मृत्तिकामें घटके परिणामत्वका वारण करनेके अभिप्रायसे विशेष्य दलका प्रवेश है और प्रपञ्चमें संवित्का परिणामत्व न हो, अतः सत्यन्त विशेषण है, यह समझना चाहिए।

विवर्तका लक्षण होगा—'उपादानत्वाभिमतवस्तुविलक्षणत्वे सति तदवस्थाविशेषत्वम्' अर्थात् उपादानत्वरूपसे परिगृहीत वस्तुसे विलक्षण होकर उस उपादानरूप वस्तुका अवस्थाविशेष विवर्त है, यहाँ चित्त्व और जडत्व रूप धर्मोंसे विलक्षणता विवक्षित है। शुक्ति-रजतमें, जो शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यका विवर्त है, उक्त लक्षणका समन्वय भली भाँति होता है, शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य ही अविद्याके समवधानसे रजताकारसे विवर्तभावको प्राप्त होता है, अतः चैतन्यसे रजत अवश्य विलक्षण हुआ, क्योंकि चैतन्यमें चित्त्वधर्म है और रजतमें जडत्व है, इसी प्रकार ब्रह्म और जगत्में भी चित्त्व और जडत्वसे वैलक्षण्य होनेसे ब्रह्मके विवर्त जगत्में भी लक्षणसमन्वय हो जायगा। चैतन्यमें जडविवर्तत्वके परिहारके लिए विशेष्यदल है और मृत्परिणाम घट आदिमें मृद्विवर्तत्वके निराकरणके लिए विशेषणांश है।

कारणाभिन्नं कार्यं परिणामः, तदभेदं विनैव तद्व्यतिरेकेण दुर्वचं कार्यं विवर्तः इति वा विवर्तपरिणामयोर्विवेकः ॥ ३ ॥

अथवा उपादान कारणसे अभिन्न कार्य परिणाम है और उपादानसे अभिन्न न होकर उपादानके विना दुर्वच—जिसका निर्वचन करना सम्भव नहीं ऐसा कार्य विवर्त है। इस प्रकार विवर्त और परिणाममें भेद है* ॥३॥

* अन्य रीतिसे भी विवर्त और परिणामके लक्षण कहते हैं—'उपादानकारणत्वाभिमतवस्त्वभिन्नत्वे सति तत्कार्यत्वम्, परिणामत्वम्'। अर्थात् कारणरूपसे मानी जानेवाली वस्तुसे अभिन्न होकर उसका जो कार्य हो, वह परिणाम। घट मृत्तिकासे अभिन्न भी है और मृत्तिकाका कार्य भी है, अतः लक्षणसमन्वय है।

और 'तदभेदं विनैव तद्व्यतिरेकेण दुर्वचं कार्यं विवर्तः' इस मूलसे कार्यरूप विवर्तका ही लक्षण किया गया है, क्योंकि मूलकारने लक्षणमें कार्यशब्दका प्रक्षेप किया है, अथवा लक्षणमें कार्यत्वकी अविवक्षा करनी चाहिए, इससे अनादि अविद्यामें भी, जो ब्रह्मविवर्त है, विवर्तत्वका लक्षण घट जायगा और अव्याप्ति नहीं होगी। 'तदभेदं विना' इसका अर्थ—वस्तुगत् अभेदके विना, अतः प्रातीतिक अभेद होनेपर भी असङ्गति नहीं है। इसलिए कार्यरूप विवर्तके लक्षणका परिष्कार हुआ—'उपादानत्वाभिमतवस्तुनः सकाशात् वस्तुतो भेदाभेदाभ्यां दुर्निरूपत्वे सति कार्यत्वम्'। अविद्यामें अतिव्याप्तिका वारण करनेके लिए विशेष्यदल है। आरम्भवादमें और परिणामवादमें क्रमशः अभेद और भेदसे कार्यका निरूपण अशक्य होनेसे उस स्थलमें दोषवारण करनेके लिए 'भेदाऽभेदाभ्याम्' इतना लक्षणकुक्षिमें निविष्ट है, सिद्धान्तमें कार्य और कारणमें अभेदका उपगम होनेसे असम्भवका वारण करनेके लिए 'वस्तुतः' कहा गया है।

कार्य और कारणका परस्पर भेद है या अभेद है, इसका निर्वचन नहीं कर सकते, क्योंकि उनका यदि भेद माना जाय, तो उसपर यह शङ्का होती है कि 'घट ही मृत्तिका है, तन्तु ही पट हैं और सुवर्ण ही कुण्डल है, इस प्रकार सामानाधिकरण्य कैसे होगा, भेदमें सामानाधिकरण्य नहीं देखा जाता। अन्यथा रासभ और उष्ट्रका भी परस्पर सामानाधिकरण्य होने लगेगा, और विशेषरूपसे समालोचना करनेपर मृत्तिकासे पृथक् घट या तन्तुओंसे अतिरिक्त पट देखनेमें नहीं आता। यदि कारण और कार्य भिन्न होते तो अवश्य कार्य और कारणका पृथक्‌रूपसे अस्तित्व देखा जाता।

दूसरी बात यह है कि कारकव्यापारके पूर्व क्षणमें भी मृत्तिकामें घटकी सत्ताका स्वीकार करना चाहिए, ऐसा न माननेपर शशशृङ्गके समान असत् पदार्थकी उत्पत्तिके अभावका प्रसङ्ग आवेगा और उत्पत्तिकालके पूर्वमें असत् कार्यको माननेमें उत्पत्ति क्रियाके प्रति कर्तृत्वकी उपपत्ति नहीं होगी और शशशृङ्ग आदि असत् पदार्थोंकी भी उत्पत्ति प्रसक्त होगी। इन युक्तियोंसे हम कार्यके अस्तित्वका स्वीकार करनेके लिए बाध्य होते हैं तो पूर्वमें कार्य और कारणके अभेदकी सिद्धि भी

अथ शुद्धमुपादानमीश्वरो जीव एव वा ।
शुद्धं सङ्क्षेपकमते ज्ञेयलक्षणवर्णनात् ॥ १७ ॥

अब संशय होता है कि शुद्ध ब्रह्म उपादान है या ईश्वररूप या जीवरूप ? इसमें शुद्ध ब्रह्म उपादान है, ऐसा संक्षेपशारीरककारका मत है, क्योंकि ज्ञेय ब्रह्मका ही लक्षण किया गया है ॥ १७ ॥

अथ शुद्धं ब्रह्म उपादानमिष्यते, ईश्वररूपम्, जीवरूपं वा । अत्र

अब ब्रह्ममें सामान्यरूपसे उपादानत्वके ज्ञात होनेके बाद जिज्ञासा होती है कि जिस ब्रह्मको समस्त जगत्‌के प्रति उपादान कारण मानते हो, क्या वह

अगत्या माननी होगी, और इसीसे उत्तर क्षणमें भी अभेदकी ही सिद्धि होगी, इस प्रकार सांख्यमतानुयायी कहते हैं। कार्य और कारणका भेद माननेवाले नैयायिक लोग कहते हैं कि कार्यकारणका अभेद नहीं हो सकता, क्योंकि जो एक ही वस्तु है उसमें कार्यकारणभाव किसी भी प्रमाणके बलसे सिद्ध नहीं हो सकता अर्थात् एक वस्तुमें अपना कार्यत्व और कारणत्व ये विरुद्ध धर्म कैसे रह सकेंगे और कार्य और कारणका अभेद माननेसे अर्थक्रियाके भेदका अभाव भी होगा—अन्यथा जलका आहरण मृत्तिकासे भी प्रसक्त होगा, क्योंकि अभेदवादियोंके मतमें घट और मृत्तिका एक ही हैं। और मृत्तिकाके समान घटसे भी घटकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग आवेगा। इस प्रकार भेदवादी और अभेदवादीसे दर्शित युक्तियोंसे परस्पर प्रतिक्षेप नहीं कर सकते हैं, अतः कार्यका कारणके साथ भेद है या अभेद है तथा कार्यके पूर्वकालमें कार्यका सत्त्व है या असत्त्व है, इसका निरूपण करना असम्भव होनेसे अर्थात् उसे अनृत ही मानना होगा। और जो कारण है, वह तो कार्यके पूर्वकाल और कार्यकालमें अनुवर्तमान है। अतः उसका कार्यसे पृथक्‌रूपतया निरूपण कर सकते हैं, इसलिए कार्यकी अपेक्षा कारण सत्य होगा, यद्यपि मृत्तिका आदि अवान्तर कारण तत्तत् कार्योंकी तुलनामें सत्यसे हैं, परन्तु पारमार्थिक सत्यता तो उनमें नहीं ही है, क्योंकि 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (घट आदि विकारोंका केवल वाणीसे ही व्यवहार होता है, अतः उनका नाम मात्र है, कोई अर्थ नहीं है—अर्थात् वस्तुके न रहनेपर भी 'पुरुषस्य चैतन्यम्' इत्यादिके समान 'घट है' इस प्रकार विकल्प मात्र होता है, तो सत्य क्या है ? इसपर श्रुति कहती है 'मृत्तिकेत्येव' अर्थात् कारणरूपसे प्रतीयमान मृत्तिका ही सत् वस्तु है) इस प्रकारकी श्रुति ब्रह्मव्यतिरिक्त सब प्रपञ्चका असत्य और बाधितरूपसे बोधन करती है। यह श्रुति केवल दृष्टान्तरूपमें है—अर्थात् जैसे घट आदि स्थूल विकारोंमें अनुवर्तमान मृत्तिका सत्य है, वैसे ही समन्तात् दृश्यमान पदार्थोंमें अनुवर्तमान 'सत्' पदार्थ ही कारणरूपसे सत्य है और इतर असत्य हैं, इस प्रकार प्रपञ्च, अनिर्वाच्य होनेसे, अनृत है और दुर्वच है, इसलिए मूलकारने ठीक कहा है कि 'तद्व्यतिरेकेण दुर्वचम्' इत्यादि। यहाँ व्यतिरेक शब्दका अर्थ भेद है।

सङ्क्षेपशारीरकानुसारिणः केचिदाहुः—शुद्धमेवोपादानम्, जन्मादिसूत्र-तद्भाष्ययोरुपादानत्वस्य ज्ञेयब्रह्मलक्षणत्वोक्तेः ।

शुद्ध ब्रह्म है या ईश्वररूप ब्रह्म है अथवा जीवरूप ब्रह्म है ? * ।

इस प्रश्नके उत्तरमें संक्षेपशारीरकके मतमें श्रद्धा रखनेवाले कुछ लोग कहते है कि शुद्ध ब्रह्म † ही उपादान है, क्योंकि 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रमें

---

* शुद्ध ब्रह्म उपादान कारण है, इस विषयमें संक्षेपशारीरकमें यों श्लोक मिलता है—

निमित्तं च योनिश्च यत्कारणं तत्
परब्रह्म सर्वस्य जन्मादिभाजः ।
इति स्पष्टमाचष्ट एषा श्रुतिर्नः
कथं सिद्धवल्लक्षणं सिद्धिवाग्यम् ॥ [सं०शा०अ०१ श्लो० ५५३]

इस श्लोकका अर्थ है—सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयके प्रति उपादान और निमित्तभूत जो कारण है, वह परब्रह्म—शुद्धब्रह्म ही है, ऐसा 'यतो वा' इत्यादि श्रुति स्पष्टरूपसे कहती है अर्थात् यद्यपि ऐसा कारण लोकमें प्रसिद्ध नहीं है, तथापि जगज्जन्म आदिके उपादानरूपसे अपूर्व ब्रह्मका श्रुतिप्रतिपादन करती है, अतः यह लक्षणस्वरूपका असाधक किसी रूपसे भी नहीं होगा । इससे यह ज्ञात होता है कि संक्षेपशारीरकके सिद्धान्तमें शुद्ध ब्रह्म ही जगत्का उपादान माना गया है । और 'तद् ब्रह्म' इसके सान्निध्यसे 'यतो वा' इत्यादिसे जगत्के कारणत्वरूपसे प्रतिपादित ब्रह्म ही लेना चाहिए यह 'लोकप्रसिद्धार्थपदान्तराणाम्' (सं० शा० अ० १ श्लो० २९०) इत्यादि श्लोकमें विशेष स्पष्ट शब्दोंसे कहा गया है, अतः अधिक विषय वहींसे जानना चाहिए ।

† यहाँ आदिशब्दसे 'सोऽकामयत' (उस ब्रह्मने इच्छा की प्रजारूपमें अनेक होऊँ) 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (जो सर्वज्ञ है विशेषरूपसे ज्ञानवान् है) इत्यादि अनेक श्रुतियोंका उद्धरण करना चाहिए । भाव यह है कि यदि शुद्ध ब्रह्म जगत्के प्रति उपादान है, तो उक्त वाक्य, जो ईश्वरके कारणत्वका प्रतिपादन करते हैं, अप्रामाण होंगे, क्योंकि शुद्ध ब्रह्ममें इच्छा और ज्ञानक्रियाकी कर्तृता नहीं हो सकती है, इसलिए शुद्ध ब्रह्म जगत्का उपादान नहीं है, यह श्रुतिसे प्रतीत होता है, परन्तु ईश्वररूप ब्रह्म जगत्का कारण प्रतीत होता है, इसपर संक्षेपशारीरककारके अनुयायी कहते हैं कि उक्त वाक्योंमें कहे गये शबलवाची आत्मशब्दकी शुद्धमें लक्षणा करते हैं, अतः उन वाक्योंसे भी शुद्ध ब्रह्म ही बोधित होता है । इस कल्पनामें केवल हेतु है—'जन्माद्यस्य यतः' यह सूत्र और इसका भाष्य । 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रका अर्थ है—समस्त जगत्के उत्पत्ति, स्थिति और लय जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है । है, इस मतके पक्षपातियोंका कहना यह है कि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (साधनसम्पत्तियुक्त होनेके अनन्तर ब्रह्मसम्बन्धी विचार करना चाहिए) इस सूत्रमें ज्ञेयरूपसे उसी ब्रह्मकी प्रतिज्ञा की गई है, जो निर्गुण सच्चिदानन्दरूप है, अतः 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्रसे निर्गुण ब्रह्मका

तथा च 'आत्मन आकाशः सम्भूतः" इत्यादिकारणवाक्येषु शबलवाचिनामात्मादिशब्दानां शुद्धे लक्षणैवेति ।

सार्वात्म्यस्येशलिङ्गत्वात् यः सर्वज्ञ इति श्रुतेः ।
मायोपहितमीशं तदाहुर्विवरणानुगाः ॥ १८ ॥

'एव ऋक् तत्साम' इत्यादि श्रुतिसे कहा गया सर्वात्मकत्व ईश्वरमें लिङ्ग है और 'यः सर्वज्ञः' इस प्रकार श्रुति है; अतः जगत्‌का उपादान मायोपाधिक चैतन्य अर्थात् ईश्वर ही है, ऐसा विवरणानुसारी कहते हैं ॥ १८ ॥

विवरणानुसारिणस्तु—'यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते' इति श्रुतेः सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं मायाशबलमीश्वररूपमेव ब्रह्म उपादानम् ।

और उसके भाष्यमें जगदुपादानत्व ज्ञातव्य ब्रह्मका लक्षण कहा गया है ।

इसलिए 'आत्मन आकाशः०' (आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादि ‡ कारणप्रतिपादक वाक्योंमें शबलवाची-मायासे युक्त चैतन्यके बोधक—'आत्म' शब्दोंकी शुद्धमें लक्षणा ही है ।

'यः सर्वज्ञः सर्ववित्०' (जो सर्वज्ञ और सर्ववित् है, जिसका तप ज्ञानमय—स्वरूपज्ञानका विकार है, उस सर्वज्ञ ब्रह्मसे हिरण्यगर्भ, नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होते हैं) इस श्रुतिसे सर्वज्ञत्व आदि धर्मोंसे युक्त मायासे

ही लक्षण किया जाता है, यह अवश्य स्वीकार करना होगा, अन्यथा अप्रतिज्ञातके लक्षणका प्रसङ्ग होगा, अतः सूत्र-भाष्यकी मर्यादाका संरक्षण करनेके लिए उन शबलवाची आत्मार्थक शब्दोंकी शुद्धमें लक्षणा करनी होगी, यह संक्षेपशारीरककारके अनुयायियोंका मत है ।

‡ यद्यपि 'तद्विजिज्ञासस्व' इत्यादि वाक्यशेषसे शुद्ध ब्रह्म ही जिज्ञास्य है और उसका 'यतो वा' इत्यादि श्रुतिसे लक्षण किया गया है, अतः इस शङ्काका अवसर नहीं है कि शुद्ध ब्रह्म कारण है या जीवरूप या ईश्वर, तथापि जैसे शुद्ध ब्रह्म जिज्ञास्य है, वैसे ही जीव और ईश्वर, जो 'त्वम्' और 'तत्' शब्दसे वाच्य हैं, जिज्ञास्य हैं, क्योंकि वे भी शुद्ध ब्रह्मके ज्ञानके प्रति हेतु हैं, अतः उनमें भी जगत्‌के प्रति उपादानता है, इसलिए शङ्काका होना सम्भव है, और चैतन्यके तीन भेद भी शास्त्रमें मिलते हैं—

जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा ।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः ॥

अर्थात् जीव, ईश्वर, शुद्ध चैतन्य (ब्रह्म), जीव और ईश्वरका भेद, अविद्या और चित्‌का सम्बन्ध, ये छः अनादि हैं, इनमें चैतन्यके तीन भेद प्रतीत होते हैं, अतः प्रश्न होता है ।

अत एव भाष्ये 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' (उ० मी० अ० १ पा० १

शबल अर्थात् मायारूप उपाधिसे विशिष्ट * ईश्वररूप ब्रह्म ही जगत्के प्रति उपादान है, ऐसा ज्ञात होता है।

इसीसे—ईश्वररूप ब्रह्म ही उपादान है, ऐसा स्वीकार करनेसे †'अन्त-

---

* 'मायाविशिष्ट ब्रह्म ही जगत्के प्रति उपादान है' यह विवरणका मत है, अतः इसकी परिपुष्टि करनेके लिए हम यहाँ विवरणकी कुछ पङ्क्तियाँ उद्धृत करते हैं—

''तस्मादनिर्वचनीयमायाविशिष्टं कारणं ब्रह्मेति प्राप्तम् ……… त्रैविध्यमत्र सम्भवति—रज्वाः संयुक्तसूत्रद्वयवत् मायाविशिष्टं ब्रह्म कारणमिति वा 'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इति श्रुतेः मायाशक्तिमत्कारणमिति वा, जगदुपादानमायाश्रयतया ब्रह्मकारणमिति वा। तत्र विशिष्टपक्षे तथैव ब्रह्मत्वेनोपलक्षितस्य ज्ञानानन्दादिस्वरूपलक्षणेन मायानिष्कर्षाल्लक्षणद्वयेन विशुद्धब्रह्मसिद्धिः। उत्तरपक्षयोस्तु मायाया ब्रह्मपरतन्त्रत्वात् तत्कार्यमपि ब्रह्मपरतन्त्रं भवति; यथांऽशुतन्त्रतन्त्वारब्धोऽपि पटोंऽशुतन्त्रः प्रतीयते। ततश्च उत्पद्यमानकार्यस्य यद् आश्रयोपाधिज्ञानानन्दलक्षणं च तद् ब्रह्मेति शुद्धब्रह्मलाभ इति''। (टीकानवकोपेत शा० पृ० ९०७ कल० मुद्रित) अर्थात् इससे अनिवर्चनीय मायासे विशिष्ट ब्रह्म ही जगत्का उपादान है, यह सिद्ध हुआ, इसमें तीन प्रकार भासते हैं—जैसे रज्जुके प्रति संयुक्त दो सूत्र कारण हैं, वैसे ही मायाविशिष्ट ब्रह्म कारण है—माया भी विशेषणरूपसे कारण है, अथवा 'देवात्मशक्तिम्' इत्यादि श्रुतिके अनुसार मायाशक्तिसे युक्त ब्रह्म कारण है, अथवा जगत्की उपादान मायाके आश्रयरूपसे ब्रह्म कारण है। प्रथम पक्षमें ब्रह्मका लक्षण—जगत्कारणस्वरूप मायामें जाता है, तथापि ज्ञानानन्दरूप स्वरूपलक्षणके प्रवेशसे शुद्ध ब्रह्म ही सिद्ध होगा। द्वितीयादि पक्षमें जैसे अंशुके (तन्तुके अवयवके) अधीन तन्तुसे आरब्ध पट अंशुतन्त्र ही है, वैसे ही ब्रह्मपरतन्त्र मायाका कार्य भी ब्रह्मपरतन्त्र ही होगा, इसलिए उत्पद्यमान कार्यका जो आश्रयोपाधि (अज्ञान सत्ताका हेतु) ज्ञान और आनन्द लक्षण है, वह ब्रह्म है, ऐसा सिद्ध होगा। इससे यह बात मालूम होती है—विवरणकार यद्यपि औपाधिक ब्रह्मको कारण मानते हैं, तथापि शुद्ध ब्रह्मकी सिद्धि तो किसी रूपसे होती ही है।

† 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' इस सूत्रके भाष्यमें विचार किया गया है कि छान्दोग्यमें 'एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः' (जो यह सूर्यके अन्दर ज्योतिःस्वरूप पुरुष है) इत्यादिका उपक्रम करके 'य एषोन्तरऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (जो यह चक्षुके भीतर पुरुष देखा जाता है) इत्यादि सुना जाता है। यहांपर संशय होता है—आदित्य और आँखके अन्दर रहनेवाला कोई विशिष्ट जीव है या ईश्वर है। पूर्वपक्षीके अभिप्रायसे जीवके प्राप्त होनेपर सिद्धान्त करते हैं कि आदित्य आदिमें रहनेवाला ईश्वर ही है, क्योंकि उन श्रुतियोंमें ईश्वरके धर्मोंका कथन मिलता है—सर्वात्मकत्व—सर्वतादात्म्यत्वरूप धर्म सर्वोपादान होनेसे ईश्वरमें ही है, जीवमें नहीं है, कारण कि जीव अल्पज्ञ और अल्पशक्ति होनेसे जगत्के प्रति कारण नहीं है। अतः सर्वात्मकत्व उसमें नहीं हैं, इसलिए आदित्य आदिके अन्दर रहनेवाला पुरुष जीव नहीं है। और

सू० २०) 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्' (उ० मी० अ० १ पा० २ सू० १) इत्याद्यधिकरणेषु 'सैव ऋक् तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद् ब्रह्म सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' इत्यादिश्रुत्युक्तं सर्वोपादानत्वप्रयुक्तं सर्वात्मकत्वं जीवव्यावृत्तमीश्वरलिङ्गमित्युपवर्णितम् ।

जीवेश्वरानुस्यूतचैतन्यमात्रस्य सर्वोपादानत्वे तु न तज्जीवव्यावृत्तमीश्वरलिङ्गं स्यात् । सङ्क्षेपशारीरके शबलोपादानत्वनिराकरणमपि माया-

---

स्तद्धर्मोपदेशात्' और 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्' ‡ इत्यादि अधिकरणोंके भाष्यमें 'सैव ऋक् तत्साम०' (वही—चक्षुके अन्दर रहनेवाला पुरुष ऋक् है, वही साम है, वही उक्थ है, वही यजु है और वही ब्रह्म—वेद है अर्थात् ऋक् आदिसे अतिरिक्त वेद है) इत्यादि श्रुतिसे कहा गया जीवव्यावृत्त—जीवमें नहीं रहने वाला सर्वोपादानताप्रयुक्त जो सर्वात्मकत्व है, वह ईश्वरका लिङ्ग कहा गया है ।

यदि जीव और ईश्वरमें अनुगत केवल शुद्ध चैतन्य ही सबके प्रति उपादान कारण माना जाय, तो वह सर्वात्मकत्व जीव-व्यावृत्त ईश्वरलिङ्ग नहीं होगा । शबलवाची चैतन्यमें उपादानकारणताका निराकरण संक्षेपशारीरकमें जो किया गया है, वह भी मायाविशिष्ट चेतन उपादान कारण नहीं है, इस अभिप्रायसे है अर्थात् मायाके विम्बरूप ईश्वरके विशेषण होनेसे जो उसका

भगवान् भाष्यकारने '..........ऋक् सामाद्यात्मकतां निर्धारयति । सा च परमेश्वरस्यैवोपपद्यते, सर्वकारणत्वात् सर्वात्मकत्वोपपत्तेः' इस पंक्तिसे सर्वोपादानत्वप्रयुक्त जो सर्वात्मकत्व है, वह 'आदित्य आदिमें रहनेवाला जीव नहीं है, प्रत्युत ईश्वर है' इस प्रकार जीवव्यावृत्त ईश्वरके परिग्रहमें लिंगरूपसे कहा गया है । 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' इस सूत्रका अर्थ है—अन्तः आदित्य आदिके अन्दर रहनेवाला पुरुष [ईश्वर ही है किससे ? इससे कि] तद्धर्मोपदेशात् यहां ईश्वरके धर्मका उपदेश है ।

‡ 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्' इस सूत्रमें भी 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (यह सब ब्रह्म है) इसका उपक्रम करके 'स क्रतुं कुर्वीत' (वह उपासना करे) इस प्रकार उपासनाका विधान किया है । अनन्तर 'मनोमयः प्राणशरीरः' (मनोमय—मन-प्रधान और प्राणशरीरवाला) इत्यादिसे वह उपास्य कहा गया है । इसमें मनोमय आदिसे जीवका ग्रहण होता है अथवा परब्रह्मका ? इस प्रकार संशय होता है, पूर्वपक्षमें जीव प्राप्त होता है, परन्तु सिद्धान्तमें ईश्वर ही मनोमय आदिसे लिया गया है, क्योंकि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादिसे सर्वात्मकत्वका अभिधान है ।

विशिष्टोपादानत्वनिराकरणाभिप्रायम्, न तु निष्कृष्टेश्वररूपचैतन्योपादानत्वनिराकरणपरम्। तत्रैव प्रथमाध्यायान्ते जगदुपादानत्वस्य तत्पदार्थवृत्तित्वोक्तेः। एवं च ईश्वरगतमपि कारणत्वं तदनुगतमखण्डचैतन्यं शाखाचन्द्रमसमिव तटस्थतयोपलक्षयितुं शक्नोतीति तस्य ज्ञेयब्रह्मलक्षणत्वोक्तिरिति मन्यन्ते।

उपादानकुक्षिमें भी प्रवेश प्राप्त है, उसके निरासके लिए संक्षेपशारीरककारका प्रयास है, न कि बिम्बविशिष्ट चैतन्यरूप ईश्वर उपादान कारण नहीं है इस अभिप्रायसे। [अतः संक्षेपशारीरककारके साथ विरोध नहीं है, यह भाव है। परन्तु संक्षेपशारीरकमें 'शबल चेतन * जगत्का उपादान नहीं है' इस प्रकार साक्षात् औपाधिक चेतनमें जगत्कारणताका निषेध करके 'शुद्ध ब्रह्म ही जगत्का उपादान है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म ज्ञेयरूपसे उपन्यस्त है, ऐसा कहा गया है, अतः स्वारसिक अर्थको छोड़कर संक्षेपशारीरककारका स्वकपोलकल्पित विरुद्ध अर्थ कैसे करते हो? यदि कोई इस प्रकारकी शङ्का करे, तो वह युक्त नहीं है,] क्योंकि संक्षेपशारीरकमें ही प्रथम अध्यायके अन्तमें 'जगत्की उपादानता तत्पदार्थ—ईश्वरमें है' ऐसा कहा गया है। इस परिस्थितिमें—'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' इत्यादि अधिकरणोंके पर्यालोचनसे अभिन्ननिमित्तोपादानत्वरूप लक्षणके बिम्बभूत ईश्वरगत होनेपर ईश्वरमें रहनेवाली भी कारणता तटस्थरूपसे शाखास्थ चन्द्रमाके समान बिम्बरूपचैतन्यानुगत अखण्डचैतन्यकी उपलक्षण हो सकती है, अतः उसका ज्ञेय ब्रह्मके लक्षणरूपसे कथन (सूत्र और भाष्यमें)

---

* इस अभिप्रायका सूचक संक्षेपशारीरकका श्लोक देखिए—

स्वात्मानमेव जगतः प्रकृतिं यदेकम्,
सर्गे विवर्तयति तत्र निमित्तभूतम्।
कर्माकलय्य रमणीयकपूयमिश्रम्,
पश्यन्त्वृणां परिवृढं तदितीर्यमाणम् ॥५५०॥ [सं० शा० अ० १]

जो संसारकी उत्पत्तिमें एक चेतन निमित्तभूत है, वह प्राणियोंके पुण्य, पाप और मिश्र—इन त्रिविध कर्मोंका ठीक-ठीक आलोचन करता हुआ उनका ग्रहण करके तदनुसार स्वयं ही चेतनप्रकृतिरूप होकर मायासे जगदाकारेण विवर्तमान होता है, अतः वही सर्वज्ञ सर्वशक्ति-आदि स्वभाववाला ब्रह्म है और 'तद् ब्रह्म' आदि वाक्य भी इसी लक्षणको कहकर ब्रह्ममें ही समन्वित होता है।

ईश्वरो वियदादौ स्यात् जीवेशौ लिङ्गतद्गते ।
मायाऽविद्याभिदावादाः केचिदेवं प्रचक्षते ॥१९॥

आकाश आदि महाभूतोंकी सृष्टिमें ईश्वर उपादान है और लिङ्गशरीर, लिङ्गस्थ धर्म और सुख आदिमें जीव और ईश्वर दोनों उपादान कारण हैं, इस प्रकार माया और अविद्यामें भेद माननेवालोंमें से कुछ लोग कहते हैं ॥ १९ ॥

वियदादिप्रपञ्च ईश्वराश्रितमायापरिणाम इति तत्रेश्वर उपादानम् । अन्तःकरणादिकं तु ईश्वराश्रितमायापरिणाममहाभूतोपसृष्टजीवाविद्याकृतभूतसूक्ष्मकार्यमिति तत्रोभयोरुपादानत्वम् । अत एव 'एवमेवास्य परिपरिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति' इति श्रुतौ कलाशब्दवाच्यानां प्राणमनःप्रभृतीनां विदुषो विदेहकैवल्यसमये विद्यानिवर्त्याविद्याकार्यांशाभिप्रायेण विद्ययोच्छेदो दर्शितः ।

'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' इति श्रुत्यन्तरे तदनिवर्त्यमायाकार्य-

---

है, [अतः 'जन्माद्यस्य' इत्यादि सूत्र और उसके भाष्यके साथ विरोध नहीं है] ऐसा विवरणके अनुयायियोंका मत है ।

आकाश आदि महाभूतप्रपञ्च ईश्वरमें रहनेवाली मायाका परिणाम है अतः आकाश आदि महाभूतप्रपञ्चका उपादान है—ईश्वर । अन्तःकरण आदि प्रपञ्च तो ईश्वराश्रित मायाके परिणामभूत आकाश आदि उपष्टम्भकलक्षण महाभूतोंसे संसृष्ट जीवकी अविद्यासे उत्पन्न हुए सूक्ष्म भूतोंका कार्य है, इसलिए ईश्वर और जीव दोनों अन्तःकरण आदिके उपादान कारण हैं । इसीसे अर्थात् जीवकी अविद्यासे परिणत सूक्ष्म भूत और उसके उपष्टम्भक मायाके परिणाम महाभूत उपादानरूपसे अन्तःकरण आदिमें प्रविष्ट होनेसे 'एवमेवाऽस्य०' (जैसे गङ्गा आदि नदियां समुद्रको प्राप्त कर उसमें विलीन हो जाती हैं, वैसे ही सर्वत्र आत्मभावको देखनेवाले इस विद्वान् पुरुषकी ये सोलह कलाएँ, जिनका चिदात्मा—पुरुष ही अधिष्ठान है, पुरुषको प्राप्त कर उसीमें लीन हो जाती हैं) इस श्रुतिमें विद्वान्के विदेहकैवल्य-समयमें विद्यासे नष्ट होनेवाली अविद्याके कार्यांशके अभिप्रायसे कलाशब्दसे कहे जानेवाले प्राण, मन आदिका पुरुषमें विद्यासे विनाश बतलाया गया है ।

'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' (पन्द्रह कलाएँ प्रतिष्ठाके—पृथ्वी आदि

महाभूतपरिणामरूपोपष्टम्भकांशाभिप्रायेण तेषां स्वस्वप्रकृतिषु लयो दर्शित इति मायाऽविद्याभेदवादिनः ।

लिङ्गादौ जीव एवेति केचित्तत्रैकदेशिनः ।
महाभूतलयोक्तिस्तु कलानामन्यदृष्टितः ॥२०॥

माया और अविद्यामें भेद माननेवालोंमें से कुछ लोग लिङ्गशरीर और अन्तःकरण आदिका उपादान जीव ही है कलाओंकी महाभूतोंमें लयोक्ति तो तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिसे है, ऐसा कहते हैं ॥ २० ॥

यथा वियदादिप्रपञ्च ईश्वराश्रितमायापरिणाम इति तत्र ईश्वर उपादानम्, तथाऽन्तःकरणादि जीवाश्रिताविद्यामात्रपरिणाम इति तत्र जीव एव उपादानम् ।

न चान्तःकरणादौ मायाकार्यमहाभूतानामप्यननुप्रवेशे उदाहृतश्रुतिद्वयव्यवस्थाऽनुपपत्तिः । कलानां विद्ययोच्छेदश्रुतिस्तत्त्वविद्दृष्टिविषया ।

महाभूतोंके—प्रति गईं अर्थात् उनमें लीन हुईं) इस प्रकारकी अन्य श्रुतिमें जीवकी विद्यासे निवृत्त न होनेवाली मायाके कार्य महाभूतोंका परिणारूप जो उपष्टम्भक अंश है, उसके आधारपर उन पञ्चदश कलाओंका अपनी-अपनी प्रकृतिमें विलय बतलाया गया है, यह उन लोगोंका मत है, जो माया और अविद्याको भिन्न-भिन्न मानते हैं ।

माया और अविद्याको भिन्न माननेवालोंमें से कुछ लोगोंका मत है कि जैसे आकाश आदि महाभूत प्रपञ्च ईश्वरकी आश्रित मायाका परिणाम है, अतः आकाश आदि महाभूतप्रपञ्चमें ईश्वर उपादान है, वैसे ही अन्तःकरण आदि जीवकी आश्रित केवल अविद्याके परिणाम हैं, इसलिए उनमें जीव ही उपादान है, ईश्वर उपादान नहीं है ।

यदि कोई कहे कि मायाके कार्य जो महाभूत हैं, उनका अन्तःकरण आदिमें अनुप्रवेश न माना जाय, तो पूर्वमें उदाहृत दो श्रुतियोंकी व्यवस्था नहीं होगी, नहीं, व्यवस्था होगी, क्योंकि 'एवमेवास्य' इत्यादि प्राण, मन आदि कलाओंका विद्यासे उच्छेदबोधन करनेवाली जो श्रुति है, वह तत्त्वविद्दृष्टिविषयक है अर्थात् आत्मतत्त्वको जाननेवाला जो पुरुष है, उसकी जो दृष्टि—तत्त्वसाक्षात्कार तद्विषयक है—पुरुषमें कलालयश्रुति साक्षात्कारके अभिप्रायसे है,

'गताः कलाः' इति श्रुतिस्तु तत्त्वविदि म्रियमाणे समीपवर्तिनः पुरुषाः नश्यद्घटवत्तदीयशरीरादीनामपि भूम्यादिषु लयं मन्यन्ते इति तटस्थ-पुरुषप्रतीतिविषयेति व्यवस्थायाः कलालयाधिकरणभाष्ये स्पष्टत्वात्, इति मायाऽविद्याभेदवादिष्वेकदेशिनः ॥

मायाऽविद्यैक्यवादेऽपि जीवतादात्म्यदर्शनात् ।
जीव एव हि लिङ्गादेरुपादानमितीतरे ॥ २१ ॥

माया और अविद्याका अभेद माननेवालोंमें भी कुछ लोग अन्तःकरण आदिकी जीवके साथ तादात्म्यप्रतीति होनेसे अन्तःकरण आदिका जीव ही उपादान है, ऐसा कहते हैं ॥ २१ ॥

तदभेदवादिष्वपि केचित्—यद्यपि वियदादिप्रपञ्चस्य ईश्वर उपादानम्, तथाऽप्यन्तःकरणादीनां जीवतादात्म्यप्रतीतेः जीव एवोपादानम् ।

अत एवाऽध्यासभाष्ये अन्तःकरणादीनां जीवे एवाऽध्यासो दर्शितः ।

यह भाव है। और 'गताः कलाः०' इत्यादि श्रुति तो तत्त्वज्ञानीके मर जाने-पर समीपस्थ पुरुष जैसे चूर्णावशेष घटका विनाश भूमिमें देखते हैं, वैसे ही उसके शरीर आदिका भूमि आदिमें लय मानते हैं। इस प्रकार तटस्थपुरुष-विषयक है, ऐसी व्यवस्था कलालयाधिकरणभाष्यमें स्पष्टरूपसे की गई है।

माया और अविद्याको जो अभिन्न मानते हैं, उनमेंसे कुछ लोग कहते हैं—यद्यपि आकाश आदि महाभूतप्रपञ्चका ईश्वर ही उपादान है, तथापि अन्तःकरण आदिमें जीवके तादात्म्यकी प्रतीति होनेसे उनका—अन्तःकरण आदिका—जीव ही उपादान है *।

इसीसे अध्यासभाष्यमें अन्तःकरण आदिका जीवमें ही अध्यासभ्रम बत-

---

* माया ही अविद्या है और वह ईश्वरकी उपाधि है अर्थात् मायाशबलित चैतन्य ईश्वर है और प्रतिबिम्बभूत जीवोंकी उपाधियाँ अन्तःकरण हैं, इस रीतिसे माया और अविद्याको अभिन्न मानकर व्यवस्था करनेवालोंमें से भी भेदवादियोंके समान कुछ लोग अन्तःकरण आदिमें जीवको उपादान मानते हैं। 'तदभेदवादिष्वपि' इसमें 'अपि' शब्दसे पूर्व मतके साथ किसी अंशमें समानता है, यह प्रतीत होता है और उस विशेषताका 'तथापि' ग्रन्थसे स्पष्टीकरण होता है अर्थात् जैसे ईश्वरमें रहनेवाली मायाके परिणामी होनेसे महाभूतोंके प्रति ईश्वर उपादान है वैसे ही माया और अविद्याके अभिन्न होनेसे अविद्यापरिणामी अन्तःकरण आदि भी ईश्वरा-

विवरणे च प्रतिकर्मव्यवस्थायां ब्रह्मचैतन्यस्योपादानतया घटादिसङ्गित्वम्, जीवचैतन्यस्य तदसङ्गित्वेऽप्यन्तःकरणादिसङ्गित्वं च वर्णितमित्याहुः ॥

लाया गया है। और विवरणमें भी प्रतिकर्मव्यवस्थाके प्रतिपादक † ग्रन्थमें ब्रह्मके उपादान होनेसे ब्रह्मचैतन्यका घटके साथ तादात्म्य है, और घटादिके प्रति उपादान न होनेसे जीवका घटादिके साथ तादात्म्य न रहनेपर भी अन्तःकरण आदिके साथ जीवकी सङ्गिता—तादात्म्य है' इस प्रकार वर्णन किया गया है।

श्रित मायाके ही परिणाम हैं। अतः उनके प्रति ईश्वर ही उपादान क्यों न माना जाय ? इस प्रकारकी शङ्काका परिहार 'तथापि' इत्यादिसे किया गया है—'अहं काणः' (मैं काना हूँ) 'अहं कर्ता', (मैं कर्ता हूँ) 'अहं मूकः', (मैं मूक हूँ) और 'अहं स्थूलः' (मैं स्थूल हूँ) इत्यादि रूपसे शरीरके अन्दर रहनेवाले अन्तःकरण आदिका जीवके साथ तादात्म्य प्रतीत होता है, वह तभी उपपन्न हो सकता है, जब उनका जीवमें अध्यास माना जाय, ऐसा माननेपर तदधिष्ठानत्वरूप उपादानत्व भी जीवमें ही है।

† प्रतिकर्म-व्यवस्था—जीवके प्रति विषयव्यवस्थाका दिग्दर्शन करानेवाला विवरणग्रन्थका प्रकरण। माया और अविद्याका अभेद माननेमें विवरणकारने 'अत्र केचिदाहुः—अतोऽविद्यामयं वक्तव्यं न मायामयमिति' इत्यादि ग्रन्थसे लेकर 'इति युक्तं मायामयम्' यहां तक अनेक युक्तियों और प्रमाणोंका उपन्यास किया है। (पृ० २०७ कल० मुद्रित भामत्यादिटीकानवकोपेत शाङ्करभाष्य) जानकारीके लिए उसमें से कुछ सारांश यहांपर देते हैं—माया और अविद्याका अभेद नहीं मान सकते, क्योंकि माया अपने आश्रयको मुग्ध नहीं करती और कर्ताकी इच्छाके अनुसार अनुवर्तन करती है। अविद्या वैसी नहीं है अर्थात् स्वाश्रयको मुग्ध करती हुई कर्ताकी इच्छाके विरुद्ध प्रवृत्त होती है। और लोकमें अविद्या तथा मायाका अन्योन्य भेद प्रसिद्ध है ? इस प्रश्नके उत्तरमें विवरणकार कहते हैं कि इनका भेद हम लक्षणके भेदसे या व्यवहारके भेदसे नहीं कर सकते हैं, क्योंकि अनिर्वचनीयतया तत्त्वावभासप्रतिबन्ध विपर्ययावभासरूप लक्षण माया और अविद्यामें सामान्यरूपसे रहता ही है (लक्षणार्थ यह हुआ कि अनिर्वचनीय होकर यथार्थ वस्तुके परिज्ञानमें प्रतिबन्ध करे और विपरीत वस्तुका भान करे उसे अविद्या या माया कहते हैं)। और मायाशब्दका मन्त्र या औषध आदि सत्य वस्तुमें प्रयोग होता है, यह बात नहीं है, क्योंकि मिथ्यारूपसे देखे जानेवाली वस्तुमें भी माया शब्दका प्रयोग होता है। और समीपस्थ पुरुषको मन्त्र आदिका परिज्ञान भी नहीं है, अधिक क्या कहा जाय ? मन्त्र आदिमें मायाशब्दका प्रयोग भी तो लोकमें देखा नहीं जाता और 'मायां तु प्रकृतिम्' (मायाको प्रकृति जानो) इस श्रुतिमें मायाशब्दका प्रयोग प्रकृतिमें है। अतः प्रकृतिभूत माया और अविद्याके लिए एक ही लक्षण अवगत होता है। माया अपने आश्रयमें मोह नहीं करती और अविद्या करती है, इस प्रकार जो लक्षण-भेद कहा गया है, वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि यदि मायाका आश्रय द्रष्टा माना जाय, तो वह मुग्ध होता ही है और यदि

इष्ट ईश उपादानं सर्वस्मिन् व्यावहारिके ।
प्रातिभासिककार्ये तु जीव इत्यपरे जगुः ॥२२॥

सम्पूर्ण व्यावहारिक पदार्थोंका उपादान ईश्वर है और प्रतिभासिक पदार्थोंका उपादान जीव है, ऐसा अन्य लोग कहते हैं ॥ २२ ॥

"एतस्माज्जायते प्राणो मनस्सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी" ॥

इत्यादिश्रुतेः कृत्स्नव्यावहारिकप्रपञ्चस्य ब्रह्मैव उपादानम् । जीवस्तु प्रातिभासिकस्य स्वप्नप्रपञ्चस्य च । 'कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा'

'एतस्माज्जायते०' (इस प्रकृत ईश्वररूप उपादानसे प्राण, मन, सम्पूर्ण इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज और सम्पूर्ण पदार्थोंकी आधारभूत पृथ्वी उत्पन्न हुई) इत्यादि श्रुतिसे सम्पूर्ण व्यावहारिक घट आदि प्रपञ्चका ब्रह्म ही उपादान कारण है और प्रातीतिक स्वप्नके प्रपञ्चोंका अर्थात् स्वप्न सृष्टिमें देखे जानेवाले प्रतीतिकालावस्थायी भ्रमात्मक पदार्थोंका जीव ही उपादान कारण है, क्योंकि 'कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा' * इस अधिकरणमें 'जगत्का उपादान

कर्ता माना जाय, तो उसके मायावी होनेसे उसमें व्यामोहका अभाव है, यह नहीं कह सकते । और इच्छाके अनुसार माया कर सकते हैं और अविद्या नहीं कर सकते यह युक्ति भी भेदमें नहीं दे सकते, क्योंकि मन्त्र और औषध आदिमें कर्ताका स्वातन्त्र्य है, मायामें नहीं है अविद्यामें भी द्विचन्द्र आदि भ्रम कर्ताकी इच्छाके अधीन होते हैं। और शास्त्रीयव्यवहारसे भी माया एवं अविद्याका भेद नहीं है, क्योंकि 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इत्यादि श्रुतिसे यथार्थ ज्ञानसे निवर्त्य अविद्यामें मायाशब्दका प्रयोग होता है। 'तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन्निवेशिते। योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः ॥' इस श्रुतिमें भी माया और अविद्या-का सामानाधिकरण्यसे (एकार्थकत्वसे) निर्देश कर तत्त्वज्ञानसे तैरना बतलाया है। इसी प्रकार भगवान् सूत्रकारने 'मायामात्रन्तु कार्त्स्न्येनाभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' इस सूत्रमें स्वप्नमें भी मायाशब्दका प्रयोग किया है। भाष्यकारने भी 'अविद्यामायाऽविद्यात्मिका मायाशक्तिः' (अविद्या-माया है मायाशक्ति भी अविद्यारूप है) इस वाक्यसे माया और अविद्याका अभेद दर्शाया है अतः यह स्पष्ट हुआ कि माया और अविद्याका अभेद है, भेद नहीं है ।

* 'कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा' इस सूत्रका अर्थ है, यदि ब्रह्मका सर्व अंशसे परिणाम माना जाय, तो कृत्स्नप्रसक्ति होगी अर्थात् जैसे दधिके आकारसे परिणत दूधकी अपने स्वरूपसे हानि होती है, वैसे ही ब्रह्मकी अपने रूपसे हानि होगी । और एक देशसे

(उ० मी० अ० २ पा० १ अधि० ७ सू० २६) इत्यधिकरणे ब्रह्मणो जगदुपादानत्वे तस्य कात्स्न्र्येन जगदाकारेण परिणामे विकारातिरेकेण ब्रह्माभावो वा, एकदेशेन परिणामे निरवयवत्वश्रुतिविरोधो वा प्रसज्यते इति पूर्वपक्षे 'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि' (उ० मी० अ० २ पा० १ सू० २८) इति सूत्रेण विवर्तवादाभिप्रायेण स्वप्नदृशि जीवात्मनि स्वरूपानुपमर्दनेनाऽनेकाकारस्वाप्नप्रपञ्चसृष्टिवत् ब्रह्मणि वियदादिसृष्टिरुपपद्यते इति सिद्धान्तितत्वादित्यन्ये ।

ब्रह्म है' इस सिद्धान्तमें शङ्का की है कि क्या ब्रह्म सर्वांशसे जगदाकारमें परिणत होता है या एकदेशसे ? प्रथम पक्षमें (जैसे दधिरूपमें दूधके परिणत होनेसे दूध रहता ही नहीं है, वैसे ही) ब्रह्मके सर्वांशसे जगद्रूपमें परिणत होनेपर जगत्से पृथक् ब्रह्मका अस्तित्व नहीं रहेगा; यदि द्वितीय पक्ष अर्थात् एकदेशसे ब्रह्मका परिणाम माना जाय, तो ब्रह्मके निरवयवत्वका प्रतिपादन करनेवाली ('अजो नित्यः शाश्वतो' (आत्मा उत्पन्न नहीं होता है, नित्य—अवयवरहित और सनातन है) इस श्रुतिके साथ विरोध होगा । अतः दोनों मार्गोंसे ब्रह्म जगत्का उपादान नहीं हो सकता है, इस प्रकार पूर्वपक्षके प्राप्त होनेपर † 'आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि' इस सूत्रसे विवर्तवादके अभिप्रायसे 'जैसे जीवके स्वरूपके बिगड़े बिना ही स्वप्न देखनेवाले जीवात्मामें अनेक आकार–प्रकारवाली स्वप्न पदार्थोंकी सृष्टि बनती है, वैसे ही ब्रह्मके स्वरूपमें कुछ भी विकृति न होकर आकाश आदि प्रपञ्चकी उत्पत्ति होती है' इस प्रकारका सिद्धान्त किया गया है, ऐसा भी कुछ लोगोंका मत है ।

परिणाम माना जाय, तो निरवयत्वशब्दकोप होगा अर्थात् ब्रह्मकी निरवयताका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिके साथ विरोध होगा ।

† आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि । इस सूत्रमें प्रथम 'च' शब्दका अर्थ यथा (जैसे) है और द्वितीयका अर्थ तथा (वैसे ही) है और 'हि' शब्द हेतु अर्थमें है । इसलिए जैसे आत्मनि–स्वप्नद्रष्टा जीवमें विचित्र—विलक्षण रथ आदि सृष्टि प्रतीत होती है, और उसके स्वरूपका विनाश नहीं होता है, क्योंकि स्वप्नावस्थाकी निवृत्तिके बाद भी साक्षीरूपसे जीव चैतन्य पूर्ववत् ही रहता है, वैसे ही ब्रह्ममें भी स्वरूपविनाशके विना विचित्र आकाश आदि सृष्टि उत्पन्न होती है ।

स्वात्ममोहात् समस्तस्य सेश्वरस्य प्रकल्पकः ।
स्वप्नवज्जीव एवैको नापरोऽस्तीति केचन ॥ २३ ॥

केवल एक जीव ही अज्ञानसे स्वप्न पदार्थोंके समान ईश्वरसहित इस सब प्रपञ्चका कारण है, दूसरा कोई कारण नहीं है, ऐसा कुछ लोगोंका मत है ॥ २३ ॥

जीव एव स्वप्नद्रष्टृवत् स्वस्मिन्नीश्वरत्वादिसर्वकल्पकत्वेन सर्वकारणम् इत्यपि* केचित् ॥ ४ ॥

स्वप्नद्रष्टाके समान अपनेमें ईश्वरत्व आदि सभी वस्तुओंकी कल्पना करनेके कारण जीव ही सबके प्रति उपादान कारण है, यह भी कुछ लोगोंका मत है। भाव यह है कि पूर्वग्रन्थमें जगत्का शुद्ध ब्रह्म उपादान है या ईश्वररूप ब्रह्म उपादान है या जीवरूप ब्रह्म उपादान इस प्रकार तीन विकल्प किये गये हैं, उनमें से तृतीय पक्षको लेकर कहते हैं—जीव ही उपादान है अर्थात् अवच्छेद या प्रतिविम्बवादकी अपेक्षा न करके परिपूर्ण चिदात्मा ही अविद्यासे जीवभावको प्राप्त होकर अपनेको सभीका ईश्वर मानता है अर्थात् 'मैं ही ईश्वर हूँ' इस प्रकार कल्पना करता है, अनन्तर अपनेसे गगन आदिकी उत्पत्तिकी कल्पना करता है और अपने आप अपनेसे ही कल्पित ईश्वरका भेद और उससे 'मैं नियम्य हूँ' इस प्रकार कल्पना करता है, इसी रीतिसे मनुष्य आदिभावकी क्रमसे कल्पना करता है। जैसे 'आकाश आदि प्रपञ्च व्यवहारमें सत्य है और स्वप्नप्रपञ्च प्रातीतिक है' इस पक्षमें स्वप्नका द्रष्टा जीव ही—(स्वप्नमें) देवादिभावसे, उसके नियन्ता परमेश्वररूपसे और उससे मैं भिन्न हूँ—इत्यादिरूपसे अपनी कल्पना करता है, वैसे ही दृष्टिसृष्टिपक्षमें श्रद्धा रखनेवाले कुछ महाजन अपने आपमें सब प्रपञ्चकी कल्पना करनेवाला जीवस्वरूपापन्न ब्रह्म ही जगत्का उपादान है, ऐसा स्वीकार करते हैं ॥ ४ ॥

---

* यहाँ ज्ञातव्यविशेष यह है कि इस पक्षमें अर्थात् जीवभावापन्न ब्रह्म जगत्का उपादान है, इस पक्षमें जीवसे इतर ईश्वर रहेगा नहीं, इससे एक तो ईश्वरके अस्तित्वका प्रतिपादन करनेवाली तथा सब जीवोंके नियन्ताका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंके साथ एवं इसीके समर्थक सूत्र और स्मृतियोंके साथ विरोध प्रसक्त होगा, दूसरा बन्ध और मोक्ष-व्यवस्था भी अस्तंगत होगी, इसलिए यह पक्ष असङ्गत है और यह भाव 'इत्यपि' इसके अपि शब्दसे सुस्पष्ट विदित भी होता है, अतः ईश्वररूप ब्रह्म ही जगत्का उपादान है यही पक्ष निर्दुष्ट है, ऐसा प्रतीत होता है।

अहेतुत्वादमायस्य मायाशबलतेष्यते ।
साऽप्युपादानमेवेति तत्त्वनिर्णयकृन्मतम्॥ २४ ॥

मायासे रहित शुद्ध ब्रह्म उपादान नहीं हो सकता है, इसलिए (ब्रह्ममें) मायाशबलता मानी जाती है और वह माया भी उपादान ही है, ऐसा तत्त्वनिर्णयकारका मत है ॥ २४ ॥

अथ 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इति श्रुतेः, मायाजाड्यस्य घटादिष्वनुगमाच्च माया जगदुपादानं प्रतीयते, कथं ब्रह्मोपादानम् ? ।

अत्राऽऽहुः पदार्थतत्त्वनिर्णयकाराः—ब्रह्म माया चेत्युभयमुपादानमित्युभयश्रुत्युपपत्तिः, सत्ताजाड्यरूपोभयधर्मानुगत्युपपत्तिश्च । तत्र ब्रह्म विवर्तमानतयोपादानम्, अविद्या परिणममानतया ।

यहाँपर यह शङ्का होती है कि 'ब्रह्म जगत्का उपादान है' यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि 'मायान्तु प्रकृतिं'० (माया ही जगत्की प्रकृति—उपादान है, ऐसा जानो) इस प्रकारकी मायामें ही उपादानत्वकी प्रतिपादिका श्रुति है और [जैसे घट आदिमें उपादानभूत मृत्तिकाके श्लक्ष्णत्व आदि धर्मोंका अनुस्यूतरूपसे भान होता है, वैसे ही] घट आदि समस्त प्रपञ्चमें मायामें रहनेवाले जडत्व धर्मका अनुस्यूतरूपसे भान होता है, अतः माया जगत्की उपादान है, ऐसा प्रतीत होता है। [यद्यपि अनेक श्रुतियोंके आधारपर पीछे ब्रह्मकी उपादानताका दिग्दर्शन कराया गया है, तथापि निरवयव ब्रह्ममें मृत्तिका आदिके समान परिणामी उपादानता नहीं हो सकती है, यदि ब्रह्मको विवर्तोपादान कहें तो भी जैसे परिणामी उपादान लोकमें देखे जाते हैं, वैसे विवर्तके अधिष्ठानमें उपादानत्वकी प्रसिद्धि लोकमें नहीं है, अतः ऐसे पदार्थोंमें उपादानत्वका स्वीकार करना केवल स्वकीय-कपोलकल्पनासे परिभाषा बांधनामात्र है, ऐसा आक्षेपकर्ताका प्रकृतमें अभिप्राय है]।

इस परिस्थितिमें पदार्थतत्त्वनिर्णयकार उत्तर कहते हैं—ब्रह्म और माया दोनों ही जगत्के प्रति उपादान हैं; इसलिए माया और ब्रह्ममें उपादानत्वकी प्रतिपादिका दोनों श्रुतियोंकी युक्तार्थता है और (घट आदिमें भासनेवाले) सत्ता और जड़ता दोनों धर्मोंके अनुगमकी भी उपपत्ति हो सकती है। इसमें विशेषता यह है कि ब्रह्म विवर्तमानरूपसे उपादान है और माया परिणामरूपसे उपादान है।

न च विवर्ताधिष्ठाने पारिभाषिकमुपादानत्वम्। स्वात्मनि कार्यजनिहेतुत्वस्योपादानलक्षणस्य तत्राऽप्यविशेषादिति।

केचित् उक्तामेव प्रक्रियामाश्रित्य विवर्तपरिणामोपादानद्वयसाधारणमन्यल्लक्षणमाहुः--स्वाभिन्नकार्यजनकत्वमुपादानत्वम्। अस्ति च प्रपञ्चस्य

और पूर्वमें यह जो कहा गया है कि विवर्तके अधिष्ठानमें पारिभाषिक उपादानत्व है, यह भी नहीं है, क्योंकि 'स्वात्मनि कार्यजनिहेतुत्वरूप उपादानका लक्षण है, वह [मृत्तिका आदि उपादानमें जैसे रहता है, वैसे ही] विवर्तके अधिष्ठानमें भी रहता ही है। ['स्वात्मनि' इत्यादि उपादानके लक्षणमें प्रविष्ट स्वशब्दसे उपादानरूपसे अभिमत जो वस्तु हो उसका ग्रहण करना चाहिए, अतः लक्षण-समन्वय यों करना चाहिए—स्वपदसे मृत्तिकाका ग्रहण हुआ, उसमें घटरूपकार्यकी उत्पत्तिकी हेतुता है, इसलिए घटकी कारण मृत्तिकामें उपादानता है। ब्रह्ममें भी वियदादिसृष्टिकी हेतुता होनेसे उपादानका उक्त लक्षण घट जाता है]।

कुछ लोग इसी प्रक्रियाके आधारपर विवर्त और परिणाम दोनों उपादानोंमें समानरूपसे लागू होनेवाला अन्य लक्षण कहते हैं कि स्वाभिन्नकार्यजनकत्व ही उपादानत्व * है अर्थात् उपादानसे अभिन्न जो कार्य उसकी उत्पत्तिका जो हेतु

---

* इस लक्षणमें स्वशब्दसे परिणामी-उपादानत्वसे विवक्षित मृत्तिका, अज्ञान आदिका और विवर्तोपादानत्वसे विवक्षित ब्रह्मका ग्रहण होता है, मृत्तिकारूप उपादान और घटका परस्पर अभेद है ही, क्योंकि 'घट मृत्तिका ही है' इस प्रकार अभेद प्रतीत होता है। परन्तु इस परिस्थितिमें एक विचार अवश्य होता है कि 'मृत्तिका घट है' या 'तन्तु पट है' इस प्रकार जैसे अभेदप्रत्यायक प्रतीति हुआ करती है, वैसे 'घट ब्रह्म है' 'पट ब्रह्म है' या 'अज्ञान घट है' इस प्रकार ब्रह्म और अज्ञानका घटादिसे अभेद सिद्ध होनेके लिए लौकिक व्यवहार नहीं होता, अतः ब्रह्म या अज्ञानरूप उपादानसे घटादि प्रपञ्चका अभेद कैसे मान सकते हैं? इस शङ्काके परिहारमें यों कहा जाता है—यद्यपि ब्रह्म और अज्ञानके साथ प्रपञ्चका अभेद ब्रह्मत्व या अज्ञानत्वरूपसे व्यवहृत नहीं होता है, तो भी सत्त्व और जडत्वरूप धर्मोंसे, जो ब्रह्म और अज्ञानके धर्म हैं, 'सन् घटः' 'जडो घटः' इस प्रकार ब्रह्म और अज्ञानका प्रपञ्चके साथ अभेद भासता है। सत्त्व और जडत्व ब्रह्म तथा अज्ञानके धर्म हैं इसमें श्रुतिरूप प्रमाण भी है 'सदेव' (ब्रह्म सत् ही है) 'तदेतज्जडं मोहात्मकम्' (वह अज्ञान जड और मोहात्मक है) इसी गूढ अभिप्रायका सूचन करनेके लिए मूलमें 'सद्रूपेण' यह ब्रह्मका विशेषण और 'जडेन' यह अज्ञानका विशेषण दिया गया है।

सद्रूपेण ब्रह्मणा विवर्तमानेन जडेनाऽज्ञानेन परिणामिना चाऽभेदः; 'सन् घटः, जडो घटः' इति सामानाधिकरण्यानुभवात् ।

न च 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (उ० मी० अ० २ पा० १ अधि० ६ सू० १४) इति सूत्रे 'अनन्यत्वं व्यतिरेकेणाऽभावः' 'न खल्वनन्यत्वमित्यभेदं ब्रूमः, किन्तु ? भेदं व्यासेधामः' इति भाष्यभामतीनिबन्धनाभ्यां प्रपञ्चस्य ब्रह्माभेदनिषेधादभेदाभ्युपगमे अपसिद्धान्त इति वाच्यम्, तयोर्ब्रह्मरूपधर्मिसमानसत्ताकाभेदनिषेधे तात्पर्येण शुक्तिरजतयोरिव प्रातीतिकाभेदाभ्युपगमेऽपि विरोधाभावादिति ।

हो, वही उपादान है । सद्रूप विवर्तमान ब्रह्मके साथ तथा परिणामी जड़रूप अज्ञानके साथ प्रपञ्चका अभेद भासता है, क्योंकि 'सन् घटः' और 'जडो घटः' अर्थात् घटमें सत्ताका और जड़ताका अनुभव होता है ।

अब शङ्का होती है कि * 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इस सूत्रमें अनन्यत्वका अर्थ है—'कारणसे पृथक् कार्यका न रहना' 'अनन्यत्वशब्दका अर्थ हम अभेद नहीं करते हैं, परन्तु भेदका निषेध करते हैं' इस प्रकार भाष्य और भामती ग्रन्थसे ब्रह्म और प्रपञ्चके अभेदका निषेध किया गया है, अतः यदि प्रपञ्च और ब्रह्मका परस्पर अभेद माना जाय, तो अपसिद्धान्त होगा, परन्तु यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि उन निबन्धोंका ब्रह्मरूपधर्मीके समानसत्तावाले अभेदके निषेधमें तात्पर्य है, अर्थात् पारमार्थिक अभेदके निषेधमें अभिप्राय है, अत एव जैसे शुक्ति और रजतमें प्रातीतिक अभेदके स्वीकारमें विरोध नहीं है, वैसे ही प्रकृतमें भी प्रातीतिक अभेदके स्वीकरणमें कोई विरोध नहीं है ।

---

* इस सूत्रका अर्थ है—तदनन्यत्वम्—तयोः—कार्यकारणयोः अनन्यत्वम्—उन कार्य और कारणका अनन्यत्व है, क्योंकि आरम्भण आदि श्रुतियाँ, इस अर्थका प्रतिपादन करती हैं । आरम्भणशब्दसे 'वाचारम्भण' श्रुति ली जाती है और आदि शब्दसे 'आत्मैवेदं सर्वम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियोंका संग्रह करना चाहिए । भाव यह हुआ कि कार्य और कारण तत्त्वान्तर माने जायँ, तो जगत्कारण ब्रह्ममें सर्वात्मत्वकी प्रतिपादिका श्रुतियाँ विरुद्ध होंगी । अतः अनन्यत्व मानना चाहिए ।

ब्रह्ममात्रमुपादानं माया तु द्वारकारणम् ।
मृच्छ्लक्ष्णतावत् संक्षेपशारीरककृतां नये ॥ २५ ॥

संक्षेपशारीरककारके मतमें केवल ब्रह्म जगत्के प्रति उपादान है और माया तो जैसे घट आदिके प्रति मृत्तिकाका श्लक्ष्णत्व द्वार कारण है, वैसे ही द्वार कारण है ॥ २५ ॥

सङ्क्षेपशारीरककृतस्तु—ब्रह्मैवोपादानम् । कूटस्थस्य स्वतः कारणत्वानुपपत्तेः माया द्वारकारणम् । अकारणमपि द्वारं कार्येऽनुगच्छति ।

ब्रह्म ही जगत्का उपादान कारण है, माया उपादान कारण नहीं है, ऐसा संक्षेपशारीरककार कहते हैं, कूटस्थ ब्रह्ममें स्वतः कारणताकी उपपत्ति नहीं हो सकती, अतः माया द्वार कारण है। [भाव यह है कि यदि मायाके विना ही ब्रह्म जगत्के प्रति उपादान कारण हो, तो माया व्यर्थ होगी और ब्रह्म स्वयं परिणामी होगा, इस परिस्थितिमें परिणामवादियोंके मतमें परिणाम और परिणामीका परस्पर वस्तुसत् अभेद होनेसे परिणामके जन्म आदि विकारोंसे ब्रह्म भी विकृत होगा, और इसे स्वीकार नहीं कर सकते हैं, क्योंकि 'न जायते' (आत्मा उत्पन्न नहीं होता) इस प्रकार अनेक श्रुतियोंके साथ

---

* संक्षेपशारीरककार कूटस्थ ब्रह्मको जगत्के प्रति उपादान मानते हैं, इसके सविशेष स्पष्टीकरणमें उन्हींके दो श्लोक देते हैं—

उपादनता चेतनस्याऽपि दृष्टा यथा स्वप्नसर्गे विचित्रे प्रतीचः ।
यथा चोर्णनाभस्य सूत्रेषु पुंसां यथा केशलोमादिसृष्टौ च दृष्टा ॥
[संक्षेपशा० १ अ० श्लो० ५४५]

अज्ञानतज्जघटना चिदधिक्रियायाम् द्वारं परं भवति नाधिकृतत्वमस्याः ।
नाचेतनस्य घटतेऽधिकृतिः कदाचित् कर्तृत्वशक्तिविरहादिति वक्ष्यते हि ॥
[संक्षेपशा० १ अ० श्लो० ५५५]

अर्थात्—जैसे विचित्र स्वप्नसृष्टिमें निद्रासे तिरस्कृत—अभिभूत है करणसमुदाय जिसका ऐसा प्रत्यगात्मा उपादान है, और जैसे ऊर्णनाभ उसके सूत्रोंके प्रति उपादान है अथवा जैसे केश, लोम आदिमें पुरुष उपादान है, वैसे ही कूटस्थ चेतन भी उपादान है। अविद्या और उसके कार्यका अध्यास ब्रह्मकी अधिकारितामें अर्थात् जगत्के प्रति ब्रह्ममें उपादानत्वके सम्पादनमें निमित्तमात्र है, क्योंकि अचेतनकी अध्यासमें अधिकारिता नहीं है, कारण कि उसमें कर्तृत्वशक्तिका अभाव है, ऐसा कहेंगे। और ५५३ के 'अनधिकारिणि शुद्धचिदात्मके' इत्यादिमें भी 'माया ब्रह्मकी अधिकारिताकी सम्पादिका है' ऐसा कहा गया है। इससे स्पष्ट रीतिसे ज्ञात होता है कि संक्षेपशारीरककारने मूलोक्त विषयका अत्यन्त विस्तारसे अपने ग्रन्थमें विवेचन किया है।

सद्रूपेण ब्रह्मणा विवर्तमानेन जडेनाऽज्ञानेन परिणामिना चाऽभेदः; 'सन् घटः, जडो घटः' इति सामानाधिकरण्यानुभवात् ।

न च 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (उ० मी० अ० २ पा० १ अधि० ६ सू० १४) इति सूत्रे 'अनन्यत्वं व्यतिरेकेणाऽभावः' 'न खल्वनन्यत्वमित्यभेदं ब्रूमः, किन्तु ? भेदं व्यासेधामः' इति भाष्यभामतीनिबन्धनाभ्यां प्रपञ्चस्य ब्रह्माभेदनिषेधादभेदाभ्युपगमे अपसिद्धान्त इति वाच्यम्, तयोर्ब्रह्मरूपधर्मिसमानसत्ताकाभेदनिषेधे तात्पर्येण शुक्तिरजतयोरिव प्रातीतिकाभेदाभ्युपगमेऽपि विरोधाभावादिति ।

हो, वही उपादान है । सद्रूप विवर्तमान ब्रह्मके साथ तथा परिणामी जड़रूप अज्ञानके साथ प्रपञ्चका अभेद भासता है, क्योंकि 'सन् घटः' और 'जडो घटः' अर्थात् घटमें सत्ताका और जड़ताका अनुभव होता है ।

अब शङ्का होती है कि * 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' इस सूत्रमें अनन्यत्वका अर्थ है—'कारणसे पृथक् कार्यका न रहना' 'अनन्यत्वशब्दका अर्थ हम अभेद नहीं करते हैं, परन्तु भेदका निषेध करते हैं' इस प्रकार भाष्य और भामती ग्रन्थसे ब्रह्म और प्रपञ्चके अभेदका निषेध किया गया है, अतः यदि प्रपञ्च और ब्रह्मका परस्पर अभेद माना जाय, तो अपसिद्धान्त होगा, परन्तु यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि उन निबन्धोंका ब्रह्मरूपधर्मीके समानसत्तावाले अभेदके निषेधमें तात्पर्य है, अर्थात् पारमार्थिक अभेदके निषेधमें अभिप्राय है, अत एव जैसे शुक्ति और रजतमें प्रातीतिक अभेदके स्वीकारमें विरोध नहीं है, वैसे ही प्रकृतमें भी प्रातीतिक अभेदके स्वीकरणमें कोई विरोध नहीं है ।

---

* इस सूत्रका अर्थ है—तदनन्यत्वम्—तयोः—कार्यकारणयोः अनन्यत्वम्—उन कार्य और कारणका अनन्यत्व है, क्योंकि आरम्भण आदि श्रुतियाँ, इस अर्थका प्रतिपादन करती हैं । आरम्भणशब्दसे 'वाचारम्भण' श्रुति ली जाती है और आदि शब्दसे 'आत्मैवेदं सर्वम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियोंका संग्रह करना चाहिए । भाव यह हुआ कि कार्य और कारण तत्त्वान्तर माने जायँ, तो जगत्कारण ब्रह्ममें सर्वात्मत्वकी प्रतिपादिका श्रुतियाँ विरुद्ध होंगी । अतः अनन्यत्व मानना चाहिए ।

ब्रह्ममात्रमुपादानं माया तु द्वारकारणम् ।
मृच्छ्लक्ष्णतावत् संक्षेपशारीरककृतां नये ॥ २५ ॥

संक्षेपशारीरककारके मतमें केवल ब्रह्म जगत्के प्रति उपादान है और माया तो जैसे घट आदिके प्रति मृत्तिकाका श्लक्ष्णत्व द्वार कारण है, वैसे ही द्वार कारण है ॥ २५ ॥

सङ्क्षेपशारीरककृतस्तु—ब्रह्मैवोपादानम् । कूटस्थस्य स्वतः कारणत्वानुपपत्तेः माया द्वारकारणम् । अकारणमपि द्वारं कार्येऽनुगच्छति ।

ब्रह्म ही जगत्का उपादान कारण है, माया उपादान कारण नहीं है, ऐसा संक्षेपशारीरककार कहते हैं, कूटस्थ ब्रह्ममें स्वतः कारणताकी उपपत्ति नहीं हो सकती, अतः माया द्वार कारण है । [भाव यह है कि यदि मायाके विना ही ब्रह्म जगत्के प्रति उपादान कारण हो, तो माया व्यर्थ होगी और ब्रह्म स्वयं परिणामी होगा, इस परिस्थितिमें परिणामवादियोंके मतमें परिणाम और परिणामीका परस्पर वस्तुसत् अभेद होनेसे परिणामके जन्म आदि विकारोंसे ब्रह्म भी विकृत होगा, और इसे स्वीकार नहीं कर सकते हैं, क्योंकि 'न जायते' (आत्मा उत्पन्न नहीं होता) इस प्रकार अनेक श्रुतियोंके साथ

---

* संक्षेपशारीरककार कूटस्थ ब्रह्मको जगत्के प्रति उपादान मानते हैं, इसके सविशेष दृढीकरणमें उन्हींके दो श्लोक देते हैं—

उपादनता चेतनस्याऽपि दृष्टा यथा स्वप्नसर्गे विचित्रे प्रतीचः ।
यथा चोर्णनाभस्य सूत्रेषु पुंसां यथा केशलोमादिसृष्टौ च दृष्टा ॥
[संक्षेपशा० १ अ० श्लो० ५४५]

अज्ञानतज्जघटना चिदधिक्रियायाम् द्वारं परं भवति नाधिकृतत्वमस्याः ।
नाचेतनस्य घटतेऽधिकृतिः कदाचित् कर्तृत्वशक्तिविरहादिति वक्ष्यते हि ॥
[संक्षेपशा० १ अ० श्लो० ५५५]

अर्थात्—जैसे विचित्र स्वप्नसृष्टिमें निद्रासे तिरस्कृत—अभिभूत है करणसमुदाय जिसका ऐसा प्रत्यगात्मा उपादान है, और जैसे ऊर्णनाभ उसके सूत्रोंके प्रति उपादान है अथवा जैसे केश, लोम आदिमें पुरुष उपादान है, वैसे ही कूटस्थ चेतन भी उपादान है । अविद्या और उसके कार्यका अध्यास ब्रह्मकी अधिकारितामें अर्थात् जगत्के प्रति ब्रह्ममें उपादानत्वके सम्पादनमें निमित्तमात्र है, क्योंकि अचेतनकी अध्यासमें अधिकारिता नहीं है, कारण कि उसमें कर्तृत्वशक्तिका अभाव है, ऐसा कहेंगे । और ५५३ के 'अनधिकारिणि शुद्धचिदात्मके' इत्यादिमें भी 'माया ब्रह्मकी अधिकारिताकी सम्पादिका है' ऐसा कहा गया है । इससे स्पष्ट रीतिसे ज्ञात होता है कि संक्षेपशारीरककारने मूलोक्त विषयका अत्यन्त विस्तारसे अपने ग्रन्थमें विवेचन किया है ।

मृद इव तद्गतश्लक्ष्णत्वादेरपि घटे अनुगमनदर्शनादित्याहुः ।

ब्रह्मैव जीवाश्रितयाऽविद्यया विषयीकृतम् ।
वाचस्पतिमते हेतुर्माया तु सहकारिणी ॥ २६ ॥

वाचस्पतिमिश्रके मतमें जीवाश्रित अविद्यासे विषयीकृत ब्रह्म ही जगत्के प्रति उपादान है और माया तो सहकारी कारण है ॥ २६ ॥

विरोध होगा, कारण कि उन श्रुतियों द्वारा ब्रह्ममें नित्यत्व, अविकारित्व आदिका प्रतिपादन किया गया है। अतः मायाके द्वारा ही ब्रह्म कारण है, ऐसा कहना चाहिए, अतः माया व्यर्थ भी नहीं है। जैसे घटादिके प्रति मृद् आदिके उपादान होनेपर भी मृत्तिकामें रहनेवाला श्लक्ष्णत्व आदि संस्कार द्वारकारण हैं, क्योंकि जब तक मृत्तिकाका संस्कार न किया जाय, तब तक मृत्तिकामें घटादिकी उपादानता नहीं घट सकती है, वैसे ही कूटस्थ चैतन्यरूप ब्रह्ममें आरोपित माया उसमें (ब्रह्ममें) जगत्प्रकृतित्वका सम्पादन करके सहकारिकारण बन जाती है। मायामें उपादानत्वकी प्रतिपादिका 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्' इत्यादि श्रुतिके साथ विरोध भी नहीं है, क्योंकि उन श्रुतियोंका तात्पर्य यह है कि माया ही ब्रह्ममें प्रकृतित्वका निर्वाह करती है, अतः उसमें प्रकृतित्वका केवल उपचार है। इसीलिए मायामें शक्तित्वका व्यवहार होता है—'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' (इस ब्रह्मकी अनेक परा शक्तियाँ हैं) और मृतिकामें रहनेवाली शक्तिमें घटादिके प्रति उपादानता लोकमें नहीं देखी जाती है। अतः माया और ब्रह्म दोनोंमें उपादानता नहीं है। इस मतमें परिणामी उपादान कोई नहीं, होगा यदि ब्रह्ममें वैसी उपादानता मानी जाय, तो सैकड़ों श्रुतियोंके साथ विरोध होगा, इसलिए वाचस्पतिमतके समान चित्में अध्यस्तमाया-विषयीकृत ब्रह्मका प्रपञ्च विवर्त है, यही इस मतमें मानना होगा, संक्षेप-शारीरकमें कहींपर मायामें परिणामित्वका कथन किया गया है, वह अन्य मतोंके अभिप्रायसे किया गया है, यह ध्यानमें रखना चाहिए]। अकारण भी द्वार-कार्यमें अनुस्यूत होता है। जैसे कि मृत्तिकाके समान मृत्तिकामें रहनेवाले श्लक्ष्णत्व आदिका भी घटमें अनुगम होता है, यह देखा जाता है। अतः मायाकी जड़ताका घटादिमें भान होता है।

वाचस्पतिमिश्रास्तु—जीवाश्रितमायाविषयीकृतं ब्रह्म स्वत एव जाड्याश्रयप्रपञ्चाकारेण विवर्तमानतयोपादानमिति माया सहकारिमात्रम्, न कार्यानुगतं द्वारकारणमित्याहुः।

वाचस्पतिमिश्र, कहते हैं कि जीवकी आश्रित मायासे विषयीकृत ब्रह्म ही स्वयं जाड्यका आश्रयीभूत अर्थात् जड़ प्रपञ्चके आकारसे विवर्तमानरूपसे उपादान है, अतः माया सहकारी कारण ही है। कार्यानुगत द्वारकारण नहीं है *।

* वाचस्पतिमिश्रके उक्त मतमें एक विचार उपस्थित होता है कि अक्षरब्राह्मणमें आकाशशब्दसे कहलानेवाली मायाका अक्षरशब्दसे वाच्य नित्य चैतन्य रूप ब्रह्म ही आश्रय माना गया है, इसलिए उसका (मायाका) जीव आश्रय है, यह कहना अत्यन्त विरुद्धसा ज्ञात होता है और 'मायिनं तु महेश्वरम्' (महेश्वरको मायाका आश्रय जानो) इत्यादि प्रत्यक्ष श्रुतियाँ मायाके ब्रह्माश्रितत्वमें प्रमाण हैं जीवाश्रितत्वमें प्रमाण नहीं, अतः उभयता यह मत असङ्गत है, दूसरी बात यह है कि जीवके मायाश्रय होनेपर जीवमें जगदुपादानत्वका प्रसङ्ग आवेगा ब्रह्ममें नहीं आवेगा। अपि च यदि माया ब्रह्मकी उपाधि न हो, तो ब्रह्म नियन्ता भी कैसे होगा? इसपर वाचस्पतिमिश्रके अनुयायियोंका कहना है कि जीवाश्रितत्वपदसे जीवत्वविशिष्ट चैतन्याश्रितत्व विवक्षित नहीं है, परन्तु अक्षरब्राह्मणके अनुरोधसे चैतन्याश्रितत्व ही विवक्षित है। और मायापदसे वेदनीय अविद्याकी चैतन्यवृत्तिमें जीवत्वका अवच्छेदकरूपसे भान होता है, अतः मायामें जीवाश्रितत्वका कथन है और 'निरवद्यं निरञ्जनम्' इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्मके निर्गुणत्वका ज्ञान होनेसे उसे अविद्याश्रय मानना विरुद्ध ही है 'मायिनं तु महेश्वरम्' इत्यादि श्रुतिका माया और ब्रह्मका परस्पर विषयविषयिभावरूप सम्बन्धके बोध करनेमें तात्पर्य है। प्रपञ्चका उपादान जीव होगा, यह आपत्ति भी वन्ध्यापुत्रके समान मिथ्या है, क्योंकि समस्त प्रपञ्च जीवाश्रितमायाविषयीकृत ब्रह्मका विवर्त है, ऐसा स्वीकार करनेसे जीवमें जगत्की उपादानकारणताकी प्रसक्ति नहीं होगी। ब्रह्ममें वस्तुतः उपाधिका सम्पर्क न होनेपर भी सर्वनियन्तृत्व आदिकी—जीवकी अविद्यासे विषयीकृत ब्रह्मके विवर्तरूपसे—ब्रह्मधर्मसे कल्पना की जाती है, इसलिए जीवाविद्याविषयीकृत ब्रह्म ही प्रपञ्चाकारसे विवर्तमान होता है, इसमें कोई दोष नहीं है।

आरम्भणाधिकरणके भाष्यमें 'मूलकारणमेव……नटवत्सर्वव्यवहारास्पदत्वं प्रतिपद्यते' नटके दृष्टान्तसे वाचस्पतिमिश्रका यह मत ज्ञात होता है, इसीलिए कल्पतरुमें कहा गया है कि—

स्वशक्त्या नटवद् ब्रह्म कारणं शङ्करोऽब्रवीत्।
जीवभ्रान्तिनिमित्तं तद् बभाषे भामतीपतिः॥
अज्ञातं नटवद् ब्रह्म कारणं शङ्करोऽब्रवीत्।
जीवाज्ञानं जगद्बीजं जगौ वाचस्पतिस्तथा॥

अर्थात् जैसे द्रष्टाओंसे अविज्ञात है रूप जिसका ऐसा नट उन-उन अभिनयोंको, जो वस्तुतः सत्य नहीं है, प्राप्त होता है, वैसे ही जीवों द्वारा अज्ञातस्वरूप ब्रह्म ही असत्य

अपूर्वानिपरं ब्रह्म नोपादानं जगत्स्थितेः ।
माया तु मुख्योपादानमिति मुक्तावलीकृतः ॥ २७ ॥

कार्य कारणसे रहित ब्रह्म जगत्‌के प्रति उपादान नहीं हो सकता है, इसलिए माया ही मुख्य कारण है, ऐसा सिद्धान्त मुक्तावलीकार कहते हैं ॥ २७ ॥

सिद्धान्तमुक्तावलीकृतस्तु—मायाशक्तिरेवोपादानं न ब्रह्म 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमबाह्यम्' 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' इत्यादिश्रुतेः जगदुपादानमायाधिष्ठानत्वेन उपचारादुपादानम्, तादृशमेवोपादानत्वं लक्षणे विवक्षितमित्याहुः ॥ ५ ॥

मायाशक्ति ही उपादान है ब्रह्म उपादान नहीं है, क्योंकि 'तदेतत्०' (प्रकृत बुद्धि आदिका साक्षीरूप ब्रह्म कारण नहीं है, कार्य नहीं है और बाह्य नहीं है) 'न तस्य०' (उसका अर्थात् ब्रह्मका कोई कारण और कार्य नहीं है) इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्ममें उपादानताका निषेध किया गया है। और ब्रह्ममें जो उपादानताका व्यवहार होता है, वह तो केवल जगत्‌की उपादान मायाके अधिष्ठान होनेसे औपचारिक व्यवहार होता है। इसीलिए जगदुपादानमायाधिष्ठानत्व ही उपादानत्व लक्षणमें अर्थात् ब्रह्मके लक्षणमें विवक्षित है, ऐसा सिद्धान्तमुक्तावलीकार कहते हैं * ॥ ५ ॥

वियदादिकी आकारताको प्राप्त होता है और उसके द्वारा व्यवहारकी विषयताको प्राप्त होता है, इस दृष्टान्तसे भामतीकारका मत शङ्कराचार्यके अनुकूल है, ऐसा प्रतीत होता है [पृ० ४७१ कल्पतरु निर्णय० मु०] और 'न ह्यचेतनं चेतना....'से लेकर 'तस्माज्जीवाधिकरणाप्यविद्या निमित्ततया विषयतया चेश्वरमाश्रयते इतीश्वराश्रयेत्युच्यते, न त्वाधारतया, विद्यास्वभावे ब्रह्मणि तदनुपपत्तेरिति' भाव यह है कि जीवमें रहनेवाली अविद्या निमित्त और विषय रूपसे ईश्वरको आश्रय करती है, अतः ईश्वराश्रय माया कही जाती है, वस्तुतः आधाररूपसे ईश्वराश्रय है नहीं, क्योंकि जिसका विद्यास्वभाव है, उसमें अविद्या कैसे रह सकती है [कल्पतरुसहित भाम० पृ० ३७८ निर्णयसागर मु०] इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि मूलोक्त वाचस्पतिमिश्रका पक्ष भामती ग्रन्थमें स्पष्ट ही है।

* इसी भावको सिद्धान्तमुक्तावलीकार श्रीप्रकाशानन्दस्वामीजी निम्न लिखित पंक्तियोंसे प्रकट करते हैं—

ब्रह्माज्ञानात् जगज्जन्म ब्रह्मणोऽकारणत्वतः ।
अधिष्ठानत्वमात्रेण कारणं ब्रह्म गीयते ॥३८॥

दृश्यत्वाद्यनुमानसिद्धानिर्वचनीयस्य जगतः अनाद्यनिर्वचनीया अविद्यैव कारणम्, न ब्रह्म, तस्य कूटस्थस्य कार्यकारणविलक्षणत्वात्, 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' 'अयमात्मा

क ईश्वरोऽथ को जीवः ? प्रकटार्थकृतो विदुः ।
ईशं मायाचिदाभासं जीवमाविद्यकं च तम् ॥ २८ ॥
अनादिर्विश्वप्रकृतिर्माया चिन्मात्रसंश्रया ।
तदेकदेशोऽविद्या तु विक्षेपावरणान्विता ॥ २९ ॥

ईश्वर कौन है और जीव कौन है ? इस प्रकारकी विप्रतिपत्तिमें प्रकटार्थकार कहते हैं कि मायामें चैतन्यका जो आभास है, वह ईश्वर है और अविद्यामें चैतन्यका जो आभास है, वह जीव है । अनादि विश्वकी प्रकृति और चिन्मात्रमें रहनेवाली माया है और उस मायाका आवरण-विक्षेपशक्तियुक्त एकदेश अविद्या है ॥ २८ ॥ २९ ॥

अथ क ईश्वरः को वा जीवः ? अत्रोक्तं प्रकटार्थविवरणे—

[पूर्वग्रन्थमें जगत्के उपादान ईश्वरका और 'जीवाश्रित माया' इस वाक्यमें जीवका कथन हुआ है, अतः प्रसङ्गसे या उपोद्घात सङ्गतिसे ईश्वर और जीवके स्वरूपका निर्णय करनेके लिए प्रश्न करते हैं—] ईश्वर कौन है और जीव कौन है ? अर्थात् ईश्वर और जीवका क्या लक्षण है । इस परिस्थितिमें प्रकटार्थ-

---

ब्रह्म सर्वानुभूः' इति श्रुतेः । कथं तर्हि ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं श्रुतौ प्रसिद्धम् ? जगत्कारणाधिष्ठानत्वेन कारणत्वोपचारात् । ब्रह्मकारणश्रुतेरन्यार्थत्वाच्च—'एकमेवाद्वितीयमिति श्रुतेः अद्वितीयत्वं तावद् ब्रह्मणः सिद्धं तत्कथं सम्भाव्यतामिति कार्यकारणयोः अभेदस्तावल्लोकप्रसिद्धः······ अज्ञानं कारणमिति अभिहितत्वाच्च । साथ ही साथ इनका सारांश भी सुन लीजिए—ब्रह्माज्ञानसे अर्थात् अज्ञानसे ही जगत्की उत्पत्ति होती है, क्योंकि ब्रह्म अविकारी होनेसे कारण नहीं हो सकता, यदि ब्रह्ममें कारणत्वव्यवहार होता है, तो केवल जगत्की उपादान मायाके आश्रय होनेसे होता है, वस्तुतः किसी प्रकारका कारणत्व उसमें है ही नहीं । इसलिए 'विमत अनिर्वचनीय है, दृश्यत्व होनेसे, इत्यादि दृश्यत्वहेतुसे अनुमानसे सिद्ध अनिर्वचनीय जगत्की अनादि अनिर्वचनीय अविद्या ही कारण है, ब्रह्म नहीं, क्योंकि 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वम्०' (अज्ञान आदिका विषय जगत् ब्रह्म ही है अर्थात् जगत्का स्वरूप ब्रह्मसे अन्य नहीं है, वह ब्रह्म कारण और कार्य रहित है, तथा अव्याकृतानुगत है.) इत्यादि श्रुतियोंसे कूटस्थ ब्रह्ममें कारणत्वका निषेध किया गया है । कहींपर श्रुतिमें ब्रह्मकी जगत्कारणता जो प्रसिद्ध है, वह जगत्कारण मायाके अधिष्ठान होनेसे उपचारमात्रसे है और ब्रह्ममें कारणत्वप्रतिपादक श्रुतिका प्रयोजन 'ब्रह्म कारण है' इस अर्थका प्रतिपादन करना नहीं है, परन्तु अन्य है अर्थात् 'एकमेवाद्वितीयम्' (एक ही अद्वितीय ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतिसे 'ब्रह्म अद्वितीय है' ऐसा सिद्ध होता है । परन्तु इसका सम्भव कैसे हो सकता है, इस प्रकार असम्भावनाके प्राप्त होनेपर लोकप्रसिद्ध कार्यकारणके अभेदके अनुसार उक्त असम्भावनाकी निवृत्ति करना ही कारणत्वबोधक श्रुतिका तात्पर्य है, अतः अज्ञान ही कारण है ।

अनादिरनिर्वाच्या भूतप्रकृतिश्चिन्मात्रसम्बन्धिनी माया । तस्यां चित्प्रतिबिम्ब ईश्वरः, तस्या एव परिच्छिन्नानन्तप्रदेशेष्वावरणविक्षेपशक्तिमत्सु अविद्याभिधानेषु चित्प्रतिबिम्बो जीव इति ।

विवरणमें कहा गया है—अनादि, अनिर्वचनीय, * सब भूतोंकी प्रकृति और चिन्मात्रमें रहनेवाली जो माया है, उस मायामें चैतन्यका जो प्रतिबिम्ब है, वह ईश्वर है और उसी मायाके अविद्या नामक आवरण और विक्षेपशक्तिवाले जो परिच्छिन्न अनन्त प्रदेश हैं, उनमें चैतन्यका प्रतिबिम्ब जीव है ।

* यहाँ अनिर्वचनीयशब्दसे मायाकी सत्यताका निराकरण किया गया है, अन्यथा जैसे सांख्य प्रकृतिको सत्य मानते हैं; वैसे ही किसीको यह शङ्का हो सकती है कि 'माया' वेदान्तमतमें भी सत्य है। माया अनिर्वचनीय है, इसमें भी युक्तियोंका अनुसन्धान करना चाहिए, माया ब्रह्मसे वस्तुतः भिन्न भी नहीं है, क्योंकि ब्रह्मभिन्न सम्पूर्ण प्रपञ्चके मिथ्या होनेसे उसका भेद वास्तविक हो ही नहीं सकता। ब्रह्मसे माया अभिन्न भी नहीं है, क्योंकि चैतन्य और जड़ एक कैसे हो सकते हैं, भिन्ना-भिन्न अर्थात् ब्रह्मसे भिन्न भी है और अभिन्न भी है, ऐसा नहीं कह सकते, कारण कि परस्पर विरुद्ध भिन्नत्व और अभिन्नत्व धर्म एक मायामें कैसे रहेंगे। माया सत् भी नहीं है, द्वैतापत्ति होनेसे अद्वैत श्रुतिके साथ विरोध होगा, असत् भी वह नहीं कही जा सकती, क्योंकि जगत्की प्रकृति वह कैसे होगी, अर्थात् असत् पदार्थ किसी भी वस्तुके प्रति उपादान या निमित्त कारण नहीं हो सकता है। मायाको सदसत् नहीं कह सकते, पूर्वके समान सत्त्व और असत्त्व, जो परस्पर तेज और अन्धकारके समान विरुद्ध हैं, एकमें कदापि नहीं रह सकते। इसी प्रकार मायाको सावयव नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा स्वीकार करनेसे मायामें सादित्वका प्रसङ्ग होगा और सुतरां उसके प्रतिबिम्बभूत ईश्वरमें भी सादित्वकी प्रसक्ति होगी, और मायाके सादि माननेसे उसकी कारण और माया माननी पड़ेगी, निरवयव भी नहीं मान सकते हैं, क्योंकि जो निरवयव पदार्थ है, वह भी किसीका उपादान कारण या प्रकृति नहीं हो सकता।

निरवयव और सावयवरूप नहीं कह सकते, क्योंकि सावयत्व और निरवयवत्वके एक स्थलमें रहनेमें विरोध है। इससे सभी प्रकारसे मायाका निर्वचन करना असम्भव होनेके कारण परिशेषात् उसे अनिर्वचनीय ही मानना चाहिए।

मूलमें प्रदेशशब्दमें परिच्छिन्नत्व विशेषण देनेसे उसमें प्रतिबिम्ब जीव भी परिच्छिन्न है, यह लाभ होता है। इसीलिए अनेक स्थलोंमें भाष्यमें भी जीवका परिच्छिन्नत्व कथन सङ्गत होता है—जैसे 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्' इस सूत्रके भाष्यमें जीवनिरूपणमें अर्थात् सूत्रस्थ शारीरपदके निर्वचनमें 'शारीर इति शरीरे भव इत्यर्थः। ननु ईश्वरोऽपि शरीरे भवति, सत्यं शरीरे भवति, न तु शरीर एव भवति' इत्यादिसे जीवमें परिच्छिन्नत्वका व्यपदेश भली भाँति किया गया है। यद्यपि अनादि होनेसे मायामें अनन्त प्रदेश नहीं हो सकते है, तथापि मायाके आवरणशक्ति और विक्षेपशक्तिसे युक्त होनेसे उसके आधारपर मायाके अनेक प्रदेश बतलाये

उक्ता तत्त्वविवेके तु शुद्धसत्त्वमयी स्फुटा।
माया रजस्तमोध्वस्ताऽविद्या, शेषं तु पूर्ववत्॥ ३०॥

तत्त्वविवेकमें तो शुद्धसत्त्वप्रधान मूलप्रकृति माया कही गई है तथा रज और तमसे तिरस्कृत मूलप्रकृति अविद्या कही गई है, शेष पूर्वके समान है॥ ३०॥

तत्त्वविवेके तु—त्रिगुणात्मिकाया मूलप्रकृतेः 'जीवेशावाभासेन करोति माया चाऽविद्या च स्वयमेव भवति' इति श्रुतिसिद्धौ द्वौ रूपभेदौ। रजस्तमोऽनभिभूतशुद्धसत्त्वप्रधाना माया, तदभिभूतमलिनसत्त्वा अविद्येति मायाऽविद्याभेदं परिकल्प्य, मायाप्रतिबिम्ब ईश्वरः, अविद्याप्रतिबिम्बो जीव इत्युक्तम्।

त्रिगुणात्मिका अर्थात् सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंकी साम्यावस्था-रूप मूल प्रकृतिके माया और अविद्या दो स्वरूप 'जीवेशावाभासेन करोति'० (जीव और ईशको आभाससे करती है माया और अविद्या स्वयं होती है) इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध हैं। उनमें रज और तमसे तिरस्कृत न होकर जो मुख्य-रूपसे शुद्धसत्त्वप्रधान है वह माया है। जो रज और तमसे अभिभूत होकर मलिनसत्त्वप्रधान है, वह अविद्या है, इस प्रकार माया और अविद्याके भेदकी कल्पना करके मायामें प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर और अविद्यामें प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है, ऐसा तत्त्वविवेकमें * कहा गया है।

गये हैं। आवरणशक्ति—ब्रह्म चैतन्यको आवृत करनेवाली मायाकी शक्ति और आवरण—'ब्रह्म नहीं है, ब्रह्म प्रकाशित नहीं होता' इस प्रकारके व्यवहारकी योग्यता। विक्षेपशक्ति—तत्तज्जीवोंमें रहनेवाले असाधारण दुःखोंके अनुकूल मायाकी शक्ति। भाष्यकार अविद्याको जीवकी उपाधि मानते हैं वह भी प्रदेशोंके अभिप्रायसे है अर्थात् उन उन स्थलोंमें आया हुआ अविद्याशब्द प्रदेशार्थक है।

* तत्त्वविवेकशब्दसे विद्यारण्यस्वामीकृत पञ्चदशीका प्रथमप्रकरण ही अभिप्रेत है, क्योंकि पञ्चदशीके आरम्भमें तत्त्वविवेकप्रकरण है। किसी-किसीका मत है कि पञ्चदशीमें आये हुए सभी प्रकरणोंके कर्ता श्रीविद्यारण्यस्वामी नहीं हैं प्रत्युत भिन्न-भिन्न हैं, कुछ कालके बाद कर्ताओंके नामका ठीक-ठीक स्मरण न होनेके कारण उन सब प्रकरणोंको मिलाकर एक ग्रन्थ विद्यारण्यस्वामीजीके नामसे प्रसिद्ध हुआ, इसीलिए सिद्धान्तलेशमें उन उन प्रकरणोंका पृथक्-पृथक्रूपसे उद्धरण किया है अन्यथा 'पञ्चदशीमें ऐसा प्रतिपादन किया है' ऐसा ग्रन्थकार क्यों नहीं लिखते, परन्तु इस बातका विवेचन इतिहासके यथार्थवेत्ताओंके ऊपर छोड़कर हम प्रकृत अर्थकी पुष्टिके

विक्षेपशक्तिप्राधान्यात् मायेशोपाधिरुच्यते ।
अविद्याऽऽवरणोत्कर्षात् जीवस्येत्यपि कश्चन ॥ २१ ॥

विक्षेपशक्तिकी प्रधानतासे मूलप्रकृति—मायाशब्दसे कहलानेवाली ईश्वरकी उपाधि कही जाती है और आवरणशक्तिकी प्रधानतासे अविद्याशब्दसे वाच्य मूलप्रकृति जीवकी उपाधि कही जाती है, ऐसा भी कोई लोग कहते हैं ॥ २१ ॥

एकैव मूलप्रकृतिर्विक्षेपप्राधान्येन मायाशब्दितेश्वरोपाधिः, आवरणप्राधान्येनाविद्याऽज्ञानशब्दिता जीवोपाधिः । अत एव तस्या जीवेश्वरसाधारणचिन्मात्रसम्बन्धित्वेऽपि जीवस्यैव 'अज्ञोऽस्मि' इत्यज्ञानसम्बन्धानुभवः, नेश्वरस्येति जीवेश्वरविभागः क्वचिदुपपादितः ।

एक ही मूलप्रकृति विक्षेप अंशकी प्रधानतासे मायाशब्दसे वाच्य होकर ईश्वरकी उपाधि होती है और आवरण अंशकी प्रधानतासे अविद्या होकर अर्थात् अज्ञानसे वाच्य होकर जीवकी उपाधि होती है। इसी लिए—जीवके ही आवरणशक्तिमदुपाधिसे उक्त होनेके कारण मूल प्रकृतिका जीव और ईश्वर साधारण चिन्मात्रके साथ सम्बन्ध होनेपर भी 'अज्ञोऽस्मि' (मैं अज्ञानी हूँ) इस प्रकार जीवको ही अज्ञानके संसर्गका अनुभव होता है, ईश्वरको* नहीं होता है, क्योंकि आवरणशक्ति ईश्वर भी अंशमें प्रविष्ट नहीं है। इसलिए जीव और ईश्वरकी उपाधिके एक होनेपर भी सर्वज्ञत्व और असर्वज्ञत्वधर्मोंसे जो उनमें वैलक्षण्य है, उसकी अनुपपत्ति नहीं है। इस प्रकार भी जीव और ईश्वरका कहींपर विभाग बतलाया गया है।

लिए उक्त प्रकरणके कुछ वचन उद्धृत करते हैं—उसमें माया और अविद्याका भेद इस तरह कहा गया है—

सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते ।
मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः ॥ १६ ॥
अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा ॥ १७ ॥

सत्त्वकी शुद्धि और अशुद्धिसे प्रकृतिके माया और अविद्या दो भेद हैं, उस मायामें प्रतिफलित चिदात्मा मायाको अधीन करके सर्वज्ञ ईश्वर होता है और अविद्यामें प्रतिबिम्बरूपसे स्थित परतन्त्र अन्य चिदात्मा जीव है, उक्त वचनोंका यह भाव है। [पञ्च० तत्त्व० पृ० १२ निर्ण० मु०]।

* यहाँपर भी 'अत एव' शब्दका सम्बन्ध करना चाहिए। इसलिए आवरणशक्तिका ईश्वरकी उपाधिकुक्षिमें सम्बन्ध न होनेसे अज्ञानका सम्पर्क ईश्वरमें नहीं होगा, यह भाव है।

कार्योपाधिर्भवेज्जीवः कारणोपाधिरीश्वरः ।
प्रतिबिम्बोऽत्र सङ्क्षेपशारीरककृतां नये ॥ ३२ ॥

संक्षेपशारीरककारके मतमें अविद्यामें चैतन्यका प्रतिबिम्ब ईश्वर है और अन्तःकरणमें चैतन्यका प्रतिबिम्ब जीव है ॥ ३२ ॥

सङ्क्षेपशारीरके तु—कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः ।

इति श्रुतिमनुसृत्याऽविद्यायां चित्प्रतिबिम्ब ईश्वरः, अन्तःकरणे चित्प्रतिबिम्बो जीवः । न चाऽन्तःकरणरूपेण द्रव्येण घटेनाऽऽकाशस्येव चैतन्यस्याऽवच्छेदसम्भवात् तदवच्छिन्नमेव चैतन्यं जीवोऽस्त्विति वाच्यम्, इह

संक्षेपशारीरकमें तो कहा गया है कि 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः' (कार्योपाधिक—अन्तःकरणोपाधिक जीव है और मायोपाधिक ईश्वर है) इस श्रुतिके आधारपर अविद्यामें चैतन्यका प्रतिबिम्ब ईश्वर है और अन्तःकरणमें चैतन्यका प्रतिबिम्ब जीव है *। शङ्का होती है कि जैसे आकाशका घटरूप द्रव्यसे परिच्छेद होता है, वैसे ही अन्तःकरणरूप द्रव्यसे चैतन्यका परिच्छेद

* इस विषयमें थोड़ा विचारणीय है—'जीवेशावाभासेन करोति' इत्यादि श्रुतिके साथ इस मतका विरोध है, क्योंकि इस श्रुतिसे जीवमें कारणोपाधिकता प्रतीत होती है, इसपर कहा जाता है—'जीवेशावाभासेन' इस पूर्व भागसे जीव और ईश्वर दोनोंका प्रतिबिम्बभाव प्रतीत होता है, जहाँ बिम्ब एक ही होगा उस स्थलमें उपाधिके भेदके बिना वह नहीं हो सकता है, कारण कि सूर्य आदिके प्रतिबिम्बस्थलमें उपाधिकी भिन्नताके बिना भेद नहीं देखा जाता है, इसलिए उक्त श्रुतिसे प्रतिबिम्बरूप जीव और ईश्वरमें क्रमसे माया और अविद्या शब्दोंसे उपाधि समर्पित होती है। इस श्रुतिमें मायाशब्द मायाका कार्य अन्तःकरणरूप अर्थका बोधक है। 'माया चाविद्या च स्वयमेव भवति' इस वाक्यशेषकी उपपत्ति भी—मायाशब्दसे कहलानेवाले अन्तःकरण और मूल प्रकृतिमें मुख्य अभेदके न होनेपर भी प्रकृति विकृतिभावप्रयुक्त अभेदके समान होनेसे—हो सकती है।

कृतहान—किये गये कर्मोंकी निष्फलता, भाव यह है कि ब्राह्मण आदि शरीरोंमें रहनेवाले अन्तःकरणसे अवच्छिन्न चैतन्यप्रदेश ही इस लोकके कर्मोंका कर्ता है और अन्य लोकमें देव आदिगत अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रदेश, जो कि किसी कर्मका कर्ता नहीं है, भोक्ता होगा, इसलिए उनका भोग किसी पूर्वोपार्जित कर्मका फल नहीं हो सकता है, अतः कृतकर्मका हान स्पष्ट होगा, यदि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रदेशको जीव माना जाय, तो अकृताभ्यागम—जिसने कर्म किया उसको भोगप्राप्ति नहीं होगी और जिसने कर्म नहीं किया उसको भोग प्राप्ति होगी। अर्थात् देवादिशरीरके अन्तःकरणसे युक्त चैतन्य किसी कर्मका कर्ता नहीं है तो भी फलका भोक्ता है और मनुष्य आदि शरीरगत अन्तःकरणसे युक्त चैतन्य कर्मका कर्ता है, तो भी फलका भोक्ता नहीं हो सकता, ये दोनों दोष अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यके जीव माननेमें होंगे

परत्र च जीवभावेनावच्छेद्यचैतन्यप्रदेशस्य भेदेन कृतहानाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्। प्रतिबिम्बस्तूपाधेर्गतागतयोरवच्छेद्यवन्न भिद्यते इति प्रतिबिम्बपक्षे नायं दोष इत्युक्तम्।

एवमुक्तेष्वेतेषु जीवेश्वरयोः प्रतिबिम्बविशेषत्वपक्षेषु यत् बिम्बस्थानीयं ब्रह्म तत् मुक्तप्राप्यं शुद्धचैतन्यम्।

घटाभ्रवारिणोर्व्योम्नः प्रतिबिम्बाविवात्मनः।
बुद्धितद्वासनाभासौ जीवेशौ, बुद्ध्युपाधिकः॥ ३३॥

कूटस्थः शुद्धचित् ब्रह्म चित्रदीपे चतुर्विधम्।
कूटस्थे कल्पितो जीवः शुद्धे ब्रह्मणि चेश्वरः।
अहं ब्रह्मेति बाधायामैक्यमित्यपि तन्मतम्॥ ३४॥

घटके जल और मेघके जलमें जैसे आकाशके प्रतिबिम्ब हैं, वैसे ही बुद्धि—अन्तःकरण और उसकी वासनाओंमें चैतन्यके आभास क्रमशः जीव और ईश हैं, बुद्ध्युपाधिक—स्थूल सूक्ष्म शरीरोंमें अधिष्ठानरूपसे वर्तमान कूटस्थ चैतन्य है अर्थात् कूटके अयोघनके समान निश्चलरूपसे रहनेवाला चैतन्य है और सब उपाधियोंसे रहित शुद्ध चैतन्य ब्रह्म है, इस प्रकार चैतन्यके चार भेद चित्रदीपमें हैं। और कूटस्थमें कल्पित जीव है, शुद्धब्रह्ममें कल्पित ईश्वर है और 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूं) यह बाधमें सामानाधिकरण्य है, यह भी उसका मत है ॥३३॥३४॥

हो सकता है, तो अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही जीव हो, अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित चैतन्यको जीव क्यों माना जाता है? नहीं यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि इस लोकमें और परलोकमें अन्तःकरणसे अवच्छिन्न प्रदेशका भेद होनेसे कृतहान और अकृताभ्यागमका प्रसङ्ग आवेगा। प्रतिबिम्ब तो उपाधिके गमनमें या आगमनमें भी भिन्न नहीं होता है, इसलिए यह दोष प्रतिबिम्ब पक्षमें नहीं है।

[जैसे चन्द्र आदि प्रतिबिम्बसे युक्त जलपात्रोंमें से एकके विनाश होनेपर उसमें वृत्तिरूपसे प्रकाशित प्रतिबिम्बका बिम्बके साथ एकीभाव देखा जाता है, अन्य प्रतिबिम्बका एकीभाव नहीं देखा जाता, इसी प्रकार प्रतिबिम्बरूप जीवका भी विदेहकैवल्य समयमें बिम्बभूत शुद्ध ब्रह्मके साथ एकीभाव होगा प्रतिबिम्बभूत ईश्वरके साथ नहीं होगा, क्योंकि प्रत्यक्ष विरोध है, इस प्रकार आशङ्का करके

इस मतमें माया और अविद्या पर्याय हैं, विशुद्धसत्त्व माया है और अविशुद्धसत्त्व अविद्या है यह भेद नहीं है, इससे मायाका मायाकार्य अन्तःकरण अर्थ करनेमें और अविद्याको ईशकी उपाधि माननेमें कोई हानि नहीं है यह भाव है।

चित्रदीपे—'जीव ईशो विशुद्धा चित्' इति त्रैविध्यप्रक्रियां विहाय यथा घटावच्छिन्नाकाशो घटाकाशः, तदाश्रिते जले प्रतिबिम्बितस्साभ्रनक्षत्रो जलाकाशः, अनवच्छिन्नो महाकाशः, महाकाशमध्यवर्तिनि मेघमण्डले वृष्टिलक्षणकार्यानुमेयेषु जलरूपतदवयवेषु तुषाराकारेषु प्रतिबिम्बितो मेघाकाशः' इति वस्तुत एकस्याप्याकाशस्य चातुर्विध्यम्, तथा स्थूलसूक्ष्मदेहद्वयस्याऽधिष्ठानतया वर्तमानं तदवच्छिन्नं चैतन्यं कूटवन्निर्विकारत्वेन स्थितं कूटस्थम्, तत्र कल्पितेऽन्तःकरणे प्रतिबिम्बितं चैतन्यं संसारयोगी जीवः, अनवच्छिन्नं चैतन्यं ब्रह्म, तदाश्रिते मायातमसि स्थितासु सर्वप्राणिनां धीवासनासु प्रतिबिम्बितं चैतन्यमीश्वरः इति चैतन्यस्य चातुर्विध्यं परिकल्प्य अन्तःकरणधीवासनोपरक्ताज्ञानोपाधिभेदेन जीवेश्वरविभागो दर्शितः ।

इष्टापत्तिसे परिहार करते हैं—'एवम्' इत्यादिसे] इस प्रकारसे जीव और ईश्वरके विषयमें कहे गये इन प्रतिबिम्बविशेष पक्षोंमें जो बिम्बस्थानीय शुद्ध चैतन्य ब्रह्म है, वही मुक्तों द्वारा प्राप्तव्य है ।

चित्रदीपमें 'जीव ईशो विशुद्धा चित्' (जीव, ईश और शुद्ध चेतन) इस प्रकार चैतन्यके तीन भेदोंकी प्रक्रियाको छोड़कर—जैसे घटरूप उपाधिसे युक्त आकाश—घटाकाश है, उस घटस्थ आकाशमें आश्रित जलमें प्रतिबिम्बित बादल और नक्षत्रोंके सहित जो आकाश है—वह जलाकाश है, घट आदि उपाधिसे रहित आकाश—महाकाश है और महाकाशके मध्यवर्ती मेघमण्डलमें वृष्टिरूप कार्यसे अनुमित जलरूप तुषाराकार मेघमण्डलके अवयवोंमें प्रतिबिम्बित आकाश मेघाकाश है, इस प्रकार वस्तुस्थितिमें एक ही आकाशके चार भेद हैं, वैसे ही स्थूल और सूक्ष्म दो शरीरोंमें अधिष्ठानरूपसे वर्तमान दो देहोंसे अवच्छिन्न (युक्त) चैतन्य कूटके—लोहघनके—समान निर्विकाररूपसे स्थित कूटस्थ चैतन्य है, उस कूटस्थ चैतन्यमें कल्पित अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित चैतन्य—सांसारिक जीव चैतन्य है, समस्त उपाधिसे रहित अर्थात् अनवच्छिन्न चैतन्य—ब्रह्मचैतन्य है और ब्रह्मके आश्रित मायारूप तममें विद्यमान सब प्राणियोंकी 'धीवासनाओंमें (धी उनका नाम है जो अन्तःकरण जाग्रत् और स्वप्न दो अवस्थाओंमें स्थूलरूपसे अनुगत हैं और उन अन्तःकरणोंकी सुषुप्तिकालीन सूक्ष्मावस्थाको वासना कहते हैं) प्रतिबिम्बित चैतन्य—ईश्वरचैतन्य है,—इस रीतिसे चैतन्यके चार विभाग करके अन्तःकरण और

अयं चापरस्तदभिहितो विशेषः—चतुर्विधेषु चैतन्येषु जीवः 'अहम्' इति प्रकाशमानः कूटस्थे अविद्यातिरोहितासङ्गानन्दरूपविशेषांशे शुक्तौ रूप्यवदध्यस्तः। अत एवेदन्त्व-रजतत्वयोरिवाऽधिष्ठानसामान्यांशाध्यस्त-विशेषांशरूपयोः स्वयन्त्वाहन्त्वयोः सह प्रकाशः 'स्वयमहं करोमि' इत्यादौ।

धीवासनोपरक्त अज्ञानरूप दो उपाधियोंके भेदसे जीव और ईश्वरका विभाग बतलाया गया है *।

इस विषयमें चित्रदीपमें कहा गया यह अन्य विशेष है अर्थात् इसमें पूर्व ग्रन्थसे चैतन्यका चातुर्विध्य विशेष दिखलाया उसकी अपेक्षा अन्य प्रतिबिम्ब मिथ्यात्वरूप विशेष है, यह भाव है। चार प्रकारके चैतन्योंमेंसे 'अहम्' (मैं) इस प्रकारसे प्रकाशमान जो जीव है, वह अविद्यासे आच्छादित हुए हैं असङ्ग और आनन्दरूप विशेष अंश जिसके, ऐसे कूटस्थ चैतन्यमें—शुक्तिमें रजतके समान—अध्यस्त है, इसीलिए अर्थात् अहमर्थके कूटस्थमें अध्यस्त

---

* पञ्चदशीके चित्रदीपप्रकरणमें इस अभिप्रायके सूचक निम्नलिखित श्लोक हैं—

कूटस्थो ब्रह्म जीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा।
घटाकाशमहाकाशौ जलाकाशाभ्रखे यथा ॥१८॥
घटावच्छिन्नखे नीरं यत्तत्र प्रतिबिम्बितः।
साभ्रनक्षत्र आकाशो जलाकाश उदीर्यते ॥१९॥
महाकाशस्य मध्ये यन्मेघमण्डलमीक्ष्यते।
प्रतिबिम्बतया तत्र मेघाकाशो जले स्थितः ॥२०॥
मेघांशरूपमुदकं तुषाराकारसंस्थितम्।
तत्र खप्रतिबिम्बोऽयं नीरत्वादनुमीयते ॥२१॥
अधिष्ठानतया देहद्वयावच्छिन्नचेतनः।
कूटवन्निर्विकारेण स्थितः कूटस्थ उच्यते ॥ २२ ॥
कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रतिबिम्बकः।
प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते ॥ २३ ॥
जलव्योम्ना घटाकाशो यथा सर्वस्तिरोहितः।
तथा जीवेन कूटस्थः सोऽन्योन्याध्यास उच्यते ॥ २४ ॥

इन श्लोकोंका भाव मूल ग्रन्थसे व्यक्त है, केवल अन्तिम श्लोकका सार यह है कि यदि कूटस्थ चेतन है, तो उसका अनुभव क्यों नहीं होता है? इसका उत्तर है कि जैसे जलाकाशसे घटाकाश तिरोहित हो जाता है, वैसे ही जीवसे तिरोहित हो जानेके कारण कूटस्थका अनुभव नहीं होता है, और इसीको अन्योन्याध्यास कहते हैं।

अहन्त्वं ह्यध्यस्तविशेषांशरूपम्, पुरुषान्तरस्य पुरुषान्तरे 'अहम्' इति व्यवहाराभावेन व्यावृत्तत्वात्। स्वयन्त्वं चाऽन्यत्वप्रतियोग्यधिष्ठानसामान्यांशरूपम्। 'स्वयं देवदत्तो गच्छति' इति पुरुषान्तरेऽपि व्यवहारेणाऽनुवृत्तत्वात्, एवं परस्पराध्यासादेव कूटस्थजीवयोरविवेको लौकिकानाम्।

होनेसे ही जैसे 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इसमें इदन्त्व और रजतत्वका, जो क्रमशः अधिष्ठानसामान्य अंश और अध्यस्तविशेष अंश हैं, साथ-साथ प्रकाश होता है, वैसे ही स्वयन्त्व और अहन्त्वका साथ-साथ प्रकाश होता है—'स्वयमहं करोमि' (मैं स्वयं करता हूँ) इत्यादिमें। *प्रकृतमें अहन्त्व अध्यस्तविशेष अंश है, क्योंकि अन्य पुरुषका अन्य पुरुषमें 'अहम्' इस प्रकारका व्यवहार नहीं होता, इसलिए व्यावृत्त है। और स्वयन्त्व तो अन्यत्वका विरोधी है और अधिष्ठानसामान्य अंश है, क्योंकि 'स्वयं देवदत्तः गच्छति' (देवदत्त स्वयं जाता है) इस प्रकार अन्य पुरुषमें भी स्वयन्त्वका व्यवहार होनेसे वह अनुवृत्त है। ऐसा होनेपर—अहमर्थ जीवके शुक्तिमें रूप्यके समान कूटस्थमें अध्यस्त होनेपर—परस्पर अभेदके अध्याससे ही कूटस्थ और जीवका लोकमें अन्योन्य अभेद भासता है।

---

* कूटस्थके असङ्गत्व, आनन्दत्व और पूर्णत्व आदि विशेषधर्म अविद्याके प्रभावसे प्रतीत नहीं होते, यह हम मानते हैं, परन्तु जैसे शुक्तिका इदन्त्व अंश प्रकाशित होता है, वैसे अधिष्ठानका सामान्य अंश प्रकाशित नहीं होता। किञ्च, जैसे 'इदं रजतम्' इत्यादिमें अधिष्ठानके सामान्य अंशका और आरोपित विशेष अंशका साथ-साथ प्रकाश होता है, वैसे प्रकृतमें अहंरूप विशेष अंश और सामान्य अंशका प्रकाश नहीं होता किन्तु अहमर्थ विशेषका ही प्रकाश होता है इसलिए कूटस्थमें 'अहम्' का शुक्तिमें रूप्यके समान अध्यास है, यह कहना असङ्गत है, इसपर 'अत एव' इत्यादिसे कहते हैं। यद्यपि कूटस्थका सामान्य अंश कूटस्थत्व होना चाहिए, तथापि शास्त्रीय-प्रमाणके अनुसार 'स्वयन्त्व' ही उसका सामान्य अंश है, ऐसा माननेके लिए हमें बाध्य होना पड़ता है, इसलिए अहमर्थके—जीवके—आरोपकालमें स्वयन्त्वका साथ-साथ प्रकाश होता है, किं बहुना स्वयन्त्वके कूटस्थ चैतन्यरूप होनेसे आरोप-पूर्वकालमें भी उसका भान होता है। यद्यपि स्वयन्त्व और कूटस्थ एक ही है, तथापि 'राहोः शिरः' (राहुका माथा) के समान यहाँ भेदकी कल्पना करके धर्मधर्मिभावकी उपपत्ति करनी चाहिए। अतः स्वयन्त्वसामान्यरूपसे कूटस्थका सर्वदा प्रकाश होनेसे अहमर्थ (जीव) रूप चिदाभासके अध्यासका अधिष्ठान कूटस्थ उपपन्न हुआ। पुरुषान्तरमें 'मैं' शब्दका व्यवहार न होनेसे उसमें 'अहन्त्व' की व्यावृत्तिका अवगम होता है, अतः अहन्त्व विशेष अंश है। स्वयम् और अन्य शब्द एकार्थक नहीं हैं, परन्तु पुरुषान्तरमें स्वयंशब्दका व्यवहार होता है, इसलिए उसे सामान्यांश माननेमें कोई हरकत नहीं

विवेकस्तु तयोर्बृहदारण्यके—'प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति' इति जीवाभिप्रायेणोपाधिविनाशानुविनाशप्रति-

['इदं रजतम्' (यह रजत है) इत्यादि भ्रमस्थलमें 'यह शुक्ति है' इस प्रकारके विशेष परिज्ञानसे 'इदं रजतम्' इससे प्रतीत सामान्य और विशेष पदार्थोंमें शुक्तित्व और रजतत्वरूप विरुद्ध धर्मोका निश्चय होनेसे उनका भेद माना जाता है, परन्तु प्रकृतमें जीव और कूटस्थका भेद कैसे अवगत हो सकता है? यदि भेदका परिज्ञान न हो, तो 'स्वयमहम्' (मैं स्वयम्) इस प्रकार सामान्यविशेषभावसे प्रतीयमान जीव और कूटस्थका सत्यस्थलीय रजत और इदमर्थके समान वस्तुतः एकत्वापत्ति होनेसे अहमर्थ-जीवकी स्वयंशब्दार्थ-कूटस्थमें कल्पना नहीं हो सकती, इस प्रकारकी आशङ्का करके श्रुतिसे उनका भेद दिखलाते हैं]—बृहदारण्यकमें जीव और ईश्वरका भेदानुभव तो 'प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय०' (प्रज्ञानरूप आत्मा ही देहादिरूपसे परिणत सन्निहित उपाधिरूप भूतोंसे समुत्थानकर—उपाधिभूत बुद्धि आदिकी उत्पत्तिसे उत्पत्तियुक्त होकर—तत्त्वज्ञानसे उन उपाधियोंका विनाश होनेपर उन्हीं भूतोंमें लीन हो जाता है) इत्यादि श्रुतिसे जीवके अभिप्रायसे ही अर्थात् जीवका ही उपाधिके विनाशके अनन्तर विनाशप्रतिपादन

है—जैसे इदन्त्व शुक्तिमें रहता है, वैसे ही पट आदिमें भी रहता है। इस विशेष पक्षके संग्राहक निम्न लिखित श्लोक हैं—

'अविद्यावृतकूटस्थे देहद्वययुता चितिः।
शुक्तौ रूप्यवदध्यस्ता विक्षेपाध्यास एव हि ॥३३॥
आरोपितस्य दृष्टान्ते रूप्यं नाम यथा तथा।
कूटस्थाध्यस्तविक्षेपनामाहमिति निश्चयः ॥३६॥
इदमंशं स्वतः पश्यन् रूप्यमित्यभिमन्यते।
तथा स्वं च स्वतः पश्यन्नहमित्यभिमन्यते ॥३७॥
इदन्त्वरूप्यते भिन्ने स्वत्वाहन्ते तथेष्यताम्।
सामान्यं च विशेषश्च ह्युभयत्रापि गम्यते ॥३८॥
देवदत्तः स्वयं गच्छेत्त्वं वीक्षस्व स्वयं तथा।
अहं स्वयं न शक्नोमीत्येवं लोके प्रयुज्यते ॥३९॥' [पञ्च० चित्रदी०]

इन श्लोकोंके आधारपर ही 'अयञ्चापरस्तदभिहतो विशेषः' इत्यादिसे विशेष बात कही गई है, और जो मूलमें विशेष कहा है, वही इन श्लोकोंका अर्थ है, अतः श्लोकोंका अनुवाद नहीं किया गया।

पादनेन, 'अविनाशी वा अरेऽयमात्मा' इति कूटस्थाभिप्रायेणाऽविनाशप्रतिपादनेन च स्पष्टः। अहमर्थस्य जीवस्य विनाशित्वे कथमविनाशिब्रह्माभेदः। नेदमभेदे सामानाधिकरण्यम्, किन्तु बाधायाम्। यथा 'यः स्थाणुरेष पुमान्'

किया गया है, इससे और 'अविनाशी वा अरे०' (हे मैत्रेयि! यह आत्मा अविनाशी है) इत्यादि श्रुतिसे कूटस्थ आत्माके अविनाशित्वका प्रतिपादन करनेसे स्पष्ट ही है *। यहांपर शङ्का होती है कि यदि श्रुतिसे वह विनाशी सिद्ध हो तो उसका—अहमर्थ जीवका—अविनाशी ब्रह्मके साथ अभेद कैसे होगा? यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि अविनाशी ब्रह्म और जीवका सामानाधिकरण्य अभेद अर्थमें नहीं है, † परन्तु बाध अर्थमें सामानाधिकरण्य है—जैसे

---

* भाव यह है कि यद्यपि 'अयमात्मा प्रज्ञानघनः' इत्यादि श्रुतिसे ज्ञात होता है कि चिदेकरस आत्मा ही उपाधिके उद्भवके पश्चात् उत्पन्न होता है और उपाधिके नाशके अनन्तर नष्ट होता है, अतः उपाधिकी उत्पत्ति और विनाशसे पृथक् ही चिदात्माकी उत्पत्ति और विनाशका प्रतिपादन है, क्योंकि अनुशब्दका प्रयोग है, तथापि चिदात्माकी उत्पत्ति और विनाश स्वभावसिद्ध हैं, ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि 'अविनाशी वा अरेऽयमात्मा०' (हे मैत्रेयि, यह आत्मा अविनाशी है) इस श्रुतिसे विज्ञानघन आत्माके अविनाशका प्रतिपादन है। इसलिए उत्पत्ति-विनाशवान् चैतन्य प्रतिबिम्बरूप जीवके तादात्म्यके आधारपर विनाश आदि वचनकी उपपत्ति करनी चाहिए। इससे भ्रमस्थलमें रजत और इदमर्थमें जैसे विनाशित्व और अविनाशित्वरूप विरुद्ध धर्मके निश्चयसे भेदग्रह होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी विनाशित्व और अविनाशित्वरूप विरुद्ध धर्मके निश्चयसे ही जीव और कूटस्थके भेदका परिज्ञान होता है।

† इसका यह भाव है 'सोऽयम् नरेन्द्रः' (वह यह नरेन्द्र है) इत्यादि समानाधिकरण वाक्यका जैसे अभेद अर्थ प्रतीत होता है—कलकत्तेमें जिस नरेन्द्रको देखा था वही यह है, अतः कलकत्तेके नरेन्द्र और इस नरेन्द्रका भेद नहीं है किन्तु अभेद ही है, वैसे 'यः स्थाणुः स पुरुषः' (जो स्थाणु था वह पुरुष है) इस समानाधिकरण वाक्यसे अभेद—प्रतीत नहीं होता, क्योंकि स्थाणु और पुरुषका अभेद कभी नहीं घट सकता, इसलिए यहाँपर वाक्यार्थ है—बाध, अर्थात् उक्त वाक्यसे—जिस आधारभूत पुरुषमें स्थाणुत्वकी कल्पना की गई है, उसमें स्थाणुतादात्म्य नहीं है—इस प्रकार बाधरूप वाक्यार्थ देखा जाता है। इसलिए 'यः स्थाणुः स पुरुषः' इस वाक्यसे 'वस्तुतः स्थाणुतादात्म्याभाववानयं पुरुषः' (वस्तुतः पुरुष स्थाणु-तादात्म्यका आधार नहीं है) यह बोध होता है। इस बोधसे पुरुषमें स्थाणुरूप विषयके सहित आरोप निवृत्त होता है। इसी रीतिसे 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) अहमर्थ (जीव) तादात्म्यसे शून्य 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान होता है और इस ज्ञानसे 'मैं कर्ता हूँ' इत्यादि आरोप—सम्पूर्ण कर्तृत्व आदि धर्मोंसे विशिष्ट जीवरूप अपने विषयोंके साथ निवृत्त होता है। आरोपित अहमर्थकी निवृत्ति होनेपर जो जीवका कूटस्थसत्यस्वरूप स्वरूप है वह पूर्ण ब्रह्मरूपसे रहता है, इसलिए श्रुत्यन्तरके साथ विरोध नहीं है॥

इति पुरुषत्वबोधेन स्थाणुत्वबुद्धिर्निवर्त्यते। एवम् 'अहं ब्रह्मास्मि' इति कूटस्थब्रह्मस्वरूपत्वबोधेनाऽध्यस्ताहमर्थरूपत्वं निवर्त्यते।

'योऽयं स्थाणुः पुमानेष पुन्धिया स्थाणुधीरिव।
ब्रह्माऽस्मीति धियाऽशेषा ह्यहम्बुद्धिर्निवर्तते॥'

इति नैष्कर्म्यसिद्धिवचनात्। यदि च विवरणाद्युक्तरीत्या इदमभेदे सामानाधिकरण्यम्, तदा जीववाचिनोऽहंशब्दस्य लक्षणया कूटस्थपरत्वमस्तु। तस्याऽनध्यस्तस्य ब्रह्माभेदे योग्यत्वात्।

'जो स्थाणु है, वह पुरुष है, इस प्रकार स्थाणुमें पुरुषत्वके ‡ बोधनसे स्थाणुत्वका ज्ञान निवृत्त होता है, वैसे ही 'मैं ब्रह्म हूं' इस प्रकार जीवमें ब्रह्मस्वरूपत्वके बोधसे अध्यस्त अहमर्थरूपताकी—जीवरूपताकी—निवृत्ति होती है।

'योऽयं स्थाणुः०' (जैसे मन्द अन्धकारमें 'जिसे स्थाणु [पुरुषाकार खड़ा हुआ सूखा वृक्ष विशेष] समझा था यह तो पुरुष है, इस प्रकारके महाजनके वाक्यसे उत्पन्न हुई पुरुषविषयक बुद्धिसे अर्थात् 'यह पुरुष ही है स्थाणु नहीं' इस प्रकारकी बुद्धिसे 'यह स्थाणु है' इस प्रकारकी बुद्धि आरोपित स्थाणु तादात्म्य के साथ निवृत्त होती है, वैसे ही 'मैं ब्रह्म हूं' इस वाक्यसे उत्पन्न बुद्धिसे—अहमर्थभूत जीवके तादात्म्यसे शून्य केवल ब्रह्मरूप ही मैं हूँ, इस प्रकारकी अहंबुद्धिसे—'मैं करता हूँ' इत्यादि सम्पूर्ण बुद्धि आरोपित अहमर्थके साथ निवृत्त होती है) ऐसा नैष्कर्म्यसिद्धिका * वचन भी है। यदि विवरण आदिके कथनानुसार 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) यह सामानाधिकरण्य अभेदमें माना जाय, तो जीववाचक अहंशब्दका लक्षणावृत्तिसे कूटस्थ चैतन्य ही अर्थ मानना होगा, क्योंकि उसीकी अनध्यस्त ब्रह्मके अभेदमें योग्यता है।

---

‡ पुरुषत्वपदसे कल्पितस्थाणुतादात्म्याभाववत्त्व विवक्षित है, क्योंकि बाधक ही वाक्यार्थ माना गया है, यह भाव है।

* नैष्कर्म्यसिद्धिमें सुरेश्वराचार्यका यह वचन है, इसलिए बाधको वाक्यार्थ माननेमें कोई हानि नहीं है। इस श्लोकमें 'हि' शब्द इस अर्थका सूचन करता है—महावाक्यार्थके ठीक-ठीक परिज्ञानसे सम्पूर्ण अनर्थकी निवृत्ति होती है, यह अनुभवी पुरुषोंके अनुभवसे सिद्ध है।

† समानाधिकरण वाक्योंका यह स्वभाव है कि उनका अर्थ मुख्यतः अभेद ही होता है, और विवरण आदिमें ऐसे समानाधिकरण वाक्योंकी अभेदार्थकता ही मानी गई है। वाक्यवृत्तिमें भगवत्पादशङ्कराचार्यजी महाराजने भी 'तादात्म्यमात्रं वाक्यार्थस्तयोरेव पदार्थयोः' इस श्लोकसे

यस्तु मेघाकाशतुल्यो धीवासनाप्रतिबिम्ब ईश्वर उक्तः, सोऽयं 'सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्' इति माण्डूक्यश्रुतिसिद्धः सौषुप्तानन्दमयः, तत्रैव तदनन्तरम् 'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्' इति श्रुतेः ।

---

* और मेघाकाशके समान धीवासनाओंमें प्रतिबिम्ब चैतन्य ईश्वर है, ऐसा जो कहा गया है, वह 'सुषुप्तस्थान एकीभूतः' (सुषुप्तस्थान—सुषुप्त है स्थान जिसका, ऐसा एकीभूत और प्रज्ञानघन—जीव ही आनन्दमय और आनन्दभोक्ता है) इस माण्डूक्यश्रुतिसे सिद्ध सुषुप्तिकालीन आनन्दमय है, क्योंकि वहींपर उसके बाद 'एष सर्वेश्वरः०' (यही सर्वेश्वर, सर्वज्ञ और

'तत्त्वमसि' महावाक्यमें तत् और त्वंका तादात्म्यशब्दसे कहे जानेवाला अभेद ही वाक्यार्थ माना है, इसलिए वार्तिककारके वचनानुसार 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि स्थलमें बाधका वाक्यार्थकत्व केवल प्रौढिवाद ही है, इसलिए 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिमें अभेदको ही वाक्यार्थ मानना चाहिए। इस परिस्थितिमें विनाशी जीव और अविनाशी ब्रह्मका अभेद नहीं हो सकता है, इसलिए पूर्वमतमें अस्वरस है, अतः 'यदि च' शब्दसे विवरणका मत कहते हैं।

* यहाँ तुशब्द अवधारणार्थक है अर्थात् पूर्वमें जो ईश्वर कहा गया है, वह श्रुतिमें उक्त आनन्दमय ही है, उससे अन्य नहीं है, यह भाव है। 'सुषुप्तस्थान' इत्यादि श्रुतिका स्पष्ट अर्थ यह है—सुषुप्तं स्थानं यस्य सः—सुषुप्तस्थानः अर्थात् जिसका सुषुप्ति स्थान है। जाग्रदवस्थामें अन्तःकरणके साथ तादात्म्यका अध्यास होनेसे विज्ञानमयत्व, मनोमयत्व और कर्तृत्व आदि रूप जीवके धर्म हैं, देहमें 'मैं स्थूल हूँ' इत्यादि अध्याससे स्थूलत्व, कृशत्व, मानुषत्व आदि रूप धर्म हैं, तथा चक्षु आदिमें 'मैं काना हूँ' इत्यादिके अध्याससे काणत्व आदि धर्म हैं, इसी प्रकार आकाश आदि बाह्य पदार्थोंमें अध्याससे होनेवाले श्रुतिद्वारा प्रतिपादित आकाशमयत्व आदि धर्म हैं और सुषुप्तिमें तो बुद्धि आदिका विलय होनेसे समस्त संसारकी भ्रान्तिका अभाव होनेसे उक्त सभी प्रकारके स्वरूप लीन होते हैं, अतः इसी अभिप्रायसे श्रुतिमें एकीभूत कहा गया है, इसीसे इस अर्थका संवादक श्लोक उपलब्ध होता है—

'विज्ञानमयमुख्यैर्यो रूपैर्युक्तः पुराऽधुना ।
स लयेनैकतां प्राप्तो बहुतण्डुलपिष्टवत् ॥' [प० ब्रह्मानन्द श्लो० ६९]

सुषुप्तिके पूर्वमें विज्ञानमय आदि स्वरूपोंसे जो युक्त था वह सुषुप्तिमें उन रूपोंके विनाशसे अनेक तण्डुलोंका पिष्ट जैसे एकरूप हो जाता है, वैसे ही एकरूप हो गया। प्रज्ञान चैतन्य है। जागरणमें वृत्तियोंके अनेक होनेसे जीवका चैतन्य उस समयमें शिथिल हो जाता है,

सर्ववस्तुविषयसकलप्राणिधीवासनोपाधिकस्य तस्य सर्वज्ञत्वस्य तत एव सर्वकर्तृत्वादेरप्युपपत्तेश्च। न चाऽस्मद्बुद्धिवासनोपहितस्य कस्यचित् सार्वज्ञ्यं नाऽनुभूयते इति वाच्यम्, वासनानां परोक्षत्वेन तदुपहितस्याऽपि परोक्षत्वादिति।

अन्तर्यामी है और यह उत्पत्ति और विनाशका कारण है, इसलिए सम्पूर्ण जगत्का उपादान कारण है) इत्यादि श्रुति है। सम्पूर्ण वस्तुको विषय करनेवाली सब प्राणियोंकी धीवासनाओंसे † उपहित उस चैतन्यमें सर्वज्ञत्व और उसी श्रुतिसे सर्वकर्तृत्वकी उपपत्ति भी होती है। और हम लोगोंकी बुद्धिकी वासनाओंसे उपहित किसी चैतन्यमें सर्वज्ञत्वका अनुभव नहीं होता, यह आपत्ति नहीं है, क्योंकि वासनाओंके परोक्ष होनेसे उपहित चैतन्य भी परोक्ष है।

और सुषुप्तिमें वृत्तियोंका लय होनेसे उसका घनीभाव रहता है, इसे प्रज्ञानघन—चैतन्यघन कहते हैं, आनन्दमय है अर्थात् बिम्बभूत ब्रह्मानन्दका प्रतिबिम्ब होनेसे जीव आनन्दमय है। और यह आनन्दमय जीव सुषुप्तिकालमें अविद्यावृत्तिसे उपभोग करता है, इसलिए आनन्दभुक् भी उसे कह सकते हैं।

† आनन्दमय सर्वज्ञ है इसमें युक्ति इस ग्रन्थसे देते हैं—एक बुद्धि किसी एक वस्तुको विषय करती है और सब बुद्धियां मिलकर सभी वस्तुओंको विषय करती हैं। इस प्रकारसे सब बुद्धियां यदि सब वस्तुओंका अवगाहन करें, तो उन बुद्धियोंकी वासनाएँ भी सब पदार्थोंको अवश्य विषय करेंगी। इसलिए सब प्राणियोंकी बुद्धिवासनाओंसे उपहित आनन्दमयमें भी सर्ववस्तुविषयकत्व होनेसे सर्वज्ञत्व अर्थात् सिद्ध ही है, अतः आनन्दमयको सर्वज्ञ माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। प्रकृतमें यह चिन्ता होती है कि धीवासनाओंसे उपरक्त अज्ञानसे उपहित जो ईश है, उसमें शुद्ध अज्ञान ही उपाधि है अथवा वासनासे उपरक्त, या सम्पूर्ण धीवासना अथवा प्रत्येक वासना उपाधि है, यदि प्रथम पक्षका स्वीकार किया जाय, तो 'धीवासनाओंमें प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर है, ऐसा जो कहा गया है, उसके साथ विरोध होगा, क्योंकि केवल अज्ञान उपाधि हो तो धीवासनाको उपाधि कहना व्यर्थ ही है। और द्वितीय पक्ष भी अयुक्त है, क्योंकि अज्ञानमें रहनेवाले सत्त्वांशकी परिणामरूप सर्वविषयक वृत्तियोंसे सर्वज्ञत्वकी उपपत्ति हो सकती है, तो फिर वासनोपरक्त अज्ञानको उपाधि मानना केवल मूर्खता है। तृतीय पक्ष भी अयुक्त है, क्योंकि एक कालमें सब वृत्तियाँ नहीं हो सकती हैं। इसलिए चौथा पक्ष ही परिशेषसे बचता है, परन्तु इसमें अनुभवविरोध है, और इसी अनुभवविरोधका 'न चा०' इत्यादि ग्रन्थसे परिहार भी किया गया है। अर्थात् वासनाओंके परोक्ष होनेसे उन वासनाओंसे उपहित आनन्दमयकी 'अहं सर्वज्ञः' इस प्रकार अपरोक्षानुभूति नहीं होती है, यह भाव है।

ब्रह्मानन्दे विराडादिसमष्टिव्यष्ट्युपाधितः ।
षोढा चिदानन्दमयव्यष्टिर्जीव इतीरितम् ॥ ३५ ॥

शुद्धलिप्ताङ्कितापूर्णवर्णचित्रपटोपमाः ।
ब्रह्मेशसूत्रवैराजाः परामाससमोऽसुभृत् ॥
चित्रदीपे चित्रपटन्यायेनेत्थं निरूपिताः ॥ ३६ ॥

विराट्सूत्राक्षराण्यादौ विभज्य प्रणवाक्षरैः ।
विलाप्य गौडपादीये तुरीयात्माऽवशेषितः ॥ ३७ ॥

ब्रह्मानन्द (प्रकरण)में विराट् आदि समष्टि और व्यष्टिरूप उपाधिके भेदसे चैतन्यके छः भेद हैं व्यष्टि आनन्दमय जीव है, ऐसा कहा गया है। चित्रदीपमें—चित्रपटके दृष्टान्तसे अर्थात् जैसे शुद्ध, लाञ्छित, अङ्कित और वर्णसे पूरित इस प्रकारसे वस्त्रके चार भेद होते हैं, वैसे ही ब्रह्म, ईश, सूत्र और विराट् ये चैतन्यके चार भेद हैं और जीव ब्रह्मके आभासके समान है, ऐसा निरूपण किया गया है। पहले विराट्, सूत्र और अक्षरका विभाग करके 'ओम्‌के' अ, उ और म्—इन तीन अक्षरोंके साथ उनका प्रविलापन करके तुरीय आत्माका गौड़पादकी कारिकाओंके विवरणमें अवशेष बतलाया है ॥३५॥३६॥३७॥

ब्रह्मानन्दे तु सुषुप्तिसंयोगात् माण्डूक्योक्त आनन्दमयो जीव इत्युक्तम् ।

ब्रह्मानन्दमें * तो माण्डूक्यमें कहा गया आनन्दमय सुषुप्तिके संयोगसे

---

* पञ्चदशीमें ब्रह्मानन्दके योगानन्दप्रकरणमें इस अर्थके संग्राहक निम्न लिखित श्लोक हैं—

'स आनन्दमयः सुप्तौ स विज्ञानमयात्मताम् ।
गत्वा स्वप्नं प्रबोधं वा प्राप्नोति स्थानभेदतः ॥' [पञ्च० ब्र० यो० श्लो० ९०]

और पञ्चदशीके चित्रदीपप्रकरणमें चैतन्यके चार भेद चित्रपटके दृष्टान्तसे बतलाये गये हैं—

'यथा चित्रपटे दृष्टमवस्थानां चतुष्टयम् ।
परमात्मनि विज्ञेयं तथाऽवस्थाचतुष्टयम् ॥१॥
यथा धौतो घट्टितश्च लाञ्छितो रञ्जितः पटः ।
चिदन्तर्यामी सूत्रात्मा विराट् चाऽऽत्मा तथेर्यते ॥२॥
स्वतः शुभ्रोऽत्र धौतः स्याद्घट्टितोऽन्नविलेपनात् ।
मष्याकारैर्लाञ्छितः स्याद्रञ्जितो वर्णपूरणात् ॥३॥
स्वतश्चिदन्तर्यामी तु मायावी सूक्ष्मसृष्टितः ।
सूत्रात्मा स्थूलसृष्ट्यैव विराडित्युच्यते परः ॥४॥

इन सभी श्लोकोंका भाव मूलमें ग्रन्थकारने स्पष्टरूपसे लिखा है। इसलिए पुनरुक्ति नहीं करते हैं।

यदा हि जाग्रदादिषु भोगप्रदस्य कर्मणः क्षये निद्रारूपेण विलीनमन्तःकरणं पुनर्भोगप्रदकर्मवशात् प्रबोधे घनीभवति, तदा तदुपाधिको जीवः विज्ञानमय इत्युच्यते। स एव पूर्वं सुषुप्तिसमये विलीनावस्थोपाधिकः सन्नानन्दमय इत्युच्यते। स एव माण्डूक्ये 'सुषुप्तस्थानः' इत्यादिना दर्शित इति। एवं सति तस्य सर्वेश्वरत्वादिवचनं कथं सङ्गच्छताम्?

इत्थम्, सन्त्यधिदैवतमध्यात्मं च परमात्मनः सविशेषाणि त्रीणि त्रीणि रूपाणि। तत्राऽधिदैवतं त्रीणि शुद्धचैतन्यं चेति चत्वारि रूपाणि चित्रपट-दृष्टान्तेन चित्रदीपे समर्थितानि। यथा स्वतश्शुभ्रः पटो धौतः, अन्नलिप्तो घट्टितः, मष्यादिविकारयुक्तो लाञ्छितः, वर्णपूरितो रञ्जितः, इत्यवस्थाचतुष्टयमेकस्यैव चित्रपटस्य, तथा परमात्मा मायातत्कार्योपाधिरहितः शुद्धः,

---

जीव ही है, ऐसा कहा गया है। और जब जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें भोग-प्रद कर्मका विनाश होनेपर निद्रारूपसे तिरोहित अन्तःकरण फिर भोग देनेवाले कर्मके बलसे प्रबोध अवस्थामें स्थूलरूपताको प्राप्त होता है, तब उस अन्तःकरणरूप उपाधिसे युक्त जीव 'विज्ञानमय' शब्दसे कहा जाता है। यही जीव पहले निद्राके समयमें विलीनावस्थोपाधिक (जिसकी उपाधिकी अवस्था विलीन है) होता हुआ 'आनन्दमय' शब्दसे कहा जाता है। और इसीका माण्डूक्य उपनिषत्में 'सुषुप्तस्थानः' इत्यादिसे परिचय कराया गया है। यदि आनन्दमय जीव ही है, तो 'एष सर्वेश्वरः' इत्यादि वाक्यशेषके साथ, जो जीवमें ईश्वरत्वका प्रतिपादन करता है, विरोध होगा अर्थात् उपक्रम-वाक्यकी उपसंहारवाक्यके साथ सङ्गति कैसे होगी?

इस प्रकार उसकी सङ्गति होगी। [भाव यह है कि यद्यपि सुषुप्तिकालिक जीवरूप आनन्दमय चैतन्य ईश्वररूप नहीं है, तो भी ईश्वरके साथ अभेदकी विवक्षा करके उक्त उपक्रम और उपसंहारकी सङ्गति होगी इसीको दिखलाते हैं—] परमात्माके अधिदैव और अध्यात्म सविशेष तीन-तीन रूप हैं। उनमें से देवतात्मक तीन रूप और चौथा शुद्ध चैतन्य, इस प्रकार चार रूपोंका चित्रित वस्त्रके दृष्टान्तसे चित्रदीपमें समर्थन किया गया है—जैसे स्वाभाविक शुभ्र वस्त्र धौत कहलाता है, अन्न आदिसे लिप्त घट्टित कहा जाता है, स्याही आदिसे संयुक्त लाञ्छित कहा जाता है, वर्णोंसे रंगा हुआ रञ्जित कहा जाता है, इस प्रकार

मायोपहित ईश्वरः, अपञ्चीकृतभूतकार्यसमष्टिसूक्ष्मशरीरोपहितो हिरण्यगर्भः, पञ्चीकृतभूतकार्यसमष्टिस्थूलशरीरोपहितो विराट् पुरुष इत्यवस्थाचतुष्टयमेकस्यैव परमात्मनः। अस्मिंश्च चित्रपटस्थानीये परमात्मनि चित्रस्थानीयः स्थावरजङ्गमात्मको निखिलः प्रपञ्चः। यथा चित्रगतमनुष्याणां चित्राधारवस्त्रसदृशा वस्त्राभासा लिख्यन्ते, तथा परमात्माध्यस्तदेहिनामधिष्ठानचैतन्यसदृशाश्चिदाभासाः कल्प्यन्ते। ते च जीवनामानः संसरन्तीति। अध्यात्मं तु विश्वतैजसप्राज्ञभेदेन त्रीणि रूपाणि। तत्र सुषुप्तौ विलीने अन्तःकरणे अज्ञानमात्रसाक्षी प्राज्ञः, योऽयमिहानन्दमय उक्तः। स्वप्ने व्यष्टि-

एक ही चित्रित पटकी चार अवस्थाएँ होती हैं, वैसे ही माया और उसके कार्यरूप उपाधिसे रहित परमात्मा शुद्ध कहा जाता है, माया उपाधिसे युक्त ईश्वर, अपञ्चीकृत भूतोंके कार्यभूत समष्टि (समूह) सूक्ष्म शरीरसे उपहित * हिरण्यगर्भ और पञ्चीकृत भूतोंके कार्यभूत समष्टि स्थूल शरीरसे उपहित विराट् पुरुष कहलाता है। इस प्रकार एक ही परमात्माकी चार अवस्थाएँ हैं। इस परिस्थितिमें चित्रपटस्थानीय परमात्मामें चित्रस्थानापन्न सम्पूर्ण स्थावर और जङ्गम रूप प्रपञ्च है। जैसे—चित्रमें चित्रित मनुष्योंके चित्रके आधारभूत वस्त्रके सदृश वस्त्रोंके आभास लिखे जाते हैं, वैसे ही परमात्मामें अध्यस्त स्थूल देहके अभिमानी अहङ्कारोंके अधिष्ठानभूत—आधारभूत—चैतन्यसदृश चिदाभासोंकी कल्पना की जाती है, और वे जीवनामधारी होकर संसारके भागी होते हैं। जीवात्मक चैतन्यके विश्व, तैजस और प्राज्ञ भेदसे तीन रूप होते हैं। उनमेंसे सुषुप्ति अवस्थामें अन्तःकरणके तिरोहित होनेपर अज्ञानमात्रका साक्षी चैतन्य—प्राज्ञ है, जो कि प्रकृतमें † आनन्दमय-

* यह शङ्का होती है कि हिरण्यगर्भ कहलानेवाला जो सूत्रात्मा है, उसीमें श्रुति और स्मृतियोंसे जीवत्वकी प्रसिद्धि है, अतः उसे ईश्वर मानना प्रमाणविरुद्ध है, परन्तु यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि समष्टि सूक्ष्म शरीरके अभिमानसे विशिष्ट सत्यलोकका स्वामी जीवरूप हिरण्यगर्भ ईश्वरसे अन्य है, ऐसा स्वीकार किया गया है। ईश्वरमें यद्यपि समष्टि सूक्ष्म शरीरका अभिमान नहीं है, तो भी समष्टिसूक्ष्मशरीरोंका नियन्ता होनेसे समष्टि सूक्ष्म उपाधिसे उपहितत्व गुणके योगसे ईश्वरका हिरण्यगर्भ और सूत्रात्माशब्दसे व्यवहार होता है। ईश्वरमें हिरण्यगर्भत्वका व्यवहार गौण है, मुख्य नहीं है। यही कारण है कि चित्रदीपमें ईश्वर और हिरण्यगर्भकी अपेक्षासे सत्यलोकके अधिपति ब्रह्माका—उन उन वादियोंसे अभिमत ईश्वरकी गणनाके अवसरमें—पृथक् उपादान किया गया है।

† प्रकृतमें अर्थात् माण्डूक्यश्रुतिमें। यहाँपर 'आनन्दभुक्' शब्दके अनन्तर 'चेतोमुखः

सूक्ष्मशरीराभिमानी तैजसः । जागरे व्यष्टिस्थूलशरीराभिमानी विश्वः । तत्र माण्डूक्यश्रुतिरहमनुभवे प्रकाशमानस्याऽऽत्मनो विश्वतैजसप्राज्ञतुर्यावस्थाभेद-

शब्दसे कहा गया है । स्वप्नमें परिच्छिन्न (अल्प) सूक्ष्म शरीरका अभिमानी चैतन्य—तैजस है और जाग्रदवस्थामें परिच्छिन्न स्थूलशरीरका अभिमानी चैतन्य—विश्व है । इस रीतिसे पादकल्पनाके युक्त होनेपर माण्डूक्य उपनिषत्की श्रुतिने 'अहम्' अनुभवमें प्रकाशित होनेवाले आत्माके *

प्राज्ञस्तृतीयः पादः' ऐसा वाक्यशेष कहा गया है, अतः यह ज्ञात होता है, यह भाव है । चेतोमुखशब्दका अर्थ है—चेतांसि मुखानि यस्य सः चेतोमुखः अर्थात् चित्प्रतिबिम्बसे युक्त हैं अविद्यावृत्तिरूप सुषुप्तिकालीन आनन्दके अनुभवके साधन जिसके, ऐसा तृतीय पाद प्राज्ञ है । सुषुप्तिकालमें भी सुखका अनुभव होता है, क्योंकि उठनेके बाद 'मैं सुखसे सोया था' यह स्मरण होता है । यदि सुखका अनुभव न होता, तो यह स्मरण कैसे होता, कारण कि अनुभवके विना स्मरण नहीं हो सकता, यह रहस्य है ।

* इस श्रुतिमें पादशब्दका अर्थ है—पद्यते—अवगम्यते ब्रह्मात्म्यैक्यम्, एभिः इति पादाः अर्थात् जिनके द्वारा ब्रह्म और आत्माका ऐक्य जाना जाता है, वे पादशब्दसे कहे जाते हैं । इसी व्युत्पत्तिका अङ्गीकार करके श्रौतपादकल्पनाका प्रयोजन भी 'पूर्वपूर्व' इत्यादि ग्रन्थसे बतलाया गया है । अभिप्राय यह है कि 'सोयमात्मा चतुष्पात्' इस वाक्यसे जीवके चार पादोंका उपक्रम करके 'जागरितस्थानो वैश्वानरः प्रथमः पादः' इत्यादिसे प्रथम पाद कहा गया है । यहाँपर जीवपादोंका उपक्रम होनेसे 'विश्वः प्रथमः पादः' ऐसा कहना चाहिए, परन्तु वैश्वानरशब्दके वाच्य विराट् पुरुषरूप ईश्वरमें प्रथमपादत्वका कथन विश्वमें वैश्वानरका अन्तर्भाव सूचन करता है । द्वितीयपादके बोधक वाक्यमें 'स्वप्नस्थानस्तैजसो द्वितीयः पादः' ऐसा कहा गया है, यहाँ सूक्ष्म उपाधिकी समानता होनेसे हिरण्यगर्भका तैजसमें अन्तर्भाव होता है, कारण कि 'वैश्वानरः प्रथमः पादः' ऐसा उपक्रम है । 'सुषुप्तस्थान एकीभूत आत्मा' यह तृतीय पादका प्रतिपादक, जो पूर्व वाक्य है, इसमें भी तृतीय पादरूपसे कहे गये प्राज्ञशब्दित आनन्दमयमें सूक्ष्मतर उपाधिकी समानतासे ईश्वरका अन्तर्भाव विवक्षित है । इसलिए 'एष सर्वेश्वरः' इत्यादि वाक्यशेषके आनन्दमय और ईश्वरकी परस्पर अभेदविवक्षामें प्रवृत्त होनेसे अनुपपत्ति नहीं है । तुरीयपादका प्रतिपादक वाक्य है—'अदृश्यमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' (इन्द्रियोंका अविषय, व्यवहारका अविषय, कर्मेन्द्रियोंका अविषय, असाधारण धर्मोंसे शून्य, शुष्कतर्कसे अगम्य, शब्दशक्तिका अविषय, स्वगतभेदसे रहित, सब देहोंमें व्याप्त, चिद्रूप, आनन्दरूप, प्रपञ्चाभावरूप, शुद्ध और अद्वैत—विश्व, तैजस, और प्राज्ञरूप तीन पादोंकी अपेक्षा—चतुर्थपाद है, ऐसा मानते हैं—चिन्तन करते हैं) इसमें विश्व, तैजस और प्राज्ञलक्षण पादोंमें वैश्वानर, हिरण्यगर्भ और ईश्वरका जो अन्तर्भाव कहा गया है, वह—उनके परस्पर एकत्वका अनुचिन्तन करनेके लिए है । इसी प्रकार विश्व आदि पादोंका और ओंकारके अवयवभूत

रूपं पादचतुष्टयम् 'सोऽयमात्मा चतुष्पात्' इत्युपक्षिप्य पूर्वपूर्वपादप्रविलापनेन निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मकतुर्यपादप्रतिपत्तिसौकर्य्याय स्थूलसूक्ष्मसूक्ष्मतरोपाधिसा-

'सोऽयमात्मा चतुष्पात्' (यह आत्मा चार पादवाला है) इस प्रकार विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय अवस्था विशेषरूप चार पादोंका उपक्रम करके पूर्व-पूर्व पादोंके तिरोधानसे निष्प्रपञ्च ब्रह्मरूप चतुर्थपादके ज्ञानके सौलभ्यके लिए

मात्राओंका एकत्व-चिन्तन यहाँ विवक्षित है। इसमें श्रुति है—पादा मात्रा मात्राश्च पादाः' (पाद मात्राएँ हैं और मात्राएँ पाद हैं) इसी अर्थका प्रतिपादक गौडपादका वचन भी है—'ओङ्कारं पादशो विद्यात् पादा मात्रा न संशयः।' अर्थात् विश्व आदि पाद और मात्राओंके परस्पर एकत्वका अनुचिन्तन करना चाहिए, यह इस वचनका भाव है। मात्रा—अकार, उकार, और मकार। इसी रीतिसे विश्वादिपाद, वैश्वानरादि पाद और मात्राओंका एकत्वचिन्तन उन सबका निष्प्रपञ्च ब्रह्मरूप चतुर्थपादमें प्रविलापनार्थ है। इसमें यह क्रम है—विश्व, वैश्वानर और अकारके एकत्वका पहले चिन्तन करनेके अनन्तर तैजस, हिरण्यगर्भ और उकारके एकत्वका अनुचिन्तन करे, उसके बाद ईश्वर, प्राज्ञ और मकारके एकत्वका अनुचिन्तन करे। इसी चिन्ताके क्रमसे प्रविलापन करे । अकार आदि त्रिकका उकारमें, उकारादि त्रिकका मकारमें और मकार आदि त्रिकका चिन्मात्र तुरीयपादमें प्रविलापन करे। चिन्मात्रमें प्रविलापन करके वहीं चित्तको स्थिर करे। उकार आदिमें प्रविलापन करना अर्थात् अकार आदि तीन उकारसे पृथक् नहीं है, इस प्रकार आहार्य निश्चय करना। इस प्रकार प्रतिदिन समाधि करनेवालेको ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। और ब्रह्मसाक्षात्कारसे—ब्रह्मप्राप्तिसे—कृतकृत्यता होती है।

इसी भावको सुरेश्वराचार्यने वार्तिकमें इस रूपसे कहा है—

'अकारमात्रं विश्वः स्यादुकारस्तैजसः स्मृतः।
प्राज्ञो मकार इत्येवं परिपश्येत् क्रमेण तु ॥४७॥
समाधिकालात् प्रागेवं विचिन्त्यातिप्रयत्नतः।
स्थूलसूक्ष्मक्रमात् सर्वं चिदात्मनि विलापयेत् ॥४८॥
अकारं पुरुषं विश्वमुकारे प्रविलापयेत्।
उकारं तैजसं सूक्ष्मं मकारे प्रविलापयेत् ॥४९॥
मकारं कारणं प्राज्ञं चिदात्मनि विलापयेत्।
चिदात्माहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसदद्वयः ॥५०॥
परमानन्दसन्दोहवासुदेवोऽहमोमिति।
ज्ञात्वा विवेचकं चित्तं तत्साक्षिणि विलापयेत् ॥५१॥
चिदात्मनि विलीनं चेत्तच्चित्तं नैव चालयेत्।
पूर्णबोधात्मनाऽऽसीनं पूर्णाचलसमुद्रवत् ॥५२॥
एवं समाहितो योगी श्रद्धाभक्तिसमन्वितः।
जितेन्द्रियो जितक्रोधः पश्येदात्मानमद्वयम् ॥५३॥'

म्यात् विराडादीन् विश्वादिष्वन्तर्भाव्य 'जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः' इत्यादिना विश्वादिपादान् न्यरूपयत्। अतः प्राज्ञशब्दिते आनन्दमये अव्याकृतस्येश्वरस्याऽन्तर्भावं विवक्षित्वा तस्य सर्वेश्वरत्वादितद्धर्मवचनमिति। इत्थमेव भगवत्पादैर्गौडपादीयविवरणे व्याख्यातम्।

मायाच्छन्ने चिदाभासः कूटस्थे व्यावहारिकः ॥
तस्मिन्निद्रावृते तादृक् जीवोऽन्यः प्रातिभासिकः ३८ ॥
जीवस्त्रिधैवं दृग्दृश्यविवेके प्रतिपादितः ॥
इत्येते दर्शिताः पक्षाः प्रतिबिम्बेशवादिनाम् ॥ ३९ ॥

अन्तःकरणावच्छिन्न कूटस्थ चैतन्य पारमार्थिक जीव है, मायावृत कूटस्थमें (मायामें कल्पित अन्तःकरणमें) जो चित्का आभास है, वह व्यावहारिक जीव है और निद्रासे आवृत व्यावहारिक जीवमें कल्पित चिदाभास प्रातिभासिक है, इस प्रकार त्रिविध जीव का दृग्दृश्यविवेकमें प्रतिपादन किया गया है, इस रीतिसे ईश्वरको प्रतिबिम्बरूप माननेवालोंके पक्ष दिखलाये गये हैं ॥३८॥३९॥

स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर उपाधिकी समानतासे विराड् आदिका विश्व आदिमें अन्तर्भाव करके 'जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः' (जाग्रदवस्थाका अभिमानी बहिःप्रज्ञ है) इत्यादिसे विश्व आदि पादोंका निरूपण किया है। इससे प्राज्ञशब्दसे कहे जानेवाले आनन्दमयमें अव्याकृत * ईश्वरके अन्तर्भावकी विवक्षाकरके उसमें (आनन्दमयमें) सर्वेश्वरत्व आदि ईश्वरके धर्मोंका कथन है। भगवान् शङ्करने गौड़पादीय-विवरणमें भी ऐसा ही व्याख्यान किया है।

---

* यद्यपि अव्याकृत शब्दका अर्थ है—अनभिव्यक्त जगत्, तथापि लक्षणावृत्तिसे अनेक स्थलोंमें वह ईश्वरार्थक भी प्रसिद्ध है, अतः यहाँ अव्याकृतशब्द ईश्वरके अर्थमें आया है। इस ग्रन्थमें विश्व आदि पादोंका पूर्व-पूर्वमें प्रविलापन करनेसे निष्प्रपञ्च ब्रह्मका ज्ञान अत्यन्त सुलभ कहा गया है। यद्यपि श्रावण आदि अन्य ब्रह्मज्ञानकेसाधन हैं, तो भी मन्दबुद्धिवाले संन्यासीको अथवा प्रखर-बुद्धिमान् होते हुए भी जिसको न्याय-व्युत्पादक कुशल आचार्य नहीं मिला है, ऐसे संन्यासीको साङ्ख्यमार्ग द्वारा तत्त्वप्रतिपत्ति नहीं हो सकती है, इसलिए उक्त पुरुषोंको अनायास ब्रह्मज्ञानके साधनरूपसे बुद्धिपूर्वक प्रविलापन क्रमसे माण्डूक्य आदि ग्रन्थमें समाधिका विधान है, इसीलिए ध्यानदीपमें विद्यारण्यस्वामीजीने भी कहा है—

'अत्यन्तबुद्धिमान्द्याद्वा सामग्र्या वाप्यसम्भवात्।
यो विचारं न लभते ब्रह्मोपासीत सोऽनिशम् ॥' ५४ ध्या० दीप ॥

दृग्दृश्यविवेके तु चित्रदीपव्युत्पादितं कूटस्थं जीवकोटावन्तर्भाव्य चित्रैविध्यप्रक्रियैवाऽऽलम्बितेति विशेषः ।

तत्र ह्युक्तं जलाशयतरङ्गबुद्बुदन्यायेनोपर्युपरि कल्पनाद् जीवः त्रिविधः—पारमार्थिकः, व्यावहारिकः, प्रातिभासिकश्चेति । तत्राऽवच्छिन्नः पारमार्थिकः

विद्यारण्यस्वामीजीने दृग्दृश्यविवेकमें तो—चित्रदीपप्रकरणमें व्युत्पादित कूटस्थका जीवकोटिमें अन्तर्भाव करके—चैतन्यकी त्रिविधप्रक्रियाका ही अवलम्बन किया है, यह विशेष है ।

दृग्दृश्यविवेकमें जलाशयके तरङ्ग और बुद्बुदके दृष्टान्तसे * ऊपर ऊपरकी कल्पनासे जीवके तीन भेद कहे गये हैं—पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक । तीन जीवोंमें से अवच्छिन्न अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म दो शरीरोंसे अवच्छिन्न कूटस्थ आत्मा—पारमार्थिक जीव है । उस अवच्छिन्न जीवमें

अर्थात् बुद्धिकी मन्दतासे अथवा सामग्रीके अभावसे जो विचार नहीं कर सकता, वह प्रतिदिन ब्रह्मकी उपासना करे, यह भाव है । अतः मूलमें भी 'प्रतिपत्तिसौकर्याय' यही कहा गया है, यह ध्यान रखना चाहिए ।

* जलाशय, तरङ्ग और बुद्बुदके दृष्टान्तका सारांश यह है—जैसे समुद्र आदि जलाशयमें तरङ्ग ऊपर रहती हैं और उनके ऊपर बुद्बुद रहते हैं, यह प्रसिद्ध है, इसी प्रकार कूटस्थके ऊपर व्यावहारिक अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बरूप सम्पूर्ण व्यवहारकालमें अनुगत व्यावहारिक जीवकी कल्पना की जाती है और उसके ऊपर स्वप्नकालमें वासनामय प्रातिभासिक रथ आदिके समान वासनामय अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बरूप प्रातिभासिक जीवकी कल्पना की जाती है । इस विषयमें दृग्दृश्यविवेकके निम्न लिखित श्लोक हैं, जिनका भाव भी मूल ग्रन्थके अनुसार ही है—

'अवच्छिन्नः चिदाभासस्तृतीयः स्वप्नकल्पितः ।
विज्ञेयस्त्रिविधो जीवस्तत्राद्यः पारमार्थिकः ॥३२॥
अवच्छेदः कल्पितः स्यात् अवच्छेद्यन्तु वास्तवम् ।
तस्मिन् जीवत्वमारोपात् ब्रह्मत्वन्तु स्वभावतः ॥३३॥
अवच्छिन्नस्य जीवस्य पूर्णेन ब्रह्मणैकताम् ।
तत्त्वमस्यादिवाक्यानि जगुर्नेतरजीवयोः ॥३४॥
ब्रह्मण्यवस्थिता माया विक्षेपावृतिरूपिणी ।
आवृत्याखण्डतां तस्मिन् जगज्जीवौ प्रकल्पयेत् ॥३५॥
जीवो धीस्थश्चिदाभासो जगत् स्यात् भूतभौतिकम् ।
अनादिकालमारभ्य मोक्षात् पूर्वमिदं द्वयम् ॥३६॥

जीवः। तस्मिन्नवच्छेदकस्य कल्पितत्वेऽपि अवच्छेद्यस्य तस्याऽकल्पितत्वेन ब्रह्मणोऽभिन्नत्वात्। तमावृत्य स्थितायां मायायां कल्पितेऽन्तःकरणे चिदाभासोऽन्तःकरणतादात्म्यापत्त्या 'अहम्' इत्यभिमन्यमानो व्यावहारिकः, तस्य मायिकत्वेऽपि यावद्व्यवहारमनुवृत्तेः। स्वप्ने तमप्यावृत्य स्थितया मायावस्थाभेदरूपया निद्रया कल्पिते स्वाप्नदेहादावहमभिमानी प्रातिभासिकः। स्वप्नप्रपञ्चेन सह तद्द्रष्टुर्जीवस्यापि प्रबोधे निवृत्तेरिति। एवमेते प्रतिबिम्बेश्वरवादिनां पक्षभेदा दर्शिताः।

अविद्यायां चिदाभासो जीवो बिम्बचिदीश्वरः।
स्वातन्त्र्याद्युपपत्तेरित्याहुर्विवरणानुगाः ॥ ४० ॥

विवरणके अनुसारियोंका कहना है कि अविद्यामें चैतन्य का आभास जीव है और बिम्बस्थानापन्न चैतन्य ईश्वर है, क्योंकि उसमें स्वातन्त्र्य आदिकी उपपत्ति है ॥४०॥

विशेषणीभूत स्थूल और सूक्ष्म शरीरोंके कल्पित होनेपर भी विशेष्यभूत चैतन्यके स्वतः सत्य होनेसे उसका (जीवका) ब्रह्मके साथ अभेद हो सकता है। कूटस्थ आत्माको आवृत करके अविद्याके स्थित होनेपर कूटस्थ आत्मामें कल्पित अन्तःकरणमें—अन्तःकरणके तादात्म्यसे 'अहम्' (मैं) इस प्रकारका अभिमान करनेवाला—चिदाभास व्यावहारिक जीव है। यद्यपि वह मायिक है, तो भी व्यवहारपर्यन्त उसकी अनुवृत्ति होती है। [कोई लोग शङ्का करते हैं कि व्यावहारिक जीव है ही नहीं, परन्तु यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि 'अहं कर्ता भोक्ता' इत्यादि अनुभवसे वह सिद्ध है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म जीवसे अन्यत्र—अन्तःकरणमें नहीं रह सकते, क्योंकि चिदाभासशून्य अन्तःकरणमें चेतनधर्मत्वसे प्रसिद्ध कर्तृत्व आदि नहीं रह सकते। पारमार्थिक जीव भी कर्तृत्वका आश्रय नहीं है, क्योंकि वह कूटस्थ है, यह भाव है] स्वप्नावस्थामें व्यावहारिक जीवका भी आवरण करके स्थित मायावस्थाविशेष निद्रासे कल्पित स्वप्नके शरीर आदिमें 'अहम्' अभिमान करनेवाला जीव प्रातिभासिक है, क्योंकि जागरणावस्थामें स्वप्नप्रपञ्चके साथ ही साथ स्वप्नद्रष्टा जीवकी भी निवृत्ति होती है। इस प्रकार प्रतिबिम्बको ईश्वर कहनेवालोंके पक्षोंका दिग्दर्शन कराया गया है।

विवरणानुसारिणस्त्वाहुः—

'विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते ।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति ॥'

इति स्मृत्यैकस्यैवाऽज्ञानस्य जीवेश्वरविभागोपाधित्वप्रतिपादनात् बिम्बप्रतिबिम्बभावेन जीवेश्वरयोर्विभागः, नोभयोरपि प्रतिबिम्बभावेन ।

विवरणके अनुयायी कहते हैं कि विभेदजनक अज्ञानका—जीव और ईश्वरके अवस्थानमें हेतुभूत अज्ञानका—आत्यन्तिक नाश * होनेपर जीवात्माका और परमात्माका (ब्रह्मका) असत्—अनिर्वचनीय भेद कौन करेगा अर्थात् कोई नहीं करेगा । इस प्रकारकी स्मृतिसे एक ही अज्ञान जीव और ईश्वरकी उपाधि कहा गया है, अतएव बिम्ब और प्रतिबिम्बरूपसे जीव और ईश्वरका विभाग है † । इन दोनोंका प्रतिबिम्बरूपसे विभाग नहीं है, क्योंकि दो

* आत्यन्तिकनाश—समूल अज्ञानका विनाश । यद्यपि अज्ञानका सुषुप्ति या प्रलयमें कार्य-कारणका अभेद होनेसे कार्यका नाश होनेसे कार्यात्मना अज्ञानका विनाश है, परन्तु वह आत्यन्तिक विनाश नहीं है, क्योंकि स्वरूपतः उसकी स्थिति है, अन्यथा पुनरुत्थानकी अनुपपत्ति होगी। तत्त्वज्ञानसे होनेवाला अज्ञाननाश स्वरूपसे ही होता है, अतः वह आत्यन्तिक विनाश है, इसी अभिप्रायसे अज्ञाननाशमें आत्यन्तिक विशेषण दिया गया है । अथवा जीवन्मुक्तिमें आवरण अंशका नाश होनेपर भी अज्ञानके विक्षेपांशके रहनेसे आत्यन्तिक नाश नहीं है, परन्तु विदेहमुक्तिमें ही है, इसी अभिप्रायसे आत्यन्तिक विशेषण दिया गया है, यह भी कुछ लोग कहते हैं ।

† यहां शङ्का होती है कि 'विभेदजनकेऽज्ञाने॰' इस श्रुतिके अनुसार ईशको बिम्ब और जीवको प्रतिबिम्ब माननेमें दोनोंको प्रतिबिम्ब माननेवाली 'जीवेशावाभा॰' इस श्रुतिके साथ विरोध होगा । इसपर विवरणानुयायी कहते हैं कि प्रतिबिम्बत्वके समान बिम्बत्वके भी कल्पित होनेसे आभासशब्दसे बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनोंका ग्रहण हो सकता है, अतः विरोध नहीं है । यदि शङ्का की जाय कि प्रतिबिम्बत्वसे युक्त मुख आदिमें ही आभासशब्दका व्यवहार होता है, बिम्बत्वविशिष्ट मुखमें आभास-शब्दका व्यवहार नहीं होता, अतः आभासशब्दका मुख्य अर्थ बिम्ब नहीं हो सकता, इसलिए आभासशब्दकी बिम्बमें लक्षणा माननी पड़ेगी, तो यह शङ्का नहीं हो सकती, क्योंकि एक बार उच्चरित आभासशब्दका मुख्यवृत्तिसे प्रतिबिम्ब अर्थ और गौणीवृत्तिसे बिम्ब अर्थ नहीं हो सकता । यदि कहिये कि अजहल्लक्षणा मानकर आभासशब्दके दोनों अर्थ मानेंगे, सो भी युक्त नहीं है, क्योंकि जब दोनोंको अर्थात् जीव और ईश्वरको प्रतिबिम्ब मानकर ही विभाग हो सकता है तब फिर, लक्षणाके झगड़ेमें पड़नेकी आवश्यकता ही क्या है ? इसपर विवरणानुसार उत्तर है कि श्रुतिके अनुसार भी जीव और ईश्वरका विभाग केवल प्रतिबिम्बरूपसे नहीं हो सकता, सूर्यके समान

उपाधिद्वयमन्तरेणोभयोः प्रतिबिम्बत्वायोगात् । तत्राऽपि प्रतिबिम्बो जीवः । बिम्बस्थानीय ईश्वरः । तथा सत्येव लौकिकबिम्बप्रतिबिम्बदृष्टान्तेन स्वातन्त्र्यमीश्वरस्य, तत्पारतन्त्र्यं जीवस्य च युज्यते ।

'प्रतिबिम्बगताः पश्यन्नृजुवक्रादिविक्रियाः ।
पुमान् क्रीडेद्यथा ब्रह्म तथा जीवस्थविक्रियाः ॥'

इति कल्पतरूक्तरीत्या 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' (उ० मी० अ० २ पा० १ सू० ३३) इति सूत्रमपि सङ्गच्छते । अज्ञानप्रतिबिम्बितस्य जीव-

---

उपाधियोंके विना दो प्रतिबिम्ब हो ही नहीं सकते । उनमें भी (बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनोंमें भी) प्रतिबिम्बस्थानापन्न जीव है और बिम्बस्थानीय ईश्वर है । बिम्बचैतन्यके ईश्वर होनेसे ही लौकिक बिम्ब और प्रतिबिम्बके दृष्टान्तसे ईश्वरमें स्वातन्त्र्य और जीवमें ईश्वरका पारतन्त्र्य संगत होता है ‡ ।

'प्रतिबिम्बगताः०' (जैसे लोकमें कोई पुरुष दर्पणमें पड़े हुए अपने प्रतिबिम्बके ऋजु और वक्र आदि भावोंको बिम्बरूप अपनेसे हुए देखकर खेलता है, वैसे ही ब्रह्म भी जीवस्थ प्राणियोंके कर्मानुसार स्वप्रयुक्त भावोंको देखकर खेलता है) इस प्रकार कल्पतरुमें कही गई रीतिसे * 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' यह सूत्र भी सङ्गत होता है । जैसे सर्वत्र व्याप्त सूर्यके किरणोंका

बिम्बभूत चैतन्यके एक होनेसे उपाधिकी भिन्नताके विना प्रतिबिम्बका भेद नहीं हो सकता । माया और अविद्या दो उपाधियां हैं, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि मूलप्रकृतिके मायात्व और अविद्यात्वके लक्षणभेदसे भिन्न होनेपर भी प्रतिबिम्बद्वयसे अपेक्षित दो उपाधियोंका कहींपर प्रतिपादन नहीं किया गया है और मायाका स्वरूपतः भेद भी सिद्धान्तविरुद्ध है, अतः आभासशब्द लक्षणावृत्तिसे बिम्ब प्रतिबिम्ब उभयपरक ही है ।

‡ 'एष सर्वेश्वरः' इत्यादि श्रुतिसे ईश्वरमें स्वातन्त्र्य सिद्ध है और 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति' इत्यादि श्रुतिसे जीवमें पारतन्त्र्य सिद्ध है ।

* 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'—किसी प्रकारके प्रयोजनके विना सृष्टि आदिमें प्रवृत्ति रूप ईश्वरकी जो क्रिया है, वह केवल लीला ही है, जैसे लोकमें सब साधनोंसे सम्पन्न पुरुषकी क्रीड़ा किसी प्रयोजनविशेषके लिए नहीं होती, वैसे ही आप्तकाम ईश्वरकी भी प्रयोजनके विना स्वभावतः ही सृष्टिमें प्रवृत्ति उपपन्न है । लोकमें अत्यन्त सुखका उद्रेक होनेसे हँसना, गाना आदि प्रयोजनके विना ही होने लगता है और दुःखके उद्रेकसे रोना आदि स्वभावतः हुआ करता है, अतः हँसने या रोनेमें लोकमें कारण पूछा जाता है, परन्तु प्रयोजन नहीं पूछा जाता, यह 'लोकवत्तु' इत्यादि सूत्रका भाव है ।

स्याऽन्तःकरणरूपोऽज्ञानपरिणामभेदो विशेषाभिव्यक्तिस्थानं सर्वतः प्रसृतस्य सवितृप्रकाशस्य दर्पण इव। अतस्तस्य तदुपाधिकत्वव्यवहारोऽपि। नैतावताऽज्ञानोपाधिपरित्यागः, अन्तःकरणोपाधिपरिच्छिन्नस्यैव चैतन्यस्य जीवत्वे योगिनः कायव्यूहाधिष्ठानत्वानुपपत्तेः।

न च योगप्रभावाद्योगिनोऽन्तःकरणं कायव्यूहाभिव्यक्तियोग्यं वैपुल्यं प्राप्नोतीति तदवच्छिन्नस्य कायव्यूहाधिष्ठानत्वं युज्यते इति वाच्यम्, 'प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति' (उ० मी० अ० ४ पा० ४ सू० १५) इति

अभिव्यक्तिस्थान दर्पण है, वैसे ही अज्ञानमें प्रतिबिम्बित जीवका विशेष अभिव्यक्ति-स्थान अज्ञानका परिणामरूप अन्तःकरण है। भाव यह है कि अविद्यामें प्रतिबिम्बित सुषुप्तिसाधारण चैतन्यरूपकी प्रमातृत्व, कर्तृत्व आदि विशेषरूपसे अभिव्यक्ति—उपलब्धिका स्थान (उपाधि) अन्तःकरण है। कर्तृत्व आदि धर्मोंके केवल अज्ञानके परिणाम न होनेसे उनकी उपाधिमात्रतासे जीवमें कर्तृत्व आदिका लाभ नहीं हो सकता, किन्तु कर्तृत्व आदि धर्मवाले अन्तःकरणके तादात्म्यके अध्याससे ही जीवमें कर्तृत्व आदिका लाभ हो सकता है, अतः अन्तःकरणमें जीवकी उपाधिताका वर्णन किया गया है। अन्तःकरण विशेष उपलब्धिका स्थान है, ऐसा स्वीकार करनेसे जीवमें अन्तःकरणोपाधिकताका व्यवहार भी है, अर्थात् 'कार्योपाधिरयं जीवः' इत्यादि श्रुतिमें और भाष्यमें, यह रहस्य है। श्रुतिमें कार्योपाधिकताके विशेषणमात्रसे अज्ञानोपाधिकताके निराकरणका परित्याग नहीं है, क्योंकि अन्तःकरणरूप उपाधिसे परिच्छिन्न चैतन्यको जीव माननेपर योगियोंमें एककालीन अनेक शरीरोंकी नियन्तृताकी उपपत्ति नहीं होगी।

योगके प्रभावसे योगीका अन्तःकरण कायव्यूहमें—देहसमूहमें—अभिव्यक्तिके योग्य व्यापकता प्राप्त करता है, अतः उस अन्तःकरणसे अवच्छिन्न चिदात्मा भी कायव्यूहका प्रेरक हो सकता है? ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति' * इस शास्त्रोपान्त्याधिकरणके अर्थात्

---

* 'प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति' इस सूत्रका अर्थ इस प्रकार है—जैसे एक ही प्रदीपका अनेक वर्तियोंमें प्रवेश है, वैसे ही एक ही योगीका योगके प्रभावसे अनेक शरीरोंमें आवेश—प्रवेश होता है। यद्यपि पूर्व दीपका और वर्तियोंमें प्रविष्ट अन्य दीपोंका परस्पर

शास्त्रोपान्त्याधिकरणभाष्यादिषु कायव्यूहे प्रतिदेहमन्तःकरणस्य चक्षुरादिवत् भिन्नस्यैव योगप्रभावात् सृष्टेरुपवर्णनात्। प्रतिबिम्बे बिम्बात् भेदमात्रस्याऽध्यस्तत्वेन स्वरूपेण तस्य सत्यत्वान्न प्रतिबिम्बरूपजीवस्य मुक्त्यन्वयासम्भव

ब्रह्ममीमांसाशास्त्रके अन्तिम अधिकरणके पहले अधिकरणके भाष्य आदिमें कायव्यूहमें योगके प्रभावसे प्रत्येक शरीरमें चक्षु आदिके समान पृथक्-पृथक् अन्तःकरणकी उत्पत्तिका वर्णन किया गया है †। प्रतिबिम्बमें बिम्बसे जो भेद है * वही कल्पित है, इससे स्वरूपतः उसके सत्य होनेसे

भेद है और योगीका सब देहोंमें अभेद ही है इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्तमें वैषम्य है, तथापि दीपत्वजातिके अभेदका व्यक्तियोंमें आरोप करके दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिककी उपपत्ति करनी चाहिए। एक योगीकी अनेकताको श्रुति भी दिखलाती है—'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा' (वह योगी एक प्रकारका, तीन प्रकारका, पांच प्रकारका और सात प्रकारका अर्थात् अनेक प्रकारका हो सकता है)। एक ही समयमें अनेक शरीरोंमें योगीके अवस्थानके विना अनेकत्व उपपन्न नहीं हो सकता।

† यदि एक ही अन्तःकरणकी कायव्यूहमें अभिव्यक्तिके योग्य विपुलता मान ली जाय, तो उक्त भाष्यके साथ अवश्य विरोध होगा। यद्यपि भाष्य आदिका यह तात्पर्य कहना उचित है कि योगीका पूर्वसिद्ध अन्तःकरण ही—योगके प्रभावसे विपुलता प्राप्त कर स्वावच्छिन्न चैतन्यरूप योगीके कायव्यूहमें—भोग आदि कराता है। योगप्रभावसे अनेक अन्तःकरण उत्पन्न होते हैं, ऐसा तात्पर्य मानना ठीक नहीं है, क्योंकि अनेकविध अन्तःकरणोंकी सृष्टि माननेमें कल्पनागौरव और असत्कार्यवादका प्रसङ्ग आता है और हिरण्यगर्भ आदिका ब्रह्माण्डव्यापी जो समष्टि अन्तःकरण है, वह भी योगप्रभावसे ही है, भाष्यमें जो अन्तःकरणकी सृष्टिका प्रतिपादन है, वह परकीय मतके अभिप्रायसे है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि 'एषैव च योगशास्त्रेषु' इत्यादि भाष्यमें यह अर्थ स्पष्ट है, तथापि शास्त्रोपान्त्याधिकरणके यथाश्रुत भाष्यके अभिप्रायसे यह दूषण दिया गया है, ऐसा समझना चाहिए।

* इस ग्रन्थसे—चित्रदीपमें जो प्रतिबिम्ब चैतन्यरूप जीवके स्वरूपतः मिथ्या होनेसे त्रिकालाबाधित ब्रह्मके साथ उस जीवकी एकता नहीं हो सकती, इसलिए चैतन्यके चार भेद करके ऐक्यनिर्वाहके लिए जीव और ईश्वरसे विलक्षण कूटस्थ चैतन्य माना गया है, और दृग्दृश्यविवेकमें प्रतिबिम्बको मिथ्या मानकर युक्तिसे अन्वयके लिए जो पारमार्थिक जीवकी कल्पनाकी गई है—उसका परिहार किया जाता है। अर्थात् प्रमाणके न होनेसे प्रतिबिम्ब जीवसे अतिरिक्त अन्य जीव—कूटस्थ या व्यावहारिक जीवसे अन्य प्रातिभासिक जीव नहीं है, यह भाव है, कुछ लोग शङ्का करते हैं कि व्यावहारिक जीव स्वप्नकालमें आवृत रहता है, अतः स्वप्नसमयके व्यवहारकी अनुपपत्ति ही प्रातिभासिक जीवकी कल्पना करती है। नहीं अनुपपत्ति

इति न तदतिरेकेण मुक्त्यन्वयायाऽवच्छिन्नरूपजीवान्तरं वा प्रतिबिम्बजीवातिरिक्तं जीवेश्वरविलक्षणं कूटस्थशब्दितं चैतन्यान्तरं वा कल्पनीयम्। 'अविनाशी वा अरेऽयमात्मा' इति श्रवणं जीवस्य तदुपाधिनिवृत्तौ

प्रतिबिम्बरूप जीवका मुक्तिमें अन्वयका संभव नहीं है यह नहीं कह सकते, इससे प्रतिबिम्बरूप जीवसे पृथक् मुक्तिमें सम्बन्ध होनेके लिए अवच्छिन्नरूप अन्य जीवकी या प्रतिबिम्ब जीवसे अतिरिक्त जीव और ईश्वरसे विलक्षण कूटस्थ शब्दसे कहे जानेवाले भिन्न चैतन्यकी कल्पना नहीं करनी चाहिए। † 'अविनाशी वा अरे०' (अरे मैत्रेयि! यह आत्मा अविनाशी है) इत्यादि श्रुति जीवकी उपाधिका विनाश होनेसे प्रतिबिम्बभावका

नहीं है, जीवचैतन्यमें आवरण नहीं होता है, इसका आगे साक्षिनिरूपणमें वर्णन करेंगे, इससे स्वप्नमें भी जीवचैतन्यसे ही व्यवहारकी उपपत्ति होगी। 'जिस मैंने स्वप्नमें श्रीकृष्णको देखा था, वही मैं जागकर उस कृष्णका स्मरण करता हूँ' इस प्रकारकी प्रतीतिसे जाग्रत् और स्वप्नके द्रष्टाका अभेद ही भासता है। इसीलिए प्रातिभासिक जीवकी कल्पना निर्दुष्ट नहीं है।

† 'तान्येवानु विनश्यति', 'अविनाशी वा अरेऽयमात्मा' इत्यादि वाक्योंसे प्रकृत विज्ञानघन आत्मामें विनाशित्व और अविनाशित्वरूप विरुद्ध धर्मोंका प्रतिपादन किया गया है, परन्तु उनका एकमें समावेश नहीं हो सकता, इसलिए विनाशी प्रतिबिम्बसे भिन्न विनाशरहित कूटस्थ चैतन्यकी सिद्धि होती है, यह जो कहा गया है, वह भी असङ्गत है, क्योंकि अविद्या-प्रतिबिम्ब चैतन्यरूप जीवमें ही प्रतिबिम्बत्वरूप विशेषणांशके नाशके अभिप्रायसे विनाशित्वका प्रतिपादन है और चैतन्यरूप विशेष्य अंशके अभिप्रायसे अविनाशित्वका प्रतिपादन है, इस प्रकारकी व्यवस्थासे भी विनाशित्व और अविनाशित्वका व्यवहार हो सकता है ऐसी अवस्थामें गौरवदोषसे दूषित चतुर्भेदकी कल्पना नहीं करनी चाहिए। यहांपर शङ्का होती है कि अविद्यामें प्रतिबिम्ब चैतन्य जीव है, अविद्यामें बिम्बभूत चैतन्य ईश्वर है और बिम्ब एवं प्रतिबिम्बमें अनुगत चैतन्य शुद्ध चैतन्य है। इस विवरणपक्षमें चैतन्यके चार भेद माननेवालोंने कूटस्थका जो अङ्गीकार किया है, उसका किसमें अन्तर्भाव होता है? जीवमें या शुद्ध चैतन्यमें तो उसका अन्तर्भाव हो नहीं सकता, क्योंकि ये दोनों किसीके प्रति उपादान नहीं है और कूटस्थ तो स्थूल-सूक्ष्म शरीरके प्रति उपादान माना गया है, अतः उनमें कूटस्थका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। ईश्वरमें भी उसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि कूटस्थका देहादि विकारोंमें अवस्थान है और ईश्वरकी ऐसी अवस्थितिमें कोई प्रमाण नहीं है। परन्तु यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि कूटस्थका जीव या शुद्ध चैतन्यमें अन्तर्भाव न होनेपर भी ईश्वरमें अन्तर्भाव हो सकता है, क्योंकि वही ईश्वररूप चैतन्य चेतनात्मक और अचेतनात्मक समस्त प्रपञ्चका उपादान है और देहविकारोंमें उसका अवस्थान भी है, अतः कूटस्थ चैतन्यका ईश्वरसे भेद मानना प्रामाणिक नहीं है।

प्रतिबिम्बभावापगमेऽपि स्वरूपं न विनश्यतीत्येतत्परम्, न तदतिरिक्तकूटस्थनामकचैतन्यान्तरपरम्। जीवोपाधिना अन्तःकरणादिनाऽवच्छिन्नं चैतन्यं बिम्बभूत ईश्वर एव। 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' इत्यादिश्रुत्या ईश्वरस्यैव जीवसन्निधानेन तदन्तर्यामिभावेन विकारान्तरावस्थानश्रवणादिति।

घटसंवृतमित्यादिश्रुतिस्मृतिसमाश्रयात्।
अन्येऽन्तःकरणेनावच्छिन्नं जीवं बभाषिरे॥ ४१॥

कुछ लोग 'घटसंवृतम्' इत्यादि श्रुति और स्मृतिके आधारपर अन्तःकरणसे अवच्छिन्न चैतन्य जीव है, ऐसा कहते हैं॥४१॥

अन्ये तु—रूपानुपहितप्रतिबिम्बो न युक्तः सुतरां नीरूपे। गगन-

अपगम होनेपर भी जीवका स्वरूप नष्ट नहीं होता, यह बोध कराती है। जीवसे अतिरिक्त कूटस्थ चैतन्यका बोध नहीं कराती। जीवकी उपाधि—अन्तःकरण आदिसे अवच्छिन्न बिम्बभूत चैतन्य ही ईश्वर है, क्योंकि * 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' (जो विज्ञानमें रहता हुआ) इत्यादि श्रुतिसे जीवके सन्निधानसे उसके अन्तर्यामी रूपसे विकारोंके भीतर ईश्वरके ही अवस्थानका श्रवण है।

कुछ लोग अवच्छिन्न पक्षको ही रुचिकर मानते हैं, क्योंकि रूपरहित पदार्थका प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता, नीरूप अन्तःकरण आदिमें चैतन्यका प्रतिबिम्ब होना सुतरां असम्भव है। [भाव यह है कि पूर्व ग्रन्थसे मतभेदके साथ

---

* इसमें आदिशब्दसे 'विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयति' इत्यादि वाक्यका ग्रहण है। यहांपर विज्ञानशब्दका अर्थ है—जीव अर्थात् जो जीवके अन्दर रहकर जीवका अभ्यन्तर है, जिसको जीव नहीं जानता है, जिसका जीव शरीर है और जो जीवका नियमन करता है। इससे ईश्वरमें जीव आदिकी नियन्तृता स्पष्टरूपसे भासती है, और जैसे दूरस्थ राजा प्रजाका नियन्त्रण करता है, वह वैसे नियन्त्रण नहीं करता, किन्तु जीवके साान्निध्यसे ही नियन्त्रण करता है, यह भाव है। यह अन्तर्यामिब्राह्मण स्मृतिका भी उपलक्षण है, इससे—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥' [गीता १८ श्लोक ६१]

इस स्मृतिका ग्रहण होता है—हे अर्जुन, शरीररूपी यन्त्रमें आरूढ होकर प्राणियोंको अपनी मायासे भ्रमण कराता हुआ सम्पूर्ण भूतोंके हृद्देशमें ईश्वर रहता है। इससे ईश्वरमें मायाप्रयुक्त नियन्तृत्व है, यह ज्ञात होता है।

प्रतिबिम्बोदाहरणमप्ययुक्तम् , गगनाभोगव्यापिनि सवितृकिरणमण्डले सलिले प्रतिबिम्बिते गगनप्रतिबिम्बत्वव्यवहारस्य भ्रममात्रमूलकत्वात् ।

प्रतिबिम्बवादियोंके मतमें जीव और ईश्वरका विभाग दिखलाया गया है, इस ग्रन्थसे प्रतिबिम्बको न माननेवालोंके मतसे जीव और ईश्वरका विभाग दिखलाया जाता है। जो लोग चैतन्यका प्रतिबिम्ब नहीं मानते हैं, उनका मत है कि लोकमें जिनके प्रतिबिम्ब देखे जाते हैं वे सबके-सब रूपवान् होते हैं, जल आदिमें प्रतिबिम्बित चन्द्र आदिमें रूपवत्ताकी उपलब्धि प्रत्यक्ष ही है और जो स्वतः रूपवान् नहीं हैं, जैसे वायु आदि, उनका प्रतिबिम्ब कहींपर भी नहीं होता है। और कदाचित् अरूपवान्का गगनादिके दृष्टान्तसे प्रतिबिम्ब मान भी लिया जाय, तो भी प्रतिबिम्ब जिस स्थलमें होता है उसमें रूप अवश्य ही रहना चाहिए, क्योंकि अरूपी गगनका रूपवान् जल आदिमें ही प्रतिबिम्ब है, अतः उन प्रतिबिम्बवादियोंका पक्ष श्रद्धेय नहीं हो सकता है, यह रहस्य है।] पूर्व ग्रन्थोंमें नीरूप गगनके जो प्रतिबिम्बका दृष्टान्त दिया गया है, यह भी अत्यन्त युक्तिशून्य है, कारण कि गगनके महाविस्तारमें व्याप्त सूर्य-किरणमण्डलके जलमें प्रतिबिम्बित होनेपर गगनके प्रतिबिम्बकी प्रतीति केवल भ्रममूलक है, अर्थात् जल आदिमें गगनका प्रतिबिम्ब नहीं होता है किन्तु गगनमें व्याप्त सूर्यके किरणोंका ही प्रतिबिम्ब होता है, परन्तु लोग भ्रमसे व्यवहार करते हैं कि गगनका प्रतिबिम्ब है * ।

* इसमें विचारणीय अंश है कि जैसे बाहर 'आकाश नील है' यह व्यवहार होता है, वैसे ही कूप, तालाब इत्यादिमें भी 'नील आकाश और विशाल गगन' ऐसा व्यवहार सभी करते हैं, परन्तु इस व्यवहारको भ्रम नहीं मान सकते, इसलिए कूप आदिमें दृश्यमान आकाश प्रतिबिम्बरूप है, ऐसा मानना होगा। इस परिस्थितिमें गगनका, जो नीरूप है, प्रतिबिम्ब नहीं है, ऐसा अपलाप नहीं कर सकते। नीरूपका प्रतिबिम्ब होता ही नहीं, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि रूप, संख्या और परिमाणका प्रतिबिम्ब देखा जाता है। यदि शङ्का हो कि नीरूप द्रव्यका प्रतिबिम्ब नहीं होता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि वेदान्त-सिद्धान्तमें द्रव्य और गुणकी परिभाषा ही नहीं है, यदि कथञ्चित् मान लिया जाय कि द्रव्य, गुण आदिकी परिभाषा है, तो भी गगनका प्रतिबिम्ब होता है, इसलिए रूपोपहित द्रव्यका प्रतिबिम्ब होता है, ऐसे नियमको स्वीकार करेंगे। उपहितत्व वस्तुगत् स्वगतरूपसे होना चाहिए, या आरोपित रूपसे होना चाहिए। अतः आरोपितरूपवाले आकाशका प्रतिबिम्ब हो सकता है, इसमें कोई बाधक नहीं है। यदि शङ्का की जाय कि जलमें आलोकके प्रतिबिम्बसे ही निर्वाह हो सकता है, फिर गगनके प्रतिबिम्बमें गौरव है, नहीं, क्योंकि आलोकके

ध्वनौ वर्णप्रतिबिम्बत्ववादोऽप्ययुक्तः, व्यञ्जकतया सन्निधानमात्रेण ध्वनिधर्माणामुदात्तादिस्वराणां वर्णेष्वारोपोपपत्तेः ध्वनेर्वर्णप्रतिबिम्बग्राहित्व-कल्पनाया निष्प्रमाणकत्वात् ।

प्रतिध्वनिरपि न पूर्वशब्दप्रतिबिम्बः, पञ्चीकरणप्रक्रियया पटहपयो-

ध्वनि वर्णोंका प्रतिबिम्ब है, यह वाद भी युक्त नहीं है, क्योंकि ध्वनिके, जो सन्निधिमात्रसे वर्णोंका व्यञ्जक है, धर्मभूत उदात्त आदि स्वरोंके वर्णोंमें आरोपमात्रसे उपपत्ति हो सकती है, तो फिर ध्वनिमें वर्णप्रतिबिम्बकी ग्राहिता है, इस प्रकारकी कल्पना प्रमाणशून्य है। [भाव यह है कि ह्रस्वत्व, दीर्घत्व आदि जो धर्म हैं, वे वस्तुतः ध्वनिके ही हैं, परन्तु उनका वर्णोंमें (अकार आदिमें) आरोप किया जाता है, उनका आरोप तभी हो सकता है, जब ध्वनिको वर्णोंका प्रतिबिम्ब माना जाय। प्रतिबिम्बके स्वीकार करनेसे जैसे दर्पणमें रहनेवाला मालिन्य प्रतिबिम्ब द्वारा मुखमें आरोपित होता है, वैसे ही ध्वनिमें रहनेवाले ह्रस्वत्व आदिका प्रतिबिम्ब द्वारा बिम्बभूत वर्णोंमें आरोप होगा, इस परिस्थितिमें नीरूप ध्वनिमें नीरूप वर्णोंका प्रतिबिम्ब मानना ही पड़ेगा, इस प्रणालीसे नीरूप अन्तःकरणमें नीरूप आत्माका प्रतिबिम्ब क्यों न माना जाय, इसका समाधान इस रीतिसे दिया गया है कि वर्णोंका प्रतिबिम्ब माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है, परन्तु व्यञ्जक ध्वनिके सामीप्यमात्रसे ध्वनिमें रहनेवाले ह्रस्वत्व आदिका वर्णोंमें आरोप होता है, जैसे जपाकुसुमके सामीप्यसे रक्तत्वका स्फटिकमें आरोप होता है, अतः वर्णप्रतिबिम्बका स्वीकार न करनेसे इस दृष्टान्तसे अन्तःकरणमें आत्मप्रतिबिम्बका अभ्युपगम नहीं हो सकता]।

* प्रतिध्वनि भी पूर्वशब्दका प्रतिबिम्ब नहीं है, क्योंकि पञ्ची-

प्रतिबिम्बमें गगनप्रतिबिम्बत्व भ्रम माननेपर भी उस भ्रमके विषयीभूत गगनप्रतिबिम्बको अनिर्वचनीय मानना होगा, अतः गौरव समान ही है और अनुभवानुसारी गौरव दोषावह नहीं होता, इसलिए रूपवान्का ही प्रतिबिम्ब होता है, इस नियममें गगनमें व्यभिचार दुर्वार है। तथापि चैतन्यका प्रतिबिम्ब नहीं होता है, क्योंकि नीरूप अन्तःकरण प्रतिबिम्बकी उपाधि नहीं हो सकती है, यह रहस्य है।

* भाव यह है कि पटह आदि वाद्यसे उत्पन्न शब्दस्थलमें पाषाणविशेष आदिके समीपवर्ती आकाशप्रदेशमें प्रतिध्वनि सुनी जाती है। वह पूर्व शब्दका प्रतिबिम्ब है, मुख्य ध्वनि

निधिप्रभृतिशब्दानां क्षितिसलिलादिशब्दत्वेन प्रतिध्वनेरेवाकाशशब्दत्वेन तस्याऽन्यशब्दप्रतिबिम्बत्वायोगात्। वर्णरूपप्रतिशब्दोऽपि न पूर्ववर्णप्रतिबिम्बः। वर्णाभिव्यञ्जकध्वनिनिमित्तकप्रतिध्वनेर्मूलध्वनिवदेव वर्णाभिव्यञ्जकत्वेनोपपत्तेः। तस्मात् घटाकाशवदन्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं जीवः। तदनवच्छिन्नम् ईश्वरः।

न चैवमण्डान्तर्वर्तिनश्चैतन्यस्य तत्तदन्तःकरणोपाधिभिः सर्वात्मना जीव-

---

करणकी प्रक्रियासे पटह (वाद्यविशेष), समुद्र आदिशब्द पृथ्वी और जल आदिके शब्द हैं, वैसे ही प्रतिध्वनि भी आकाशका ही शब्द है, इसलिए उसे अन्य शब्दका प्रतिबिम्ब मानना युक्तियुक्त नहीं है। वर्णरूपशब्द भी प्रतिध्वनिके समान पूर्व वर्णका प्रतिबिम्ब नहीं है, क्योंकि वर्णकी अभिव्यञ्जक ध्वनिसे उत्पन्न होनेवाली प्रतिध्वनि भी मूलध्वनिके समान वर्णकी अभिव्यञ्जक है, ऐसा माननेसे ही उपपत्ति हो सकती है †। इससे—नीरूप चैतन्यके प्रतिबिम्ब न होनेसे यही स्वीकार करना चाहिए कि घटाकाशके समान अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही जीव है और उपाधिसे अनवच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है।

संसारान्तर्वर्ती चैतन्यका तत्तत् अन्तःकरणरूप उपाधियोंसे सर्वात्मना जीवभावसे अवच्छेद है अर्थात् संसारान्तर्वर्ती समग्र चैतन्य अन्तःकरणरूप उपाधियोंसे

नहीं है, क्योंकि उसका उत्पादक कोई नहीं है, इस परिस्थितिमें जैसे नीरूप ध्वनि नीरूप आकाशमें प्रतिबिम्बित होती है, वैसे ही नीरूप चैतन्य नीरूप अन्तःकरणमें क्यों प्रतिबिम्बित नहीं होता? नहीं, यह दृष्टान्त युक्त नहीं है अर्थात् नीरूप आकाशमें नीरूप ध्वनिका प्रतिबिम्ब नहीं है, किन्तु वह शब्दान्तर ही है और उसका उत्पादक आकाश है और निमित्त कारण है—पूर्व शब्द। प्रतिध्वनिके प्रतिबिम्बरूप होनेपर आकाशगुण वह नहीं हो सकती, कारण कि बिम्ब और प्रतिबिम्बके भेदपक्षमें प्रतिध्वनिरूप प्रतिबिम्बके प्रातिभासिक होनेसे उसमें व्यावहारिकगुणत्वकी उपपत्ति नहीं हो सकती है और बिम्ब प्रतिबिम्बके अभेद पक्षमें प्रतिध्वनिरूप प्रतिबिम्बके बिम्बभूत पृथ्वी आदि शब्दकी अपेक्षासे भेद न होनेके कारण उसमें आकाशगुणत्वकी उपपत्ति भी नहीं हो सकती है, यह भाव है।

† तात्पर्य यह है कि कण्ठ, तालु आदि वर्णके व्यञ्जक नहीं हैं, परन्तु कण्ठ आदि के अभिघातसे उत्पन्न ध्वनि ही उसकी अभिव्यञ्जक है, इसलिए जैसे मूलध्वनि वर्णकी व्यञ्जक है, वैसे ही प्रतिवर्णकी अभिव्यक्तिमें उत्पन्न प्रतिध्वनि ही वर्णकी व्यञ्जक है, अतः प्रतिवर्ण भी प्रतिबिम्ब रूप नहीं है, इसलिए इस दृष्टान्तसे भी चैतन्यके प्रतिबिम्बका प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं।

भावेनाऽवच्छेदात् तदवच्छेदरहितचैतन्यरूपस्येश्वरस्याऽण्डात् वहिरेव सत्त्वं स्यादिति 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' इत्यादावन्तर्यामिभावेन विकारान्तरवस्थानश्रवणं विरुध्येत। प्रतिबिम्बपक्षे तु जलगतस्वाभाविकाकाशे सत्येव प्रतिबिम्बाकाशदर्शनात् एकत्र द्विगुणीकृत्य वृत्तिरुपपद्यते इति वाच्यम्। यतः प्रतिबिम्बपक्षेऽप्युपाधावनन्तर्गतस्यैव चैतन्यस्य तत्र प्रतिबिम्बो वाच्यः, न तु जलचन्द्रन्यायेन कृत्स्नप्रतिबिम्बः। तदन्तर्गतभागस्य तत्र प्रतिबिम्बासम्भवात्। नहि मेघावच्छिन्नस्याऽऽकाशस्याऽऽलोकस्य वा जले प्रतिबिम्बवत् जलान्तर्गतस्याऽपि तत्र प्रतिबिम्बो दृश्यते। न वा मुखादीनां बहिःस्थितिसमये इव जलान्तर्निमज्जनेऽपि प्रतिबिम्बोऽस्ति। अतो जलप्रति-

---

अवच्छिन्न होनेसे जीवभावापन्न ही है, अतः अन्तःकरणरूप उपाधिसे रहित ईश्वररूप चैतन्यका ब्रह्माण्डसे अन्यत्र ही अवस्थान प्राप्त होगा, इस परिस्थितिमें 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' (जो जीवमें रहता हुआ) इत्यादि श्रुतिमें अन्तर्यामिभावसे ईश्वरका विकारोंके अन्दर जो अवस्थानका श्रवण है, वह विरुद्ध होगा, इसलिए अवच्छेदवाद मानना युक्त नहीं है, प्रत्युत प्रतिबिम्ब पक्ष ही मानना युक्त है, क्योंकि प्रतिबिम्ब पक्षमें तो जलके अन्दर वस्तुतः स्वाभाविक आकाशके रहते ही आकाशप्रतिबिम्ब देखा जाता है, इसलिए प्रकृतमें भी एक ही उपाधिमें प्रतिबिम्बभूत जीवभावसे और तत्तत् उपाधिके अन्तर्यामिभावसे वृत्ति—अवस्थिति उपपन्न हो सकती है, अतः अवच्छेदवाद अयुक्त है। इस प्रकारकी यदि कोई शङ्का करे, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि प्रतिबिम्ब पक्षमें भी उसी चैतन्यका उपाधिमें प्रतिबिम्ब मानना चाहिए, जिसका उपाधिमें अवस्थान नहीं है अर्थात् जो चैतन्य उपाधिके अन्तर्गत नहीं है। जलचन्द्रके दृष्टान्तसे सम्पूर्णका प्रतिबिम्ब नहीं मानना चाहिए। उपाधिके अन्तर्गत भागका उस उपाधिमें प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता है, क्योंकि मेघावच्छिन्न आकाश अथवा आलोकका जैसे जलमें प्रतिबिम्ब होता है, वैसे जलान्तर्गत आकाशका या आलोकका जलमें प्रतिबिम्ब नहीं देखा जाता है। अथवा जलसे बाहर जब मुखकी अवस्थिति रहती है, तब जैसे मुखका जलमें प्रतिबिम्ब होता है, वैसे जलके भीतर मज्जन समयमें उस जलमें मुखका प्रतिबिम्ब नहीं देखा जाता है, इससे—अर्थात् कथित दृष्टान्तोंसे यह सिद्ध हुआ कि उपाधिमें अनन्तर्गत

बिम्बं प्रति मेघाकाशादेरिवान्तःकरणाद्युपाधिप्रतिबिम्बं प्रति तदनन्तर्गतस्यैव बिम्बत्वं स्यादिति बिम्बभूतस्य विकारान्तरवस्थानायोगात् ईश्वरे अन्तर्यामिब्राह्मणाञ्जस्याऽभावस्तुल्यः।

एतेनाऽवच्छिन्नस्य जीवत्वे कर्तृभोक्तृसमययोस्तत्र तत्राऽन्तःकरणावच्छेद्यचैतन्यप्रदेशस्य भिन्नत्वात् कृतहानाकृताभ्यागमप्रसङ्ग इति निरस्तम्।

प्रतिबिम्बपक्षेऽपि स्वानन्तर्गतस्य स्वसंनिहितस्य चैतन्यप्रदेशस्याऽन्तःकरणे प्रतिबिम्बस्य वक्तव्यतया तत्र तत्राऽन्तःकरणगमने बिम्बभेदात् तत्प्रतिबिम्बस्याऽपि भेदावश्यम्भावेन दोषतौल्यात्। न च 'अन्तःकरणप्रतिबिम्बो जीवः' इति पक्षे दोषतौल्येऽपि 'अविद्याप्रतिबिम्बो जीवः'। तस्य च तत्र तत्र गत्वरमन्तःकरणं जलाशयव्यापिनो महामेघमण्डलप्रतिबिम्बस्य

का ही उस उपाधिमें प्रतिबिम्ब होता है। इससे जलप्रतिबिम्बके प्रति जैसे मेघाकाश आदिमें बिम्बत्व है, वैसे ही अन्तःकरण आदि उपाधियोंमें रहनेवाले प्रतिबिम्बके प्रति अन्तःकरण आदिमें अनन्तर्भूत चैतन्यमें * बिम्बत्व होगा, इसलिए बिम्बभूत चैतन्यके विकारके अन्दर अवस्थानका अयोग होनेसे प्रतिबिम्बपक्षमें भी 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' इत्यादि अन्तर्यामिब्राह्मणकी असमञ्जसता तुल्य ही है *।

इससे अवच्छिन्न चैतन्यके जीवत्वपक्षमें कर्म करने और उसके फल भोगनेके समयमें पृथ्वी और स्वर्ग आदिमें अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रदेशके भिन्न होनेपर भी कृतहान या अकृताभ्यागम रूप दोषका प्रसङ्ग—निरस्त हुआ।

क्योंकि प्रतिबिम्बपक्षमें भी उपाधिमें अनन्तर्गत और उपाधिके सन्निहित चैतन्य प्रदेशका ही अन्तःकरणमें प्रतिबिम्ब होता है, ऐसा कहना होगा, इसलिए उस-उस स्थलमें अन्तःकरणके गमनमें बिम्बके भेदसे उसके प्रतिबिम्बका भेद भी अवश्यम्भावी है, अतः पूर्वोक्त कृतहान और अकृतका अभ्यागमरूप दोष समान ही है। शङ्का होती है कि अन्तःकरणमें चैतन्यका प्रतिबिम्ब जीव है, इस पक्षमें दोषकी समानता रहनेपर भी (हम) अविद्यामें चित्‌के प्रतिबिम्ब को जीव मानते हैं। जैसे तत्तत् जलाशयोंमें व्याप्त महा मेघमण्डलके प्रतिबिम्बकी

---

* अर्थात् लोकमें यही अनुभव होता है कि उपाधिकुक्षिमें अप्रविष्टका ही प्रतिबिम्ब देखा जाता है, उपाधिकुक्षिमें प्रविष्टका प्रतिबिम्ब नहीं देखा जाता, यह भाव है।

तदुपरि विसृत्वरस्फीतालोक इव तत्र तत्र विशेषाभिव्यक्तिहेतुरिति पक्षे नाऽयं दोषः। अन्तःकरणवदविद्याया गत्यभावेन प्रतिबिम्बभेदानापत्तेरिति वाच्यम्, तथैवाऽवच्छेदपक्षेऽपि 'अविद्यावच्छिन्नो जीवः' इत्यभ्युपगमसम्भवात्। तत्राऽप्येकस्य जीवस्य क्वचित् प्रदेशे कर्तृत्वं प्रदेशान्तरे भोक्तृ-

अभिव्यक्तिका हेतु जलाशयके ऊपर भागमें गमनशील मेघके छिद्रोंसे निकला हुआ स्पष्ट प्रकाश विशेष है, वैसे ही इस लोक या परलोकमें गमनशील अन्तःकरण भी अविद्यामें प्रतिबिम्बभूत जीवकी अर्थात् जीवगत कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिकी विशेष अभिव्यक्तिका हेतु है, इसलिए इस पक्षमें समानताप्रयुक्त दोष नहीं है। कृतहानादि दोष की प्रसक्ति भी नहीं है, क्योंकि अन्तःकरणके समान अविद्याकी गति न होनेसे प्रतिबिम्बका भेद हो ही नहीं सकता। परन्तु यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि अवच्छेदपक्षमें भी उसी प्रकार अविद्यावच्छिन्न जीव है, ऐसा स्वीकार कर सकते हैं। * 'अविद्या-

* भाव यह है कि ब्रह्माण्डान्तर्गत चैतन्यभागके उपाधिके अन्तर्गत होनेसे उससे बाहरके चैतन्यका ही प्रतिबिम्ब होगा, अतः ब्रह्माण्डसे बाहर ही बिम्बभूत चैतन्यके अवस्थानकी प्रसक्ति होगी और अन्तर्यामी ब्राह्मणके साथ विरोध होगा। यदि प्रतिबिम्बपक्षमें ईश्वरकी सर्वान्तर्यामित्वप्रतिपादक श्रुतिके अनुसार लोकानुभवका परित्याग करके सम्पूर्ण चैतन्यका प्रतिबिम्ब मानकर अन्तर्यामी ब्राह्मणके सामञ्जस्यका उपपादन किया जाय, तो अनवच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है, इस पक्षमें भी अन्तःकरणाभाववच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है, ऐसी विवक्षा होगी। अन्तःकरणके कल्पित होनेसे चैतन्यमें अन्तःकरणावच्छिन्नके रहनेपर भी वस्तुसत् अन्तःकरणाभाव है, अतः अन्तःकरणाभाववच्छिन्न चैतन्यरूप ईश्वरका सभी विकारोंमें अवस्थान हो सकता, इससे अन्तर्यामी ब्राह्मणकी इस पक्षमें भी अनुपपत्ति नहीं है। तृप्तिदीपप्रकरणमें अभाव भी ईश्वरकी उपाधि कहा गया है—

अन्तःकरणसाहित्यराहित्याभ्यां विशिष्यते।
उपाधिर्जीवभावस्य ब्रह्मतायाश्च नान्यथा॥ ८५॥
यथा विधिरुपाधिः स्यात् प्रतिषेधस्तथा न किम्।
सुवर्णलोहभेदेन श्रृङ्खलात्वं न भिद्यते॥ ८६॥
अतद्व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद्विधिमुखेन च।
वेदान्तानां प्रवृत्तिः स्यात् द्विधेत्याचार्यभाषितम्॥ ८७॥

इन श्लोकोंका तात्पर्य यह है कि अन्तःकरणके साहित्य और राहित्यसे जीवभाव और ब्रह्मभावका भेद है अर्थात् जीवत्वकी उपाधि अन्तःकरणसाहित्य है और अन्तःकरणराहित्य ब्रह्मत्वकी उपाधि है। अन्य प्रकारसे उनका भेद नहीं हो सकता। भावके समान अभावके व्यावर्तक उपाधि

त्वमित्येवं कृतहानादिदोषापत्तुत्तये वस्तुतो जीवैक्यस्य शरणीकरणीयत्वेन तन्न्यायादन्तःकरणोपाधिपक्षेऽपि वस्तुतश्चैतन्यैक्यस्य तदवच्छेदकोपाध्यैक्यस्य च तन्त्रत्वाभ्युपगमेन तद्दोषनिराकरणसम्भवाच्च। न चाऽवच्छेदपक्षे 'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्। उपाधिना

प्रतिबिम्बो जीवः' इस पक्षमें भी ब्राह्मण आदि शरीरगत अन्तःकरणसे अवच्छिन्न प्रदेशमें कर्तृत्व और देव आदि शरीरगत अन्तःकरणसे अवच्छिन्न प्रदेशमें भोक्तृता है, इस प्रकार प्रदेश-भेद होनेपर भी कृतहान आदि दोषका निराकरण करनेके लिए अगत्या प्रतिबिम्बवादियोंको एकजीववादपक्षका अङ्गीकार करना होगा, अतः इसी न्यायके आधारपर अन्तःकरणोपाधिपक्षमें भी (अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जीव है, इस पक्षमें भी अन्तःकरणसे अवच्छिन्न चैतन्यप्रदेशके भिन्न होनेपर भी) वास्तवमें चैतन्यकी एकता और चैतन्यकी अवच्छेदक उपाधिकी एकताको प्रयोजक माननेसे कृतहान आदि दोषोंका निराकरण भी * हो सकता है। परन्तु अवच्छेदपक्षमें—'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा०'

होनेमें कोई विशेष नहीं है। जैसे सुवर्ण और लोहके भेदसे शृङ्खलात्वमें कोई विशेषता नहीं होती, वैसे ही भावाभावके व्यावर्तकत्वमें विशेषता नहीं है। वेदान्तोंकी अतद्व्यावृत्ति और विधिमुखसे द्विधा प्रवृत्ति होती है, ऐसा आचार्योंका सम्मत पक्ष है। अतद्व्यावृत्ति—तत् शब्दसे ब्रह्मका परिग्रह होता है, अतत् शब्दसे ब्रह्मभिन्न अन्तःकरण आदिका, उनकी व्यावृत्तिरूपसे ब्रह्मका बोध होता है और बुद्धिका साक्षी, मनका साक्षी, इस प्रकार विधिमुखसे भी ब्रह्मका बोध होता है। इस परिस्थितिमें प्रतिबिम्ब और अवच्छेद दोनों वादोंमें अन्तर्यामी ब्राह्मणकी उपपत्ति और अनुपपत्तिके समान होनेपर 'सुतरां नीरूपे' इत्यादिसे नीरूप अन्तःकरण आदिमें चैतन्यके प्रतिबिम्बके असंभवका प्रतिपादन होनेसे अवच्छेदपक्ष ही आदरणीय है, प्रतिबिम्बपक्ष आदरणीय नहीं है।

* तात्पर्य यह है कि वस्तुतः चैतन्य यदि एक है, तो अन्य जीव द्वारा किये गये कर्मोंके फलका भोग अन्यको होगा, यह आपत्ति देना युक्त नहीं है, क्योंकि अवच्छेदवादियोंके मतमें एक अन्तःकरणसे अवच्छिन्न चैतन्य एक जीव है और अन्य अन्तःकरणसे अवच्छिन्न अन्य जीव है इस प्रकारका अभ्युपगम होनेसे अन्तःकरणोंके भिन्न-भिन्न होनेसे जीवान्तरकृत कर्मोंका जीवान्तरोंसे भोग नहीं हो सकता है, इसी रहस्यको ग्रन्थकारने (तदवच्छेदकोपाधि) इस शब्दसे प्रकट किया है। इस अवच्छेदपक्षमें पूर्वकथनानुसार अन्तःकरणके अभावसे युक्त चैतन्य—अन्तःकरणाभावावच्छिन्न चैतन्य—ईश्वर है अथवा 'कारणोपाधिरीश्वरः' इस श्रुतिके अनुरोधसे अविद्यावच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है, ऐसा समझना चाहिए।

क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा' 'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' (उ० मी० अ० ३ पा० २ सू० १८) इति श्रुतिसूत्राभ्यां विरोधः। 'अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्' (उ० मी० अ० ३ पा० २ सू० १९)

(जैसे प्रकाशस्वरूप एक सूर्य अनेक जलपात्रोंमें प्रतिबिम्बित होकर अनेकरूप होता है, वैसे ही स्वप्रकाश यह नित्य आत्मा स्वतः एक होनेपर भी उपाधियोंमें प्रतिबिम्बित होकर अनेकरूप होता है *) इत्यादि श्रुतिके साथ और 'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' †इस सूत्रके साथ विरोध है ? नहीं, विरोध नहीं है, क्योंकि उदाहृत सूत्रके अनन्तर पठित 'अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्' ‡

* इत्यादिमें आदिशब्दसे 'एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः, एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' 'जीवेशावाभासेन करोति' इत्यादि प्रतिबिम्बबोधक श्रुतियोंका भी ग्रहण करना चाहिए। प्रथम श्रुतिका अर्थ है—एक ही भूतात्मा जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रके समान सभी उपाधियोंमें प्रतिबिम्बरूपसे अवस्थित होकर अनेकसा दीखता है। द्वितीय श्रुतिका अर्थ है—प्रत्येक उपाधिमें आत्माका प्रतिरूप—प्रतिबिम्ब है। तृतीयका अर्थ है—माया जीव और ईशको आभाससे—प्रतिबिम्बसे—करती है। अनेक स्थलोंमें प्रतिरूपशब्द प्रतिबिम्बरूप अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। 'पुरुषका प्रतिरूप है' अर्थात् पुरुषका प्रतिबिम्ब है। इसलिए श्रुतियोंके साथ विरोध होनेसे अवच्छेदवाद अयुक्त है, यह पूर्वपक्षीका भाव है।

† 'अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्' इस सूत्रका अर्थ है—चूँकि आत्मा स्वभावतः एक अद्वितीय है, श्रुतियोंमें उसकी अनेकता औपाधिकरूपसे कही गई है। इसीलिए उसकी औपाधिक अनेकरूपतामें जल आदिमें प्रतिबिम्बित सूर्य आदि दृष्टान्तरूपसे श्रुतियोंमें गृहीत हैं। अर्थात् जैसे सूर्य के एक होनेपर भी जल आदिमें उसके प्रतिबिम्बित होनेसे वह अनेकविध होता है, वैसे ही चैतन्यके स्वतः एक होनेपर भी अन्तःकरण आदिमें उसका प्रतिबिम्ब पड़नेसे वह अनेकविध होता है, यह भाव है।

‡ तात्पर्य यह है कि श्रुतिमें स्थित प्रतिरूपशब्द प्रतिबिम्बवाचक नहीं है, क्योंकि 'वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव' इसमें पठित प्रतिरूपशब्दका प्रतिबिम्ब अर्थ नहीं हो सकता। अतः सूर्य आदिके प्रतिबिम्बदृष्टान्तकी स्वरसतासे ही चैतन्यका प्रतिबिम्ब कहना चाहिए, परन्तु यह भी नहीं हो सकता है, कारण कि सूत्रकारने स्वयं ही 'अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्' इस सूत्रसे उसका निराकरण किया है। सूत्रके दृष्टान्तभागके अर्थका ही मूलमें 'यथा' इत्यादिसे विवरण किया है, तथापि संगृहीत अर्थ यह है—जल आदिके समान अत्यन्त स्वच्छ और रूपवान् उपाधिका ग्रहण न होनेसे सूर्य आदिके समान चैतन्यका प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता, यद्यपि अन्तःकरण उपाधि है, तथापि वह रूपवान् और आत्मासे विप्रकृष्ट नहीं है, जैसे कि सूर्यसे विप्रकृष्ट जल है। इसपर शङ्का होती है कि यदि सूर्यका दृष्टान्त उक्त रीतिसे

इत्युदाहृतसूत्रानन्तरसूत्रेण यथा सूर्यस्य रूपवतः प्रतिबिम्बोदययोग्यं ततो विप्रकृष्टदेशं रूपवज्जलं गृह्यते, नैवं सर्वगतस्याऽऽत्मनः प्रतिबिम्बोदययोग्यं किञ्चिदस्ति ततो विप्रकृष्टमिति प्रतिबिम्बासम्भवमुक्त्वा 'वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्' (उ० मी० अ० ३ पा० २ सू० २०) इति तदनन्तरसूत्रेण यथा जलप्रतिबिम्बितः सूर्यो जलवृद्धौ वर्धते इव, जलह्रासे ह्रसतीव, जलचलने चलतीवेति तस्याऽऽध्यासिकं जलानुरोधिवृद्धिह्रासादिभाक्त्वम्, तथा आत्मनोऽन्तःकरणादिनाऽवच्छेदेन उपाध्यन्त-

---

सूत्रसे—'जैसे रूपवान् सूर्यके प्रतिबिम्बके योग्य स्वच्छ और सूर्यसे दूरदेशमें रहनेवाला रूपवान् जल उपलब्ध होता है, वैसे सर्वगत आत्माके प्रतिबिम्बके योग्य और आत्मासे दूरदेशवर्ती कोई वस्तु उपलब्ध नहीं होती' इस प्रकार प्रतिबिम्बका असम्भव कहकर 'वृद्धिह्रासभाक्त्वम्' इत्यादि अनन्तर पठित सूत्रसे—'जैसे जलमें प्रतिबिम्बित सूर्य जलकी वृद्धि होनेपर बढ़ता-सा है, जलके कम होनेपर छोटा-सा होता है और जलके चलनेसे जलप्रतिबिम्बित सूर्य मानो चलता है, इस प्रकार सूर्यमें जलके सम्बन्धसे आध्यासिक वृद्धि और ह्रास आदिकी प्रतीति होती है, वैसे ही चिदात्माके अन्तःकरण आदिसे अवच्छिन्न होनेके कारण (उसके) बुद्धि आदि उपाधिमें

नहीं घट सकता है, तो श्रुतिमें कहे गये 'जलचन्द्रवत्' या 'जलसूर्यवत्' इत्यादि दृष्टान्तोंकी असङ्गति होगी, नहीं, असङ्गति नहीं होगी, कारण कि यद्यपि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकका प्रतिबिम्बितत्वरूपसे साम्य नहीं है, तथापि वृद्धि, ह्रास आदिसे अन्य सादृश्य होनेसे दृष्टान्तकी उपपत्ति–सङ्गति हो सकती है। इसी उपपत्तिका मूलमें 'वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यम्' इस सूत्रसे उल्लेख किया गया है। यद्यपि मूलमें ही सूत्रका अर्थ किया गया है, तथापि विशेषरूपसे स्फुट होनेके लिए फिर सुन लीजिये—विशाल जलसमुदायमें यदि सूर्यका प्रतिबिम्ब पड़े, तो वह बहुत बड़ा दीखता है, क्षुद्रपात्रस्थित जलमें प्रतिबिम्बित सूर्य क्षुद्रसा भासता है, जलके हिलनेसे सूर्यका भी हिलना-चलना मालूम होता है, वैसे ही आत्मा भी अन्तःकरण आदिसे अवच्छिन्न है, अतः उसकी अन्तःकरण आदिके अभ्यन्तर सत्ता है, इसलिए हाथी आदि विशालकाय जीवोंके अन्तःकरण आदि उपाधियोंके विशाल होनेसे आत्मा विशाल मालूम होता है और मच्छर आदि क्षुद्र जीवोंके छोटे अन्तःकरणमें वह छोटा मालूम होता है अर्थात् ह्रसित आत्मा ज्ञात होता है। अन्तःकरण आदिके गतिमान् होनेसे वह चलता-सा मालूम होता है। वस्तुतः न तो वह बड़ा है, न छोटा है और न चलता है। इसीलिए 'ध्यायतीव, लेलायतीव' (बुद्धिके ध्यान करनेपर आत्मा मानो ध्यान करता है, चलनेपर मानो आत्मा भी चलता है, ऐसा प्रतीत होता है)। अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिककी इसी रूपसे सङ्गति है, इसलिए दृष्टान्त-वाक्य अनुपपन्न नहीं है और उनका तात्पर्य प्रतिबिम्बवादमें नहीं है।

भावादाध्यासिकं तदनुरोधिवृद्धिह्रासादिभाक्त्वमित्येवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोस्सामञ्जस्यादविरोध इति स्वयं सूत्रकृतैवाऽवच्छेदपक्षे तयोस्तात्पर्यकथनात् ।

'घटसंवृतमाकाशं नीयमाने यथा घटे ।
घटो नीयेत नाकाशं तद्वज्जीवो नभोपमः ॥'

'अंशो नानाव्यपदेशात्' (उ० मी० अ० २ पा० ३ सू० ४३)

इति श्रुतिसूत्राभ्यामवच्छेदपक्षस्यैव परिग्रहाच्च । तस्मात् सर्वगतस्य चैतन्यस्याऽन्तःकरणादिनाऽवच्छेदोऽवश्यम्भावीति आवश्यकत्वात् 'अवच्छिन्नो जीवः' इति पक्षं रोचयन्ते ॥

अन्तर्भूत होनेसे उसमें अन्तःकरणप्रयुक्त आध्यासिक वृद्धि और ह्रास आदिकी प्रतीति होती है, इस प्रकार दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकका सामञ्जस्य होनेसे विरोध नहीं है—ऐसा स्वयं सूत्रकारने ही 'यथा ह्ययं' और 'अत एव चोपमा' इत्यादि प्रतिबिम्बबोधक श्रुति और सूत्रका अवच्छेदपक्षमें तात्पर्य कहा है । अवच्छेदपक्षमें श्रुति आदिके विरोधका केवल अभाव ही नहीं है, प्रत्युत श्रुति और सूत्रका आनुकूल्य भी है—'घटसंवृतम्०' (जैसे घटके ले जानेपर घटावच्छिन्न आकाश नहीं ले जाया जाता किन्तु केवल घट ही ले जाया जाता है, वैसे ही जीव भी आकाशके तुल्य है अर्थात् जीव भी अवच्छिन्न चैतन्यरूप है और उसकी उपाधिका ही गमन होता है) इस श्रुतिसे और * 'अंशो नानाव्यपदेशात्' इस सूत्रसे भी अवच्छेदपक्षका ही लाभ होता है । इससे अर्थात् प्रतिबिम्बपक्षमें दोष होनेसे और अवच्छेदपक्षमें किसी प्रकारका दोष न होनेसे सर्वगत चैतन्यका अन्तःकरण आदि उपाधियोंसे अवच्छेद अवश्य ही होगा, अतः अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यको † जीव मानना ही अत्यन्त आवश्यक है ।

---

* 'अंशो नानाव्यपदेशात्'—अंशः—जीव ईश्वरका अंश है, किससे? इससे कि नानाव्यपदेशात्—'य आत्मानमन्तरो यमयति' (जो आत्माका—जीवका अभ्यन्तर नियमन करता है) इत्यादि श्रुतियोंमें नियम्यनियामकरूपसे जीव और ईश्वरका भेद कहा गया है । प्रकृतमें अंशशब्दका अर्थ अवयव या एकदेश नहीं है, परन्तु घटाकाशके समान अन्तःकरणावच्छिन्नत्वरूप है, मुख्य अंशत्व विवक्षित नहीं है, क्योंकि ब्रह्म निरवयव है, अतः उसका मुख्य अंश नहीं हो सकता ।

† यह उपलक्षण है, अर्थात् अविद्यावच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है, ऐसा भी जानना चाहिए, क्योंकि 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः' ऐसी श्रुति पूर्वमें कही जा चुकी है । 'जीवेशावा-

कौन्तेय इव राधेयो जीवः स्वाविद्यया परः ।
नाऽभासो नाऽप्यवच्छिन्न इत्याहुरपरे बुधाः ॥४२॥

जैसे कौन्तेय ही राधेय है, वैसे ही परमात्मा ही अपनी अविद्यासे जीवभावापन्न होता है, न प्रतिबिम्ब है और न अवच्छिन्न है, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं ॥४२॥

अपरे तु न प्रतिबिम्बः, नाऽप्यवच्छिन्नो जीवः । किन्तु कौन्तेयस्यैव राधेयत्ववदविकृतस्य ब्रह्मण एव अविद्यया जीवभावः । व्याधकुलसंवर्धितराजकुमारदृष्टान्तेन 'ब्रह्मैव स्वाविद्यया संसरति, स्वविद्यया मुच्यते' इति बृहदारण्यकभाष्ये प्रतिपादनात् ।

कुछ लोग कहते हैं कि प्रतिबिम्ब जीव नहीं है और अवच्छिन्न भी जीव नहीं है, किन्तु जैसे कुन्तीके ही पुत्र कर्णमें राधेयत्व (दासीपुत्रत्व) का व्यवहार होता है, वैसे ही अविकृत ब्रह्ममें ही अविद्यासे जीवभावका व्यवहार होता है, क्योंकि बृहदारण्यकभाष्यमें—व्याधकुलसंवर्धितराजकुमारके दृष्टान्तसे * 'ब्रह्म ही अपनी अविद्यासे संसारका भागी होता है और अपनी विद्यासे मुक्त होता है, ऐसा—प्रतिपादन किया गया है । और 'राजसूनो०'

भावेन करोति' इत्यादि श्रुतिमें आभासशब्दका अर्थ अवच्छिन्न है, प्रतिबिम्ब अर्थ नहीं है, यह कहा जा चुका है । 'माया च अविद्या च स्वयमेव भवति' इसमें माया शब्दार्थ है—'कार्योपाधिरयं जीवः' इस श्रुतिके अनुसार अन्तःकरण । मायापदसे गृहीत अन्तःकरणमें मायाशब्दका प्रयोग इसलिए है कि यह प्रकृतिका विकार है । अनवच्छिन्नचैतन्य ईश्वर है, ऐसा जो कहा गया है, वह चित्रदीपके आधारपर और अन्तःकरणाभावावच्छिन्नचैतन्य ईश्वर है, यह सम्भवमात्रसे कहा गया है, तात्पर्यसे नहीं कहा गया है, अन्यथा 'कारणोपाधिरीश्वरः' इस श्रुतिके साथ विरोध होगा । अनवच्छिन्नको ईश्वर माननेपर किसी उपाधिके न रहनेसे ईश्वर सर्वज्ञ कैसे होगा ? इस प्रश्नका उत्तर उन्हींसे पूछना चाहिए । इसीलिए वाक्यवृत्तिमें भगवान् शङ्कराचार्यने 'मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः' (माया उपाधिसे युक्त ईश्वरके सर्वज्ञत्व आदि लक्षण हैं) ऐसा कहा है ।

* दृष्टान्तका तात्पर्य यह है—राजकुलमें उत्पन्न हुआ कोई राजकुमार किसी कारणवश छोटी अवस्थासे ही व्याधके कुलमें रहा और अपनेको राजकुमार नहीं समझता था किन्तु मैं व्याधका अर्थात् एक निकृष्ट जातिका पुत्र हूँ ऐसा जानता था, इसी कारणसे कदाचित् वह अत्यन्त शूर या विजयी होनेपर भी लोकमें अपनी निकृष्ट जातीयताप्रयुक्त अपमानका अनुभव करता रहा, इस दशामें उसके वंशका परिज्ञान रखनेवाले किसीने उससे कहा कि तुम राजपुत्र हो व्याधके पुत्र नहीं हो, इससे—अपनी उत्कृष्ट जातिके स्मरणसे—हीन जातिप्रयुक्त अपमान आदिको भूलकर वह उत्तम जातिके सुखका जैसे अनुभव करने लगा, वैसे ही ब्रह्म भी अनादि अविद्याके प्रभावसे अपने स्वतः सिद्ध, नित्य और आनन्दरूप स्वभावको भूलकर जीवभावको प्राप्त हुआ है। और तज्जन्य

राजसूनोः स्मृतिप्राप्तौ व्याधभावो निवर्तते ।
यथैवमात्मनोऽज्ञस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यतः ।
इति वार्तिकोक्तेश्च ।

एवं च स्वाविद्यया जीवभावमापन्नस्यैव ब्रह्मण सर्वप्रपञ्चकल्पकत्वात् ईश्वरोऽपि सह सर्वज्ञत्वादिधर्मैः स्वप्नोपलब्धदेवतावज्जीवकल्पित इत्याचक्षते ॥ ६ ॥

एको जीव उताऽनेकस्तत्राऽनुपदवादिनः ।
एकं देहं च तस्यैकमन्यत्स्वप्नसमं विदुः ॥४३॥

एक जीव है या अनेक जीव हैं, इस विप्रतिपत्तिमें अनुपदवादी (पूर्वोक्त आचार्योंमेंसे कुछ लोग) कहते हैं कि एक ही जीव है और उसका शरीर भी एक है अन्य सब स्वप्नमें देखे जानेवाले पदार्थोंके समान प्रातिभासिकमात्र हैं ॥४३॥

जैसे व्याधके कुलमें बढ़ा हुआ राजकुमार अपनी राजकुमारताकी स्मृतिसे व्याधभावसे निवृत्त होता है, वैसे ही अज्ञ आत्माकी 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे होनेवाली स्मृतिसे अज्ञानता निवृत्त होती है, इस प्रकार वार्तिकका वचन भी है ।

बृहदारण्यकभाष्य और वार्तिकके पर्य्यालोचनसे प्रतिबिम्बादिभावसे रहित पूर्ण ब्रह्ममें ही जीवभावकी सिद्धि है, अतः अपनी अविद्यासे जीवभावापन्न ब्रह्म ही सभी प्रपञ्चकी कल्पना करनेवाला होनेसे सर्वज्ञत्व आदि धर्मोंसे युक्त ईश्वर भी—स्वप्नमें उपलब्ध देवताके समान † जीव द्वारा—कल्पित है ॥६॥

अनेक कष्टोंको भोगता है। किसी समयमें गुरुद्वारा या शास्त्रसे जब उसको ज्ञान हो जाता है कि 'मैं जीव नहीं हूँ परन्तु सच्चिदानन्द ब्रह्म ही हूँ' तब जीवभावको भूल कर वह अपने सत्य-स्वरूपका अनुभव करता है ।

† स्वप्न देखनेवाला पुरुष—जीव जैसे स्वयं ही स्वप्नमें अपनेसे भिन्न सर्वज्ञत्व आदि धर्मोंसे युक्त किसी देवताकी कल्पना करता है और उसकी अहर्निश पूजा करता है, और उसकी उपासनासे अभ्युदय फल प्राप्त करता है, वैसे ही जागरणमें भी ईश्वर कल्पित है, यह दृष्टान्तका भाव है ।

अथाऽयं जीव एकः, उताऽनेकः ? अनुपदोक्तपक्षावलम्बिनः केचिदाहुः—

एको जीवः, तेन चैकमेव शरीरं सजीवम्। अन्यानि स्वप्नदृष्टशरीराणीव निर्जीवानि। तदज्ञानकल्पितं सर्वं जगत्, तस्य स्वप्नदर्शनवद्यावदविद्यं सर्वो व्यवहारः। बद्धमुक्तव्यवस्थाऽपि नास्ति, जीवस्यैकत्वात्। शुकमुक्त्यादिकमपि स्वाप्नपुरुषान्तरमुक्त्यादिकमिव कल्पितम्। अत्र च सम्भावितसकलशङ्कापङ्कप्रक्षालनं स्वप्नदृष्टान्तसलिलधारयैव कर्तव्यमिति।

अब सन्देह होता है कि जीव एक है या अनेक हैं ? इस विषयमें अनुपदोक्त (ब्रह्म ही अपनी अविद्यासे संसारी होता है और अपनी विद्यासे मुक्त होता है, इस ग्रन्थसे कहे गये) पक्षका अनुसरण करनेवाले कुछ लोग कहते हैं—

जीव एक ही है [ब्रह्म एक है और उसमें अवच्छेदवाद या प्रतिबिम्बवादका स्वीकार नहीं है, अतः जीवका भेद नहीं हो सकता है, यह भाव है]। इससे एक ही शरीर जीवसे युक्त है और अन्य जितने शरीर हैं; वे सबके सब स्वप्नमें देखे जानेवाले शरीरोंके समान निर्जीव हैं। यह समस्त जगत् जीवके अज्ञानमात्रसे कल्पित है। जैसे जब तक निद्राकी निवृत्ति नहीं होती है, तभी तक स्वप्न देखा जाता है, वैसे ही जब तक जीवकी अविद्याका विनाश नहीं होता, तभी तक जीवके सब व्यवहार होते हैं। [इस एक जीववादमें पूर्वपक्ष होता है कि यदि अज्ञानसे स्वप्नव्यवहारके समान यह समस्त जगत्का व्यवहार कल्पित है, तो जैसे स्वप्नव्यवहार एकदम नष्ट हो जाता है, वैसे ही जगत्का व्यवहार एकदम नष्ट हो जाना चाहिए, फिर विद्याकी स्वीकृति व्यर्थ है, इसपर इस ग्रन्थसे यह कहा गया है कि विद्या व्यर्थ नहीं है, क्योंकि जैसे कारणान्तरसे निद्रा आदिका क्षय होनेपर स्वप्नकी निवृत्ति होती है, वैसे ही ज्ञानसे अज्ञानान्धकारके निवृत्त होनेपर ही नाश होता है, समस्त संसारका विद्याके उदयके विना अज्ञानका नाश नहीं होता और अज्ञानके नाशके विना इस प्रपञ्चात्मक व्यवहारका लोप नहीं होता। अतः विद्या निरर्थक नहीं है] इस पक्षमें बद्ध या मुक्तकी व्यवस्था भी नहीं है, क्योंकि जीव एक ही है। शुक आदिकी जो मुक्ति सुनी जाती है, वह भी स्वप्नकालिक अन्य पुरुषकी मुक्ति आदिके समान कल्पित ही है। तात्पर्य यह है

सूत्रमेकं परं जीवपदाभासान् परान् परे ।

कुछ लोग यह कहते हैं कि एक सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ मुख्य जीव है और अन्य सभी जीव जीवाभास हैं ॥

अन्ये त्वस्मिन्नेकशरीरैकजीववादे मनःप्रत्ययमलभमानाः 'अधिकं तु भेदनिर्देशात्' (उ० मी० अ० २ पा० १ सू० २२) 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' (उ० मी० अ० २ पा० १ सू० ३३) इत्यादिसूत्रैर्जीवाधिक ईश्वर एव जगतः स्रष्टा, न जीवः । तस्याऽऽप्तकामत्वेन प्रयोजनाभावेऽपि केवलं लीलयैव जगतः सृष्टिरित्यादि प्रतिपादयद्भिर्विरोधं च मन्यमाना हिरण्यगर्भ एको ब्रह्मप्रतिबिम्बो मुख्यो जीवः । अन्ये तु तत्प्रतिबिम्ब-

---

कि जैसे स्वप्नसे उठा हुआ पुरुष स्वप्नभ्रमसे सिद्ध अन्य पुरुषकी मुक्तिको अन्यके प्रति कहता है, वैसे ही जीवके भ्रमात्मक ज्ञानसे सिद्ध शुक आदिकी मुक्ति श्रवण आदिमें पुरुषोंकी प्रवृत्तिके लिए कही गई है । इस एक जीववादमें सम्भावित सम्पूर्ण शङ्कारूप कीचड़का प्रक्षालन स्वप्नदृष्टान्तरूप जलधारासे ही करना चाहिए—जैसे कोई शङ्का करे कि यदि जीव एक ही है, तो विद्याके उपदेशक अन्यका अभाव होनेसे ज्ञान नहीं होगा और जीव तथा ईश्वरके विभक्त न होनेसे जीवका ईश्वरोपासना आदि व्यवहार भी नहीं होगा, ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—'अत्र च' इत्यादिसे । जैसे स्वप्नदशामें स्वप्न देखनेवाला किसीको ईश्वर और किसीको गुरु मानकर उपासना करता है और उससे विद्या प्राप्त करता है, वैसे ही प्रकृतमें भी होगा, यह भाव है ।

कुछ लोग एकजीववादमें सन्तुष्ट न होकर अर्थात् प्रामाण्यनिश्चय न प्राप्त कर 'अधिकं तु भेदनिर्देशात्' 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' इत्यादि सूत्रोंके आधारपर जीवसे अन्य ईश्वर ही जगत्का स्रष्टा है, जीव स्रष्टा नहीं है, यद्यपि ईश्वरको कोई अभिलाषा नहीं है, क्योंकि वह आप्तकाम है, इसलिए जगत्के सर्जनमें उसका कोई प्रयोजन नहीं है, तथापि 'केवल लीलासे ही जगत्की सृष्टि करता है' इत्यादि प्रतिपादन करनेवालोंके साथ जीवको सृष्टिकर्त्ता माननेमें विरोध मानते हुए ब्रह्मका प्रतिबिम्बभूत हिरण्यगर्भ ही एक मुख्य जीव है । हिरण्यगर्भसे अन्य इन्द्रादि तो हिरण्यगर्भके प्रतिबिम्बभूत

भूताश्चित्रपटलिखितमनुष्यदेहार्पितपटाभासकल्पाः जीवाभासाः संसारादिभाज इति सविशेषानेकशरीरैकजीवंवादमातिष्ठन्ते ।

योगीव कायव्यूहेषु जीवोऽन्य इति चापरे ॥ ४४ ॥

जैसे शरीरोंके समूहमें एक ही योगी अपना अधिकार रखता है, वैसे ही हिरण्यगर्भसे अन्य एक मुख्य जीव है [और वही सब शरीरों में अधिकार रखता है] ॥४४॥

अपरे तु हिरण्यगर्भस्य प्रतिकल्पं भेदेन कस्य हिरण्यगर्भस्य मुख्यं जीवत्वमित्यत्र नियामकं नास्तीति मन्यमाना एक एव जीवोऽविशेषेण सर्वं शरीरमधितिष्ठति ।

चित्रके पटमें लिखित मनुष्यके देहमें अर्पित पटाभासके समान संसार आदि भोगनेवाले जीवाभास हैं, इस प्रकार सजीव हैं अनेक शरीर जिस एक जीववादमें, ऐसे जीवैक्यवादका अङ्गीकार करते हैं ।

प्रत्येक कल्पमें हिरण्यगर्भका भेद होनेसे किस हिरण्यगर्भको मुख्य जीव मानना, इसमें नियामक—प्रमाण—नहीं है अर्थात् अमुक कल्पका हिरण्यगर्भ ही मुख्य जीव है, अमुक कल्पका नहीं, ऐसा माननेमें कोई विनिगमक (एकतर पक्षपातिनी युक्ति) नहीं है, विनिगमकके विना यदि हिरण्यगर्भको मुख्य जीव माना जाय, तो अविशेषात् सभी कल्पके हिरण्यगर्भ मुख्य जीव होंगे । तस्मात् पूर्वोक्त पक्षसे भी एकजीववाद सिद्ध नहीं होगा, यह भाव है । इसलिए एक ही जीव मुख्य और अमुख्य विभागके विना सब शरीरोंमें अपने भोगके लिए अधिष्ठित है, ऐसा मानते हुए अविशेषानेकशरीरैकजीववादका* ही कुछ लोग स्वीकार करते हैं । [भाव यह है कि अविद्यामें चैतन्यप्रतिबिम्ब जीव एक है, क्योंकि अविद्या एक है, वही जीव सब शरीरोंमें स्वभोगके लिए अधिष्ठित है, अविद्यामें ब्रह्मप्रतिबिम्ब हिरण्यगर्भशरीरमें अधिष्ठित है, और हिरण्यगर्भका प्रतिबिम्ब जीवाभास इतर शरीरोंमें अधिष्ठित है, यह युक्त नहीं है, क्योंकि इतर जीवोंके हिरण्यगर्भ-प्रतिबिम्ब होनेमें कोई प्रमाण नहीं है, यही 'एक एव' इसमें उक्त एवकारका अर्थ है] ।

---

* अविशेषण अधिष्ठितानि अनेकशरीराणि यस्मिन् एकजीववादे सः अविशेषानेकशरीरैकजीववादस्तम्, अर्थात् जीवके मुख्य और अमुख्य विभागके विना अधिष्ठित हैं अनेक शरीर जिसमें ऐसा अनेकजीववाद, यह भाव है ।

न चैवं शरीरावयवभेद इव शरीरभेदेऽपि परस्परसुखाद्यनुसन्धान-प्रसङ्गः। जन्मान्तरीयसुखाद्यनुसन्धानादर्शनेन शरीरभेदस्य तदननुसन्धान-प्रयोजकत्वक्लृप्तेः।

योगिनस्तु कायव्यूहसुखाद्यनुसन्धानं व्यवहितार्थग्रहणवद्योगप्रभाव-निबन्धनमिति न तदुदाहरणमिति अविशेषानेकशरीरैकजीववादं रोचयन्ते।

यदि सब शरीरोंमें एक ही जीव है तो शरीरके अवयवभेदके समान शरीरका भेद होनेपर भी परस्परके सुखादिका अनुसन्धान होना चाहिए अर्थात् जैसे हाथ, पैर, मस्तक आदि अनेक अवयवोंमें अधिकार रखनेवाले एक ही देवदत्तमें यह अनुभव देखा जाता है कि 'मेरे मस्तकमें वेदना है और पैरोंमें सुख है, वैसे ही यदि एक जीव सभी शरीरोंमें अधिष्ठित है, तो उसे यह अनुभव होना चाहिए कि देवदत्तके शरीरमें मुझे सुख है और यज्ञदत्तके शरीरमें दुःख है, परन्तु यह अनुभव नहीं होता, इसलिए एकजीववाद असङ्गत है। इस प्रकार यदि शङ्का हो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि [यद्यपि पूर्व-जन्मके शरीरमें अधिकार रखनेवाला जीव और इस जन्मके शरीरमें अधिकार रखनेवाला जीव एक ही है, तो भी जन्मान्तरीय सुख आदिका अनुसन्धान इस शरीरमें नहीं देखा जाता, इससे सुख आदिके अनुसन्धानके अभावमें शरीर-भेदको हेतु मानना चाहिए, अतः उक्त दोष नहीं है।

अनेक शरीरोंमें योगीको जो सुख आदिका अनुसन्धान होता है, वह तो व्यवहित अर्थके ज्ञानके समान योगप्रभावसे होता है, अतः उसे उदाहरण-रूपसे नहीं दे सकते हैं; [तात्पर्य यह है कि योगी अपने विलक्षण प्रभावसे अनेक शरीरोंको धारण करता है और उन सब शरीरोंमें से किसीमें सुख और किसीमें दुःखका अनुभव करता है, शरीर-भेदको यदि अननुभवके प्रति हेतु माना जायगा, तो उसे भिन्न-भिन्न शरीरमें सुख दुःखका अनुभव नहीं होना चाहिए, अतः उक्त नियममें (सुखादिके अननुसन्धानमें शरीरभेद कारण है, इसमें) व्यभिचार होगा, नहीं व्यभिचार नहीं होगा, क्योंकि योगी जैसे सुदूर भूत-कालीन पदार्थका और सुदूर भविष्यत्कालीन अर्थका, (जिन्हें हम अपने चर्मचक्षुओंसे सर्वथा नहीं देख सकते हैं) योगप्रभावसे ज्ञान कर लेते हैं, वैसे ही योगप्रभावसे अनेक शरीरोंमें सुख और दुःखका अनुभव कर लेते हैं, अतः

बद्धमुक्तव्यवस्थार्थमन्तःकरणभेदतः ।
जीवभेदं परे प्राहुः, व्यवस्था चाऽत्र कीदृशी ॥ ४५ ॥

बद्ध और मुक्त की व्यवस्थाके लिए अन्तःकरणके भेदसे जीवोंका भेद है, ऐसा भी कोई लोग कहते हैं । इस अनेकजीववादमें बद्ध और मुक्तकी व्यवस्था कैसी है ?॥४५॥

इतरे त्वत्रापि बद्धमुक्तव्यवस्थाऽभावस्य तुल्यत्वेन 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्' इत्यादिश्रुतेः 'प्रतिषेधादिति चेन्न

योगीके दृष्टान्तसे कथित नियममें व्यभिचार नहीं है अर्थात् सुख आदिके अननुसन्धानमें योगप्रभावसे असहकृत शरीरभेदको प्रयोजक मानेंगे, योगीका शरीरभेद है, परन्तु वे योगप्रभावसे असहकृत नहीं हैं किन्तु सहकृत हैं अतः व्यभिचार नहीं है]।

कुछ लोग इस मतसे सन्तुष्ट न हो अन्तःकरण आदिको जीवकी उपाधि मानकर, अनेकजीववादका आश्रय करके बद्ध और मुक्तकी व्यवस्था करते हैं, क्योंकि पूर्वके समान इस मतमें भी बद्ध और मुक्तकी व्यवस्थाका अभाव समान होनेसे 'तद्यो यो देवानां०' (देवोंमें से जिस देवने आत्माका साक्षात्कार किया, वही ब्रह्मरूप हो गया इत्यादि विद्वान्में मुक्तत्व और अविद्वान्में बद्धत्वका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति और 'प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्'*

---

* 'प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात्' इस सूत्रका यह अर्थ है—'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (उस ब्रह्मवेत्ताके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता) इस काण्वशाखाकी श्रुतिसे ब्रह्मतत्त्ववेत्ताके प्राणोंका उत्क्रमण निषिद्ध होनेसे उसकी गति और उत्क्रान्ति नहीं होती है, यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि बृहदारण्यकमें 'न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ति' (उससे प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता है) यह श्रुति ब्रह्मवेत्ताके शारीरका—जीवका—उपक्रम करके सुनी जाती है । इससे जीवसे प्राणोत्क्रमणका निषेध है शरीरसे नहीं अर्थात् विद्वान्के प्राणोंका भी शरीरसे उत्क्रमण होता है, इसलिए 'न तस्य' इत्यादि काण्वके श्रुतिका भी यही अर्थ करना चाहिए कि विद्वान्के प्राण जीवसे उत्क्रमण नहीं करते हैं, परन्तु उसके साथ-साथ ब्रह्मलोकमें जाते हैं। यह पूर्वपक्षसूत्र है ।

अनेकजीववादमें भी—'ब्रह्म ही अपनी अविद्यासे संसारी होता है और अपनी विद्यासे मुक्त होता है', ऐसा बृहदारण्यकभाष्यमें प्रतिपादन होनेसे विरोध समान ही है, ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि उस भाष्यका यह तात्पर्य है कि ब्रह्म ही अनेक अन्तःकरणरूपसे परिणत अपनी अविद्यासे अनेकजीवभावको प्राप्त करके संसारी होता है और अपनी विद्यासे क्रमशः मुक्त होता है । यदि कोई कहे कि श्रुति-स्मृतिके ठीक-ठीक पर्यालोचनसे उनका तात्पर्य अनेकजीववादमें नहीं ज्ञात होता है, अतः अनेकजीववाद असङ्गत है, नहीं, असङ्गत नहीं है, क्योंकि तुल्ययुक्त्या उन

शरीरात्' (उ० मी० अ० ४ पा० २ सू० १२) इत्यधिकरणे बद्धमुक्तत्व-प्रतिपादकभाष्यस्य च नाऽऽञ्जस्यमित्यपरितुष्यन्तोऽन्तःकरणादीनां जीवोपाधित्वाभ्युपगमेनाऽनेकजीववादमाश्रित्य बद्धमुक्तव्यवस्थां प्रतिपद्यन्ते ।

प्रतिजीवमविद्यांशा भिन्ना ब्रह्मावृतिक्षमाः ।
तन्नाशक्रमतो मुक्तिव्यवस्था कैश्चिदीर्यते ॥ ४६ ॥

कोई लोग कहते हैं कि प्रत्येक जीवमें अविद्याके अंश भिन्न-भिन्न हैं और वे ब्रह्मका आवरण करनेमें समर्थ हैं और उनके नाशक्रमसे मुक्तिकी व्यवस्था है ॥४६॥

तेषु केचिदेवमाहुः—यद्यपि शुद्धब्रह्माश्रयविषयमेकमेवाऽज्ञानम्, तन्नाश एव च मोक्षः, तथापि जीवन्मुक्तावज्ञानलेशानुवृत्त्यभ्युपगमेनाऽज्ञानस्य सांशत्वात् तदेव क्वचिदुपाधौ ब्रह्मावगमोत्पत्तौ अंशेन निवर्तते, उपाध्यन्तरेषु यथापूर्वमंशान्तरैरनुवर्तते इति ।

इस अधिकरणमें बद्धत्व और मुक्तत्वका प्रतिपादन करनेवाले भाष्यके साथ सामञ्जस्य नहीं है अर्थात् उक्त श्रुति और भाष्यकी अनुपपत्ति है ।

उन अनेकजीववादियोंमें से कुछ लोग यह कहते हैं कि यद्यपि शुद्ध ब्रह्मका आश्रय और उसको विषय करनेवाला अज्ञान एक ही है, और उसके नाश होनेसे ही मोक्ष होता है † तथापि जीवन्मुक्तिमें अज्ञानके विक्षेपांशकी अनुवृत्तिका स्वीकार होनेसे अज्ञान सांश है, इससे जिस उपाधिमें (जीवरूप अधिकरणमें) ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्ति होगी, उसी स्थलमें अंशतः अज्ञानकी निवृत्ति होगी और अन्य स्थलमें पूर्ववत् अन्य अंशोंसे अज्ञानकी अनुवृत्ति होगी ।

उन श्रुतियों और स्मृतियोंका एकजीववादमें भी तात्पर्य नहीं है, ऐसा कह सकते हैं । यह भी नहीं कह सकते हैं कि अविद्याके एक होनेसे तदवच्छिन्न जीव एक है, क्योंकि कथित श्रुति और स्मृतिके आधारपर अविद्याका अनेकविधत्व भी सम्भव है और एकत्वका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंका तात्पर्य जातिके अभिप्रायसे भी लगा सकते हैं अर्थात् अविद्यात्व जातिके एक होनेसे अविद्या एक है, ऐसा कहा गया है । कदाचित् अविद्याको एक माना जाय, तो भी 'कार्योपाधिरयं जीवः' इत्यादि उदाहृत पूर्वकी श्रुतिके बलसे नाना अन्तःकरण ही जीवकी उपाधियाँ हैं, ऐसा भी स्वीकार कर सकते हैं, अतः अनेकजीववादमें विरोध नहीं है, यह भाव है ।

† विशिष्ट जीव और ईश्वर अज्ञानके आश्रय नहीं हो सकते हैं, क्योंकि वे स्वयं ही अज्ञानसे कल्पित हैं, अतः शुद्ध ब्रह्म ही उसका आश्रय है, इसी प्रकार अज्ञानविषयत्व अर्थात् अज्ञानावृततत्वरूपविषयत्व भी शुद्धमें है ईश्वरमें नहीं है, क्योंकि जैसे औपाधिक भेदसे

आत्मन्यविद्यासंसर्गो हृदयग्रन्थिसंश्रयः ।
तच्छेदात्तदसंसर्गः क्रमान्मुक्तिक्रमः परैः ॥ ४७ ॥

आत्मामें जो अविद्याका सम्बन्ध है, वह हृदयग्रन्थिप्रयुक्त—अन्तःकरणप्रयुक्त है, अतः अन्तःकरणके विनाशसे आत्मा और अविद्याका जो क्रमसे असम्बन्ध है वही मुक्तिक्रम है ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं ॥४७॥

अन्ये तु यथा न्यायैकदेशिमते भूतले घटात्यन्ताभावस्य वृत्तौ घटसंयोगाभावो नियामक इति अनेकेषु प्रदेशेषु तद्वत्सु संसृज्य वर्तमानो घटात्यन्ताभावः क्वचित्प्रदेशे घटसंयोगोत्पत्त्या तदभावनिवृत्तौ न संसृज्यते ।

* कुछ लोग यह कहते हैं कि जैसे भूतलमें घटात्यन्ताभावकी वृत्तिमें घटके संयोगका अभाव नियामक (प्रयोजक) है, इसलिए अनेक घटसंयोगाभाववाले प्रदेशोंमें सम्बन्ध करके स्थित घटका अत्यन्ताभाव—किसी प्रदेशमें घटके संयोगकी उत्पत्तिसे घटसंयोगाभावकी निवृत्ति होनेसे (उस

अन्य जीवकी उपलब्धि नहीं होती है, वैसे ही ईश्वरकी भी अनुपलब्धि हो सकती है। अतः उसको (ईश्वरको) आवृत मानना अनुचित है।

अज्ञान एक ही है इसमें प्रमाण है—अज्ञानवाचक शब्दोंका श्रुतिस्मृतियोंमें एकवचनान्त प्रयोग, जैसे 'अजामेकाम्' 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्' 'विभेदजनकेऽज्ञाने' इत्यादिमें 'अजाम्' 'मायाम्' 'प्रकृतिम्' और 'अज्ञाने' ये सब एकवचनान्त ही कहे गये हैं, और इसी एक अज्ञानके नाशसे मोक्ष होता है, ऐसा श्रुति प्रतिपादन करती है—'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः'। इस मतमें एकके तत्त्वज्ञानसे समग्र अज्ञानका नाश नहीं माना जाता है, किन्तु जिस पुरुषको तत्त्वज्ञान होगा उसी पुरुषका अज्ञानांश नष्ट होगा, इसलिए बद्ध और मुक्तकी अत्यन्त उचित रीतिसे व्यवस्था हो सकेगी, यह भाव है।

• इस मतमें ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है, ऐसा प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंका अज्ञानके सम्बन्धकी निवृत्तिमें ही तात्पर्य मानना होगा ज्ञानकी निवृत्तिमें नहीं। यदि अज्ञानके नाशमें ही तात्पर्य माना जाय, तो जैसे तूलसमुदायके विरोधी अग्निके उदयसे समग्र तूलराशिका नाश होता है, वैसे ही अज्ञानविरोधी ज्ञानके उदयसे समग्र अर्थात् निःशेष अज्ञानके नाशका प्रसङ्ग आवेगा। ऐसी परिस्थितिमें जीवन्मुक्तिशास्त्र और बद्धमुक्तिशास्त्रके साथ अवश्य विरोध होगा। इसमें घटात्यन्ताभावका जो दृष्टान्त दिया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि 'भूतलमें घट नहीं है' इस अनुभवसे सिद्ध जो अभाव है, वह त्रैकालिक है अर्थात् अत्यन्ताभाव है, इसलिए घटके लानेपर भी 'घट नहीं है' ऐसी प्रतीति होनी चाहिए, परन्तु होती नहीं है, कारण कि घटाधिकरणमें घटात्यन्ताभावप्रतीतिका नियामक सम्बन्ध नहीं है, घटात्यन्ताभावकी प्रतीतिका नियामक है—घटसंयोगाभाव, घटाधिकरणमें घटसंयोगाभावके न रहनेसे उक्त आपत्ति नहीं है।

एवमज्ञानस्य चैतन्ये वृत्तौ मनो नियामकमिति तदुपाधिना तत्प्रदेशेषु संसृज्य वर्तमानमज्ञानं क्वचिद् ब्रह्मदर्शनोत्पत्त्या 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः' इत्युक्तरीत्या मनसो निवृत्तौ न संसृज्यते। अन्यत्र यथापूर्वमवतिष्ठते। अज्ञानसंसर्गासंसर्गावेव च बन्धमोक्षावित्याहुः।

जातिर्व्यक्तिमिव ध्वस्तां स्वात्मज्ञं यज्जहाति सा।
जीवं जीवाश्रिताऽविद्या मुक्तिः सेत्यपि चाऽपरे॥४८॥

जैसे व्यक्तिमें रहनेवाला जातिरूप धर्म विनष्ट व्यक्तिका परित्याग करता है, वैसे ही जीवाश्रित अविद्या आत्मज्ञानी जीवका जो परित्याग करती है, वही मुक्ति है, यह भी किन्हीं लोगोंका मत है॥४८॥

अपरे तु नाऽज्ञानं शुद्धचैतन्याश्रयम्, किं तु जीवाश्रयं ब्रह्मविषयम्।

स्थलमें) सम्बद्ध नहीं होता, ऐसा किसी नैयायिकका मत है, वैसे ही चैतन्यमें अज्ञानकी वृत्तिताका मन नियामक है, इसलिये मनरूप उपाधिसे युक्त प्रदेशमें सम्बन्ध करके रहा हुआ अज्ञान—किसी चैतन्यदेशमें ब्रह्मापरोक्षकी उत्पत्तिसे 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः०' (अन्तःकरणरूप ग्रन्थि ब्रह्मदर्शनसे निवृत्त होती है) इस श्रुतिके आधारपर मनकी निवृत्ति होनेसे सम्बद्ध नहीं होता है और अन्यत्र अर्थात् जिस प्रदेशमें ब्रह्मज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हुई है, उस स्थलमें यथापूर्व रहता ही है, [क्योंकि इस मतमें] अज्ञानका सम्बन्ध बन्ध है और अज्ञानका असम्बन्ध मोक्ष है [पूर्व मतमें अज्ञानकी सत्ता बन्धन और उसका नाश मोक्ष है और इस मतमें अज्ञानका सम्बन्ध बन्ध और असम्बन्ध मोक्ष है यह पूर्व मत और इस मतमें भेद है]।

अज्ञान शुद्ध चैतन्यमें नहीं रहता है * किन्तु जीवमें ही रहता है और

---

* वेदान्तशास्त्रसे प्रतिपाद्य जो शुद्ध चैतन्य है, वह अज्ञानका आश्रय नहीं है, क्योंकि 'वेदान्तवेद्यवस्तुको मैं नहीं जानता हूँ' इस अनुभवसे शुद्ध चैतन्यका अज्ञानविषयत्वरूपसे ही अनुभव होता है। और 'मैं परमात्माको नहीं जानता हूँ'। इस अनुभवसे अज्ञानकी जीवाश्रयत्वरूपसे प्रतीति होती है, अतः जीव ही अज्ञानका आश्रय है। अज्ञान अपने कार्यभूत अन्तःकरणसे युक्त चैतन्यरूप जीवमें कैसे रहेगा, यह शङ्का नहीं करनी चाहिए, कारण कि अन्तःकरणमें प्रतिविम्बभूत जो चैतन्य है उसीमें जीवत्वका स्वीकार होनेसे अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यको जीव मानते ही नहीं हैं। अन्तःकरण सादि है, इसलिए उसमें प्रतिविम्बभूत चैतन्यके भी सादि होनेसे वह अनादि अविद्याका आश्रय न होगा, इस प्रकारकी यदि शङ्का हो, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि अन्तःकरणके—सुषुप्ति और जाग्रदवस्थाके अनुभवसे

अतश्चाऽन्तःकरणप्रतिबिम्बरूपेषु सर्वेषु जीवेषु व्यक्तिषु जातिवत् प्रत्येकपर्यवसायितया वर्तमानमुत्पन्नविद्यं कश्चित्त्यजति नष्टां व्यक्तिमिव जातिः। स एव मोक्षः। अन्यं यथापूर्वमाश्रयतीति व्यवस्थेत्याहुः।

वह भ्रमविषयक है। इससे प्रत्येकव्यक्तिको व्याप्त करके रहनेवाली जातिके † समान अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बरूप सब जीवोंमें रहनेवाला अज्ञान—जैसे जातिरूप धर्म नष्ट व्यक्तिका त्याग करता है, वैसे ही जिस जीवमें ‡ विद्या उत्पन्न हुई है, उसका—त्याग करता है और यही त्याग मोक्ष कहलाता है। अन्य पुरुषका, जिसमें विद्याका आविर्भाव नहीं हुआ है, आश्रय करता है, इस प्रकारसे भी कुछ लोग बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था करते हैं।

—लय और जन्म हैं अतः उसके सादि होनेपर भी स्थूलके सूक्ष्मरूपसे वह अनादि है, ऐसा 'पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्' (ब्र० सू० अ० २ पा० ३ सू० ३१) इस सूत्रमें प्रतिपादन किया गया है। इस सूत्रका यह अर्थ है—जैसे बाल्य अवस्थामें अनभिव्यक्त पुंस्त्व और स्त्रीत्व आदिका यौवनमें प्रादुर्भाव होता है, वैसे ही स्वाप आदिमें अनभिव्यक्त अन्तःकरणकी, जो कि सत् है, स्थूलावस्थारूप अभिव्यक्ति होती है। अनादि चैतन्यप्रतिबिम्बमें अविद्या रहती है, इसका विचार—माया और अविद्याके अभेदनिरूपणके प्रसङ्गमें—किया गया है।

† द्वित्व या बहुत्वके समान अज्ञान व्यासज्यवृत्ति (एकाधिकव्यक्तिमात्रवृत्ति) माना जाय, तो सभी को प्रत्येकरूपसे 'मैं अज्ञ हूँ' ऐसा जो प्रत्यक्ष होता है, वह नहीं होगा, क्योंकि व्यासज्यवृत्ति धर्मके प्रत्यक्षमें यावत् आश्रयीभूत व्यक्तियोंका प्रत्यक्ष कारण होता है, अतः एक-एक जीवको सब जीवोंका प्रत्यक्ष न होनेसे एक व्यक्तिको व्यासज्यवृत्ति अज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं होगा, इसलिए अज्ञानको गोत्व आदि जातिरूप धर्मके समान प्रत्येक जीवव्यक्तिमें पर्यवसायी मानना चाहिए। वस्तुतस्तु यदि अज्ञान व्यासज्यवृत्ति माना जाय, तो भी दोष नहीं है, कारण कि अज्ञानप्रत्यक्ष नित्य और साक्षिरूप होनेसे उसके अपरोक्षावभासमें यावदाश्रयका प्रत्यक्ष कारण नहीं है, क्योंकि जन्य-प्रत्यक्षमें ही यावदाश्रयप्रत्यक्ष कारण होता है, यह भाव है।

‡ उत्पन्न विद्यासे मनकी निवृत्ति होगी और उसके निवृत्त होनेपर तन्निबन्धन चैतन्यप्रतिबिम्बका निरास होगा और इसीसे तद्विशिष्ट चेतन भी निवृत्त हो जायगा, इस क्रमसे मोक्ष होगा। इसीलिए 'जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' (विद्यावान् जीव जिसके विषय भुक्त हुए हैं, ऐसी अविद्याका त्याग करता है) यह भाव है।

प्रतिजीवमविद्याया भेदमाश्रित्य चेतरे ।
तद्विनाशक्रमान्मुक्तिव्यवस्थां संप्रचक्षते ॥४९॥

कोई-कोई प्रत्येक जीवमें अविद्याका भेद मानकर उसके विनाशक्रमसे मुक्ति-व्यवस्था करते हैं ॥४९॥

इतरे तु प्रतिजीवमविद्याभेदमभ्युपगम्यैव तदनुवृत्तिनिवृत्तिभ्यां बद्धमुक्तव्यवस्थां समर्थयन्ते ।

अविशेषेण सर्वेषामविद्यातः प्रवर्तते ।
प्रपञ्चोऽस्मिन्नैकतन्त्वारब्धः पक्षे पटो यथा ॥ ५० ॥

जैसे अनेक तन्तुओंसे एक पट उत्पन्न होता है, वैसे ही अविशेषसे सभी जीवोंकी अविद्यासे प्रपञ्च उत्पन्न होता है, ऐसा अनेक जीववादियोंमें कुछ लोग कहते हैं ॥५०॥

अस्मिन् पक्षे कस्याऽविद्यया प्रपञ्चः कृतोऽस्त्विति चेत्, विनिगमका-भावात् सर्वाविद्याकृतोऽनेकतन्त्वारब्धपटतुल्यः । एकस्य मुक्तौ तदविद्या-नाशे एकतन्तुनाशे पटस्येव तत्साधारणप्रपञ्चस्य नाशः, तदैव विद्यमान-

---

कुछ लोग प्रत्येक जीवमें अज्ञानका भेद मानकर ही अज्ञानकी अनुवृत्ति और निवृत्तिसे बन्ध और मोक्षका समर्थन करते हैं × ।

इस अनेक-अज्ञानपक्षमें किसकी अविद्यासे प्रपञ्च हुआ है ? इस प्रश्नके उत्तरमें कुछ लोग कहते हैं कि जैसे अनेक तन्तुओंसे पटका आरम्भ हुआ है, वैसे ही सभी जीवोंके अज्ञानसे यह समस्त प्रपञ्च हुआ है, क्योंकि किसी एक जीवके अज्ञानसे प्रपञ्चकी उत्पत्ति माननेमें कोई बलवत्तर विनगमक (युक्तिविशेष) नहीं है। जैसे एक तन्तुका नाश होनेसे उस तन्तुकी सत्त्वदशामें जो विजातीय पट था, उसका नाश हो जाता है, वैसे ही एक जीवकी अविद्याका नाश होनेसे

× इस पक्षमें अविद्याकी अनुवृत्ति बन्ध है और अननुवृत्ति मोक्ष है। और अविद्या प्रत्येक जीवमें अलग-अलग है। एक माननेपर बन्ध और मोक्षका उपपादन नहीं हो सकेगा। यदि शङ्का की जाय कि अविद्याके अंशके आधारपर बन्ध और मोक्षकी व्यवस्था हो सकती है ? नहीं, नहीं हो सकती, क्योंकि विरोधी विद्याका उदय होनेपर उस अविद्याका किसी अंशसे भी अवस्थान नहीं हो सकता और जीवन्मुक्तिके निर्वाहके लिए अविद्याका लेश नहीं माना गया है, किन्तु अविद्याका नाश होनेपर भी प्रारब्धके अनुसार उसके संस्कार कुछ रहते हैं, इसीको अविद्याका लेश कहा गया है। वस्तुतस्तु अविद्याका लेश है ही नहीं। अतः अविद्याका प्रत्येक जीवमें भेद मानना ही उचित है।

तन्त्वन्तरैः पटान्तरस्येव इतराविद्यादिभिः सकलेतरसाधारणप्रपञ्चान्तरस्योत्पादनमित्येके ।

प्रत्यविद्यं प्रपञ्चस्य भेदं न्यायनये यथा ।
अपेक्षाबुद्धिजद्वित्वं शुक्तिरूप्यं च भिद्यते ॥ ५१ ॥

जैसे न्यायमतमें प्रत्येक पुरुषकी अपेक्षाबुद्धिसे जन्य द्वित्व भिन्न-भिन्न होते हैं, और शुक्तिरूप्यादि प्रातिभासिक पदार्थ भी तत्-तद् अज्ञानसे भिन्न हैं, वैसे ही प्रत्येक अज्ञानके भेदसे प्रपञ्चका भी भेद है, ऐसा भी कोई लोग कहते हैं ॥५१॥

तत्तदज्ञानकृतप्रातिभासिकरजतवत् न्यायमते तत्तदपेक्षाबुद्धिजन्यद्वित्ववच्च तत्तदविद्याकृतो वियदादिप्रपञ्चः प्रतिपुरुषं भिन्नः । शुक्तिरजते त्वया यद् दृष्टं रजतम्, तदेव मयाऽपीतिवदैक्यभ्रममात्रमित्यन्ये ।

तत्साधारण विजातीय प्रपञ्चका नाश होता है और जैसे उसी क्षणमें (तन्तुके नाशक्षणमें) वर्तमान अन्य तन्तुओंसे पूर्वपटसे विलक्षण पट उत्पन्न होता है, वैसे ही इतर जीवोंकी अविद्या आदिसे—मुक्त जीवसे अन्य समस्त जीवोंका साधारण अन्य प्रपञ्च उत्पन्न होता है ।

जैसे उन उन पुरुषोंके अज्ञानसे * प्रातिभासिक रजतकी उत्पत्ति होती है और जैसे न्यायमतमें † उन उन पुरुषोंकी अपेक्षाबुद्धिसे (अनेकमें एकत्व बुद्धि—यह एक है, यह एक है, इत्यादिरूपसे) द्वित्व आदि संख्या उत्पन्न होती है, वैसे ही उन उन पुरुषोंके अज्ञानसे आकाश आदि समस्त पदार्थोंकी उत्पत्ति हुई है, अतः अज्ञानके भेदसे प्रत्येक पुरुषके प्रति प्रपञ्च भिन्न-भिन्न है । शुक्तिरजतस्थलमें जैसे एकत्वका भ्रम होता है, जिस रजतको तुमने देखा था वही मैंने देखा, वैसे ही जिस प्रपञ्चको तुम देखते हो, उसी प्रपञ्चको 'मैं देख रहा हूँ', इस प्रकार ऐक्यका भ्रम ही है, वस्तुतः प्रपञ्च एक नहीं है, ऐसा भी उन्हीं लोगोंका मत है ।

---

* यहाँ एक शङ्का होती है कि जिस स्थलमें एक कालमें अनेक पुरुषोंको एक साथ ही भ्रम हुआ है, उस स्थलमें उन सभी पुरुषोंके अज्ञान एक रजतके प्रति कारण होंगे, अतः दृष्टान्तकी असङ्गति अवश्य होगी, परन्तु यह युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त स्थलमें दैवयोगसे एक पुरुषमें शुक्तिका ज्ञान होनेसे 'नेदं रजतम्' ऐसे बाधक प्रत्यक्षसे सोपादान रजतका नाश होनेपर भी अन्योंमें रजतका भ्रम यथापूर्व अनुवर्तमान रहता ही है । अतः रजतका भेद अवश्य मानना होगा, इसलिए दृष्टान्तकी असिद्धि नहीं है, यह भाव है ।

† 'न्यायमते' इस कथनका आशय यह है कि वेदान्तसिद्धान्तमें—द्वित्व आदि अपेक्षा-

प्रातिभासिकरूप्यादेः प्रकृतिर्जीवसंश्रया ।
अविद्येशाश्रया माया विश्वस्येत्यपरे जगुः ॥ ५२ ॥

प्रातिभासिक रूप्य आदिकी प्रकृति (उपादान) जीववृत्ति अविद्या है और ईशमें रहनेवाली माया समस्त विश्वकी प्रकृति है, ऐसा कोई-कोई कहते हैं ॥५२॥

जीवाश्रितादविद्यानिवहाद्भिन्ना मायैव ईश्वराश्रिता प्रपञ्चकारणम् । जीवानामविद्यास्तु आवरणमात्रे प्रातिभासिकशुक्तिरजतादिविक्षेपेऽपि च उपयुज्यन्ते इत्यपरे ॥ ७ ॥

ईशस्य कर्तृता कीदृक् ? तत्र केचित् प्रचक्षते ।
कार्यानुकूलविज्ञानचिकीर्षाकृतितेति ताम् ॥ ५३ ॥

ईश्वरमें कैसा कर्तृत्व है ? इस प्रश्नके उत्तरमें कोई लोग कहते हैं कि कार्यानुकूल ज्ञानचिकीर्षा-कृतिमत्त्व ही कर्तृत्व है ॥५३॥

अवसितमुपादानत्वम्, तत्प्रसक्तानुप्रसक्तं च ।

कुछ लोगोंका यह मत है कि जीवोंमें रहनेवाले अज्ञानके समुदायसे ईश्वरमें रहनेवाली माया पृथक् है और यही समस्त वियद् आदि संसारके प्रति उपादान है। और जीवोंकी अविद्या आवरणमात्रमें और उपादानरूपसे प्रातिभासिक शुक्ति आदि विक्षेपमें उपयुक्त होती है * ॥७॥

[अभिन्ननिमित्तोपादानत्वरूप ब्रह्मलक्षणमें प्रविष्ट] उपादनत्वका लक्षण समाप्त हुआ और उसके प्रसङ्गसे प्राप्त जीवेश्वरस्वरूपनिरूपण तथा जीवेश्वर-स्वरूपनिरूपणके अनन्तर प्राप्त जीवैकत्व, नानात्व आदिका भी निरूपण समाप्त हुआ। [अब कर्तृत्वका निरूपण करते हैं]—

बुद्धिजन्य नहीं हैं, किन्तु अनेकद्रव्यजन्य ही हैं, क्योंकि अनेक द्वित्व आदिकी और उनकी उत्पत्ति आदिकी कल्पनामें गौरव है इसलिए अपेक्षाबुद्धि द्वित्व आदिकी व्यञ्जक है, यह माना गया है।

* यद्यपि जीवाश्रित अविद्या स्वाप्न प्रपञ्चके प्रति उपादान है, अतः इसका स्वप्नप्रपञ्चमें भले ही उपयोग हो, परन्तु शुक्तिरजतके प्रति उसका उपयोग नहीं हो सकता, कारण कि रजतका अधिष्ठान जो शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य है, उसमें जीवाविद्या नहीं रहती है, तथापि अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि 'रजतादिमें' आदि पदसे स्वप्नप्रपञ्च ही गृहीत है, अथवा वाचस्पतिमिश्रके समान शुक्तिरजतादिको जीवाविद्याविषयीकृतशुक्त्याद्यवच्छिन्नचैतन्यका ही विवर्त मानकर जीवाविद्याओंका प्रातिभासिक रजत आदिके प्रति उपयोग बतलाया गया है, अतः अनुपपत्ति नहीं है।

अथ कीदृशं कर्तृत्वम् । ?

केचिदाहुः—'तदैक्षत सोऽकामयत तदात्मानं स्वयमकुरुत' इति श्रवणान्न्यायमत इव कार्यानुकूलज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वरूपमिति ।

कार्यानुकूलविज्ञानमात्रं सा नेतरे तयोः ।
कार्यत्वेनानवस्थानादिति चान्ये प्रचक्षते ॥ ५४ ॥

कोई-कोई कहते हैं कि कार्यानुकूलज्ञानवत्त्व ही कर्तृत्व है, क्योंकि चिकीर्षा (करनेकी इच्छा) और कृतिके कार्य होनेसे तदनुकूल अन्य चिकीर्षा और कृतिके माननेमें अनवस्था प्रसक्त होगी ॥५४॥

अन्ये तु चिकीर्षाकृतिकर्तृत्वनिर्वाहाय चिकीर्षाकृत्यन्तरापेक्षायामनवस्थाप्रसङ्गात् कार्यानुकूलज्ञानवत्त्वमेव ब्रह्मणः कर्तृत्वम् । न च ज्ञानेऽप्येव

ब्रह्ममें कर्तृत्व कैसा है ? [ब्रह्ममें कोई धर्म नहीं है, अतः यदि कर्तृत्व है, तो उसका स्वरूप क्या है, यह आक्षेपकर्ताका भाव है]

इस आक्षेपके समाधानमें कोई लोग कहते हैं कि जैसे न्यायमतमें कार्यानुकूलज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वरूप * कर्तृत्वका लक्षण किया है, वैसे ही प्रकृतमें कर्तृत्वका यही लक्षण है, क्योंकि 'तदैक्षत०' (उसने (ब्रह्मने) देखा, उसने चाहा, और उसने स्वतः ही अपनेको जगद्रूप किया) इत्यादि श्रुति है [यद्यपि ब्रह्ममें स्वतः कर्तृत्व नहीं है, तथापि औपाधिक कर्तृत्व है, यह भाव है] ।

कुछ लोग कहते हैं कि चिकीर्षाके प्रति और कृतिके प्रति कर्तृताका निर्वाह करनेके लिए यदि अन्य चिकीर्षा और अन्य कृतिका स्वीकार किया जायगा, तो अनवस्था होगी, इससे कार्यानुकूलज्ञानवत्त्व ही कर्तृत्वका लक्षण है ।

* कार्यानुकूलज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वम्—कर्तृत्वम् । इसका विवेचन कुछ पङ्क्तियोंके अनन्तर अनुवादमें स्पष्टरूपसे किया गया है, लक्षणमें इच्छा, कृति आदिका यद्यपि समावेश नहीं होता, इच्छानुकूल इच्छा कृतिके अनुकूल कृति ऐसा मानकर उनमें (इच्छा आदिके कर्तृत्वमें) लक्षण-समन्वय किया जायगा, तो परिशेषसे अनवस्था ही प्रसक्त होगी, तथापि इस लक्षणकर्ताओंका अभिप्राय है कि इच्छा आदिसे भिन्न जो कार्य है, उनके प्रति कर्तृत्वका यह लक्षण है इच्छा आदिके प्रति नहीं, इच्छा आदिके प्रति अन्यविध कर्तृत्व होगा । इससे इसमें कर्तृत्वलक्षणका अननुगम दोष होता है, यही अस्वरस है, अतः 'कार्यानुकूलज्ञानवत्त्वं कर्तृत्वम्' अर्थात् कार्यका अनुकूल ज्ञान जिसमें रहे, वह कर्ता है, ऐसा 'अन्ये तु' इत्यादिसे अन्य पक्ष कहा जाता है ।

प्रसङ्गः। तस्य ब्रह्मस्वरूपत्वेनाऽकार्यत्वात् । एवं च विवरणे जीवस्य सुखादिकर्तृत्वोक्तिः, वीक्षणमात्रसाध्यत्वात् वियदादि वीक्षितम्, हिरण्य-

ज्ञानमें यह प्रसङ्ग नहीं है, क्योंकि ज्ञानके ब्रह्मस्वरूप होनेसे वह किसीका भी कार्य नहीं है। [तात्पर्यार्थ यह है कि सच्चिदानन्द परमात्मा समस्त जगत्का कर्ता है और पूर्वमतमें कर्ता वह कहा गया है—जिसमें कार्यका ठीक-ठीक परिज्ञान, उसकी चिकीर्षा (कार्यको बनानेकी प्रबल इच्छा) और कार्य-विषयिणी (कार्यानुकूल) कृति हो। जो कर्ता होता है, उसमें कार्यविषयक ज्ञान, कार्यविषयक चिकीर्षा और तदनुकूल कृति रहती है, जैसे–घटका कर्ता है—कुम्भकार, उसमें घटका ज्ञान, घटकी चिकीर्षा और घटानुकूल कृति, ये तीनों विद्यमान हैं। तुल्य युक्तिसे ईश्वरमें भी उपाधिवश कार्यानुकूल ज्ञान, चिकीर्षा और कृति माननी ही पड़ेगी, अन्यथा ईश्वरके कर्तृत्वका निर्वाह नहीं होगा। ऐसी परिस्थितिमें कर्ताके लक्षणमें प्रविष्ट जो चिकीर्षा और कृति है, उनको कार्य माना जाय या नहीं? यदि उनको कार्य न माना जाय, तो ईश्वरसे अन्य चिकीर्षा और कृतिके भी नित्य होनेसे अद्वितीयत्वश्रुतिके साथ विरोध होगा, इसलिए चिकीर्षा और कृतिको कार्य अवश्य मानना होगा, यदि वे कार्य हैं, तो चिकीर्षाके अनुकूल द्वितीय चिकीर्षा और कृतिके अनुकूल अन्य कृति माननी होगी, इस प्रकार द्वितीय चिकीर्षा और कृतिके कार्य होनेसे तदनुकूल तृतीय चिकीर्षा और कृति माननी होगी, अतः इस क्रमसे विचारधारा करनेपर अनवस्था ही होगी, ज्ञानके ब्रह्मस्वरूप होनेसे वह नित्य है, अतः तत्प्रयुक्त अनवस्था नहीं हो सकती है, इसलिए चिकीर्षा और कृतिसे रहित—'कार्यानुकूल' अर्थात् कार्यके लिए उपयुक्त जो ज्ञान तद्वान् जो हो वह कर्ता है—इस प्रकार प्रथम लक्षणमें अरुचि बतलाकर कर्ताका लक्षण कहा गया, यह भाव है]। इच्छा और कृतिका कर्ताके लक्षणमें प्रवेश नहीं है, अतः विवरणमें सुख आदिका जीव कर्ता है, ऐसा कहा गया है*। और वीक्षणमात्रसे साध्य होनेसे वियद् आदि वीक्षित कहे गये हैं, हिरण्यगर्भ द्वारा भौतिक

* यह तात्पर्य है—जीवमें सुख आदिकी उत्पत्तिके अनुकूल ज्ञान है, परन्तु सुख आदिकी उत्पत्तिके अनुकूल इच्छा या कृति नहीं है, क्योंकि, ऐसा अनुभूत नहीं है, और किसी तन्त्रकारने स्वीकार भी नहीं किया है। इसीलिए कार्यानुकूल ज्ञानवत्त्वरूपकर्तृत्वका अङ्गीकार करके ही विवरणकारका उक्त वचन सङ्गत होता है, अन्यथा सङ्गत नहीं होगा।

गर्भद्वारा वीक्षणाधिकयत्नसाध्यत्वात् भौतिकं स्मितमिति कल्पतरूक्तिश्च सङ्गच्छत इति वदन्ति ।

एवं जीवोऽपि कर्ता स्याज्जगतः स्वप्नजस्य च ।
ततः सृष्ट्यनुकूलार्थाऽऽलोचनवेति चापरे ॥ ५५ ॥

यदि कार्यानुकूल ज्ञानवत्त्व कर्तृत्व माना जायगा, तो जीव भी जगत् और स्वप्नका कर्ता होगा, इसलिए सृष्टिके अनुकूल आलोचनात्मक ज्ञानवत्त्व ही कर्तृत्व है, ऐसा कोई लोग कहते हैं ॥५५॥

अपरे तु कार्यानुकूलस्रष्टव्यालोचनरूपज्ञानवत्त्वं कर्तृत्वम्, न कार्यानुकूलज्ञानवत्त्वमात्रम् । शुक्तिरजतस्वाप्नभ्रमादिषु अध्यासानुकूलाधिष्ठानज्ञानवत्त्वेन

पदार्थ वीक्षणसे अधिक यत्नसाध्य हैं, अतः भौतिक पदार्थ स्मित हैं † इस प्रकार कल्पतरुकी उक्ति भी सङ्गत होती है ।

कुछ लोग कहते हैं कि 'मया इदं स्रष्टव्यम्' इत्याकारक कार्यानुकूल जो आलोचनात्मक ज्ञान है, वह जिसमें हो, वह कर्ता है, केवल कार्यानुकूल ज्ञानवान्

† भामतीग्रन्थके आरम्भमें मङ्गलाचरण है—

निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्च भूतानि ।
स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः ॥

इसका यह अर्थ है—जैसे पुरुषके निःश्वासमें कोई प्रयत्नविशेषकी आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही जिस ब्रह्मके—ये समग्र ज्ञानके आगार चारों वेद प्रयत्नके विना ही—कार्य हैं, जिसकी दृष्टिमात्रसे ही ये महाभूत हुए हैं, जिसका हिरण्यगर्भके साथ चराचर विश्व एक मन्दहास्य है और महाप्रलय जिसकी मानो सुषुप्ति है, उस ब्रह्मका नमन करता हूँ । इस श्लोकमें महाभूत ब्रह्मवीक्षित हैं और भौतिक चराचर प्रपञ्च ब्रह्मस्मित हैं, ऐसा कहा गया है, इसी तात्पर्यको कहनेके लिए कल्पतरुकारने यह कहा है कि 'वीक्षणमात्रेण सृष्टत्वात् भूतानि वीक्षितम्, हिरण्यगर्भद्वारा साध्यं चराचरं वीक्षणाधिकप्रयत्नसाध्यस्मितसाम्यात् स्मितम्' (केवल वीक्षणसे ही भूतोंकी उत्पत्ति है, अतः भूत वीक्षित कहे गये हैं हिरण्यगर्भ द्वारा चराचरकी उत्पत्ति हुई है, अतः वीक्षणसे अधिक प्रयत्नसाध्यस्मितकी समानता होनेसे चराचर ब्रह्मका स्मित है अर्थात् लोकमें मन्दहासरूप जो स्मित है, उसमें वीक्षणसे—ज्ञानसे अधिक कुछ ओष्ठसंचालनके अनुकूल यत्न करना पड़ता है, वैसे ही चराचरकी उत्पत्तिमें ब्रह्मको वीक्षणके सिवा हिरण्यगर्भकी उत्पत्तिरूप व्यापार करना पड़ता है, अतः वीक्षणाधिक यत्नकी अपेक्षा होनेसे चराचर स्मित हैं, यह भाव है) इस कल्पतरुव्याख्याके आधारपर कार्यानुकूल ज्ञानवत्त्वरूप कर्तृत्वका ही लाभ होता है, क्योंकि 'वीक्षणमात्रेण सृष्टत्वात्' इसमें मात्रशब्दसे स्पष्ट ही चिकीर्षा और कृतिका निरास होता है, यह भाव है ।

जीवस्य कर्तृत्वप्रसङ्गात्। न चेष्टापत्तिः, 'अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते स हि कर्ता' इत्यादिश्रुत्यैव जीवस्य स्वप्नप्रपञ्चकर्तृत्वोक्तेरिति वाच्यम्। भाष्यकारैः 'लाङ्गलं गवादीनुद्वहतीतिवत् कर्तृत्वोपचारमात्रं रथादिप्रतिभाननिमित्तत्वेन' इति व्याख्यातत्वादित्याहुः॥

कर्ता नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर जीवमें भी शुक्ति-रजत और स्वप्नविभ्रमके प्रति कर्तृत्वका प्रसङ्ग होगा, क्योंकि उसमें अध्यस्यमान (जिनका अध्यास होता है, ऐसे) रजत आदिके अनुकूल जो अधिष्ठानका ज्ञान है, वह है। परन्तु यह दोष नहीं है, प्रत्युत इष्टापत्ति ही है, क्योंकि 'अथ रथान्०' (स्वप्नकालमें जीव रथ, घोड़े और मार्गको उत्पन्न करता है, क्योंकि वह जीव स्वाप्न पदार्थके हेतुभूत कर्मका कर्ता है) इस श्रुतिसे 'जीव स्वाप्न प्रपञ्चका कर्ता है' ऐसा कहा गया है, नहीं इष्टापत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि भाष्यकारने व्याख्यान किया है कि जैसे 'लाङ्गल गो आदिका उद्वहन करता है' यह प्रयोग केवल औपचारिक है, वैसे ही रथ आदिके प्रतिभानके निमित्तरूपसे जीवमें कर्तृत्वका उपचारमात्र * है।

---

* 'लाङ्गलं गवादीनुद्वहति' (हल गाय आदि पशुओंका उद्वहन करता है अर्थात् गौ आदि पशुओंकी जीवनस्थितिको हल करता है) इस प्रयोगमें लाङ्गलमें गाय आदिका स्थितिकर्तृत्वरूप उद्वोढृत्व सुना जाता है, वह मुख्य नहीं हो सकता है, क्योंकि हलका भक्षण नहीं किया जा सकता है। पशुओंका उद्वहन करना कैसे हो सकता है, इसलिए—लाङ्गलसे कृषि होगी, कृषिसे गाय आदिकी स्थितिमें कारणभूत भूसा आदिका लाभ होगा—इस प्रकार परम्परासे औपचारिक कहा जाता है, वैसे ही स्वप्नरथ आदिका जो प्रतिभान—प्रतिभास होता है उसमें कारणभूत धर्म आदिके, कर्ता होनेसे 'स हि कर्ता' इत्यादि श्रुतिमें जीवोंमें स्वप्नरथ आदिके प्रति कर्तृता कही गई है, वस्तुतः नहीं। इस प्रकार भाष्यकारने जीवमें औपचारिक कर्तृत्व—स्वप्नरथ आदिके प्रति कहा है, विवरणमें सुख आदिके प्रति जीवमें जो कर्तृत्वका प्रतिपादन किया गया है, वह भी इससे औपचारिक ही साबित होता है। 'मया इदं स्रष्टव्यम्' (मुझे यह बनाना चाहिए) इस प्रकार आत्माके आलोचनात्मक ज्ञानके न रहनेपर भी सुख आदि देखे जाते हैं, अतः मुख्य कर्तृत्वकी सम्भावना नहीं है 'वीक्षणमात्रसाध्यम्' इस प्रकार जो कल्पतरुका वचन है, इससे भी स्रष्टव्यालोचनरूप ज्ञान ही वीक्षणशब्दसे अभिप्रेत है, अतः उसके साथ भी कोई विरोध नहीं है, यह भाव है।

जगत्कर्तृत्वसंसिद्धं सर्वज्ञत्वं समर्थितम् ।
ईशस्य शास्त्रयोनित्वात्तच्च कीदृग्विधं भवेत् ॥ ५६ ॥

ईश्वर जगत्का कर्ता है, इससे अर्थतः और सम्पूर्ण वेदोंका कर्ता है, इससे साक्षात् ईश्वरमें सर्वज्ञत्व सिद्ध है, वह सर्वज्ञत्व कैसा है ? ॥५६॥

अनेनैव निखिलप्रपञ्चरचनाकर्तृभावेनाऽर्थसिद्धं सर्वज्ञत्वं ब्रह्मणः 'शास्त्रयोनित्वात्' (उ. मी. अ. १ पा. १ सू. ३) इत्यधिकरणे वेदकर्तृत्वेनाऽपि समर्थितम् ॥८॥

अथ कथं ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वं सङ्गच्छते । जीववदन्तःकरणाभावेन ज्ञातृत्वस्यैवाऽयोगात् ।

इसी सम्पूर्ण प्रपञ्चरचनाके कर्तृत्वसे ब्रह्ममें अर्थतः सिद्ध हुए सर्वज्ञत्वका 'शास्त्रयोनित्वात्' इस अधिकरणमें वेदकर्तृत्वसे भी समर्थन किया गया है * ॥ ८ ॥

अब शङ्का करते हैं कि ब्रह्म सर्वज्ञ कैसे हो सकता है ? क्योंकि जीवके समान ब्रह्ममें अन्तःकरणका सम्बन्ध न होनेसे ज्ञातृत्वका ही असम्भव है † ।

---

* 'जन्माद्यस्य यतः' (जिस आनन्दकन्दसे समस्त प्रपञ्चकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं, वह ब्रह्म है) इस सूत्रसे समस्त प्रपञ्चका कर्ता होकर जगत्का जो उपादान हो, वह ब्रह्म है, ऐसा लक्षण प्राप्त होता है, परन्तु सर्वज्ञत्वके बिना सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके प्रति कर्तृत्व ब्रह्ममें नहीं हो सकता है, अतः ब्रह्मका सर्वज्ञत्व अर्थतः सिद्ध है। और 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्रह्म सर्वज्ञ है, क्योंकि ऋग्वेद-आदि साङ्ग समस्त वेदोंका कर्ता है) इस अधिकरणमें वेदकर्तृत्वसे भी सर्वज्ञताका साक्षात् साधन किया गया है, पूर्वके 'जन्माद्यस्य यतः' इस सूत्रमें अर्थतः सिद्ध है और 'शास्त्रयोनित्वात्' में साक्षात् सर्वज्ञत्वका साधन है, क्योंकि पूर्वसूत्र ब्रह्मका लक्षण बोधन करता है और 'शास्त्रयोनित्वात्' सर्वज्ञत्वका साधन करता है ।

† यद्यपि 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्मके सर्वज्ञत्वका साक्षात् ही कथन है, तथापि युक्तियोंसे सर्वज्ञत्वका अधिक दृढीकरण करनेके लिए इस सर्वज्ञत्वविचारका उपक्रम है। शङ्का करनेवालेका भाव यह है कि जीवमें ज्ञातृत्वका व्यवहार जो होता है, वह अन्तःकरणरूप जीवकी उपाधिके आधारपर ही अवलम्बित है, ईश्वरके अन्तःकरण नहीं है, अतः उसमें ज्ञातृत्वका सर्वथा अभाव ही रहेगा, ईश्वरकी उपाधि अन्तःकरण नहीं हो सकता, क्योंकि 'कार्योपाधिरयं जीवः' इस उदाहृत श्रुतिसे अन्तःकरण जीवकी ही उपाधि कही गई है । ज्ञातृत्व धर्म सर्वज्ञत्वका व्यापक है, अर्थात् जहाँ जहाँ सर्वज्ञत्व होगा वहाँ वहाँ ज्ञातृत्व अवश्य रहेगा, क्योंकि ज्ञातृत्वका एकदेश ही सर्वज्ञत्व है । इसलिए व्यापक

तत्र सर्वार्थविषयसर्वधीवासनोपधः ।
साक्षित्वाद्भारतीतीर्थमते सार्वज्ञ्यमीरितम् ॥ ५७ ॥

सम्पूर्णवस्तुविषयक सम्पूर्णधीवासनाओंसे उपहित ईश्वर सम्पूर्ण विषयवासनाका साक्षी है, अतः ईश्वरमें सर्वज्ञत्व है, ऐसा भारतीतीर्थका मत कहा गया है ॥५७॥

अत्र सर्ववस्तुविषयसकलप्राणिधीवासनोपरक्ताज्ञानोपाधिक ईश्वरः । अतस्तस्य सर्वविषयवासनासाक्षितया सर्वज्ञत्वमिति भारतीतीर्थादिपक्षः प्रागेव दर्शितः ।

चिच्छायाग्राहिमिमायावृत्तिभेदैस्तदीशितुः ।
त्रैकालिकेष्वापरोक्ष्यं प्रकटार्थकृतो विदुः ॥ ५८ ॥

चित्प्रतिबिम्बका ग्रहण करनेवाली मायावृत्तियोंसे ईश्वरमें कालत्रयमें रहनेवाले प्रपञ्चका जो अपरोक्ष ज्ञान है, वह सर्वज्ञत्व है, ऐसा प्रकटार्थकार कहते हैं ॥५८॥

प्रकटार्थकारास्त्वाहुः—यथा जीवस्य स्वोपाध्यन्तःकरणपरिणामाश्चैतन्यप्रतिबिम्बग्राहिण इति तद्योगात् ज्ञातृत्वम्, एवं ब्रह्मणः स्वोपाधिमाया-

* इस आक्षेपके समाधानमें भारतीतीर्थ आदिका पक्ष पूर्वमें ही दिखलाया गया है कि सर्ववस्तुविषयकसम्पूर्णप्राणिधीवासनाओंसे उपरक्त अज्ञानसे उपहित † चैतन्य ईश्वर है, इससे अपनी उपाधिभूत वासनाओंके विषयीभूत वस्तुओंके अवभासकरूपसे ईश्वरमें सर्वज्ञत्वकी उपपत्ति हो सकती है ।

प्रकटार्थकार कहते हैं कि ‡ जैसे जीवके उपाधिरूप अन्तःकरणके परिणाम (वृत्तियाँ) चैतन्यके प्रतिबिम्बको ग्रहण करते हैं, इसलिए उनके योगसे जीव ज्ञाता होता है, वैसे ही ब्रह्मकी उपाधिभूत मायाके परिमाण चैतन्यके

ज्ञातृत्वकी निवृत्तिसे व्याप्य सर्वज्ञत्वका भी निरास हुआ, कारण कि व्यापकके अभावसे व्याप्यका अभाव सिद्ध होता है, यह सिद्धान्त है, अतः पूर्वपक्ष होता है कि ब्रह्ममें सर्वज्ञत्वकी उपपत्ति कैसे हो सकती है ।

* 'सर्ववस्तुविषयसकलप्राणिधीवासनोपाधिकस्य तस्य सर्वज्ञत्वस्य तत एवोपपत्तेः' इस ग्रन्थसे दिखलाया गया है [द्रष्टव्य—पृ० ९४] ।

† जैसे प्रकटार्थकारके मतसे जीवमें ज्ञातृत्वकी प्रयोजक उपाधि अन्तःकरण है, वैसे ही ईश्वरमें ज्ञातृत्वकी प्रयोजक उपाधि माया है, इसलिए मायोपाधिक ब्रह्ममें सर्वज्ञत्वका व्यापक ज्ञातृत्व नहीं है, ऐसा नहीं है, परन्तु है ही और 'मायिनन्तु महेश्वरम्' इत्यादि श्रुतिसे माया ईश्वरकी उपाधि प्रसिद्ध है ।

परिणामाश्रितप्रतिबिम्बग्राहिणस्सन्तीति तत्प्रतिबिम्बितैः स्फुरणैः कालत्रयवर्तिनोऽपि प्रपञ्चस्याऽपरोक्षेणाऽवकलनात् सर्वज्ञत्वमिति ।

तत्त्वशुद्धिकृतो भूते स्मृतिं भाविनि तूहनम् ॥

ब्रह्ममें [वर्तमान वस्तुका अनुभव है], भूतकालीन वस्तुका स्मरण है और भविष्यत्कालीन वस्तुका भी (पूर्वोक्त प्रकारसे) ज्ञान है, इसलिए ब्रह्म सर्वदा सर्वज्ञ है, ऐसा तत्त्वशुद्धिकार कहते हैं ।

तत्त्वशुद्धिकारास्तूक्तरीत्या ब्रह्मणो विद्यमाननिखिलप्रपञ्चसाक्षात्कारसम्भवात् तज्जनितसंस्कारवत्तया च स्मरणोपपत्तेरतीतसकलवस्त्ववभाससिद्धिः । सृष्टेः प्राक् मायायाः सृज्यमाननिखिलपदार्थस्फुरणरूपेण जीवादृष्टानुरोधेन विवर्तमानत्वात् तत्साक्षितया तदुपाधिकस्य ब्रह्मणोऽपि तत्साधकत्वसिद्धेः अनागतवस्तुविषयविज्ञानोपपत्तिरिति सर्वज्ञत्वं समर्थयन्ते ।

सदा सर्वस्य सत्त्वात्तु साक्षिणा कौमुदीकृतः ॥ ५९ ॥

सार्वज्ञ्ये ज्ञानरूपत्वमिष्टं न ज्ञानकर्तृता ।

प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेवाले हैं, अतः उनमें प्रतिबिम्बित स्फुरण (चैतन्य) तीनों कालमें रहनेवाले प्रपञ्चको अपरोक्षसे विषय करते हैं, अतः ब्रह्ममें सर्वज्ञत्व हो सकता है ।

‡ तत्त्वशुद्धिकार कहते हैं कि पूर्वोक्त रीतिसे सम्पूर्ण वर्तमान प्रपञ्चका साक्षात्कार सम्भव है और विद्यमान वस्तुविषयक साक्षात्कारसे उत्पन्न संस्कारके आश्रयरूपसे भूतकालीन सम्पूर्ण वस्तुके अवभासकी सिद्धि होती है। सृष्टिके पूर्वकालमें जीवोंके अदृष्टवशसे सृज्यमान सम्पूर्ण पदार्थोंकी वृत्तिरूपसे मायाका परिणाम होता है, इससे मायामें प्रतिबिम्ब होनेसे मायोपाधिक ब्रह्ममें भी मायाकी वृत्तिके प्रति कर्तृत्वकी सिद्धि होनेसे अनागतवस्तुविषयक विज्ञानकी उपपत्ति है, अतः ब्रह्मके सर्वज्ञत्वकी सिद्धि है ।

---

‡ इस तत्त्वशुद्धिकारके मतमें पूर्वमतसे यह विशेष है—पूर्वमतमें ईश्वरका अतीत-अनागतविषयक ज्ञान अपरोक्ष ही है और इस मतमें जीवके समान ईश्वरका भी अतीत आदिविषयक ज्ञान परोक्ष है, क्योंकि लोकमें वर्तमानविषयक ज्ञान ही अपरोक्ष ज्ञान कहा जाता है। अवर्तमानविषयक अपरोक्ष ज्ञान नहीं कहा जाता, अतः लोकमें अनुभूत स्वभावका शास्त्र भी अतिक्रमण नहीं कर सकता है ।

भाष्येऽस्य जीवलिङ्गत्वकीर्तनादिति ते विदुः ॥ ६० ॥

सूक्ष्मरूपसे सभी पदार्थोंके विद्यमान होनेके कारण साक्षिरूपसे ब्रह्म सब वस्तुका अवभासक है। ऐसा कौमुदीकार कहते हैं। ज्ञानरूपत्व ही सर्वज्ञत्व है, ज्ञानकर्तृत्वरूप नहीं, इसीलिए भाष्यमें ज्ञानकर्तृत्व जीवका लिङ्ग कहा गया है, ऐसा भी वे (कौमुदी-कार) कहते हैं ॥५९॥६०॥

कौमुदीकृतस्तु वदन्ति—स्वरूपज्ञानेनैव ब्रह्मणः स्वसंसृष्टसर्वावभास-कत्वात् सर्वज्ञत्वम्। अतीतानागतयोरप्यविद्यायां चित्रभित्तौ विमृष्टानुन्मीलितचित्रवत् संस्कारात्मना सत्त्वेन तत्संसर्गस्याऽप्युपपत्तेः। न तु वृत्तिज्ञानैस्तस्य सर्वज्ञत्वम्। 'तमेव भान्तमनु भाति सर्वम्' इति

कौमुदीकार कहते हैं कि स्वरूपज्ञानसे ही * ब्रह्म अपने साथ सम्बद्ध सब पदार्थोंका अवभासक होनेसे सर्वज्ञ है। जैसे विमृष्ट होनेसे अनभिव्यक्त चित्र संस्काररूपसे चित्रभित्तिमें रहता है, वैसे ही अतीत और अनागत पदार्थ अविद्याके संस्काररूपसे रहते हैं, अतः उनके साथ ब्रह्मका सम्बन्ध है, इसलिए अतीत और अनागत विषयके साथ सम्बन्ध होनेसे तत् संसृष्ट ब्रह्म सर्वज्ञ है। वृत्तिज्ञानसे ब्रह्म सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि 'तमेव भान्त०' (उसके ही

---

* पूर्वके दो मतोंसे वृत्तिज्ञान द्वारा ब्रह्ममें सर्वज्ञत्वका निरूपण किया गया है, और इस मतसे स्वरूपज्ञानसे ब्रह्मकी सर्वज्ञताका निरूपण किया जाता है। अतीत और अनागत प्रपञ्च प्रलयकालमें और सृष्टिकालमें संस्काररूपसे विद्यमान रहते हैं, इसलिए उनका ब्रह्मके साथ सम्बन्ध होता है, अतः अतीत और अनागत वस्तुओंसे सम्पृक्त ब्रह्ममें सर्वज्ञत्वकी अनुपपत्ति नहीं हो सकती है। देवताधिकरणके भाष्यमें और आरम्भणाधिकरणके भाष्यमें अतीत और अनागत वस्तुकी प्रलय-कालमें और सृष्टिकालमें संस्कारात्मना अवस्थिति रहती है, इसका निरूपण किया गया है। इसमें एक बातकी न्यूनता रहती है, उसे जानना चाहिए—जब स्थूल प्रपञ्चका अवस्थान है तब सूक्ष्म प्रपञ्च नहीं है और प्रलयकालमें सूक्ष्म प्रपञ्च है, तो उस कालमें स्थूल प्रपञ्च नहीं है, अतः सब कालमें सब प्रपञ्चके साथ ब्रह्मका सम्बन्ध न होनेसे ब्रह्ममें असंकुचित सर्वज्ञत्व सिद्ध नहीं होगा।

'तमेव भान्तम्' इसमें 'एव'के अवधारणार्थक होनेसे यह अर्थ स्पष्ट भासता है कि ब्रह्म विषयके प्रकाशनमें अन्य किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं करता है, अतः ब्रह्मकी सर्वज्ञतामें वृत्तिकी अपेक्षा नहीं है, परन्तु स्वरूपज्ञानसे ही ब्रह्म स्वसम्बद्ध सकल पदार्थोंका अवभास करता है। इस विषयमें भी कुछ विचारणीय अंश है, जैसे ब्रह्मचैतन्य जगत्के अवभासनके लिए मायावृत्तिकी अपेक्षा करे तो 'तमेव' इस श्रौत अवधारणके साथ विरोध होता है, वैसे ही घट आदिके अवभासनमें जीव अन्तःकरण वृत्तिकी अपेक्षा करता है, तो श्रौत अवधारणके

सावधारणश्रुतिविरोधात् सृष्टेः प्रागेकमेवाऽद्वितीयमित्यवधारणानुरोधेन महाभूतानामिव वृत्तिज्ञानानामपि प्रलयस्य वक्तव्यतया ब्रह्मणस्तदा सर्वज्ञत्वाभावापत्त्या प्राथमिकमायाविवर्तरूपे ईक्षणे तत्पूर्वके महाभूतादौ च स्रष्टृत्वाभावप्रसङ्गाच्च। एवं सति ब्रह्मणस्सर्वविषयज्ञानात्मकत्वमेव स्यात्, न तु सर्वज्ञातृत्वरूपं सर्वज्ञत्वमिति चेत्, सत्यम्। सर्वविषयज्ञानात्मकमेव ब्रह्म, न तु सर्वज्ञानकर्तृत्वरूपं ज्ञातृत्वमस्ति। अत एव 'वाक्यान्वयात्'

प्रकाशित होनेपर सब वस्तुओंका प्रकाश होता है) इस अवधारण (एव) के सहित श्रूयमाण श्रुतिके साथ विरोध होगा और 'एकमेवाद्वितीयम्' (एक ही अद्वितीय) इस अवधारण श्रुतिके आधारपर सृष्टिके पूर्वकालमें महाभूतोंके समान वृत्तिज्ञानोंका प्रलय है, यह कहना होगा, इसलिए उस कालमें वृत्तिका अभाव होनेसे ब्रह्ममें सर्वज्ञत्वाभावकी प्रसक्ति होगी और प्राथमिक (आद्य) मायाके प्रथम परिणाम ईक्षणमें और उस ईक्षणपूर्वक महाभूत आदिकी सृष्टिमें ब्रह्मकी स्रष्टृता भी नहीं रहेगी।

इस परिस्थितमें ब्रह्मकी सर्ववस्तुविषयज्ञानात्मकता ही सर्वज्ञता होगी, सर्वज्ञानकर्तृतारूप नहीं होगी, ठीक है, सर्वविषयकज्ञानात्मकत्व ही सर्वज्ञत्व है, क्योंकि सर्वविषयकज्ञानस्वरूप ब्रह्म है, सर्वज्ञानकर्तृत्वरूप ज्ञातृत्व

साथ विरोध होगा ही, यदि इस अनुपपत्तिके परिहारके लिए सम्पूर्ण जड़ वस्तुएँ वृत्तिसाक्षिचैतन्यसे ही प्रकाशित होती हैं, यह अवधारणश्रुतिका अर्थ माना जाय, तो ब्रह्मचैतन्य भी मायावृत्तिकी अपेक्षा करके जड़ वस्तुको प्रकाशित कर सकता है, इसमें आपत्ति नहीं है।

इस मतमें वृत्त्यनपेक्ष ब्रह्म स्वरूप ज्ञानसे ही सर्वावभासक होकर सर्वज्ञ है, यह कहा जाता है, क्योंकि 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिके आधारपर प्रलयकालमें सब वृत्तियोंका विनाश प्रतीत होता है। इसलिए वृत्ति द्वारा, सृष्टिके पूर्वकालमें वृत्तिका अभाव होनेसे, 'तदैक्षत' (उसने ईक्षण किया) इस प्रकार ईक्षण नहीं हो सकता है। यहाँपर भी विचार करने लायक एक बात है—सृष्टिके पूर्वकालमें माया आदिकी सत्ताका अवश्य अङ्गीकार करना होगा, क्योंकि वेदान्तसिद्धान्तमें अविद्या आदि छः पदार्थ अनादि माने गये हैं। 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि अद्वितीयत्वके अवधारणको मुख्य नहीं मान सकते हैं, परन्तु माया आदिके अनादित्वकी प्रतिपादक श्रुतिके आधारपर व्याकृत—कार्यरूप द्वितीयसे रहित ब्रह्म था, यह 'अद्वितीयम्' का अर्थ करना होगा। इसी न्यायके अनुसार सर्वविषयकज्ञानकर्तृत्वप्रतिपादक श्रुतिके बलसे मायावृत्तिसे व्यतिरिक्त कोई द्वितीय वस्तु है ही नहीं, ऐसा अर्थ अद्वितीय श्रुतिका क्यों न किया जाय। और ईक्षत्यधिकरणमें भाष्यकारने भी मायावृत्तिसे ही सर्वज्ञत्वका समर्थन किया है।

(उ. मी. अ. १ पा. ४ सू. १९) इत्यधिकरणे विज्ञातृत्वं जीवलिङ्गमित्युक्तं भाष्यकारैः । 'यः सर्वज्ञः' इत्यादिश्रुतिरपि तस्य ज्ञानरूपत्वाभिप्रायेणैव योजनीयेति ।

दृश्यावच्छिन्नरूपेण चितः कार्यत्वसम्भवात् ।
सार्वज्ञ्यं ज्ञानकर्तृत्वं वाचस्पतिमते स्थितम् ॥ ६१ ॥

दृश्यावच्छिन्नरूपेण चैतन्य कार्यरूप हैं, अतः ज्ञानकर्तृत्व ही सर्वज्ञत्व है, ऐसा वाचस्पतिमिश्रका मत है ॥६१॥

यद्यपि ब्रह्म स्वरूपचैतन्येनैव स्वसंसृष्टसर्वावभासकम्, तथाऽपि तस्य स्वरूपेणाऽकार्यत्वेऽपि दृश्यावच्छिन्नरूपेण तु ब्रह्मकार्यत्वात् । 'यः सर्वज्ञः'

(सर्वज्ञत्व) ब्रह्ममें नहीं हैं अर्थात् ब्रह्म ज्ञाता नहीं है । इसीलिए 'वाक्यान्वयात् * इस अधिकरणमें भाष्यकारने विज्ञातृत्वका जीवके लिङ्गरूपसे कथन किया है । 'यः सर्वज्ञः' (जो सर्वज्ञ) इस श्रुतिकी भी ज्ञानरूपताके अभिप्रायसे ही योजना करनी चाहिए ।

† आचार्य वाचस्पतिमिश्र कहते हैं कि यद्यपि ब्रह्म अपनेसे सम्बद्ध सब वस्तुओंका अवभासक स्वरूपचैतन्यसे ही है, तथापि स्वरूपतः चैतन्यके उसके कार्य न होनेपर भी दृश्यावच्छिन्नरूपसे वह कार्य ही है, इससे 'यः सर्वज्ञः'

---

* 'वाक्यान्वयात्', 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि श्रुतिमें द्रष्टव्यरूपसे कहा गया आत्मा जीव नहीं है, किससे ? इससे कि 'इदं सर्वमात्मा' (यह सब आत्मरूप है) इत्यादि श्रुतिवाक्य तात्पर्यवृत्तिसे सर्वात्मक ब्रह्ममें ही अन्वित हैं । 'विज्ञातारम्' इत्यादि वाक्यके आधारपर पूर्वोक्त श्रुतिस्थ आत्मासे जीवात्माका ग्रहण नहीं कर सकते हैं, क्योंकि उस वाक्यसे मुक्त पुरुषका ही बोधन होता है, अतः भूतपूर्वविज्ञातृत्व धर्मका, जो जीवमें ही था, अनुवादमात्र है, अतः द्रष्टव्य परमात्मा ही है, जीव नहीं । इसमें विज्ञातृत्व धर्म जीवलिङ्गतया ही उपन्यस्त है, ब्रह्मसाधारणविज्ञातृत्वका कथन नहीं है, अतः ब्रह्म स्वरूपतः सब वस्तुका प्रकाशक है, यह भाव है ।

† सब वेदान्तोंका लक्ष्य नित्य निर्विशेष चैतन्य ही है, अतः 'सर्वज्ञः' इसमें जो ज्ञाधातु है, उसका वाच्य यह नहीं हो सकता है, इसलिए उसका अर्थ विशिष्ट चेतन ही होगा, विशिष्ट चेतनके कार्य होनेसे 'सर्वज्ञः' में प्रत्ययार्थ जो कर्तृत्व है, उसकी उपपत्ति हो सकती है। ब्रह्ममें सर्वज्ञानकर्तृत्वप्रतिपादक श्रुति है, उसकी उपपत्ति होनेके लिए ज्ञातृत्व ईश्वरमें मानना होगा । जीवके लिङ्गरूपसे भाष्यकारने जो विज्ञातृत्वका कथन किया है, वह तो केवल वाक्यान्वयाधिकरणकी सिद्धान्तकोटिमें स्वीकृत निर्विशेष ब्रह्मसे व्यावृत्ति करनेके उद्देशसे है,

इति ज्ञानजननकर्तृत्वश्रुतेरपि न कश्चिद्विरोध इति आचार्यवाचस्पतिमिश्राः ॥ ९ ॥

नन्वीश्वरवज्जीवोऽपि वृत्तिमनपेक्ष्य स्वरूपचैतन्येनैव किमिति विषयान्नाऽवभासयति ?—

युक्तो संसृज्यते जीवः सर्वगो व्यक्तिजातिवत् ।
अन्यैस्तद्वृत्त्युपारूढो ज्ञाता विवरणे स्थितः ॥ ६२ ॥

जैसे गोत्व आदि जातिके व्यापक होनेपर भी उसका गोव्यक्तिमें ही सम्बन्ध होता है, वैसे ही जीवके व्यापक होनेपर भी उसका अन्तःकरणमें ही सम्बन्ध होता है, और अन्तःकरणकी वृत्तिके ऊपर आरूढ़ होकर अन्य विषयोंके साथ उसका सम्बन्ध होता है, अतः वह (जीव) ज्ञाता होता है, ऐसा विवरणमें कहा गया है ॥६२॥

अत्रोक्तं विवरणे—ब्रह्मचैतन्यं सर्वोपादानतया सर्वतादात्म्यापन्नं सत् स्वसंसृष्टं सर्वमवभासयति, न जीवचैतन्यम् । तस्याऽविद्योपाधिकतया

इत्यादि ज्ञानजननकर्तृत्वकी (ज्ञानोत्पत्तिके प्रति कर्तृत्वकी) प्रतिपादक श्रुतिके साथ कोई भी विरोध नहीं है ॥ ९ ॥

शङ्का होती है कि ईश्वरकी नाईं जीव भी वृत्तिकी अपेक्षा न करके स्वरूपचैतन्यसे विषयोंका परिज्ञान (प्रकाश) क्यों नहीं करता है * ?

इसके ऊपर विवरणकारने यह समाधान किया है—ब्रह्मचैतन्य सभीका उपादान है, इसलिए सभीके साथ तादात्म्यरूप होकर स्वसम्बद्ध सब पदार्थोंका प्रकाश करता है, न कि जीवचैतन्य; कारण कि यद्यपि वह अविद्योपाधिक होनेसे

क्योंकि भाष्यकारने ही ईक्षत्यधिकरणमें सर्वविषयकज्ञानकर्तृत्व कहा है, इसलिए पूर्वपक्षमें कोई दोष नहीं है, इसी अभिप्रायसे श्रीवाचस्पतिमिश्रके पक्षका उपक्रम है। माया यद्यपि अनादि है, तथापि तत्तत् कार्योंके साथ मायाका तादात्म्य होनेसे मायावच्छिन्न चैतन्य कार्य हो सकता है, इसलिए 'इदमवच्छिन्नरूपेण तु घटकार्यत्वात्' इस ग्रन्थकी अनुपपत्ति नहीं है।

* यदि वृत्तिकी अपेक्षा न करके जीव भी सब वस्तुओंका अवभासक हो, तो आपत्ति यह होगी कि अविद्याप्रतिबिम्बचैतन्यरूप जीवके व्यापक होनेसे अपनेसे सम्बद्ध यावत् वस्तुका प्रकाशक होनेसे जीव भी सर्वज्ञ प्रसक्त होगा, अतः जीवको स्वरूपज्ञानसे अवभासक नहीं मानना चाहिए। और स्वरूपचैतन्यको किसी करणकी अपेक्षा न होनेसे चक्षु आदि व्यर्थ भी प्रसक्त होंगे।

सर्वगतत्वेऽप्यनुपादानत्वेनाऽसङ्गित्वात् । यथा सर्वगतं गोत्वसामान्यं स्वभावादश्वादिव्यक्तिसङ्गित्वाभावेऽपि सास्नावद्व्यक्तौ संसृज्यते, एवं विषयासङ्ग्यपि जीवः स्वभावादन्तःकरणे संसृज्यते । तथा च यदाऽन्तःकरणस्य परिणामो वृत्तिरूपो नयनादिद्वारेण निर्गत्य विषयपर्यन्तं चक्षूरश्मिवत् झटिति दीर्घप्रभाकारेण परिणम्य विषयं व्याप्नोति, तदा तमुपारुह्य तं विषयं गोचरयति । केवलाग्न्यदाह्यस्याऽपि तृणादेरयःपिण्डसमारूढाग्निदाह्यत्ववत् केवलजीवचैतन्याप्रकाश्यस्याऽपि घटादेरन्तःकरणवृत्त्युपारूढस्य तत्प्रकाश्यत्वं युक्तम् ।

यद्वाऽन्तःकरणोपाधिर्जीवो वृत्त्या वहिर्गतः ।
विषयब्रह्मचैतन्याभेदव्यक्त्याऽर्थभासकः ॥ ६३ ॥

अथवा अन्तःकरणोपाधिक जीव वृत्तिद्वारा वाहर निकलकर विषयचैतन्य और ब्रह्मचैतन्यकी अभेदाभिव्यक्तिसे अर्थका अवभासक होता है ॥६३॥

यद्वाऽन्तःकरणोपाधिकत्वेन जीवः परिच्छिन्नः । अतः संसर्गाभावान्न

सर्वगत है, तो भी विषयोंके प्रति अनुपादान होनेसे घट आदिके साथ उसका सम्बन्ध नहीं है । जैसे गोत्व जाति व्यापक है, तथापि उसका स्वभावसे अश्व आदि व्यक्तिके साथ सम्बन्ध नहीं है, परन्तु सास्नावाली गो व्यक्तिमें ही उसका सम्बन्ध है, वैसे ही जीवके विषयासङ्गी होनेपर भी वह स्वभावतः अन्तःकरणके साथ संसृष्ट होता है । इस रीतिसे जीवका स्वभावतः विषयके साथ सम्बन्ध न होनेपर जब नेत्र आदि द्वारसे अन्तःकरणका वृत्तिरूप परिणाम विषयदेश तक निकलकर चक्षुकी रश्मिके समान सहसा वड़ी प्रभाके आकारसे परिणत होकर विषयको व्याप्त करता है, तव जीवचैतन्य उस परिणामके ऊपर चढ़कर उस विषयको प्रकाशित करता है । जैसे तृण आदिका केवल शुद्ध अग्निसे दाह नहीं होता है, परन्तु अयोगोलक आदिके ऊपर आरूढ़ होकर तृण आदिको अग्नि दग्ध करती है, वैसे ही केवल जीवचैतन्यसे विषयका प्रकाश न होनेपर भी वृत्तिके ऊपर आरुढ़ होकर जीवचैतन्य विषयका प्रकाश करता है, यह मानना युक्त है ।

अथवा जीव अन्तःकरणोपाधिक चैतन्य है, अतः वह परिच्छिन्न है । इसलिए विषयके साथ उसका सम्बन्ध न होनेसे घट आदिका प्रकाश नहीं

घटादिकमवभासयति । वृत्तिद्वारा तत्संसृष्टविषयावच्छिन्नब्रह्मचैतन्याभेदाभिव्यक्तौ तु तं विषयं प्रकाशयति ।

अथवा सर्वगोऽविद्यावृतोऽसौ न प्रकाशते ।
वृद्धावनावृतो वृत्तिभङ्गावरणभासकः ॥ ६४ ॥

अथवा यद्यपि जीव व्यापक और अन्तःकरणावच्छेदेन अनावृत है, तथापि अविद्यावृत होनेसे स्वयं अप्रकाशमान होकर विषयोंका प्रकाश नहीं करता है। वृत्तिद्वारा आवरणका भङ्ग होनेपर तो विषयोंका प्रकाश करता है ॥६४॥

अथवा जीवः सर्वगतोऽप्यविद्यावृतत्वात् स्वयमप्यप्रकाशमानतया विषयाननवभासयन् विषयविशेषे वृत्त्युपरागादावरणतिरोधानेन तत्रैवाऽभि-

---

कर सकता है। वृत्तिके द्वारा वृत्तिमान् अन्तःकरणके साथ सम्बद्ध विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्यके साथ अन्तःकरणावच्छिन्न जीवचैतन्यकी अभेदाभिव्यक्ति होनेसे तो वह जीवचैतन्य घट आदि विषयका प्रकाश करता है * ।

† अथवा जीवके सर्वगत होनेपर भी अविद्यावृत होनेसे वह स्वयं भी

---

* पहला परिहार—जीवको अविद्याप्रतिबिम्ब मान कर और उसे व्यापक स्वीकार करके किया गया है। इस 'यद्वा' पक्षमें जीवको अन्तःकरणोपाधिक मान कर उसे परिच्छिन्न माना है, अतः इस मतमें सर्वज्ञत्वकी शङ्का ही नहीं है, क्योंकि स्वल्प परिमाणवाले जीवका विषयोंके साथ संबन्ध न होनेसे वृत्तिके विना वह प्रकाश नहीं कर सकता है, यह भाव है। इस मतमें अभेदाभिव्यक्ति ही वृत्तिका प्रयोजन है, इस पक्षका अवलम्बन करके वृत्ति द्वारा विषयावच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यकी अभेदाभिव्यक्ति होनेके बाद ही विषयोंका प्रकाश होगा, यह विशेष है।

† अविद्याप्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है, इस प्रथम पक्षको मान कर इस 'अथवा' कल्पसे परिहार करते हैं। यद्यपि इस पक्षमें जीव व्यापक और जगत्के प्रति अनुपादान है, तथापि उसका संसर्ग माना जाता है। 'सर्वगतोऽपि' इसको उपलक्षण मान कर 'विषयसंसृष्टोऽपि' (विषयके साथ संसृष्ट होनेपर भी) यह भी जानना चाहिए। अन्यथा यह शङ्का मूलमें हो सकती है कि जीवके व्यापक होनेपर भी विषयोंके साथ उसका संसर्ग न होनेसे जीव विषयका प्रकाश नहीं करता है, यह कह सकते हैं, फिर आवृत माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यद्यपि 'मां न जानामि' (मैं अपनेको नहीं जानता हूँ) इस प्रकारका अनुभव नहीं होता है, इसलिए जीव आवृत नहीं हो सकता है, यह शङ्का हो सकती है, परन्तु यह युक्त नहीं है, क्योंकि अन्तःकरणोपहित चैतन्य ही 'माम्' प्रतीतिका विषय होनेसे व्यापक जीवचैतन्यमें अन्तःकरणावच्छेदरूपसे आवृतत्वके न रहनेपर भी विषयदेशमें वह आवृत ही है, और 'व्यापकरूपसे मैं अपनेको नहीं जानता हूँ' इस प्रकारका अनुभव भी होता है।

व्यक्तस्तमेव विषयं प्रकाशयति । एवं च चिदुपरागार्थत्वेन, विषयचैतन्याभेदाभिव्यक्त्यर्थत्वेन, आवरणाभिभवार्थत्वेन वा वृत्तिनिर्गममपेक्ष्य तत्संसृष्टविषयमात्रावभासकत्वात् जीवस्य किञ्चिज्ज्ञत्वमप्युपपद्यते इति ॥ १० ॥

वृत्तेश्चिदुपरागो वा अभेदव्यक्तिरेव वा ।
फलमावृतिभङ्गो वा तत्राऽऽद्यं कीदृशं भवेत् ॥ ६५ ॥

वृत्तिका प्रयोजन—चित्के साथ सम्बन्ध, अभेदाभिव्यक्ति अथवा आवरणका भङ्ग—है, उनमें से चित्के साथ सम्बन्ध कैसा होता है ? ॥६५॥

अत्र प्रथमपक्षे सर्वगतस्य जीवस्य वृत्त्यधीनः को विषयोपरागः ? वृत्त्याऽपि हि पूर्वसिद्धयोर्निष्क्रिययोर्विषयजीवचैतन्ययोस्तादात्म्यस्य संयोगस्य वा न सम्भवत्याधानम् ।

नैयायिकादिवत् केचिद्विषयत्वं स्वभावतः ।

कोई लोग कहते हैं कि जैसे नैयायिक लोग विषय-विषयिभाव सम्बन्ध स्वभावसे मानते हैं, वैसे ही वृत्तिसे विषयविषयिभाव सम्बन्ध उत्पन्न होता है ।

अप्रकाशमान है, इससे विषयोंका अवभास न करता हुआ किसी एक विषयमें वृत्तिके सम्बन्धसे आवरणका विनाश होनेके अनन्तर उसी विषयमें अभिव्यक्त होकर उसी विषयको प्रकाशित करता है । वृत्तिके बिना जीवचैतन्य विषयका अवभासक नहीं होता है, ऐसा सिद्ध होनेपर चित्के साथ सम्बन्धके लिए, विषयचैतन्य और जीवचैतन्यके अभेदके लिए और आवरणके विनाशके लिए वृत्तिनिर्गमकी अपेक्षा करके वृत्तिके साथ सम्बद्धमात्र विषयका जीव प्रकाश करता है, इसलिए जीवमें अल्पज्ञत्वकी भी उपपत्ति होती है ॥१०॥

इन पूर्वोक्त तीन पक्षोंमें से प्रथम पक्षमें अर्थात् 'चिदुपरागार्था वृत्तिः' (चैतन्यके साथ सम्बन्धके लिए वृत्ति है) इस पक्षमें सर्वतः व्यापक जीवका वृत्तिजन्य कौनसा सम्बन्ध है ? अर्थात् कोई भी सम्बन्ध नहीं है, कारण कि क्रियारहित विषयचैतन्य और जीवचैतन्यका वृत्तिसे भी तादात्म्य या संयोग नहीं हो सकता है [भाव यह है कि जिनका तादात्म्य व्यवहारमें देखा जाता है, वह पहलेसे ही रहता है, बीचमें कहींसे नहीं आता है, अतः विषय या जीवचैतन्यका तादात्म्य सम्बन्ध प्रथमसे ही रहेगा, आगन्तुक नहीं होगा अर्थात् वृत्तिसे उत्पादित नहीं होगा और संयोग सम्बन्ध एककी क्रियासे या उभयकी क्रियासे उत्पन्न होता है,

अत्र केचिदाहुः—विषयविषयिभावसम्बन्ध एवेति ।

वृत्तिनिर्गमवैयर्थ्यादन्ये तद्द्वारसङ्गमम् ॥ ६६ ॥

कोई लोग कहते हैं कि केवल विषयविषयिभाव संसर्ग माना जायगा, तो वृत्तिका निकलना ही व्यर्थ होगा, अतः विषयसंयुक्तवृत्तितादात्म्यसम्बन्ध ही वृत्तिसे उत्पन्न होता है ॥६६॥

अन्ये तु—विषयविषयिभावमात्रनियामिका वृत्तिश्चेदनिर्गताया अप्यैन्द्रियकवृत्तेस्तन्नियामकत्वं नातिप्रसङ्गावहमिति तन्निर्गमाभ्युपगमवैयर्थ्यापत्तेः स नाऽभिसंहितः । किं तु विषयसन्निहितजीवचैतन्यतादात्म्यापन्नाया

परन्तु विषयचैतन्य और जीवचैतन्य स्वभावतः ही * निष्क्रिय हैं, अतः उनका कोई भी सन्निकर्ष नहीं हो सकता है, इसलिए 'सम्बन्धार्था वृत्तिः' यह कहना असङ्गत है]।

इस आक्षेपके समाधानमें कोई लोग कहते हैं कि विषयविषयिभाव सम्बन्ध ही वृत्तिसे उत्पन्न होता है † ।

कुछ लोग कहते हैं कि परोक्षापरोक्षस्थलसाधारणविषयविषयिभावमात्रमें यदि वृत्ति प्रयोजक है, तो अनिर्गत इन्द्रियवृत्तिके भी विषयविषयिभाव सम्बन्धके नियामक होनेमें कोई अतिप्रसङ्ग नहीं है, इससे वृत्तिका निर्गम व्यर्थ होगा, अतः विषयविषयिभावसम्बन्ध अभिप्रेत नहीं है, [तात्पर्य यह है कि सिद्धान्तमें—परोक्षविषयस्थलमें अनुमित्यादि वृत्तिसे उपहित जीवचैतन्यका अनुमेय आदि विषयके साथ वृत्तिनिर्गमके

* यद्यपि—जैसे सुवर्ण आदिमें अन्यतर कर्म या उभय कर्मके न रहनेपर भी पार्थिव भाग और तेज भागका संयोग देखा जाता है, वैसे ही प्रकृतमें द्विविधकर्मके न रहनेपर भी संयोगसम्बन्ध क्यों न माना जाय? यह यहाँ शङ्का होती है, किन्तु यह युक्त नहीं है, क्योंकि विषयचैतन्य और जीवचैतन्यका सुवर्णदृष्टान्तके अनुसार आरम्भसे ही संयोगका स्वीकार किया जायगा तो वृत्तिका अङ्गीकार ही निरर्थक होगा, क्योंकि जो संयोग आरम्भसे ही सिद्ध है, उसकी उत्पत्ति वृत्ति कैसे करेगी, अतः आरम्भसे उनका संयोगसम्बन्ध नहीं माना जायगा, यह भाव है।

† विषयचैतन्य और जीवचैतन्यका वृत्तिकी उत्पत्तिके पूर्वमें विषय-विषयिभाव सम्बन्ध नहीं रहता है, परन्तु वृत्तिके अनन्तर विषयविषयिभाव सम्बन्ध उत्पन्न होता है, और यह अनिर्वचनीय एवं अतिरिक्त है, यह आक्षेपपरिहार करनेवाले 'केचित्तु'का अभिप्राय है, अर्थात् संयोग या तादात्म्यका वृत्तिसे आधान—उत्पत्ति—नहीं होता है, परन्तु उक्त विषयविषयिभाव सम्बन्ध ही उत्पन्न होता है, अतः दोष नहीं है, यह भाव है।

वृत्तेर्विषयसंयोगे तस्याऽपि तद्द्वारकः परम्परासम्बन्धो लभ्यते इति स एव चिदुपरागोऽभिसंहित इत्याहुः ।

तरङ्गतरुसंस्पर्शान्नदीस्पर्शं तराविव ।
विषये वृत्तिसंसर्गाज्जीवसङ्गं परे विदुः ॥६७॥

जैसे तरङ्ग और तरुके स्पर्शसे वृक्षमें नदीका स्पर्श होता है, वैसे ही विषयमें वृत्तिके सम्बन्धसे जीवका सम्बन्ध होता है, ऐसा भी कोई कहते हैं ॥६७॥

अपरे तु—साक्षादपरोक्षचैतन्यसंसर्गिण एव सुखादेरापरोक्ष्यदर्शनात् अपरोक्षविषये साक्षात्संसर्ग एष्टव्यः । तस्माद् वृत्तेर्विषयसंयोगे वृत्तिरूपा-

---

बिना ही विषयविषयिभाव सम्बन्ध है—ऐसा माना गया है । परोक्षस्थलमें जैसे वृत्तिका बाहर निर्गमन न मान करके जीवचैतन्यका विषयके साथ सम्बन्ध माना जाता है, वैसे ही अपरोक्षस्थलमें भी वृत्तिके निर्गमनके बिना जीवचैतन्यका विषयके साथ विषयविषयिभाव सम्बन्ध मान करके 'जीवकी वृत्ति जिस अर्थको विषय करेगी उसी अर्थका जीव प्रकाश करेगा अन्यका नहीं' इस नियमसे एक विषयके प्रकाशनकालमें अन्य विषयका प्रकाश प्रसक्त नहीं होगा, अतः अपरोक्षस्थलके लिए भी वृत्तिनिर्गमन व्यर्थसा है, इस प्रकार विचार करते हुए विवरणाचार्य, जो वृत्तिका निर्गम मानते हैं, विषय-विषयिभाव सम्बन्धको वृत्ति-जन्य नहीं मानते हैं,] किन्तु विषयसन्निहितजीवचैतन्यके साथ तादात्म्यापन्न वृत्तिका विषयके साथ संयोग होनेपर विषयसन्निहितजीवचैतन्यका भी वृत्ति और विषयके संयोग द्वारा जो विषयसंयुक्तवृत्तितादात्म्यरूप परम्परासम्बन्ध प्राप्त होता है, वही चिदुपरागशब्दसे कहा गया है, ऐसा मानते हैं * ।

कोई लोग कहते हैं कि जीवचैतन्यके साथ साक्षात् सम्बद्ध ही सुख आदिका आपरोक्ष्य (प्रत्यक्ष) देखा जाता है, इससे अपरोक्ष विषयमें जीव-चैतन्यका (सर्वत्र) साक्षात्सम्बन्ध ही वाञ्छनीय है, परम्परासम्बन्ध नहीं । [तात्पर्य यह है कि सुख आदि आभ्यन्तर पदार्थोंके साक्षात्कारमें जीवचैतन्यका उनके साथ साक्षात्सम्बन्ध ही देखा जाता है, इसलिए घट आदि अपरोक्ष विषयोंके साक्षात्कारमें भी साक्षात् संम्बन्धको ही प्रयोजक मानना चाहिए, यदि ऐसा न मान

---

* विषयको व्याप्त करनेवाली वृत्तिका अधिष्ठान है—विषयसमीपवर्ती जीवचैतन्य, इसलिए वृत्तिका तादात्म्य जीवचैतन्यमें है ।

वच्छेदकलाभात् तदवच्छेदेन तदुपादानस्य जीवस्याऽपि संयोगजसंयोगः सम्भवति। कारणाकारणसंयोगात् कार्याकार्यसंयोगवत् कार्याकार्यसंयोगात् कारणाकारणसंयोगस्याऽपि युक्तितौल्येनाऽभ्युपगन्तुं युक्तत्वादित्याहुः।

द्वितीयपक्षे जीवस्याऽसर्वगत्वादसङ्करात्।
विषयब्रह्मचैतन्याभेदव्यक्त्यैव तं परे॥ ६८॥

'अभेदाभिव्यक्त्यर्था वृत्तिः' इस द्वितीय पक्षमें जीवके अव्यापक होनेके कारण उसके साथ साङ्कर्य न होनेसे विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्यके साथ अभेदाभिव्यक्तिके द्वारा विषयके साथ तादात्म्य-सम्पादन ही वृत्तिका प्रयोजन है, ऐसा कोई लोग कहते हैं॥ ६८॥

कर, कहींपर साक्षात्सम्बन्ध कहींपर परम्परासम्बन्ध माना जाय, तो कार्य-कारणभावोंमें भेद होनेसे गौरव ही होगा, इसलिए एक ही साक्षात्सम्बन्ध साक्षात्कारमें प्रयोजक है, परम्परासंसर्ग (विषयसंयुक्तवृत्तितादात्म्य) प्रयोजक नहीं है]। इससे वृत्तिका विषयके साथ संयोग होनेके बाद वृत्तिरूप विशेषणका लाभ होनेसे वृत्त्यवच्छेदेन वृत्तिके उपादानभूत जीवका भी संयोगजन्य संयोग साक्षात् संसर्ग होता है [तात्पर्य यह है कि वृत्ति जीवचैतन्यका कार्य है और विषय अकार्य है, जीवचैतन्य वृत्तिका उपादान कारण है और विषय वृत्तिका उपादान कारण नहीं है, इसलिए जीवचैतन्यके क्रमशः कार्य और अकार्यरूप जीवचैतन्य और विषयके संयोगसे वृत्तिके प्रति क्रमशः कारण और अकारणरूप जीवचैतन्य और विषयका संयोग होता है, यही संयोगज संयोगरूप साक्षात्सम्बन्ध अपरोक्षविषयक साक्षात्कारमें प्रयोजक है] जैसे कारण और अकारणके संयोगसे कार्य और अकार्यका संयोग होता है, वैसे ही कार्य और अकार्यके संयोगसे कारण और अकारणका संयोग होता है, ऐसा तुल्य युक्तिसे माननेमें कोई दोष नहीं है *।

---

* तात्पर्य यह है कि कारण और अकारणके संयोगसे कार्य और अकार्यका संयोग, तो नैयायिक लोगोंने माना है, जैसे—हस्त और वृक्षके संयोगसे काय और वृक्षका संयोग होता है, इसमें कायरूप (शरीररूप) कार्यके प्रति कारण है—हस्त और अकारण है—वृक्ष, इसी प्रकार हस्तका कार्य है—काय, और उसका अकार्य है—वृक्ष, शरीरके प्रति कारणीभूत हस्त और उसके प्रति अकारणीभूत वृक्षके संयोगसे हस्तके कार्य शरीरका और उसके (हस्तके) अकार्य वृक्षका संयोग होता है। परन्तु कार्य और अकार्यके संयोगसे कारण और अकारणका संयोग नहीं माना है, इसीपर मूलमें कहा गया कि उक्त रीतिके समान होनेसे कार्याकार्यके संयोगसे कारण और अकारणका संयोग भी हो सकता है, क्योंकि ऐसा माननेमें कोई हरकत नहीं है।

एकदेशिनस्तु—अन्तःकरणोपहितस्य विषयाऽवभासकचैतन्यस्य विषयतादात्म्यापन्नब्रह्मचैतन्याभेदाभिव्यक्तिद्वारा विषयतादात्म्यसम्पादनमेव चिदुपरागोऽभिसंहितः। सर्वगततया सर्वविषयसन्निहितस्याऽपि जीवस्य तेन रूपेण विषयाऽवभासकत्वे तस्य साधारणतया पुरुषविशेषापरोक्ष्यव्यवस्थित्ययोगेन तस्याऽन्तःकरणोपहितत्वरूपेणैव विषयाऽवभासकत्वात्। एवं च विषयापरोक्ष्ये आध्यासिकसम्बन्धो नियामक इति सिद्धान्तोऽपि सङ्गच्छते।

कुछ एकदेशियोंका मत है कि अन्तःकरणसे उपहित घट आदि विषयोंके अवभासक जीवचैतन्यका—विषयोंके साथ तादात्म्यरूपको प्राप्त हुए ब्रह्मचैतन्यके साथ अभेदकी अभिव्यक्ति द्वारा—घट आदि विषयके साथ तादात्म्यका सम्पादन ही * चिदुपरागशब्दसे कहा जाता है। जीवके व्यापक (सर्वगत) होनेसे सब विषयोंका सन्निधान होनेपर भी उसको सर्वगतरूपसे विषयोंका अवभासक माना जायगा, तो प्रत्येक पुरुषके प्रति जीवके साधारण होनेसे पुरुष विशेषके आपरोक्ष्यकी व्यवस्थिति नहीं होगी, इसलिए उसको—अन्तःकरणोपहितत्वरूपसे † ही—विषयोंका अवभासक माना जाता है। विषयावभासक जीवचैतन्यका वृत्तिसे विषयतादात्म्य सम्पादनके स्वीकार होनेपर विषयके

---

* इन एकदेशियोंका कहना है कि अन्तःकरणके प्रति यदि जीवचैतन्य उपादान हो तो अन्तःकरणवृत्तिका भी उपादान और अधिष्ठान होकर उसके साथ वृत्तिका तादात्म्य हो, परन्तु यह नहीं है, इसलिए विवरणाचार्यको उक्त परम्परासम्बन्ध अभिप्रेत नहीं है। कारण कि खुद विवरणाचार्यने कहा है—'एवं विषयासङ्ग्यपि जीवः स्वभावादन्तःकरणेन संसृज्यते' (यद्यपि जीवका विषयोंके साथ सम्बन्ध नहीं है, तथापि स्वभावसे ही अन्तःकरणके साथ उसका सम्बन्ध रहता है) गोत्वादि जातिका जैसे स्वभावसे गोव्यक्तिमें सम्बन्ध होता है, वैसे ही अन्तःकरणके प्रति जीवके उपादान न होनेपर भी उसका स्वभावतः अन्तःकरणसे ही संसर्ग है, अतः संयोगजसंयोग भी विवरणाचार्यको अभिमत नहीं है, इसलिए एकदेशीके मतका उपक्रम है। यद्यपि बिम्बभूत ब्रह्म चैतन्यके विषयोंके प्रति उपादान होनेसे ब्रह्म और विषयका तादात्म्य पूर्वसे ही सिद्ध है, तथापि विषयतादात्म्यापन्न ब्रह्मकी और विषयावभासक जीवचैतन्यकी वृत्तिद्वारा अभेदाभिव्यक्ति होनेसे जीवचैतन्यका विषयके साथ वृत्तिसे ही तादात्म्य सिद्ध होता है, अतः वृत्तिमें तादात्म्य निर्वाहकत्वकी अनुपपत्ति नहीं है।

† अर्थात् जीव सर्वगत है, तथापि जिस पुरुषके अन्तःकरणसे उपहित होकर जिस अर्थका अवभास करेगा, वही अर्थ उसीको अपरोक्ष होगा अन्यको नहीं, इस प्रकारकी व्यवस्था-सिद्धिके लिए अन्तःकरणोपहितत्व दिया गया है, यह भाव है।

न चैवं द्वितीयपक्षसाङ्कर्यम्। जीवस्य सर्वगतत्वे प्रथमः पक्षः, परिच्छिन्नत्वे द्वितीय इत्येव तयोर्भेदादित्याहुः ॥ ११ ॥

साक्षात्कारमें (आपरोक्ष्यमें) अध्याससिद्ध तादात्म्य सम्बन्ध ही नियामक है, ऐसा सिद्धान्त भी सङ्गत होता है, द्वितीय पक्षके साथ साङ्कर्य भी नहीं है ‡, क्योंकि जीवके व्यापकत्वपक्षमें प्रथम पक्ष है, और परिच्छिन्नत्वपक्षमें द्वितीय पक्ष है, इस प्रकारका उनमें भेद है ॥११॥

‡ सम्बन्धके लिए वृत्ति है, यह प्रथम पक्ष है, अभेदाभिव्यक्तिके लिए वृत्ति है, यह द्वितीय पक्ष है और आवरणाभिभवके लिए वृत्ति है, यह तृतीय पक्ष है। इनमें से प्रथम पक्षमें भी वृत्तिसे अभेदाभिव्यक्ति ही मानी जाय, तो द्वितीय पक्षसे प्रथम पक्षमें कोई वैलक्षण्य नहीं होगा, यह शङ्का करनेवालेका भाव है। इसपर उत्तर है कि जीवको व्यापक माननेवालोंके मतसे प्रथम पक्ष है और जो परिच्छिन्न मानते हैं, अर्थात् जिनके मतमें अन्तःकरणोपाधिक जीव है, उस मतसे द्वितीय पक्ष है, अतः साङ्कर्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि प्रथम और द्वितीय पक्षमें वृत्तिजन्य अभेदाभिव्यक्ति समान है, तो भी प्रथम पक्षमें अभेदकी अभिव्यक्ति द्वारा विषयावभासक जीवचैतन्यके विषयके साथ तादात्म्यका सम्पादन वृत्ति करती है। और द्वितीय पक्षमें वृत्तिसे—विषयावभासक जीवचैतन्य और विषयावच्छिन्न चैतन्य—की ही—अभेदाभिव्यक्ति होती है, अतः परस्पर उन पक्षोंमें सांकर्य नहीं है।

अथवा प्रथम पक्षमें व्यापक होनेसे विषयदेशमें सदा सन्निहित विषयावभासक जीवचैतन्यका विषयतादात्म्यापन्न ब्रह्मचैतन्यकी अभेदाभिव्यक्ति करनेके लिए वृत्ति है और द्वितीय पक्षमें जीवके परिच्छिन्न होनेसे वृत्ति उसको विषयके सान्निध्यमें ले जाती है, उसके बाद विषयाधिष्ठान ब्रह्मचैतन्यके साथ उसकी 'परिच्छिन्न जीवकी' अभेदाभिव्यक्तिका भी सम्पादन करती है, अतः उनका साङ्कर्य नहीं है। इस प्रकारका यह परिहार मूलमें कहे गये सर्वगतत्व और परिच्छिन्नत्व पदोंसे सूचित होता है और पूर्वका परिहार 'प्रथमपक्ष' और 'द्वितीयपक्ष' पदोंसे सूचित होता है।

वस्तुतस्तु साङ्कर्यका परिहार होता ही नहीं है, क्योंकि 'सम्बन्धार्था वृत्तिः' इस पक्षमें सम्बन्ध ही उद्देश्यरूपसे ज्ञात होता है और 'अभेदाभिव्यक्त्यर्था वृत्तिः' इस पक्षमें अभेदाभिव्यक्ति ही उद्देश्यरूपसे प्रतीत होती है, और पूर्वोक्त परिहारसे भी दोनों पक्षोंमें अभेदाभिव्यक्ति ही वृत्तिका प्रयोजन मालूम होता है, अतः साङ्कर्यका परिहार करना केवल वालुकाप्रासादावरोहणमात्र है, इसलिए 'एकदेशिनस्तु' ऐसे एकदेशीके पक्षसे ही इसका उपन्यास किया गया है।

वस्तुस्थितिमें 'सम्बन्धार्था वृत्तिः' (सम्बन्धके लिए वृत्ति है) इस प्रकार कहनेवाले आचार्योंका अभिप्राय यह है—विषयोंके अवभासक रूपसे अभिमत जीवचैतन्यका घट आदि विषयोंके साथ व्यङ्ग्यव्यञ्जकरूप सम्बन्ध तत्तत् विषयोंसे संसृष्ट वृत्तिसे उत्पन्न हुआ विवक्षित है। जैसे—अन्तःकरण अत्यन्त स्वच्छ होनेसे स्वयं ही चैतन्यके अभिव्यञ्जनमें समर्थ है, वैसे घट आदि चैतन्यको अभिव्यक्त नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वे अस्वच्छ हैं, किन्तु जब घट

अथ द्वितीये काऽभेदव्यक्तिस्तत्राऽपि केचन ।
कुल्याद्वारेव सा वृत्त्या क्षेत्रकासारवारिणोः ॥ ६९ ॥

द्वितीय पक्षमें अभेदाभिव्यक्ति क्या है ? इस प्रश्नके उत्तरमें कोई लोग कहते हैं कि जैसे खेत और तालाबका जल नाली द्वारा एक होता है, वैसे ही वृत्ति द्वारा विषयावच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यका एक होना अभेदाभिव्यक्ति है ॥६९॥

अथ द्वितीयपक्षे केयमभेदाभिव्यक्तिः ?

केचिदाहुः—कुल्याद्वारा तडागकेदारसलिलयोरिव विषयान्तःकरणावच्छिन्नचैतन्ययोर्वृत्तिद्वारा एकीभावोऽभेदाभिव्यक्तिः एवं च यद्यपि

वृत्तिका प्रयोजन अभेदकी अभिव्यक्ति है, ऐसा जो द्वितीय कल्प कहा गया है, उसमें अभेदाव्यक्तिका स्वरूप क्या है* ?

इस आक्षेपके समाधानमें कोई लोग कहते हैं कि जैसे नालीद्वारा तालाव और खेतके जलका एकीभाव—अभेदाभिव्यक्ति होती है, वैसे ही विषयावच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यका जो वृत्तिद्वारा एकीभाव है, वही अभेदाभिव्यक्ति है † । इस रीतिसे यद्यपि

आदिको वृत्ति व्याप्त करती है, तब घट आदिमें रहनेवाली अस्वच्छता उस वृत्तिसे तिरस्कृत हो जाती है, इसलिए घट आदिमें चैतन्याभिव्यञ्जनकी योग्यताका आधान वृत्ति करती है अतः 'अन्तःकरणं हि स्वस्मिन्निव स्वसंसर्गिण्यपि घटादौ चैतन्याभिव्यक्तियोग्यतामापादयति' (अन्तःकरण ही अपनी नाई अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले घट आदिमें भी चैतन्यकी अभिव्यक्तिकी योग्यताका सम्पादन करता है), यह कथन भी उपपन्न होता है। लोकमें यह देखा भी जाता है कि जो स्वतः अस्वच्छ है, वह स्वच्छद्रव्यके संयोगसे प्रतिविम्ब आदिका ग्रहण करता है, जैसे भित्ति स्वतः अस्वच्छ है, परन्तु जल आदि स्वच्छ द्रव्यके साथ सम्बन्ध होनेसे उसमें प्रतिविम्बग्रहण करनेकी योग्यता आ जाती है। घट आदिमें स्वसन्निहित जीवचैतन्यकी प्रतिविम्बग्राहिता ही जीवचैतन्यकी व्यञ्जकता है और प्रतिविम्बितत्व चैतन्यका व्यङ्ग्यत्व है। विवरणमें भी इसी प्रकारके व्यङ्ग्यव्यञ्जकतारूप सम्बन्धके लिए वृत्तिके निर्गमनका वर्णन किया गया है। और वृत्तिद्वारा सम्पादित इसी सम्बन्धसे घट आदिका अवभास होता है।

* प्रश्नकर्ताका तात्पर्य यह है कि अभेदाभिव्यक्ति वृत्तिका प्रयोजन है, यह द्वितीयपक्ष जीवको परिच्छिन्न मानकर कहा गया है। इसलिए इस मतमें अन्तःकरणोपाधिक जीवकी और बिम्बभूत विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्यकी वृत्तिसे अभेदाभिव्यक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि जैसे अखण्डब्रह्माकारवृत्ति उपाधिकी निवर्तक है, वैसे घटाद्याकारवृत्ति उपाधिकी निवर्तक नहीं है, अतः भेद करनेवाली उपाधिके (अन्तःकरण और विषयके) रहनेसे जीव और ब्रह्मका अभेद अभिव्यक्त नहीं हो सकता, इसलिए इस मतमें अभेदाभिव्यक्ति क्या है, यह प्रश्न है।

† तात्पर्य यह है कि यद्यपि उपाधि ही उपधेयका भेद करनेवाली है। परन्तु वह यदि एकदेशस्थ हो जाय अर्थात् उपाधि और उपधेय एकदेशमें रह जाँय, तो भेदक नहीं होती,

विषयावच्छिन्नं ब्रह्मचैतन्यमेव विषयप्रकाशकम्, तथाऽपि तस्य वृत्ति-द्वारा एकीभावेन जीवत्वं सम्पन्नमिति जीवस्य विषयप्रकाशोपपत्तिरिति।

सत्युपाधौ दृढं बिम्बप्रतिबिम्बभिदास्थितेः।
वृत्त्यग्रे विषयस्फूर्त्याभासार्पणमितीतरे ॥ ७० ॥

कोई लोग कहते हैं कि उपाधिके रहनेपर बिम्ब और प्रतिबिम्बका भेद अवश्य रहता है, इससे वृत्तिके अग्रभागमें ब्रह्मचैतन्य विषयके प्रकाशक प्रतिबिम्बका अर्पण करता है [और इस प्रतिबिम्बका जीवके साथ एकीभाव अभेदाभिव्यक्ति है] ॥ ७० ॥

अन्ये त्वाहुः—बिम्बस्थानीयस्य विषयावच्छिन्नस्य ब्रह्मणः प्रतिबिम्ब-भूतेन जीवेन एकीभावो नाऽभेदाभिव्यक्तिः। व्यावर्तकोपाधौ दर्पण इव

विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य ही विषयका अवभासक होता है, जीवचैतन्य विषयका अवभासक नहीं होता, तथापि विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्यका वृत्ति द्वारा अन्तःकरणा-वच्छिन्न चैतन्यके साथ एकीभाव होनेसे उसमें (विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्यमें) जीवत्वका सम्भव है, इसलिए 'जीव विषयका प्रकाशक है' ऐसा उपपन्न होता है ‡।

कोई लोग कहते हैं कि बिम्बस्थानापन्न विषयावच्छिन्न ब्रह्मका प्रति-बिम्बभूत जीवके साथ एकीभाव अभेदाभिव्यक्ति नहीं है, क्योंकि व्यावर्तक

जैसे घट यदि मठमें रहे तो घटावच्छिन्न आकाश और मठावच्छिन्न आकाश भिन्न नहीं होते, क्योंकि मठ और घट एकदेशमें रहते हैं, वैसे ही प्रकृतमें अन्तःकरण और विषय यद्यपि अलग अलग हैं, तथापि वृत्तिद्वारा वे दोनों एकदेशस्थ हुए, इसलिए विषयावच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणा-वच्छिन्न चैतन्य भिन्न भिन्न नहीं हुए किन्तु एक हुए, यही अभेदाव्यक्ति वृत्तिद्वारा अभीप्सित है।

‡ सारांश यह है कि अभेदाभिव्यक्ति होनेपर भी जीवचैतन्य विषयका अवभासक नहीं हो सकता है, क्योंकि वह विषयके प्रति उपादान नहीं है; अतः उसका (जीवचैतन्यका) विषयके साथ तादात्म्य नहीं है। यदि यह कहा जाय कि ब्रह्मचैतन्य ही उपादान होनेसे विषयोंका अवभासक हो, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'आलोकसे घट प्रकाशित हुआ' इस प्रतीतिके समान 'मैंने घट जाना' ऐसी जीव द्वारा घट आदिका अवभास बोधक-प्रतीति होती है। इसलिए ब्रह्मचैतन्य ही विषयका अवभासक है, क्योंकि विषयादिके साथ उसीका वस्तुतः तादात्म्य है। इसपर उत्तर दिया जाता है कि यद्यपि उक्त शङ्का ठीक है, तथापि वृत्तिके द्वारा जीवचैतन्य और ब्रह्मचैतन्यके एक होनेसे ब्रह्मचैतन्य यदि विषयोपादान है, तो जीवचैतन्य भी विषयोपादान हुआ ही और घट आदिके साथ उसका भी तादात्म्य है, अतः जीवमें विषयावभासकत्वकी अनुपपत्ति नहीं है, इसलिए 'मैंने घट जाना' इत्यादि प्रतीतिकी उपपत्ति भी हो सकती है,

जाग्रति तयोरेकीभावायोगात् ।

वृत्तिकृताभेदाभिव्यक्त्या विषयावच्छिन्नस्य ब्रह्मणो जीवत्वप्राप्तौ ब्रह्मणस्तदा तद्विषयसंसर्गाभावेन तद्द्रष्टृत्वासम्भवे सति तस्य सर्वज्ञत्वाभावापत्तेश्च । किन्तु विषयावच्छिन्नं ब्रह्मचैतन्यं विषयसंसृष्टाया वृत्तेरग्रभागे

दर्पण आदि उपाधिके रहनेपर प्रतिबिम्ब और बिम्बका एकीभाव होगा ही नहीं । [भाव यह है कि जैसे दर्पणके रहनेपर दर्पणमें पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब और बिम्बस्थानीय मुख आदिका अभेद अभिव्यक्त नहीं होता, क्योंकि उस स्थलमें बिम्ब और प्रतिबिम्बका स्पष्टरूपसे भेद भासता है, वैसे ही प्रकृत स्थलमें विषय और अन्तःकरणरूप व्यावर्तक उपाधिके रहते बिम्बभूत ब्रह्मचैतन्य और प्रतिबिम्बभूत जीवचैतन्यका अभेद भी अभिव्यक्त नहीं हो सकता, इसलिए वृत्तिसे अभेदाभिव्यक्ति होती है, यह कहना उचित नहीं है] ।

* और कथञ्चित् यह मान भी लिया जाय कि वृत्तिसे अभेद अभिव्यक्त होता है, तो यह आपत्ति आवेगी कि वृत्तिद्वारा अभेदाभिव्यक्तिसे विषयावच्छिन्न ब्रह्ममें भी जीवत्वकी प्राप्ति होनेसे उस समयमें ब्रह्मका उस विषयके साथ सम्बन्ध न होनेसे ब्रह्मको उस विषयका अवभास नहीं होगा, इससे ब्रह्म असर्वज्ञ होगा । [तात्पर्य यह है कि विषयावच्छिन्न ब्रह्मके जीव होनेपर उससे ईश्वरत्वकी निवृत्ति अवश्य माननी होगी, इस परिस्थितिमें ब्रह्मकी जीवावस्थामें घटादि विषयके साथ ब्रह्मका संसर्ग नहीं है, इसलिए घटादि विषयका द्रष्टा भी ब्रह्म नहीं होगा । अतः ब्रह्मको विषयका परिज्ञान न होनेसे ब्रह्ममें असर्वज्ञत्व स्पष्ट ही प्रसक्त होगा] ।

---

* द्वितीय दोष देनेका तात्पर्य यह है कि तत्त्वसाक्षात्कारसे जैसी अभेदाभिव्यक्ति होती है, प्रकृतमें वैसी अभेदाभिव्यक्ति विवक्षित नहीं है, किन्तु एक पात्रमें क्षीर और नीरके रखनेसे जैसा उनका अभेद प्रतीत होता है, वैसा ही वृत्तिसे अन्तःकरण और विषयरूप उपाधिके एकदेशस्थ होनेसे तन्निबन्धन विषयावच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यकी केवल औपचारिक अभेदाभिव्यक्ति विवक्षित है । इस औपाचारिक अभेदाभिव्यक्तिमें व्यावहारिक उपाधिप्रयुक्त दोष नहीं है, अर्थात् उपाधिके रहनेपर अभेद नहीं हो सकता, यह दोष नहीं है; क्योंकि 'मेरा ही मुख दर्पणमें भासता है' इस प्रकार प्रातिबिम्ब और बिम्बका अभेद अभिव्यक्त होता है । इसलिए अभेदाभिव्यक्तिपक्षमें निर्वाह हो सकता है, अतः 'बिम्बस्थानीयस्य' इत्यादिसे कहा गया दोष युक्त नहीं है, इस अस्वरससे 'वृत्तिकृता०' इत्यादिसे द्वितीय दोष कहते हैं ।

विषयप्रकाशकं प्रतिबिम्बं समर्पयतीति तस्य प्रतिबिम्बस्य जीवेनैकीभावः। एवं चाऽन्तःकरणतद्वृत्तिविषयावच्छिन्नचैतन्यानां प्रमातृप्रमाणप्रमेयभावेन असङ्करोऽप्युपपद्यते। न च वृत्त्युपहितचैतन्यस्य विषयप्रमात्वे तस्य विषयाधिष्ठानचैतन्यस्येव विषयेणाऽऽध्यासिकसम्बन्धाभावात् विषयापरोक्ष्ये आध्यासिकसम्बन्धस्तन्त्रं न स्यादिति वाच्यम्, विषयाधिष्ठानचैतन्यस्यैव

इसलिए बिम्बस्थानीय ब्रह्मका जीवके साथ एकीभाव अभेदाभिव्यक्ति नहीं है, किन्तु विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य विषयसंसृष्ट वृत्तिके अग्र भागमें विषयका प्रकाश करनेवाले अपने प्रतिबिम्बका समर्पण करता है, इसलिए उसके प्रतिबिम्बका ही जीवके साथ एकीभाव है। [और यही प्रतिबिम्बके साथ एकीभाव अभेदाभिव्यक्ति है, तात्पर्य यह है कि जैसे कौस्तुभमणि या किसी रत्नकी प्रभा अपने स्थानसे निकलती हुई बड़े आकारमें परिणत होकर विषयदेशपर्य्यन्त जाती है, वैसे ही हृदयदेशमें रहनेवाले अन्तःकरणकी वृत्ति अन्तःकरणसे लेकर विषयपर्यन्त अवच्छिन्नरूपसे जाती है, इस वृत्तिका विषयके साथ सम्बद्ध भाग अग्रभाग कहा जाता है। उस अग्रभागमें पड़े हुए ब्रह्मके विषयप्रकाशक प्रतिबिम्बके साथ जीवका एकीभाव 'अभेदाभिव्यक्ति' है। वृत्ति और वृत्तिमान्‌का अभेद होनेसे वृत्ति और वृत्तिमान्‌में प्रतिबिम्बित वस्तुका भी अभेद हो सकता है], इसलिए—वृत्तिबिम्बित चैतन्यका वस्तुतः अन्तःकरणप्रतिबिम्बित चैतन्यसे भेद ही है, परन्तु वृत्तिके द्वारा अभेदाभिव्यक्ति होनेपर उनमें विषयावभासकत्वका स्वीकार करनेसे अन्तःकरण, अन्तःकरणकी वृत्ति और विषय—इन तीनोंसे अवच्छिन्न चैतन्योंका प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय रूपसे असङ्कर (भेद) भी उपपन्न होता है। * यदि वृत्तिसे उपहित (वृत्तिरूप उपाधिसे युक्त) चैतन्य प्रमा मानी जायगी, तो उसका विषयाधिष्ठान चैतन्यके समान विषयके साथ आध्यासिक सम्बन्ध न होनेसे विषयकी अपरोक्षतामें आध्यासिक सम्बन्ध तन्त्र नहीं होगा, इस प्रकारकी

* अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य प्रमाता है, अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य प्रमाण है और विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य प्रमेय है, इस प्रकार अन्तःकरणप्रतिबिम्बित और अन्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य प्रमाता और प्रमाण चैतन्य हैं। इस प्रकारका भेद उपपन्न होता है, यह भाव है।

विषयेणाऽवच्छिन्नस्य वृत्तौ प्रतिविम्बिततया तदभेदेन तत्सम्बन्धसत्त्वादिति ।

बिम्बत्वयुक्तं ब्राह्मं स्यात् जैवं तदुपलक्षितम् ।
वृत्तौ विषयचैतन्यं तदभेदं च तां परे ॥ ७१ ॥

बिम्बत्वसे युक्त ब्रह्म-चैतन्य है और विम्बत्वसे उपलक्षित जीवचैतन्य है, वृत्तिके होनेपर जो विषयचैतन्य है, उसका अभेद ही अभेदाभिव्यक्ति है, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं ॥ ७१ ॥

अपरे त्वाहुः—विम्बभूतविषयाधिष्ठानचैतन्यमेव साक्षादाध्यासिक-सम्बन्धलाभात् विषयप्रकाशकमिति तस्यैव विम्बत्वविशिष्टरूपेण भेद-सद्भावेऽपि तदुपलक्षितचैतन्यात्मना एकीभावोऽभेदाभिव्यक्तिः । न चैवं सति जीवब्रह्मसाङ्कर्यम्, न वा ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वविरोधः विम्बात्मना तस्य यथापूर्वमवस्थानादिति ॥१२॥

आशङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि विषयसे अवच्छिन्न चैतन्यका ही, जो विषयका अधिष्ठानभूत चैतन्य है, वृत्तिमें प्रतिविम्ब है, अतः उसके साथ अभेद होनेसे अधिष्ठानके साथ आध्यासिक सम्बन्ध भी है । [भाव यह है कि विषयके आपरोक्ष्यमें आध्यासिक सम्बन्ध अर्थात् अध्याससिद्ध तादात्म्य सम्बन्ध नियामक माना गया है—इसका निर्वचन 'एवञ्च विषयापारोक्ष्ये आध्यासिक-सम्बन्धो नियामकः इति सिद्धान्तोऽपि सङ्गच्छते' इत्यादिसे किया गया है । अध्याससिद्धतादात्म्य अर्थात् विषयाधिष्ठानचैतन्यका विषयके साथ तादात्म्य । प्रकृतमें वृत्तिप्रतिविम्बितचैतन्य ही अधिष्ठानचैतन्य है, अतः अध्याससिद्ध तादात्म्य सम्बन्धकी उपपत्ति हो सकती है, यह भाव है]

कोई लोग कहते हैं कि विषयका अधिष्ठानभूत बिम्बस्वरूप ब्रह्मचैतन्य ही, साक्षात् आध्यासिक सम्बन्धका लाभ होनेसे, विषयका प्रकाशक है, इस-लिए बिम्बत्वविशिष्टचैतन्यका बिम्बत्वरूपसे प्रतिविम्बत्वविशिष्ट चैतन्यरूप जीवके साथ भेद होनेपर भी विम्बत्व और प्रतिविम्बत्व रूपसे उपलक्षित शुद्धचैतन्य-रूपसे जो एकीभाव है वही अभेदाभिव्यक्ति है । उपलक्षित चैतन्यरूपसे अभेदाभिव्यक्तिके माननेपर जीव और ब्रह्मका साङ्कर्य अथवा ब्रह्मके सर्वज्ञत्वका विरोध भी नहीं है, क्योंकि बिम्बरूपसे ब्रह्मकी यथापूर्व अवस्थिति है ही ॥ १२ ॥

अथावरणभङ्गोऽपि तृतीये कीदृशो मतः ।
मोहनाशः स चेदिष्टो मोक्षः स्याद् घटवेदनात् ॥ ७२ ॥

तृतीय पक्षमें आवरणभङ्ग क्या है ? इसके समाधानमें यदि कहा जाय कि अज्ञानका विनाश आवरणभङ्ग है, तो घटज्ञानसे ही, सम्पूर्ण प्रपञ्चनाशका सम्भव होनेसे, मोक्ष हो जायगा ॥ ७२ ॥

अथ तृतीयपक्षे को नामाऽऽवरणाभिभवः ? अज्ञाननाशश्चेत्, घटज्ञानेनैवाऽज्ञानमूलः प्रपञ्चो निवर्तेतेति चेत् ।

खद्योतेनेव तमसश्छिद्रं केचित् प्रचक्षते ।
कटवद्वेष्टनं भीतभटवद्वा पलायनम् ॥ ७३ ॥

जैसे अन्धकारमें जुगनूके प्रकाशसे छिद्र होता है वैसे ज्ञानसे अज्ञानके एक देशमें छिद्र या चटाईके समान अज्ञानका वेष्टन, या भीत भट (सैनिक) के समान पलायन आवरणभंग है ॥ ७३ ॥

अत्र केचिदाहुः—चैतन्यमात्रावारकस्याऽज्ञानस्य विषयावच्छिन्नप्रदेशे खद्योतादिप्रकाशेन महान्धकारस्येव ज्ञानेनैकदेशेन नाशो वा, कटवत् संवेष्टनं वा, भीतभटवदपसरणं वाऽभिभव इति ।

'आवरणाभिभवके लिए वृत्ति है' इस तृतीय पक्षमें आवरणका अभिभव क्या है अर्थात् आवरणाभिभव किसे कहते हैं ? यदि अज्ञानका नाश आवरणाभिभव है, तो अज्ञानके एक होनेसे घटज्ञानसे सम्पूर्ण अज्ञानका नाश होनेके कारण तन्मूलक समस्त प्रपञ्चकी निवृत्ति भी प्रसक्त होगी [परन्तु प्रपञ्चकी नवृत्ति तो होती नहीं है, अतः अज्ञानका विनाश आवरणाभिभव नहीं हो सकता है] ।

इस आक्षेपके समाधानमें कोई लोग कहते है कि जैसे महान्धकारमें जुगनूके प्रकाशसे महान्धकारका एकदेशसे विनाश होता है, सम्पूर्णका विनाश नहीं होता, वैसे ही साक्षीसे अन्य चैतन्यमात्रका आवरण करनेवाले महान् अज्ञानान्धकारके विषयावच्छिन्न प्रदेशमें—एक देशका ही ज्ञानसे विनाश होता है, सम्पूर्णका विनाश नहीं होता, अतः घटज्ञानसे सम्पूर्ण प्रपञ्चका विनाश नहीं होता, क्योंकि उस ज्ञानसे अज्ञानके एकदेशका ही विनाश होता है । अथवा चटाईके समान ज्ञानसे विषयावच्छिन्न अज्ञानका कुछ वेष्टन होता है, वही आवरणाभिभव है, या

पुनः कन्दलनादन्येऽनावृतिं वृत्त्यनेहसम् ।
अज्ञोऽहमिति विज्ञानात् स्वाश्रितेनाऽप्यनावृतिम् ॥ ७४ ॥

पुनः आवरणके होनेसे वृत्तिकालपर्य्यन्त विषयावच्छिन्न चैतन्यका आवरण न रहना ही आवरणभंग है । 'मैं अज्ञ हूँ' इत्यादि अनुभवसे अहमर्थके अज्ञानाश्रय होनेपर भी अहमर्थको वह आवृत नहीं करता है ॥ ७४ ॥

अन्ये तु—अज्ञानस्यैकदेशेन नाशे उपादानाभावात् पुनस्तत्र कन्दलनायोगेन सकृदपगते समयान्तरेऽप्यावरणाभावप्रसङ्गात्, निष्क्रियस्याऽपसरणसंवेष्टनयोरसम्भवाच्च न यथोक्तरूपोऽभिभवः सम्भवति । अतः चैतन्यमात्रावारकस्याऽप्यज्ञानस्य तत्तदाकारवृत्तिसंसृष्टावस्थविषयावच्छिन्नचैतन्यानावारकत्वस्वाभाव्यमेवाभिभवः । न च विषयावगुण्ठनपटवद्विषयचैतन्यमाश्रित्य स्थितस्याज्ञानस्य कथं तदनावारकत्वं युज्यते इति शङ्क्यम्, 'अहमज्ञः' इति प्रतीत्याऽहमनुभवे प्रकाशमानचैतन्यमाश्रयत एव तस्य तदनावारकत्वप्रतिपत्तेरित्याहुः ।

युद्धमें डरे हुए योद्धाके समान अज्ञान ज्ञान द्वारा विषयावच्छिन्न प्रदेशसे पलायन करता है, वही आवरणाभिभव है ।

कुछ लोग तो यह कहते हैं कि अज्ञानका एकदेशसे विनाश, संवेष्टन या अपसरण आवरणाभिभव नहीं है, क्योंकि अज्ञानका एकदेशसे विनाश होनेपर उपादान कारणके न रहनेसे विषयावच्छिन्न चैतन्य प्रदेशमें फिर आवरणकी उत्पत्ति नहीं होगी, इस प्रकार एक बार अज्ञानका नाश होनेपर अन्य समयमें भी आवरणाभावका प्रसङ्ग होगा और क्रियारहित अज्ञानका वेष्टन या अपसरण भी नहीं हो सकता है । इससे चैतन्यमात्रके आवरक (आवरणकर्ता) अज्ञानका तत्–तत् विषयाकार वृत्तिसे सम्पृक्त अवस्थावाले विषयावच्छिन्न चैतन्यका आवरण न करना–यह जो स्वभाव है वही स्वभाव आवरणाभिभव है । परन्तु जैसे घट आदि विषयका अवगुण्ठन करके अर्थात् घटको व्याप्तकर स्थित पट घटको आवृत करता है वैसे ही अज्ञान भी विषयचैतन्यको आवृत करेगा ही, तो यह कल्पना कैसे हो सकती है कि उसका अनावारकत्व स्वभाव है । यदि इस प्रकार शङ्का की जाय तो युक्त नहीं है, क्योंकि 'अहमज्ञः' 'मैं अज्ञ हूँ' इस प्रकार अनुभव होता है, इसलिए 'अहम्' अनुभवमें प्रकाशमान जीवचैतन्यका अज्ञान

वृत्तिनाश्यं परे वृत्तिसमसङ्ख्यं प्रचक्षते ।
अवस्थाज्ञानमज्ञानं नष्टमित्यनुभूतितः ॥ ७५ ॥

वृत्तिसे नष्ट होनेवाले और संख्यामें वृत्तिके बराबर अवस्थारूप अज्ञान अनेक हैं, क्योंकि 'एक अज्ञान नष्ट हुआ' ऐसा अनुभव होता है, यहाँ वृत्तिसे अवस्थारूप अज्ञानका विनाश आवरणभंग है ॥ ७५ ॥

अपरे तु—'घटं न जानामि' इति घटज्ञानविरोधित्वेन, घटज्ञाने सति घटाज्ञानं निवृत्तमिति तन्निवर्त्यत्वेन चाऽनुभूयमानं न मूलाज्ञानम् । शुद्धचैतन्यविषयस्य तज्ज्ञाननिवर्त्यस्य च तस्य तथात्वायोगात् । किन्तु घटावच्छिन्नचैतन्यविषयं मूलाज्ञानस्यावस्थाभेदरूपमज्ञानान्तरमिति तन्नाश एवाऽभिभवः । न चैवमेकेन ज्ञानेन तन्नाशे तत्समानविषयाणां ज्ञानान्तराणामावरणाभिभावकत्वानापत्तिः । यावन्ति ज्ञानानि, तावन्ति अज्ञानानीत्यभ्युपगमादित्याहुः ।

आश्रय करता ही है, परन्तु वह अज्ञान उसको आवृत नहीं करता, यह भी ज्ञात होता है, [अतः पटदृष्टान्तसे यह विलक्षण है, और दहराधिकरणमें जीवको आवृत माननेमें सभी व्यवहारोंकी लोपप्रसक्ति होगी, ऐसा साधन किया है, और इस ग्रन्थमें साक्षी चैतन्यकी अनावृति भी कहेंगे, यह भाव है]

कुछ लोग कहते हैं कि 'घटं न जानामि' (मैं घटको नहीं जानता हूँ) इस प्रकार घटज्ञानके विरोधीरूपसे और 'घटज्ञान होनेपर घटका अज्ञान निवृत्त हुआ' इस प्रकार घटज्ञानके निवर्त्यरूपसे अनुभूयमान अज्ञान मूलाज्ञान नहीं है, कारण कि शुद्धचैतन्यविषयक शुद्धचैतन्यज्ञानसे निवृत्त होनेवाला अज्ञान घटावच्छिन्नचैतन्यविषयक और घटज्ञानसे निवर्त्य नहीं हो सकता। परन्तु घटावच्छिन्न चैतन्यको अवलम्बन करनेवाले मूलाज्ञानका अवस्थाविशेष कोई अन्य ही अज्ञान है, इसलिए उस अवस्थाविशेषरूप अज्ञानका विनाश ही आवरणाभिभव है । एक ज्ञानसे अवस्थारूप अज्ञानका नाश होनेपर तत्समानविषयक अन्य ज्ञान आवरणके नाशक नहीं होंगे, यह आपत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि जितने (संसारमें) ज्ञान हैं, उतने ही अज्ञान भी हैं, ऐसा स्वीकार है ।

केचिदूचुरनादीदं मूलाज्ञानमिव—

कोई लोग कहते हैं कि अवस्थारूप अज्ञान मूलाज्ञानके समान अनादि है।

इमानि चाऽवस्थारूपाणि अज्ञानानि मूलाज्ञानवदज्ञानत्वादनादीनीति केचित्।

इतरे।

सादि निद्रादिवत्, तत्रानादित्वे कस्य नाश्यता ॥ ७६ ॥

अन्य लोग कहते हैं कि अवस्थारूप अज्ञान निद्रा आदिके समान सादि है, यदि अवस्थारूप अज्ञानको अनादि मानें तो नाश किसका होगा?

व्यावहारिकौ जगज्जीवावावृत्य स्वाप्नौ जगज्जीवौ विक्षिपन्ती निद्रा तावदावरणविक्षेपशक्तियोगात् अज्ञानावस्थाभेदरूपा। तथा निद्रा सुषुप्तावस्थाऽप्यन्तःकरणादौ विलीने 'सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषम्' इति परामर्शदर्शनात् मूलाज्ञानवत् सुषुप्तिकाले अनुभूयमानाज्ञानावस्थाभेदरूपैव। तयोश्च जाग्रद्भोगप्रदकर्मोपरमे सत्येवोद्भवात् सादित्वम्, तद्वद् अन्यदप्य-

---

कुछ लोग यह कहते हैं कि जो ये अवस्थारूप अज्ञान हैं, वे सबके सब मूल अज्ञानके समान अनादि ही हैं, क्योंकि अज्ञानत्व धर्म अवस्थारूप अज्ञानमें भी है *।

जाग्रत् अवस्थाके जगत् और जीवका आवरण करके स्वप्नावस्थावाले जगत् और जीवकी उत्पत्ति करती हुई निद्रा अज्ञानकी ही विशेष अवस्था है, क्योंकि निद्रामें भी आवरण और विक्षेपशक्तिका योग है। इसी प्रकार अन्तःकरण आदिके विलीन होनेपर 'मैं सुखसे सोया था, मैंने कुछ भी नहीं जाना' इस प्रकारके स्मरणके देखनेसे सुषुप्तिकालमें मूलाज्ञानके समान अनुभूयमान सुषुप्ति अवस्था भी अज्ञानकी विशेष अवस्था ही है। जाग्रत्कालीन भोगके देनेवाले कर्मका क्षय होनेपर ही निद्रा और सुषुप्तिकी उत्पत्ति होती है, अतः वे सादि

---

* अवस्थाऽज्ञानानि अनादीनि, अज्ञानत्वात्, मूलाज्ञानवत्, अर्थात् अवस्थारूप अज्ञान अनादि हैं, अज्ञानत्व होनेसे, मूलाज्ञानके समान, यह अनुमानप्रमाण अवस्थारूप अज्ञानके अनादित्वका साधक है। देवताधिकरणमें (ब्र० सू० अ० १ पा० ३ सू० २६) इस मूल अज्ञानको अनादि सिद्ध किया है, अतः दृष्टान्तासिद्धि नहीं है।

ज्ञानमवस्थारूपं सादीत्यन्ये ।

नन्वनादित्वपक्षे घटे प्रथममुत्पन्नेनैव ज्ञानेन सर्वतदज्ञाननाशो भवेत्, विनिगमनाविरहात्; तदवच्छिन्नचैतन्यावरकसर्वाज्ञानानाशे विषयप्रकाशायोगाच्च । अतः पाश्चात्त्यज्ञानानामावरणानभिभावकत्वं तदवस्थमेवेति चेत्,

है, इसीके समान अन्य घटादिविषयावच्छिन्न चैतन्यका आवरण करनेवाला अज्ञान भी सादि † है ।

[यदि अवस्थारूप अज्ञान सादि माने जायँ, तो प्रथम उत्पन्न घटज्ञानसे पूर्वकालिक घटका आवरण करके स्थित अज्ञानका नाश होनेपर भी पुनः उत्पन्न अवस्थारूप अज्ञानसे उसका आवरण होगा, इससे सादिपक्षमें तो व्यवस्था हो सकती है, परन्तु अनादित्वपक्षमें व्यवस्था नहीं हो सकती, यह शङ्का करते हैं—] अज्ञानके अनादित्वपक्षमें प्रथम उत्पन्न घटविषयक ज्ञानसे ही सम्पूर्ण घटविषयक अज्ञानका नाश होगा, क्योंकि 'प्रथम उत्पन्न ज्ञानसे एक ही अज्ञान नष्ट होता है, अन्य अज्ञान नष्ट नहीं होते, इसमें कोई विनिगमक (युक्तिविशेष) नहीं है और घटावच्छिन्न चैतन्यका आवरण करनेवाले सम्पूर्ण अज्ञानका विनाश न माना जाय, अर्थात् प्रथम उत्पन्न घटज्ञानसे एक आवरण अज्ञानका नाश माना जाय, तो [एक आवरणके विनष्ट होनेपर भी अन्य आवरणोंके रहनेसे] विषयप्रकाशकी अनुपपत्ति होगी, [अर्थात् एक आवरणका नाश होनेपर भी अन्य आवरणोंसे घट आदिके आवृत होनेसे घटादिका कदापि प्रकाश होगा ही नहीं, अतः सम्पूर्ण आवरणोंका एक ज्ञानसे नाश मानना होगा, यह भाव है,] । इससे—प्रथम उत्पन्न ज्ञानसे सम्पूर्ण अज्ञानका नाश माननेसे—उत्तरकालीन ज्ञान आवरणके अभिभावक नहीं होंगे, यह दोष तदवस्थ ही है, अर्थात् प्रथम उत्पन्न घटज्ञानसे ही घटके सब आवरणोंका विनाश हुआ, तो उत्तरज्ञान—द्वितीय कालमें उत्पन्न हुआ घटज्ञान—किस आवरणका विनाश

† विमतानि अवस्थाऽज्ञानानि आदिमन्ति, अवस्थाज्ञानत्वात्, निद्रावत्, सुप्तिवच्च; अर्थात् अवस्थारूप अज्ञान सादि हैं, क्योंकि अवस्थारूप अज्ञानत्व धर्म उनमें है, निद्रा और सुप्ति रूप अवस्थाऽज्ञानके समान, इस अनुमानसे उन अवस्थारूप अज्ञानोंमें सादित्वकी सिद्धि की जाती है, पूर्वोक्त अनादित्वसाधक अनुमानसे विरोध नहीं है, क्योंकि वह अनुमान मूलाज्ञानमें ही अनादित्वका साधक है, अवस्थारूप अज्ञानमें नहीं । मूलाज्ञानमें अनादित्वका सिद्धान्तमें अभ्युपगम है, अतः सिद्धान्तसे विरोध नहीं है ।

अत्र केचित् स्वभावेन व्यवस्थां प्रागभाववत् ।
सत्स्वप्यावरकेऽन्यर्थप्रकाशं च प्रचक्षते ॥ ७७ ॥

इस आक्षेपके समाधानमें कुछ लोग कहते हैं कि प्रागभावके समान आवारक अज्ञानोंके रहते हुए भी विषयोंका प्रकाश और व्यवस्था स्वभावतः हो सकती है ॥७७॥

अत्र केचिदाहुः—यथा ज्ञानप्रागभावानामनेकेषां सत्त्वेऽप्येकज्ञानोदये एक एव प्रागभावो निवर्तते। संशयादिजननशक्ततया तदावरणरूपेषु प्रागभावान्तरेषु सत्स्वपि विषयावभासः। तथैकज्ञानोदये एकमेवाऽज्ञानं निवर्तते, अज्ञानान्तरेषु सत्स्वपि विषयावभास इति।

करेगा? किसीका नहीं, क्योंकि आवरण रहे, तो उसका नाश करे, परन्तु आवरण तो है ही नहीं, यह शङ्काका तात्पर्य है।

इस आक्षेपके समाधानमें कोई लोग कहते हैं कि जैसे ज्ञानके प्रागभावोंके अनेक होनेपर भी एक ज्ञानकी उत्पत्तिसे एक ही ज्ञानके प्रागभावका विनाश होता है। संशय, विपर्यय आदिकी उत्पत्तिमें समर्थ ज्ञानके आवरणरूप अन्य प्रागभावोंके रहते हुए भी विषयका अवभास होता है, वैसे ही एक ज्ञानके उदयसे एक ही अज्ञानका निवर्तन होता है और अन्य अज्ञानोंके रहते हुए भी विषयोंका अवभास होता है। [तात्पर्यार्थ यह है कि नैयायिकोंके मतमें चार प्रकारके अभाव हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव। इनमें प्रागभाव है—वस्तु सत्ताके पूर्वकालमें प्रतीत होनेवाला और वस्तुके उत्पन्न होनेपर नष्ट होनेवाला अभाव, जितने घट या घटज्ञान आदि होते हैं, उतने ही उनके प्रागभाव होते हैं। प्रथम उत्पन्न ज्ञानसे एक ही ज्ञानप्रागभावकी निवृत्ति होती है और अन्य प्रागभाव यथापूर्व रहते हैं, उन दूसरे प्रागभावोंके रहते हुए भी न्यायमतमें विषयका प्रकाश माना जाता है, इसी प्रकार प्रकृतमें इतर आवरणोंके रहते हुए भी प्रथम उत्पन्न ज्ञानसे एक ही आवरणका विनाश होगा और विषयका प्रकाश होगा, इसमें कोई बाधा नहीं है। यद्यपि यहांपर यह शङ्का हो सकती है कि अभावरूप प्रागभाव विषयका आवारक नहीं है और भावरूप अज्ञान विषयोंको आवृत करता है, इसलिए यह दृष्टान्त असङ्गत है, तथापि यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि अज्ञानमें आवारकत्व यही है कि अज्ञातत्वरूपसे अभिमत वस्तुमें संशय, विपर्यय आदिके जननमें (उत्पादनमें) सामर्थ्य, उसे नैयायिक ज्ञानप्रागभावमें भी मानते हैं, इसलिए दृष्टान्तकी असङ्गति नहीं है]।

विशेषदर्शनाभावकूटात् संशयसम्भवात् ।
आवृतस्याऽप्रकाशाच्च पर्यायेणाऽऽवृतिं परे ॥ ७८ ॥

विशेषदर्शनके अभावसमुदायसे संशयका सम्भव है और आवृतका अप्रकाश होनेसे क्रमशः अज्ञान विषयको आवृत करते हैं, अर्थात् एक ज्ञानसे एक अज्ञानकी निवृत्ति होगी अनन्तर उसका उपशम होनेपर अन्य अज्ञान आवरण करेगा, ऐसा भी कोई लोग कहते हैं ॥ ७८ ॥

अन्ये तु—आवृतस्याऽऽपरोक्ष्यं विरुद्धम् । एकज्ञानोदये च प्रागभावान्तरसत्त्वेऽपि यावद्विशेषदर्शनाभावकूटरूपमावरणं विशेषदर्शनान्नास्तीति मन्यमाना वदन्ति—यदा यदज्ञानमावृणोति, तदा तेन ज्ञानेन तस्यैव नाशः । सर्वं च सर्वदा नाऽऽवृणोति, वैयर्थ्यात् । किन्त्वावरकाज्ञाने वृत्त्या नाशिते तद्वृत्त्युपरमे अज्ञानान्तरमावृणोति ।

पर्वतीय वह्नि आदि जो आवृत हैं, उनका आपरोक्ष्य नहीं माना जाता है, किन्तु सिद्धान्तमें उनका परोक्ष ज्ञान ही माना गया है । एक ज्ञानके उदित होनेपर अन्य प्रागभावोंकी सत्तामें भी * सम्पूर्ण विशेषदर्शनका अभाव-समुदायरूप जो आवरण है, वह विशेषके दर्शनसे है ही नहीं, ऐसा मानते हुए कुछ लोग कहते हैं कि जिस कालमें जो अज्ञान जिस वस्तुका आवरण करता है, उस कालमें उस वस्तुके ज्ञानसे उसी अज्ञानका नाश होता है। सब अज्ञान सर्वदा आवृत नहीं करते, क्योंकि ऐसा मानना व्यर्थ है, परन्तु अन्य वृत्तिसे आवरण करनेवाले अज्ञानका नाश होनेपर, उस वृत्तिका जब उपशम होता है, तब अन्य अज्ञान उसको आवृत करता है ।

---

* भाव यह है कि स्थाणु आदिमें अर्थात् स्थाणु आदिविषयक—संशयात्मक ज्ञानको उत्पन्न करनेमें—संशय आदिके प्रति विरोधिभूत विशेष दर्शनका प्रागभावमात्र समर्थ नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर 'अयं स्थाणुः' (यह स्थाणु है) इस प्रकारके निश्चयकालमें भी समानविषयक अन्य निश्चयका प्रागभाव होनेसे पुरुषत्वकी स्मृतिवाले पुरुषको फिर संशयकी आपत्ति होगी, इसलिए नैयायिक यह मानते हैं कि संशय आदिके समानविषयक जितने निश्चयात्मक ज्ञान हैं, उन सबके प्रागभावोंका समुदाय संशय आदिकी उत्पत्तिमें समर्थ है और वही आवरण है । एकके निश्चयकालमें आवरणरूपसे सम्मत सम्पूर्ण विशेष दर्शन प्रागभावकूटरूप विशेषादर्शनका अभाव होनेसे पुनः संशयकी आपत्ति नहीं हो सकती है और प्राथमिक घटज्ञानकालमें न्यायमतमें विषयप्रकाशकी अनुपपत्ति भी नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रागभावकूटरूप आवरण नहीं है । इसलिए 'संशयादिजनक-

न चाऽनावरकाज्ञानशेषो मुक्तौ प्रसज्यते ।
मूलाज्ञानच्छिदा छेद्यास्तदवस्था इमा यतः ॥ ७९ ॥

मुक्ति अवस्थामें आवरण न करनेवाले अज्ञानोंका अवशेष प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि उस दशामें मूलाज्ञानका विनाश होनेसे अवस्थारूप अज्ञान भी विनष्ट होते हैं ॥७९॥

न चैवं ब्रह्मावगमोत्पत्तिकालेऽनावरकत्वेन स्थितानामज्ञानानां ततोऽप्यनिवृत्तिप्रसङ्गः । तेषां साक्षात्तद्विरोधित्वाभावेऽपि तन्निवर्त्यमूलाज्ञानपरतन्त्रतया अज्ञानसम्बन्धादिवत् तन्निवृत्त्यैव निवृत्त्युपपत्तेः । एतदर्थमेव तेषां तदवस्थाभेदरूपतया तत्पारतन्त्र्यमिष्यत इति ।

यदि सर्वदा सब अज्ञान आवारक न हों, तो ब्रह्मज्ञानके उत्पत्तिकालमें अनावारक (आवरण नहीं करनेवाले) रूपसे विद्यमान अज्ञानोंकी ब्रह्मज्ञानसे भी निवृत्ति नहीं होगी, [भाव यह है कि ब्रह्मज्ञानके उत्पत्तिकालमें मूल अज्ञानके समान अवस्थाऽज्ञान भी ब्रह्मचैतन्यको विषय प्रदेशमें आवृत करके रहेंगे, तो ब्रह्मज्ञानसे ब्रह्मविषयक मूलाज्ञानकी नाईं उन चैतन्यके आवारक अवस्थारूप अज्ञानोंकी भी निवृत्ति होगी, यदि अवस्थारूप अज्ञान आवारकरूप नहीं होंगे, तो उनकी निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि समानविषयमें ज्ञानाज्ञानका निवर्त्यनिवर्तकभाव होनेसे ब्रह्मज्ञानका समानविषयक अवस्थारूप अज्ञान नहीं है] । नहीं, ब्रह्मज्ञानसे अवस्थारूप अज्ञानोंकी भी निवृत्ति होगी, क्योंकि अवस्थारूप अज्ञानोंके साक्षात् ब्रह्मज्ञानके विरोधी न होनेपर भी वे (अवस्थारूप अज्ञान) ब्रह्मज्ञानसे निवृत्त होनेवाले मूलाज्ञानके परतन्त्र अधीन हैं, इसलिए जैसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर अज्ञानपरतन्त्र चैतन्य और अज्ञानके सम्बन्धकी निवृत्ति होती है, वैसे ही अज्ञानकी निवृत्तिसे ही अवस्थारूप अज्ञानकी भी निवृत्ति होती है । जैसे अज्ञानकी निवृत्तिसे संसारकी निवृत्ति होनेसे संसार अज्ञानपरतन्त्र माना जाता है, वैसे ही अज्ञानकी निवृत्तिसे अवस्थारूप अज्ञानके निवृत्त होनेसे घटादिविषयक अज्ञान, मूलाज्ञानके अवस्थाविशेषरूप होनेसे, मूलाज्ञानके अधीन माने जाते हैं ।

तया' इत्यादिसे जो पूर्वमें दृष्टान्त दिया गया है, वह नहीं घटता है, इसी अस्वरससे यह 'अन्ये तु' मत है ।

अन्ये त्वेकस्य विच्छेदमितरेषां पराभवम् ।
तं चावरणशक्तीनां प्रतिबन्धं प्रचक्षते ॥ ८० ॥

कोई लोग कहते हैं कि एक ज्ञानसे एक ही अज्ञानका नाश होता है और इतरोंका पराभव होता है, और अज्ञानोंकी आवरणशक्तियोंका प्रतिबन्ध पराभव कहा जाता है ॥८०॥

अपरे तु—अज्ञानस्य सविषयत्वस्वभावत्वात् उत्सर्गतः सर्वं सर्वदाऽऽवृणोत्येव । न च विषयोत्पत्तेः प्रागावरणीयाभावेनाऽऽवरकत्वं न युज्यते इति वाच्यम्, तदाऽपि सूक्ष्मरूपेण तत्सत्त्वादिति मन्यमानाः कल्पयन्ति— यथा बहुजनसमाकुले प्रदेशे कस्यचित् शिरसि पतन्नशनिरितरानप्यपसारयति ।

यथा वा सन्निपातहरमौषधमेकं दोषं निवर्तयद्दोषान्तरमपि दूरीकरोति, एवमेकमज्ञानं नाशयत् ज्ञानमज्ञानान्तराण्यपि तिरस्करोति । तिरस्कारश्च यावद् ज्ञानस्थितिः तावद् आवरणशक्तिप्रतिबन्ध इति ।

अज्ञानका सविषयत्व स्वभाव है अर्थात् अज्ञान किसी विषयका अवलम्बन किये विना नहीं रहता, इससे स्वभावतः सभी अज्ञान अपनी सत्त्वदशामें सदा विषयका आवरण करते ही हैं । यदि यह शङ्का हो कि घट आदि विषयकी उत्पत्तिके पूर्वमें * आवरणीय (आवरण करने योग्य) विषयके न रहनेसे आवारकत्वकी उपपत्ति नहीं होगी ? नहीं, यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि उत्पत्तिके पूर्वकालमें भी सूक्ष्मरूपसे वह कार्य है, अतः आवारकत्वकी उपपत्ति हो सकती है, ऐसा मानते हुए कुछ लोग कल्पना करते हैं कि जैसे अनेक जनोंसे युक्तदेशमें किसी एक पुरुषके मस्तकके ऊपर गिरता हुआ वज्र अन्य पुरुषोंको हटा देता है ।

अथवा जैसे सन्निपातको हरण करनेवाली औषधि एक दोषका विनाश करती हुई अन्य दोषोंका भी निराकरण करती है, इसी प्रकार एक अज्ञानका विनाश करता हुआ ज्ञान इतर अज्ञानोंका भी तिरस्कार करता है । और जब तक ज्ञानकी स्थिति रहती है, तब तक आवरणशक्तिका प्रतिबन्ध होता है ।

---

* तात्पर्य यह है कि इस मतमें यह कहते हैं कि सब अज्ञान सब विषयोंको सदा आवृत करते हैं, इसलिए घटकी उत्पत्तिके पूर्वमें घट आदि विषयावच्छिन्न चैतन्यका आवरण करता है, यह प्रतीत होता है, परन्तु यह नहीं हो सकता, क्योंकि अज्ञानका सविषयत्व स्वभाव होनेसे विषयके न रहनेके कारण तदवच्छिन्न चैतन्यरूप आवरणीय भी नहीं है ।

तत्र धारावहज्ञानेष्वाद्येनैव पराभवात् ।
अज्ञानानां द्वितीयादेः साफल्यं कथमुच्यते ॥ ८१ ॥

शङ्का होती है कि धारावाहिक स्थलमें प्रथम ज्ञानसे ही अज्ञानका विनाश होगा, फिर द्वितीय आदि ज्ञानोंकी सफलता कैसे होगी ? अर्थात् द्वितीयादि वृत्ति निरर्थक होगी यह भाव है ॥ ८१ ॥

नन्वेवं सति धारावाहिकस्थले द्वितीयादिवृत्तीनामावरणानभिभावकत्वे वैफल्यं स्यात्, प्रथमज्ञानेनैव निवर्तनतिरस्काराभ्यामावरणमात्रस्याभिभवादिति ।

अत्राहुर्दीपधारेव तिरस्कृत्य तमः स्थिता ।
वृत्तिधारेत्यनावारो वृत्तीनां क्षेमतः फलम् ॥ ८२ ॥

तमका तिरस्कार करके रहनेवाली दीपधाराके समान वृत्तिकी धारा है, अतः उन वृत्तियोंका आवरणाभिभव—आवरणप्रागभावरक्षण ही फल है, इस प्रकार पूर्वोक्त आक्षेपके समाधनमें कोई लोग कहते हैं ॥ ८२ ॥

अत्राहुः—वृत्तितिरस्कृतमप्यज्ञानं तदुपरमे पुनरावृणोति प्रदीपतिरस्कृतं तम इव प्रदीपोपरमे । वृत्त्युपरमसमये वृत्त्यन्तरोदये तु तिरस्कृतमज्ञानं तथैवाऽवतिष्ठते प्रदीपोपरमसमये प्रदीपान्तरोदये तम इव । तथा च

परन्तु एक ज्ञानसे एक अज्ञानका नाश होता है और अन्य अज्ञानोंका तिरस्कार होता है, ऐसा माननेमें धारावाहिक ज्ञानके स्थलमें द्वितीय आदि वृत्तियाँ आवरणकी अभिभावक न होनेसे निरर्थक हो जायँगी, क्योंकि प्रथम ज्ञानसे अज्ञानके निवर्तन और तिरस्कार—इन दोनोंसे आवरणशक्तिका निराकरण होता है ।

इस आक्षेपके समाधानमें कोई लोग कहते हैं कि जैसे प्रदीपके विनष्ट होनेपर प्रदीप द्वारा तिरस्कृत अन्धकार (घट आदिको) आवृत करता है, वैसे ही वृत्तिद्वारा तिरस्कृत अज्ञान भी घटज्ञानके (घटवृत्तिके) विनष्ट होनेपर विषयको आवृत करता है । एक प्रदीपके विनाशकालमें यदि अन्य दीपका उदय हो, तो जैसे अन्धकारका विनाश और तिरस्कार होता है, वैसे ही यदि वृत्तिके उपरामकालमें

'यस्मिन् सति अग्रिमक्षणे यस्य सत्त्वम्, यद्व्यतिरेके चाऽसत्त्वम्, तत् तज्जन्यम्' इति प्रागभावपरिपालनसाधारणलक्षणानुरोधेनाऽनावरणस्य द्वितीयादिवृत्तिकार्यत्वस्याऽपि लाभान्न तद्वैफल्यमिति ।

पर्यायेणावृतिर्न्यायचन्द्रिकाकृद्भिरीरिता ।
अर्थस्य मोहैर्बोधेन स्वकालावरणक्षतिः ॥ ८३ ॥

घट आदि विषयका अज्ञानसे क्रमशः आवरण होता है और ज्ञानसे अपनी विद्यमान दशामें ही अज्ञानका नाश होता है, ऐसा न्यायचन्द्रिकाकारका मत है ॥८३॥

न्यायचन्द्रिकाकृतस्त्वाहुः—केनचिज्ज्ञानेन कस्यचिदज्ञानस्य नाश एव । न त्वावरकाणामप्यज्ञानान्तराणां तिरस्कारः । तथा च धारावाहिकद्वितीयादिवृत्तीनामप्येकैकाज्ञाननाशकत्वेन साफल्यम् ।

अन्य (तद्विषयक) वृत्तिका उदय हो, तो वह अज्ञानतिरस्कृत ही * रहता है । इस परिस्थितिमें 'जिसके रहनेपर उत्तर क्षणमें जिसका अस्तित्व होता है और जिसके न रहनेपर जिसका अस्तित्व नहीं होता, वह तज्जन्य अर्थात् उससे उत्पन्न होता है, इस प्रागभावके परिपालनमें साधारणजन्यत्वके लक्षणानुरोधसे † द्वितीयादि वृत्तिका अनावरणरूप (आवरणाभाव) कार्यका भी लाभ हो सकता है, अतः द्वितीयादि वृत्तिका वैफल्य नहीं है ।

न्यायचन्द्रिकाकार कहते हैं—किसी एक ज्ञानसे किसी एक अज्ञानका नाश होता ही है, अन्य आवारक अज्ञानोंका तिरस्कार नहीं होता, इसलिए धारावाहिक दूसरी वृत्तियोंसे भी एक-एक अज्ञानका नाश होता है, अतः उनकी निष्फलता नहीं है ।

---

* तात्पर्य यह है कि 'यह घट है' इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान एक अज्ञानका विनाश करता है और अन्यका तिरस्कार, और वह तिरस्कृत अज्ञान घटज्ञानके विनाशकालमें फिर उसी विषयको आवृत करता है । यदि विशेष जाननेकी इच्छासे प्रथम उत्पन्न घटज्ञानके विनाशसमयमें अन्य घटप्रत्यक्ष उत्पन्न हो तो, वह तिरस्कृत अज्ञान वैसा ही रहता है ।

† तात्पर्य यह है कि सादि और अनादि साधारण जन्यत्व—साध्यत्वका यह लक्षण है, कि जिसके रहनेपर जो रहे और न रहनेपर न रहे, वह उससे जन्य है । इस लक्षणका समन्वय इस प्रकार है—*यस्मिन् सति*—जिसके रहनेपर अर्थात् दण्डके रहनेपर अग्रिम क्षणमें—उत्तरक्षणमें घटरूप कार्य रहता है और दण्डके न रहनेपर घटरूप कार्य नहीं रहता है, अतः घट दण्डसे साध्य है । वैसे ही प्रायश्चित्तके होनेपर उत्तरक्षणमें दुःखप्रागभावकी सत्ता है और उसके न रहनेपर नहीं है, अतः दुःखप्रागभावका प्रायश्चित्त

न चैवं ज्ञानोदयेऽप्यावरणसम्भवाद्विषयानवभासप्रसङ्गः । अवस्थारूपाण्यज्ञानानि हि तत्तत्कालोपलक्षितस्वरूपावरकाणि, ज्ञानानि च यावत्स्वकालोपलक्षितविषयावरकाज्ञाननाशकानि । तथा च किञ्चिज्ज्ञानोदये तत्कालीनविषयावरकाज्ञानस्य नाशात् विद्यमानानामज्ञानान्तराणामन्यकालीनविषयावारकत्वाच्च न तत्कालीनविषयावभासे काचिदनुपपत्तिः ।

यदि शङ्का हो कि प्रथम ज्ञानसे आवारक अन्य अज्ञानोंका तिरस्कार न माना जाय, तो प्रथम ज्ञानकी उत्पत्ति होनेपर भी विषयका प्रकाश नहीं होगा क्योंकि अन्य अज्ञानकृत आवरणोंका सम्भव है? नहीं, यह शङ्का युक्त नहीं है, कारण कि अवस्थारूप जो अज्ञान हैं, वे तत्–तत् कालसे उपलक्षित स्वरूपका आवरण करते हैं और ज्ञान अपनी अवस्थिति तकका जो सम्पूर्णकाल है उससे उपलक्षित विषयावच्छिन्न चैतन्यके आवरकरूपसे विद्यमान अज्ञानके विनाशक हैं। [तात्पर्यार्थ यह है कि अवस्थारूप जितने अज्ञान हैं वे सबके सब मूलाविद्याके समान सर्वदा विषयावच्छिन्न चैतन्यको आवृत करनेवाले नहीं हैं, क्योंकि ऐसा मानना व्यर्थ है, किन्तु यह उचित है कि कुछ काल तक कोई अज्ञान विषयचैतन्यका आवरण करता है और कोई अन्य कालमें आवरण करता है, इस प्रकार कालकी सीमासे वे अवस्थारूप अज्ञान आवारक हैं सम्पूर्ण काल तक आवरक नहीं हैं। अतः प्रथम उत्पन्न घटविषयक ज्ञान अपनी स्थितिके यावत्कालमें तदावारक अज्ञानका अवश्य नाश करेगा, इसलिए ज्ञानके उदित होनेपर विषयके अनवभासका प्रसङ्ग नहीं है, क्योंकि ज्ञानका यह स्वभाव है कि अपने उदयकालमें अपने विषयको आवृत करके बैठे हुए अज्ञानका निवर्तन करता है, इसलिए उक्त शङ्काका अवसर नहीं है]। इस प्रक्रियासे एक ज्ञानकालमें अज्ञानान्तरके अनावारकत्व सिद्ध होनेपर घटादिविषयक किसी एक ज्ञानके उत्पन्न होनेपर उस ज्ञानके उदयकालमें विषयावारक एक अज्ञानका नाश होता है, और उस कालमें विद्यमान इतर अज्ञान अन्य कालमें विषयोंको आवृत करते हैं, अतः तात्कालिक विषयके

से परिपालन होनेसे दुःखप्रागभाव प्रायश्चित्तसाध्य है। वैसे ही द्वितीय वृत्तिके उदयसे प्रथम ज्ञान सिद्ध आवरणतिरस्कारकी उत्तरक्षणमें सत्ता है और उसके न रहनेसे नहीं है, अतः द्वितीयावृत्तिका फल आवरणतिरस्कार हो सकता है, यह भाव है।

कारीरीफले वृष्टावासन्नसमयस्येवाऽज्ञानविषये घटादौ तत्कालस्योपलक्षणतया विषयकोटावननुप्रवेशेन सूक्ष्मतत्कालभेदाविषयैर्धारावाहिकद्वितीयादिज्ञानैरज्ञानानां निवृत्तावपि न काचिदनुपपत्तिरिति ।

केचिदाहुर्घटाज्ञानमाद्यज्ञानेन हन्यते ।
द्वितीयाद्यैस्तु कालादिविशिष्टाज्ञानबाधनम् ॥ ८४ ॥

अवभासमें कोई अनुपपत्ति नहीं है । जैसे कारीरीके फलभूत वृष्टिमें आसन्न समयके (कारीरीनामक इष्टिसमाप्तिके उत्तरक्षणके) उपलक्षण होनेसे विषयकोटिमें प्रवेश नहीं है, वैसे ही अज्ञानके विषयीभूत घट आदिमें भी तत्-तत् कालके उपलक्षण होनेसे विषयकोटिमें प्रवेश नहीं है। इससे सूक्ष्म कालविशेषको विषय न करनेवाले धारावाहिक द्वितीय आदि ज्ञानोंसे अज्ञानोंकी निवृत्ति होनेमें कोई आपत्ति नहीं है । [तात्पर्यार्थ यह है कि कोई लोग शङ्का करते हैं—तत्-तत् अज्ञान तत्-तत् कालविशेषविशिष्ट विषयका ही आवरण करते हैं । इस प्रकार कालविशेषका आवरणीय विषयकोटिमें विशेषणरूपसे प्रवेश न कर उपलक्षणरूपसे उसका क्यों प्रवेश करते हैं ? इसपर उत्तर है कि यदि उसका विशेषणरूपसे प्रवेश किया जायगा, तो धारावाहिक ज्ञानस्थलमें द्वितीयादि ज्ञान अज्ञानके निवर्तक नहीं होंगे, क्योंकि तत्-तत् सूक्ष्मकालके अप्रत्यक्ष होनेसे तत्-तत् कालविशिष्टका विषयमें अवभास न होनेके कारण तत्-तत् कालविशिष्टविषयकत्वका भी ज्ञानमें भान नहीं होगा, और असमानविषयक ज्ञान अज्ञानका विरोधी नहीं होता है । अतः उपलक्षणरूपसे ही उन उन कालोंका प्रवेश है, विशेषणरूपसे प्रवेश नहीं है, इसमें दृष्टान्त है कारीरीफल—वृष्टि । अर्थात् 'वृष्टिकामः कारीर्या यजेत' (वृष्टिका अभिलाषी कारीरी याग करे) यह वृष्टिरूप फल कारीरी नामके यागके उत्तर क्षणमें ही होना चाहिए, अन्य कालमें नहीं; क्योंकि उस कालमें सूखते हुए धानोंका जीवन कालान्तरीय वृष्टिसे सुरक्षित नहीं होगा, परन्तु वह समीपवर्ती इष्टिका उत्तर काल वृष्टिरूप फलमें विशेषणरूपसे विवक्षित नहीं है, कारण कि इष्टिके विना भी समयविशेषमें वृष्टि होती ही है, किन्तु इतर समयकी व्यावृत्ति करनेके लिए वृष्टिरूप—कारीरी नामक यागके फलमें जैसे आसन्नसमयका उपलक्षणरूपसे प्रवेश है, वैसे ही प्रकृतमें भी तत्-तत् कालका विशेषणरूपसे प्रवेश है, यह भाव है] ।

वृत्तिश्चिरस्थितैकैव स्याद्धारावाहिकस्थले ।
भिन्ना वा वृत्तयः सन्तु स्थूलकालार्थगोचराः ॥ ८५ ॥
उपास्तिवदमानानि सन्तु वाऽन्याद्यवृत्तयः ।
गृहीतग्रहणात् सूक्ष्मकालस्याऽतीन्द्रियत्वतः ॥ ८६ ॥

कुछ लोग कहते हैं कि प्रथम ज्ञानसे घट आदिका अज्ञान नष्ट होता है और द्वितीयादि ज्ञानसे तत्-तत् कालसे विशिष्ट अज्ञान नष्ट होता है। और धारावाहिक ज्ञानस्थलमें एक ही दीर्घकालावस्थायी वृत्ति है अथवा स्थूल कालको विषय करनेवाली भिन्न भिन्न ही वृत्तियाँ हों अथवा उपासनाके समान द्वितीयादि वृत्तियाँ अप्रमाण हों, क्योंकि वे अवगत अर्थका ही ग्रहण करती हैं और सूक्ष्म काल तो अतीन्द्रिय है, अतः उसका ग्रहण नहीं करती हैं ॥ ८४ ॥ ८५ ॥ ८६ ॥

केचित्तु प्रथमज्ञाननिवर्त्यमेवाऽज्ञानं स्वरूपावारकम् । द्वितीयादिज्ञाननिवर्त्यानि तु देशकालादिविशेषणान्तरविशिष्टविषयाणि । अत एव सत्तानिश्चयरूपे अज्ञाननिवर्तके चैत्रदर्शने सकृज्जाते 'चैत्रं न जानामि' इति स्वरूपावरणं नाऽनुभूयते, किन्तु 'इदानीं स कुत्रेति न जानामि' इत्यादिरूपेण विशिष्टावरणमेव । विस्मरणशालिनः क्वचित् सकृत् दृष्टेऽपि 'न जानामि' इति स्वरूपावरणं दृश्यते चेत्, तत्र तथाऽस्तु । अन्यत्र सकृद्दृष्टे विशिष्टविषयाण्येवाऽज्ञानानि ज्ञानानि च ।

कोई लोग कहते हैं कि प्रथम ज्ञानसे निवृत्त होनेवाला अज्ञान ही स्वरूपको आवृत करनेवाला है । और धारास्थलमें द्वितीयादि ज्ञानसे देश, काल आदि अन्य विशेषणोंसे विशिष्टविषयक अज्ञान निवृत्त होते हैं । इसीलिए अज्ञाननिवृत्ति करनेमें समर्थ सत्तानिश्चयरूप चैत्रदर्शनके एक बार होनेपर भी—'चैत्रको नहीं जानता हूँ' इस प्रकार स्वरूपावरणका अनुभव नहीं होता है, किन्तु 'इस समय वह कहाँ है, यह मैं नहीं जानता हूँ' इस प्रकार विशिष्टका ही आवरण अनुभूत होता है । कहींपर विस्मरणशील पुरुषको एक बार देखनेपर भी 'नहीं जानता हूँ' इस प्रकार स्वरूपके आवरणका अनुभव होता है, यदि ऐसी शङ्का करें, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसे स्थलमें, अर्थात् जहाँ फिर भी स्वरूपके आवरणका अनुभव होता है, द्वितीय आदि ज्ञान भी स्वरूपके आवारक अज्ञानका ही नाश करते हैं और अन्यत्र—विस्मरणाभावस्थलमें विषयके एक बार दृष्ट होनेपर अज्ञान और ज्ञान विशिष्टविषयक ही

न चैवं सति धारावाहिकद्वितीयादिज्ञानानामज्ञाननिवर्तकत्वं न स्यात्, स्थूलकालविशिष्टाज्ञानस्य प्रथमज्ञानेनैव निवृत्तेः। पूर्वापरज्ञानव्यावृत्तसूक्ष्मकालविशिष्टाज्ञानस्य तदविषयैर्द्वितीयादिज्ञानैर्निवृत्त्ययोगादिति वाच्यम्, धारावहनस्थले प्रथमोत्पन्नाया एव वृत्तेस्तावत्कालावस्थायित्वसम्भवेन वृत्तिभेदानभ्युपगमात्। तदभ्युपगमेऽपि बहुकालावस्थायिपञ्चषवृत्तिरूपत्वसम्भवेन परस्परव्यावृत्तस्थूलकालादिविशेषणभेदविषयत्वोपपत्तेः। प्रतिक्षणोदयदनेकवृत्तिसन्तानरूपत्वाभ्युपगमेऽपि द्वितीयादिवृत्तीनामधिगतार्थमात्रविषयतया प्रामाण्याभावेनाऽऽवरणानिवर्तकत्वेऽप्यहानेश्च। नहि विषया-

---

हैं। अर्थात् धारावाहिक ज्ञानस्थलमें द्वितीय आदि ज्ञान विशिष्टविषयक हैं और अज्ञान भी विशिष्टविषयक हैं, अतः समानविषयक होनेसे उनका परस्पर निवर्त्यनिवर्तकभाव हो सकता है, यह भाव है।

द्वितीयादि ज्ञानके और इनसे निवर्त्य अज्ञानके स्वभावतः विशिष्टविषयक होनेपर धारावाहिक द्वितीय आदि ज्ञान अज्ञानके निवर्तक नहीं होंगे, क्योंकि स्थूलकालविशिष्ट अज्ञानकी प्रथमज्ञानसे ही निवृत्ति हो जाती है, अतः ज्ञानके पूर्वापर कालसे व्यावृत्त जो सूक्ष्म काल—क्षण है उससे विशिष्ट विषयको आवृत करनेवाले अज्ञानका, सूक्ष्मकालविशिष्ट विषयका अवगाहन न करनेवाले द्वितीयादि ज्ञानसे, निरास नहीं होगा, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि धारावाहिक स्थलमें (अर्थात् जहाँ यह घट है, यह घट है, इत्यादिरूपसे ज्ञानकी धारा चलती हो, वहाँ) प्रथम कालमें उत्पन्न वृत्तिकी ही धारावाहिक कालपर्यन्त स्थिति मानते हैं, इससे वृत्तिका भेद ही नहीं माना जाता है। यदि वृत्तिका भेद माना जाय, तो भी धाराकी दीर्घकालपर्यन्त रहनेवाली पाँच छः वृत्तियोंका सम्भव होनेसे परस्पर व्यावृत्त स्थूलकाल आदि विशेषण-विशेष विषयत्वकी उपपत्ति हो सकती है। यदि ज्ञानधाराको—प्रतिक्षणमें उत्पन्न होनेवाली वृत्तियोंका प्रवाह—माने तो भी प्रथमवृत्तिसे उत्तरकालीन वृत्तियोंमें, केवल अधिगतार्थविषयकत्व होनेसे, प्रामाण्य न होनेके कारण* आवरणके

---

* शङ्काका तात्पर्य यह है कि पूर्व ग्रन्थमें धारावाहिक ज्ञानमें एक ही वृत्ति मानी गई है, उसके अनन्तर 'तदभ्युपगमेऽपि' इत्यादिसे धारा एकवृत्तिरूप नहीं मानी गई है किन्तु अनेक वृत्तिरूप मानी गई है, क्योंकि भाष्य आदिमें धारावाहिक ज्ञान अनेक वृत्तिरूप ही माना गया है।

बाधमात्रं प्रामाण्यम् । प्रागवगतानवगतयोः पर्वततद्वृत्तिपावकयोरनुमितिविषययोरबाधस्याऽविशेषेण उभयत्राऽप्यनुमितेः प्रामाण्यप्रसङ्गात् । न चेष्टापत्तिः । 'वह्नावनुमितिः प्रमाणम्' इतिवत् 'पर्वतेऽप्यनुमितिः प्रमाणम्' इति व्यवहारादर्शनात् ।

विवरणे साक्षिसिद्धस्याऽज्ञानस्याऽभावव्यावृत्तिप्रत्यायनार्थानुमानादिवि-

(अज्ञानके) अनिवर्तक होनेपर भी 'ज्ञान अज्ञानका निवर्तक है' इस नियमका भङ्ग नहीं हो सकता है, क्योंकि केवल विषयका अबाध प्रामाण्य नहीं है अर्थात् जिस ज्ञानके विषयका बाध न हो वही प्रमाण है, ऐसा प्रामाण्यका लक्षण नहीं है, कारण कि उसके प्रामाण्यलक्षण होनेपर 'पर्वतो वह्निमान्' (पर्वतमें वह्नि है) इत्यादि अनुमितिके विषयीभूत पर्वत और उसमें रहनेवाली वह्निका, जो क्रमशः अनुमितिके पूर्वमें ज्ञात और अज्ञात हैं, सामान्यरूपसे बाध नहीं है, अतः पवतांश और वह्न्यंशमें अनुमितिके प्रामाण्यकी प्रसक्ति होगी, और इसे इष्टापत्ति नहीं मान सकते हैं, कारण कि लोकमें जैसे 'वह्निमें अनुमिति प्रमाण है', यह व्यवहार देखा जाता है, वैसे 'पर्वतमें भी अनुमिति प्रमाण है', यह व्यवहार नहीं देखा जाता ।

और पराभिमत अभावरूप अज्ञानकी व्यावृत्तिका बोध करानेके लिए प्रयुक्त अनुमान आदिका—यद्यपि साक्षी द्वारा सिद्ध अज्ञान—विषय

वे वृत्तियाँ न्यायमतके समान प्रतिक्षणावस्थायिनी नहीं मानी गई हैं, प्रत्युत पांच छः क्षणावस्थायिनी मानी गई हैं, इसके बाद 'प्रतिक्षणो०' इत्यादि ग्रन्थसे न्यायमतका स्वीकार करके प्रतिक्षणावस्थायिनी वृत्तियोंका अभ्युपगम कर ज्ञानधाराकी उपपत्ति की है । इस मतमें यह शङ्का होती है कि प्रथम क्षणमें उत्पन्न वृत्तिसे ही अज्ञानका नाश होनेपर अनन्तर कालमें उत्पन्न हुई क्षणिक वृत्तियोंसे किस अज्ञानका नाश होगा ? यदि उत्तरकालीन वृत्त्यात्मक ज्ञान अज्ञानकी निवृत्ति नहीं करेगा, तो 'ज्ञान अज्ञानका निवर्तक है' इस नियमका व्यभिचार होगा । इसपर उत्तर देते हैं कि ठीक है—ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है, परन्तु वही ज्ञान अज्ञानका निवर्तक है, जो प्रमाण हो । और प्रमाण ज्ञान उसे कहते हैं जो अनधिगत और अबाधित विषयका अवगाहन करता हो, द्वितीयकालीन वृत्तिज्ञान अबाधितार्थविषयक है, परन्तु अनधिगतार्थविषयक नहीं है, क्योंकि वह स्मृतिके समान अधिगत विषयका ही अवगाहन करता है, पर्वतांशमें वह्न्यनुमितिका प्रामाण्य न हो, इसलिए केवल अबाधितार्थविषयकत्व—प्रामाण्य नहीं कह सकते हैं, अतः द्वितीयकालिक वृत्तियोंके प्रमाण न होनेसे उनके अज्ञाननिवर्तक न होनेपर भी कोई हानि नहीं है ।

पयत्वेऽपि प्रमाणावेद्यत्वोक्तेश्च । तस्मात् द्वितीयादिवृत्तीनां प्रामाण्याभावात् उपासनादिवृत्तीनामिवाऽज्ञानानिवर्तकत्वेऽपि न हानिः । प्रमाणवृत्तीनामेव तन्निवर्तकत्वाभ्युपगमात् ।

है, तथापि वह विवरणमें प्रमाणावेद्य यह (प्रमितिका अविषय) कहा गया है।

तात्पर्य यह है कि विवरणकारको भी प्रमाका लक्षण अनधिगतत्व-घटित ही अभिप्रेत है, अर्थात् अनधिगताबाधितार्थविषयक ज्ञानत्वरूप प्रमात्व अभिप्रेत है। इसीलिए उन्होंने अज्ञानके अनुमितिविषय होनेपर भी उसे प्रमितिका विषय नहीं माना, क्योंकि 'अज्ञोऽहम्' (मैं अज्ञ हूँ) इस अनुभव-रूप साक्षीसे ही अज्ञानकी सिद्धि हुई है, अतः अनुमिति आदिके ज्ञातार्थ-विषयक होनेसे उक्त अज्ञातत्वघटित प्रमात्व अनुमिति आदिमें नहीं है, अतः प्रमात्मकवृत्तिविषयत्व अज्ञानमें नहीं आया, क्योंकि अज्ञानांशमें पर्वतांशके समान अनुमिति अप्रमाण है। इसी अभिप्रायसे प्रमाणावेद्यत्वका विवरणमें कथन है। साक्षीरूपज्ञानका अज्ञान विषय है, अतः वह प्रमाणवेद्य है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि साक्षीरूप ज्ञान तभी प्रमाणज्ञान हो सकता है, जब कि वह किसी प्रमाकरणसे उत्पन्न हो, परन्तु वह तो नित्य है, अतः साक्षीरूपज्ञान प्रमा या अप्रमाकी कोटिमें प्रविष्ट नहीं होता। इसी प्रकार अन्य मतावलम्बियोंने भी ईश्वरज्ञानको प्रमात्व और अप्रमात्वसे रहित ही माना है। अन्यथा साक्षीसे अतिरिक्त प्रमाणज्ञानसे अवेद्यत्व भी प्रमाणावेद्यत्वका अर्थ हो सकता है, इसलिए अज्ञातत्वघटित ही प्रमाणका लक्षण मानना होगा,] इससे अर्थात् अज्ञातत्वघटित प्रमालक्षणके न रहनेसे धारावाहिक ज्ञानकी द्वितीयक्षणिक वृत्तियोंके प्रामाण्य न होनेके कारण उपासनादि वृत्तियोंके समान * उनके अज्ञानके निवर्तक न होनेपर भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि प्रमाणवृत्तियाँ ही अज्ञानकी निवर्तक होती हैं, ऐसा स्वीकार किया गया है।

---

* यह भाव है—उपासनात्मक जो वृत्ति है, वह ज्ञानरूप नहीं है, क्योंकि वह किसी ज्ञानके करणसे उत्पन्न नहीं होती, और मन तो ज्ञानका करण नहीं है, इसका विचार आगे किया जायगा। इसलिए उपासनात्मक गमन आदिके समान क्रियात्मक है, क्योंकि वह पुरुष-कृतिसाध्य है, अतः वह अपने उपास्यके आवारक अज्ञानका निवारण नहीं करती है। इसी प्रकार इच्छा आदि भी अपने विषयके अज्ञानका निवारण नहीं करते हैं। इसी प्रकार द्वितीयादि वृत्तियाँ अज्ञानका निवारण नहीं करती हैं, क्योंकि वे भी अधिगतार्थविषयक हैं, अतः स्मृतिके समान अप्रमाणरूप हैं।

ननु नाज्ञानविच्छित्तिः परोक्षज्ञानतस्ततः ।
भ्रान्तिजिज्ञासयोर्दृष्टेरत्र केचित् समादधुः ॥ ८७ ॥

परोक्ष ज्ञानसे अज्ञानका विनाश नहीं होता है, क्योंकि परोक्ष ज्ञानके बाद भ्रान्ति और जिज्ञासा होती है, इस शङ्काका कोई लोग निम्नलिखितरूपसे समाधान करते हैं ॥ ८७ ॥

ननु नाऽयमपि नियमः, परोक्षवृत्तेरनिर्गमेनाऽज्ञानानिवर्तकत्वादिति चेत् ।

द्विविधं विषयाज्ञानं साक्षिविक्षेपसङ्गतेः ।
अर्थगं पौरुषं चेति परोक्षात् पौरुपक्षयः ॥ ८८ ॥

साक्षीके और विक्षेपके सम्बन्धसे विषयका आवारक अज्ञान दो प्रकारका है—एक विषयमें रहनेवाला और दूसरा पुरुषमें रहनेवाला, इसलिए परोक्षज्ञानसे पुरुषमें रहनेवाला अज्ञान विनष्ट होता है ॥ ८८ ॥

अत्र केचिदाहुः—द्विविधं विषयावरकमज्ञानम् । एकं विषयाश्रितं रज्ज्वादिविक्षेपोपादानभूतं कार्यकल्प्यम् । अन्यत् पुरुषाश्रितम् 'इदमहं न जानामि' इत्यनुभूयमानम् । पुरुषाश्रितस्य विषयसंभिन्नविक्षेपोपादानत्वाऽसम्भवेन, विषयाश्रितस्य 'इदमहं न जानामि' इति साक्षिरूपप्रकाशसंसर्गायोगेन द्विविधस्याऽप्यावश्यकत्वात् । एवं च परोक्षस्थले वृत्तेर्निर्गमनाभावाद्

अब फिर शङ्का करते हैं कि यह भी नियम नहीं है कि प्रत्येक प्रमा अज्ञानकी निवृत्ति करती है, क्योंकि परोक्ष वृत्तिका निर्गम नहीं होता है, अतः वह परोक्षवृत्तिरूप प्रमा अज्ञानकी निवर्तक नहीं हो सकती। [और है तो वह प्रमा अतः 'प्रमामात्रमज्ञाननिवर्तकम्' इस नियममें व्यभिचार है, यह भाव है]।

इस आक्षेपके समाधानमें कोई लोग कहते हैं—विषयको आवरण करनेवाले अज्ञान दो प्रकारके होते हैं—एक तो विषयमें रहनेवाला रज्जु आदिके विक्षेपका (सर्प आदिरूप विवर्तका) उपादानकारणभूत कार्य द्वारा कल्पित अज्ञान और दूसरा 'मैं इसे नहीं जानता हूँ' इस प्रकारसे अनुभूयमान पुरुषमें रहनेवाला अज्ञान। जो पुरुषमें रहनेवाला अज्ञान है, वह अधिष्ठानभूत रज्जु आदि विषयके साथ तादात्म्यापन्न सर्पादि विक्षेपका उपादान नहीं हो सकता और जो विषयमें रहनेवाला अज्ञान है उसका 'मैं इसे नहीं जानता हूँ' इस प्रकारके साक्षीरूप प्रकाशके साथ सम्बन्ध नहीं है, इसलिए अज्ञानके दो भेद मानने

दूरस्थवृक्षे आप्तवाक्यात् परिमाणविशेषावगमेऽपि तद्विपरीतपरिमाणविक्षेपदर्शनाच्च विषयगताज्ञानानिवृत्तावपि पुरुषगताज्ञाननिवृत्तिरस्त्येव। 'शास्त्रार्थं न जानामि' इत्यनुभूताज्ञानस्य तदुपदेशानन्तरं निवृत्त्यनुभवात्। अत एव 'अनुमेयादौ सुषुप्तिव्यावृत्तिः' इति विवरणस्य तद्विषयाज्ञाननिवृत्तिरर्थ इत्युक्तं तत्त्वदीपने इति।

अन्ये पौरुषमज्ञानमाहुः शक्तिद्वयाश्रयम्।
परोक्षज्ञानतस्तत्राऽऽवरणांशपरिक्षयम्॥ ८९॥

कोई लोग कहते हैं कि पुरुषवृत्ति एक ही अज्ञान आवरण और विक्षेप रूप दो शक्तियोंसे युक्त है, उनमें से परोक्षज्ञानसे आवरणांशका विनाश होता है॥ ८९॥

अत्यन्त आवश्यक हैं। दो प्रकारके अज्ञान होनेपर और परोक्षस्थलमें वृत्तिका निर्गम न होनेसे दूर देशमें स्थित वृक्षमें शिष्टके * वाक्यसे परिमाणविशेषका अवगम होनेपर भी उस परिमाणसे विपरीत परिमाणरूप (अल्पपरिमाणरूप) विक्षेप देखा जाता है, अतः विषयगत अज्ञानकी निवृत्ति न होनेपर भी पुरुषगत अज्ञानकी निवृत्ति होती ही है। क्योंकि 'मैं शास्त्रार्थको † (शास्त्रोक्त अर्थको) नहीं जानता हूँ' इस प्रकार अनुभूत शास्त्रार्थके अज्ञानकी शास्त्रके अर्थके उपदेशके अनन्तर निवृत्ति होती है, ऐसा अनुभव होता है। इसीसे 'अनुमेयादौ सुषुप्तिव्यावृत्तिः' इस विवरणका तत्त्वदीपनमें यह अर्थ कहा है कि अनुमेय आदि विषयमें अनुमिति आदि परोक्ष ज्ञानसे (पुरुषगत) अज्ञानकी निवृत्ति होती है।

---

* भाव यह है कि किसी शिष्ट पुरुषने कहा कि दूरस्थ वृक्ष छोटा नहीं है, किन्तु समीपके वृक्षके समान बड़ा है, इस वाक्यसे जो ज्ञान होगा, वह परोक्ष होगा। उससे यदि विषयगत अज्ञानकी निवृत्ति मानी जाय, तो विपरीत परिमाणकी जो दूरस्थ वृक्षमें उपलब्धि होती है, वह नहीं होगी, अतः उससे पुरुषगत अज्ञान ही निवृत्त होता है।

† इसका यह भाव है—'मैं शास्त्रके अर्थको नहीं जानता हूँ' इस वाक्यसे अनुभूत अज्ञानकी शास्त्रार्थके उपदेशके अनन्तर 'शास्त्रार्थका अज्ञान अब निवृत्त हुआ' इस प्रकार अज्ञान निवृत्तिका अनुभव होता है। शास्त्रका अर्थ दो प्रकारका है—धर्मरूप और ब्रह्मरूप। धर्मरूप जो शास्त्रका अर्थ है उसमें उपदेशजन्य ज्ञान परोक्ष ही है, अपरोक्ष नहीं है, इसलिए धर्मरूप विषयमें रहनेवाले अज्ञानकी निवृत्तिका प्रसङ्ग नहीं है। अतः वहां पुरुषगत अज्ञानकी निवृत्ति होती है, यह कहना होगा। उपदेशजन्य ब्रह्मरूप अर्थमें भी परोक्षज्ञान होता है अन्यथा मनन आदिके विधानकी असङ्गति होगी, वह भी पुरुषगत अज्ञानकी ही निवृत्ति करेगा। अतः परोक्षज्ञान अज्ञानका निवर्तन नहीं करता है, यह कहना असङ्गत है।

अन्ये तु—नयनपटलवत् पुरुषाश्रितमेवाऽज्ञानं विषयावरणम्। न तदतिरेकेण विषयगताज्ञाने प्रमाणमस्ति। न च पुरुषाश्रितस्य विषयगतविक्षेपपरिणामित्वं न सम्भवति। तत्संभवे वा दूरस्थवृक्षपरिमाणे परोक्षज्ञानादज्ञाननिवृत्तौ विपरीतपरिमाणविक्षेपो न सम्भवतीति वाच्यम्, वाचस्पतिमते सर्वस्य प्रपञ्चस्य जीवाश्रिताज्ञानविषयीकृतब्रह्मविवर्तत्वेन तद्वच्छुक्तिरजतादेः पुरुषाश्रिताज्ञानविषयीकृतब्रह्मविवर्तत्वोपपत्तेः। परोक्षवृत्त्या एकावस्थानिवृत्तावपि अवस्थान्तरेण विपरीतपरिमाणविक्षेपोपपत्तेश्चेत्याहुः।

कुछ लोग कहते हैं कि जैसे नेत्रमें रहनेवाले पटल (काचादि दोष) विषयको आवृत करते हैं, वैसे ही पुरुषगत अज्ञान ही विषयको आवृत करता है, इससे भिन्न विषयगत अज्ञानमें प्रमाण नहीं है। परन्तु यदि 'एक ही पुरुषगत अज्ञान माना जाय, तो वह विषयगत विक्षेपका परिणामी—उपादान—नहीं होगा। यथा कथंचित् पुरुषगत अज्ञानके विषयगत विक्षेपके उपादान होनेपर भी दूर देशवर्ती वृक्षके परिमाणमें आप्त (सच्चे) पुरुषके उपदेशसे जन्य ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर विपरीत परिमाणरूप विक्षेपकी उत्पत्ति नहीं होगी' इस प्रकारकी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि * वाचस्पतिमिश्रके मतमें सम्पूर्ण प्रपञ्च जीवमें रहनेवाली अविद्याके विषय ब्रह्मका विवर्त है, अतः पुरुषगत अज्ञानके विषय ब्रह्मके शुक्ति-रजत आदि विवर्त हो सकते हैं। † परोक्ष वृत्तिसे एक अवस्था (आवरण) की निवृत्ति होनेपर भी विक्षेपरूप अन्य अवस्थासे विपरीत परिमाणरूप विक्षेपकी उपपत्ति हो सकती है।

* तात्पर्य यह है कि यदि शुक्ति-रजत आदि अज्ञानके परिणाम माने जायँ, तो अज्ञानको अवश्य विषयचैतन्यगत मानना चाहिए। और वे अज्ञानके परिणाम न माने जायँ, तो अज्ञानको विषयचैतन्यगत माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। दार्ष्टान्तिकमें अर्थात् 'पुरुषाश्रित' इत्यादिमें ब्रह्मपद शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यरूप अर्थमें प्रयुक्त है, पूर्ण ब्रह्मरूप अर्थमें प्रयुक्त नहीं है। क्योंकि अवच्छिन्न चैतन्य ही शुक्तिरजत आदिका अधिष्ठान है।

† जैसे परोक्षज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति अनुभूत होती है, वैसे ही दूरस्थवृक्षस्थलमें परोक्षज्ञान होनेपर भी विपरीत परिमाणकी उत्पत्ति भी अनुभूत होती है, अतः दो अनुभवोंके अधारपर पुरुषवृत्ति अज्ञानका एक देश परोक्षज्ञानसे निवृत्त होता है और अन्य देश अनुवृत्त होता है, ऐसी कल्पनाकी जाती है, दो प्रकारका अज्ञान है, ऐसी कल्पना नहींकी जाती, क्योंकि ऐसा माननेमें गौरव है। वस्तुतस्तु परोक्षज्ञानको अज्ञानका

विषयस्थं परे मोहं मूलाज्ञानांशरूपकम् ।
अंशांशिनोरभेदाच्च साक्षिणा तस्य सङ्गतिम् ॥ १० ॥

विषयमें रहनेवाला अज्ञान मूलाज्ञानका अंशरूप है, और उसीका साक्षीके साथ सम्बन्ध होता है, क्योंकि अंश और अंशीका अभेद होता है, ऐसा भी कोई लोग कहते हैं ॥ १० ॥

अपरे तु—शुक्तिरजतादिपरिणामोपपत्त्याञ्जस्याद् विषयावगुण्ठनपटवत् विषयगतमेवाऽज्ञानं तदावरणम् । न च तथा सति अज्ञानस्य साक्ष्यसंसर्गेण ततः प्रकाशानुपपत्तिः, परोक्षवृत्तिनिवर्त्यत्वासम्भवश्च दोष इति वाच्यम्, अवस्थारूपाज्ञानस्य साक्ष्यसंसर्गेऽपि तत्संसृष्टमूलाज्ञानस्यैव 'शुक्तिमहं न

कुछ लोग कहते हैं कि शुक्तिरजत आदि परिणामकी उपपत्तिका सामञ्जस्य हो, इसलिए विषयको आवृत्त करके रहनेवाले पटके समान विषयगत ही अज्ञान विषयका आवरण करता है ‡। विषयावरक अज्ञानके विषयगत होनेपर साक्षीके साथ अज्ञानका सम्बन्ध न होनेसे साक्षीसे अज्ञानका प्रकाश नहीं होगा और परोक्ष वृत्तिका विषयदेशमें गमन न होनेसे उससे उसकी निवृत्ति भी नहीं होगी? नहीं, यह शंका युक्त नहीं है, क्योंकि अवस्थारूप अज्ञानका साक्षीके साथ सम्बन्ध भले ही न हो, परन्तु 'शुक्तिको मैं नहीं जानता हूँ'

निवर्तक माना जाय, तो भी प्रतिबन्धकरहित परोक्षज्ञान अज्ञानका निवर्तक होता है, ऐसा ही स्वीकार करना चाहिए। प्रकृतमें भ्रमके अनुरोधसे दूरत्व आदि दोषोंसे प्रतिबद्ध होनेके कारण आप्तवाक्यजन्य भी ज्ञान पुरुषगत अज्ञानका निवर्तक नहीं है, अतः विपरीत परिमाणकी उपपत्ति और अनुपपत्तिकी शङ्का नहीं है, यह भाव है।

‡ पूर्वमें अप्रतिबद्ध ज्ञानमात्र अज्ञानका निवर्तक है, इस नियमके अनुसार अव्यभिचारके लिए परोक्षज्ञान अज्ञानका निवर्तक है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है। अब 'अपरे तु' ग्रन्थसे 'अप्रतिबद्ध अपरोक्षज्ञान ही अज्ञानका निवर्तक है, इस नियमका अङ्गीकार करके परोक्षज्ञानमें व्यभिचारशङ्काका निरास करते हैं। तात्पर्य यह है कि लोकमें घट आदि मृत्तिकाके परिणामी देखे जाते हैं, इसी प्रकार शुक्तिरजत आदि भी किसीके परिणाम हैं, ऐसा मानना चाहिए। उनका परमाणी अन्वय और व्यतिरेकसे अज्ञान ही सिद्ध होता है, क्योंकि प्रातिभासिक शुक्तिरजतके प्रति शुक्ति आदि उपादान नहीं हो सकते हैं, जैसे युक्तिद्वारा विषयचैतन्यगत अज्ञान रजत आदि विक्षेपके प्रति उपादान सिद्ध हो सकता है, वैसे पुरुषगत अज्ञान नहीं हो सकता है, इसलिए विषयगत अज्ञान ही अवस्थारूप है। यद्यपि पुरुषगत अज्ञान भ्रमान्यायसे रजत आदिके प्रति उपादान हो सकता है, तथापि यह युक्त नहीं है, क्योंकि जैसे मूलाज्ञानमें क्रिया नहीं होती है, वैसे ही अवस्थारूप अज्ञानमें भी क्रिया नहीं होती, अतः भ्रमान्यायका प्रसङ्ग नहीं हो सकता है।

जानामि' इति प्रकाशोपपत्तेः। शुक्त्यादेरपि मूलाज्ञानविषयचैतन्याभिन्नतया तद्विषयत्वानुभवाविरोधात्।

विवरणादिषु मूलाज्ञानसाधनप्रसङ्ग एव 'इदमहं न जानामि' इति प्रत्यक्षप्रमाणोपदर्शनाच्च। 'अहमज्ञः' इति सामान्यतोऽज्ञानानुभव एव मूलाज्ञानविषयः। 'शुक्तिमहं न जानामि' इत्यादिविषयविशेषालिङ्गिताज्ञानानुभवस्त्ववस्थाऽज्ञानविषय इति विशेषाभ्युपगमेऽप्यवस्थाऽवस्थावतोरभेदेन मूलाज्ञानस्य साक्षिसंसर्गाद्वा साक्षिविषयचैतन्ययोः वास्तवैक्याद्वा विषयगतस्याऽप्यवस्थाऽज्ञानस्य साक्षिविषयत्वोपपत्तेः। परोक्षज्ञानस्याऽज्ञानानिवर्त-

---

इत्यादि अनुभवसे साक्षिसंसृष्टमूलाज्ञानका ही प्रकाश होता है। शुक्ति आदिका भी मूलाज्ञानके विषयीभूत चैतन्यके साथ अभेद होनेसे शुक्त्यादिविषयत्वके अनुभवमें विरोध नहीं है।

और विवरण आदि ग्रन्थोंमें मूलाज्ञानके साधनके प्रसङ्गमें ही 'इदमहं न जानामि' (इसे मैं नहीं जानता हूँ) इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाणका उपन्यास भी किया है। * 'मैं अज्ञ हूँ' इस प्रकार सामान्यतः अज्ञानका अनुभव ही मूलाज्ञानका अवगाहन करता है। 'शुक्तिको मैं नहीं जानता हूँ' इत्यादि जो किसी विषयविशेषसे युक्त अज्ञानका अनुभव होता है, वह तो अवस्थारूप अज्ञानका अवगाहन करता है, इस प्रकार विशेषका यदि स्वीकार किया जाय, तो भी अवस्था और अवस्थावान्का तादात्म्य होनेके कारण मूलाज्ञानका साक्षीके साथ साक्षात् सम्बन्ध होनेसे अथवा साक्षिचैतन्य और विषयचैतन्यका वस्तुतः ऐक्य होनेसे विषयगत अज्ञानमें भी साक्षात् साक्षीके विषयत्वकी उपपत्ति हो सकती है। यद्यपि परोक्ष-

---

* 'अहमज्ञः' यही अनुभव सामान्य मूलाज्ञानका साधक है और 'शुक्तिं न जानामि' (मैं शुक्ति नहीं जानता हूँ) इत्यादि अनुभव अवस्थारूप अज्ञानका ही साधक है, विवरणकारने 'शुक्तिं न जानामि' इत्यादि प्रतीति मूलाज्ञानके साधक प्रकरणमें कही है, अतः वह मूलाज्ञानका साधन करती है अवस्थारूप अज्ञानका साधन नहीं करती, यह नहीं कह सकते, क्योंकि शुक्तिरजत आदि परिणामकी उपपत्तिके लिए अवस्थारूप अज्ञानकी सिद्धिकी अपेक्षा होनेसे मूलाज्ञानके साधनप्रकरणमें भी उसका प्रसङ्ग है। इससे 'शुक्तिं न जानामि' इत्यादि अनुभवोंके मूलाज्ञानविषयकत्वमें प्रमाण न होनेसे विषयगत अवस्थारूप अज्ञानकी सिद्धि होगी, इस परिस्थितिमें उसका साक्षीके साथ सम्बन्ध न होनेसे उसका अनुभव नहीं हो सकता, इस आशयवाली शङ्काका अनुवाद करते हैं; 'अहमज्ञः' इत्यादि ग्रन्थसे।

कत्वेऽपि ततस्तन्निवृत्त्यनुभवस्य सत्तानिश्चयरूपपरोक्षवृत्तिप्रतिबन्धकप्रयुक्ताननुभवनिबन्धनभ्रान्तित्वोपपत्तेः अपरोक्षज्ञानस्यैवाऽज्ञाननिवर्तकत्वनियमाभ्युपगमादित्याहुः ।

सुखादिगोचरा वृत्तिर्ननु नाऽज्ञानघातिनी ।
मैवम्, मोहसुखादीनां साक्षिवेद्यत्वनिर्णयात् ॥९१॥

सुख आदिको विषय करनेवाली वृत्ति अज्ञानकी निवृत्ति नहीं करती इस प्रकार शङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि अज्ञान, सुख आदिमें केवल साक्षीवेद्यत्वका ही निर्णय किया गया है, अतः वृत्तिरूप अपरोक्ष ज्ञान अवश्य अज्ञानका निवारण करता है ॥ ९१ ॥

ननु नाऽयमपि नियमः, अविद्याऽहङ्कारसुखदुःखादितद्धर्मप्रत्यक्षस्याऽज्ञाननिवर्तकत्वानभ्युपगमादिति चेत्, न; अविद्यादिप्रत्यक्षस्य साक्षिरूपत्वेन वृत्तिरूपापरोक्षज्ञानस्याऽऽवरणनिवर्तकत्वनियमानपायात् ॥१३॥

कः साक्षी ? तत्र कूटस्थदीपे कूटस्थचित् स्वयम् ।
स्वाध्यस्तदेहयुग्मादेः साक्षीति प्रतिपादितः ॥९२॥

साक्षी कौन है ? इस प्रश्नके उत्तरमें कूटस्थदीपमें प्रतिपादन किया गया है कि स्थूल और सूक्ष्म शरीरका अधिष्ठानभूत कूटस्थचैतन्य ही स्वयं साक्षी है ॥ ९२ ॥

ज्ञान अज्ञानका निवर्तक नहीं है, तथापि परोक्षज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्तिका जो अनुभव होता है, वह, सत्तानिश्चयरूप परोक्ष वृत्ति जो प्रतिबन्धक है उससे प्रयुक्त अज्ञानका अनुभव न होनेसे, भ्रान्तिमात्र है, अतः अपरोक्ष ज्ञान ही अज्ञानका निवर्तक है, ऐसा नियम ही स्वीकार किया गया है ।

कोई लोग शङ्का करते हैं कि अविद्या, अहङ्कार, सुख, दुःख आदि अहङ्कारके धर्मोका प्रत्यक्ष अज्ञानका निवर्तक नहीं माना गया है, अतः अप्रतिबद्ध अपरोक्षज्ञानमात्र अज्ञानका निवर्तक है, यह नियम भी नहीं बन सकता है, परन्तु यह युक्त नहीं है, क्योंकि वृत्तिरूप अपरोक्षज्ञान अज्ञानावरणका निवर्तक है, ऐसा नियम है और अविद्या आदिका प्रत्यक्ष साक्षीरूप है, अतः उक्त नियममें कोई व्याघात नहीं है ॥ १३ ॥

अथ कोऽयं साक्षी जीवातिरेकेण व्यवह्रियते ?

अत्रोक्तं कूटस्थदीपे—देहद्वयाधिष्ठानभूतं कूटस्थचैतन्यं स्वावच्छेदकस्य देहद्वयस्य साक्षादीक्षणान्निर्विकारत्वाच्च साक्षीत्युच्यते । लोकेऽपि ह्यौदासीन्यबोधाभ्यामेव साक्षित्वं प्रसिद्धम् । यद्यपि जीवस्य वृत्तयः सन्ति देहद्वयभासिकाः, तथाऽपि सर्वतः प्रसृतेन स्वावच्छिन्नेन कूटस्थ-

अब शङ्का करते हैं कि जीवभिन्न जो साक्षीका व्यवहार किया जाता है, वह कौन है ? [तात्पर्य यह है कि सुख आदिके धर्मी अहङ्कार साक्षि-प्रत्यक्षका विषय कहा गया है, इससे यह प्रतीत होता है कि जीवभिन्न कोई साक्षी है, क्योंकि सुख आदिके धर्मी अहङ्कारमें जीवत्वकी ही प्रसिद्धि है । इसलिए जीवभिन्न साक्षीमें कोई प्रमाण न होनेसे उसका स्वीकार अयुक्त है] ।

इस शङ्काके समाधानमें कूटस्थदीपमें कहा गया है कि स्थूल और सूक्ष्म शरीरका अधिष्ठानभूत कूटस्थ चैतन्य अपने अवच्छेदक उक्त दो शरीरोंका साक्षात् द्रष्टा है और कर्तृत्व आदि विकारोंसे शून्य है, अतः वह* साक्षी कहा जाता है, लोकमें भी औदासीन्य और ज्ञानसे ही साक्षित्व प्रसिद्ध है अर्थात् लोकमें वही साक्षी होता है, जो उदासीन और ज्ञाता होता है । [इसी प्रकार प्रकृतमें भी साक्षी उदासीन और द्रष्टा ही सिद्ध होता है, यह भाव है] । यद्यपि दोनों शरीरोंका अवभास करनेवाली जीवकी—अन्तःकरणकी—वृत्तियां हैं, अतः उन्हींसे काम चलेगा, * तथापि सर्वत्र व्यापक देहद्वयावच्छिन्न

* 'साक्षात् द्रष्टरि संज्ञायाम्' इस सूत्रसे द्रष्टा अर्थमें साक्षात्शब्दसे इनि प्रत्यय करके साक्षी शब्द बना है । साक्षीका लक्षण भी बोद्धा होकर जो उदासीन हो अर्थात् 'द्रष्टृत्वे सति उदासीनत्वं साक्षित्वम्' यही होता है । लोकमें दो आदमियोंमें जहाँ झगड़ा होता है, वहाँ साक्षी वही बन सकता है, जो उनके विवादका द्रष्टा हो और स्वयं उदासीन हो । केवल उदासीनत्व भी साक्षीका लक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि समीपवर्ती स्तम्भ आदि अनेक उदासीन हैं, अतः उनमें साक्षीका उक्त लक्षण चला जायगा, यदि केवल द्रष्टृत्व साक्षीका लक्षण कहा जाय तो झगड़ा करनेवाला भी द्रष्टा है, लेकिन वह साक्षी नहीं होता है, अतः कथित लक्षण ही युक्त है ।

* शङ्काका तात्पर्य यह है कि जीवसे अतिरिक्त स्थूल और सूक्ष्म शरीरका अवभासक नित्यसाक्षिचैतन्य क्यों माना जाता है ? क्योंकि उक्त देहद्वयका अवभास तो प्रकाशरूप अन्तःकरणकी वृत्तियोंसे भी हो सकता है, इसी भावसे 'यद्यपि' इत्यादिसे शङ्का की गई है, जीव शब्दका अर्थ अन्तःकरण है । इसपर कहते हैं कि साक्षीके बिना स्थूल सूक्ष्म शरीरका

चैतन्येन ईषत् सदा भास्यमेव देहद्वयं जीवचैतन्यस्वरूपप्रतिबिम्बगर्भादन्तःकरणाद् विच्छिद्य विच्छिद्योद्गच्छद्भिर्वृत्तिज्ञानैर्भास्यते। अन्तरालकाले तु सह वृत्त्यभावैः कूटस्थचैतन्येनैव भास्यते। अत एवाऽहंकारादीनां सर्वदा प्रकाशसंसर्गात् संशयाद्यगोचरत्वम्। अन्यज्ञानधाराकालीनाऽहंकारस्य 'एतावन्तं कालमिदमहं पश्यन्नेवाऽऽसम्' इत्यनुसन्धानं च। न च कूटस्थप्रकाशिते

कूटस्थ चैतन्य द्वारा साधारणरूपसे सदा भासमान ही उभय—स्थूल और सूक्ष्म—शरीर जीवचैतन्य-रूप प्रतिबिम्बसे युक्त अन्तःकरणसे—विच्छिन्न विच्छिन्न होकर कुछ कालके अनन्तर—निकलनेवाली वृत्तियोंसे स्पष्ट भासते हैं। अन्तरालकालमें अर्थात् कुछ-कुछ समयके व्यवधानसे होनेवाली वृत्तियोंके मध्य कालमें तो वृत्तिध्वंसोंके साथ कूटस्थ चैतन्यसे ही दोनों देह भासते हैं। इसीलिए अहङ्कार आदिका प्रकाशके साथ सर्वदा सम्बन्ध होनेसे संशय † आदिकी विषयता उनमें नहीं आती है। और अन्य धारावाहिक ज्ञानकालिक * 'अहम्' अर्थका—'इतने समय तक मैं इसे देखता ही रहा' इस प्रकार–स्मरण भी उपपन्न होता है। यदि अहमर्थ और

अवभास नहीं होगा, क्योंकि दीप आदिके समान वृत्तियोंके प्रकाशात्मक होनेपर भी वे स्वतः जड़ हैं, अतः वे स्थूल और सूक्ष्म देहको प्रकाशित करनेमें असमर्थ हैं। अतः साक्षिचैतन्य मानना चाहिए। दूसरी बात यह है कि वृत्तियोंके मध्यकालमें शरीरद्वयका अस्पष्ट भान होता है, और वृत्तिके अनन्तर 'मैं स्थूल हूँ' और 'मैं कर्ता हूँ' इत्यादिरूपसे स्पष्ट भान होता है। इसलिए अस्पष्ट भानकी उपपत्तिके लिए वृत्तिज्ञानसे अतिरिक्त साक्षी अवश्य मानना चाहिए। किञ्च, यदि साक्षी न माना जाय, तो वृत्तिकी उत्पत्ति और वृत्तिका विनाश जो प्रत्यक्षरूपसे भासते हैं, उनका भान नहीं होगा, क्योंकि अपनेसे अपना विनाश और उत्पत्ति नहीं देखी जाती है। इससे भी साक्षिचैतन्य अपेक्षित है।

† तात्पर्य यह है कि जैसे घट आदिमें अधिक प्रकाश आदिके सम्बन्धसे संशय आदि नहीं होते, वैसे ही 'मैं हूँ या नहीं' 'मैं जीता हूँ या नहीं' इस प्रकार अहङ्कार आदिका अस्तित्व-संशय किसीको नहीं होता है और सदा अपरोक्ष भान होता है, इसलिए नित्य प्रकाशके साथ उसका सम्बन्ध है, ऐसा मानना चाहिए, वह प्रकाश साक्षी ही है, यह भाव है।

* जब भगवान् रामचन्द्रकी मूर्तिका दीर्घकाल तक ध्यान करते हैं, उस समयमें मूर्तिविषयक वृत्तियोंकी धारा चलती है, इस धाराके समयमें अहमर्थका और तद्गोचर वृत्तियोंका तत्कालजन्यानुभव न होनेसे तद्विषयक संस्कार नहीं होंगे। इससे उत्तरकालमें अहमर्थका स्मरण नहीं होगा, इसलिए अन्य धाराकालीन अहंकारका साक्षीरूपसे अनुसन्धान होता है, अतः साक्षी मानना चाहिए। यदि धाराकालमें जन्यानुभव माना जाय, तो धाराके विच्छेदका प्रसङ्ग आवेगा, यह भाव है।

कथं जीवस्य व्यवहारस्मृत्यादिकमिति शङ्क्यम्, अन्योऽन्याध्यासेन जीवैकत्वापत्त्या कूटस्थस्य जीवान्तरङ्गत्वात्। न च जीवचैतन्यमेव साक्षी भवतु, किं कूटस्थेनेति वाच्यम्, लौकिकवैदिकव्यवहारकर्तुस्तस्योदासीन-द्रष्टृत्वासम्भवेन 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इति श्रुत्युक्तसाक्षित्वा-योगात्। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इति कर्मफलभोक्तुर्जीवादुदासीनप्रकाशरूपस्य साक्षिणः पृथगाम्नानाच्चेति।

उक्तो नाटकदीपेऽसौ नृत्यशालास्थदीपवत्।
नेशो जीवोऽप्यसौ तत्त्वदीपे ब्रह्मेति वर्णनात् ॥९३॥

नृत्यशालामें विद्यमान दीपके समान साक्षी जीव और ईश्वरसे विलक्षण है, ऐसा नाटकदीपमें कहा गया है और तत्त्वदीपमें भी शुद्ध ब्रह्म ही साक्षी कहा गया है ॥ ९३ ॥

नाटकदीपेऽपि नृत्यशालास्थदीपदृष्टान्तेन साक्षी जीवाद्विविच्य दर्शितः। तथा हि—

वृत्ति आदिका अनुभव साक्षीको ही होता है, तो जीवके व्यवहार और स्मरण क्यों होते हैं, क्योंकि अन्यसे अनुभूत वस्तुका अन्यको स्मरण नहीं हो सकता है ? यह शङ्का यद्यपि हो सकती है, तथापि अयुक्त है, क्योंकि अन्योऽन्य तादात्म्यके अध्याससे कूटस्थके साथ ऐक्य होनेके कारण कूटस्थ जीवका अत्यन्त अन्तरङ्ग है। यदि शङ्का की जाय कि जीवचैतन्य ही साक्षी हो, कूटस्थ चैतन्य-रूप अतिरिक्त साक्षीको माननेकी क्या आवश्यकता है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि लौकिकव्यवहार और वैदिकव्यवहारको अविरतरूपसे करनेवाले जीवा-त्मामें औदासीन्य और द्रष्टृत्वके न रहनेसे 'साक्षी०' (बोद्धा, उदासीन और गुणरहित चैतन्य साक्षी है) इस श्रुति द्वारा प्रतिपादित साक्षित्वकी उपपत्ति ही नहीं हो सकती है और 'तयोरन्यः०' (जीव और कूटस्थ चैतन्योंमें से कूटस्थ-भिन्न जीव कर्मफलका भोग करता है और अन्य—कूटस्थ नहीं खाता हुआ बुद्धि आदिके साक्षीरूपसे अपरोक्षतया प्रकाशित होता है।) इस श्रुतिसे कर्म-फलभोक्ता जीवसे पृथक् उदासीन प्रकाशरूप साक्षीका प्रतिपादन भी है।

नाटकदीपमें भी नृत्यशालामें स्थित प्रदीपके दृष्टान्तसे जीवसे अतिरिक्त साक्षी-की सिद्धि की है, जैसे—'नृत्यशालास्थितो दीपः०' (जैसे एकरूपसे स्थित नृत्यशालास्थ दीप स्वामी, सभ्य और नर्तकी आदिको सामानरूपसे ही प्रकाशित करता है, प्रभुके (नृत्य करानेवाले अर्थात् नृत्यके अभिमानीके)

नृत्यशालास्थितो दीपः प्रभुं सभ्यांश्च नर्तकीम् ।
दीपयेदविशेषेण तदभावेऽपि दीप्यते ॥११॥

तथा चिदाभासविशिष्टाऽहंकाररूपं जीवं विषयभोगसाकल्यवैकल्याभिमानप्रयुक्तहर्षविषादवत्त्वात् नृत्याऽभिमानिप्रभुतुल्यम्, तत्परिसरवर्तित्वेऽपि तद्राहित्यात् सभ्यपुरुषतुल्यान् विषयान्, नानाविधविकारवर्त्तित्वान्नर्तकीतुल्यां धियं च दीपयन् सुषुप्त्यादावहंकाराद्यभावेऽपि दीप्यमानः चिदाभासविशिष्टाहंकाररूपजीवभ्रमाधिष्ठानकूटस्थचैतन्यात्मा साक्षीति । एवं जीवाद्विवेचितोऽयं साक्षी न ब्रह्मकोटिरपि, किन्तु अस्पृष्टजीवेश्वरविभागं चैतन्यमित्युक्तं कूटस्थदीपे ।

प्रकाशमें बड़ा रूप, सभ्योंके प्रकाशमें मध्यम स्वरूप और नर्तकी आदिके प्रकाशमें निकृष्ट स्वरूपको धारण नहीं करता और स्वामी आदिके अभावमें भी स्वयं प्रकाशित रहता है, वैसे अहङ्कार प्रभु है, विषय सभ्य हैं और बुद्धि नर्तकी है—इनका साक्षी प्रकाश करता है और इनके अभावमें भी स्वयं प्रकाशित रहता है) ।

इसी दृष्टान्तके अनुसार चैतन्यके आभाससे युक्त अहङ्काररूप जीव विषयभोगकी समग्रता और असमग्रताके अभिमानसे हर्ष या विषादयुक्त होता है, इसलिए जीव नृत्याभिमानी स्वागीके समान है, यद्यपि जीवके परिसरवर्ती विषय हैं, तथापि स्वागीकी समानताके साधक हर्ष, विषाद आदिके नहीं रहनेसे वे सभ्यपुरुषके समान ही हैं । अनेक प्रकारके विकारोंसे युक्त होनेसे बुद्धि नर्तकीके समान ही है । और जैसे ताल आदि देनेवाले पुरुष नर्तकीका अनुसरण करते हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ भी बुद्धिका ही अनुसरण करती हैं, अतः वे ताल आदिधारी पुरुषके तुल्य हैं—इन सभीको प्रकाशित करता हुआ सुषुप्ति आदिमें अहङ्कार आदिके न रहनेपर भी स्वयं प्रकाशित होनेवाला चिदाभासविशिष्ट अहङ्काररूप जीवके भ्रमका अधिष्ठानभूत कूटस्थ चैतन्यरूप आत्मा साक्षी है । इसी प्रकार जीवसे पृथक्रूपसे प्रतिपादित यह साक्षी ब्रह्मकोटिमें भी प्रविष्ट नहीं होता है, किन्तु जीव और ईश्वरके विभागका आश्रय न करता हुआ चैतन्य ही है, ऐसा कूटस्थदीपमें कहा गया है ।

तत्त्वप्रदीपिकायामपि मायाशबलिते सगुणे परमेश्वरे 'केवलो निर्गुणः' इति विशेषणानुपपत्तेः सर्वप्रत्यग्भूतं विशुद्धं ब्रह्म जीवाभेदेन साक्षीति प्रतिपद्यते इत्युदितम् ।

ईशस्य रूपभेदोऽसौ कारणत्वादिवर्जितः ।
जीवान्तरङ्गः कौमुद्यां प्राज्ञाख्यः परिकीर्तितः ॥१४॥

कारणत्व आदि धर्मोंसे रहित ईश्वरका स्वरूपविशेष, जीवका अत्यन्त अन्तरङ्ग, प्राज्ञ नामका साक्षी है, ऐसा कौमुदीमें प्रतिपादन किया गया है ॥ १४ ॥

कौमुद्यान्तु—
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च । इति

तत्त्वप्रदीपिकामें कहा गया है कि सम्पूर्ण अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित चैतन्यात्मक जीवोंके अधिष्ठानरूपसे अत्यन्त अन्तरङ्ग स्वरूपभूत, जीवत्व, ईश्वरत्व आदि धर्मोंसे रहित और तत्-तत् जीवोंका अधिष्ठान होनेसे उन-उन जीवोंके साथ (ब्रह्मका) तादात्म्य होनेके कारण प्रत्येक शरीरमें भेदको प्राप्त हुआ ब्रह्म ही साक्षी है, ऐसा ज्ञात होता है, क्योंकि मायोपहित सगुण परमेश्वरमें 'केवलो निर्गुणश्च' (शुद्ध और गुणरहित) इत्यादि विशेषणकी उपपत्ति नहीं हो सकती है। [तात्पर्य यह है कि पूर्वके ग्रन्थमें जीव और ईश्वरसे विलक्षण साक्षी है, ऐसा कहा गया है, क्योंकि यद्यपि उसका जीवकोटिमें अन्तर्भाव किया जाय, तो वह उदासीन नहीं होगा और ईश्वरमें अन्तर्भाव किया जाय तो भी उदासीन नहीं होगा, क्योंकि ईश्वर जगत् आदिके करनेमें व्यापृत है, अतः वह उदासीन नहीं हो सकता, इससे इन दोनोंसे उसे पृथक् मानना चाहिए, इसमें तत्त्वप्रदीपिकाकार चित्सुखाचार्यकी भी सम्मति है, क्योंकि उन्होंने भी जीव और ईश्वरसे रहित शुद्ध चिदात्माको ही साक्षी माना है] ।

कौमुदीमें तो कहा है कि—

'एको देवः०' (परमात्मा एक है, सब भूतोंमें गूढ है, आकाशके समान व्यापी है, ब्रह्मसे लेकर स्तम्बपर्य्यन्त सब भूतोंका अन्तरात्मा है, जीवकृत-कर्मोंका साक्षी है, सब भूतोंका अधिष्ठान है, जीवोंका भी साक्षी है, बोद्धा, शुद्ध और निर्गुण है) इस देवत्व आदिकी प्रतिपादक श्रुतिसे परमेश्वरका ही

देवत्वादिश्रुतेः परमेश्वरस्यैव रूपभेदः कश्चिज्जीवप्रवृत्तिनिवृत्त्योरनुमन्ता स्वयमुदासीनः साक्षी नाम। स च कारणत्वादिधर्मानास्पदत्वाद् अपरोक्षो जीवगतमज्ञानाद्यवभासयंश्च जीवस्याऽन्तरङ्गः। सुषुप्त्यादौ च कार्यकारणोपरमे जीवगताज्ञानमात्रस्य व्यञ्जकः प्राज्ञशब्दितः।

'तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमेवमेवाऽयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' 'प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन्याति' इति श्रुतिवाक्याभ्यां सुषुप्त्युत्क्रान्त्यवस्थयोर्जीवभेदेन प्रतिपादितः परमेश्वर इति सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरण—

कोई स्वरूपविशेष साक्षी है, जो जीवकी प्रवृत्ति और निवृत्तिका सर्वदा जाननेवाला और स्वतः उदासीन है। ईश्वरका स्वरूपविशेष होनेपर भी वह कारणत्व आदि धर्मोंके न रहनेसे अपरोक्ष है और जीवगत अज्ञान आदिका अवभासक होनेसे जीवका अत्यन्त अन्तरङ्ग भी है। सुषुप्ति आदिमें अन्तःकरण और अन्तःकरणकी वृत्तिका उपशम होनेसे जीवगत अज्ञान मात्रका ही व्यञ्जक है, अतः प्राज्ञशब्दसे भी साक्षी कहा जाता है। [तात्पर्य यह है कि यदि ईश्वरका स्वरूप साक्षी है, तो उसका प्रत्यक्ष जीवको नहीं होना चाहिये, क्योंकि ईश्वरके सर्वज्ञत्व आदि धर्म जीवके प्रति प्रत्यक्षयोग्य नहीं हैं। साक्षीका अपरोक्षावभास नहीं होता है, यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि साक्षी अन्तःकरण, अज्ञान आदिका अनुभवरूप है, इसपर कौमुदीकारने कहा कि यद्यपि साक्षी ईश्वरका ही स्वरूपविशेष है, तथापि उसमें जीवके प्रत्यक्षके अयोग्य सर्वज्ञत्व, कारणत्व आदि धर्मोंके न रहनेसे उसके अपरोक्ष अवभासमें कोई विरोध नहीं है;]।

'तद्यथा॰' (जैसे प्रिय अङ्गनासे आलिङ्गित पुरुष बाह्य—मार्ग आदिके वृत्तान्तको और आन्तर—गृहकृत्यको नहीं जानता है, वैसे ही सुषुप्तिमें उपाधिके विलयसे परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त हुआ जीव बाह्य जगत्‌रूप प्रपञ्चको और आन्तर स्वप्न-प्रपञ्चको नहीं जानता है), 'प्राज्ञेन॰' (प्राज्ञ आत्मासे अधिष्ठित जीव वेदनासे शब्द करता हुआ शरीरसे बाहर निकलता है) इन दो श्रुतिवाक्योंसे 'सुषुप्ति और उत्क्रान्ति (अन्यत्र गमन) में जीवसे पृथक् परमेश्वरका प्रतिपादन किया है, इस प्रकारका जो * सुषुप्त्युत्क्रान्तिके अधिकरणमें

---

* इस अधिकरणका सूत्र है—'सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन'। सुषुप्ति और उत्क्रान्तिमें जीवसे भिन्न

(उ० मी० अ० १ पा० ३ अधि० १४ सू० ४२) निर्णयोऽपि साक्षिपर इत्युपवर्णितम् ।

शुक्तीदमंशवदसौ तत्त्वशुद्धौ च वर्णितः ।

जैसे शुक्तिका 'इदम्' अंश प्रातिभासिकरूपसे रजतकोटिमें प्रविष्ट भासता है, वैसे ही ब्रह्मकोटिमें प्रविष्ट भी साक्षी प्रातिभासिकरूपसे जीवकोटिमें प्रविष्ट भासता है, ऐसा तत्त्वशुद्धिकारका मत है ।

तत्त्वशुद्धावपि यथा 'इदं रजतम्' इति भ्रमस्थले वस्तुतः शुक्तिको-

---

प्रतिपादित निर्णय है वह भी साक्षिपरक ही है, ऐसा वर्णन (कौमुदीमें) किया गया है ।

तत्त्वशुद्धिमें भी—जैसे 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस प्रकारके भ्रम-स्थलमें वस्तुतः 'इदम्' अंश शुक्तिकोटिमें यद्यपि अन्तर्भूत है, तो भी प्रतिभास

ईश्वरका प्रतिपादन होनेसे परमेश्वरका ही ग्रहण करना चाहिए, संसारी जीवका नहीं, यह उक्त सूत्रका अक्षरार्थ है । तात्पर्य यह है कि 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः' (आत्मा कौन है ? जो विज्ञानमय है, वह आत्मा है) इत्यादि अनेक वाक्य बृहदारण्यकके षष्ठ अध्यायमें उपलब्ध होते हैं, वे क्या जीवके कथनमें पर्य्यवसित हैं या ईश्वरके बोधनमें पर्यवसन्न हैं ? इस प्रकारके संशयमें पूर्वपक्ष प्राप्त होता है कि वे जीवके अनुवादमें अपना तात्पर्य रखते हैं, क्योंकि 'योऽयं विज्ञानमयः' इत्यादि उपक्रम, उपसंहार आदि संसारी जीवके प्रतिपादनमें ही कटिबद्ध हैं । इसपर सिद्धान्तीका कहना है कि बृहदारण्यकका षष्ठ प्रपाठक जीवका अनुवाद नहीं करता है, परन्तु परमेश्वरका ही बोध करता है, कारण कि 'तद्यथा प्रियया' इत्यादि वाक्य सुषुप्ति और उत्क्रान्तिमें जीवसे भिन्न परमेश्वरका तृतीयाविभक्त्यन्त प्राज्ञशब्दसे प्रतिपादन करते हैं, और ऐसा इसलिए प्रतिपादन किया जाता है कि लोकसिद्ध जीवका ईश्वरके साथ अभेदप्रतिपादन हो । 'स वा एष महानज आत्मा' (वह व्यापक, नित्य, आत्मा है) इस प्रकारके वाक्यशेषमें साक्षात् ईश्वरका ही स्वरूप बतलाया गया है, अतः उपक्रम, और उपसंहारके आधारपर बृहदारण्यकीय षष्ठ प्रपाठकस्थ आत्मपरक यावत् श्रुतिवाक्योंमें जीवातिरिक्त ईश्वरका ही जीवानुवादसे तदभिन्नताके लिए प्रतिपादन किया गया है, यह उक्त सुषुप्त्युत्क्रान्त्यधिकरणका निर्णय है । परन्तु इससे उदासीन, ईश्वरस्वरूप साक्षीकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि इस प्रकरणमें 'एष भूताधिपतिः, एष सर्वेश्वरः' इत्यादि ग्रन्थसे सर्वेश्वरत्व इत्यादि गुणोंका कथन है । इस प्रश्नका उत्तर यह है कि ज्ञेय ब्रह्मके प्रकरणमें सर्वेश्वरत्व आदि गुणोंके प्रतिपादक वाक्य स्तुतिपरक हैं, अतः सर्वेश्वरत्व आदिके प्रतिपादनमें उनका तात्पर्य न होनेसे उदासीन साक्षीकी सिद्धि होती है ।

र्व्यन्तर्गतोऽपीदमंशः प्रतिभासतो रजतकोटिः, तथा ब्रह्मकोटिरेव साक्षी प्रतिभासतो जीवकोटिरिति जीवस्य सुखादिव्यवहारे तस्योपयोग इत्युक्त्वाऽयमेव पक्षः समर्थितः ।

अज्ञानोपहितः केश्चित्—

कोई लोग कहते हैं कि अविद्यारूप उपाधिसे उपहित जीव ही साक्षी है ।

केचित्तु—अविद्योपाधिको जीव एव साक्षाद् द्रष्टृत्वात् साक्षी । लोकेऽपि ह्यकर्तृत्वे सति द्रष्टृत्वं साक्षित्वं प्रसिद्धम् । तच्चाऽसङ्गोदासीन-

---

रूपसे रजतकोटिमें प्रविष्ट है, वैसे ही यद्यपि वस्तुतः ब्रह्मकोटिमें ही साक्षीका अन्तर्भाव है, तथापि प्रतिभाससे जीवकोटिमें प्रविष्ट है, अतः जीवके सुख आदि व्यवहारमें उपयोग है, ऐसा कहकर—इसी कौमुदीकारके मतका समर्थन किया गया है । [तात्पर्यार्थ यह है कि यद्यपि 'इदं रजतम्' इस भ्रममें रजतके अभेदरूपसे इदमंशका प्रतिभास होता है, तथापि उसका रजतकोटिमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि 'नेदं रजतम्' इस बाधक ज्ञानसे रजतका केवल बाध होता है, इदमंशका नहीं । और शुक्ति-अंशमें भी उसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा माननेसे, जैसे शुक्ति अज्ञात है, वैसे ही 'इदम्' अंशमें भी अज्ञातत्व प्रसक्त हो जायगा, इसलिए यह मानना आवश्यक है कि वस्तुस्थितिमें इदमंश शुक्तिरूप है और प्रातिभासिक-रूपसे रजतसे अभिन्न है । बस, इसी युक्तिके अनुसार साक्षीस्थलमें भी वस्तुतः साक्षी ईश्वरस्वरूप है और 'अहं सुखमनुभवामि' (मैं सुखका अनुभव करता हूँ) इत्यादि प्रतिभास होनेसे कल्पित तत्-तत् जीवोंके अधिष्ठानरूप सुख आदि-का अनुभवकर्ता साक्षी जीवसे अभिन्नरूपसा ज्ञात होता है । अतः जीवके सुख आदिके व्यवहारमें सुख आदिके अनुभवकर्ता साक्षीका उपयोग है, इस प्रकार तत्त्वशुद्धिमें कहकर इसी कौमुदीके पक्षका समर्थन किया गया है] ।

कुछ लोग कहते हैं कि अविद्यासे उपहित-अविद्याप्रतिबिम्बित-चैतन्यरूप जीव—ही साक्षात् द्रष्टा होनेसे साक्षी है, क्योंकि लोकमें भी यही प्रसिद्धि है—कर्ता न होकर जो द्रष्टा होता है, वही साक्षी कहलाता है, इस प्रकार साक्षीका लक्षण

प्रकाशरूपे जीवे एव साक्षात् सम्भवति, जीवस्याऽन्तःकरणतादात्म्यापत्त्या कर्तृत्वाद्यारोपभाक्त्वेऽपि स्वयमुदासीनत्वात्। 'एको देवः' इति मन्त्रस्तु ब्रह्मणो जीवभावाभिप्रायेण साक्षित्वप्रतिपादकः। 'द्वा सुपर्णा' इति मन्त्रः गुहाधिकरणन्यायेन (उ० मी० अ० १ पा० २ अधि ३ सू० ११)

असङ्ग, उदासीन और प्रकाशरूप जीवमें ही साक्षात् * घट सकता है, कारण कि अन्तःकरणके तादात्म्यसे जीवमें कर्तृत्व आदि धर्मोंका आरोप होता है, तो भी स्वयं उदासीन है। 'एको देवः० यह मन्त्र ब्रह्ममें जीवभावके अभिप्रायसे ही साक्षित्वका प्रतिपादन † करता है। गुहाधिकरणके न्यायसे ‡

---

* भाव यह है कि जब अविद्याप्रतिबिम्बित चैतन्यरूप जीवमें ही साक्षित्वकी उपपत्ति हो सकती है, तो फिर उससे अतिरिक्त साक्षी माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यदि इसपर भी अतिरिक्त साक्षी माननेकी जबरदस्ती की जाय, तो केवल गौरवके सिवा और कुछ हाथ न लगेगा। और जीव वास्तविकमें उदासीन ही है, परन्तु बुद्धितादात्म्यापन्न होनेसे उसमें औपचारिक कर्तृत्व आदि है, वस्तुतः नहीं, अतः उसे साक्षी स्वीकार करनेमें आपत्ति नहीं है।

† तात्पर्य यह है कि यदि जीव ही पूर्वोक्त रीतिसे साक्षी माना जाय, तो 'एको देवः' इत्यादि मन्त्रके साथ, जो कि जीवातिरिक्त उदासीन साक्षीका प्रतिपादन करता है, अवश्य विरोध होगा। इसपर जीवमें साक्षित्वका प्रतिपादन करनेवाले कहते हैं कि नहीं, विरोध नहीं होगा, क्योंकि यह भी मन्त्र जीवमें ही साक्षित्वका प्रतिपादन करता है, उससे भिन्नमें नहीं। भाव यह है—यह वार वार कहा गया है कि जो साक्षी है वह जीवका अपरोक्ष है, यदि ईश्वरको साक्षी माना जाय, तो वह जीवका अपरोक्ष नहीं होगा, क्योंकि प्रतिबिम्ब और बिम्बरूपसे जीव और ईश्वरका औपाधिक भेद होनेके कारण जीवके प्रति जीवान्तरके समान (अर्थात् जैसे यज्ञदत्तजीव विष्णुमित्रजीवका अपरोक्ष नहीं कर सकता है, वैसे) ईश्वरका भी अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं हो सकेगा, इससे जीवभावापन्न ब्रह्म ही अपरोक्ष होनेसे साक्षी है, यह 'एको देवः' इत्यादि मन्त्रके साक्षीका प्रतिपादन करनेवाले अंशका भाव है।

‡ यहाँ शङ्का करनेवालेका तात्पर्य यह है कि जैसे 'गुहां प्रविष्टौ' यह मन्त्र जीव और ईश्वर दोनोंका प्रतिपादन करता है, वैसे ही 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि मन्त्र भी जीव और ईश्वर दोनोंका प्रतिपादन करता है, यह (ब्रह्मसूत्रके) भाष्यमें कहा गया है। इस अवस्थामें 'द्वा सुपर्णा' इस मन्त्रमें 'तयोरन्यः पिप्पलम्' यह वाक्य भी जीवपरक ही होगा 'अनश्नन्'—इत्यादि वाक्य ईश्वरपरक होगा, यह ज्ञात होता है, ऐसी परिस्थितिमें 'जीव साक्षी है' इस पक्षमें 'अनश्नन्नन्यः' इस मन्त्रभागके साथ, जो जीवातिरिक्त साक्षीका प्रतिपादन करता है, विरोध होगा, इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि मन्त्र जिस पक्षमें ईश्वर परक और जीवपरक है उस पक्षमें भी कोई विरोध नहीं है, क्योंकि 'एको देवः' इस मन्त्रकी नाईं 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि मन्त्र भी जीवभावापन्न परमात्माका बोध करता है, ऐसा

जीवेश्वरोभयपरः, गुहाधिकरणभाष्योदाहृतपैङ्गिरहस्यब्राह्मणव्याख्यातेन प्रकारेण जीवान्तःकरणोभयपरो वेति न कश्चिद्विरोध इत्याहुः ।

लिङ्गेनोपहितः परैः ॥ ९५ ॥

और कोई लोग कहते हैं कि अन्तःकरणसे उपहित जीवचैतन्य ही साक्षी है ॥९५॥

'द्वा सुपर्णा' यह मन्त्र जीव और ईश्वर उभयपरक है अथवा गुहाधिकरणके भाष्यमें उदाहरणरूपसे दिये गये पैङ्गीरहस्यब्राह्मणके व्याख्यानप्रकारसे जीव और अन्तःकरणपरक है, इसलिए कोई विरोध नहीं ‡ है।

स्वीकार करेंगे। 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि मन्त्रको जीवेश्वरपरक माननेमें गुहाधिकरण न्याय ही हेतु है। गुहाधिकरणमें प्रथम सूत्र है—'गुहां प्रविष्टावात्मानौ न तद्दर्शनात्'। सूत्रार्थ यह है कि 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे' (अपने किये हुए कर्मोंके अवश्य भावी फलोंका उपभोग करते हुए और अपने शरीरस्थ हृदयकी आकाशरूप गुहामें प्रविष्ट हुए) इस मन्त्रमें जीव और ईश्वरका ग्रहण किया जाता है, क्योंकि 'गुहाहितं गह्वरेष्ठम्' इत्यादिमें वैसा ही देखा जाता है। इसी न्यायके अनुसार 'द्वा सुपर्णा' इत्यादिमें भी जीव और ईश्वरका ही ग्रहण है।

‡ इसका तात्पर्य यह है कि गुहाधिकरणमें पैङ्गिरहस्यब्राह्मणका उदाहरण दिया गया है। वह इस प्रकार है—'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति इति सत्त्वम्, अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति इत्यनश्नन्नन्योऽभिपश्यति ज्ञः, तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ'। (उन दोनोंमें एक जो कर्मफलका उपभोग करता है, वह सत्त्व—अन्तःकरण है और अन्य जो उपभोग नहीं करता हुआ देखता है, वह ज्ञ—क्षेत्रज्ञ है, इस प्रकार ये सत्त्व और क्षेत्रज्ञ हैं) इस ब्राह्मणसे अदनवाक्य अन्तःकरणपरक और अनशनवाक्य क्षेत्रज्ञपरक है, ऐसा व्याख्यान प्रतिपादित है, यह ज्ञान होता है। इस अवस्थामें भाष्यकारने कैसे उक्त वाक्यको जीवेश्वरपरक माना ? यह शङ्का हो सकती है, परन्तु यह युक्त नहीं है, क्योंकि अभ्युपगमवादमात्रसे कथन होनेके कारण ब्राह्मणव्याख्यान और भाष्यका परस्पर विरोध नहीं है। इस अवस्थामें यदि अन्तःकरणप्रतिबिम्बित चैतन्य ही पैङ्गिरहस्यका अभिमत क्षेत्रज्ञ हो, तो वही 'अनश्नन्' इत्यादि वाक्योक्त साक्षी होगा, अविद्याप्रतिबिम्बित चैतन्य नहीं होगा, ऐसी परिस्थितिमें अविद्याप्रतिबिम्बित असङ्गस्वभाव जीवचैतन्य साक्षी है, यह पक्ष पैङ्गिब्राह्मणनिर्णीतार्थक 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि मन्त्रभागसे विरुद्ध होगा, इस विरोधका 'गुहाधिकरण भाष्योदाहृत' इत्यादिसे परिहार किया गया है, परिहारका अभिप्राय यह है कि पैङ्गिब्राह्मणमें कहा गया क्षेत्रज्ञ अन्तःकरणगत चैतन्यप्रतिबिम्बरूप जीव नहीं है, क्योंकि उसके कर्तृत्वादिस्वभाव होनेसे 'अनश्नन्' इत्यादि वाक्यसे कहे गये साक्षित्वका उसमें सम्भव नहीं है, किन्तु असङ्ग, उदासीन और प्रकाशरूप अविद्याप्रतिबिम्बरूप जीव ही अभिप्रेत है, और वह अनश्नन् वाक्योक्त साक्षीरूप हो सकता है, इसका पूर्वमें कथन हुआ है। अतः अविद्याप्रतिबिम्ब जीवके साक्षित्वपक्षमें पैङ्गिब्राह्मणके साथ विरोध नहीं है।

अन्ये तु—सत्यं जीव एव साक्षी, न तु सर्वगतेनाऽविद्योपहितेन रूपेण। पुरुषान्तरान्तःकरणादीनामपि पुरुषान्तरं प्रति स्वान्तःकरणभासकसाक्षिसंसर्गाविशेषेण प्रत्यक्षत्वापत्तेः। न चाऽन्तःकरणभेदेन प्रमातृभेदात् तदनापत्तिः। साक्षिभास्येऽन्तःकरणादौ सर्वत्र साक्ष्यभेदे सति प्रमातृभेदस्याऽप्रयोजकत्वात्। तस्मादन्तःकरणोपधानेन जीवः साक्षी। तथा च प्रतिपुरुषं साक्षिभेदात् पुरुषान्तरान्तःकरणादेः पुरुषान्तरसाक्ष्यसंसर्गाद्वा तदयोग्य-

इतर लोग कहते हैं कि जीव ही साक्षी है, यह ठीक है परन्तु सर्वगत अविद्यासे उपहितरूपसे जीव साक्षी नहीं है। यदि अविद्योपहितरूपसे साक्षी माने, तो अन्य पुरुषको अन्य पुरुषोंके अन्तःकरण आदिका प्रत्यक्ष हो जायगा, क्योंकि उसके अन्तःकरणके अवभासक साक्षीके साथ * सामान्यरूपसे पुरुषान्तरके अन्तःकरणादिका संसर्ग है। परन्तु साक्षीके एक होनेपर भी अन्तःकरणप्रयुक्त प्रमाताओंके भिन्न-भिन्न होनेसे पूर्वोक्त आपत्ति नहीं आ सकती है? नहीं, यह समाधान युक्त नहीं हो सकता, क्योंकि साक्षिभास्य सम्पूर्ण अन्तःकरण आदिमें साक्षीके एक होनेपर प्रमाताका भेद अकिञ्चित्कर † है। इससे अन्तःकरणोपहित चैतन्यरूपसे ही जीव साक्षी है। तब साक्षीके भेदमें प्रयोजकीभूत उपाधिका भेद होनेपर प्रतिपुरुष साक्षीका भेद सिद्ध होता है, इससे अन्य पुरुषोंके अन्तःकरण आदिका अन्य पुरुषके साक्षीके साथ सम्बन्ध न होनेसे

* तात्पर्य यह है कि देवदत्तके अन्तःकरणका अवभासक जो साक्षी है, उस साक्षीके साथ देवदत्तीय अन्तःकरणके समान यज्ञदत्तके अन्तःकरण आदिका भी सम्बन्ध होनेसे जैसे देवदत्तको अपने अन्तःकरणका भान होता है, वैसे ही यज्ञदत्तके अन्तःकरणका भी भान हो जायगा, इसी प्रकार यज्ञदत्तके अन्तःकरणकी वृत्तियोंका भी प्रत्यक्ष हो जायगा, इसलिए व्यापकीभूत अविद्यामें प्रतिबिम्बितचिद्रूप ईश्वरको साक्षी नहीं मानना चाहिए, किन्तु वक्ष्यमाण अन्तःकरणोपहित जीवको ही साक्षी मानना चाहिए।

† तात्पर्य यह है कि देवदत्तके प्रति देवदत्तके अन्तःकरणके प्रत्यक्षमें देवदत्तके साक्षीका संसर्ग प्रयोजक है, इसलिए देवदत्तके साक्षीका संसर्ग अविशेषसे यज्ञदत्तके अन्तःकरणके साथ भी होनेसे यज्ञदत्तके अन्तःकरण आदिका प्रत्यक्ष देवदत्तको अवश्य प्रसक्त होगा, इसलिए इसका परिहार साक्षीके संसर्गभेदसे ही हो सकता है, अप्रयोजक प्रमाताके भेदसे नहीं, अतः प्रमाताके भेदसे यह व्यवस्था नहीं हो सकती है कि देवदत्तका अन्तःकरण देवदत्तके प्रति प्रत्यक्ष है, अन्य यज्ञदत्तका अन्तःकरण प्रत्यक्ष नहीं है। इसलिए भी अपरिच्छिन्न अविद्याबिम्बरूप चैतन्य साक्षी नहीं है।

त्वाद्वा अप्रकाश उपपद्यते। सुषुप्तावपि सूक्ष्मरूपेणाऽन्तःकरणसद्भावात् तदुपहितः साक्षी तदाऽप्यस्त्येव। न चाऽन्तःकरणोपहितस्य प्रमातृत्वेन न तस्य साक्षित्वम्, सुषुप्तौ प्रमात्रभावेऽपि साक्षिसत्त्वेन तयोर्भेदश्चाऽवश्यं वक्तव्य इति वाच्यम्।

विशेषणोपाध्योर्भेदस्य सिद्धान्तसम्मतत्वेनाऽन्तःकरणविशिष्टः प्रमाता, तदुपहितः साक्षीति भेदोपपत्तेरित्याहुः॥ १४॥

अविद्ययाऽऽवृतः साक्षी तेनाऽन्यस्य प्रथा कथम्?।

साक्षी अविद्यासे आवृत रहता है, अतः उससे अविद्या, अहंकार आदिका प्रकाश कैसे होगा?।

अथवा पुरुषान्तरके प्रति आयोग्यत्वकी कल्पनासे अप्रकाश—प्रत्यक्षत्वका अभाव-उपपन्न होता है। सुषुप्तिमें भी सूक्ष्मरूपसे अन्तःकरणका अस्तित्व होनेसे उस अन्तःकरणसे उपहित साक्षी सुषुप्तिकालमें भी रहता ही है। यदि कोई शङ्का करे कि जो अन्तःकरणसे उपहित चैतन्य है, वह प्रमाता है, साक्षी नहीं हैं, क्योंकि सुषुप्तिमें प्रमाताके न रहनेपर भी ‡ साक्षीके रहनेसे उन दोनोंका भेद अवश्य मानना होगा, तो यह शङ्का भी युक्त नहीं है, क्योंकि विशेषण और उपाधिके भेदका सिद्धान्तमें स्वीकार होनेसे अन्तःकरणरूप विशेषणसे विशिष्ट चैतन्य प्रमाता है और अन्तःकरणसे उपहित चैतन्य साक्षी है, इस प्रकार प्रमाता और साक्षीका भेद उपपन्न × होता है॥ १४॥

---

‡ सुषुप्तिकालमें साक्षीकी अवश्य सत्ता है, यह मानना चाहिए, क्योंकि 'त्रिषु धामसु' (तीनों अवस्थाओंमें [साक्षीकी सत्ता है]) इत्यादि श्रुतियाँ साक्षीके अस्तित्वका जाग्रत्, सुषुप्ति और स्वप्नावस्थामें प्रतिपादन करती हैं। और सुषुप्तिकालमें साक्षी द्वारा अनुभूत अज्ञानका 'मैंने कुछ नहीं जाना' इत्यादि रूपसे स्मरण भी होता है। अनेक प्रमाताके प्रलयका प्रतिपादन करनेवाली अनेक श्रुतियोंके साथ विरोध होनेसे 'अहमस्वाप्सम्' (मैं सोया था) इत्यादि स्मरणको अहमर्थ प्रमाताके अंशमें अनुभव ही मानना चाहिए, सुषुप्तिमें प्रमाताकी सत्ता नहीं माननी चाहिए। इसलिए सुषुप्तिमें सत्त्व और असत्त्वरूपसे साक्षी और प्रमाताका अवश्य भेद है, अतः प्रमातासे साक्षीका अवश्य भेद मानना ही चाहिए, तथा प्रमाता और साक्षीको एकरूप माना जाय, तो साक्षीमें उदासीनत्व आदिका प्रतिपादन भी विरुद्ध होगा, यह भाव है।

अविद्योपाधिक जीवमें अन्तःकरण प्रमातृत्वका विशेषणत्वरूपसे प्रयोजक है और उपाधित्वरूपसे साक्षित्वका प्रयोजक है। इसीलिए विशिष्ट और उपहित प्रमाता एवं

[टिप्पणी]

साक्षीका भी भेद है। यद्यपि अन्तःकरणसे विशिष्ट चैतन्यमें कर्तृत्व आदि स्वभाव हैं, तथापि उपहित चैतन्यमें स्वतः उदासीन होनेसे साक्षित्वकी उपपत्ति हो सकती है, यह भाव है। अब प्रसङ्गतः विशेषण और उपाधिका निर्वचन करते हैं, जो प्रकृतमें अत्यन्त उपादेय है। विशेषणका लक्षण है—कार्यान्वयित्वे सति व्यावर्तकत्वम् अर्थात् विधेयके साथ अन्वयी हो कर जो लक्ष्यकी अन्य पदार्थोंसे व्यावृत्ति करे। जैसे 'नीलोत्पलमानय' (नील कमल लाओ) इत्यादिमें नील है—विशेषण, विधेय—आनयनमें नीलका उत्पल द्वारा अन्वय भी होता है और रक्त उत्पलसे व्यावृत्ति भी करता है। इसलिए उत्पलका नैल्य विशेषण है। उपलक्षणीभूत पदार्थमें अतिव्याप्तिका निवारण करनेके लिए 'कार्यान्वयित्वे सति' यह विशेषण दिया गया है, जैसे 'यत् काकवत्, तत् देवदत्तगृहम्' (जो कौआवाला है, वह देवदत्तका घर है) इसमें विधेय है देवदत्तगृहत्व, उसका काकके साथ किसी प्रकारसे अन्वय है नहीं, परन्तु अन्य गृहकी व्यावृत्ति तो काक करता है, इसलिए उपलक्षण काकमें दोषनिवारण करनेके लिए सत्यन्त है। यदि केवल यही विशेषणका लक्षण किया जाय कि जो कार्यान्वयी हो वह विशेषण है तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि विधेयके साथ विशेष्यका भी अन्वय होता है, अतः विशेष्यमें विशेषणत्वका प्रसङ्ग हटानेके लिए विशेष्यदल—व्यावर्तकत्वदल—अवश्य देना चाहिए। उसके देनेसे विशेष्यमें अतिप्रसङ्ग नहीं है। 'कार्यानन्वयित्वे सति व्यावर्तकत्वे सति कार्यान्वयकाले विद्यमानत्वम् उपाधिलक्षणम्' अर्थात् विधेयके साथ अन्वयी न होकर, विशेष्यका व्यावर्तक होकर कार्यान्वयकालमें विद्यमान हो, वह उपाधि—है। जैसे—लोहितं स्फटिकमानय' (रक्त स्फटिक लाओ) इसमें स्फटिकसन्निहित जपाकुसुम स्फटिकका विशेषण नहीं है, उपाधि है, क्योंकि आनयनरूप विधेयमें जपाकुसुमका किसी प्रकारसे अन्वय नहीं होता है और अन्य स्फटिकसे व्यावृत्ति अवश्य करता है। इसमें 'कार्यानन्वयित्वे सति' यह सत्यन्त विशेषणमें अतिप्रसक्तिके निरासके लिए दिया गया है, और द्वितीय सत्यन्त देनेका प्रयोजन इस प्रकार है, कहींपर यह कहा जाय कि 'काकवद् गृहं प्रविश' (काकवत् गृहमें प्रवेश करो) इसमें प्रवेशरूपकार्यके अन्वयकालमें कदाचित् दैवयोगसे उपलक्षणीभूत काक अन्यत्र चला गया और दूसरा कौआ उस स्थलमें आ गया उस समयमें आये हुए नवीन काकमें कार्यानन्वयित्वे सति अन्वयकालविद्यमानत्वरूप उपाधिका लक्षण होनेसे अतिव्याप्ति हो जायगी, अतः इसके भङ्गके लिए द्वितीय सत्यन्त दिया, इसके देनेसे आगत नवीन काकमें दोष नहीं है, क्योंकि वह व्यावर्तक नहीं है, इसी स्थलमें उपलक्षण काकमें अतिव्याप्तिके वारण करनेके लिए कार्यान्वयकालमें विद्यमानत्वरूप विशेष्य दल दिया। कार्यके अन्वयकालमें दैव योगसे उपलक्षण काककी स्थिति हो सकती है। इससे उपलक्षणमें अतिव्याप्तिके वारणके लिए विद्यमानत्वमें 'नियमेन' यह विशेषण भी देना चाहिये, इसलिए कार्यान्वयकालमें नियमतः जो रहे, यह विशेष्य भागका अर्थ है। कार्यान्वयकालमें नियमतः काक रहता नहीं है, अतः दोष नहीं है, यह भाव है। इसका अधिक विचार अन्यत्र कृष्णालङ्कार व्याख्यामें पृ० १९५ चौ० मु० काशीमें देखना चाहिए।

ननूक्तरूपस्य साक्षिणः चैतन्यमात्रावरकेणाऽज्ञानेनाऽऽवरणमवर्जनीयमिति कथमावृतेनाऽविद्याहङ्कारादिभानमिति चेत् ।

अत्राहू राहुवत् केचित् तस्य स्वावृतभास्यताम् ॥ १६ ॥

इस विषयमें—राहुके समान अर्थात् जैसे राहुका प्रकाश राहुसे आवृत चन्द्रमण्डलसे ही होता है, वैसे ही अविद्याका प्रकाश अविद्यासे आवृत साक्षीसे ही होता है, ऐसा भी—कुछ लोग कहते हैं ॥१६॥

राहुवदविद्या स्वावृतप्रकाशप्रकाश्येति केचित् ।

अब यह शङ्का होती है कि पूर्वोक्त लक्षणसे लक्षित साक्षी अवश्य चैतन्यमात्रको आवृतकरनेवाले अज्ञानसे आवृत होगा, अतः अज्ञानावरणसे आवृत साक्षीसे अहङ्कार आदिका भान कैसे होगा ? * अर्थात् किसी प्रकारसे भी नहीं हो सकेगा, परन्तु यह शङ्का युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि—

राहुके समान अविद्या स्वावृत प्रकाशसे प्रकाशित होती है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। [तात्पर्य यह है कि ग्रहणके समयमें चन्द्रमण्डल राहुसे आच्छादित होता है, परन्तु उस समयमें राहुका प्रकाश चन्द्रसे ही होता है, जो कि चन्द्र राहुसे आवृत है। इसी प्रकार यद्यपि अविद्यासे साक्षी आवृत है, तथापि उस अविद्याका प्रकाश स्वावृत साक्षीसे ही होता है] ।

* साक्षिगोचर अपरोक्ष वृत्तिसे साक्षीके आवरणका भङ्ग होनेपर आवरणसे रहित साक्षीसे अविद्या आदिका भान हो सकता है, यह नहीं कहना चाहिए, क्योंकि 'अविद्या आदिका भान केवल साक्षीसे ही होता है' इस सिद्धान्तके साथ विरोध होगा, कारण कि उनके भानमें इस प्रकार वृत्तिका अवलम्बन करनेसे साक्षीसे अतिरिक्त वृत्तिकी भी अपेक्षा हुई। दूसरी बात यह भी है कि मनमें करणत्वका भी आगे चलकर निरास किया जायगा, इससे करणके अभावमें साक्षीको अवलम्बन करनेवाली तदाकार वृत्ति भी नहीं हो सकती है। और अहङ्कार आदिकी सत्ताके कालमें उनके संशय आदि नहीं होते हैं, इसलिए सदा उनका प्रकाशस्वरूप साक्षीके साथ सम्बन्ध है, यह कहना चाहिए, यदि कादाचित्क वृत्तिसे उनका भान माना जाय, तो उनके सदा भासमानत्वके साथ भी विरोध होगा, इसलिए केवल साक्षिभास्यत्व ही अहङ्कार आदिमें स्वीकार करना चाहिए, परन्तु यह नहीं हो सकता है, क्योंकि वह साक्षिचैतन्य तो अज्ञानसे आवृत है। और साक्षीरूप चैतन्यसे अन्य चैतन्यका ही अज्ञान आवरण करता है, यह भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि अज्ञानका सम्पूर्ण चैतन्यको आवृत करना स्वभाव है, यदि हठात् इसे नहीं माना जाय, तो साक्षिचैतन्यसे अन्य चैतन्यमें भी आवरणका अभाव प्रसक्त होगा, यह प्रश्नका आशय है।

अविद्याबुद्धितद्धर्मभासकांशेतरावृतिः ।
कल्प्यते वस्तुतस्तेषु संशयादेरदर्शनात् ॥ ९७ ॥

वस्तुतः अविद्या, अन्तःकरण और अन्तःकरणके धर्मोंके अवभासक साक्षीरूप चैतन्यको छोड़कर अन्य चैतन्यको अविद्या आवृत करती है, इस प्रकार—अविद्या आदिमें संशय आदिके न देखनेसे—कल्पना की जाती है ॥९७॥

वस्तुतोऽविद्याऽन्तःकरणतद्धर्मावभासकं साक्षिचैतन्यं विहायैवाऽज्ञानं चैतन्यमावृणोतीत्यनुभवानुसारेण कल्पनान्न कश्चिद्दोषः । अत एव सर्वदा तेषामनावृतप्रकाशसंसर्गात् अज्ञानविपरीतज्ञानसंशयागोचरत्वम् ।

स्याच्चेदनावृतः साक्षी भासेताऽस्य सुखात्मता ।
प्रेमास्पदत्वाद् भात्येव परिच्छेदादतृप्तता ॥ ९८ ॥

यदि साक्षी चैतन्य आवृत नहीं है, तो सर्वदा तदभिन्न आनन्दका प्रकाश होना चाहिए ? (कहते हैं) होता ही है, क्योंकि आत्मा परम प्रेमका विषय है, उपाधिसे आनन्दके परिच्छिन्न होनेसे तृप्ति नहीं होती है ॥९८॥

साक्षिचैतन्यस्याऽनावृतत्वे तत्स्वरूपभूतस्याऽऽनन्दस्याऽपि प्रकाशा-पत्तिरिति चेत्, न; इष्टापत्तेः । आनन्दरूपप्रकाशप्रयुक्तस्याऽऽत्मनि निरुपा-

---

वस्तुस्थितिमें साक्षिचैतन्यको, जो अविद्या, अन्तःकरण और अन्तः-करणके धर्म सुख आदिका प्रकाशक है, छोड़ कर अन्य चैतन्यको ही अज्ञान आवृत करता है, ऐसी अनुभवके अनुसार कल्पना करनी चाहिए, इसलिए किसी दोपकी प्रसक्ति नहीं है । अतएव--साक्षी चैतन्यसे अतिरिक्त चैतन्यका ही अज्ञान आवरण करता है, इसीसे—वे अन्तःकरण और तद्धर्म आदि सदा अनावृत प्रकाशके साथ सम्बद्ध होनेके कारण अज्ञान, विपरीत ज्ञान और संशय आदिके विषय नहीं † होते हैं ।

यदि साक्षी चैतन्य सदा अनावृत है, तो उसके स्वरूपभूत आनन्दका भी साथ-साथ प्रकाश होना चाहिए ? नहीं, यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि यह

---

† अविद्याके भावरूपत्वमें, अहङ्कारके अनात्मत्वमें, सुख, दुःख आदि वृत्तियोंके अनात्म-धर्मत्वमें अज्ञान, विपरीतज्ञान आदिके होनेसे यह कैसे कह सकते हैं कि अविद्या आदि संशय आदिके गोचर नहीं है ? इस शङ्कापर यह उत्तर है कि अविद्या आदिके सत्त्वकालमें अविद्यादिसत्त्वप्रकारक अज्ञान, संशय आदि नहीं होते हैं, इसलिए पूर्वोक्त आशङ्का नहीं हो सकती है, यह भाव है ।

धिकप्रेम्णो दर्शनात्। 'भासत एव परमप्रेमास्पदत्वलक्षणं सुखम्' इति विवरणाच्च ॥ १५ ॥

स्यादेतत्—इदानीमप्यानन्दप्रकाशे मुक्तिसंसारयोरविशेषप्रसङ्गः।

ननु कल्पितभेदस्य साक्ष्यानन्दस्य प्रकाशेऽपि अनवच्छिन्नस्य ब्रह्मानन्दस्याऽऽवृतस्य संसारदशायामप्रकाशेन विशेषोऽस्तीति चेत्, न; आन-

---

आपत्ति इष्ट ही है अर्थात् उस साक्षीके स्वरूपभूत आनन्दका प्रकाश होता ही है, क्योंकि आनन्दरूपके * प्रकाश होनेसे ही आत्मामें निरुपाधिक प्रेम देखा जाता है। इस प्रकृत अर्थमें विवरणकारने कहा भी है † कि जिस सुखका लक्षण परम प्रेम-विषयत्व है, वह सुख भासता ही है [कारण कि वह सुख (आनन्द) साक्षिचैतन्यसे अभिन्न है, अतः स्वरूपानन्दके प्रकाशमें कोई हानि नहीं है,] ॥ १५ ॥

यह शङ्का होती है कि यदि संसारदशामें भी आत्मस्वरूप आनन्दका प्रकाश होता है, तो मुक्ति और संसारमें कोई विशेष नहीं होगा? [इससे साक्षिस्वरूप आनन्दका संसारदशामें प्रकाश मानना अयुक्त है, यह पूर्वपक्षीका भाव है]।

परन्तु इस शङ्काका अवसर नहीं है, क्योंकि साक्षिस्वरूप आनन्दका, जिसका कि बिम्बभूत आनन्दसे भेद कल्पित है, प्रकाश होनेपर भी संसारदशामें आवृत होनेके कारण अनवच्छिन्न ब्रह्मानन्दका प्रकाश न होनेसे मुक्ति और संसार दशामें विशेष हो सकता है, तो यह भी समाधान युक्त नहीं है,

---

* तात्पर्य यह है कि लोकमें जिन जिन पुरुषोंको आनन्दका अनुभव होता है, उन उन पुरुषोंके अनुभवके विषय आनन्दमें प्रीति अनुभवसिद्ध है। इसलिए प्रकाशमान आनन्द प्रीतिका विषय है, यह सिद्ध होता है, अतः दुःखदशामें भी प्राणिमात्रको अपने-अपने आत्मामें प्रीतिके देखनेसे आत्मविषयक प्रीति भी प्रकाशमान आनन्दविषयक है, यह सिद्ध होता है, पुत्रादिविषयक जो प्रीति है, वह तो औपाधिक है, क्योंकि वहांपर पुत्रादिमें जो सुखसाधनता-रूप उपाधि है, तत्-प्रयुक्त ही आत्मसुखकी अभिव्यक्ति देखी जाती है और उसके अभावमें अनात्म पुत्र आदिमें प्रीति नहीं देखी जाती है। इसीलिए यह श्रुति है—'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति' (आत्माके स्वार्थसे ही सभी प्रिय होते हैं) अतः आत्माका आनन्द प्रकाशित होता है, यह अवश्य मानना चाहिए, यदि न माना जाय, तो श्रुतिसिद्ध निरुपाधिक प्रीति आत्मामें नहीं होगी, क्योंकि प्रीति प्रकाशमान आनन्दविषयक ही होती है। अतः साक्ष्यानन्दके प्रकाशमें इष्टापत्ति युक्त ही है।

न्देऽनवच्छेदांशस्याऽपुरुषार्थत्वादानन्दापरोक्षमात्रस्य चेदानीमपि सत्त्वात्। नन्ववच्छिन्नः साक्ष्यानन्दः सातिशयः, सुषुप्तिसाधारणादनतिस्पष्टात् ततो वैषयिकानन्देष्वतिशयानुभवात्। अनवच्छिन्नो ब्रह्मानन्दस्तु निरतिशयः।

क्योंकि आनन्दमें अनवच्छेद अंश पुरुषार्थ नहीं है और केवल आनन्दका संसार दशामें भी अपरोक्ष प्रकाश होता है। [शङ्का तथा समाधानका तात्पर्य यह है कि साक्षीरूप आनन्दका अर्थ है—अविद्यामें आनन्दका प्रतिविम्ब, इस प्रतिविम्बभूत आनन्दका विम्बभूत आनन्दसे अवश्य कल्पित भेद है, अन्यथा विम्बप्रतिविम्ब-भावकी उपपत्ति ही नहीं हो सकेगी। इसलिए संसारदशामें अनावृत साक्षि-स्वरूप प्रतिविम्बानन्दका प्रकाश होनेपर भी विम्बभूत ब्रह्मानन्दका प्रकाश नहीं होता है। और दूसरी बात यह भी है कि प्रतिशरीर साक्षीरूप आनन्द भिन्न-भिन्न है और अनवच्छिन्न आनन्द प्रतिशरीरमें भिन्न नहीं है, अतः संसारदशा और मुक्ति-दशामें अवश्य भेद है। इससे मुक्ति और संसारदशामें अविशेषप्रसक्तिरूप दोष नहीं है। इसपर उत्तर दाताका वक्तव्य यह है कि संसारदशासे मोक्षमें जो विशेष है, क्या वह अनवच्छिन्न आनन्दके स्फुरणसे है या केवल आनन्द ही के स्फुरणसे है? प्रथमकल्प युक्त नहीं है, क्योंकि अनवच्छिन्न शब्दका अर्थ है—भेदाभाव, इसको यदि आनन्दसे भिन्न माने, तो वह पुरुषार्थ नहीं होगा, अतः अपुरुषार्थवस्तुनिवन्धन विशेष अर्थात् अनवच्छेदप्रयुक्त वैशिष्ट्य मुक्तिमें अप्रयोजक है, यदि अवच्छेदाभावको आनन्दरूप माना* जाय, तो द्वितीय कल्प ही पर्यवसन्न होगा अर्थात् आनन्दका स्फुरणमात्र ही मोक्षमें विशेष है, परन्तु यह भी अयुक्त है, क्योंकि संसारदशामें भी आनन्दका स्फुरणमात्र तो है ही, अतः संसार और मुक्तिमें अविशेषप्रसङ्गका भङ्ग कोई भी नहीं कर सकता है]। प्रकारान्तरसे आशङ्का होती है कि संसारदशामें प्रति-शरीरमें एकरूपसे प्रकाशित न होनेवाला साक्षीरूप आनन्द उत्कर्ष और अपकर्ष-रूप अतिशयसे युक्त होता है, क्योंकि सुषुप्तिसाधारण आनन्दसे, जो अति-स्पष्टतासे रहित है, स्रक्, चन्दन आदि विषयजन्य आनन्दोंमें अतिस्पष्टता भासती है। और मुक्तिकालीन ब्रह्मानन्द एकरूपसे प्रकाशमान एवम् उत्कर्ष

---

* कल्पित अभाव अधिष्ठानरूप होता है, इसलिए आनन्दरूप अधिष्ठानमें रहनेवाला भेदाभाव आनन्दरूप ही होगा, तदतिरिक्त नहीं होगा यह भाव है।

आनन्दवल्ल्यां मानुषानन्दाद्युत्तरोत्तरशतगुणोत्कर्षोपवर्णनस्य ब्रह्मानन्दे समापनादिति चेत्, न; सिद्धान्ते साक्ष्यानन्दविषयानन्दब्रह्मानन्दानां वस्तुत एकत्वेनोत्कर्षापकर्षासम्भवात् । मानुषानन्दादीनामुत्तरोत्तरमुत्कर्षं

और अपकर्षसे रहित है । [तात्पर्यार्थ यह है कि सुषुप्तिकालमें प्रकाशमान साक्षीरूप आनन्द अवश्य स्पष्ट है, इसीलिए तो जाग्रद् अवस्थामें 'मैं सुखपूर्वक सोया' यह स्मरण होता है, लोकमें स्पष्टरूपसे जिस आनन्दका अनुभव किया जाता है, उसीका पुनः स्मरण होता है, स्पष्टतया अननुभूत आनन्दका स्मरण नहीं होता है, परन्तु सौषुप्त आनन्दकी अपेक्षासे कुसुममाला, चन्दन आदिसे प्रादुर्भूत आनन्द अधिक स्पष्ट होता है, इसलिए सांसारिक आनन्द सातिशय और प्रतिशरीर भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं, मुक्तिकालमें ऐसी अवस्था नहीं है, क्योंकि उस आनन्दका कल्पित भेद या अतिशय नहीं भासता है, किन्तु उस कालमें एकरूप, शुद्ध और उत्कर्ष एवं अपकर्ष आदि धर्मोंसे शून्य ब्रह्मरूप आनन्द भासता है, अतः संसार और मुक्तिमें विशेष नहीं है, यह कहना अनुचित है] ।

क्योंकि * आनन्दवल्लीमें मनुष्यके आनन्दसे लेकर उत्तरोत्तर आनन्दोंमें किया हुआ शतगुण उत्कर्षका वर्णन ब्रह्मानन्दमें ही समाप्त किया गया है, [अतः सांसारिक आनन्द सातिशय है, और वह मुक्तिमें नहीं रहता है], परन्तु यह भी शङ्का अनुपपन्न है, क्योंकि सिद्धान्तमें साक्षीरूप आनन्द, विषयानन्द और ब्रह्मानन्द वस्तुतः अभिन्न ही हैं, अतः उत्कर्ष और अपकर्ष आनन्दमें हो ही नहीं सकता । यदि इसमें शङ्का हो कि मनुष्य आदिके

* आनन्दवल्लीकी श्रुतिमें ऐसा वर्णन मिलता है—एक सार्वभौम राजाके आनन्दसे सौगुना मनुष्यगन्धर्वको आनन्द होता है, और एक श्रोत्रिय कामरहित (ब्राह्मण) को भी होता है, और इनके आनन्दसे सौगुना आनन्द एक देवगन्धर्वको होता है, इस प्रकार क्रमशः वर्णन करते करते आखिर ब्रह्ममें सम्पूर्ण आनन्दोंकी परिसमाप्ति बतलाई गई है, अर्थात् ब्रह्मानन्दसे बढ़ कर और कोई आनन्द नहीं है, अन्य सब आनन्द उस ब्रह्मानन्दसे निकृष्ट-निकृष्टतर ही हैं, ऐसा कहा गया है । इस विषयको अधिक जाननेके लिए निम्नलिखित मन्त्र देखिये ।

सैषानन्दस्य मीमांसा भवति । युवा स्यात् साधु युवाध्यापकः । आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः । तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् । स एको मानुष आनन्दः । ते ये शतं मानुषा आनन्दाः । स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः । स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः । इत्यादि [तैत्तिरीयोपनिषत् ब्रह्मानन्दवल्ली अनुवा० ८] ।

श्रुतिर्वदतीति चेत् ?। को वा ब्रूते श्रुतिर्न वदतीति। किन्तु अद्वैतवादे तदुपपादनमशक्यमित्युच्यते।

नन्वेकस्यैव सौरालोकस्य करतलस्फटिकदर्पणाद्यभिव्यञ्जकविशेषोपधानेनाऽभिव्यक्तितारतम्यदर्शनादेकत्वेऽप्यानन्दस्याऽभिव्यञ्जकसुखवृत्तिभेदोपधानेनाऽभिव्यक्तितारतम्यरूपमुत्कर्षापकर्षवत्त्वं युक्तमिति चेत्, न; दृष्टान्तासंप्रतिपत्तेः। सर्वतः प्रसृमरस्य सौरालोकस्य गगने विना करतलादिसम्बन्धमस्पष्टं प्रकाशमानस्य निम्नतले प्रसृमरस्य जलस्येव करतलसम्बन्धेन

आनन्दका उत्तरोत्तर उत्कर्ष श्रुति कहती है, तो यह कौन कहता है कि श्रुति नहीं कहती है ? अर्थात् श्रुति आनन्दका उत्कर्ष कहती तो अवश्य है, परन्तु अद्वैतवादमें उसका उपपादन करना असम्भव है, यह हमारा (पूर्वपक्षी का) अभिप्राय है। यदि यह कहा जाय कि जैसे सूर्यके तेजके एक होनेपर भी करतल, स्फटिक और दर्पण आदि विशेष अभिव्यञ्जक पदार्थोंके * उपधान से आलोकाभिव्यक्तिमें कुछ तारतम्य देखा जाता है, वैसे ही यद्यपि स्वतः आनन्द एकरूप है, तथापि अभिव्यञ्जक सुखवृत्तिविशेषके उपधानसे आनन्दकी अभिव्यक्तिमें तारतम्यरूप उत्कर्ष और अपकर्ष हो सकते हैं ? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि आपका दिया हुआ जो दृष्टान्त है, उसमें हमारी सम्प्रतिपत्ति—सम्मति नहीं † है, क्योंकि जैसे स्वभावतः निम्नभू-भागमें गमनशील जलकी करतलके सम्बन्धसे गतिका प्रतिबन्ध होनेपर एकस्थानमें उसका अधिक जमाव हो जाता है, वैसे ही सर्वत्र गमनशील सूर्यका तेज, जो गगनमें किसी करतल आदिके सम्बन्धके बिना

---

* तात्पर्य यह है कि करतल आदिके सम्बन्धके बिना तेजकी जो आकाशमें अभिव्यक्ति होती है, उसकी अपेक्षासे करतलमें अधिक अभिव्यक्ति होती है, करतलकी अपेक्षा स्फटिकमें अधिक होती है, उसकी अपेक्षा दर्पणमें अधिक होती है, यह अनुभवसिद्ध है, इसीके अनुसार आनन्दकी अभिव्यञ्जक वृत्तियोंके प्रभावसे साक्षीरूप आनन्दमें भी उत्कर्ष और अपकर्ष हो सकता है, यह पूर्वपक्षकर्ता (सिद्धान्ती)-का वक्तव्य है।

† उत्तर देनेवाले पूर्ववादीका भाव यह है कि आपका आनन्दके विषयमें आलोकदृष्टान्त तभी हमें मंजूर हो सकता है, जब कि स्वतः तेज एक व्यक्ति हो, परन्तु आलोक एक व्यक्ति तो है नहीं, क्योंकि वह अनेक किरणोंका समूहरूप है और एक स्वरूप भी नहीं है, कारण कि तत्-तत् स्थानोंमें किरणोंकी अल्पता और बाहुल्य आदि नाना स्वरूप उपलब्ध होते हैं, अतः आलोकके दृष्टान्तसे साक्षीरूप आनन्दका तारतम्य नहीं सिद्ध कर सकते हैं।

गतिप्रतिहतौ बहुलीभावादधिकप्रकाशः, भास्वरदर्पणादिसम्बन्धेन गतिप्रतिहतौ बहुलीभावात् तदीयदीप्तिसंवलनाच्च ततोऽप्यधिकप्रकाश इति तत्राऽभिव्यञ्जकोपाधिकाभिव्यक्तितारतम्यानभ्युपगमात् । दृष्टान्तसम्प्रतिपत्तौ च गगनप्रसृतसौरालोकवत् अनवच्छिन्नानन्दस्याऽस्पष्टता, करतलाद्यवच्छिन्नसौरालोकवत् सुखवृत्त्यवच्छिन्नानन्दस्याऽधिकाभिव्यक्तिरिति मुक्तितः संसारस्यैवाऽभ्यर्हितत्वापत्तेश्च । एतेन 'संसारदशायां प्रकाशमानोऽप्यानन्दो मिथ्याज्ञानतत्संस्कारविक्षिप्ततया तीव्रवायुविक्षिप्तप्रदीपप्रभावदस्पष्टं प्रकाशते, मुक्तौ तदभावात् यथावदवभासते' इत्यपि निरस्तम् । निर्विशेषस्वरूपानन्दे

अस्पष्ट प्रकाशमान है, उसकी करतलके सम्बन्धसे गति रुक जाती है, इस अवस्थामें वह (तेज) एकत्र जमा होकर अधिक प्रकाश करता है और अति निर्मल दर्पण आदिके सम्बन्धसे तेजकी गतिका प्रतिरोध होनेपर तेजकी जमावटसे और दर्पणकी प्रभाके सम्मिश्रणसे करतलगत प्रकाशसे भी अधिक प्रकाश होता है, अतः तेजस्थलमें अभिव्यञ्जक उपाधिके तारतम्यसे अभिव्यक्तिमें तारतम्य नहीं माना जाता है। किन्तु जमावट प्रयुक्त ही तारतम्य है] यदि कथञ्चित् दृष्टान्तको मान लें, तो गगनमें गतिशील सूर्यके आलोकके समान अनवच्छिन्न आनन्दमें अस्पष्टता होगी और करतल आदिसे युक्त सूर्यके आलोकके समान सुखाकार वृत्तिसे युक्त आनन्दकी अधिक अभिव्यक्ति होगी, इसलिए मुक्तिकी अपेक्षासे संसार ही अभ्यर्हित—सभीका अभीष्ट प्रसक्त होगा *। इससे यह भी निरस्त हुआ समझना चाहिए कि संसारकालमें आनन्द प्रकाशमान है, तो भी मिथ्याज्ञान † और मिथ्याज्ञानके संस्कारसे विक्षिप्त होनेके कारण तीव्र वायुसे संचालित दीपकी प्रभाके समान वह अस्पष्ट-सा प्रकाशित होता है, और मुक्तिमें तो मिथ्याज्ञान

---

* अर्थात् सांसारिक सुख ही मुक्ति सुखकी अपेक्षासे अधिक उत्कृष्ट और स्थायी सिद्ध होंगे, अतः मुक्तिके उद्देश्यसे मुक्तिके साधनोंमें किसीकी प्रवृत्ति नहीं होगी, यह भाव है।

† देहादि अनात्म पदार्थोंमें आत्मत्वग्रह और वस्तुतः आत्माके सम्बन्धसे वञ्चित पुत्रादिमें आत्मीयत्वग्रह ही मिथ्याज्ञान है, यही मिथ्याज्ञान जाग्रत् अवस्थामें स्वरूपानन्दके प्रकाशनमें विक्षेपक और उसकी अस्पष्टताका आपादक है, और इसी मिथ्याज्ञानसे उत्पन्न हुए संस्कारके सुषुप्तिकालमें प्रकाशमान आनन्दके विक्षेपक और पुरुषार्थत्वका विनाशक हैं, क्योंकि प्रारब्धकर्मके बलसे सभी जीव सौषुप्त आनन्दका त्यागकर जाग्रत्में आ जाते हैं, अतः मुमुक्षु लोग सौषुप्त आनन्दकी अभिलाषा नहीं करते हैं, यह शङ्काका भाव है, और दीपप्रभा दृष्टान्त है।

प्रकाशमाने तत्र विक्षेपदोषादप्रकाशमानस्य मुक्त्यन्वयिनोऽतिशयस्याऽसम्भवात्। तस्मात् साक्ष्यानन्दस्याऽनावृतत्वकल्पनमयुक्तम्।

साक्षिण्युपाधिमालिन्यादध्यस्तादपकर्षतः।
सुखापकर्षमद्वैतविद्याचार्याः प्रचक्षते ॥ ९९ ॥

अद्वैताचार्य कहते हैं कि संसारावस्थामें साक्षीमें अध्यस्त उपाधिके मालिन्यरूप अपकर्षसे सुखका अपकर्ष अर्थात् तारतम्य है ॥९९॥

अत्राहुरद्वैतविद्याचार्याः—यथाऽत्युत्कृष्टस्यैकस्यैव धवलरूपस्य मालि-

---

आदिके न रहनेसे पूर्णरूपसे आनन्द प्रकाशित होता है, अतः संसार और मुक्तिदशामें विशेष है, क्योंकि जब निर्विशेष आत्मस्वरूप आनन्द प्रकाशमान है, तो उस दशामें विक्षेपदोषसे अप्रकाशमान और मुक्तिदशामें * प्रकाशमान आनन्दका दृष्टान्तके समान कोई जातिरूप या अवयवरूप विशेष हो ही नहीं सकता है, इससे साक्षीरूप आनन्दको अनावृत मानना अयुक्त है।

इस आक्षेपके समाधानमें अद्वैत विद्याचार्य † कहते हैं कि जैसे अत्यन्त

---

* दीपप्रभाके सावयव होनेसे प्रबल वायुके प्रभावसे उसके कुछ अवयवोंके विनाशरूप विक्षेपसे अथवा प्रभागत भास्वरत्वके वायु द्वारा प्रतिबन्धरूप विक्षेपसे दीपप्रभाके प्रकाशमान होनेपर भी उसमें अस्पष्ट प्रकाशता उपपन्न हो सकती है, परन्तु अवयव, गुण आदि विशेषसे रहित ब्रह्मानन्दके—न तो संस्कार या मिथ्याज्ञानसे—अवयवका विनाश या किसी गुणविशेषका प्रतिबन्ध हो सकता है, अतः तत्प्रयुक्त अस्पष्ट प्रकाशता साक्ष्यानन्दमें नहीं आ सकती है, अतः पूर्वोक्त पक्ष असङ्गत है अर्थात् इस रीतिसे भी मुक्ति और संसारमें वैलक्षण्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है, यह पूर्वपक्षीका भाव है।

† जैसे साधारण मलिन दर्पणमें पड़े हुए धवलरूपके प्रतिबिम्बमें साधारण अपकर्ष अध्यस्त होता है, और मध्यम रीतिसे मलिन दर्पणमें प्रतिबिम्बित धवलरूपमें पूर्वकी अपेक्षासे अधिक अपकर्ष अध्यस्त होता है इसी रीतिसे अत्यन्त मलिन दर्पणमें प्रतिबिम्बित धावल्यमें पूर्वकी अपेक्षा अत्यन्त निकृष्ट अपकर्ष अध्यस्त होता है, वैसे ही अन्तःकरणमें जब निरतिशय और अद्वितीय आनन्दका प्रतिबिम्ब होता है, तब साक्षीरूप आनन्द कहा जाता है अर्थात् साक्षीरूप आनन्दभावको प्राप्त होता है और पूर्व जन्मके किसी विशेष पुण्यकर्मके परिपाकसे स्रक्, चन्दन आदि सुन्दर विषयोंके आकारमें अन्तःकरणकी वृत्ति होती है, तब उस वृत्तिमें प्रतिबिम्बित आनन्द विषयानन्दके नामसे प्रसिद्ध होता है। यहांपर यह विशेषरूपसे जानने लायक वार्ता है—अन्तःकरणका—वृत्ति द्वारा यदि उत्कृष्ट विषय-विशेषोंके साथ—सम्पर्क हुआ है, तो उन उत्कृष्ट विषयोंके साथ अन्तःकरणके सत्त्वगुणका सम्बन्ध होनेसे उत्कर्ष होगा, यदि निकृष्ट विषयोंके साथ सम्बन्ध होगा, तो अकर्ष होगा। इसके अनन्तर अन्तःकरणके सत्त्वांशके

न्यतारतम्ययुक्तेष्वनेकेषु दर्पणेषु प्रतिबिम्बे सत्युपाधिमालिन्यतारतम्यात् तत्र तत्र प्रतिबिम्बे धावल्यापकर्षस्तारतम्येनाऽध्यस्यते, एवं वस्तुतो निरतिशयस्यैकस्यैव स्वरूपानन्दस्याऽन्तःकरणप्रतिबिम्बिततया साक्ष्यानन्दभावे प्राक्तनसुकृतसंपत्त्यधीनविषयविशेषसंपर्कप्रयुक्तसत्त्वोत्कर्षापकर्षरूपशुद्धितारतम्ययुक्तसुखरूपान्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बिततया विषयानन्दभावे च तमोगुणरूपोपाधिमालिन्यतारतम्यदोषादपकर्षस्तारतम्येनाऽध्यस्यते इति संसारदशायां प्रकाशमानेऽप्यानन्दे अध्यस्तापकर्षतारतम्येन सातिशयत्वादतृप्तिः। विशो-

उत्कृष्ट एक ही श्वेत रूपके—मालिन्यके तारतम्यसे युक्त अनेक दर्पणोंमें—प्रतिबिम्बित होनेपर उपाधिकी मलिनताके तारतम्यसे तत्-तत् प्रतिबिम्बमें धवलताका अपकर्ष तारतम्यसे अध्यस्त होता है, वैसे ही वस्तुतः निरतिशय एक ही स्वरूपानन्दके अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित होनेके कारण साक्षीरूप आनन्दभावके प्राप्त होनेपर और पूर्व पुण्यके परिपाकके अधीन विषयविशेषके सम्पर्कसे हुए सत्त्वके उत्कर्ष और अपकर्षसे शुद्धिके तारतम्यसे युक्त सुखाकार वृत्तियोंमें प्रतिबिम्बित होनेके कारण विषयानन्दत्वके प्राप्त होनेपर † तमोगुणरूप उपाधिकी मलिनताके तारतम्यदोषसे अपकर्ष भी तारतम्यसे अध्यस्त होता है। इसलिए संसारदशामें * आनन्दके प्रकाशित होनेपर भी अध्यस्त अपकर्षके तारतम्यसे

परिणामरूप वृत्तियाँ स्वरूपानन्दविषयक होंगी, तो अवश्य उत्कर्ष और अपकर्षसे युक्त होंगी, अतः उनमें पड़ा हुआ आनन्दका प्रतिबिम्ब भी उत्कृष्ट और अपकृष्ट अवश्य होगा। इसलिए संसारदशामें प्रकाशमान आनन्दके उत्कर्षापकर्षसे युक्त होनेसे सातिशय होनेके कारण तृप्ति नहीं होती है। और मुक्तिदशामें इस प्रकार सातिशयत्व न होनेसे तृप्ति ही रहती है, अतः विशेषकी उपपत्ति हो सकती है, यह तात्पर्य है।

† अन्तःकरणके सत्त्व, रज और तम स्वरूप होनेसे उसकी वृत्तिमें भी तमोगुणकी अनुवृत्ति अवश्य होगी, और उसी तमोगुणसे अपकर्षतारतम्यात्मक मालिन्यतारतम्यदोष वृत्तिनिष्ठ भी होगा, इसी दोषके बलसे सत्त्ववृत्तिके प्रतिबिम्बमें भी अर्थात् विषयानन्दमें भी तारतम्य अध्यस्त होता है, यह भाव है।

* संसारदशामें जो प्रकाशमान आनन्दमें अपकर्षतारतम्य अध्यस्त होता है, उससे वह आनन्द सातिशय होगा, इस अवस्थामें जो अत्यन्त साधारण आनन्दका अनुभव कर रहा है, वह अवश्य उत्कृष्ट आनन्दकी अभिलाषा करेगा और उसके सम्पादन करनेमें जीतोड़ यत्न करता हुआ आनन्दसाधनत्वकी भ्रान्तिसे कदाचित् दुःखके साधनोंमें भी प्रवृत्त होकर अनेक योनियोंमें जन्मप्रयुक्त दुःखकी—अनर्थकी—ही प्राप्ति करेगा, अतः कभी भी दुःखके निवृत्त न होनेसे उसे तृप्ति नहीं होगी, यह भाव है।

दये निखिलापकर्षाध्यासनिवृत्तेरारोपितसातिशयत्वापायात् कृतकृत्यतेति विशेषोपपत्तेः निरुपाधिकप्रेमगोचरतया प्रकाशमानस्साक्ष्यानन्दोऽनावृत एवेति ।

सुखांशोऽस्यावृतो नाऽस्ति न भातीत्यनुभूतितः ।
चिदंशोऽनावृतो वृत्त्या सौख्यव्यक्तिरितीतरे ॥१००॥

साक्षीका सुखांश आवृत रहता है, क्योंकि 'हममें आनन्द नहीं है, आनन्द नहीं भासता है' ऐसा अनुभव होता है। और साक्षीका चिदंश तो अनावृत है। सुखकी अभिव्यक्ति—प्रकाश—अन्तःकरणकी वृत्तिसे होती है, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं ॥ १०० ॥

अन्ये तु—प्रकाशमानोऽप्यानन्दो 'मयि नास्ति, न प्रकाशते' इत्या-

---

सातिशयता होनेके कारण तृप्ति नहीं होती है। विद्याका आविर्भाव होनेके पीछे, तो सम्पूर्ण अपकर्षाध्यासकी निवृत्ति होनेसे आरोपित सातिशयत्वका निरास होनेसे कृतकृत्यता † होती है, इस प्रकार संसार और मुक्तिमें विशेष हो सकता है, अतः निरुपाधिक प्रेमकी विषयता होनेसे प्रकाशमान साक्षीरूप आनन्द अनावृत ही है।

* कुछ लोग यह कहते हैं कि यद्यपि आनन्द प्रकाशमान है, तथापि

---

† ज्ञानसे मूलाज्ञानकी निवृत्ति होनेसे मूलाज्ञानके कार्यकी भी अवश्य निवृत्ति होगी, इससे तत्कृत अपकर्ष आदि अध्यासकी निवृत्ति हो जानेसे मुक्तिदशामें कृतकृत्यता है। कृतकृत्यता-शब्दका अर्थ है—कृत्यम्—कर्तव्यजातम्, कृतम्—सम्पादितं येन, इस प्रकारकी व्युत्पत्तिसे—जिसने अपना वास्तविक कर्तव्य सम्पादन कर लिया है, ऐसा पुरुष। तात्पर्य यह है कि पुरुषको जब तक ज्ञान नहीं हुआ है, तब तक दुःखकी निवृत्ति या सुखकी प्राप्तिके लिए अनेक प्रकारके यत्न करने पड़ते हैं और विद्याके उदित होनेपर तो सम्पूर्ण दुःखोंके विनष्ट होनेसे उत्कृष्ट धवल रूपका जैसे निर्मल दर्पणमें आविर्भाव होता है, वैसे ही—निरतिशय ब्रह्मस्वरूप आनन्दका आविर्भाव होता है, अतः दुःखकी निवृत्ति या सुखकी प्राप्तिके लिए कोई यत्नकी आवश्यकता नहीं रहती है। इसीलिए भगवान् पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्रने गीतामें कहा है कि—

'एतद् बुध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत।'

अर्थात् हे अर्जुन! निरतिशय ब्रह्मस्वरूप आनन्दको अपरोक्षरूपसे जानकर बुद्धिमान् (पण्डित) और कृतकृत्य हो जाता है, यह इसका भाव है।

* इन लोगोंके मतमें पूर्वमतसे यह भेद है—साक्षीरूप चैतन्यको अनावृत माननेपर तदभिन्न आनन्द भी प्रकाशित होगा, अतः संसार और मुक्तिमें कोई विशेष नहीं होगा, इस आक्षेपके समाधानमें अद्वैतविद्याचार्यने कहा है कि साक्षीरूप आनन्दको अनावृत मानें, तो

वरणानुभवात् आवृत एव। एकस्मिन्नपि साक्षिण्यविद्याकल्पितरूपभेद-सम्भवेन चैतन्यरूपेणाऽनावरणस्याऽऽनन्दरूपेणाऽऽवरणस्य चाऽविरोधात्। स्वरूपप्रकाशस्याऽऽवरणनिवर्तकतया प्रकाशमाने आवरणस्याऽविरोधाच्च। 'त्वदु-

'मयि नास्ति, न प्रकाशते' (मेरेमें वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्मस्वरूप आनन्द नहीं है, हमें उस आनन्दका प्रकाश नहीं होता है) इस प्रकारसे आवरणका अनुभव होनेसे आवृत ही है। यद्यपि साक्षी एक है, तो भी अविद्यासे कल्पित रूपभेदके होनेसे चैतन्यरूपसे अनावरण और आनन्दरूपसे आवरणके होनेमें कोई विरोध नहीं है। और [आगन्तुक वृत्तिरूप प्रकाशके ही आवरणका विरोधी होनेसे] स्वरूपप्रकाश आवरणका निवर्तक नहीं है, अतः स्वरूपके प्रकाश-मान होनेपर भी आवरणका विरोध† नहीं है। 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि'

भी संसार और मुक्तिमें विशेषता हो सकती है, इस मतमें साक्षीरूप आनन्दको आवृत मानकर पूर्वोक्त आक्षेपका परिहार करके संसार और मोक्षमें भिन्नताका प्रतिपादन किया गया है, साक्षीरूप आनन्दको आवृत माननेसे ही यह प्रतीति उपपन्न होती है—'वेदान्तप्रतिपाद्य स्वरूपानन्द मुझमें नहीं है और प्रकाशित नहीं होता है', यदि उसे आवृत न मानें, तो व्यवहारमें अतिप्रसिद्ध इस प्रतीतिका लोप प्राप्त होगा, इसलिए आनन्दके प्रकाशमान होनेपर भी संसारदशामें उसे आवृत मानना और मुक्तिमें आवरणके विध्वस्त होनेसे उस परिपूर्णानन्दका स्फुरण मानना चाहिए। इसमें यह शङ्का अवश्य होती है कि यदि उसे आवृत मानें तो अनौपाधिक प्रेमविषयत्व आत्मामें सदा नहीं होगा, क्योंकि वृत्ति द्वारा हुआ आनन्दका स्फुरण कादाचित्क हुआ करता है, परन्तु यह शङ्का अयुक्त है, क्योंकि आवृत्त और प्रकाशमान आनन्दमें फलबलसे निरुपाधिक प्रेमविषयत्वकी कल्पना करते हैं। इसीसे 'भासते एव परमप्रेमास्पदत्वलक्षणं सुखम्' (परम प्रेमास्पदत्वरूप सुख भासता है) इस विवरणके वचनका भी इसीमें तात्पर्य है। इसी अभिप्रायसे 'प्रकाशमान' यह आनन्दका विशेषण दिया गया है, अन्यथा प्रकाशमान आनन्दको आवृत मानना अतिविरुद्ध होगा यह भाव है।

† तात्पर्य यह है कि जैसे वस्तुस्थितिमें एक ही चैतन्यमें जीवत्व और ईश्वरत्व रूप दो धर्म माने जाते हैं, क्योंकि 'मैं ईश्वर नहीं हूँ, किन्तु संसारी हूँ' और 'मैं साक्षात् परमात्मा हूँ संसारी नहीं हूँ' ऐसा अवस्थाभेदसे व्यवहार होता है, वैसे ही 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि ज्ञान आनन्द नहीं है, इस रूपसे अहङ्कारके अवभासके ज्ञानका आनन्दसे भेद-व्यवहार होता है, इसलिए चित्त्व और आनन्दत्व दो स्वरूप चैतन्यमें मानने ही चाहिएँ। इसी प्रकार जैसे एक ही चैतन्यमें जीवत्वावच्छेदेन अज्ञान और ईश्वरत्वावच्छेदेन अज्ञानके अभावकी कल्पना की जाती है, वैसे ही अहंकारके अवभासक चित्‌में आनन्दावच्छेदेन आवृतत्व और चित्त्वा-वच्छेदेन अनावृतत्वकी कल्पना फलके अनुसार करनी चाहिए।

क्तमर्थं न जानामि' इति प्रकाशमाने एवाऽऽवरणदर्शनाच्च। न च तत्राऽनावृत-सामान्याकारावच्छेदेन विशेषावरणमेवाऽनुभूयते इति वाच्यम्, अन्यावरण-स्याऽन्यावच्छेदेन भानेऽतिप्रसङ्गात्। न च सामान्यविशेषभावो नियामक इति नाऽतिप्रसङ्ग इति वाच्यम्, व्याप्यव्यापकभावातिरिक्तसामान्यविशेष-भावाभावेन 'वह्निं न जानामि' इति धूमावरकाज्ञानानुभवप्रसङ्गात्। तस्माद्यदवच्छिन्नमज्ञानं प्रकाशते, तदेवाऽऽवृतमिति प्रकाशमानेऽप्यज्ञानं

(तुमसे कथित अर्थको मैं नहीं जानता हूँ) इत्यादि स्थलमें सामान्यरूपसे आत्माके प्रकाश होनेपर भी आवरण देखा जाता है। इस विषयमें शङ्का होती है कि *'त्वदुक्तमर्थं०' इत्यादि स्थलमें आवरणरहित जो सामान्य आकार है, तदवच्छेदेन विशेषके आवरणका अनुभव होता है, प्रकाशमान सामान्यमें सामान्यका आवरण अनुभूत नहीं होता है, परन्तु यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि अन्यके आवरणका अन्यावच्छेदेन भान नहीं होता है। इसपर यदि यह शङ्का की जाय कि सामान्यविशेषभाव नियामक है, अतः दोष नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस विषयमें यह प्रष्टव्य होता है कि सामान्य-विशेषभाव, क्या व्याप्य-व्यापकभावरूप है, या उससे अतिरिक्त है। द्वितीय पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि व्याप्यव्यापकभावसे अतिरिक्त सामान्यविशेषभावका निरूपण ही नहीं कर सकते हैं, यदि व्याप्यव्यापकभावरूप ही सामान्यविशेष भाव माना जाय, तो 'वह्निको मैं नहीं जानता हूँ' इस प्रकार वह्निके आवारक अज्ञानके अनुभवस्थलमें धूमके आवारक अज्ञानका भी अनुभव प्राप्त होगा। इससे यदवच्छिन्न (जिस वस्तुसे विशेषित) अज्ञान प्रकाशित होता हो, वही वस्तु आवृत होती है, ऐसा मानना चाहिए, अतः वस्तुके प्रकाशमान होनेपर भी

* गुरुने किसी एक शिष्यको उपदेश दिया—'आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र परमात्मा ही वेदान्तोंसे ज्ञातव्य है और वह परमात्मा दुर्जनोंसे नहीं जाना जाता है।' परन्तु इसपर भी मन्द शिष्यको अज्ञान रहता है कि आपने जिस परमात्माके विषयमें उपदेश दिया है, उसे मैं नहीं जानता। शिष्यका तात्पर्य यह है कि महाराज! आप्त वाक्य होनेसे आपके वाक्यका सामान्यतः कुछ अर्थ तो है, किन्तु वह विशेष रूपसे प्रतीत नहीं होता है, इससे उक्त वाक्यसे वाक्यार्थत्वरूपसे सामान्य आकारके ज्ञात होनेपर भी वही सामान्य आकार विशेष वस्तुके आवारक अज्ञानके विषयरूपसे प्रकाशित होता है। इसलिए 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि' इत्यादिमें, जो आवरणका विषय है, वह प्रकाशमान नहीं है और जो प्रकाशमान है, वह आवरणका विषय नहीं है, अतः उक्त अनुभव प्रकाशमान वस्तुके आवृतत्वमें प्रमाण नहीं है, यह शङ्का करनेवालेका भाव है।

युज्यते। अज्ञानं च यथा साक्ष्यंशं विहाय चैतन्यमावृणोति, एवमानन्दमपि तत्तत्सुखरूपवृत्तिकवलीकृतं विहायैवाऽऽवृणोति। स एव वैषयिकानन्दस्याऽऽवरणाभिभवः। स चाऽऽवरणाभिभवः प्रत्यूषसमये बाह्याऽऽवरणाऽभिभववत् कारणविशेषप्रयुक्तवृत्तिविशेषवशात्तरतमभावेन भवति। अतः स्वरूपानन्दविषयानन्दयोः विषयानन्दानां च परस्परभेदसिद्धिरिति वदन्ति। सर्वथाऽपि साक्षिचैतन्यस्याऽनावृतत्वेनाऽऽवरणाभिभवार्थं वृत्तिमनपेक्ष्यैव तेनाऽहङ्कारादिप्रकाशनमिति तुल्यमेव ॥१६॥

अहङ्कारादिनः साक्षिभास्यस्य स्मरणं कथम्।
सूक्ष्मावस्था हि संस्कारो वृत्तीनां स्यान्न साक्षिणः ॥१०१॥

साक्षीसे प्रकाशित होनेवाले अहंकार आदिका स्मरण कैसे होगा? सूक्ष्मावस्थारूप संस्कार वृत्तियोंका हो सकता है, साक्षीरूप नित्य चैतन्यका नहीं हो सकता है [और संस्कारके बिना स्मरण नहीं होता है] ॥१०१॥

तद्विषयक अज्ञान रहता है, यह युक्त है। जैसे अज्ञान साक्षी अंशका त्यागकर अन्य चैतन्यका आवरण करता है, वैसे ही तत्-तत् सुखरूप वृत्तिके विषयीभूत आनन्दका परित्यागकर अन्य आनन्दको ही आवृत करता है। यही अर्थात् सुखवृत्तिविषयत्वनिबन्धन अनावरकत्वस्वभाव ही—विषयप्रयुक्त आनन्दका (वृत्तिकृत) आवरणाभिभव है। जैसे उषाकालमें सूर्यके प्रकाशके तारतम्यसे बाह्य अन्धकारका अभिभव होता है, वैसे ही वृत्तिकृत वह आवरणाभिभव भी विषयविशेषरूप कारणविशेषसे जन्य वृत्तिविशेषके आधारपर ही उत्कर्ष और अपकर्षरूप तारतम्यसे युक्त होता है। इसीसे * स्वरूपानन्द, विषयानन्दका एवं अनेक विषयानन्दोंका परस्पर भेद सिद्ध होता है, ऐसा कहा जाता है। साक्षीरूप चैतन्यके किसी अंशसे आवृत न होनेके कारण आवरणाभिभवके लिए वृत्तिकी अपेक्षा न करके ही उस साक्षीसे अहंकार आदिका प्रकाश होता है, यह तो दोनोंके † मतमें समान है ॥ १६ ॥

---

* इसीसे अर्थात् वस्तुतः आनन्दके एक होनेपर भी उपाधियुक्त आनन्दका भेद माननेसे ही स्वरूपानन्द आदिका भेद होता है। तात्पर्य यह है कि विद्यासे आवरणकी निवृत्ति होनेसे प्रकाशमान आनन्द स्वरूपानन्द है, और अविद्याकी अनिवृत्तिदशामें वृत्तिके सम्बन्धसे प्रकाशमान आनन्द विषयानन्द कहा जाता है, इसी प्रकार वृत्तियोंके अनेक होनेसे विषयानन्द भी अनेक होते हैं, अतः विषयानन्दोंका भी परस्पर भेद है, यह जानना चाहिए।

† स्वरूपानन्दके आवृतत्व पक्षमें अथवा अनावृतत्व पक्षमें, यह अर्थ है।

नन्वेवं कथमहङ्कारादीनामनुसन्धानम्, ज्ञानसूक्ष्मावस्थारूपस्य संस्कारस्य ज्ञाने सत्ययोगेन नित्येन साक्षिणा तदाधानासम्भवात्।

शृणु यद्वृत्त्यवच्छिन्नसाक्षिणा यत् प्रकाश्यते।
तत्संस्कारे हि सा धत्ते न त्वाकारव्यवस्थया ॥१०२॥

सुनो, जिस वृत्तिसे अवच्छिन्न साक्षीसे जिस वस्तुका प्रकाश होता है, वह वृत्ति उस विषयके संस्कारको पैदा करती है, आकारव्यवस्थासे संस्कारको पैदा नहीं करती है। अर्थात् जिसके आकारमें परिणत जो वृत्ति हो, वह उसीका संस्कार उत्पन्न करे, ऐसा नियम नहीं है ॥ १०२ ॥

अन्ये तु विषयाकारवृत्तिस्थानित्यसाक्षिणा।
त्रिपुटीभासिनाऽऽधानात् संस्कारस्य स्मृतिं जगुः॥१०३॥

इतर लोग कहते हैं कि विषयाकार वृत्तिमें प्रतिफलित त्रिपुटीको प्रकाशित करनेवाले अनित्य साक्षीसे ही संस्कारके आधानसे स्मृति उत्पन्न होती है ॥ १०३ ॥

यदि अहंकार आदिके अवभासमें अन्तःकरणकी अहङ्काराद्याकार वृत्ति न मानी जाय, तो अहङ्कार आदिका स्मरण कैसे होगा ? क्योंकि ज्ञानकी सूक्ष्म अवस्थारूप संस्कारके ज्ञानके अस्तित्वमें सम्भव न होनेसे नित्य साक्षीसे संस्कारकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। [तात्पर्यार्थ यह है कि वस्तुका अनुभव होनेसे उस अनुभवसे संस्कार उत्पन्न होते हैं, और उसी संस्कारसे कालान्तरमें उस वस्तुका स्मरण होता है। सिद्धान्तमें अनुभवके विनाशको अर्थात् अनुभवकी सूक्ष्मावस्थाको ही संस्कार माना है, इसलिए साक्षीकी जब तक अवस्थिति रहेगी तब तक उसका विनाश—सूक्ष्मावस्था—नहीं हो सकती है, और साक्षी तो स्वयं नित्य है, अतः उसकी किसी समयमें भी सूक्ष्मावस्था या विनाश होनेवाला ही नहीं, अतः संस्कारका अभाव होनेसे अहङ्कार आदिके स्मरणका सम्भव नहीं है। आवरणाभिभवके लिए अहङ्कार आदि गोचर अन्तःकरणकी वृत्ति भले ही न हो। परन्तु स्मरणकी उपपत्तिके लिए तो अवश्य अन्तःकरणकी वृत्ति माननी ही चाहिए]।

अत्र केचिदाहुः—स्वसंसृष्टेन साक्षिणा सदा भास्यमानोऽहङ्कारस्तत्तद्-घटादिविषयवृत्त्याकारपरिणतस्वावच्छिन्नेनापि साक्षिणा भास्यते इति तस्याऽनित्यत्वात् सम्भवति संस्काराधानं घटादौ विषये इव। नहि स्वाकारवृत्त्यवच्छिन्नसाक्षिणैव स्वगोचरसंस्काराधानमिति नियमोऽस्ति। तथा सति वृत्तिगोचरसंस्कारासम्भवेन वृत्तेरस्मरणप्रसङ्गात्। अनवस्था-

इस आक्षेपके समाधानमें कुछ लोग कहते हैं कि अहङ्कारके साथ सम्बद्ध साक्षीसे सर्वदा भासमान अहङ्कार तत्–तत् घट आदि विषयक वृत्तिके आकारसे परिणत अहङ्कारावच्छिन्न साक्षीसे भी भासमान होता है, अतः घटादिविषयक वृत्तिसे अवच्छिन्न साक्षी चैतन्यके अनित्य होनेके कारण घटादि विषयमें संस्काराधानके समान अहङ्कारमें भी संस्कारका आधान होता है। [तात्पर्यार्थ यह है कि अहङ्कार आदिकी स्मरणोपपत्तिके लिए अहङ्कार आदि विषयक अन्तःकरणवृत्ति माननेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसके विना भी संस्कारकी उत्पत्ति द्वारा अहङ्कारादिका अनुसन्धान हो सकता है, कारण कि जैसे अहङ्कार साक्षीसे भासता है, वैसे ही घट, पट आदि विषयाकार वृत्ति प्रतिबिम्बित साक्षीसे भी भासता है, अतः वृत्त्यवच्छिन्न साक्षीरूप चैतन्यके वृत्तिप्रयुक्त अनित्य होनेसे उसकी सूक्ष्मावस्था हो सकती है, इसलिए सूक्ष्मा-वस्थारूप संस्कार द्वारा अहङ्कार आदिके स्मरण होनेमें कोई बाधक नहीं है, क्योंकि अनित्य होनेसे घटादिविषयक वृत्त्यवच्छिन्न साक्षीरूप चैतन्य जैसे घटादि विषयोंमें संस्कारोंका आधान करता है, वैसे ही उसी वृत्त्यवच्छिन्न साक्षी रूप चैतन्यसे अहङ्कार आदिमें भी संस्काराधान कर सकता है]। कारण कि यह नियम नहीं है—स्वाकारवृत्त्यवच्छिन्न साक्षीसे ही स्वविषयक संस्कारका आधान हो, क्योंकि ऐसा माननेसे वृत्तिगोचर संस्कारके असम्भव होनेसे वृत्तिका स्मरण भी* नहीं होगा,

* तात्पर्य यह है कि दृष्टके अनुसार ही किसी वस्तुकी कल्पना होती है, दृष्ट विरुद्ध नहीं होती, अतः अहङ्कारसे भिन्न घट आदि स्थलोंमें घटाकार वृत्तिसे युक्त चैतन्यसे ही घटका संस्कार उत्पन्न होता है, यह देखा जाता है। इसलिए यही नियम लब्ध होता है कि स्वगोचरवृत्तिसे ही स्वगोचर संस्कारोंका आधान होता है, स्वशब्द प्रकृतमें घटादिपरक है। इस परिस्थितिमें कैसे मान सकते हैं कि अहङ्कारमें अन्य वृत्तिसे संस्कार उत्पन्न होते हैं? इस शङ्काके समाधानमें कहते हैं कि यद्यपि दृष्टानुसारी ही कल्पना होती है, तथापि इस नियममें कोई प्रमाण नहीं है, जिससे कि वह नियम माना जाय। यदि नियम मानो, तो वृत्तिकी स्मृतिके

पत्त्या वृत्तिगोचरवृत्त्यन्तरस्याऽनुव्यवसायनिरसनेन निरस्तत्वात्। किन्तु यद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्येन यत् प्रकाशते, तद्वृत्त्या तद्गोचरसंस्काराधानमित्येव नियमः। एवं च ज्ञानसुखादयोऽप्यन्तःकरणवृत्तयः तप्तायः-

कारण कि अनवस्थाके भयसे वृत्तिगोचर अन्य वृत्तिका अनुव्यवसायके निराससे निरास किया गया है, किन्तु जिस वृत्तिसे युक्त चैतन्यसे जिसका प्रकाश होता हो, उस वृत्तिसे उस वस्तुके संस्कारोंका आधान होता है, ऐसा ही नियम है †। इससे तपे हुए लोहेके पिण्डसे निकलते हुए विस्फुलिङ्गका—जैसे

लिए अन्य वृत्ति माननी पड़ेगी, इस अवस्थामें अनवस्थासे अतिरिक्त कुछ हाथ नहीं लगेगा, क्योंकि जैसे प्रथम वृत्तिके स्मरण आदिके लिए द्वितीय वृत्ति मानेंगे, वैसे ही द्वितीय वृत्तिके स्मरणके लिए तृतीय वृत्ति और तृतीय वृत्तिके स्मरणके लिए चतुर्थ वृत्ति, इस क्रमसे अनवस्था प्रसक्त होगी। अनवस्थाशब्दका अर्थ है अप्रामाणिक-अनन्तपदार्थकल्पनाप्रयुक्तअनिष्ट प्रसङ्ग अथवा क्लृप्त वस्तुसे सजातीय वस्तुओंकी परम्पराकी कल्पनाके विरामका अभाव, इसलिए वृत्तिगोचर अन्य वृत्ति नहीं मान सकते हैं, अतः प्रकृतमें उक्त शङ्काका स्थान है नहीं।

† इस नियमका भाव यह है—यह बात पूर्वमें ही कही जा चुकी है कि अप्रयोजक होनेसे स्वाकार वृत्तिसे युक्त साक्षीसे ही स्वगोचर संस्कारोंका आधान होता है, यह नियम नहीं है, किन्तु जिस वस्तुके आकारमें परिणत वृत्तिमें प्रतिफलित चैतन्यमें जितनी वस्तुओंका आभास होता हो, उस वस्तुके आकारमें परिणत वृत्तिसे प्रकाशित सम्पूर्ण वस्तुओंमें संस्कारोंका आधान होता है। घटाकार वृत्तिसे अवच्छिन्न चैतन्यमें पटका प्रकाश नहीं होता है, अतः उस वृत्तिसे पटके संस्कारका आधान नहीं होता है, इसलिए पूर्वोक्त अतिसंकुचित नियम माननेकी आवश्यकता नहीं है। घटाद्याकार वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यमें अहङ्कारका भी प्रकाश होता है, इस विषयका निरूपण मूलमें ही 'स्वसंसृष्ट' इत्यादि ग्रन्थसे किया गया है, अतः अहङ्कार-गोचर संस्कारका आधान होगा। प्रकृतमें और एक शङ्का होती है कि यद्यपि अहङ्कार आदिका उक्त वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यसे प्रकाश होनेसे तद्गोचर संस्कारका आधान हो सकता है, तथापि उक्त चैतन्यसे वृत्तिका तथा सुख और दुःख आदिका प्रकाशन नहीं होनेसे उससे वृत्ति आदिमें संस्कारका आधान कैसे होगा ? इस शङ्काके समाधानार्थ यदि वृत्ति आदि गोचर वृत्ति मानी जायगी, तो अनवस्था प्रसक्त होगी ? और यदि वृत्ति आदिकी वृत्तियोंको क्रियारूप न मानकर ज्ञानरूप स्वीकार करके अनवस्थाका परिहार किया जाय, तो भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञानरूप वृत्तिका उत्पादक ही कोई नहीं है—मन ज्ञानका करण नहीं है, इसका आगे विचार किया जायगा, क्रियारूप मानेंगे, तो अनवस्थापिशाचिनी अवश्य उतरेगी, इससे वृत्ति आदिके संस्कारोंकी अनुपपत्तिका प्रसङ्ग कैसे हटेगा ? इसपर 'एवं च' इत्यादि ग्रन्थसे परिहार करते हैं। भाव यह है कि अन्तःकरणमें जिन-जिन वृत्तियोंका उद्भव होता है, वे चाहे ज्ञानरूप हों या ज्ञानरूप न हो, परन्तु वे सबकी-सब स्वसे (अहङ्कार या ज्ञान) और स्व

पिण्डाद् व्युचरन्तो विस्फुलिङ्गा इव स्वस्वावच्छिन्नेन वह्निनेव स्वस्वावच्छिन्नेनाऽनित्येन साक्षिणा भास्यन्ते इति युक्तं तेष्वपि संस्काराधानम् । यस्तु—

'घटैकाकारधीस्था चिद् घटमेवाऽवभासयेत् ।
घटस्य ज्ञातता ब्रह्मचैतन्येनावभासते ॥ ४ ॥'

इति कूटस्थदीपोक्तो विषयविशेषणस्य ज्ञानस्य विषयावच्छिन्नब्रह्मचैतन्यावभास्यत्वपक्षः, यश्च तत्त्वप्रदीपिकोक्तो ज्ञानेच्छादीनामनवच्छिन्नशुद्धचैतन्यरूपनित्यसाक्षिभास्यत्वपक्षः, तयोरपि चैतन्यस्य स्वसंसृष्टापरोक्षरूपत्वाद् वृत्तिसंसर्गोऽवश्यं वाच्य इति तत्संसृष्टानित्यरूपसद्भावान्न तेषु संस्काराधाने काचिदनुपपत्तिरिति ।

विस्फुलिङ्गसे युक्त वह्निसे प्रकाश होता है, वैसे ही ज्ञान, सुख आदि अन्तःकरणवृत्तियोंका स्व-स्वावच्छिन्न ‡ अनित्य साक्षीसे प्रकाश होता है । अतः अहङ्कार आदिमें संस्कारोंका आधान युक्त ही है ।

जो कि—'घटैकाकारधीस्था०' (घटाकारवृत्तिमें स्थित चिदाभास अर्थात् घटाकारवृत्तिप्रतिबिम्बित घटज्ञान घटको ही प्रकाशित करता है और घटकी ज्ञातता [घटमें रहनेवाली घटज्ञानकी विषयता अर्थात् विषयतासम्बन्धेन विषयनिष्ठ ज्ञान] ब्रह्मचैतन्यसे ही प्रकाशित होती है) इस प्रकार कूटस्थदीपमें कहा गया—'विषयके विशेषणीभूत ज्ञानका विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्यसे प्रकाश होता है'—यह पक्ष और तत्त्वप्रदीपिकामें कहा गया—'ज्ञान, इच्छा आदि अनवच्छिन्न-शुद्ध चैतन्यरूप नित्य साक्षीसे प्रकाशित होते हैं'—यह पक्ष—इन दोनों पक्षोंमें भी चैतन्यके स्वसंसृष्ट वस्तुके अपरोक्ष ज्ञानरूप होनेसे वृत्तिका सम्बन्ध अवश्य अपेक्षित है, इसलिए इच्छा आदि-वृत्तिसे संसृष्ट साक्षीका अनित्यरूप होनेसे इच्छा आदिमें संस्कारके आधानमें कोई अनुपपत्ति नहीं है* ।

(वृत्तिसे) अवच्छिन्न चैतन्य साक्षीसे प्रकाशित होती हैं । चैतन्यके सचमुच नित्य होनेपर भी भास्यरूपसे अवच्छेदकरूपसे उत्पद्यमान अहङ्कार आदि धर्मोंके अनित्य होनेसे उन धर्मोंसे विशिष्ट उनका अवभासक चैतन्य अनित्य है, अतः उसकी सूक्ष्मावस्थारूप उन धर्मोंका संस्कार उत्पन्न हो सकता है, इसलिए वृत्ति आदिका स्वगोचर संस्कार द्वारा स्मरण हो सकता है ।

‡ प्रकृतमें स्वपदसे अहङ्कारका और द्वितीय स्वपदसे वृत्तिका ग्रहण है । यद्यपि साक्षी वस्तुतः नित्य है, तथापि औपाधिक अनित्यत्व उसमें है, यह भाव है ।

* प्रकृतमें शङ्काका भाव यह है कि ऊपरके 'घटैकाकार' इत्यादि कहे गये दो पक्षोंमें यह

अन्ये त्वविद्यावृत्त्यैव सौषुप्तस्मृतिक्लृप्तया ।
अहङ्कारादिभानेन संस्कारं सम्प्रचक्षते ॥ १०४ ॥

कोई लोग कहते हैं कि सुषुप्तिकालीन अविद्याकी स्मृतिमें क्लृप्त अविद्यावृत्तिसे ही अहंकार आदिका भान होनेसे उसीसे अहमर्थके संस्कारका आधान होता है ॥ १०४ ॥

अन्ये तु सुषुप्तावप्यविद्याद्यनुसन्धानसिद्धये कल्पितामविद्यावृत्तिमहमाकारामङ्गीकृत्याऽहमर्थे संस्कारमुपपादयन्ति ।

न चाऽस्मिन् पक्षे 'एतावन्तं कालमिदमहं पश्यन्नेवासम्' इति अन्यज्ञानधाराकालीनाहमर्थानुसन्धानानुपपत्तिः । अवच्छेदकभेदेन सुखदुःख-

---

* कुछ लोग—उठनेके बाद अविद्या आदिके स्मरणकी उपपत्तिके लिए सुषुप्ति अवस्थामें अहमाकार अविद्याकी वृत्तिको मान कर—अहमर्थमें संस्कारका उपपादन करते हैं। इसपर शङ्का होती है कि इस पक्षमें 'एतावन्तं कालम्' 'इतने समयतक मैं इसे देखता ही रहा' इस प्रकार अन्य वस्तुके ज्ञानकी धाराके कालके अहमर्थका अनुसन्धान (स्मरण) नहीं होगा ? क्योंकि एक

ज्ञात होता है कि ज्ञान, इच्छा आदिका अवभासक नित्य चैतन्य ही है, इसलिए उसकी सूक्ष्मावस्था न होनेके कारण उन ज्ञान आदिमें संस्कारोंका आधान नहीं हो सकेगा। यदि पूर्वोक्त रीतिसे ज्ञानादिको स्व-स्वावच्छिन्न साक्षिचैतन्यभास्य मानकर इन पक्षोंमें संस्कारोंका आधान माना जाय, तो 'ज्ञातताशब्दसे कहा जानेवाला घटादिगोचर वृत्तिप्रतिबिम्बित ज्ञान घटाकार वृत्तिसे अयुक्त विषयाधिष्ठानरूप ब्रह्मचैतन्यसे भास्य है' इस कथनसे विरोध होगा और ज्ञान, इच्छा आदि अनवच्छिन्न साक्षीसे भास्य हैं, इस द्वितीय पक्षके साथ भी विरोध होगा, अतः इन पक्षोंमें संस्कारोंका आधान कैसे होगा ? इसपर 'तयोरपि' इस ग्रन्थसे उत्तर देते हैं। सारांश यह है कि विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य ज्ञातताका अवभासक है, इस मतमें वह ब्रह्मचैतन्य ज्ञातताका अपरोक्षज्ञानरूप ही माना जाता है, क्योंकि 'यह घट ज्ञात है' इस प्रकार ज्ञातताका अपरोक्ष अवभास होता है। तथा अनवच्छिन्न शुद्ध चैतन्यको भी ज्ञान आदिका अपरोक्ष अवभासरूप मानना चाहिए, क्योंकि उन वृत्तियोंका भी अपरोक्ष भान होता है। इस परिस्थितिमें उक्त दो प्रकारके चैतन्यका स्वविषय ज्ञान, इच्छा आदिके साथ सम्बन्ध अवश्य होगा, क्योंकि जो अपरोक्ष ज्ञान होता है, वह अपने तादात्म्यापन्न विषयोंका अनुभवरूप है, ऐसा नियम है। इसलिए अपने विषयभूत ज्ञान, इच्छा आदिके विनाश समयमें ज्ञानादिसे विशिष्ट उक्त द्विविध चैतन्य भी अवश्य विनष्ट होगा, अतः चैतन्यविनाशरूप संस्कारका आधान, इन पक्षोंमें भी उपपन्न हो सकता है।

• इस मत में पूर्वमतसे विशेष यह है कि यदि 'स्वाकारवृत्तिसे ही संस्कारोंका आधान

यौगपद्यवद् वृत्तिद्वययौगपद्यस्याऽप्यविरोधेनाऽन्यज्ञानधाराकालेऽपि अह-
माकाराविद्यावृत्तिसन्तानसम्भवादिति ।

उपास्तिवन्मनोवृत्तिरियं न ज्ञानमिष्यते ।
प्रत्यभिज्ञा स्मृतिज्ञानं तत्तांश इति चापरे ॥ १०५ ॥

यह अहमाकारवृत्ति मनोवृत्ति है और वह उपासनाके समान ज्ञान नहीं है, प्रत्यभिज्ञा भी तत्तांशमें ही स्मृतिज्ञान है, अहमंशमें नहीं, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं ॥ १०५ ॥

कालमें दो वृत्तियाँ नहीं हो सकतीं, नहीं, यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि अवच्छेदक † सिर, पैर आदि देशके भेदसे जैसे सुख और दुःख दोनों एक ही समयमें माने जाते हैं, वैसे ही एक कालमें दो वृत्तियोंका स्वीकार करनेमें किसी प्रकारके विरोधके न होनेसे ज्ञानान्तरकी धाराके समयमें भी अहमाकार अविद्याकी वृत्तिका प्रवाह हो ‡ सकता है ।

होता है' यह नियम माना जाय, तो भी कोई अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि अविद्या वृत्तियोंसे, जो कि अहङ्कार और तद्धर्मोंको विषय करती हैं, अहङ्कार आदिमें संस्कारोंक आधान होगा। अविद्यावृत्ति अनुभवके योग्य नहीं है, अतः ज्ञान या संस्कारके लिए अन्य वृत्ति माननी नहीं पड़ेगी, इसलिए पूर्वोक्त अनवस्था भी नहीं होगी। सुषुप्तिमें अज्ञान आदिका अनुभव होनेसे अविद्यावृत्ति माननी भी पड़ती है, अतः यह कल्पना नवीन भी नहीं होगी। अहङ्काराकार अविद्यावृत्तिके स्वीकार करनेसे अहङ्कार आदि केवल साक्षीसे वेद्य हैं, इस सिद्धान्तके साथ विरोध होगा? नहीं, क्योंकि केवल साक्षिवेद्यत्वका अर्थ है—ज्ञानात्मकवृत्तिसे अनुपहित साक्षीसे वेद्य, फलत ज्ञानकारणसे जन्य न होनेके कारण अविद्यावृत्तिको ज्ञानरूप नहीं मानते हैं।

† अवच्छेदशब्दका प्रकृतमें अर्थ है—सप्तमीविभक्तिसे निर्देश्य विलक्षण विशेषण। प्रकृतमें 'शिरसि मे वेदना' 'पादे मे सुखम्' (माथेमें मुझे दर्द है, और पैरमें सुख है) इसमें 'शिरसि' और 'पादे' इस सप्तमी विभक्तिसे विलक्षण अवच्छेदक—विशेषण—कहा जाता है, अतः इन अवच्छेदकोंके भेदसे जैसे एक कालमें सुख और दुःख दोनों माने जाते हैं, वैसे ही एक कालमें अर्थात् अन्य ज्ञानधाराकालमें अन्य वस्तुविषयक अन्तःकरणकी वृत्ति और अहमाकार अविद्याकी वृत्ति प्रमातामें अवच्छेदकभेदसे मानेंगे। इसमें कोई विरोध नहीं है, यह तात्पर्य है।

‡ अर्थात् अन्तःकरणकी वृत्तियोंका जो प्रवाह है, वही धारा है, इसलिए तत्कालीन अविद्यावृत्ति भी सन्ततिरूप ही होगी, इस सम्भावनामात्रसे मूलमें 'अविद्यावृत्तिसन्तान' कहा गया है, यह भाव है।

अपरे तु—अहमाकारा वृत्तिरन्तःकरणवृत्तिरेव। किन्तु उपासनादिवृत्तिवन्न ज्ञानम्, क्लृप्ततत्करणाजन्यत्वात्। नहि तत्र चक्षुरादिप्रत्यक्षलक्षणं सम्भवति, न वा लिङ्गादिकम्। लिङ्गादिप्रतिसन्धानशून्यस्याऽप्यहङ्कारानुसन्धानदर्शनात्। नाऽपि मनः करणम्, तस्योपादानभूतस्य क्वचिदपि करणत्वाक्लृप्तेः। तर्हि अहमर्थप्रत्यभिज्ञाऽपि ज्ञानं न स्यादिति चेत्, न; तस्या अहमंशे ज्ञानत्वाभावेऽपि तत्तांशे स्मृतिकरणत्वेन क्लृप्तसंस्कार-

कुछ* लोग कहते हैं कि अहमाकार वृत्ति अन्तःकरणकी वृत्ति ही है, [अविद्याकी वृत्ति नहीं है] किन्तु अहमाकार अन्तःकरणकी वृत्ति उपासना आदि वृत्तियोंके समान ज्ञानरूप नहीं है, क्योंकि क्लृप्त जो ज्ञानके चक्षुरादि करण हैं, उनसे (वह वृत्ति) जन्य नहीं है। क्योंकि न तो उस वृत्तिमें चक्षु आदि इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष प्रमाण हैं और न हेतु आदि अनुमानादि प्रमाण हैं। तथा लिङ्गादि-ज्ञानके विरहकालमें भी अहमर्थका अनुसंधान होता है, इससे भी लिंगादि अन्तःकरणवृत्तिके कारण नहीं हैं। और मन भी ज्ञानका करण नहीं है, क्योंकि उसके उपादान होनेके कारण † किसी भी वृत्तिज्ञानका वह करण नहीं हो सकता है। इस परिस्थितिमें शङ्का होती है कि अन्तःकरणसे होनेवाली अहमर्थकी प्रत्यभिज्ञा भी ज्ञानात्मक नहीं होगी ? नहीं, यह भी शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि उस प्रत्यभिज्ञाके 'अहम्' अंशमें ज्ञानत्व न होनेपर भी तत्ता अंशमें ज्ञानत्व है, कारण कि स्मृतिके करणरूपसे

* इन लोगोंका कहना है कि जब अहमाकार अन्तःकरणकी वृत्तिसे ही अहमर्थमें संस्कारोंका आधान हो सकता है, तो अविद्याकी वृत्ति क्यों मानना ? यदि शङ्का हो कि सुख और दुःख तो एक कालमें हो सकते हैं, परन्तु एक कालमें दो ज्ञान नहीं हो सकते हैं, अतः अहमर्थगोचर अन्तःकरणवृत्ति अन्य ज्ञानकी धारा कालमें कैसे होगी, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जो अन्तःकरणकी अहमाकारवृत्ति संस्कारार्थ है, वह ज्ञानरूप नहीं है, अतः दोष नहीं है।

† जो जिस कार्यका उपादान होता है, वह उस कार्यका करण नहीं होता, क्योंकि करण वही होता है, जो व्यापारवान् होकर असाधारण कारण हो। घटकी उपादान कारण मृत्तिकामें घटकरणत्वका व्यवहार नहीं होता है, अतः अन्तःकरणवृत्तिके प्रति अन्तःकरण, जो उस वृत्तिका उपादान है, करण नहीं होगा, इस अभिमानसे मूलमें 'तस्योपादानभूतस्य' इत्यादिसे मनमें करणत्वका निरास करते हैं, यह भाव है।

जन्यतया ज्ञानत्वात्। अंशभेदेन ज्ञाने परोक्षत्वापरोक्षत्ववत् प्रमात्वा-प्रमात्ववच्च ज्ञानत्वाज्ञानत्वयोरपि अविरोधादित्याहुः।

इतरे ज्ञानमेवेयं मनसोऽपीन्द्रियत्वतः।
बाह्यार्थेष्वेव वृत्तीनामावृत्यभिभवः फलम्॥ १०६॥

मन भी इन्द्रिय है, अतः अहमर्थाकार मनकी वृत्ति ज्ञान ही है। और आवरणका विनाश करना वृत्तियोंका फल बाह्य अर्थोंमें ही है॥ १०६॥

इतरे तु—अहमाकाराऽपि वृत्तिर्ज्ञानमेव, 'मामहं जानामि' इत्यनुभवात्। न च करणासम्भवः, अनुभवानुसारेण मनस एवाऽन्तरिन्द्रियस्य करणत्वस्यापि कल्पनादित्याहुः॥१७॥

निश्चित संस्कारसे वह जन्य है। अंशके भेदसे † ज्ञानमें जैसे परोक्षत्व और अपरोक्षत्व माना है, और अंशके भेदसे प्रमात्व और अप्रमात्व माना जाता है, वैसे ही अंशके भेदसे ज्ञानत्व और अज्ञानत्वके एकत्र अवस्थानमें भी कोई विरोध नहीं है।

कुछ लोग तो यह कहते हैं कि अहमाकार अन्तःकरणकी वृत्ति ज्ञान ही है। कारण कि 'मामहम्०' (मैं अपनेको जानता हूँ) ऐसा अहमर्थाकार वृत्तिमें साक्षात् ज्ञानत्वका अनुभव होता है। परन्तु मनके करणत्वका तो निरास है? नहीं, क्योंकि अनुभवके अनुसार मनमें, जो कि अन्दरकी इन्द्रिय है, ज्ञान-करणत्वकी भी कल्पना की जा सकती है *॥ १७॥

---

† जैसे 'पर्वतो वह्निमान्' इत्यादि अनुमितिमें पर्वत अंशमें अपरोक्षत्व है और वह्नि अंशमें परोक्षत्व है, तथा 'इदं रजतम्' इसमें इदमंशमें प्रामाण्य है और रजत अंशमें अप्रामाण्य है, वैसे ही 'जिस मैंने स्वप्नमें श्रीकृष्णका अनुभव किया है, वही मैं इस समयमें उसका स्मरण करता हूँ' इस प्रत्यभिज्ञामें अहमंशमें ज्ञानत्वाभाव और तत्तांशमें ज्ञानत्वका स्वीकार किया जाता है, क्योंकि अनुभव वैसा ही होता है। प्रत्यभिज्ञा—संस्कार और इन्द्रिय दोनोंसे होनेवाला ज्ञान, यह भाव है।

* इस मतानुयायियोंका कहना है कि पूर्वकी टिप्पणीमें जिस प्रत्यभिज्ञाका उल्लेख किया है, उसको अहमर्थमें भी ज्ञान ही मानना चाहिए। अन्यथा सूत्र और भाष्यमें अन्तः-करणोपहित चैतन्यात्मक अहमर्थ जीवकी प्रत्यभिज्ञाके बलसे जो स्थायिताका साधन किया गया है, वह विरुद्ध होगा। इस अर्थमें प्रमाणभूत ब्रह्मसूत्र भी है—'अनुस्मृतेश्च' [अ० २ पा० २ सू० २५] अनुस्मृति—प्रत्यभिज्ञा। इसी प्रकार इस सूत्रके भाष्यमें कहा है—'य एवाऽहं पूर्वेद्युरद्राक्षम्, स एवाऽहमद्य स्मरामि' (जिस मैंने प्रथम दिन देखा था, वही

एवं सति बाह्यविषयापरोक्षवृत्तीनामेवावरणाभिभावकत्वनियमः पर्यवसन्नः ।

शुक्त्यादौ नन्विदंवृत्त्याऽऽवरणाभिभवो नहि ।
रूप्याध्यासाद्यसंसिद्धेरत्र केचित् प्रचक्षते ॥ १०७ ॥

परन्तु बाह्यवृत्तियोंका भी आवरणका अभिभव फल नहीं हो सकता है, क्योंकि शुक्तिरजतादि स्थलमें इदमाकार बाह्यवृत्तिसे अज्ञानका अभिभव नहीं देखा जाता है, यदि उक्त स्थलमें आवरणाभिभव फलको हठात् मानोगे, तो शुक्तिमें रजतका अध्यास ही सिद्ध नहीं होगा, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं ॥ १०७ ॥

ननु नाऽयमपि नियमः, शुक्तिरजतस्थले इदमाकारवृत्तेरज्ञानानभिभावकत्वात् । अन्यथोपादानाभावेन रजतोत्पत्त्ययोगादिति चेत्,

---

इस अवस्थामें अर्थात् अहमाकार अपरोक्ष वृत्तिके स्वीकार करनेपर यही नियम प्राप्त होता है कि बाह्यके घट आदि विषयाकारोंमें परिणत वृत्तियां ही आवरणकी अभिभावक हैं—विनाशक हैं ।

परन्तु यह भी नियम नहीं हो सकता है—बाह्यविषयगोचर अपरोक्ष-वृत्ति अज्ञानकी विनाशक है, क्योंकि शुक्तिरजतभ्रमस्थलमें इदमाकार (बाह्यगोचर) अपरोक्षवृत्तिके होनेपर भी वहां अज्ञानका विनाश नहीं होता

मैं आज स्मरण करता हूँ) इसलिए प्रत्यभिज्ञाके अहमर्थमें ज्ञानत्वाभावका कथन अयुक्त ही है । 'मैं अपने को जानता हूँ' इसमें अहमर्थ वृत्तिमें अतिस्फुट ज्ञानत्वका अनुभव होता है । 'बुद्धेः करणत्वाभ्युपगमात्' (अन्तःकरण करण माना जाता है) इस (ब्र० सू० अ० २ पा० ३ सू० ४० के) भाष्यके अनुसार मनको करण माननेमें कोई हानि भी नहीं है । इसीसे भाष्यकारने मनमें प्राणपादमें इन्द्रियत्वका साधन भी किया है । इस मतमें 'अज्ञान आदि केवल साक्षीसे भास्य हैं, यह सिद्धान्त भी अहमर्थव्यतिरिक्त अज्ञान, सुख आदि विषयक है । यदि मन इन्द्रिय माना जाय, तो रूपके प्रत्यक्षमें जैसे चक्षु प्रमाण है, वैसे अहमर्थमें वह भी प्रमाण हो जायगा, और वह हो नहीं सकता, क्योंकि अज्ञातज्ञापकत्वरूप (अज्ञात वस्तुका ज्ञापन) प्रमाणका लक्षण मनमें नहीं घटता है, कारण कि अहमर्थके अनावृत साक्षीरूप चैतन्यमें अध्यस्त होनेके कारण अहमर्थ अज्ञात नहीं है ? यह शङ्का नहीं हो सकती है, क्योंकि अबाधितानुभवत्व या तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्व ही प्रमात्व है, इस मतके अनुरोधसे मनको अहमाकार ज्ञानके प्रति करण माननेमें विरोध नहीं है, अतः अहमाकार ज्ञानको प्रमा और उसके करण मनको प्रमाण माननेमें हानि नहीं है ।

इदमाकारवृत्त्येदमंशे मोहक्षितावपि ।
शुक्त्याद्यंशेऽक्षितत्वेन रजताद्युद्भवस्ततः ॥ १०८ ॥
अत एव स्फुरन् भ्रान्तावाधार इदमंशकः ।
शुक्त्याद्यंशस्त्वधिष्ठानं सकार्यज्ञानगोचरः ॥ १०९ ॥

इदमाकार वृत्तिसे इदमंशमें आवरणका नाश होनेपर भी शुक्ति आदि अंशमें आवरणका विनाश न होनेसे उस अज्ञानसे रजतका उद्भव होता है। इसीसे भ्रान्तिमें स्फुरनेवाला इदमंश आधार है और रजतादिविक्षेपके साथ अज्ञानका विषय शुक्ति आदि अंश अधिष्ठान है ॥ १०८ ॥ १०९ ॥

अत्राहुः--इदमाकारवृत्त्या इदमंशाज्ञाननिवृत्तावपि शुक्तित्वादिविशेषांशाज्ञानानिवृत्तेः तदेव रजतोपादानम्, शुक्तित्वाद्यज्ञाने रजताध्यासस्य तद्भाने तदभावस्याऽनुभूयमानत्वात् । अध्यासभाष्यटीकाविवरणे अनुभूयमानान्वयव्यतिरेकस्यैवाऽज्ञानस्य रजताद्यध्यासोपादानत्वोक्तेः ।

है, [अतः व्यभिचार है] यदि इदमाकार वृत्तिको उक्त स्थलमें अज्ञानका अभिभावक मानेंगे, तो अज्ञानरूप रजतोपादानका अभाव होनेसे शुक्तिमें रजतकी उत्पत्ति ही नहीं हो सकेगी ?

इस आक्षेपके समाधानमें कोई कहते हैं कि इदमाकार वृत्तिसे इदमंशके अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर भी शुक्तित्व आदि विशेष-अंशके अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होनेसे वही विशेष अंशका अज्ञान रजत आदिका उपादान है, क्योंकि शुक्तित्व आदिके अज्ञानके होनेपर रजतका अध्यास होता है और शुक्तित्व आदिके अज्ञानके न होनेपर रजतका अध्यास नहीं होता है, इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक देखे जाते हैं। और अध्यासभाष्यकी पञ्चपादिका नामकी टीकाके विवरणमें *—जिसके अन्वय और व्यतिरेक अनुभूयमान हैं,

---

* श्रीपद्मपादाचार्यकृत पञ्चपादिका शाङ्करभाष्यकी टीका है, वह सम्पूर्ण भाष्यके ऊपर उपलब्ध नहीं होती। प्रकाशात्मयतिकृत विवरण इसकी टीका है, ये दोनों चतुःसूत्री तक मुद्रित हैं। इस विवरण में अन्वय और व्यतिरेकसे अज्ञान अध्यासका उपादान कारण माना गया है, वहाँकी कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं—

'ननु कथं मिथ्याऽज्ञानमध्यासस्योपादानम् ? तस्मिन् सति अध्यासस्योदयादसति चानुदयादिति ब्रूमः। ननु अध्यासस्य प्रतिबन्धकं तत्त्वज्ञानं तदभावश्चाज्ञानमिति प्रतिबन्धकाभाव

अत एव शुक्त्यंशोऽधिष्ठानम्, इदमंश आधारः। सविलासाज्ञानविषयोऽधिष्ठानम्, अतद्रूपोऽपि तद्रूपेणाऽऽरोप्यबुद्धौ स्फुरन्नाधार इति संक्षेपशारीरकेऽपि विवेचनादिति।

ऐसा—अज्ञान ही रजत आदि अध्यासके प्रति उपादान कहा गया है।

* इसीसे शुक्त्यंश अर्थात् शुक्तित्वरूप विशेषधर्मसे पुरोवर्ती पदार्थावच्छिन्न चैतन्य अधिष्ठान है और इदमंश आधार है। क्योंकि अधिष्ठानका अर्थ है—रजत आदि विक्षेपसे युक्त अज्ञानका विषय, और आधारशब्दका अर्थ है—तद्रूप न होनेपर भी तद्रूपसे आरोप्यबुद्धिमें स्फुरनेवाला अर्थात् सचमुच अध्यस्त रजत आदिरूप न होकर रजत आदिरूपसे रजतादि बुद्धिमें भासने-

विषयतयाऽज्ञानस्याऽध्यासेनाऽन्वयव्यतिरेकावन्यथासिद्धौ, नैतत्सारम्, पुष्कलकारणे हि सति कार्योत्पादविरोधि प्रतिबन्धकम्, न चाऽध्यासपुष्कलकारणे सति तत्त्वज्ञानोदयः, तस्मान्नान्वयव्यतिरेकौ प्रतिबन्धकाभावविषयौ, तथापि विरोधिसंसर्गाभाव इति चेत्……………मिथ्याज्ञानमेवाध्यासोपादानम्, नात्मान्तःकरणकाचादिदोषा इति सूक्ष्मम्, [द्रष्टव्य—भामती, आदि नवव्याख्यायुत शाङ्करभाष्य पृ० ८९ कलकत्ता मुद्रित] शङ्का—मिथ्याज्ञान अध्यासका उपादान कैसे है? समाधान—मिथ्याज्ञानके रहनेपर अध्यास होता है और न रहनेपर नहीं होता है, इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक ही प्रमाण हैं। शङ्का—अध्यासका प्रतिबन्धक तत्त्वज्ञान है और तत्त्वज्ञानका अभाव अज्ञान है, इस प्रकार प्रतिबन्धकाभावविषयक होनेसे अज्ञानके साथ अन्वय और व्यतिरेक अन्यथासिद्ध हैं? समाधान—नहीं, क्योंकि प्रतिबन्धकका अर्थ है-पुष्कल (सब) कारणके रहते कार्यकी उत्पत्तिमें विरोधी। और अध्यासके कारणोंके रहते तत्त्वज्ञान नहीं होता है, इससे उक्त अन्वय और व्यतिरेक प्रतिबन्धकाभावविषयक नहीं हैं, शङ्का—तथापि विरोधिसंसर्गाभावविषयक होंगे? नहीं………इत्यादिसे अनेक प्रकारकी आशङ्का करके अन्तमें स्थिर किया गया है कि अध्यासका उपादान कारण मिथ्या अज्ञान ही है, आत्मा, अन्तःकरण या काचादि दोष नहीं हैं, यह उपर्युक्त पङ्क्तियोंका आशय है।

* तात्पर्य यह है कि शुक्तित्व आदि धर्मोंसे विशिष्ट पुरोवर्ती पदार्थ ही यदि प्रातिभासिक रजतके कारण अज्ञानसे आवृत माना जाय, तो वह रजतत्वादि विशिष्ट द्रव्य अधिष्ठान होगा, इदन्त्वविशिष्ट इदमंश नहीं होगा, क्योंकि जो अज्ञानसे आवृत होता है, वही अधिष्ठान होता है, इस अवस्थामें अधिष्ठान और आरोप्यके एकज्ञानविषयत्व नियमसे 'शुक्ति रजत है' ऐसी प्रतीति होनी चाहिए, 'इदं रजतम्' यह प्रतीति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि इदमंश अधिष्ठान नहीं है, इसलिए अधिष्ठान और आधारका लक्षण पृथक् पृथक् करते हैं, इस परिस्थितिमें इस मतके अनुकूल यही नियम होगा कि आधार और आरोप्य (आरोपके विषय) ही एक ज्ञानके विषय होंगे, अधिष्ठान और आरोप्य नहीं।

अन्ये वृत्त्येदमज्ञानावरणांशपरिक्षयात् ।
विक्षेपांशेन रजतं जीवन्मुक्तौ जगद्यथा ॥ ११० ॥

कुछ लोग कहते हैं कि वृत्तिसे इदमंशके अज्ञानके आवरणांशके नष्ट होनेपर भी उसके विक्षेप अंशसे रजतकी उत्पत्ति होती है, जैसे जीवन्मुक्तिमें जगत् ॥ ११० ॥

अपरे तु—'इदं रजतम्' इति इदमंशसम्भिन्नत्वेन प्रतीयमानस्य रजतस्य इदमंशाज्ञानमेवोपादानम् । तस्य चेदमाकारवृत्त्या आवरणशक्तिमात्रनिवृत्तावपि विक्षेपशक्त्या सह तदनुवृत्तेः नोपादानत्वासम्भवः । जलप्रतिबिम्बितवृक्षाधोऽग्रत्वाध्यासे जीवन्मुक्त्यनुवृत्ते प्रपञ्चाध्यासे च सर्वा-

---

वाला, इस प्रकार अधिष्ठान और आधारका संक्षेपशारीरकमें भी विवेचन † किया गया है ?

‡ 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस प्रकार इदमंशके तादात्म्यरूपसे प्रतीयमान रजतके प्रति इदम् अंशका अज्ञान ही उपादान कारण है। इदमाकार वृत्तिसे उस अज्ञानकी आवरणशक्तिका विनाश होनेपर भी विक्षेपशक्तिके साथ उसकी निवृत्ति न होनेसे रजत आदिके प्रति वह उपादान माना जाय, तो भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि जलमें प्रतिबिम्बित वृक्षके अधोग्रत्वके (जिसका अग्रभाग नीचे है, ऐसे वृक्षके अधोग्रत्वके) अध्यासमें और जीवन्मुक्तिमें अनुवर्तमान प्रपञ्चके अध्यासमें सर्वांशसे * अधिष्ठानका साक्षात्कार

---

† संक्षेपशारीरकमें अधिष्ठान और आधारकी भिन्नताका सूचक एक श्लोकार्द्ध है, वह इस प्रकार है—

'संश्रिता सविलासमोहविषये वस्तुन्यधिष्ठानगी-
र्नाधारेऽध्यसनस्य वस्तुनि ततोऽस्थाने महान् संभ्रमः' इत्यादि । [अ० १ श्लोक ३१]

अर्थात् कार्यसे युक्त अज्ञानसे आवृत वस्तुमें ही अध्यासके अधिष्ठानका व्यवहार होता है, आधारमें—आरोप्य पदार्थके साथ तादात्म्यरूपसे प्रतीयमान वस्तुमें—नहीं होता है, यह इस श्लोकार्धका भाव है ।

‡ अधिष्ठान और आरोप्य दोनों ही एक ज्ञानके विषय होते हैं, यही मत भाष्यादि निबन्धोंसे ज्ञात होता है, इसलिए पूर्वोक्त मत सर्वसम्मत नहीं है, इस अरुचिसे 'अपरे तु' का मत कहते हैं ।

* रजत आदि भ्रमस्थलमें अधिष्ठानका सर्वात्मना साक्षात्कार नहीं होता है, क्योंकि शुक्तित्व आदि विशेषरूपसे शुक्तिका साक्षात्कार नहीं होता है, इसलिए शुक्तिरजतस्थलमें इदमंशके अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर भी विशेषांशके अज्ञानकी निवृत्ति न होनेसे उसमें अध्यासकी उपादानता

त्मना अधिष्ठानसाक्षात्कारानन्तरभाविन्यामावरणनिवृत्तावपि विक्षेपशक्ति-सहिताज्ञानमात्रस्योपादानत्वसम्प्रतिपत्तेरित्याहुः ।

नृसिंहभट्टोपाध्यायः पूर्वं रजतविभ्रमात् ।
न मानमिदमाकारवृत्ताविति समभ्यधात् ॥ १११ ॥

नृसिंहभट्टोपाध्यायने कहा है कि रजतभ्रमके पूर्वमें इदमाकार वृत्तिमें कोई प्रमाण नहीं है, [अतः वह अज्ञानकी निवर्तक है या नहीं, यह विचार ही असङ्गत है] ॥१११॥

कवितार्किकचक्रवर्तिनृसिंहभट्टोपाध्यायास्तु—'इदं रजतम्' इति भ्रम-रूपवृत्तिव्यतिरेकेण रजतोत्पत्तेः प्रागिदमाकारा वृत्तिरेव नास्तीति तस्या अज्ञाननिवर्तकत्वसदसद्भावविचारं निरालम्बनं मन्यन्ते ।

होनेके अनन्तर आवरणकी निवृत्ति होनेपर भी केवल विक्षेपशक्तिसे युक्त अज्ञान उपादान कारण माना जाता है, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं ।

† कवितार्किकचक्रवर्ती नृसिंहभट्टोपाध्याय तो—'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस स्थलमें भ्रमवृत्तिसे पृथक् रजतकी उत्पत्तिके पूर्वमें इदमाकार अन्य वृत्ति ही नहीं है, इससे इदमाकार वृत्तिमें अज्ञाननिवर्तकत्वका और अज्ञान-निवर्तकत्वाभावका विचार निरालम्बन ही है—ऐसा मानते हैं ।

हो सकती है । प्रतिविम्बविभ्रमस्थलमें—जलके किनारेके वृक्षोंका जलमें प्रतिविम्ब पड़ता है वहां जो वृक्षका अग्रभाग ऊपर है उसका जलमें नीचे भान होता है, इस स्थलमें—'जलमें वृक्ष नहीं है और वृक्षका अग्रभाग ऊपर ही है' इस प्रकार सर्वांशसे विशेष दर्शन होनेसे विशेषांशका अज्ञान निवृत्त नहीं है और सामान्यांशका निवृत्त है, इस प्रकार विभाग न होनेसे विशेषका अज्ञान उस प्रतिविम्बाध्यास में कारण है, ऐसा नहीं कह सकते हैं, इससे इस अध्यासके अनुरोधसे, यह कहना होगा कि एक ही अज्ञानके आवरणांशके निवृत्त होनेपर भी विक्षेपशक्तिवाले अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती है और यही अध्यासमें कारण है । इसी प्रकार जीवन्मुक्तिमें भी ब्रह्मतत्त्वके साक्षात्कारसे आवरणांशकी निवृत्ति होती है और विक्षेपशक्तिवाले अंशकी निवृत्ति नहीं होती है । यह मानना चाहिए, इसलिए रजताध्यासमें भी विक्षेपशक्तिसे युक्त इदमंशका अज्ञान ही कारण है, ऐसा मानना चाहिए, यह भाव है ।

† इनके मतमें जब पहले इदमाकार वृत्ति होती ही नहीं है, तो व्यभिचार-शङ्का और उसका समाधान करना व्यर्थ ही है, इसलिए पूर्वोक्त विचार निरर्थक है, यही पूर्वोक्त मतमें अरुचि है । पूर्वमतमें इदमाकार वृत्तिके होनेसे उस वृत्तिमें अभिव्यक्त चैतन्य ही शुक्तिरजतादि ज्ञान है, वृत्त्यात्मक ज्ञान नहीं है । और इस मतमें भ्रमसे पहले इदमाकार वृत्तिके न होनेसे वृत्तिरूप ही शुक्तिरजत ज्ञान है, ऐसा समझना चाहिए यह बात विशेषरूपसे आगे स्पष्ट होगी, यह भाव है ।

तथाहि—न तावत् भ्रमरूपवृत्तिव्यतिरेकेण इदमाकारा वृत्तिरनुभवसिद्धा; ज्ञानद्वित्वाननुभवात्। नाप्यधिष्ठानसामान्यज्ञानमध्यासकारणमिति कार्यकल्प्या; तस्यास्तत्कारणत्वे मानाभावात्। न चाऽधिष्ठानसम्प्रयोगाभावे रजताद्यनुत्पत्तिस्तत्र मानम्; ततो दुष्टेन्द्रियसम्प्रयोगस्यैवाध्यासकारणत्वप्राप्तेः। न च सम्प्रयोगो न सर्वत्र भ्रमव्यापी, अधिष्ठानस्फुरणं तु स्वतः

कारण कि ['इदं रजतम्' इत्यादि भ्रमस्थलमें] भ्रमवृत्तिसे अलग इदमाकार वृत्तिका अनुभव होता ही नहीं है, क्योंकि उस स्थलमें 'इदम्' और 'इदं रजतम्' इस प्रकार दो ज्ञानोंका अनुभव नहीं होता है। और अध्यासके प्रति अधिष्ठानका सामान्यज्ञान कारण भी नहीं है, जिससे कि अध्यासरूप कार्यके बलपर इदमाकार वृत्तिकी कल्पना की जाय, क्योंकि इदमाकार सामान्य वृत्तिको अध्यासके प्रति कारण माननेमें कोई प्रमाण नहीं है। शङ्का—अधिष्ठानके साथ इन्द्रिय आदिका सम्बन्ध न होनेपर रजतकी उत्पत्ति नहीं होगी, अतः यही अनुपपत्ति अध्यासके प्रति अधिष्ठानके सामान्य ज्ञानकी कारणतामें * प्रमाण है? नहीं, यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त प्रमाणसे दुष्ट इन्द्रियका सम्बन्ध ही अध्यासके प्रति कारण प्राप्त होता है, अधिष्ठानका सामान्यज्ञान अध्यासके प्रति कारण प्राप्त नहीं होता है। अब शङ्का होती है कि इन्द्रियका सम्प्रयोग सर्वत्र भ्रमव्यापी (भ्रमका अव्यभिचारी कारण) नहीं है [अर्थात् जहाँ जहाँ

* अध्यासके प्रति अधिष्ठानका सामान्य ज्ञान कारण है, इस कार्यकारणभावमें कोई प्रमाण नहीं है, ऐसा पहले कहा जा चुका, अब शङ्का करते हैं कि उक्त कार्यकारणभावमें प्रमाण है, क्योंकि अधिष्ठानके साथ जबतक चक्षु आदिका सम्बन्ध नहीं होता है, तबतक रजत आदिकी उत्पत्ति नहीं होती है, और सम्बन्ध होनेसे होती है, इसी अन्वय और व्यतिरेकरूप प्रमाणसे अधिष्ठानसामान्यके ज्ञानको अध्यासका कारण मानेंगे। यदि इसपर शङ्का की जाय कि उक्त अन्वय-व्यतिरेकसे इन्द्रियके सम्बन्धमें ही अध्यासकारणताका ग्रह होता है, अधिष्ठान सामान्य ज्ञानमें नहीं, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि अहङ्कार आदिके अध्यासमें इन्द्रियसम्प्रयोगके न होनेसे व्यभिचार होगा? जो अन्वय और व्यतिरेक सम्प्रयोगमें अध्यासकी कारणताके ग्राहक हैं, उन्हीं अन्वय और व्यतिरेकसे शुक्ति-रजत आदि स्थलमें इन्द्रियसम्बन्धसाध्य धर्मिज्ञानको ही कारण मानते हैं, इस अवस्थामें अधिष्ठानके सामान्यज्ञानको अध्यासके प्रति कारण माननेमें तथा कथित अन्वय और व्यतिरेक प्रमाण हैं, यह प्रकृतमें पूर्वपक्षीका गूढ़ अभिप्राय है, परन्तु इसकी ओर ध्यान न देकर ही 'ततः' इत्यादिसे उत्तर देते हैं। 'ततः' का अन्वय और व्यतिरेकके बलसे, यह अर्थ है।

प्रकाशमाने प्रत्यगात्मनि अहङ्काराध्यासमपि व्याप्नोतीति वाच्यम्; तस्याऽपि घटाद्यध्यासाव्यापित्वात् । घटादिप्रत्यक्षात् प्राक् तदधिष्ठानभूतनीरूपब्रह्ममात्रगोचरचाक्षुषवृत्तेरसम्भवात् । स्वरूपप्रकाशस्याऽऽवृतत्वात् । आवृतानावृतसाधारण्येनाऽधिष्ठानप्रकाशमात्रस्याऽध्यासकारणत्वे शुक्तीदमंशसम्प्रयोगात् प्रागपि तदवच्छिन्नचैतन्यरूपप्रकाशस्याऽऽवृतस्य तद्भावेन तदाऽप्यध्यासापत्तेः । न चाऽध्याससामान्ये अधिष्ठानप्रकाशसामान्यं हेतुः, प्रातिभासिकाध्यासेऽभिव्यक्ताधिष्ठानप्रकाश इति नाऽतिप्रसङ्गः, सामान्ये सामा-

---

भ्रम होता है, वहाँ वहाँ इन्द्रियसम्प्रयोग रहता है, यह बात नहीं है, क्योंकि अहङ्कार आदिके अध्यासमें इन्द्रियसम्प्रयोग नहीं है] और अधिष्ठानका सामान्य ज्ञान तो स्वतः प्रकाशमान प्रत्यगात्मरूप अधिष्ठानमें अहङ्कार आदि अध्यासको भी व्याप्त करता है, अतः सामान्यतः अधिष्ठानका ज्ञान ही अध्यासके प्रति कारण है, इन्द्रियसम्प्रयोग कारण नहीं है ? यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि अधिष्ठानका सामान्य स्फुरण भी घटादि-अध्यासका व्यापी नहीं है, कारण कि घट आदिके प्रत्यक्षसे पूर्व घटके अधिष्ठानभूत नीरूप (रूपरहित) ब्रह्ममात्रको विषय करनेवाली चक्षुकी वृत्ति [उक्त स्थलमें] नहीं होती है। और स्वरूपप्रकाशके आवृत होनेसे [अधिष्ठानभूत ब्रह्मका स्वतः स्फुरण भी नहीं हो सकता है]। यदि आवृत और अनावृत साधारण † अधिष्ठानका प्रकाशमात्र अध्यासके प्रति कारण माना जाय, तो भी शुक्तिके इदमंशके साथ इन्द्रियसम्बन्धसे पूर्व आवृत शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यरूप प्रकाशके होनेसे उस समयमें भी रजताध्यासकी प्रसक्ति होगी। अत्र पुनः शङ्का करते हैं कि अध्याससामान्यमें अधिष्ठानका प्रकाशसामान्य कारण मानेंगे और प्रातिभासिक अध्यासमें अभिव्यक्त अधिष्ठानका प्रकाश कारण मानेंगे, इससे पूर्वोक्त दोष नहीं है ? क्योंकि

---

† शङ्काका तात्पर्य यह है कि अध्यासके प्रति अधिष्ठानका प्रकाशमात्र कारण मानते हैं, अभिव्यक्त अधिष्ठानका ज्ञान कारण नहीं मानते हैं, क्योंकि उसके माननेमें लाघव है, इससे 'सन् घटः, सन् पटः' इत्यादि अध्यासोंके अधिष्ठानभूत सद्रूप ब्रह्मका प्रकाश होनेसे अधिष्ठान प्रकाश है, इसलिए व्यभिचार नहीं है, क्योंकि ब्रह्मके स्वप्रकाश होनेसे उक्त स्थलमें ब्रह्मका प्रकाश तो होता ही है।

न्यस्य विशेषे विशेषस्य हेतुत्वौचित्यादिति वाच्यम्, एवमपि प्रातिभासिकशङ्खपीतिमकूपजलनैल्याद्यध्यासाव्यापनात्। रूपानुपहितचाक्षुषप्रत्ययायोगेन तदानीं शङ्खादिगतशौक्ल्योपलम्भाभावेन चाऽध्यासात् प्राक् शङ्खादिनीरूपाधिष्ठानगोचरवृत्त्यसम्भवात्।

सामान्यमें सामान्य और विशेषमें विशेष कारण मानना उचित है, परन्तु यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि शङ्खमें प्रातिभासिकपीतिमरूपके और कूपजलमें प्रातिभासिक नैल्यके अध्यासमें अभिव्यक्त अधिष्ठानके प्रत्यक्षकी व्याप्ति नहीं है, कारण कि रूपरहितकी * चाक्षुषवृत्ति न होनेके कारण और अध्यासके पूर्वकालमें शङ्ख आदिके शुक्लरूपका उपलम्भ न होनेके कारण उस समयमें रूपरहित शङ्ख आदि अधिष्ठानोंकी अपरोक्षवृत्ति नहीं † हो सकती है।

---

* रूपरहित जितने पदार्थ हैं, उनकी चाक्षुष वृत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि यदि रूपरहितकी चाक्षुषवृत्ति मानी जाय, तो वायुकी भी चाक्षुष वृत्ति प्राप्त होगी और उसका चक्षुसे प्रत्यक्ष होने लगेगा। शंखमें पीत रूपके अध्याससे पूर्वकालमें यदि उसमें शुक्लरूपकी उपलब्धि मानी जाय, तो 'पीतः शङ्खः' यह अध्यास ही नहीं होगा, इसलिए धर्मीके ज्ञानको जो अध्यासके प्रति कारण मानते हैं, उनका पक्ष अत्यन्त असङ्गत है, क्योंकि उनके मतमें अभिव्यक्त शङ्ख और जल आदिसे अवच्छिन्न चैतन्यमें पीत और नील आदि रूपोंका अध्यास होता है, इसलिए उनके मतमें पहले 'इदम्' इत्याकारक वृत्तिकी उत्पत्ति होती है, और उस वृत्तिसे अभिव्यक्त पूर्वोक्त पदार्थावच्छिन्न चैतन्यमें पीतादिरूप अध्यस्त होते हैं। परन्तु उनसे (धर्मिज्ञानकारणवादियोंसे) पूछना चाहिए कि उस स्थलमें इदमाकार वृत्ति केवल शंखमात्रको अवलम्बन करती है, या रूपविशिष्ट शंखको? इनमें प्रथम पक्ष तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि रूपाविषयक चाक्षुषवृत्ति नहीं होती, इसका ऊपर अभी निरूपण किया गया है। द्वितीय पक्षमें भी यह प्रष्टव्य हो सकता है कि क्या शुक्लरूप विशिष्ट शङ्खको वह विषय करती है, अथवा पीतरूपविशिष्ट शंखको? इसमें द्वितीय पक्षका अवलम्बन करेंगे, तो वह धर्मिज्ञान नहीं है, क्योंकि आरोप्य पीत रूप विशिष्ट शङ्खज्ञान ही तो भ्रान्ति है। और प्रथम पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि अध्यासके पूर्वकालमें यदि शुक्ल रूप प्रतीत हो, तो पीत शंखाध्यास ही विलीन हो जायगा, इसलिए व्यभिचार होनेसे धर्मिज्ञानको अध्यासके प्रति कारण माननेवालोंका पक्ष असङ्गत ही है, यह नृसिंहभट्टोपाध्यायका मत है।

† वस्तुतस्तु अध्याससे पूर्व द्रव्यमात्ररूपसे शङ्खादिविषयक वृत्तिका उदय होता ही है, क्योंकि द्रव्यगोचर चाक्षुषवृत्तिमें रूपविषयकत्व नियम अप्रयोजक है। वायुका चाक्षुषप्रसङ्ग भी नहीं आ सकता है, क्योंकि द्रव्यके चाक्षुष प्रत्यक्षमें उद्भूतरूप प्रयोजक है, इससे अध्यासके

न च प्रातिभासिकेष्वपि रजताद्यध्यासमात्रे निरुक्तो विशेषहेतुरास्तामिति वाच्यम्; तथा सति सम्प्रयोगात् प्राक् पीतशङ्खाद्यध्यासाप्रसङ्गाय तदध्यासे दुष्टेन्द्रियसम्प्रयोगः कारणमित्यवश्यं वक्तव्यतया तस्यैव सामान्यतः प्रातिभासिकाध्यासमात्रे लाघवात् कारणत्वसिद्धौ, तत एव रजता-

शङ्का करते हैं कि प्रातिभासिक अध्यासोंमें से भी केवल रजत आदि अध्यासमें ही उक्त अभिव्यक्त अधिष्ठानका प्रकाशविशेष हेतु है, पीतशंख आदि अध्यासोंमें हेतु नहीं है? नहीं, यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि यदि पीतशंख आदि अध्यासोंमें अभिव्यक्त अधिष्ठानका प्रकाश हेतु न माना जाय, तो इन्द्रियसम्प्रयोगसे पूर्वमें भी पीतशङ्ख आदि अध्यासकी प्रसक्ति हो जायगी, वह न हो, इसलिए उन अध्यासोंमें दुष्ट इन्द्रियोंके सम्प्रयोगको अवश्य कारण कहना होगा, इससे उसी इन्द्रियके सम्प्रयोगमें सामान्यतः प्रातिभासिक अध्यासमात्रके प्रति लाघवसे कारणत्वकी सिद्धि होनेपर उसीसे रजताध्यासके * कादाचित्कत्व-

पूर्वमें द्रव्यका ग्रहण होनेपर भी दोषविशेषसे जैसे शुक्तित्वका ग्रहण नहीं होता है, वैसे ही दोषविशेषसे शुक्लरूपमात्रका अग्रहण हो सकता है, इसीसे भामतीकारने भी कहा है कि—

'शङ्खश्च दोषाच्छादितशुक्लिमानमननुभवन्' [पृ० २१ निर्णयसागर भामतीकल्पतरु]

अर्थात् दोषसे शङ्खके शुक्लरूपका अनुभव न करके, यह उक्त पंक्तिका आशय है। अथवा यह मान भी लिया जाय कि उक्त स्थलमें अध्यासके पूर्वमें शुक्लरूपविशिष्ट शंखका ग्रहण होता है, तो भी अध्यासकी अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि दोषवलसे शुक्लत्वका ग्रहण नहीं होता है, इसीसे उपपत्ति हो सकती है। इससे प्रातिभासिक अध्यासोंमें अभिव्यक्त अधिष्ठानसामान्यज्ञान कारण माना जाय, तो भी व्यभिचार नहीं है, अतः धर्मिज्ञानरूप इदमाकार वृत्ति सिद्ध होती है। उसकी सिद्धि होनेसे उसमें आवरणनिवर्तकत्व शक्ति है या नहीं है, उसका विचार सालम्बन ही है निरालम्बन नहीं है, यही अस्वरस इस मतमें 'उपाध्याया मन्यन्ते' इससे सूचित किया गया है, इसे नहीं भूलना चाहिए।

* धर्मिज्ञानको कारण माननेवाले कहते हैं कि सर्वदा अध्यासका प्रसङ्ग न हो, इसलिए अभिव्यक्त अधिष्ठानसामान्यके ज्ञानको कारण मानना चाहिए, उसके माननेसे शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यरूप अधिष्ठानप्रकाशके आवृत होनेसे सदा उसकी अभिव्यक्तिके न रहनेसे सर्वदा अध्यासकी प्रसक्ति नहीं होती है। इसलिए सर्वदा अध्यासके प्रसङ्गका अभाव है। परन्तु यह प्रसङ्ग धर्मिज्ञानकी कारणताका खण्डन करनेवालोंके मतमें भी नहीं होता है, क्योंकि उसका परिहार पीतशङ्खस्थलमें क्लृप्तसम्प्रयोगसे भी हो सकता है, यह भाव है।

ध्यासकादाचित्कत्वस्याऽपि निर्वाहादधिष्ठानप्रकाशस्य सामान्यतो विशेषतो वाऽध्यासकारणत्वस्याऽसिद्धेः।

ननु सादृश्यनिरपेक्षे अध्यासान्तरे अकारणत्वेऽपि तत्सापेक्षे रजताद्य-

---

की भी उपपत्ति हो सकनेसे सामान्यरूपसे या विशेषरूपसे अधिष्ठानके प्रकाशमें अध्यासके प्रति कारणता †सिद्ध नहीं होती ‡ है।

* जिस अध्यासमें सादृश्यकी अपेक्षा नहीं है, ऐसे पीतशङ्ख आदि अन्य अध्यासोंमें अधिष्ठानसामान्यज्ञान भले ही कारण न हो, परन्तु सादृश्यकी

---

† तात्पर्य यह है कि अधिष्ठानका प्रकाशमात्र सम्पूर्ण अध्यासके प्रति कारण है और अभिव्यक्त अधिष्ठानका प्रकाश प्रातिभासिक अध्यासके प्रति कारण है, इस प्रकारके सामान्य और विशेष कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होते हैं।

‡ यहाँपर कोई विचार करते हैं कि मूलमें जो प्रातिभासिक अध्यासमात्रमें दुष्टेन्द्रियका सम्प्रयोग कारण माना गया है, वह असङ्गत है, क्योंकि अहंकाराध्यासमें और साक्षीमें स्वाप्नाध्यासस्थलमें इन्द्रियसम्प्रयोगके न होनेसे व्यभिचार है, यदि इसपर कहें कि अहङ्कारका अध्यास व्यावहारिक है, प्रातिभासिक नहीं है, अतः व्यभिचार नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जो अहङ्काराध्यासको प्रातिभासिक मानते हैं, उनके मतमें व्यभिचारका परिहार नहीं हो सकेगा। यदि कहें कि स्वप्नप्रपञ्चके अध्यासमें अभिव्यक्त अधिष्ठानका ज्ञान ही कारण होगा? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि दो कार्यकारणभाव माननेकी अपेक्षा एक कार्यकारणभाव माननेमें लाघव होनेसे अभिव्यक्ताधिष्ठान ज्ञानको कारण मानने हीमें लाघव है, क्योंकि दुष्टेन्द्रियसम्प्रयोगकी (विषयके साथ दुष्ट इन्द्रियोंके सम्बन्धकी) अधिष्ठान चैतन्याभिव्यञ्जक वृत्तिके उत्पादनमें ही सफलता है, अतः वह अध्यासके प्रति कारण नहीं हो सकता है। और पीतशंख आदि अध्यासोंमें भी अधिष्ठान चैतन्याभिव्यञ्जक वृत्तिके सम्भवका पूर्वकी टिप्पणीमें उल्लेख किया गया है, अतः इन सब युक्तियोंका विचार करनेसे यद्यपि धर्मिज्ञानको अध्यासके प्रति कारण मानना यही पक्ष युक्तियुक्त भासता है तथापि सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेपर यही पक्ष ठीक है, किन्तु स्थूल दृष्टिसे लाघवतः इन्द्रियसम्प्रयोग कारण माना गया है, यह जानना चाहिए।

*धर्मिज्ञानको कारण मानना चाहिए, इसमें अन्य युक्तिका प्रदर्शन करते हैं—'ननु, सादृश्य०' इत्यादिसे। तात्पर्य यह है कि पीतरूपके साथ शंखका सादृश्य न होनेसे 'पीत शंख है' इस अध्यासमें सादृश्यज्ञान कारण नहीं है, परन्तु शुक्तिरजतस्थलमें रजतके साथ शुक्ति आदिका रूपविशेषसे अवश्य सादृश्य है, इसलिए उक्त रूपसे विशिष्ट धर्मिज्ञान हो सकता है और उसीसे रजताध्यास होगा, तो शुक्त्यादि अध्यासके प्रति अधिष्ठानज्ञान कारण क्यों न माना जाय? यदि लाघवसे कहेंगे कि इन्द्रियसम्प्रयोग कारण है, तो इंगालमें भी रजताध्यासकी प्रसक्ति होगी।

ध्यासे रजतादिसादृश्यभूतरूपविशेषादिविशिष्टधर्मिज्ञानरूपमधिष्ठानसामान्यज्ञानं कारणमवश्यं वाच्यम्, दुष्टेन्द्रियसम्प्रयोगमात्रस्य कारणत्वे शुक्तिवदिङ्गालेऽपि तद्रजताध्यासप्रसङ्गात्।

न च सादृश्यमपि विषयदोषत्वेन कारणमिति वाच्यम्; विसदृशेऽपि सादृश्यभ्रमे सत्यध्याससद्भावात् जलधिसलिलपूरे दूरे नीलशिलातलत्वारोपदर्शनात्। न च 'तद्धेतोरेव' इति न्यायात् सादृश्यज्ञानसामग्र्येवाध्यासकारणमस्त्विति युक्तम्, ज्ञानसामग्र्या अर्थकारणत्वस्य क्वचिदप्यदृष्टेः। ततस्सादृश्यज्ञानत्वस्यैव लघुत्वाच्च।

अपेक्षा रखनेवाले रजत आदिके अध्यासमें, रजत आदिके सदृश रूपसे युक्त धर्मीका ज्ञानरूप जो अधिष्ठानसामान्यज्ञान है, उसे कारण अवश्य मानना चाहिए। यदि सादृश्यकी अपेक्षा न करके केवल दुष्ट इन्द्रियके सम्बन्धको ही कारण माना जाय, तो शुक्तिके समान इङ्गालमें—कोयलोंमें—भी रजताध्यासकी प्रसक्ति होगी।

* यदि कहो कि विषयके दोषरूपसे सादृश्य भी आध्यासका कारण माना जायगा, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि सादृश्यसे रहित पदार्थोंमें सादृश्यके भ्रमसे अध्यास होता है, कारण कि दूरस्थ समुद्रके जलप्रवाहमें नील शिलातलका आरोप—भ्रम देखा जाता है। यदि कहें कि तद्धेतोरेव † इस न्यायसे सादृश्यज्ञानकी सामग्री ही अध्यासकी कारण हो, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञानकी सामग्रीमें अर्थकी कारणता कहींपर भी नहीं देखी जाती है। और सादृश्यज्ञानकी सामग्रीत्वको कारणतावच्छेदक माननेकी अपेक्षासे सादृश्यज्ञानत्वको अध्यासके प्रति कारणतावच्छेदक माननेमें लाघव भी है।

---

* इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि सादृश्य अध्यासोंमें अवश्य अपेक्षित है, तथापि वह स्वरूपतः कारण है, ज्ञात कारण नहीं है, अतः इंगालमें रजताध्यासकी प्रसक्ति नहीं हो सकती है, इसलिए धर्मिज्ञानको कारण माननेकी आवश्यकता नहीं है।

† इस न्यायका यह स्वरूप है—'तद्धेतोरेवास्तु तद्धेतुत्वम् मध्ये किं तेन' अर्थात् जिसको तुम हेतु—कारण मानते हो, उसीके कारणसे यदि कार्य हो सकता है, तो मध्यमें उसको कारण मानना व्यर्थ है, प्रकृतमें सादृश्यज्ञानको अध्यासके प्रति कारण माननेकी अपेक्षा उसकी कारण सामग्रीको ही अध्यासके प्रति कारण माननेसे उपपत्ति हो सकती है, फिर उसे बीचमें कारण मानना व्यर्थ ही है, यह भाव है।

न च स्वतश्शुभ्रेऽपि शुभ्रकलधौतभृङ्गारगतेऽपि स्वच्छे जले एव नैल्याध्यासः, न मुक्ताफले इति व्यवस्थावत् वस्तुस्वभावादेव शुक्तौ रजताध्यासः नेङ्गालादाविति व्यवस्था, न तु सादृश्यज्ञानापेक्षणादिति वाच्यम्; स्वतः पटखण्डे पुण्डरीकमुकुलत्वानध्यासेऽपि तत्रैव कर्तनादि-घटिततदाकारे तदध्यासदर्शनेन तदध्यासस्य वस्तुस्वभावमननुरुध्य सादृश्य-ज्ञानभावाभावानुरोधित्वनिश्चयात्। अन्यथाऽन्यदाऽपि तत्र तदध्यास-प्रसङ्गात्।

उच्यते—सादृश्यज्ञानस्याऽध्यासकारणत्ववादेऽपि विशेषदर्शनप्रतिबध्येषु

यदि शङ्का की जाय कि जैसे स्वतः शुभ्र, सफेद रजतके पात्र विशेषमें स्थित निर्मल जलमें ही नीलिमाका अध्यास होता है, मोतीमें नहीं होता, इस प्रकार वस्तुके स्वभावविशेषसे व्यवस्था होती है, वैसे ही शुक्तिमें रजतका अध्यास होता है, इङ्गालमें नहीं होता, इस प्रकारकी व्यवस्था भी स्वभावसे हो सकती है, सादृश्य-ज्ञानकी अपेक्षासे नहीं होती है, तो यह भी शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि साक्षात् वस्त्रके खण्डमें कमलकी मुकुलावस्थाका अध्यास न होनेपर भी कैंचीसे कतर कर कमलाकार बनानेसे उसमें कमलकी मुकुलावस्थाका अध्यास देखा जाता है, इससे कमलाध्यासमें—वस्तुस्वभावका अनुरोध न करके † सादृश्यज्ञानके होनेपर होता है और न होनेपर नहीं होता—इस प्रकार सादृश्यज्ञके अनुरोधका निश्चय किया जाता है। अन्यथा अर्थात् वस्तुस्वभावको अध्यासके प्रति कारण माननेपर पटमें कतरनेके पूर्व भी कमलकी मुकुलावस्थाके अध्यासकी प्रसक्ति होगी।

* उक्त शङ्काका समाधान कहते हैं कि सादृश्यज्ञान अध्यासका कारण है,

† अर्थात् कतरनेसे सादृश्यज्ञान होनेपर ही कमलकी मुकुलावस्थाका अध्यास होता है, और उसके न होनेपर नहीं होता, अतः वस्तुस्वभावकी अपेक्षा न करके अन्वयव्यतिरेकसे अध्यास सादृश्यज्ञानकी अपेक्षा करता है, यह भाव है।

* विशेष अध्यासमें कारणरूपसे प्राप्त सादृश्यज्ञान द्वारा समादृत धर्मिज्ञानकी कारणताका परिहार करते हैं—'उच्यते' इत्यादि ग्रन्थसे। परिहारका तात्पर्य यह है कि विशेषदर्शनसे जिनकी उत्पत्ति नहीं होती, ऐसे 'शुक्तौ इदं रजतम्' इत्यादि अध्यासोंमें ही सादृश्यज्ञान कारण है और विशेषदर्शनसे जिन अध्यासोंका प्रतिबन्ध नहीं होता है, ऐसे अध्यासोंमें सादृश्यज्ञान कारण नहीं है, इस बातको धर्मिज्ञानकारणवादी अवश्य स्वीकार करेंगे शुक्तिरजतस्थलमें 'रजतत्वाभावव्याप्यशुक्तित्ववान् अयम्' (रजतत्वके अभावसे व्याप्य जो

रजताद्यध्यासेष्वेव तस्य कारणत्वं वाच्यम्; न तु तदप्रतिबध्येषु पीतशङ्खाद्यध्यासेषु, असम्भवात्। विशेषदर्शनप्रतिबध्येषु च प्रतिबन्धकज्ञानसामग्र्याः प्रतिबन्धकत्वनियमेन विशेषदर्शनसामग्र्यप्यवश्यं प्रतिबन्धिका वाच्येति तत एव सर्वव्यवस्थोपपत्तेः, किं सादृश्यज्ञानस्य कारणत्वकल्पनया ?

तथाहि—इङ्गालादौ चक्षुःसम्प्रयुक्ते तदीयनैल्यादिरूपविशेषदर्शनसामग्रीसत्त्वान्न रजताध्यासः शुक्त्यादावपि नीलभागादिव्यापिचक्षुःसम्प्रयोगे

इस वादमें भी विशेषदर्शनसे प्रतिबध्य रजत आदि अध्यासोंमें ही सादृश्यज्ञानको कारण मानना चाहिए, विशेपदर्शनसे जो प्रतिबध्य नहीं हैं, ऐसे पीत शङ्ख आदि अध्यासोंमें उसे कारण नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वस्तुतः उन स्थलोंमें सादृश्य है ही नहीं। और विशेपदर्शनसे जिनका प्रतिबन्ध होता है, ऐसे शुक्तिरजत आदि अध्यासोंमें प्रतिबन्धक ज्ञानकी सामग्रीके † प्रतिबन्धकत्वनियमसे विशेषदर्शनसामग्रीको भी अवश्य प्रतिबन्धक मानना चाहिए, इसलिए उसीसे सब व्यवस्थाकी उपपत्ति हो सकती है, तो सादृश्यज्ञानको क्यों कारण मानना ? अर्थात् उसे कारण माननेकी आवश्यकता नहीं है।

चक्षुसे संयुक्त इङ्गाल आदिमें उनके नीलरूप विशेपके दर्शनकी सामग्रीके होनेसे—रजतका अध्यास नहीं होता है। शुक्तिरजत आदि स्थलमें भी, जिसका कि नील भाग चक्षुसे संयुक्त है, विशेपदर्शन सामग्रीके होनेसे रजतका अध्यास

शुक्तित्व तदाश्रय यह है) इस विशेपदर्शनसे 'इदं रजतम्' यह भ्रम नहीं होता है, किन्तु उसके अभावमें ही होता है, अतः विशेपदर्शनसे वह रजताध्यास प्रतिबध्य कहलाता है, 'पीतत्वाभावव्याप्यशङ्खत्ववान् अयम्' इस प्रकारके विशेपदर्शनके होनेपर भी 'पीतः शङ्खः' यह अध्यास होता है, अतः विशेप दर्शनसे यह प्रतिबध्य नहीं है, इसलिए धर्मिज्ञान इसमें कारण नहीं होगा, क्योंकि सचमुच पीत पदार्थका सादृश्य शंखमें है ही नहीं, यह भाव है।

† प्रतिबन्धक ज्ञानसे यहां विशेपदर्शनात्मक ज्ञान ही विवक्षित है। जैसे रजतादि अध्यासमें विशेपदर्शन प्रतिबन्धक है, वैसे ही उसकी सामग्री भी प्रतिबन्धक है, दाहकी प्रतिबन्धक मणिकी सामग्री लोकमें दाहके प्रतिबन्धकरूपसे प्रसिद्ध नहीं है, अतः ज्ञान पदका उपादान किया गया है, जो धर्मिज्ञान है, उसमें प्रतिबन्धकज्ञानत्व नहीं है, अतः उसमें भी प्रतिबन्धकत्वकी प्रसक्ति नहीं है, क्योंकि वह अध्यासका अनुगुण ही है। इसीलिए नैयायिकोंने पक्षमें साध्याभाववत्ता ज्ञानको ग्राह्याभावका अवगाहन करनेसे प्रतिबन्धक माना है। उसमें साध्याभावव्याप्यवत्ताज्ञानको प्रतिबन्धक ज्ञानकी सामग्रीके रूपसे अनुमितिका प्रतिबन्धक माना है। इस परिस्थितिमें इसी प्रतिबन्धकी सामग्रीके प्रभावसे अध्यासके कादाचित्कत्व

तत्सत्त्वान्न तदध्यासः। सदृशभागमात्रसम्प्रयोगे तदभावादध्यासः। तदाऽपि शुक्तित्वरूपविशेषदर्शनसामग्रीसत्त्वादनध्यासप्रसङ्ग इति चेत्, न; अध्याससमये शुक्तित्वदर्शनाभावेन तत्पूर्वं तत्सामग्र्यभावस्य त्वयाऽपि वाच्यत्वात्। मम सादृश्यज्ञानरूपाध्यासकारणदोषेण प्रतिबन्धात् तदा शुक्तित्वदर्शनसामग्र्यभावाभ्युपगमः। तव तथाऽभ्युपगमे तु घट्टकुटीप्रभातवृत्तान्त इति

नहीं होता है। केवल समान भागमें ही इन्द्रियका सम्बन्ध होनेसे विशेपदर्शनकी सामग्रीके न होनेके कारण रजतका अध्यास होता है। इसपर शङ्का होती है कि रजतके सदृश शुक्तिके किसी हिस्सेके साथ संप्रयोगके समयमें भी शुक्तित्वरूप विशेपदर्शनकी सामग्रीके होनेसे रजतका अध्यास नहीं होना चाहिए, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि अध्यासके पूर्वमें तुमको भी * शुक्तित्वरूप विशेपके दर्शनकी सामग्रीका अभाव कहना होगा, क्योंकि अध्यासके समयमें शुक्तित्वका ज्ञान नहीं है। यदि शङ्का हो कि हमें † तो सादृश्यज्ञानरूप अध्यासके कारण दोपसे प्रतिबन्ध होनेके कारण अध्यासकालमें शुक्तित्वदर्शनकी सामग्रीका अभाव है, यदि तुम सादृश्यज्ञानको अध्यासके प्रति कारण मानते हो, तो ‡ घट्टकुटीप्रभातवृत्तान्त ही हुआ अर्थात्

आदिकी व्यवस्था हो सकती है, तो धर्मिज्ञानरूप इदमाकारवृत्तिको माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है, यह भाव है।

* तात्पर्य यह है कि केवल शुक्तिके रजतसदृश भागके साथ सम्बन्धकालमें जब चक्षुःसंयुक्त तादात्म्यरूप शुक्तित्वदर्शनकी सामग्री रहती है, तब भी अध्यास देखा जाता है, इससे शुक्तित्वरूप विशेपदर्शनकी सामग्रीका प्रतिबन्धक कोई दोप अवश्य कहना चाहिए, वह दोप प्रत्यासत्त्या दूरत्व आदि होगा—सादृश्यज्ञान नहीं होगा, अतः दोपरूपसे भी धर्मिज्ञान अध्यासके प्रति कारण नहीं हो सकेगा। यह सादृश्यज्ञानकी अध्यासकारणताका खण्डन करनेवालेका मन्तव्य है।

† इदमाकारवृत्तिरूप धर्मिज्ञानमें अध्यासकी कारणता माननेवालेको।

‡ धर्मिज्ञानकी कारणताके खण्डनमें प्रवृत्त तुम यदि सादृश्यज्ञानको कारण मानोगे, तो घट्टकुटीप्रभातवृत्तान्त होगा। उक्त वृत्तान्तका आशय यह है—चुंगीके भयसे रात्रिको ही माल लेकर व्यापारी निकल पड़ा, परन्तु उसका जहाँ सवेरा हुआ, वहींपर चुंगीका ऑफिस आ गया, फलतः उसे अपनी मालकी सारी चुंगी देनी पड़ी, वैसे ही सादृश्यज्ञानकी कारणताका खण्डन करनेमें तो प्रवृत्त हुए, परन्तु प्रकारान्तरसे सादृश्यज्ञानमें कारणता माननी ही पड़ी, अतः घट्टकुटीप्रभातवृत्तान्त उनके ऊपर लागू हुआ। घट्टकुटी कहते हैं चुंगीके ऑफिसको।

चेद्, न; समीपोपसर्पणानन्तरं रजतसादृश्यरूपे चाकचिक्ये दृश्यमाने एव शुक्तित्वोपलम्भेन तस्य तत्सामग्रीप्रतिबन्धकत्वासिद्धौ दूरत्वादिदोषेण प्रतिबन्धाद्वा व्यञ्जकनीलपृष्ठत्वादिग्राहकासमवधानाद्वा तत्सामग्र्यभावस्य वक्तव्यत्वात्।

एवं जलधिजले नियतनीलरूपाध्यासप्रयोजकदोषेण दूरे नीरत्वव्यञ्जक-

सादृश्यज्ञान अध्यासका कारण नहीं है, इस प्रकारके तुम्हारे सिद्धान्तका भङ्ग हुआ, तो यह भी ‡ युक्त नहीं है, क्योंकि शुक्तिके पास जानेके अनन्तर रजतके सदृश चाकचिक्यके देखनेपर भी शुक्तित्वका ज्ञान होता है, इससे सादृश्यज्ञान शुक्तिस्वरूप विशेषके दर्शनकी सामग्रीका प्रतिबन्धक सिद्ध नहीं होता है और दूरत्व आदि दोषोंसे प्रतिबन्ध होनेके कारण अथवा शुक्तित्वको अभिव्यक्त करनेवाले नीलपृष्ठत्व आदिके ग्राहक * साधनोंके न रहनेसे शुक्तित्वरूप विशेषके दर्शनकी सामग्रीका अभाव तुम्हें और हमें दोनोंको कहना होगा।

इसी प्रकार अर्थात् जैसे सादृश्यज्ञानरूप दोषके विना शुक्तिमें रजतका अध्यास होता है, वैसे ही दूरस्थ समुद्रके जलमें नील शिलातलत्वका अध्यास

---

‡ प्रकृतमें एक बात और ध्यान देने लायक है—किसी समयमें दूरस्थ पुरुषको भी शुक्तिमें शुक्तित्वग्रहण होता है, अतः सादृश्यज्ञानके समान दूरत्वदोषमें भी व्यभिचार समान ही है, इसी प्रकार रजतके लिए अत्यन्त लालायित पुरुषको समीपमें जानेपर भी शुक्तिकी प्रमा नहीं होती, इसलिए दूरत्व दोष ही नहीं होगा। यदि किसी विशेष अध्यासके प्रति किसी समय कोई दोष होता है, और किसी समयमें नहीं इस प्रकार व्यवस्था करेंगे, तो वही दीपज्वाला है, इस भ्रमकी, सादृश्यज्ञानरूप दोषसे ही लोकमें, प्रसिद्धि होनेसे सादृश्यज्ञानको भी अध्यासके प्रति कारणता अनिवार्य होगी। देवताधिकरणमें भाष्यकारने भी कहा है कि 'सादृश्यात् प्रत्यभिज्ञानं केशादिष्विव' केशोंके समान सादृश्यज्ञानसे प्रत्यभिज्ञा होती है—वही दीपज्वाला है इत्यादि। और बौद्धाधिकरणमें भी 'सादृश्यनिमित्तं प्रत्यभिज्ञानम्' अर्थात् सादृश्यसे ही प्रत्यभिज्ञान होता है—ऐसा कहा गया है। अतः सादृश्यज्ञानको अध्यासके प्रति कारणत्वका निराकरण करना असङ्गत है, यह शङ्का यद्यपि हो सकती है, तथापि प्रकृतमें स्थूल विचार होनेसे—वह दोषावह नहीं है, सूक्ष्मदृष्टिसे तो सादृश्यज्ञानमें अध्यासकारणत्व है ही, यह भाव है।

* ग्राहकसाधनोंसे शुक्ति आदिके नीलपृष्ठ आदि भागोंके साथ चक्षुःसंयोग आदिका ग्रहण करना चाहिए।

तरङ्गादिग्राहकासमवधानेन च शौक्ल्यजलराशित्वादिविशेषदर्शनसामग्र्यभावाच्छिलातलत्वाद्यध्यासः। विस्तृते पटे परिणाहरूपविशेषदर्शनसामग्रीसत्त्वात् न पुण्डरीकमुकुलत्वाध्यासः; कर्तनादिघटिततदाकारे तदभावात्तदध्यास इति।

हो सकता है *, क्योंकि अध्यासके कारणभूत नियत नीलरूप दोषसे, और दूर होनेसे नीरत्वके अभिव्यञ्जक तरङ्ग आदिका ग्रहण करनेवाले साधनोंका समवधान न होनेसे शुक्लरूप, जलराशित्व आदि विशेषोंके दर्शनकी सामग्रीका अभाव है †। और विस्तृत वस्त्रमें इसलिए कमलकी मुकुलावस्थाका अध्यास नहीं होता है कि उस समयमें विस्ताररूप विशेषदर्शनकी सामग्री है, और कतरनेसे कमलाकार हो जानेसे विस्ताररूप विशेषदर्शनकी सामग्रीके न होनेसे उसमें कमलकी मुकुलावस्थाका अध्यास होता है ‡।

---

* तात्पर्य यह है कि जलमें जो नीलशिलातलत्वका अध्यास होता है, उसमें शुक्लरूपात्मक विशेषका परिज्ञान या जलत्वरूप विशेषका परिदर्शन प्रतिबन्धक है, और इन विशेषदर्शनोंकी सामग्री भी प्रतिबन्धक होगी, इसलिए इन विशेषोंके परिज्ञानकी सामग्रीका अभाव होनेसे ही जलमें नीलशिलातलत्वका अध्यास होता है। पहले जलमें नैल्यका अध्यास होनेके बाद सादृश्यज्ञानके उत्पन्न होनेसे उसमें नीलशिलातलत्वका अध्यास होता है, यह बात नहीं है, दूरस्थ समुद्रजलमें तथा समीपस्थ समुद्रके जलमें नैल्यका नियमतः अध्यास होता है, अतः जलमें नैल्याध्यास नियत है शुक्लत्व, जलत्व आदि विशेषके ग्रहणकी सामग्री अप्रतिबद्ध नहीं है, क्योंकि नैल्यके अध्याससे शुक्लरूपकी ग्राहक सामग्री प्रतिबद्ध हो गई है और जलत्वके व्यञ्जक तरङ्ग आदिके ग्राहकका भी दूरत्व दोषसे सन्निधान नहीं है, इसलिए जलत्वका भी ग्रहण नहीं होता है, अतः उक्त प्रतिबन्धक दो ज्ञानोंकी सामग्रीका अभाव होनेसे समुद्रजलमें नीलशिलातलत्वका अध्यास हो सकता है, यह भाव है।

† यहाँपर भ्रमविज्ञानमें कारणत्ववादियोंका मत यह है कि समुद्रके जलमें उक्त प्रकारसे विशेषदर्शनसामग्रीका अभाव अपेक्षित है, तथापि उतनेसे ही उसमें वह अध्यास नहीं हो सकता, किन्तु प्रथम जलमें नैल्यके अध्याससे नीलशिलातलके सादृश्यकी प्रसक्ति होगी और उसके बाद जलमें नीलशिलातलत्वका अध्यास होगा, इसलिए दूरसे समुद्रजलमें उक्त अध्यास करनेवाले मनुष्य पास जाकर कहते हैं कि इस समुद्रके जलमें दूरसे नीलत्व, निश्चलता आदिकी समानतासे नीलशिलातलत्वका अध्यास हमें हुआ था, परन्तु अब वह निवृत्त हो गया, इस प्रकारके लोकव्यवहारके देखनेसे सादृश्यज्ञान ही दोषरूपसे अध्यासके प्रति कारण होता है, केवल विशेषदर्शनकी सामग्रीका अभाव नहीं।

‡ अध्यासके प्रति विशेषदर्शनकी सामग्रीके अभावको जो कारण मानते हैं, उनके प्रति 'स्वतः परस्मिन्' (पृ० २२५) इत्यादिसे सादृश्यज्ञानके कारणत्वकी सिद्धिके लिए अन्वय और

नन्वेवं करस्पृष्टे लोहशकले तदीयनीलरूपविशेषदर्शनसामग्र्यभावात् रजताध्यासः किं न भवेत्? सादृश्यज्ञानानपेक्षणादिति चेद्; भवत्येव; किन्तु ताम्रादिव्यावर्तकविशेषदर्शनसामग्र्यभावात् तदध्यासेनाऽपि भाव्यमिति क्वचिदनेकाध्यासे संशयगोचरो भवति। क्वचित्तु रजतप्राये कोशगृहादौ रजताध्यास एव भवति। क्वचित् सत्यपि सादृश्यज्ञाने शुक्तिकादौ कदाचित् करणदोषाद्यभावेनाऽध्यासानुदयवदध्यासानुदयेऽपि न हानिः।

इस विषयमें एक शङ्का होती है वह यह कि यदि सादृश्यज्ञानके विना केवल विशेषदर्शनकी सामग्रीके अभावसे ही अध्यासकी उत्पत्ति होती है, ऐसा माना जाय, तो लोहेके टुकुड़ेको हाथसे छूनेपर उसमें रजतका अध्यास क्यों नहीं होता है? क्योंकि लोहेके नीलरूपविशेषके दर्शनकी सामग्रीका अभाव उस स्थलमें है, परन्तु यह भी शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसे स्थलमें लोहेके टुकुड़ेमें रजतका अध्यास होता ही है। किन्तु ताम्र आदिकी व्यावृत्ति करनेवाली विशेषदर्शनकी सामग्रीका अभाव होनेसे ताम्र आदिका अध्यास भी हो सकता है, इस प्रकार हाथोंसे स्पृष्ट लोहेके टुकुड़ेमें अनेक अध्यास—अध्यस्त वस्तुएँ—संशयके विषय होते हैं, [अर्थात् यह रजत है या ताम्र है अथवा सुवर्ण है, इस तरह संशय होता है]। किसी स्थलमें अर्थात् जिस खजानेमें † रजतका ही आधिक्य है, ऐसे स्थानमें तो लोहेमें रजतका ही अध्यास होता है। जैसे सादृश्यज्ञानके रहनेपर भी शुक्ति आदिमें—कदाचित् करण-दोषके अभावसे—रजतका अध्यास नहीं होता है, वैसे ही हमारे मतमें भी कदाचित् अध्यास नहीं हो, तो भी हानि नहीं है।

व्यतिरेक दिखाये गये हैं, उसीका 'विस्तृते पटे' इत्यादिसे खण्डन किया गया है, अर्थात् लम्बे पटमें जो पटका विस्तार देखा जाता है वही अध्यासमें प्रतिबन्धक है और कैंचीसे ठीक उसकी कमलाकृति बना लेनेपर उसमें उक्त सामग्रीके अभावसे कमलकी मुकुलावस्थाका अध्यास हो सकता है, अतः सादृश्यज्ञान अपेक्षित नहीं है, यह प्रकृतमें भाव है।

† जिसमें सदा रजत ही रखा जाता है, ऐसे कोशगृहमें प्राप्त पुरुष को, दैवसे किसी लोहेके टुकुड़ेको छूनेपर भी उसमें उसे रजतका ही अध्यास होता है, क्योंकि उस कोशगृहमें लोहेकी सम्भावना ही उसे नहीं है, इसलिए ऐसे स्थलमें रजत है, या ताम्र है, ऐसा संशयात्मक अध्यास नहीं होता है। और जहाँ ऐसी स्थिति नहीं है वहाँ तो मूलोक्त रीतिसे संशय होता ही है, यह भाव है।

तस्मान्न कार्यकल्प्या इदमाकारवृत्तिः, नाऽप्यप्रतिबद्धेदमर्थसम्प्रयोगकारणकल्प्या; ततो भवन्त्या एवेदंवृत्तेर्दुष्टेन्द्रियसम्प्रयोगक्षुभिताविद्यापरिणामभूतस्वसमानकालरजतविषयत्वस्याऽस्माभिरुच्यमानत्वात् । तत्र च ज्ञानसमानकालोत्पत्तिके प्रतिभासमात्रविपरिवर्तिनि रजते तत्प्राचीनसम्प्रयोगाभावेऽपि तत्तादात्म्याश्रयेदमर्थसम्प्रयोगादेव तस्याऽपि चक्षुर्ग्राह्यत्वोपपत्तेः । 'चक्षुषा रजतं पश्यामि' इति प्रातिभासिकरजतस्य स्वसम्प्रयोगाभावेऽपि चाक्षुषत्वानुभवात् ।

उक्त रीतिसे धर्मिज्ञानके अध्यासके प्रति हेतु न होनेके कारण इदमाकारवृत्तिकी (अध्यासरूप) कार्यसे कल्पना नहीं करनी चाहिए और प्रतिबन्धसे शून्य इदमर्थके साथ इन्द्रिय संयोगरूप कारणसे भी उसकी कल्पना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इन्द्रियसम्प्रयोगसे उत्पन्न होनेवाली इदमाकार वृत्तिका ही—दुष्ट इन्द्रियके सम्प्रयोगसे क्षुभित अविद्याका परिणामभूत तथा इदमाकारवृत्तिके समानकालमें उत्पन्न हुआ रजत विषय होता है, ऐसा हम कहते हैं । [तात्पर्य यह है कि इदमर्थावच्छिन्न चैतन्यमें रहनेवाली रजताकारमें परिणम्यमान अविद्या—अध्यासमें निमित्तभूत दोषसे युक्त चक्षु आदिके सम्प्रयोगसे क्षोभको अर्थात् कार्योन्मुखताको प्राप्त होती है, इसके बाद रजतरूपसे परिणत होती है, इसी प्रकार दुष्ट इन्द्रियके सम्प्रयोगसे वृत्ति भी उसी कालमें होती है, इसलिए अप्रतिबद्ध इन्द्रियके सम्प्रयोगसे होनेवाली इदंवृत्ति अपने समानकालमें उत्पन्न हुए रजतसे विशिष्ट इदमर्थको विषय करती है] । भ्रमस्थलमें ज्ञानके समानकालमें उत्पन्न तथा प्रतीतिकालमें ही जिसकी* सत्ता है, ऐसे रजतमें, रजतप्रतिभाससे पूर्व, सम्प्रयोग न होनेपर भी रजततादात्म्यके आश्रय इदमर्थके सम्प्रयोगसे ही रजत चक्षुसे गृहीत होता है, क्योंकि 'आँखसे रजतको देखता हूँ' इस प्रकार अपने साथ इन्द्रियसम्प्रयोगके न रहते भी प्रातिभासिक रजतका चक्षुसे प्रत्यक्ष देखा जाता है ।

---

* इस शब्दका अर्थ है—प्रतिभासकालमात्रे विपरिवर्तनम्—सत्त्वं यस्य तत् प्रतिभासमात्रविपरिवर्ति, तस्मिन् प्रतिभासमात्रविपरिवर्तिनि अर्थात् जिसका अस्तित्व केवल प्रतीतिकालमें ही है—प्रतीतिसे व्याप्त है सत्ता जिसकी ऐसा रजत, यह भाव है ।

न च स्वसम्प्रयोगाभावादेव बाधकान्न तच्चाक्षुषम्, नाऽपि दुष्टेन्द्रियसम्प्रयोगजन्यम् इदंवृत्तिसमकालम्, ज्ञानकारणस्येन्द्रियसम्प्रयोगस्याऽर्थकारणत्वाक्लृप्तेः । किन्त्विदंवृत्त्यनन्तरभावि तज्जन्यं तदभिव्यक्ते साक्षिण्यध्यासात् तद्भास्यम् । चाक्षुषत्वानुभवस्तु स्वभासकचैतन्याभिव्यञ्जकेदंवृत्तिजनकत्वेन परम्परया चक्षुरपेक्षामात्रेणेति वाच्यम्, तथा सति पीत-

शङ्का होती है—'इदं रजतम्' इसमें रजतका चाक्षुप प्रत्यक्ष ही नहीं हो सकता है, क्योंकि उसके साथ इन्द्रियसम्प्रयोग ही नहीं है, यह बाधक है। और इदंवृत्तिके समानकालमें वह रजत दुष्ट इन्द्रियके सम्प्रयोगसे उत्पन्न भी नहीं हो सकता है, क्योंकि जो इन्द्रियसंयोग ज्ञानके प्रति करणरूपसे क्लृप्त है, वह अर्थके प्रति कहींपर भी कारणरूपसे निश्चित नहीं है। किन्तु वृत्तिके उत्तर कालमें वृत्तिसे ही उत्पन्न होता है और वृत्तिसे अभिव्यक्त चैतन्यमें उसका अध्यास होनेसे साक्षीसे ही वह रजत भास्य * है, और रजतमें जो चाक्षुषत्वका अनुभव होता है, वह तो शुक्तिरजतके अवभासक इदमवच्छिन्न चैतन्यकी अभिव्यञ्जक इदंवृत्तिके प्रति [चक्षुके कारण होनेसे] परम्परया † चक्षुकी अपेक्षा है, इसलिए होता है, परन्तु यह शङ्का युक्त

* पहले इन्द्रियके सम्प्रयोगसे केवल 'इदम्' अर्थको विषय करनेवाली वृत्ति उदित होती है, और अध्यासकी निमित्तकारण इस इदंवृत्तिसे अविद्या कार्योन्मुखताको प्राप्त कर रजताकारसे परिणत होती है, परिणत रजतका अधिष्ठान होगा—इदमाकारवृत्तिसे अभिव्यक्त इदमवच्छिन्न चैतन्य, इसलिए अहङ्कार आदिके समान वृत्तिके बिना ही अध्यस्त रजत आदिका अवभास होगा, इदमाकार वृत्तिके कादाचित्कत्व होनेसे रजताध्यासकी सर्वदा प्रसक्ति नहीं हो सकती है, यदि इस विषयमें शङ्का हो कि शुक्तिरूप्य, जो बाह्यचैतन्यसे ही भास्य है, अहङ्कारके समान साक्षीसे भास्य कैसे होगा ? तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि साक्षिभास्य शब्दका अर्थ है—विषयकी ज्ञानरूप वृत्तिसे अनुपहित चैतन्यसे जिसका अवभास होता हो, इसलिए अहङ्कार आदिका अवभासक चैतन्य अविद्या विषयके अज्ञानात्मक वृत्तिसे उपहित नहीं होता है, वैसे शुक्तिरजतका अवभासक चैतन्य भी शुक्तिरजत आदि विषयक ज्ञानात्मक वृत्तिसे उपहित नहीं होता है, अतः वह साक्षिभास्य है, इसलिए उक्त शङ्काका अवसर नहीं है, यह भाव है।

† परम्पराका तात्पर्य यह है कि यद्यपि 'इदं रजतम्' इसमें रजतांशका चक्षुसे ज्ञान होता है, यह अनुभव है, तथापि वह गौण है, प्राधान्यसे नहीं है क्योंकि उस स्थलमें इदमर्थ रूप अधिष्ठानकी वृत्तिके लिए चक्षुकी अपेक्षा होती है। रजतगोचर वृत्तिके लिए नहीं, इसलिए किसी अंशमें चक्षुकी अपेक्षा होनेके कारण चाक्षुषत्वकी रजतांशमें परम्परया उपपत्ति होती है।

शङ्खभ्रमे चक्षुरनपेक्षाप्रसङ्गात्। नहि तत्र शङ्खग्रहणे चक्षुरपेक्षा; रूपं विना केवलशङ्खस्य चक्षुर्ग्राह्यत्वायोगात्। नाऽपि पीतिमग्रहणे, आरोप्ये ऐन्द्रियकत्वानभ्युपगमात्।

न च पीतिमा स्वरूपतो नाऽध्यस्यते, किन्तु नयनगतपित्तपीतिम्नोऽनुभूयमानस्य शङ्खसंसर्गमात्रमध्यस्यत इति पीतिमाऽनुभवार्थमेव चक्षुरपेक्षेति वाच्यम्; तथा सति शङ्खतत्संसर्गयोरप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। नयनप्रदेशगतपित्तपीतिमाऽऽकारवृत्त्यभिव्यक्तसाक्ष्यसंसर्गेण तयोस्तद्भास्यत्वाभावात्। पीतिमसंसृष्टशङ्खगोचरैकवृत्त्यनभ्युपगमाच्च।

नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे अर्थात् अधिष्ठानके इन्द्रियजन्यज्ञानके लिए ही इन्द्रियकी अपेक्षा है और आरोप्यके इन्द्रियजन्यज्ञानके लिए इन्द्रियकी अपेक्षा नहीं है, ऐसा स्वीकार करनेसे पीत शङ्खके भ्रमस्थलमें चक्षुकी अपेक्षा नहीं होगी, क्योंकि वहाँ शङ्खके ग्रहणमें चक्षुकी अपेक्षा ही नहीं है, कारण कि रूपके विना शुद्ध शङ्खका चक्षुसे प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, और पीतिमाके ग्रहणमें भी चक्षुकी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि आरोप्य पदार्थका इन्द्रियज[illegible]ज्ञान माना ही नहीं गया है।

[illegible]ङ्का होती है कि शङ्खमें स्वरूपतः * पीतरूपका अध्यास नहीं होता [illegible], किन्तु अनुभूयमान चक्षुमें रहनेवाले पित्तदोषके पीतरूपका शङ्खमें सम्बन्धमात्र अध्यस्त होता है, इसलिए पीतिमाके अनुभवके लिए चक्षुकी अपेक्षा है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि यदि नेत्रगत पित्तद्रव्यके ही पीतरूपका अनुभवस्वीकार किया जाय, तो शङ्ख और पीतके संसर्गका प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, क्योंकि नेत्रप्रदेशमें रहनेवाले पित्तद्रव्यका जो पीतरूप है, उस पीताकारवृत्तिसे अभिव्यक्त चैतन्यरूप साक्षीके साथ शङ्ख और शङ्खमें आरोपित पीतसंसर्गका सम्बन्ध न होनेके कारण शङ्ख और पीतसंसर्गका

---

* जैसे शुक्तिमें रजतका स्वरूपसे अध्यास होता है, वैसे ही शङ्खमें पीतरूपका स्वरूपसे अध्यास नहीं होता, किन्तु नेत्रमें विद्यमान पीतरूपसे युक्त जो पित्तलक्षण द्रव्य है, उसकी जो पीतिमा है, जिसका कि उस पित्तद्रव्यमें अनुभव होता है, उसका शङ्खमें सम्बन्धमात्र प्रतीत होता है, जैसे लोहित कुसुममें अनुभूयमान रक्तरूपके संसर्गका समीपवर्ती स्फटिकमें अध्यास होता है, इस विषयमें किसीको यदि शङ्का हो कि अन्यके रूपका अन्यत्र आरोप करेंगे, तो अन्यथाख्यातिकी प्रसक्ति होगी? तो कहिए कि अन्यथाख्यातिकी

न च नयनप्रदेशस्थितस्य पित्तपीतिम्नो दोषाच्छङ्खे संसर्गाध्यासो नोपेयते; किन्तु नयनरश्मिभिः सह निर्गतस्य विषयव्यापिनस्तस्य तत्र संसर्गाध्यासः। कुसुम्भारुणित इव कौसुम्भ इति सम्भवति तदाकारवृत्त्यभिव्यक्तसाक्षिसंसर्ग इति वाच्यम्; तथा सति सुवर्णलिप्त इव पित्तोपहतनयनेन वीक्ष्यमाणे शङ्खे तदितरेषामपि पीतिमधीप्रसङ्गात्।

न च स पीतिमा समीपे गृहीत एव दूरे ग्रहीतुं शक्यः, विहायसि उपर्युत्पतन्विहङ्गम इव इतरेषां च समीपे न ग्रहणमिति वाच्यम्;

साक्षीसे भान ही नहीं होगा और पीतिमासे सम्बद्ध शङ्खविषयक एक वृत्तिका अङ्गीकार भी नहीं है, [जिससे कि उसके द्वारा भी उनका प्रत्यक्ष हो]।

यदि कहो कि नेत्रप्रदेशमें स्थित पित्तद्रव्यकी पीतिमाके दोषसे शङ्खमें संसर्गाध्यास नहीं होता है, किन्तु नयनरश्मियोंके साथ निकलकर विषय-देशको अर्थात् शङ्खरूप अधिष्ठानको व्याप्त पित्तद्रव्यकी पीतिमाका ही शङ्खमें संसर्गाध्यास होता है, जैसे रक्तरङ्गसे व्याप्त पटमें रक्तरङ्गमें अनुभूयमान रक्तरूपके ही संसर्गका भान होता है, इसलिए पित्तपीतमाकारवृत्तिसे शङ्खदेशमें चैतन्यकी अभिव्यक्ति होनेसे शङ्खपित्तपीतिमाके संसर्गका अपरोक्षानुभव हो सकता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जैसे सुवर्णसे लिप्त पदार्थ सभी को पीत भासता है, वैसे ही पित्तदोषसे दुष्ट नेत्र द्वारा देखे गये शङ्खमें सभीको पीतिमबुद्धिकी प्रसक्ति होगी [कारण कि नयनगत पित्तपीतिमाका, जिसका कि अन्य भी अनुभव कर रहे हैं, उनको भी शङ्खके साथ उसका सम्बन्ध होनेसे 'पीतः शङ्खः' इस ज्ञानकी प्रसक्ति होगी, यह भाव है]।

यदि कहो कि उस पीतिमाका दूरमें तभी ग्रहण हो सकता है, जब कि उसका समीपमें ग्रहण हुआ हो, जैसे आकाशमें ऊपर उड़े हुए पक्षीका तभी ग्रहण हो सकता है, जब कि उसका समीपमें ग्रहण हुआ हो, वैसे ही उस पित्तद्रव्यकी पीतिमाका समीपमें दूसरोंने ग्रहण नहीं किया, अतः उसका दूसरोंको अनुभव

प्रसक्ति नहीं होगी, क्योंकि वहांपर अध्यस्यमान अनिर्वचनीय संसर्गकी ही उत्पत्ति मानते हैं, इसलिए अन्यथाख्यातिवादकी प्रसक्ति नहीं है, अन्यथाख्यातिवादी अनिर्वचनीय पदार्थकी उत्पत्ति नहीं मानते हैं, इसलिए अन्यथाख्यातिवादसे संसर्गाध्यास अवश्य विलक्षण है, यह भाव है।

इतरेषामपि तच्चक्षुर्निकटन्यस्तचक्षुषां पीतिमसामीप्यसत्त्वेन तद्ग्रहणस्य दुर्वारत्वात् । एवमप्यतिधवलसिकतामयतलप्रवहदच्छनदीजले नैल्याध्यासे गगननैल्याध्यासे च रक्तवस्त्रेषु निशि चन्द्रिकायां नैल्याध्यासे चाऽनुभूयमानारोपस्य वक्तुमशक्यत्वेन तत्र नैल्यसंसृष्टाधिष्ठानगोचरचाक्षुषवृत्त्यनभ्युपगमे चक्षुरनुपयोगस्य दुष्परिहरत्वाच्च ।

'अनास्वादिततिक्तरसस्य बालस्य मधुरे तिक्तताऽवभासो जन्मान्तरानुभवजन्यसंस्कारहेतुकः' इति प्रतिपादयता पञ्चपादिकाग्रन्थेन

नहीं * होता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उस पुरुषके पाण्डुरोगी चक्षुकी सन्निधिमें चक्षुओंको ले जानेवाले अन्य पुरुषोंको भी पीतिमाका समीप्य होनेसे 'पीतः शङ्खः' यह ज्ञान दुर्वार हो जायगा † । ऐसे ही अत्यन्त श्वेत बालुकामय तलमें बहनेवाले स्वच्छ नदी जलमें नीलत्वके अध्यासमें, गगनमें नैल्यके अध्यासमें तथा चाँदनी रातमें रक्त वस्त्रमें नैल्यके अध्यासमें आरोप्यके सवर्था अनुभूयमान न होनेसे वहाँ नीलतासे संयुक्त अधिष्ठानविषयक नेत्रवृत्तिका स्वीकार न होनेके कारण चक्षुकी अनुपयोगिताका परिहार किया ही नहीं जा सकता ।

'इस जन्ममें जिसने अपनी रसनासे तिक्तताका (तीतेपनका) अनुभव नहीं किया है, ऐसे बालकको मधुर दूधमें तिक्तताका ‡अवभास—साक्षात्कार—जन्मान्तरके अनुभूत तिक्तरसके संस्कारसे होता है, इस प्रकारसे प्रतिपादन करने-

---

* तात्पर्य यह है कि नेत्रदेशसे विषयके प्रति पित्तद्रव्यके जानेके समय जैसे पित्तासे युक्त पुरुष नयनदेशसे लेकर विषयदेशतक पीतिमाका ग्रहण करता है, वैसे ही अन्य-पुरुष भी नेत्रदेशसे लेकर विषयदेशतक यदि उसका ग्रहण करें, तो उनको 'पीतः शङ्खः' यह प्रतीति हो, परन्तु ग्रहण नहीं करते हैं, अतः उसका ग्रहण नहीं होता है, जैसे आकाशमें उड़नेके समयमें पक्षीका भूप्रदेशसे लेकर ऊपर तक जो पुरुष ग्रहण करता है वही पुरुष आकाशमें दूर जानेपर भी पक्षीका ग्रहण करता है, अन्य ग्रहण नहीं कर सकते हैं, वैसे प्रकृतमें भी है ।

† आशय यह है—आकाशमें ऊपरको गये हुए पक्षीको देखता हुआ कोई पुरुष अन्यके प्रति यदि कहे कि जिधर मेरी आँखें गई है उधर ही तुम भी अपनी आँखें लगाओ तो तुम्हें भी वह पक्षी दिखाई पड़ेगा, ऐसा करनेपर अन्य पुरुष भी उस पक्षीको देखता है, वैसे प्रकृतमें नहीं है ।

‡ इस ग्रन्थमें तिक्तताका अवभास संस्कारसे सहकृत रसनाजन्य है, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि उसको केवल संस्कारजन्य माननेसे स्मृतित्वकी प्रसक्ति होगी । इसलिए तिक्तताके अध्यासके

स्वरूपतोऽध्यस्यमानस्यैव तिक्तरसस्यैन्द्रियकत्वस्फुटीकरणाच्च । अन्यथा तत्र रसनाव्यापारापेक्षाऽनुपपत्तेः ।

तस्मादुदाहृतनैल्याध्यासस्थलेष्वधिष्ठानसम्प्रयोगादेव तद्गोचरचाक्षुषवृत्तिसमकालोदयोऽध्यासः तस्या वृत्तेर्विषय इति तस्य चाक्षुषत्वमभ्युपगन्तव्यम् । रूपं विना केवलाधिष्ठानगोचरवृत्त्यभावे च विषयचैतन्याभिव्यक्त्यभावेन जलतदध्यस्तनैल्यादीनां तद्भास्यत्वायोगात् । तिक्तरसाध्यासस्थले त्वधिष्ठानाध्यासयोरेकेन्द्रियग्राह्यत्वाभावात् त्वगिन्द्रियजन्याधिष्ठानगोचरवृत्त्या तदवच्छिन्नचैतन्याभिव्यक्तौ पित्तोपहतरसनसम्प्रयोगादेव तत्र

वाले पञ्चपादिकाग्रन्थसे स्वरूपतः अध्यस्यमान तिक्तरसमें ही इन्द्रियजन्यज्ञानविषयत्वका स्पष्टीकरण किया गया है, अन्यथा अर्थात् आरोप्य तिक्तरस यदि इन्द्रियका विषय न माना जाय, तो बालकको तिक्तत्वके अवभासमें रसनाके व्यापारकी अपेक्षा ही नहीं † होगी ।

इससे * जिन नैल्य आदिके अध्यासोंका कथन किया गया है, उन अध्यास स्थलोंमें अधिष्ठानके सम्प्रयोगसे ही अधिष्ठानविषयक चाक्षुषवृत्तिके समकालमें उत्पन्न होनेवाले नीलरूप आदि अध्यास—अध्यस्त पदार्थ—उस वृत्तिके विषय होते हैं, इससे उस अध्यासको चक्षुसे जन्य मानना चाहिए । रूपके विना केवल अधिष्ठानविषयक वृत्तिके न होनेपर अर्थात् आरोपित पीतरूप आदिसे विशिष्ट शङ्ख आदि अधिष्ठानविषयक वृत्तिका स्वीकार न होनेपर विषयावच्छिन्न चैतन्यकी अभिव्यक्ति न होनेसे जल आदि तथा उससे अवच्छिन्न चैतन्यमें अध्यस्त नीलरूप आदिका चैतन्यसे अवभास ही नहीं होगा । तीतेपनका [जिस स्थलमें बालकको दुग्धमें] अध्यास होता है, उस स्थलमें, तो अधिष्ठान और अध्यासका एक इन्द्रियसे ग्रहण न होनेके कारण त्वक् इन्द्रियसे उत्पन्न अधिष्ठानको विषय करनेवाली वृत्तिसे मधुर आदि द्रव्यरूप अधिष्ठानावच्छिन्न चैतन्यकी अभिव्यक्ति होनेपर पित्तदोषसे दूषित रसनाके सम्प्रयोगसे ही अधिष्ठानावच्छिन्न चैतन्यमें

अधिष्ठानभूत मधुर द्रव्यका रसनासे प्रत्यक्ष होनेके कारण परिशेषात् स्वरूपतः अध्यस्यमान तिक्त रसमें ही रसनेन्द्रियजन्यवृत्तिविषयत्व है, ऐसा स्पष्ट किया गया, अतः यह ग्रन्थ आरोप्यके ऐन्द्रियकत्व होनेमें प्रमाण है, यह भाव है ।

* अर्थात् अध्यस्यमान पदार्थको जो साक्षिभास्य मानते हैं, उनके मतमें पीतशङ्ख आदि अध्यासोंमें चक्षुकी अनुपयोगिताके परिहारका असम्भव होनेसे, यह अर्थ है ।

तिक्तरसाध्यासः तन्मात्रविषयरासनवृत्तिश्च समकालमुदेतीति तिक्तरसस्य रासनत्वमप्यभ्युपगन्तव्यम् । त्वगिन्द्रियजन्याधिष्ठानगोचरवृत्त्यभिव्यक्त-चैतन्यभास्ये तिक्तरसे परम्परयाऽपि रसनोपयोगाभावेन तत्र कथमपि प्रकारान्तरेण रासनत्वानुभवसमर्थनासम्भवात् । तथैव रजतस्याऽपि चाक्षुषत्वोपपत्तेः 'पश्यामि' इत्यनुभवो न बाधनीयः । न चाऽसम्प्रयुक्तस्य रजतस्य चाक्षुषत्वे 'प्रत्यक्षमात्रे विषयेन्द्रियसन्निकर्षः कारणम्,' 'द्रव्यप्रत्यक्षे

अध्यस्त तिक्तरसका और तिक्तमात्रको विषय करनेवाली रासनवृत्तिका एक कालमें * उदय होता है, अतः तिक्त रसका रसनासे प्रत्यक्ष होता है, यह मानना चाहिए, क्योंकि त्वगिन्द्रियसे उत्पन्न होनेवाली अधिष्ठानविषयकवृत्तिसे अभिव्यक्त चैतन्यसे भास्य तिक्तरसमें रसनाका परम्परया भी उपयोग नहीं होता है, इसलिए अन्य किसी प्रकारसे भी तिक्तरसका रसनासे प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है । वैसे ही अर्थात् जैसे रसना (जिह्वा) इन्द्रियकी वृत्तिको लेकर तिक्तरसमें रासनत्वका अनुभव माना गया, वैसे ही चक्षुकी वृत्तिके आधारपर रजत आदिमें चाक्षुषत्वानुभवका समर्थन हो सकता है, अतः 'रजतं पश्यामि' (रजतको देखता हूँ) इस प्रकार चाक्षुषानुभवका † बाध मानना युक्तियुक्त नहीं है । यदि शङ्का हो कि इन्द्रियसे असम्प्रयुक्त रजतका प्रत्यक्ष माननेपर 'प्रत्यक्षमात्रमें विषय और इन्द्रियका संसर्ग कारण है, 'द्रव्यके प्रत्यक्षमें

* तात्पर्य यह है कि पित्तरूप दोषसे तिरस्कृत जो रसनेन्द्रिय है, उसके साथ मधुर द्रव्य-रूप अधिष्ठानका सम्बन्ध होनेसे मधुरद्रव्यावच्छिन्न चैतन्यमें तिक्तरसाध्यास उत्पन्न होता है, इसीके साथ-साथ अध्यस्यमान तिक्तरसको ही विषय करनेवाली रासनवृत्ति भी उत्पन्न होती है, इसलिए तिक्तरसका रसनासे अनुभव होता है, चाक्षुष स्थलमें जैसे अधिष्ठान और आरोप्यके एकवृत्तिविषयत्व होनेसे इन्द्रियजन्यज्ञान विषयता है, वैसे प्रकृत में नहीं है ।

† अर्थात् जैसे रजत आदिके अध्यासस्थलमें धर्मिविषयक वृत्तिके उत्पादनद्वारा चाक्षुषत्वका समर्थन किया जाता है, वैसे प्रकृतमें मधुरद्रव्यरूप धर्मिविषयक वृत्तिके उत्पादनद्वारा रासनत्वका समर्थन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि मधुरद्रव्यरूप धर्मी सर्वथा रसनाके अयोग्य है—द्रव्यके ग्रहणमें रसनाकी सामर्थ्य नहीं है । इसलिए परम्परासे भी तिक्त रसका रसनासे ग्रहण नहीं हो सकता है, अतः रसनावृत्तिकी समकालमें उत्पत्ति माननी पड़ती है । यद्यपि साक्षीसे भासित स्वाप्निक पदार्थोंमें रासनत्व, चाक्षुषत्व आदिके आरोपका जैसे आगे प्रतिपादन किया जायगा, वैसे ही प्रकृतस्थलमें रासनत्व आदिकी उपपत्ति कर सकते हैं, तथापि उस विषयके ऊपर दृष्टि न देकर ही यह कहा गया है ।

तत्संयोगः कारणम्,' 'रजतप्रत्यक्षे रजतसंयोगः कारणम्' इति गृहीतानेककार्यकारणभावनियमभङ्गः स्यादिति वाच्यम्, सन्निकर्षत्वस्य संयोगाद्यनुगतस्यैकस्याऽभावेन आद्यनियमासिद्धेः। द्वितीयनियमस्य नैयायिकरीत्या तमसीव संयोगायोग्ये क्वचिदद्रव्येऽपि द्रव्यत्वाध्याससम्भवाद् व्यवहारदृष्ट्या

द्रव्यके साथ इन्द्रियसंयोग कारण है और 'रजतके प्रत्यक्षमें रजतका संयोग कारण है, इस प्रकार निश्चित किये गये अनेक कार्यकारणभावोंका भंग-त्याग होगा, तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि संयोग आदिमें अनुगत एक सन्निकर्षत्वके न होनेसे प्रत्यक्षमात्रमें * विषयेन्द्रियसन्निकर्ष कारण है, इस प्रकार प्रथम कार्यकारणभाव ही असिद्ध है। जैसे नैयायिकोंके मतमें † संयोगके सर्वथा अयोग्य तममें (अन्धकारमें) द्रव्यत्वका अध्यास होता है, वैसे ही संयोगके सर्वथा अयोग्य कहीं अद्रव्य (गुण) आदिमें भी ‡ द्रव्यत्वका अध्यास

---

* इस नियमका ठीक-ठीक आकार यह है—शाब्दभिन्न जन्यप्रत्यक्षमात्रमें विषय-इन्द्रियका सन्निकर्ष कारण है, शब्दजन्य ज्ञानको जो अपरोक्ष मानते हैं, उनके मतसे शाब्दज्ञानमें व्यभिचारवारण करनेके लिए शाब्दभिन्न विशेषण है और साक्षीरूप प्रत्यक्षमें अतिव्याप्ति वारण करनेके लिए जन्यत्व विशेषण दिया गया है। यहाँपर यह ज्ञातव्य है कि सन्निकर्षत्वका संयोगाद्यन्यतमत्वरूपसे अनुगम हो सकता है, अथवा नैयायिकोंके मतमें अभावत्वको जैसे अखण्डोपाधि मानते हैं, वैसे ही सन्निकर्षत्वको अखण्डोपाधि मान करके अनुगम कर सकते हैं, अतः प्रथम नियमके साथ विरोध ही है।

† तात्पर्य यह है कि 'द्रव्यप्रत्यक्षमें विषय और इन्द्रियसंयोग कारण है' इस नियमका अर्थ आपको करना होगा व्यवहारमें जो द्रव्यत्वका अधिकरण है उस विषय और इन्द्रियका संयोग कारण है, क्योंकि 'एकत्वम् एकम्' (एकत्व एक है) इस प्रकार गुणमें भी एकत्वका भ्रम होनेसे द्रव्यत्वका भ्रम हो सकता है, पर वहाँ द्रव्यके साथ संयोग न होनेके कारण उक्त नियमका व्यभिचार होगा, इसलिए व्यावहारिक दृष्टिसे द्रव्यत्वाधिकरणके प्रत्यक्षमें इन्द्रियसंयोगको कारण मानना होगा। यदि इसे स्वीकार न किया जाय, तो तममें द्रव्यत्वका भ्रम होनेके अनन्तर उसका प्रत्यक्ष नहीं होगा, क्योंकि वहाँ द्रव्यसंयोग नहीं है, कारण कि तमके नैयायिकरीतिसे अभावरूप होनेके कारण उसके साथ इन्द्रियसंयोग ही नहीं हो सकता है, अतः नैयायिकोंको भी अगत्या व्यावहारिक द्रव्यत्वाधिकरणके प्रत्यक्षमें इन्द्रियसंयोग कारण है, यह मानना होगा और माननेपर विरोध नहीं है, कारण कि शुक्तिरजतके प्रत्यक्षमें उस नियमकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि शुक्तिरजत व्यावहारिक द्रव्यत्वका अधिकरण नहीं है, यह भाव है।

‡ इस विषयमें कोई लोग शङ्का करते हैं कि घटादिके समान शुक्तिरजतमें भी स्वतः द्रव्यत्व रहता है, अन्यथा उस रजतमें रजतत्व भी नहीं रहेगा, इष्टापत्ति नहीं हो सकती, कारण कि प्रातिभासिक रजतमें रजतत्वका साधन किया गया है, इसलिए शुक्तिरजत भी

यद् द्रव्यत्वाधिकरणं तद्विषयत्वेन प्रातिभासिकरजते द्रव्यत्वस्याऽधिष्ठानगतस्यैवेदंत्ववदध्यासात् प्रतीत्यभ्युपगमेन च द्वितीयनियमाविरोधात्। द्वितीयनियमरूपसामान्यकार्यकारणभावातिरेकेण विशिष्याऽपि कार्यकारणभावकल्पनाया गौरवपराहतत्वेन तृतीयनियमासिद्धेः। 'यत्सामान्ये यत्सामान्यं हेतुः, तद्विशेषे तद्विशेषो हेतुः' इति न्यायस्यापि यत्र बीजाङ्कुरादौ

हो सकता है, अतः द्वितीय नियमका यह अर्थ करना होगा कि व्यवहारकी दृष्टिसे जो द्रव्यत्वका अधिकरण हो, उसके प्रत्यक्षमें इन्द्रियसंयोग कारण है, अतः प्रातिभासिक रजतमें इदंत्वके समान अधिष्ठानमें रहनेवाले द्रव्यत्वका भी अध्यास होनेसे प्रतीति होती है, इसलिए द्वितीय नियमके साथ विरोध नहीं है। और 'रजतके प्रत्यक्षमें रजतका संयोग कारण है' इस प्रकारका जो तृतीय नियम है, वह भी असिद्ध है, क्योंकि सामान्य कार्यकारणभावात्मक द्वितीय नियमसे (द्रव्यप्रत्यक्षमें इन्द्रियसंयोग कारण है, इससे) अतिरिक्त विशेष तृतीय कार्यकारणभावकी कल्पना करनेमें केवल गौरव ही है। जिस सामान्यमें * जो सामान्य कारण होता है उसके विशेषमें उसका विशेष कारण होता है इस न्यायसे तृतीय कार्यकारणभावकी कल्पना करेंगे? इस प्रकार यदि शङ्का हो, तो वह

व्यावहारिक द्रव्यत्वका अधिकरण है, ऐसा मानना होगा, क्योंकि व्यवहारदशामें जैसे रजतका बाध देखा जाता है, वैसे शुक्तिरजतमें रजतत्वका या द्रव्यत्वका बाध नहीं देखा जाता। इस परिस्थितिमें इन्द्रियासंयुक्त रजतमें इन्द्रियवृत्ति मानी जायगी, तो द्वितीय नियमका विरोध निवृत्त कदापि नहीं होगा, इस पूर्वपक्षके उत्तरमें यह कहा जाता है कि शुक्तिरजत आदिमें शुक्तित्व, द्रव्यत्व आदि धर्म नहीं हैं, ऐसा स्वीकार करनेवालोंके मतसे यह कहा गया है अर्थात् व्यावहारिक दशामें द्रव्यत्व या शुक्तित्व नहीं है परन्तु प्रातीतिक है, अतः इसी अभिप्रायसे मूलमें 'प्रातिभासिकरजते' इत्यादि कहा है।

* तात्पर्य यह है कि 'द्रव्यप्रत्यक्षमें इन्द्रियसंयोग कारण है' इस सामान्य नियमके माननेसे 'रजतप्रत्यक्षमें रजतेन्द्रियसंयोग कारण है' इस विशेष नियमका लाभ होता है, क्योंकि जिस सामान्यमें जो सामान्य कारण होता है उसके विशेषमें उसका विशेष कारण होता है, प्रकृतमें सामान्य द्रव्य प्रत्यक्षमें सामान्य-विषयसंयोग कारण है, अतः रजतरूप विशेषद्रव्यके प्रत्यक्षमें विशेष रजतसंयोग कारण होगा, अतः इन्द्रियसंयोगके विना यदि रजतकी वृत्ति मानी जायगी, तो तृतीय नियमके साथ विरोध होगा, यह प्रश्न है, इसका उत्तर है कि उस विशेष नियमका तभी स्वीकार किया जाय, जब कि सामान्यमें बाध हो, परन्तु बाध है नहीं, अतः उसको नहीं मानते हैं।

सामान्यकार्यकारणभावाभ्युपगमे बीजान्तरादङ्कुरान्तरोत्पत्त्यादिप्रसङ्गः, तद्विषयत्वेन ततोऽजागलस्तनायमानविशेषकार्यकारणभावासिद्धेः ।

न चाऽत्राऽपि 'द्रव्यप्रत्यक्षे द्रव्यसंयोगः कारणम्' इति सामान्यनियममात्रोपगमे अन्यसंयोगादन्यद्रव्यप्रत्यक्षापत्तिरिति अतिप्रसङ्गोऽस्तीति वाच्यम्; 'तत्तद्द्रव्यप्रत्यक्षे तत्तद्द्रव्यसंयोगः कारणम्' इति नियमाभ्युपगमात्; अन्यथा तृतीय नियमेऽप्यतिप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात्; तस्मान्नास्ति क्लृप्तनियमभङ्गप्रसङ्गः ।

युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त जो 'यत्सामान्ये' यह न्याय है, वह भी वहींपर प्रवृत्त होता है, जहां बीज आदि स्थलमें† केवल सामान्य कार्यकारणभाव माननेमें बीजान्तरसे अङ्कुरान्तरकी उत्पत्ति प्रसक्त होती है अर्थात् सामान्य कार्यकारणभावका जहाँ अतिप्रसङ्ग होता है, वहाँ यह न्याय प्रवृत्त होता है, अन्यत्र नहीं, इसलिए उक्त न्यायसे अजागलस्तनके † समान निरर्थक उक्त विशेष कार्यकारणभावकी सिद्धि नहीं होती है ।

यदि शङ्का हो कि 'द्रव्य प्रत्यक्षमें द्रव्यसंयोग कारण है' इस प्रकारके केवल सामान्य नियमके माननेपर अन्य संयोगसे अन्य द्रव्यके प्रत्यक्षकी आपत्ति आ सकती है, इसलिए अतिप्रसङ्ग है [अतः उक्त तृतीय नियम मानना अत्यन्त आवश्यक है] तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि तत्-तत् द्रव्यके प्रत्यक्षमें तत्-तत् द्रव्यसंयोग कारण है, इस प्रकारका नियम माननेसे भी * अतिप्रसङ्गका परिहार हो सकता है । यदि उक्तन्यायसे तृतीय नियमकी कल्पना की जायगी, तो उसमें भी अतिप्रसङ्गका परिहार नहीं हो सकता है, इससे उक्त नियमके भङ्गकी प्रसक्ति नहीं है ।

---

† बकरीके गलेमें लटकनेवाले लम्बे स्तनको अजागलस्तन कहते हैं, जैसे वे बकरीके स्तन किसी काममें नहीं आते हैं, निरर्थक हैं, वैसे ही प्रकृतमें विशेषनियमकी कोई आवश्यकता न होनेसे वह निरर्थक है, यह भाव है ।

* अङ्कुरसामान्यके प्रति बीजसामान्यको कारण माननेसे अन्य बीजसे अन्य अङ्कुरकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग आ सकता है, इसलिए सामान्यनियममें बाधक होने से जैसे तत्-तत् अङ्कुरकी उत्पत्तिके प्रति तत्-तत् बीज ही कारण' माना जाता है, वैसे ही तत्-तत् द्रव्यके प्रत्यक्षके प्रति तत्-तत् द्रव्यसंयोगव्यक्तिको कारण मानना चाहिए, इससे अन्य द्रव्यके संयोगसे अन्य द्रव्यके प्रत्यक्षकी आपत्ति नहीं है, इसपर भी यदि तृतीय नियमका अङ्गीकार किया

किं चाऽत्र क्लृप्तनियमभङ्गेऽपि न दोषः, 'इदं रजतं पश्यामि, नीलं जलं पश्यामि', इत्यादेरनन्यथासिद्धस्याऽनुभवस्य प्रथमगृहीतानामपि 'प्रत्यक्षमात्रे विषयसन्निकर्षः कारणम्' इत्यादिनियमानां व्यावहारिकविषये सङ्कोचकल्पनमन्तरेणोपपादनासम्भवात् ।

न चैवं सति 'प्रमायां सन्निकर्षः कारणम्, न भ्रमे' इत्यपि सङ्कोचकल्पनासम्भवाद् असन्निकृष्टस्यैव देशान्तरस्थस्य रजतस्य इहाऽऽरोपापत्तिरिति अन्यथाख्यातिवादप्रसारिका; अभिव्यक्तचैतन्यावगुण्ठनशून्यस्य देशान्तर-

किञ्च, शुक्तिरजत आदि स्थलमें नियमका भङ्ग होनेपर भी दोष नहीं है, क्योंकि 'इस रजतको देखता हूँ' 'नील जलको देखता हूँ' इत्यादि अनन्यथासिद्ध अनुभवकी—'प्रत्यक्षमात्रमें विषयका संनिकर्ष कारण है' इत्यादि प्रथमतः गृहीत नियमोंका व्यावहारिक विषयमें संकोच किये बिना—उपपत्ति हो ही नहीं सकती है † ।

यदि शङ्का हो कि 'प्रमामें सन्निकर्ष कारण है, भ्रममें नहीं' इस प्रकारसे भी नियमके संकोचकी कल्पना हो सकनेसे शुक्तिमें असन्निकृष्ट अन्यदेशस्थ रजतके ही आरोपकी आपत्ति होगी, इसलिए अन्यथाख्यातिवाद भी प्रसक्त होता है; नहीं, यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि अभिव्यक्त चैतन्यके तादात्म्यसे शून्य अन्यदेशस्थ रजतकी अपरोक्षता ही नहीं हो सकती * । और ख्याति (अपरोक्ष-

जायगा, तो अन्य रजतके संयोगसे अन्य रजतके प्रत्यक्षकी आपत्ति रहेगी ही। इससे अर्थात् प्रथम और तृतीय नियमके असिद्ध होनेसे और द्वितीय नियमके साथ विरोध न होनेसे उक्त नियमोंके साथ असंयुक्त (प्रातिभासिक) पदार्थकी चाक्षुष वृत्ति मानी जाय, तो भी विरोध नहीं है, यह भाव है ।

† तात्पर्य यह है कि जैसे स्वप्नप्रपञ्चके केवल साक्षिभास्य होनेपर भी उसमें चाक्षुषत्वक अनुभव होता है, परन्तु उस दशामें चक्षु आदिका उपराम होनेसे उनके साथ उन विषयोंका सम्बन्ध नहीं है, इसी प्रकार शुक्तिरजत आदिमें 'रजत देखता हूँ' इत्यादि अनुभव होनेसे उनका चाक्षुषत्व स्वीकार किया जाता है, इसलिए उक्त नियमोंके सङ्कुचित होनेपर भी कोई आपत्ति नहीं है ।

* शङ्का और समाधानका तात्पर्य यह है—पूर्वमें इसका प्रतिपादन हुआ है कि 'प्रत्यक्षमात्रमें विषयसन्निकर्ष कारण है' इस सामान्य नियमका अनुभवके अनुसार व्यावहारिक विषयमें संकोच करना चाहिए, इसलिए प्रातीतिक पदार्थोंके अनुभवमें उक्त नियम बाधक नहीं है, इसपर 'न चैवं सति' इत्यादिसे पुनः शङ्का करते हैं कि जब उक्त नियमका संकोच करना अभीष्ट है, तो

स्थस्य रजतस्याऽऽपरोक्ष्यानुपपत्तेः। ख्यातिबाधानुपपत्त्यादिभिर्भ्रमविषयस्याऽनिर्वचनीयत्वसिद्धेश्च।

न चाऽधिष्ठानसम्प्रयोगमात्रात् प्रातिभासिकस्यैन्द्रियकत्वोपगमे शुक्तिरजताध्याससमये तत्रैव कालान्तरे अध्यसनीयस्य रङ्गस्याऽपि चाक्षुषत्वं

रूपसे रजतकी प्रतीति) एवं बाधकी अनुपपत्ति आदिसे भ्रमज्ञानके विषय अनिर्वचनीयत्व ही सिद्ध होता है।

शङ्का होती है कि यदि केवल अधिष्ठानके सम्प्रयोगसे ही प्रातिभासिक रजतादिमें इन्द्रियजन्य ज्ञानकी विषयताका स्वीकार करते हो, तो शुक्तिमें ही कालान्तरमें अध्यस्त होनेवाले रङ्गका भी शुक्तिरजताध्यासके समयमें चक्षुसे ग्रहण

तुल्ययुक्तिसे उस नियमका यही संकोच क्यों न किया जाय कि प्रमामें संन्निकर्ष कारण है, और भ्रममें कारण नहीं है, क्योंकि नैयायिकोंका मत है कि भ्रमका विषय है देशान्तरस्थ रजत, इस विषयमें अन्य वादियोंने शङ्का की है कि असन्निकृष्ट रजतका प्रत्यक्ष कैसे होगा ? तब नैयायिकोंने उत्तर दिया है कि 'प्रत्यक्षमें सन्निकर्ष कारण है' इस नियमका जैसे आप व्यावहारिक पदार्थप्रत्यक्षविषयत्वरूपसे संकोच करते हैं, वैसे हमारे मतमें 'प्रमा-प्रत्यक्षमें सन्निकर्ष कारण है' इस प्रकार संकोच कर सकते हैं, अतः नैयायिकोंके मतमें कोई दोष नहीं है। इसलिए नैयायिकाभिमत उक्त नियमका संकोच भी प्राप्त हो सकता है और शुक्तिरजतस्थलमें देशान्तरस्थ रजतकी प्राप्ति होनेसे अन्यथाख्यातिवाद प्रसक्त हो सकता है, अनिर्वचनीयवाद नहीं, इसपर उत्तर दिया जाता है—विषयप्रत्यक्षत्वमें इन्द्रियसन्निकृष्टत्व प्रयोजक नहीं है, किन्तु अभिव्यक्त चैतन्याभिन्नत्व ही प्रयोजक है, इसका विचार भी आगे किया जायगा। इसलिए यदि शुक्ति-रजतको देशान्तरस्थ ही माना जायगा, तो अभिव्यक्त चैतन्याभेदका असम्भव होनेसे उस रजतका प्रत्यक्ष ही नहीं हो सकेगा, अतः अभिव्यक्त चैतन्यके अभेदके लिए अवश्य शुक्तिदेशोत्पन्न रजत ही मानना चाहिए। तथा ख्याति और बाधकी अनुपपत्तिसे भी अनिर्वचनीय रजत ही सिद्ध होगा, क्योंकि ख्याति शब्दका अर्थ है—अपरोक्ष प्रतीति, शुक्ति रजतके देशान्तरस्थ होनेपर उसकी अपरोक्षप्रतीति नहीं हो सकती है, और उसे असत् माननेपर भी नहीं हो सकती है, अतः यही प्रतीति शुक्ति-रजतमें असत्त्व और देशान्तरस्थत्वका निरास करती है, और बाधक प्रतीति है—तीनों कालमें भी यह रजत नहीं है, इस बाधक प्रतीतिसे रजतसमयमें भी शुक्तिमें रजतका अभाव सिद्ध होता है, अब देखिये कि यदि शुक्तिमें रजत नहीं है, तो उसकी ख्याति अपरोक्षप्रतीति नहीं होगी, यदि शुक्तिमें रजत सत्य होगा, तो उसका बाध नहीं होगा, क्योंकि सत्य शुक्तित्वका उसमें बाध नहीं होता है, अतः इस प्रकारके ख्याति और बाधकी अनुपपत्तिसे रजतमें अनिर्वचनीयत्वकी भी सिद्धि होती है, अतः पूर्वोक्त रीतिसे किया हुआ नियमका संकोच ही युक्त है।

कुतो न स्यादिति वाच्यम्; रजताध्याससमये रङ्गरजतसाधारणचाकचक्यदर्शनाविशेषेऽपि यतो रागादिरूपपुरुषदोषाभावादितस्तत्र तदा न रङ्गाध्यासः, तत एव मया तद्विषयवृत्त्यनुदयस्याऽभ्युपगमात्। तस्मादिदमंशसंभिन्नरजतगोचरैकैव वृत्तिरिन्द्रियजन्या। न ततः प्रागिदमाकारा वृत्तिरिति नाऽत्रैवेयमज्ञाननिवर्तकत्वसदसद्भावचिन्ता कार्येति।

क्यों नहीं होता है †? यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि रजतके अध्यासके समयमें रङ्ग और रजतके साधारण चाकचक्य दर्शनके समान होनेपर भी जिस रागादि पुरुषदोषके अभावसे शुक्तिमें रजताध्यास कालमें रङ्गका अध्यास तुम नहीं मानते हो, उसी कारणसे हम रङ्गविषयक वृत्तिकी उत्पत्ति नहीं मानते हैं, इसलिए रङ्गका अध्यास रजताध्यासकालमें नहीं होता है। इससे अर्थात् धर्मिज्ञानको कारण न माननेसे 'इदं रजतम्' इसमें इदमंशसे सम्मिलित रजतविषयक एक ही वृत्ति इन्द्रियसे उत्पन्न होती है। उससे पूर्व इदमाकार वृत्ति उत्पन्न नहीं होती है, इसलिए प्रकृतमें अज्ञाननिवर्तकत्वके सद्भाव और असद्भावकी चिन्ता करना व्यर्थ है।

---

† शङ्काका तात्पर्य यह है कि यदि अधिष्ठानके सम्प्रयोगमात्रसे ही प्रातिभासिक पदार्थोंका इन्द्रियज्ञान होता है, तो शुक्तिमें अन्य कालमें अध्यस्त होनेवाला रङ्ग रजतके अध्यासकालमें चाक्षुष वृत्तिका विषय क्यों न हो? कारण कि वह चाक्षुषवृत्ति जैसे रजततादात्म्याश्रय इदमर्थसम्प्रयोगजन्य है, वैसे ही कालान्तरीय रङ्गतादात्म्याश्रय इदमर्थसम्प्रयोगजन्य भी है, इसलिए सम्प्रयोग वृत्तिका हेतु नहीं है, किन्तु सादृश्यविशिष्ट धर्मिज्ञानका हेतु है, और वही सादृश्यज्ञान दोषरूपसे और धर्मिज्ञानरूपसे रजताध्यासमें कारण है, इसी प्रकार रजत साक्षिभास्य है, यही मानना चाहिए। इसपर उत्तर देते हैं कि तुम्हारे मतमें भी रजताध्यासके समयमें रङ्ग आदिका अध्यास क्यों नहीं होता है, इसका उत्तर देना होगा, यदि कहोगे कि चाकचक्य आदि ज्ञानके समान होनेपर भी रजतके अध्याससमयमें रङ्गविषयक राग आदि, जो पुरुषदोष हैं, उनके न रहनेसे रजताध्यासकालमें रङ्गाध्यास नहीं होता है, तो इसी प्रकार हम (कवितार्किमतानुयायी) भी कहते हैं कि रागादि पुरुषदोषोंके न होनेसे रजताध्यासकालमें रङ्गवृत्तिका उदय नहीं होता है, यह कवितार्किकमत ही युक्त है, ऐसा 'तस्मात्' इत्यादिसे उपसंहार किया है।

अन्ये त्वेकैव सामान्यवृत्तिर्वा भ्रान्तिकारणम् ।
तत्साक्षिभास्यमध्यस्तमलं वृत्त्येति मेनिरे ॥११२॥

कुछ लोग कहते हैं कि (भ्रमस्थलमें) इदमाकार सामान्य वृत्ति एक ही है, और वही अध्यासके प्रति कारण है अध्यस्तका उस वृत्तिसे अभिव्यक्त साक्षिचैतन्यसे भान होता है, अतः रजताकार द्वितीय वृत्ति निरर्थक है ॥११२॥

अन्ये तु—'अधिष्ठानज्ञानमध्यासकारणम्' इति इदमाकारां वृत्तिमुपेत्य तदभिव्यक्तेनैव साक्षिणा तदध्यस्तस्य रजतस्याऽवभाससम्भवात् तद्भासक-साक्ष्यभिव्यञ्जिकया तयैवेदंवृत्त्या रजतविषयसंस्काराधानोपपत्तेश्च रजताकार-वृत्तिर्व्यर्थेति मन्यन्ते ।

वृत्तिरेकेदमाकारा सामान्यज्ञानरूपिणी ।
इदंरजततादात्म्यगोचराऽन्येति केचन ॥११३॥

कोई लोग कहते हैं कि ('इदं रजतम्' इत्यादि स्थलमें) सामान्य ज्ञानात्मक एक इदमाकार वृत्ति होती है, और दूसरी इदं और रजतके तादात्म्यका अवगाहन करनेवाली वृत्ति होती है ॥११३॥

ज्ञानद्वयपक्षे 'इदम्' इत्येका वृत्तिरध्यासकारणभूता । 'इदं रजतम्' इति

---

* कुछ लोग तो—अधिष्ठानज्ञान अध्यासके प्रति कारण है, इसलिए इदमा-कार वृत्तिका अङ्गीकार करके, इदमाकार वृत्तिमें अभिव्यक्त चैतन्यरूप साक्षीसे ही उसमें (इदमवच्छिन्न चैतन्यमें) अध्यस्त रजतका अवभास होनेसे और अध्यस्त रजत आदिके अवभासक साक्षीरूप चैतन्यकी अभिव्यञ्जक इदमाकार वृत्तिसे ही रजत-विषयक संस्कारोंका आधान हो सकनेसे रजताकार वृत्ति व्यर्थ ही है—ऐसा मानते हैं ।

† दो ज्ञान माननेवालोंके पक्षमें अर्थात् 'इदं रजतम्' इसमें

---

* पूर्व टिप्पणीमें कहा गया है कि धर्मिज्ञानमें अध्यासकी कारणताका जो खण्डन किया गया है, वह ऊपरी दृष्टिसे किया गया है, वस्तुतः नहीं, इसलिए धर्मिज्ञानवादीका मत कहते हैं—'अन्ये तु' इत्यादिसे ।

† जिस वृत्तिसे युक्त चैतन्यमें जितने पदार्थ भासते हों, उतने पदार्थोंमें उस वृत्तिसे संस्कारोंका आधान होता है, इस पूर्वोक्त नियमसे इदमाकार वृत्तिसे ही रजतका संस्कार हो सकता है, इसलिए रजताकार वृत्ति व्यर्थ है, यह 'अन्ये तु' मतका तात्पर्य है, और इस मतमें उक्त नियम न मानकर स्वगोचरवृत्तिसे ही स्वमें संस्कारोंका आधान होता है, यही नियम माना गया है, इसलिए इस मतमें अध्यस्त रजतविषयक भी वृत्ति मानी गई है, इसीका 'केचित्' और 'अन्ये तु' मतसे विचार हुआ है । इसमें भी पहले मतमें अध्यस्तरजतवृत्ति अध्यस्तरजतविशिष्टधर्मीको विषय करती है, और दूसरे मतमें अध्यस्तरजतमात्रको विषय करती है, यह भेद है ।

द्वितीया वृत्तिरध्यस्तरजतविषया, न त्विदमंशं विनाऽध्यस्तमात्रगोचरा सा। 'इदं रजतं जानामि' इति तस्या इदमर्थतादात्म्यापन्नरजतविषयत्वानुभवादिति केचित्।

इदं तद्वृत्त्यवच्छिन्नचिन्मोहौ तत्तदन्विते।
युगपद्रूप्यतद्वृत्ती कुर्वाते इति चाऽपरे ॥११४॥

कुछ लोग कहते हैं कि इदमवच्छिन्न चैतन्यमें और इदमंश-विषय वृत्तिसे अवच्छिन्न चैतन्यमें रहनेवाले अज्ञान रजत और रजतज्ञानरूपसे परिणत होते हैं ॥११४॥

अन्ये तु—यथा इदमंशावच्छिन्नचैतन्यस्थाऽविद्या रजताकारेण विवर्तते, एवमिदमंशविषयवृत्तिज्ञानावच्छिन्नचैतन्यस्थाऽविद्या रजतज्ञानाभासाकारेण विवर्तते, न त्विदमंशवृत्तिवदनध्यस्तं रजतज्ञानमस्ति। तथा च रजतस्य अधिष्ठानगतेदंत्वसंसर्गभानवत्तज्ज्ञानस्याऽप्यधिष्ठानगतेदंत्वविषयत्वसंसर्गभानोपपत्तेः, न तस्याऽपीदंविषयत्वमभ्युपगन्तव्यम्।

न च रजतत्ववदध्यस्तस्य रजतेदंत्वसंसर्गस्य रजतज्ञानगोचरत्वात्

'इदम्' और 'इदं रजतम्' ये दो ज्ञान होते हैं इस पक्षमें 'इदम्' इत्याकारक इदमाकारवृत्ति अध्यासकी कारणभूत है और 'इदं रजतम्' इत्याकारक दूसरी वृत्ति अध्यस्त रजतको अवगाहन करती है, इदमंशको छोड़कर केवल अध्यस्त पदार्थको अवगाहन नहीं करती है, क्योंकि 'मैं इस रजतको जानता हूँ' इस प्रकार उस वृत्तिमें इदमर्थके साथ तादात्म्यापन्न रजतविषयत्वका अनुभव होता है, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं।

इतर लोग कहते हैं कि जैसे इदमंशसे युक्त चैतन्यमें रहनेवाली अविद्या रजताकारसे परिणत होती है, वैसे ही इदमंशविषयक वृत्तिसे अवच्छिन्न चैतन्यमें रहनेवाली अविद्या अध्यस्त रजतमात्रको विषय करनेवाली वृत्तिके आकारमें परिणत होती है, इदम् अंशकी वृत्तिके समान अध्यस्त रजतगोचरवृत्ति अनध्यस्त नहीं है अर्थात् रजतज्ञानाभासरूप रजतज्ञान प्रातिभासिक ही है। इसलिए जैसे रजतके अधिष्ठानमें रहनेवाले इदन्त्वका रजतमें संसर्गका भान होता है, वैसे ही रजतके ज्ञानमें भी अधिष्ठानगत इदन्त्वविषयत्वके संसर्गका भान होता है, अतः 'इदं रजतम्' इस द्वितीय ज्ञानको इदंविषयक नहीं मानना चाहिए।

यदि शङ्का हो कि रजतत्वके समान अध्यस्त रजत और इदन्त्वके संसर्गमें रजतज्ञानकी विषयता होनेसे उस संसर्गके प्रतियोगी इदन्त्वमें भी रजतज्ञानकी

तत्प्रतियोगिन इदंत्वस्याऽपि तद्विषयत्वं वक्तव्यमिति वाच्यम्; स्वतादात्म्याश्रयस्य इदंत्वविषयत्वादेव तस्य तत्संसर्गविषयत्वे अतिप्रसङ्गाभावात्। न चाऽधिष्ठानाध्यासयोरेकस्मिन् ज्ञाने प्रकाशनियमस्य सम्भावनाभाष्यविवरणे प्रतिपादनाद् एकवृत्तिविषयत्वं वक्तव्यमिति वाच्यम्; वृत्तिभेदेऽपीदमाकारवृत्त्यभिव्यक्ते एकस्मिन् साक्षिणि तयोः प्रकाशोपगमादित्याहुः ॥१८॥

विषयता होनी चाहिए? [अन्यथा घटत्व आदिके संसर्गप्रत्यक्षमें घटत्वादिविषयताका भी अभाव प्रसक्त होनेसे अतिप्रसङ्ग होगा, तात्पर्य यह है कि पूर्वमें कहा गया है कि अध्यस्तरजतवृत्तिको इदंविषयक नहीं मानना चाहिए, क्योंकि अन्य रीतिसे उपपत्ति हो सकती है, इसपर शङ्का करनेवाला कहता है कि ज्ञानाभाससे रजतका ग्रहण करनेपर इदन्त्व संसर्गका यदि ग्रहण होता है, तो संसर्गका प्रतियोगिभूत इदन्त्व भी अवश्य गृहीत होगा, इस अवस्थामें अध्यस्त रजतज्ञानमें इदन्त्वविषयकत्व आनेसे अध्यस्तरजतविशिष्ट इदंविषयकत्व सिद्ध ही हुआ, फिर कैसे कह सकते हैं कि ज्ञानाभास रजतमात्रविषयक ही होता है?] तो यह भी शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञानाभासके साथ तादात्म्यापन्न इदमंशज्ञानके इदन्त्वविषयक होने ही से रजतज्ञानमें रजतेदन्त्वसंसर्गकी विषयता होनेसे अतिप्रसङ्ग नहीं है। [भाव यह है कि यद्यपि प्रातिभासिक—अध्यस्त रजतज्ञानका इदन्त्वरूप संसर्गप्रतियोगी विषय नहीं है, तथापि ज्ञानाभासके प्रति अधिष्ठान होनेके कारण इदमंश ज्ञानके साथ रजतज्ञानाभासका तादात्म्य है, जो इदमंश ज्ञान है, उसमें इदन्त्वरूप प्रतियोगिविषयकत्व है, अतः ज्ञानाभासमें भी इदन्त्वसंसर्गविषयकत्वका अवगाहन होता है,] पुनः यदि शङ्का हो कि अधिष्ठान और अध्यासका एक ज्ञानमें प्रकाश होता है, इसका सम्भावनाभाष्यके विवरणमें प्रतिपादन होनेके कारण उनमें एकवृत्तिविषयता होनी चाहिए, तो यह भी युक्त नहीं है, कारण कि अधिष्ठान और अध्यासकी भिन्न-भिन्न वृत्ति मानी जाय, तो भी इदमाकारवृत्तिमें अभिव्यक्त एक साक्षीमें ही उनका प्रकाश माना गया है, [तात्पर्यार्थ यह है कि अध्यस्तमात्रको विषय करनेवाली वृत्तिका विवरणकारने ही अङ्गीकार किया है, इसलिए 'एकस्मिन् ज्ञाने' (एक ज्ञानमें अधिष्ठान और अध्यासका प्रकाश होता है) इत्यादि नियममें कथित ज्ञानशब्द साक्षीका ही वाची है, वृत्तिका वाची नहीं है, इसलिए दोष नहीं है] ॥१८॥

ननु हेतुनियम्यत्वात् परोक्षत्वापरोक्षयोः ।
वृत्तेर्निर्गमनं व्यर्थमेवं केचित् समादधुः ॥११५॥

परोक्षत्व और अपरोक्षत्वकी विलक्षणताके करणविशेषके अधीन हो सकनेसे वृत्तिका निर्गमन व्यर्थ है, इस प्रकारकी शङ्का होनेपर कोई लोग इस प्रकार समाधान करते हैं॥११५॥

ननु सर्वपदार्थानां साक्षिप्रसादादेव प्रकाशोपपत्तेः किं वृत्त्या? घटादिविषयकसंस्काराधानाद्युपपत्तये तदपेक्षणेऽपि तन्निर्गमाभ्युपगमो व्यर्थः; परोक्षस्थल इवाऽनिर्गतवृत्त्यवच्छिन्नसाक्षिणैव घटादेरपि प्रकाशोपपत्तेः।

न च तथा सति परोक्षापरोक्षवैलक्षण्यानुपपत्तिः; शाब्दानुमित्योरिव करणविशेषप्रयुक्तवृत्तिवैजात्यादेव तदुपपत्तेः ।

अब शङ्का होती है कि सम्पूर्ण पदार्थोंका साक्षीसे ही प्रकाश हो सकता है, तो फिर वृत्तिको मानना व्यर्थ ही है। घटादि विषयोंके* संस्कारके आधानके लिए वृत्तिकी उत्पत्ति यदि मान भी ली जाय, तो भी वृत्तिका वहिर्निर्गम अर्थात् चक्षु आदि द्वारा घटाकार अन्तःकरणकी वृत्ति बाहर निकलती है, यह मानना व्यर्थ है, क्योंकि परोक्षस्थलके समान अनिर्गतवृत्तिसे युक्त साक्षीसे ही घट आदिका भी प्रकाश हो सकता है [तात्पर्यार्थ यह है—जैसे 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' (पर्वत वह्निमान् है, धूम होनेसे) इस अनुमितिस्थलमें वह्निदेशमें वृत्तिके न जानेपर भी साक्षीसे उसका प्रकाश होता है, वैसे ही घट आदि देशमें अन्तःकरणकी वृत्तिके न जानेपर भी उसका प्रकाश हो सकता है, अतः वृत्तिका बाहर निकलना सर्वथा अनुपयुक्त है]।

इसपर यदि शङ्का हो कि वृत्तिका वहिर्गमन न माना जाय, तो परोक्ष और अपरोक्षस्थलमें कोई विशेष नहीं होगा, [अतः वृत्तिका अपरोक्षस्थलमें बाहर निकलना जरूरी है, अन्यथा परोक्ष ज्ञान और अपरोक्ष ज्ञानमें वैलक्षण्यका वृत्तिके निकलनेसे और न निकलनेसे जो स्वीकार किया † गया है, वह न होगा]

---

* तात्पर्य यह है कि यदि वृत्ति न मानी जाय, तो कालान्तरमें किसी भी पदार्थका स्मरण नहीं होगा क्योंकि तत्-तत् विषयोंके अनुभव साक्षीरूप होनेके कारण नित्य होंगे, अतः अनुभवके विनाशरूप संस्कार नहीं होंगे, और संस्कारके न होनेसे स्मरण नहीं होगा, इसलिए अवश्य वृत्ति माननी होगी, अतः 'किं वृत्त्या?' इसको छोड़कर दूसरा प्रश्न किया गया कि वृत्तिका वहिर्निगम क्यों माना जाता है?

† वहिर्निर्गतवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य अपरोक्षज्ञान है, अनिर्गतवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य परोक्षज्ञान है, इस प्रकारका प्रत्यक्ष और परोक्षमें वैलक्षण्य केवल वृत्तिप्रयुक्त है, अतः वृत्तिनिर्गमन

अर्थेष्वाश्रयवृत्तिस्थचिद्भास्येष्वापरोक्ष्यतः ॥
कल्प्यते निर्गमो वृत्तेः परोक्षेऽगतिकल्पना ॥११६॥

आश्रय (विषयाकार) वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यसे भासित होनेवाले अर्थोंमें अपरोक्षता होनेसे प्रत्यक्ष स्थलमें वृत्तिका निर्गम माना जाता है, और परोक्षस्थलमें वृत्तिनिर्गमकी कल्पना नहीं करते हैं ॥११६॥

अत्र केचिदाहुः—प्रत्यक्षस्थले विषयाधिष्ठानतया तदवच्छिन्नमेव चैतन्यं विषयप्रकाशः। साक्षात्तादात्म्यरूपसम्बन्धसम्भवे स्वरूपसम्बन्धस्य वाऽन्यस्य वा कल्पनायोगादिति तदभिव्यक्त्यर्थं युक्तो वृत्तिनिर्गमाभ्युपगमः।

परोक्षस्थले व्यवहिते वह्न्यादौ वृत्तिसंसर्गायोगादिन्द्रियवदन्वयव्यति-

---

तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि शाब्दबोध और अनुमितिमें जैसे करणविशेषसे वैलक्षण्यका प्रतिपादन किया गया है, वैसे ही प्रत्यक्ष, अनुमान आदिमें करणविशेषके आधारपर ही वैलक्षण्यकी उपपत्ति हो सकती है।

इस आक्षेपके समाधानमें कोई लोग कहते हैं—प्रत्यक्षस्थलमें विषयावच्छिन्न चैतन्य ही विषयका अधिष्ठान है, अतः वही विषयावच्छिन्न चैतन्य विषयका प्रकाश है, [जीवचैतन्य नहीं है, क्योंकि जीवचैतन्य विषयके प्रति उपादान नहीं है, अतः उसके साथ विषयका तादात्म्य नहीं हो सकता है] क्योंकि साक्षात्तादात्म्यसम्बन्धका सम्भव होनेपर स्वरूपसम्बन्धकी अन्य परम्परासम्बन्धकी कल्पना नहीं की जाती है, अतः विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्यके ही विषयप्रकाशक होनेसे उसके आवरणके अभिभवके लिए वृत्तिका बाहर निकलना आवश्यक है।

अनुमिति आदि परोक्षस्थलमें व्यवहित वह्नि आदि विषयमें वृत्तिसंसर्गके न होनेसे और इन्द्रियके समान अन्वय और व्यतिरेकसे युक्त वृत्तिके निकलनेके लिए किसी द्वारकी उपलब्धि न होनेसे अनिर्गत

नहीं मानना चाहिए, यह वृत्तिनिर्गमवादीका कहना है, इसपर उत्तर दिया कि 'इन्द्रियजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्, और इन्द्रियाजन्यम् ज्ञानं परोक्षम्' इस प्रकारसे अपरोक्ष और परोक्षके वैलक्षण्यका उपपादन हो सकता है, क्योंकि अनुमिति और शाब्दमें भी अनुमानादिप्रयुक्त वैलक्षण्य ही है, अतः वृत्तिनिर्गमनकी कोई आवश्यकता नहीं है, यह भाव है।

देकशालिनो वृत्तिनिर्गमद्वारस्याऽनुपलम्भाचाऽनिर्गतवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यमेव स्वरूपसम्बन्धेन विषयगोचरमगत्याऽर्थादभ्युपगम्यते इति ।

साक्षात् प्रमातृसम्पर्कं सुखादेरापरोक्ष्यतः ॥
अन्यत्राऽपि तथेत्याहुर्वृत्तेर्निर्गमनात् परे ॥११७॥

सुख आदिका अपरोक्षानुभव चैतन्यके साथ साक्षात् सम्बन्ध होनेके कारण ही होता है, अतः अन्यत्र घट आदि प्रत्यक्षस्थलमें भी चैतन्यके साथ वैसा ही सम्बन्ध होनेसे अपरोक्षानुभव होता है, इसलिए वृत्तिनिर्गमन है, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं ॥११७॥

अन्ये तु—अहङ्कारसुखदुःखादिष्वापरोक्ष्यं साक्षाच्चैतन्यसंसर्गिषु क्लृप्तमिति घटादावपि विषयसंसृष्टमेव चैतन्यमापरोक्ष्यहेतुरिति तदभिव्यक्तये वृत्तिनिर्गमं समर्थयन्ते ।

इतरे स्पष्टताहेतुमाचख्युर्वृत्तिनिर्गमम् ।
न चानुमितमाधुर्यं स्पष्टमास्वादितं यथा ॥११८॥

स्पष्ट ज्ञानके लिए वृत्तिका निर्गमन अवश्य होना चाहिए, क्योंकि अनुमानगम्य माधुर्य प्रत्यक्ष आस्वादित माधुर्यके समान स्पष्ट नहीं होता है, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं ॥११८॥

इतरे तु—शब्दानुमानावगतेभ्यः प्रत्यक्षावगते स्पष्टता तावदनुभूयते । नहि रसालपरिमलादिविशेषे शतवारमाप्तोपदिष्टेऽपि प्रत्यक्षाव-

---

वृत्तिसे युक्त चैतन्य ही स्वरूपसम्बन्धसे विषयका प्रकाशक है, ऐसा अर्थतः अगत्या स्वीकार किया जाता है ।

अहंकार, सुख, दुःख आदि विषयोंमें, जिनका कि साक्षात् चैतन्यके साथ तादात्म्य है, अपरोक्षता क्लृप्त है, अतः घट आदिमें भी विषयतादात्म्यापन्न चैतन्य ही अपरोक्षत्वका कारण होगा, इसलिए विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्यकी अभिव्यक्तिके लिए ही वृत्तिनिर्गमन अपेक्षित है, कुछ लोग ऐसा भी समर्थन करते हैं ।

अन्य लोग कहते हैं कि शब्द, अनुमान आदि प्रमाणोंसे ज्ञात अर्थोंकी अपेक्षा प्रत्यक्षसे अवगत पदार्थमें अधिक स्पष्टता अनुभूत होती है, क्योंकि आमके परिमल (सुगन्ध), रस आदिके विषयमें आप्त पुरुष यदि सौ वार उपदेश करें, तो भी प्रत्यक्षसे ज्ञात वस्तुके समान उसमें स्पष्टता नहीं भासती है, क्योंकि

गत इव स्पष्टताऽस्ति । तदनन्तरमपि 'कथं तद् ?' इति जिज्ञासाऽनुवृत्तेः ।

न च शब्दान्माधुर्यमात्रावगमेऽपि रसालमाधुर्यादिवृत्त्यवान्तरजातिविशेषवाचिशब्दाभावात् , तत्सत्त्वेऽपि श्रोत्रात्तस्याऽगृहीतसङ्गतिकत्वात् शब्दादसाधारणजातिविशेषावच्छिन्नमाधुर्यावगमो नास्तीति जिज्ञासाऽनुवृत्तिर्युक्तेति शङ्क्यम्, 'रसाले सर्वातिशायी माधुर्यविशेषोऽस्ति' इत्यस्माच्छब्दात्तद्गतावान्तरजातिविशेषस्याऽप्यवगमात् । नह्ययं विशेषशब्दस्तद्गतविशेषं विहायान्यगतं विशेषं तत्र बोधयति, अप्रामाण्यापत्तेः । न च तद्गतमेव विशेषं विशेषत्वेन सामान्येन रूपेण बोधयति, न

उपदेशके अनन्तर भी वह कैसा है ? या वह किस प्रकारका है ? ऐसी जिज्ञासा बनी रहती है *।

यदि शङ्का हो कि 'आम्र-फलमें मधुर रस आदि हैं' इस प्रकारके सौ बार उपदिष्ट आप्तवाक्यसे केवल मधुर रसके ज्ञात होनेपर भी आमके माधुर्य आदिमें रहनेवाली अवान्तर जातिके बोधक शब्दका अभाव होनेसे और उसके बोधक शब्दके अस्तित्वमें भी श्रोत्रसे (कानसे) अवान्तर जातिविशेषके वाचकशब्दकी शक्तिका ग्रहण न होनेसे उक्तशब्दसे (वाक्यसे) असाधारण जातिविशेषसे युक्त माधुर्यका ज्ञान नहीं होता, इसलिए उक्त स्थलमें जिज्ञासाकी अनुवृत्ति हुआ करती है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'रसाले सर्वातिशायी माधुर्यविशेषोऽस्ति' (आममें सबको मात करनेवाला माधुर्यविशेष है) इस शब्दसे माधुर्यगत अवान्तरजातिविशेषका भी अवगम होता है, [परन्तु प्रत्यक्षके समान स्पष्टता नहीं भासती है और जिज्ञासा रहती है] क्योंकि यह वाक्यविशेष माधुर्यगत विशेषका बोधन न कर अन्यगत विशेषका बोधन करता है, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा माननेसे वाक्यमें अप्रामाण्यापत्ति होगी और यह भी शङ्का नहीं कर सकते हैं कि माधुर्यगत जो विशेष है, उसका उक्त शब्द † सामान्यतः विशेषरूपसे बोध करता है,

---

* 'आममें बड़ी सुगन्ध और अत्यन्त मीठा रस है, इस विषयके किसी प्रामाणिक पुरुषके हजार बार कहनेपर भी निःसंशय रसादिका ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि 'वह मीठा रस कैसा है ?' यह जिज्ञासा उपदेशके बाद भी बनी रहती है, यह भाव है ।

† तात्पर्य यह है कि उक्त आप्तशब्दसे आमके माधुर्यका विशेषत्व विशेषरूप सामान्यधर्मसे गृहीत होता है, विशेषवृत्ति विशेषरूपसे गृहीत नहीं होता है, अतः जिज्ञासा होती है, यह शङ्काका

विशिष्येति जिज्ञासेति वाच्यम्, प्रत्यक्षेणापि मधुररसविशेषणस्य जातिविशेषस्य स्वरूपत एव विषयीकरणेन जातिविशेषगतविशेषान्तराविषयीकरणाद् जिज्ञासाऽनुवृत्तिप्रसङ्गात् ।

तस्मात् प्रत्यक्षग्राह्येऽभिव्यक्तापरोक्ष्यैकरसचैतन्यावगुण्ठनात् स्पष्टता जिज्ञासानिवर्तनक्षमा, शब्दादिगम्ये तु तदभावादस्पष्टतेति व्यवस्थाऽभ्युपगन्तव्या । अत एव साक्षिवेद्यस्य सुखादेः स्पष्टता । शाब्दवृत्तिवेद्यस्याऽपि

विशेषतः विशेषरूपसे बोध नहीं करता है, इसलिए जिज्ञासा होती है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षस्थलमें भी मधुर रसमें विशेषणरूपसे रहनेवाले जातिविशेषका प्रत्यक्षसे स्वरूपतः ग्रहण होनेके कारण जातिविशेषमें रहनेवाले विशेषान्तरका ग्रहण न होनेसे जिज्ञासाकी निवृत्ति नहीं होगी ।

इससे अर्थात् प्रत्यक्षसे अवगत पदार्थकी अपेक्षा शब्द आदिगम्य पदार्थोंमें स्पष्टत्वके न होनेसे प्रत्यक्षसे गृहीत पदार्थमें अभिव्यक्त स्वप्रकाश और एकरूप ब्रह्मचैतन्यके साथ तादात्म्य होनेसे जिज्ञासाकी निवृत्ति करनेमें समर्थ विषयताविशेषरूप स्पष्टता होती है, और शब्द आदि द्वारा गृहीत पदार्थमें अभिव्यक्त चैतन्यके साथ तादात्म्य न होनेके कारण स्पष्टत्व नहीं प्रतीत होता है, इस प्रकारकी व्यवस्था * करनी चाहिए, अभिव्यक्त चैतन्यका सम्बन्ध होनेसे ही साक्षीसे वेद्य सुख आदिमें स्पष्टता प्रतीत होती है । शब्दजन्यवृत्तिसे वेद्य ब्रह्ममें भी मनन आदिसे पूर्व अज्ञानकी निवृत्तिके न होनेसे

भाव है, इसपर उत्तरदाताका कहना है कि माधुर्यगत जातिविशेषमें रहनेवाला असाधारण धर्म जातिरूप है या उपाधिरूप है ? जातिरूप तो नहीं हो सकता है, क्योंकि उसकी जातितामें प्रमाण नहीं है और जातिमें उसका अंगीकार भी नहीं है, यदि उपाधिरूप मानेंगे, तो वह उपाधि होगा—जातिविशेषाश्रयातिरिक्तावृत्तित्वे सति जातिविशेषाश्रयवृत्तित्वम्, अर्थात् जाति विशेषके आश्रयसे भिन्नमें न रहकर जातिविशेषके आश्रयमें रहे । परन्तु यह भी युक्त नहीं होगा, क्योंकि प्रत्यक्ष स्थलमें भी आमके माधुर्यके जातिविशेषमें प्रत्यक्षसे उसका ग्रहण न होनेके कारण जिज्ञासाकी अनुवृत्ति होगी ।

* अर्थात् वृत्ति द्वारा अभिव्यक्त चैतन्यके साथ तादात्म्य होनेसे प्रत्यक्ष ग्राह्य पदार्थोंमें स्पष्टत्वकी प्रतीति होती है, इसके बिना नहीं होती । इससे विषयमें रहनेवाली स्पष्टताका प्रयोजक जो आवरणनिवृत्तिरूप विषयचैतन्याभिव्यक्ति है, उसकी सिद्धिके लिए वृत्तिका निर्गमन अपेक्षित है, यह सूचित हुआ ।

ब्रह्मणो मननादेः प्रागज्ञानानिवृत्तावस्पष्टता, तदनन्तरं तन्निवृत्तौ स्पष्टतेति वृत्तिनिर्गममुपपादयन्ति ।

न चावरणविच्छेदः स्पष्टता तामनिर्गता ।

करोतु तुल्यविषयतत्तदज्ञाननाशिनी ॥११९॥

यदि शङ्का हो कि आवरणविच्छेदरूप स्पष्टता अनिर्गत वृत्तिसे ही होगी, क्योंकि समानविषयक अज्ञानका समानविषयक वृत्तिज्ञान विनाश करता है ॥११९॥

नन्वेतावताऽपि विषयावरकाज्ञाननिवृत्त्यर्थं वृत्तिनिर्गम इत्युक्तम् । तदयुक्तम् । विषयावच्छिन्नचैतन्यगतस्य तदावरकाज्ञानस्यानिर्गतवृत्त्या निवृत्त्यभ्युपगमेऽप्यनतिप्रसङ्गात् । न च तथा सति देवदत्तीयघटज्ञानेन यज्ञदत्तीयघटाज्ञानस्यापि निवृत्तिप्रसङ्गः, समानविषयकत्वस्य सत्त्वात् ।

अस्पष्टता ही है और मनन आदिके बाद अज्ञानकी † निवृत्ति हो जानेसे ब्रह्ममें स्पष्टता प्रतीत होती है, अतः वृत्तिका बाहर निकलना अत्यन्त अपेक्षित है ।

शङ्का होती है कि इतने ग्रन्थसे अर्थात् 'अत्र केचिदाहुः' इत्यादि ग्रन्थसे भी यही कहा गया है—विषयको आवृत करनेवाले अज्ञानकी निवृत्तिके लिए वृत्तिकी आवश्यकता है, परन्तु यह अयुक्त है, क्योंकि विषयावच्छिन्न चैतन्यमें रहनेवाले विषयावरक अज्ञानकी अनिगर्तवृत्तिसे यदि निवृत्ति मानी जाय, तो भी कोई हानि नहीं है । यदि शङ्का हो कि ऐसा होनेपर देवदत्तके घटज्ञानसे यज्ञदत्तके भी घटाज्ञानकी निवृत्ति प्रसक्त होगी, क्योंकि उनमें समानविषयकत्व*

---

† 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यजन्य वृत्ति मनन आदिके अनुष्ठानके पूर्वमें असम्भावना और विपरीतभावनासे सर्वथा प्रतिबद्ध है, अतः वह मनन आदिके पूर्वमें अज्ञानकी निवर्तक नहीं है, और उसके बाद तो असम्भावना और विपरीतभावनाके निवृत्त होनेसे वह वृत्ति अज्ञानकी निवर्तक होगी और ब्रह्ममें स्पष्टत्वका अवगम करावेगी, यह भाव है ।

* विषयको आवृत करनेवाला अज्ञान किसीके मतसे विषयमें रहता है और किसीके मतसे पुरुषमें रहता है, जो लोग पुरुषमें अज्ञान मानते हैं, उनके मतसे वृत्तिके निर्गमके विना भी—अनिर्गत वृत्तिसे भी, अज्ञानकी निवृत्ति हो सकती है, परन्तु जिनके मतसे विषयगत अज्ञान अर्थात् विषयावच्छिन्नचैतन्यनिष्ठ अज्ञान है, उनके मतमें भी अनिर्गत वृत्तिसे अज्ञानकी निवृत्ति यदि मानी जाय, तो भी कोई हानि नहीं है, यदि इसपर शङ्का हो कि ज्ञान और अज्ञानके निवर्त्य-निवर्तकरूप विरोधमें समानाश्रयत्व होकर समानविषयकत्व प्रयोजक है। यदि वृत्तिका निर्गमन नहीं माना जायगा, तो केवल ज्ञान और अज्ञानमें समानाश्रयत्वके लब्ध न होनेसे केवल समानविषयकत्व ही प्रयोजक होगा, अतः देवदत्तीय घटज्ञानसे यज्ञदत्तीय

अहमर्थविषयचैतन्यनिष्ठयोर्ज्ञानाज्ञानयोर्भिन्नाश्रयत्वेन तयोर्विरोधे समानाश्रयत्वस्याऽतन्त्रत्वादिति वाच्यम्। समानाश्रयविषयत्वं ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधप्रयोजकमङ्गीकृत्य वृत्तिनिर्गमनाभ्युपगमेऽपि देवदत्तीयघटवृत्तेः यज्ञदत्तीयघटाज्ञानस्य च घटावच्छिन्नचैतन्यैकाश्रयत्वप्राप्त्याऽतिप्रसङ्गतादवस्थ्येन 'यदज्ञानं यं पुरुषं प्रति यद्विषयावरकं, तत् तदीयतद्विषयकज्ञाननिवर्त्यम्' इति पृथगेव विरोधप्रयोजकस्य वक्तव्यतया समानाश्रयत्वस्याऽनपेक्षणात्।

मैवं, परोक्षवृत्त्याऽपि मोहोच्छेदप्रसङ्गतः।
आपरोक्ष्यं तु नो जातिरांशिकत्वाच्च सङ्करात् ॥१२०॥

तो उक्त शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि परोक्षवृत्तिसे भी अज्ञानका विनाश प्रसक्त होगा और अपरोक्षत्व जाति भी नहीं है, क्योंकि आंशिक होनेसे सङ्करदोषसे दुष्ट है ॥१२०॥

अत्राहुः—वृत्तिनिर्गमनानभ्युपगमे ज्ञानाज्ञानयोर्विरोधप्रयोजकमेव दुर्निरूपम्। 'यदज्ञानं यं पुरुषं प्रति' इत्याद्युक्तमिति चेत्, न; परोक्षज्ञानेनाऽपि विषयगताज्ञाननिवृत्तिप्रसङ्गात्।

हैं। कारण कि वृत्तिनिर्गमके न होनेसे अहमर्थ और विषयचैतन्यमें रहनेवाले क्रमशः ज्ञान और अज्ञानका असमानाश्रय होनेसे ज्ञान और अज्ञानके विरोधमें समानाश्रत्व प्रयोजक नहीं है, किन्तु समानविषयत्व ही प्रयोजक है तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञान और अज्ञानके विरोधमें समानाश्रयत्वविशिष्ट समानविषयकत्वको प्रयोजक मान कर वृत्तिके निर्गमका अङ्गीकार करनेपर भी देवदत्तकी घटवृत्तिका और यज्ञदत्तके घटाज्ञानका घटावच्छिन्न चैतन्यरूप एक आश्रय होनेसे वृत्तिनिर्गमनपक्षमें भी अतिप्रसक्तिके तदवस्थ होनेसे 'यदज्ञानम्' (जो अज्ञान जिस पुरुषके प्रति जिस विषयका आवारक हो, वह अज्ञान उस पुरुषके उस विषयके ज्ञानसे निवृत्त होता है) इस प्रकार अलग ही विरोधका प्रयोजक मानना होगा, इससे समानाश्रयत्वकी अपेक्षा ही नहीं है, [इससे वृत्तिनिर्गम व्यर्थ है, यह शङ्काका स्वरूप है]।

इस आक्षेपके समाधानमें कोई लोग कहते हैं—वृत्तिका बहिर्निर्गमन न माना जाय, तो ज्ञान और अज्ञानके परस्पर विरोधके प्रयोजकका निरूपण ही नहीं हो सकेगा। यदि कहो कि 'यदज्ञानम्' इत्यादिसे विरोधके हेतुका

घटाज्ञान नष्ट होना चाहिए ? परन्तु यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि इसका उत्तर 'समानाश्रय' इत्यादि ग्रन्थसे दिया गया है।

अपरोक्षत्वमपि निवर्तकज्ञानविशेषणमिति चेत्, किं तदपरोक्षत्वम्? न तावज्जातिः । 'दण्ड्ययमासीत्' इति संस्कारोपनीतदण्डविशिष्टपुरुषविषयकस्य चाक्षुषज्ञानस्य दण्डांशेऽपि तत्सत्त्वे तत्रापि विषयगताज्ञाननिवृत्त्यापातात् । 'दण्डं साक्षात्करोमि' इति तदंशेऽप्यापरोक्ष्यानुभवापत्तेश्च । अननुभवेऽपि संस्कारं सन्निकर्षं परिकल्प्य इन्द्रियसन्निकर्षजन्यतया तत्र काल्पनिकापरोक्ष्याभ्युपगमे अनुमित्यादावपि लिङ्गज्ञानादिकं सन्निकर्षं परिकल्प्य तदङ्गीकारापत्तेः । दण्डांशे आपरोक्ष्यासत्त्वे तु तस्य

निरूपण किया ही जा चुका है, यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे परोक्षज्ञानसे भी विषयके अज्ञानकी निवृत्ति प्रसक्त होगी ।

यदि शङ्का हो कि अज्ञानके निवर्तक ज्ञानमें अपरोक्षत्व विशेषण देंगे, [अर्थात् अपरोक्षज्ञान ही अज्ञानका निवर्तक होता है अन्य नहीं, अतः अपरोक्ष ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हो सकती है] यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि अपरोक्षत्व क्या है? [उसका निर्वचन करना होगा, तात्पर्य यह है कि ज्ञानमें जो अपरोक्षत्व विशेषण देते हैं, वह जातिरूप है या उपाधिरूप है?] जातिरूप नहीं हो सकता है, क्योंकि 'अयं दण्डी आसीत्' (यह दण्डी था) इस प्रकार संस्कारसे उपनीत दण्डसे युक्त पुरुषविषयक चाक्षुप ज्ञानके दण्ड अंशमें यदि अपरोक्षत्व जाति है, तो उसमें भी विषयके अज्ञानकी निवृत्ति प्रसक्त होगी * । अनुभव न होनेपर भी यदि दण्डांशमें संस्काररूप सन्निकर्षकी कल्पना करके इन्द्रियसन्निकर्षसे जन्य होनेके कारण उसमें काल्पनिक अपरोक्षत्वकी कल्पना की जाय, तो अनुमिति आदिमें भी लिङ्गज्ञान आदि सन्निकर्षकी† कल्पना करके—अपरोक्षत्वप्रसक्ति होगी । दण्ड अंशमें अपरोक्षत्व

---

* तात्पर्य यह है कि किसी समयमें दण्डसे युक्त विष्णुमित्रका ग्रहण हुआ था, कालान्तरमें दण्डरहित विष्णुमित्रको देखकर संस्कार और इन्द्रियसे ज्ञान होता है कि 'यह विष्णुमित्र दण्डी था'। यहां पर शङ्का होती है—इसमें दण्डांशमें प्रत्यक्षत्व है, या नहीं है। यदि प्रत्यक्षत्व माना जाय, तो दण्डांशमें अज्ञानकी निवृत्ति प्रसक्त होगी। इष्टापत्ति नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वह दण्ड कैसा था, इस प्रकार जिज्ञासा होती है, यदि तद्गत अज्ञानकी निवृत्ति होती, तो यह जिज्ञासा उदित नहीं होती।

† तात्पर्य यह है कि 'स्वविषयप्रत्यासत्तिः सन्निकर्षः' (स्वविषयके साथ सम्बन्ध सन्निकर्ष है) इस मतका अङ्गीकार करके संस्कारकी कल्पनाकर इन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्वरूप कल्पनाके

जातित्वायोगाद्, जातेर्व्याप्यवृत्तित्वनियमात्। तदनियमेऽप्यवच्छेदकोपाधिभेदानिरूपणेन तस्याव्याप्यवृत्तिजातित्वायोगाच्च।

नाप्युपाधिः, तदनिर्वचनात्। इन्द्रियजन्यत्वमिति चेत्, न; साक्षिप्रत्यक्षाव्यापनात्। अनुमितिशाब्दज्ञानोपनीतगुरुत्वादिविशिष्टघटप्रत्यक्षे विशेषणांशातिव्यापनाच्च। करणान्तराभावेन तदंशे परोक्षेऽप्युपनयसहकारि-

---

न माना जाय, तो अपरोक्षत्व जाति नहीं होगी, क्योंकि जाति सर्वदा व्याप्यवृत्ति हुआ करती है, यह नियम है, यदि 'जाति व्याप्यवृत्ति होती है' यह नियम न माना जाय, तो भी अवच्छेदक उपाधियोंका निरूपण न हो सकनेसे अपरोक्षत्व जाति अव्याप्यवृत्ति नहीं हो सकती है*।

अपरोक्षत्व उपाधि भी नहीं है, क्योंकि उसका निर्वचन ही नहीं हो सकता, यदि कहो कि इन्द्रियजन्यत्व (इन्द्रियसे उत्पन्न होना) अपरोक्षत्व है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि सुख आदिकी नित्यसाक्षीरूप प्रत्यक्षमें अव्याप्ति हो जायगी। और अनुमितिसे एवं शब्दजन्य ज्ञानसे उपनीत गुरुता आदिसे विशिष्ट घटके प्रत्यक्षमें विशेषणीभूत गुरुत्वमें उक्त लक्षणकी अतिव्याप्ति हो जायगी †। क्योंकि गुरुत्वमें प्रत्यक्षत्वसम्पादक अन्य करणके न होनेसे गुरुत्वांशके परोक्ष होनेपर भी उपनयकी सहकारितासे

आधारपर दण्डांशमें अपरोक्षत्वकी कल्पना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि लिङ्गज्ञान आदि सन्निकर्षकी कल्पना करके अनुमिति आदिमें अपरोक्षत्वका अङ्गीकार प्रसक्त होगा, यदि दण्डांशमें अपरोक्षत्व न माना जाय, तो 'दण्डी विष्णुमित्र आसीत्' इत्यादि प्रत्यभिज्ञानात्मक एक ज्ञानमें स्मृतित्व और अपरोक्षत्वके रहनेसे सङ्कर हो जायगा, इसलिए अपरोक्षत्व जाति नहीं हो सकती, क्योंकि जो जाति होती है, वह व्याप्यवृत्ति होती है, यह नियम है।

* भाव यह है कि यदि जाति व्याप्यवृत्ति न मानी जाय, तो भी प्रत्यभिज्ञामें विष्णुमित्र अंशमें प्रत्यक्षत्व और दण्ड अंशमें तदभाव मानना चाहिए, परन्तु यह तभी उपपन्न हो सकता है, जब कि उपाधिभेद माना जाय, क्योंकि अवच्छेदकके भेदसे ही प्रतियोगी और तदभावकी अवस्थिति एकत्र रहती है, प्रकृतमें उपाधिभेदका निरूपण अशक्य है, इसलिए अपरोक्षत्वमें (स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप, स्व के आश्रयमें ही स्व का अभाव हो) अव्याप्यवृत्तित्वके असम्भव होनेसे व्याप्यवृत्ति ही जाति होगी, अतः पूर्वोक्त दोष तदवस्थ ही रहेगा।

† अर्थात् जिस घटमें शब्दसे या अनुमानसे गुरुत्वका अनुभव किया गया है, उस घटके साथ इन्द्रियसम्बन्ध होनेपर 'घटोऽयं गुरुः' (यह घड़ा वजनदार है), ऐसा प्रत्यक्ष होता है। इसमें विशेषणीभूत गुरुत्वमें अतिव्याप्ति होगी, अतः इन्द्रियजन्यत्व प्रत्यक्षका लक्षण युक्त नहीं है।

सामर्थ्यादिन्द्रियस्यैव जनकत्वात्, अनुगतजन्यतावच्छेदकाग्रहेणाऽनेकेष्विन्द्रियजन्यत्वस्य दुर्ग्रहत्वाच्च। तद्ग्रहे च तस्यैव प्रथमप्रतीतस्याऽपरोक्षरूपत्वोपपत्तौ प्रत्यक्षानुभवायोग्यस्य इन्द्रियजन्यत्वस्य तद्योग्यापरोक्षरूपत्वकल्पनायोगात्।

एतेन 'इन्द्रिसन्निकर्षजन्यत्वमापरोक्ष्यम्। उपनयसहकृतेन्द्रियजन्यपरोक्षांशे च न सन्निकर्षजन्यत्वम्। अनुमितावप्युपनीतभानसत्त्वेन प्रमा-

---

अनुमितिमें जैसे मन करण है, वैसे ही प्रकृतमें इन्द्रियाँ करण हैं। और अनुगत इन्द्रियजन्यतावच्छेदकका ग्रह न होनेके कारण अनेक अपरोक्ष ज्ञानोंमें इन्द्रियजन्यत्वका ग्रह भी नहीं हो सकता है। यदि 'अहं साक्षात्करोमि' (मैं साक्षात्कार करता हूँ) इत्यादि अनुभवसे सिद्ध कोई अनुगत जन्यतावच्छेदक माना जाय, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रथमतः प्रतीयमान वही धर्म* अपरोक्षत्व हो सकेगा तो प्रत्यक्ष अनुभवके अयोग्य इन्द्रियजन्यत्वमें उस अनुभवके योग्य अपरोक्षत्वकी कल्पना असङ्गत होगी।

अव्याप्ति आदि दोषोंके होनेसे यह भी निरस्त हुआ समझना चाहिए कि इन्द्रिय-सन्निकर्षजन्यत्वरूप अपरोक्षत्व† है, उपनयसहित इन्द्रियसे जन्य परोक्ष-अंशमें सन्निकर्षजन्यता नहीं है, अतः गुरुत्व आदिमें दोष नहीं है, अनुमिति

---

* अवच्छेद्यरूप जन्यत्वके ज्ञानके पूर्व अवच्छेदकका ज्ञान अपेक्षित होता है, अतः 'साक्षात्कार करता हूँ' इत्यादि प्रतीतिरूप अनुभवके योग्य जन्यतावच्छेदकरूपसे स्वीकृत जो धर्म है, उसीमें अपरोक्षत्वकी उपपत्ति हो सकती है, फिर अयोग्य इन्द्रियजन्यत्वको अपरोक्षत्वरूप माननेकी आवश्यकता नहीं है। यदि शङ्का हो कि वही जन्यतावच्छेदक उपाधि अपरोक्षत्वरूप हो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि वह उपाधि व्याप्यवृत्ति है या अव्याप्यवृत्ति? यदि प्रथम पक्ष माना जाय, तो 'दण्डी अयम् आसीत्' इत्यादिमें दण्डादि अंशमें व्यभिचार होगा, यदि द्वितीयपक्षका अवलम्बन किया जाय, तो अवच्छेदक उपाधिका निरूपण दुर्घट होनेसे अव्याप्यवृत्तित्व ही नहीं होगा, अतः उस जन्यतावच्छेदकको अपरोक्षत्व नहीं कह सकते हैं।

† इन्द्रिय और अर्थके सम्बन्धसे होनेवाला ज्ञान अपरोक्ष है, जैसे—घटविषय—अर्थ है उसके साथ इन्द्रियका सम्बन्ध होनेसे अर्थात् संयोगसम्बन्ध होनेसे 'घटं साक्षात्करोमि' (घटका साक्षात्कार करता हूँ) ऐसा अनुभव होता है। ये सन्निकर्ष संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और स्वरूपसम्बन्ध, इस प्रकारसे छः हैं, इनका द्रव्य, गुण, गुणत्व, शब्द, शब्दत्व और अभाव आदिके प्रत्यक्षमें क्रमशः उपयोग न्यायमतमें माना गया है। इसलिए इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यत्व अपरोक्षत्व हो सकता है, यह पूर्वपक्षीका अभिप्राय है।

णान्तरसाधारणस्योपनयस्याऽसन्निकर्षत्वात्' इत्यपि शङ्का निरस्ता। संयोगादिसन्निकर्षाणामननुगमेनाऽननुगमाच्च।

यत्त्वाऽभिमतमापरोक्ष्यम्, तदेव ममाऽप्यस्त्विति चेत्, न; तस्य शाब्दापरोक्षनिरूपणप्रस्तावे प्रतिपादनीयस्य तत्रैव दर्शनीयया रीत्या अज्ञाननिवृत्तिप्रयोज्यत्वेन तन्निवृत्तिप्रयोजकविशेषणभावायोगात्। तस्मात् 'तरति

आदिमें भी उपनीत भानके होनेसे अन्य प्रमाण साधारण उपनयमें सन्निकर्षत्व नहीं है। और दूसरी बात यह भी है कि संयोग आदि सन्निकर्षोंका अनुगम न होनेके कारण इन्द्रियसन्निकर्षजन्यत्वरूप अपरोक्षत्व भी अनुगत नहीं होगा।

यदि कहो कि जो तुम (सिद्धान्ती) अपरोक्षत्व मानते हो, वही हमारे मतमें भी होगा। [इसलिए अज्ञाननिवर्तक ज्ञानमें अपरोक्षत्व विशेषण देनेसे परोक्षज्ञानकी निवृत्ति प्रसक्त नहीं होगी], तो यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि शाब्दज्ञानके अपरोक्षत्वनिरूपणके प्रकरणमें प्रतिपादनीय सिद्धान्तीका अपरोक्षत्व, उसी प्रकरणमें* प्रदर्शित रीतिसे, अज्ञाननिवृत्तिसे प्रयोज्य है, अतः वह अज्ञाननिवृत्तिके प्रति प्रयोजक (कारण) रूपसे निवर्तक ज्ञानमें विशेषण नहीं हो सकता है।

* ज्ञानमें जो अपरोक्षत्व है, वह करणविशेषसे प्रयुक्त नहीं है, किन्तु अपरोक्ष अर्थसे अभिन्नत्वरूप है, और वह जो अपरोक्षार्थाभिन्नत्वरूप अपरोक्षत्व है, वह विषयावभासक चैतन्यरूपज्ञाननिष्ठ है, वृत्तिनिष्ठ नहीं है, इसलिए साक्षिप्रत्यक्षमें अव्याप्ति नहीं है, और अर्थमें अपरोक्षता अर्थव्यवहारके अनुकूल चैतन्याभिन्नत्व है अर्थात् विषयके व्यवहारमें उपयुक्त चैतन्यसे अभिन्नत्व है। विषयव्यवहारमें अनुकूल चैतन्य है—जिसका कि आवरण नष्ट हुआ है—ऐसा उस विषयका अधिष्ठानभूत चैतन्य, इसीलिए अपने व्यवहारमें अनुकूल स्वगोचर वृत्तिसे अभिव्यक्त अधिष्ठानचैतन्यके साथ घटादि विषयोंका तादात्म्यरूप—अभेद होनेके कारण उनमें अपने व्यवहारमें अनुकूल चैतन्याभिन्नत्व है। अहङ्कार आदि स्थलोंमें भी अहङ्कारके अधिष्ठानभूत साक्षिरूप ज्ञानकी और बाह्य घट आदिमें तत्-तत् वृत्त्युपहित घटादि प्रत्यक्षज्ञानात्मक जो घट आदिका अधिष्ठानभूत चैतन्य है, उसकी उन-उन विषयोंके साथ तादात्म्यापत्ति होनेसे अपरोक्षार्थाभिन्नत्वरूप अपरोक्षत्व उपपन्न है। यह रीति शाब्दापरोक्षप्रकरणमें बतलाई गई है। इस अवस्थामें विषयावच्छिन्न चैतन्यगत अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर ही घटादिव्यवहारके अनुकूल चैतन्यके साथ घटादिविषयका अभेदरूप अपरोक्षत्व प्राप्त हो सकता है, विषय जब अपरोक्ष होगा, तब विषयके ज्ञानमें भी अपरोक्षार्थाभिन्नत्व होगा, इसलिए विषयचैतन्यमें रहनेवाले अज्ञानकी निवृत्तिके पूर्वमें ज्ञानमें अपरोक्षत्वकी सिद्धि नहीं हो सकती है, अतः सिद्धान्तीका अभिमत ज्ञानगत अपरोक्षत्व, जो

शोकमात्मविद्' इति श्रुतस्य ब्रह्मज्ञानस्य मूलाज्ञानाश्रयभूतसर्वोपादान-ब्रह्मसंसर्गनियतस्य मूलाज्ञाननिवर्तकत्वात् । 'ऐन्द्रियकवृत्तयस्तत्तदिन्द्रिय-सन्निकर्षसामर्थ्यात् तत्तद्विषयावच्छिन्नचैतन्यसंसृष्टा एव उत्पद्यन्ते' इति नियमभ्युपेत्याऽज्ञानाश्रयचैतन्यसंसर्गनियतत्वं निवर्तकज्ञानविशेषणं वाच्यम् । तथा च 'यद् अज्ञानं यं पुरुषं प्रति यद्विषयावरकम्, तत् तदीयतद्विषयतद-ज्ञानाश्रयचैतन्यसंसर्गनियतात्मलाभज्ञाननिवर्त्यम्' इति ज्ञानाज्ञानयोर्विरोध-प्रयोजकं निरूपितं भवति ।

इससे अर्थात् 'यदज्ञानं यं पुरुषं प्रति' इत्यादि नियममें अपरोक्षत्वका निवर्तकज्ञानके विशेषणरूपसे प्रवेश नहीं हो सकनेसे 'तरति०' (आत्मज्ञानी अज्ञानको तैर जाता है अर्थात् ज्ञानीका अज्ञान निवृत्त हो जाता है) यह श्रुत ब्रह्मज्ञान, जो कि मूलाज्ञानके आश्रयभूत तथा सम्पूर्ण जगत्के प्रति उपादानभूत ब्रह्ममें नियमतः संसृष्ट है*, मूलाज्ञानका निवर्तक है । अतः तत्-तत् इन्द्रियोंकी सामार्थ्यसे इन्द्रियजन्य वृत्तियाँ भी तत्-तत् विषयोंसे युक्त चैतन्यसे संसृष्ट ही उत्पन्न होती हैं, ऐसा नियम मानकर अज्ञानाश्रय चैतन्यके संसर्गसे नियतत्व निवर्तक ज्ञानमें विशेषण देना चाहिए । इससे 'जो अज्ञान जिस पुरुषके प्रति जिस विषयका आवरक होता है, वह † तदीय और तद्विषयक तदज्ञानके आश्रय चैतन्यके संसर्गसे नियतात्मलाभवाले ज्ञानसे निवर्त्य है', इस प्रकार ज्ञान और अज्ञानके विरोधके प्रयोजकका स्वरूप निरूपित होता है ।

विषयचैतन्यगत अज्ञानकी निवृत्तिसे प्रयोज्य है, अज्ञानकी निवृत्तिमें कारण कैसे होगा, अर्थात् कदापि नहीं हो सकता है, इसलिए वह अज्ञाननिवृत्तिके प्रति निवर्तकज्ञानका प्रयोजकत्वरूपसे विशेषण नहीं हो सकता है, यह भाव है ।

* तात्पर्य यह है कि जब ब्रह्मविषयक ज्ञानकी (वृत्तिकी) उत्पत्ति होती है, तब नियमतः वह ब्रह्मसंसृष्ट ही उत्पन्न होती है, क्योंकि ब्रह्म सभीका उपादान है, कार्यमात्र जन्मसे लेकर उपादानभूत ब्रह्मके साथ संसृष्ट होता है, इसीलिए ब्रह्मविषयक वृत्तिज्ञानका भी स्वनिवर्त्य मूलाज्ञानके आश्रयीभूत ब्रह्ममें संसर्गनियम अर्थसिद्ध है ।

† घटावच्छिन्न चैतन्यमें घटको आवृत करनेवाले अनेक अज्ञान हैं, उनमें से कोई देवदत्तके प्रति आवारक हैं, तो कोई यज्ञदत्तके प्रति, इस प्रकारसे प्रतिविषय पुरुषके भेदसे अनेक अज्ञान हैं, इसलिए विषयावारक अज्ञानोंमें से जो अज्ञान जिस देवदत्तके प्रति जिस विषयको आवृत करता है, वह अज्ञान उसी देवदत्तके घटविषयक उस अज्ञानके आश्रयभूत चैतन्यके संसर्गसे नियतात्मलाभवाले (नियत है उत्पत्ति जिसकी, ऐसे) ज्ञानसे निवर्त्य है, अर्थात् देवदत्तके प्रति घटावारक जो अज्ञान है, उसका

न चैवं सति नाडीहृदयस्वरूपगोचरशब्दज्ञानस्याऽप्यज्ञाननिवर्तकत्वप्रसङ्गः, तस्य कदाचिदर्थसम्पन्ननाडीहृदयान्यतरवस्तुसंसर्गसम्भवेऽपि विषयसंसर्गं विनाऽपि शाब्दज्ञानसम्भवेन तत्संसर्गनियतात्मलाभत्वाभावात् । तस्माज्ज्ञानाज्ञानविरोधनिर्वाहाय वृत्तिनिर्गमो वक्तव्य इति ।

ऐसा होनेपर 'हृदयपुण्डरीकमें नाडियाँ हैं' इस प्रकार शब्दसे उत्पन्न हुए नाडी और हृदयके स्वरूपावगाही ज्ञानमें अज्ञाननिवर्तकत्वका प्रसङ्ग नहीं है, क्योंकि दैववशसे उक्त शब्दजन्यज्ञानका (वृत्तिका) नाडी और हृदयसे अवच्छिन्न चैतन्यके साथ सम्बन्ध होनेपर भी (किसी समय) विषयावच्छिन्न चैतन्यके साथ सम्बन्धके विना भी उक्त शब्दजन्यवृत्तिकी उत्पत्ति हो सकती है, अतः चैतन्यसंसर्गसे नियतात्मलाभवाला ज्ञान नहीं है। [तात्पर्यार्थ यह है कि 'यदज्ञानं यं पुरुषं प्रति' इत्यादि विरोध प्रयोजकको नियमगर्भित माननेसे परोक्षवृत्तियोंका विषयावच्छिन्न चैतन्यके साथ संसर्ग न होनेके कारण उनमें अज्ञान निवर्तकत्वकी प्रसक्ति नहीं है, ऐसा कहा जा चुका है, इसपर शङ्का होती है कि यह कहना असङ्गत है, क्योंकि परोक्षवृत्तिका भी किसी स्थलमें विषयावच्छिन्न चैतन्यके साथ संसर्ग देखा जाता है, जैसे कि 'हृदयपुण्डरीकमें नाडियाँ हैं' इस वाक्यसे उत्पन्न हुई वृत्तिके दैवयोगसे हृदयपुण्डरीकस्थ अन्तःकरणमें नाड़ी या हृदय दोनोंमें से किसी एकसे अवच्छिन्नरूपसे उत्पन्न होनेपर उस वृत्तिका नाड़ी या हृदयसे युक्त चैतन्यमें संसर्ग होनेके कारण उस वृत्तिमें भी अज्ञानके निवर्तकत्वकी प्रसक्ति आवेगी ? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं कि नहीं, उक्त प्रसक्ति नहीं आ सकती है, कारण कि विरोधका प्रयोजक जो तथाकथित नियम है, वह नियम व्यापकता से घटित है। भाव यह है कि जब जब नाड़ी, हृदयादिविषयक शब्दजन्य वृत्तिका उदय होता है, तब तब उस वृत्तिका नाड़ी आदिसे युक्त चैतन्यमें संसर्ग होता है, यह नियम नहीं है, कारण कि इन्द्रिय-

---

आश्रयीभूत जो घटावच्छिन्न चैतन्य है, उसमें संसर्गसे नियत है उत्पत्ति जिसकी, ऐसे ज्ञानसे उक्त अज्ञान निवर्त्य है। जब-जब घटेन्द्रियसन्निकर्षसे घटविषयक वृत्तिज्ञान की उत्पत्ति होती है, तब-तब घटावच्छिन्न चैतन्यमें घटविषयक वृत्तिज्ञानकी उत्पत्ति होती है, यह नियम है। इसीलिए 'ऐन्द्रियकवृत्तयः तत्तद्विषयावच्छिन्नसंसृष्टा एव उत्पद्यन्ते, इति नियममुपेत्य' अर्थात् जब इन्द्रियजन्यवृत्तियोंकी उत्पत्ति होती है, तब उन वृत्तियोंका विषयावच्छिन्न चैतन्यमें संसर्ग है, ऐसा कहा गया है इसी प्रकार इस नियमका अन्यत्र भी उपयोग जानना चाहिए।

अन्ये विषयसम्मोहभेदनाय तमास्थिताः ।
परे चिदुपरागार्थम् अभेदव्यक्तयेऽपरे ॥१२१॥

कोई लोग कहते हैं कि विषयगत अज्ञानकी निवृत्तिके लिए वृत्तिका निर्गमन है, कुछ लोग कहते हैं कि चैतन्यके साथ सम्बन्धके लिए वृत्तिका निर्गमन अपेक्षित है और कोई लोग अभेदाभिव्यक्तिके लिए वृत्तिका निर्गमन मानते हैं ॥१२१॥

अन्ये तु—विषयगताज्ञानस्य लाघवात् समानाधिकरणाज्ञाननिवर्त्यत्वसिद्धौ वृत्तिनिर्गमः फलतीत्याहुः ।

अपरे तु—बाह्यप्रकाशस्य बाह्यतमोनिवर्तकत्वं सामानाधिकरण्ये सत्येव

जन्य वृत्तियाँ तो तत्-तत् इन्द्रियगोलकसे युक्त अन्तःकरणप्रदेशमें होती हैं, अतः उनमें उक्त नियम घटता है, परन्तु अन्तःकरणमें उत्पन्न होनेवाली इन्द्रियनिरपेक्ष-वृत्तियोंके प्रदेशनियममें कारण न होनेसे हृदयादिविषयक शाब्दवृत्ति कदाचित् हृदयादिदेशस्थ अन्तःकरणमें उत्पन्न होती है और कदाचित् पैर आदि देशसे युक्त अन्तःकरणमें उत्पन्न होती है। अतः उक्त नियम नहीं हो सकता है, कारण कि पैरमें जब उक्त वृत्ति होगी तब नाड़ीसे अवच्छिन्न चैतन्य ही नहीं है, अतः उसका संसर्ग भी नाड़ीयुक्त चैतन्यमें नहीं होगा] । इससे—वृत्तिज्ञानमें अज्ञानाश्रयीभूत चैतन्यके साथ सम्बन्धके विना अज्ञान निवर्तकत्व न होनेके कारण—ज्ञान और अज्ञानके विरोधके निर्वाहके लिए वृत्तिका निर्गम मानना चाहिए ।

कोई लोग कहते हैं कि विषयगत अज्ञानकी निवृत्ति लाघवसे* समानाधिकरण ज्ञानसे ही सिद्ध होती है, अतः वृत्तिनिर्गमन अर्थतः प्राप्त होता है ।

कुछ लोग कहते हैं कि सामानाधिकरण्यके रहनेपर ही बाह्य प्रकाश बाह्य

---

* अन्वय और व्यतिरेकसे विषयगत अज्ञानके ज्ञाननिवर्त्यत्वपरिज्ञानदशामें प्रथमतः समानाधिकरणज्ञाननिवर्त्यत्व ही अज्ञानमें लाघवसे गृहीत होता है व्यधिकरणज्ञान-निवर्त्यत्व गृहीत नहीं होता है, अतः वृत्तिनिर्गमनके विना ज्ञान और अज्ञानका सामाना-धिकरण्य (एकाधिकरणवृत्तिता) हो ही नहीं सकता है, इसलिए वृत्तिनिर्गम मानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि घटावच्छिन्न चैतन्यमें, घटका आवारक अज्ञान है इसलिए अज्ञाननिवृत्तिरूप ज्ञानका कार्य भी विषयावच्छिन्न चैतन्यमें ही होगा। इसलिए अज्ञाननिवृत्ति-रूप कार्यका, अपने कारण ज्ञानके साथ इन्द्रियसन्निकर्षकी सामर्थ्यसे, सामानाधिकरण्यरूप सम्बन्धके सम्भव होनेपर उसका परित्याग नहीं कर सकते हैं, क्योंकि कार्य और कारणका सामाना-धिकरण्य औत्सर्गिक है ।

दृष्टमिति दृष्टान्तानुरोधाद् वृत्तिनिर्गमः सिद्ध्यतीत्याहुः ।

केचित्तु—आवरणाभिभवार्थं वृत्तिनिर्गमानपेक्षायामपि चिदुपरागार्थं प्रमातृचैतन्यस्य विषयप्रकाशकब्रह्मचैतन्याभेदाभिव्यक्त्यर्थं वा तदपेक्षेत्याहुः ।

अभेदो जीवपरयोः सिद्धो वेदान्तमानकः ।
यतोऽत्र सर्ववेदान्तास्तात्पर्येण समन्वियुः ॥१२२॥

जीव और ब्रह्मका अभेद वेदान्तप्रमाणसे सिद्ध है, क्योंकि सभी वेदान्तोंका तात्पर्य अद्वैत ब्रह्मके बोधनमें ही है ॥१२२॥

इति श्रीमद्गङ्गाधरसरस्वतीविरचितवेदान्तसिद्धान्तसूक्तिमञ्जर्यां
प्रथमपरिच्छेदः समाप्तः ।

अथ किंप्रमाणकोऽयं जीवब्रह्मणोरभेदः, यो वृत्त्याऽभिव्यज्यते ?

अन्धकारका निवर्तक देखा गया है, इसलिए दृष्टान्तके अनुसार वृत्तिका निर्गम सिद्ध होता है *।

कोई लोग कहते हैं कि यद्यपि आवरणके अभिभवके लिए वृत्तिके निर्गमनकी अपेक्षा नहीं है, तथापि चैतन्यके साथ सम्बन्धके लिए अथवा प्रमातृचैतन्य और विषयप्रकाशक ब्रह्मचैतन्यकी अभेदाभिव्यक्तिके लिए उसकी (वृत्तिनिर्गमकी) अपेक्षा है† ।

अब शङ्का होती है कि जीव और ब्रह्मके अभेदमें क्या प्रमाण है, जो वृत्तिसे अभिव्यक्त होता है ।

---

* भाव यह है कि लोकमें दूसरे देशके प्रकाशसे दूसरे देशके अन्धकारकी निवृत्ति नहीं होती है, किन्तु समानदेशमें ही स्थित अंधकार और प्रकाशका परस्पर निवर्त्यनिवर्तक भाव होता है, इसी दृष्टान्तके अनुसार ज्ञान और अज्ञानका, जो कि प्रकाश और अन्धकाररूप हैं, निवर्त्य-निवर्तक भाव सामानाधिकरण्यसे ही होगा। उनका सामानाधिकरण्य अज्ञानके आश्रय विषयावच्छिन्न चैतन्यमें ही हो सकता है, अतः सामानाधिकरण्यके लिए अर्थात् विषयावच्छिन्न चैतन्यमें वृत्तिज्ञानके संसर्गके लिए वृत्तिका निर्गमन मानना ही चाहिए ।

† यदि विषयचैतन्यगत अज्ञानकी निवृत्तिके लिए वृत्तिका निर्गमन न भी माना जाय, तो भी वृत्तिका निर्गम मानना चाहिए, इस अभिप्रायसे 'केचित्तु'का मत है ।

'वेदान्तप्रमाणकः' इति घण्टाघोषः। सर्वेऽपि वेदान्ता उपक्रमोपसंहारैकरूप्यादितात्पर्यलिङ्गैर्विमृश्यमानाः प्रत्यगभिन्ने ब्रह्मण्यद्वितीये समन्वयन्ति। यथा चायमर्थः, तथा शास्त्रे एव समन्वयाध्याये प्रपञ्चितः। विस्तरभयान्नेह प्रदर्श्यते इति ॥१९॥

इति सिद्धान्तलेशसङ्ग्रहे प्रथमः परिच्छेदः समाप्तः।

इस शङ्काका परिहार करते हैं कि जीव और ब्रह्मके अभेदमें वेदान्त (उपनिषत्-वाक्य) ही प्रमाण हैं, यह घण्टाघोष है अर्थात् उक्त अभेदमें वेदान्त ही प्रमाण हैं, यह बात जगत्प्रसिद्ध है, क्योंकि सभी वेदान्तोंका उपक्रम, और उपसंहारके ऐक्यरूप* आदि तात्पर्यलिङ्गोंसे विचार करनेपर जीवाभिन्न अद्वितीय ब्रह्ममें ही पर्यवसान होता है। जिस प्रणालीसे वेदान्तोंका तात्पर्यविषयीभूत जीवाभिन्न अद्वितीय ब्रह्म है, उसका शास्त्रमें--समन्वयाध्यायमें—विचार किया गया है। विस्तारके भयसे प्रकृतमें उसका प्रपञ्च नहीं किया जाता है।

इति श्रीसिद्धान्तलेशसंग्रहके वेदान्ताचार्य-श्रीपण्डितमूलशङ्करव्यासविरचित भाषानुवादमें प्रथम परिच्छेद समाप्त



* उपक्रम आदिका (३३ वें पेजकी) टिप्पणीमें विचार और लक्षण बतलाए गये हैं, अतः वहींसे उपक्रमादिके लक्षणोंका अवधान करना चाहिए।

ॐ

नमः परमात्मने

द्वितीय परिच्छेद

—o—

ननूपजीव्यप्रत्यक्षाविरुद्धं श्रुतियुक्तिभिः ।
बोध्यते कथमद्वैतम्,

यहांपर शङ्का होती है कि सभी प्रमाणोंके उपजीव्य—कारण—प्रत्यक्षप्रमाणसे विरोध होनेके कारण श्रुति और युक्तियोंसे अद्वैतका बोध कैसे हो सकता है ?

अथ कथमद्वितीये ब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वयः, प्रत्यक्षादिविरोधाद् ? इति चेत्, न; आरम्भणाधिकरणो-(उ० मी० अ० २ पा० १ अधि० ६ सू० १४)-दाहृतश्रुतियुक्तिभिः प्रत्यक्षाद्यधिगम्यस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मविवर्ततया मिथ्यात्वावगमात् । ननु न श्रुतियुक्तिभिः प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं

---

* यहां पर शङ्का होती है कि वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य अद्वैत ब्रह्ममें कैसे हो सकता है ? क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे विरोध है, [अर्थात् ब्रह्मभिन्न घटादि-प्रपञ्चके प्रत्यक्ष आदिसे सिद्ध होनेके कारण ब्रह्ममें अद्वितीयत्व बाधित है, अतः श्रुतिका बाधित अर्थमें तात्पर्य माना जायगा, तो अप्रामाण्य प्रसक्त होगा, इसलिए वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्ममें नहीं हो सकता है, यह शङ्काका भाव है], नहीं, यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि आरम्भणाधिकरणमें उदाहृत श्रुति और युक्तियोंसे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे गृहीत पदार्थोंके ब्रह्मविवर्त होनेसे उनमें मिथ्यात्वका ही अनुमान होता है। यदि शङ्का हो कि श्रुति और युक्तियोंसे प्रपञ्चमें मिथ्यात्वका साधन हो ही

---

* प्रथमपरिच्छेदमें ब्रह्मलक्षणविचारके प्रसङ्गमें, मतभेदसे शेष ब्रह्ममें लक्षणकी वृत्तिता है और ईश्वररूप ब्रह्ममें भी है, ऐसा निरूपण करनेसे 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यके 'तत्' शब्दके लक्ष्य और वाच्य अर्थका निरूपण किया गया है। उसके बाद जीव और जीव-साक्षीके निरूपणसे 'त्वम्' पदके वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थका भी विवेचन किया गया है, और इनके निरूपणसे अभेदरूप वाक्यार्थका भी अर्थात् निरूपण किया गया है, इसलिए प्रथम परिच्छेदमें जीवाभिन्न निर्विशेष ब्रह्ममें वेदान्तसमन्वयरूप प्रथमाध्यायार्थका तात्पर्यनिरूपण हो जाता है। अब द्वितीयाध्यायार्थरूप वेदान्तसमन्वयका मानान्तरसे विरोधके परिहारका निरूपण करनेके लिए द्वितीय परिच्छेदका आरम्भ करते हैं—"अथ" इत्यादिसे, यह भाव है।

प्रत्याययितुं शक्यते; 'घटः सन्' इत्यादिघटादिसत्त्वग्राहिप्रत्यक्षादिविरोधात्।

तत्त्वशुद्धिकृतो विदुः ॥ १ ॥
शुक्तीदन्तेव सन्मात्रं सर्वाध्यक्षेषु गोचरः ।
रूप्यवद्घटभेदादिभ्रान्तेरित्यविरुद्धता ॥ २ ॥

उक्त शङ्काके परिहारमें तत्त्वशुद्धिकार कहते हैं कि शुक्तिमें इदन्त्वके समान सभी प्रत्यक्षोंमें सन्मात्रका अवगाहन होता है और शुक्तिमें रूप्यका ज्ञान भ्रान्तिसे ही होता है, वैसे ही सन्मात्रमें घट आदिका भ्रान्तिसे ही अवभास होता है, अतः विरोध नहीं है ॥ १ ॥ २ ॥

अत्राहुस्तत्त्वशुद्धिकाराः—न प्रत्यक्षं घटपटादि तत्सत्त्वं वा गृह्णाति, किन्तु अधिष्ठानत्वेन घटाद्यनुगतं सन्मात्रम्। तथा च प्रत्यक्षमपि सद्रूपब्रह्माद्वैतसिद्ध्यनुकूलमेव। तथा सति 'सद्' 'सद्' इत्येव प्रत्यक्षं स्यात्, न तु 'घटः सन्' इत्यादि प्रत्यक्षमिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायीति चेद्, न; यथा भ्रमेष्विदमंशस्याऽधिष्ठानस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणम्, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकयोः तत्रैवोपक्षयः। रजतांशस्य त्वारोपितस्य भ्रान्त्या प्रतिभासः,

---

नहीं सकता है, क्योंकि 'घटः सन्' (घट सत् है) इस प्रकारके घट आदिमें सत्त्वके ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्ष आदिके साथ विरोध होगा।

इस आक्षेपके समाधानमें तत्त्वशुद्धिकार कहते हैं—प्रत्यक्षसे घट, पट आदि विषयोंका अथवा उनमें रहनेवाले सत्त्वका ग्रहण नहीं होता है, किन्तु अधिष्ठानत्वरूपसे घट, पट आदिमें अनुगत सन्मात्रका ही ग्रहण होता है, इसलिए प्रत्यक्षप्रमाण भी सद्रूप, अद्वितीय ब्रह्मकी सिद्धिमें अनुकूल ही है। पुनः शङ्का होती है कि यदि प्रत्यक्ष सन्मात्रविषय ही है, तो 'सत्' 'सत्' इसी प्रकारसे प्रत्यक्ष होना चाहिए, 'घट सत् है, इस प्रकार इन्द्रियके साथ अन्वय और व्यतिरेकका अनुविधायी प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए, तो यह शङ्का भी युक्त नहीं है, क्योंकि जैसे भ्रमात्मक ज्ञानमें इदमंशरूप अधिष्ठानका प्रत्यक्षसे ग्रहण होता है। इन्द्रियके अन्वय और व्यतिरेक अधिष्ठानप्रत्यक्षमें ही चरितार्थ हैं, और आरोपित रजतांशका प्रतिभास साक्षीरूप भ्रान्तिसे होता है, वैसे ही सर्वत्र इन्द्रियोंसे सन्मात्र अधिष्ठानका ही ग्रहण होता है, इन्द्रियोंका व्यापार उसीके प्रत्यक्षमें समाप्त होता है, और घट, पट आदि वस्तुका प्रतिभास भ्रान्तिसे होता है.

तथा सर्वत्र सन्मात्रस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणम्, तत्रैवेन्द्रियव्यापारः। घटादि-भेदवस्तुप्रतिभासो भ्रान्त्येत्यभ्युपगमात्।

ननु तद्वदिह बाधादर्शनात् तथाऽभ्युपगम एव निर्मूल इति चेत्, न; बाधादर्शनेऽपि देशकालव्यवहितवस्तुवद् घटादिभेदवस्तुनः प्रत्यक्षा-योग्यत्वस्यैव तत्र मूलत्वात्।

तथाहि—इन्द्रियव्यापारानन्तरं प्रतीयमानो घटादिः सर्वतो भिन्न एव प्रतीयते। तदा तत्र घटादिभेदे संशयविपर्ययादर्शनात्। यत्राऽपि स्थाण्वादौ पुरुषत्वादिसंशयः, तत्राऽपि तद्व्यतिरिक्तेभ्यो भेदोऽसन्दिग्ध-विपर्यस्तत्वात् प्रकाशते एव। भेदस्य च प्रतियोगिसहोपलम्भनियमवतो

अर्थात् इन्द्रियजन्यवृत्तिसे अभिव्यक्त सन्मात्ररूप साक्षिचैतन्यरूप भ्रान्तिसे होता है, ऐसा स्वीकार किया गया है।

यदि कहो कि शुक्तिरजत आदिके समान * घटादि द्वैतप्रपञ्चका बाध नहीं देखा जाता है, अतः घटादिप्रपञ्च भ्रान्तिसिद्ध है, यह कहना अनुचित है ! यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि बाधका दर्शन न होनेपर भी देश, काल आदिसे व्यवहित वस्तुके समान घट आदिमें रहनेवाले भेदरूप वस्तुओंका प्रत्यक्षायोग्यत्व ही घटादिके भ्रान्तिसिद्धत्वमें प्रयोजक है।

जैसे कि इन्द्रियव्यापारके अनन्तर प्रतीयमान घट आदि अन्य सभी से भिन्न ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि उस समय घटादिमें रहनेवाले भेदमें संशय और विपर्ययका अवभास नहीं होता है। और जहांपर स्थाणुप्रभृतिमें पुरुषत्व आदिका सन्देह होता है, वहाँ भी पुरुषत्वादिसे अन्य पदार्थोंका असंदिग्ध

---

* तात्पर्य यह है कि शुक्तिमें रजतका भ्रम होनेके अनन्तर दोष आदिकी निवृत्ति होनेपर 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) इस प्रकार बाधज्ञान होता है, इसी प्रकार घटादि द्वैतप्रपञ्चका बाध नहीं होता है, इसलिए घटादि द्वैतप्रपञ्चको भ्रान्तिसिद्ध कैसे मानना ? इस प्रकारका संशय होनेपर उत्तरदाता कहता है कि द्वैतप्रपञ्चका बाध नहीं देखा जाता है, इसका क्या अर्थ है, क्या श्रौतबाधका अदर्शन अर्थ है या प्रत्यक्षबाधका अदर्शन अर्थ है, अथवा यौक्तिकबाधका अदर्शन अर्थ है। प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतिसे बाध देखा जाता है, द्वितीयका अङ्गीकार करके तृतीयका 'बाधादर्शनेऽपि' इत्यादिसे निरास करते हैं।

न प्रत्यक्षेण ग्रहणं सम्भवति । देशकालव्यवधानेनाऽसन्निकृष्टानामपि प्रतियोगिनां सम्भवात् । भेदज्ञानं प्रतियोग्यंशे संस्कारापेक्षणात् स्मृतिरूपमस्तु प्रत्यभिज्ञानमिव तत्तांशे इति चेत्, न ; तथाऽपि भेदगतप्रतियोगिवैशिष्ट्यांशे तदभावात् ।

न च कनकाचलो भेदप्रतियोगी, वस्तुत्वादिति भेदे प्रतियोगिवैशिष्ट्यगोचरानुमित्या तत्संस्कारसम्भवः । भेदे ज्ञानं विनाऽनुमित्यभावेनाऽऽ-

---

और विपर्यासशून्य भेद प्रकाशित होता है, प्रतियोगीके साथ ही * जिसकी उपलब्धि नियत है, ऐसे भेदका प्रत्यक्षप्रमाणसे अर्थात् चक्षुरादिसे ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि देश और कालके व्यवधानसे असम्बद्ध भी प्रतियोगी हो सकते हैं। यदि कहो कि प्रतियोगी अंशमें भेदका ज्ञान संस्कारकी अपेक्षा रखता है, अतः स्मृतिरूप ही प्रतियोगी अंशमें ज्ञान होगा, जैसे प्रत्यभिज्ञा तत्तांशमें स्मरणात्मक होती है, यह शङ्का भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर भी भेदप्रतियोगीके सम्बन्धांशमें स्मृतिरूप ज्ञान नहीं हो सकता है † ।

यदि शङ्का हो कि कनकाचल भेदका प्रतियोगी है, वस्तु होनेसे, इस प्रकार की, भेदमें प्रतियोगीके वैशिष्ट्यको विषय करनेवाली, अनुमितिसे भेदगत

---

* सारांश यह है कि ससम्बधिक पदार्थके प्रत्यक्षमें सम्पूर्णसम्बन्धिविषयकत्व और सम्पूर्णसम्बन्धिप्रत्यक्षजन्यत्व, संयोग आदिके प्रत्यक्षमें क्लृप्त है, अतः भेदप्रत्यक्षमें भी यावत्प्रतियोगिविषयकत्व और यावत्प्रतियोगिप्रत्यक्षजन्यत्व मानना पड़ेगा, क्योंकि भेदप्रत्यक्ष भी ससम्बन्धिकपदार्थप्रत्यक्ष है, इस परिस्थितिमें संसारभरके सारे प्रतियोगियोंका प्रत्यक्ष न हो सकनेके कारण क्लृप्त सामग्रीके न होनेसे भेदप्रत्यक्ष प्रमाणके योग्य नहीं हो सकेगा, इसलिए उसको भ्रान्तिसिद्ध ही मानना पड़ेगा। सिद्धान्तमें भेदप्रत्यक्षके नित्यसाक्षीरूप होनेसे कारणकी भी अपेक्षा नहीं है।

† वस्तुतस्तु भेदज्ञानमें प्रतियोगितावच्छेदकरूपसे प्रतियोगीके ज्ञानको भेदवादी कारण मानते हैं, और यहाँ प्रतियोगितावच्छेदकरूपसे सम्पूर्ण प्रतियोगियोंका अनुभव नहीं होनेसे संस्कारकी उत्पत्ति नहीं होगी, अतः असन्निकृष्ट पदार्थमें स्मृतिरूपत्वकी उपपत्ति कैसे होगी ? अर्थात् नहीं होगी। यदि कथंचित् मान भी लिया जाय कि स्मरण होता है, तो भी जो कनकाचलका भेद समीपस्थ घटमें अनुभूत होता है, वह नहीं होना चाहिए, क्योंकि कनकाचलका कदापि ग्रहण न होनेके कारण तज्जन्य संस्कार हो ही नहीं सकता। और उसमें स्मृतित्वकी उपपत्ति भी नहीं हो सकती है।

त्माश्रयापत्तेः। पक्षसाध्यहेतुपक्षताद्यभेदभ्रमे सति सिद्धसाधनादिनाऽनुमानाप्रवृत्त्या तदभेदज्ञानविघटनीयस्य तद्भेदज्ञानस्याऽपेक्षितत्वात्।

अस्तु तर्हि भेदांशे इव प्रतियोगिवैशिष्ट्यांशेऽपि प्रत्यक्षमिति चेत्, न; प्रतियोगिनोऽप्रत्यक्षत्वे तद्वैशिष्ट्यप्रत्यक्षायोगात् सम्बन्धिद्वयप्रत्यक्षं विना सम्बन्धप्रत्यक्षासम्भवात्। तस्मात् प्रत्यक्षायोग्यस्य प्रतियोगिनो भ्रान्तिरूप एव प्रतिभास इति तदेकवित्तिवेद्यत्वनियतस्य भेदस्य भेदैकवित्तिवेद्यत्वनियतस्य घटादेश्च भ्रमैकविषयत्वात् प्रत्यक्षं निर्विशेषसन्मात्रग्राह्याद्वैतसिद्ध्यनुकूलमिति।

प्रतियोगीके सम्बन्धके संस्कारका आधान हो सकता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि भेदज्ञानके बिना अनुमितिके न होनेसे आत्माश्रय होगा, [तात्पर्य यह है कि अनुमिति तभी हो सकती है जब पक्षादिके भेदका ज्ञान हो, और पक्षादिभेदज्ञान तभी हो सकता है जब अनुमिति हो, इससे अपने ज्ञानमें अपनी ही अपेक्षा होनेसे आत्माश्रय दोष होगा। अतः आत्माश्रयरूप दोपसे दुष्ट होनेके कारण उक्त अनुमिति नहीं हो सकती है और अनुमितिके न होनेसे भेदगत प्रतियोगीके वैशिष्ट्यका भान भी नहीं हो सकता है], क्योंकि पक्ष, साध्य, हेतु और सपक्ष आदिका अभेदभ्रम होनेपर सिद्धसाधन आदिसे अनुमानकी प्रवृत्तिके न होनेके कारण उनके अभेदज्ञानके विघटनके लिए भेदज्ञानकी अपेक्षा है।

यदि प्रतियोगिवैशिष्ट्यांशका स्मृतिरूप ज्ञान सम्भव नहीं है, तो भेदांशके समान वैशिष्ट्यांशमें भी प्रत्यक्षरूप ही हो? तो यह भी नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रतियोगीका प्रत्यक्ष न होनेके कारण प्रतियोगीके वैशिष्ट्यका भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, क्योंकि दो सम्बन्धियोंके ज्ञानके बिना सम्बन्धका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। इससे प्रत्यक्षके लिए सर्वथा अयोग्य प्रतियोगीका प्रतिभास केवल भ्रान्तिसे ही होता है, अतः प्रतियोगिप्रत्यक्षवेद्यत्वसे नियत भेदमें और नियमतः भेदज्ञानमें विषयीभूत घट आदिमें केवल भ्रान्तिज्ञानकी विषयता होनेसे निर्विशेष सद्रूपका केवल ग्रहण करनेवाला प्रत्यक्ष प्रमाण भी अद्वैत सिद्धिमें अनुकूल ही है *।

---

* प्रतियोगीका प्रत्यक्ष न होनेसे भेदका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, और भेदके प्रत्यक्ष के बिना घट आदिका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, प्रतियोगी प्रत्यक्षयोग्य नहीं है, तथापि उसका जो प्रतिभास होता है, वह भ्रान्तिमात्र है, अतः भ्रमात्मक प्रतियोगीके ज्ञानका विषय भेद तथा

ब्रह्मसत्तानुविद्धं हि विश्वमिन्द्रियगोचरः ।
स्वतो नेत्यविरुद्धत्वमाहुर्न्यायसुधाकृतः ॥ ३ ॥

ब्रह्मसत्तासे अनुविद्ध (युक्त) ही सम्पूर्ण जगत् इन्द्रियका गोचर होता है, स्वतः नहीं, अतः प्रत्यक्षसे विरोध नहीं है, ऐसा न्यायसुधाकार कहते हैं ॥ ३ ॥

न्यायसुधाकृतस्त्वाहुः—घटादेरैन्द्रियकत्वेऽपि 'सन् घटः' इत्यादिरधिष्ठानसत्तानुवेध इति न विरोधः । एवं 'नीलो घटः' इत्यादिरधिष्ठाननैल्यानुवेधः किं न स्यादिति चेत्, न; श्रुत्या सद्रूपस्य वस्तुनो जगदुपादानत्वमुक्तमविरोधात् सर्वसम्मतमिति, तदनुवेधेनैव 'सन् घटः' इत्यादिप्रतिभासोपपत्तौ घटादावपि सत्ताकल्पने गौरवम् । तस्य रूपादिहीनत्वाद्, नैल्यादिकं घटादावेव कल्पनीयमिति वैषम्यादिति ।

* न्यायसुधाकार कहते हैं कि यद्यपि घट आदि पदार्थ इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षके विषय अवश्य हैं, तथापि 'सन् घटः' इस प्रकार जो घट आदिमें सत्ताका प्रतिभास होता है, वह अधिष्ठानकी सत्ताके सम्बन्धको ही विषय करता है, अतः विरोध नहीं है । यदि शङ्का हो कि 'नीलो घटः' (घट नीला है) इस प्रत्यक्षसे घटादिमें भासमान नैल्यका प्रतिभास भी (सन् घटः, इस ज्ञानके समान) अधिष्ठानगत नैल्यको ही विषय करेगा, वस्तुतः नैल्यका अवगाहन नहीं करेगा, [अतः ब्रह्म भी रूपवान् होगा,] तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि श्रुतिने सद्रूप ब्रह्मवस्तुमें जगत्के प्रति जो उपादान कारणता कही है, वह विरोध न होनेके कारण सभीको सम्मत है, इसलिए अधिष्ठानकी सत्ताको लेकर ही 'सन् घटः' इत्यादि प्रत्यक्षकी उपपत्ति हो सकती है, तो घटादिमें सत्ताकी कल्पना करना केवल गौरवमात्र है । और जगत्के अधिष्ठानभूत ब्रह्ममें रूप न होनेके कारण नीलिमाकी कल्पना घटमें ही करनी चाहिए, यह वैषम्य है ।

भ्रमात्मक भेदज्ञानके विषय घट आदि भी भ्रान्तिसिद्ध होंगे, इसलिए प्रत्यक्ष अधिष्ठानभूत सद्वस्तुके ग्रहणमें ही प्रमाण है, यह भाव है ।

* न्याय सुधाकारका कहना है कि घट आदिमें चक्षु आदिसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानकी विषयता है, इसलिए उन्हें अनुभवके अनुसार चाक्षुप मानना पड़ता है, तथापि प्रपञ्चमें मिथ्यात्वका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिके साथ उसका विरोध नहीं है, क्योंकि घट आदिमें जिस सत्ताका प्रत्यक्षसे ग्रहण होता है, वह अतिरिक्त अर्थात् अधिष्ठानसत्तासे अलग सत्ता नहीं है, जैसे स्फटिकमें स्वतः रक्तिमा न होनेपर भी जपाकुसुमगत रक्तिमाका ग्रहण होता है, वैसे ही घटमें स्वतःसत्ता न होनेपर भी ब्रह्मसत्ताका ही घटादिमें प्रतिभास होता है, यह भाव है ।

जडेष्वावरणायोगाच्चक्षुरादेर्न तात्त्विकी ।
मानतेत्यविरुद्धत्वं संक्षेपाचार्यदर्शने ॥ ४ ॥

घटादि जड़ पदार्थोंमें आवरणका योग न होनेके कारण चक्षु आदिकी प्रामाणिकता तात्त्विक नहीं है, अतः प्रत्यक्षसे श्रुतिप्रतिपादित अद्वैतका विरोध नहीं है, ऐसा संक्षेपशारीरककार कहते हैं ॥ ४ ॥

संक्षेपशारीरकाचार्यास्त्वाहुः—प्रत्यक्षस्य घटादिसत्त्वग्राहित्वेऽपि पराग्विषयस्य प्रत्यक्षादेस्तत्त्वावेदकत्वलक्षणप्रामाण्याभावाद् न तद्विरोधेनाऽद्वैत-

आचार्य संक्षेपशारीरककार कहते हैं कि यद्यपि घट आदि पदार्थकी सत्ताका प्रत्यक्षसे ग्रहण होता है, तथापि जड़मात्र वस्तुको विषय करनेवाले प्रत्यक्ष आदिमें तत्त्वावेदकत्वरूप * प्रामाण्यके न रहनेसे प्रत्यक्षादिके विरोधसे

* प्रमाणका लक्षण है—तत्त्वावेदकत्व, तत्त्वशब्दार्थ है—अनधिगत होकर जो अबाधित हो, इस तत्त्व वस्तुका आवेदक—बोधक जो प्रमाण होगा, वही प्रमाण कहलावेगा। प्रत्यक्ष आदि जो हैं, वे तत्त्वावेदक याने अज्ञात और अबाधित वस्तुके बोधक नहीं हैं, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि घटादि बाह्य वस्तुओंको ही विषय करते हैं, घटादि बाह्य वस्तु अज्ञात (अनधिगत—भावरूप अज्ञानके विषय) नहीं हैं। क्योंकि घटादि बाह्य वस्तुके अबाधित होनेपर भी उसके अज्ञातत्वमें कोई भी प्रमाण नहीं है। इस अर्थका प्रतिपादन करनेके लिए संक्षेपशारीरककारने कहा है—

'अज्ञातमर्थमवबोधयदेव मानं
तच्च प्रकाशकरणक्षममित्यभिज्ञाः ।
न प्रत्यगात्मविषयादपरस्य तच्च
मानस्य संभवति कस्यचिदत्र युक्त्या ॥ ८ ॥
अज्ञातमर्थमवबोधयितुं न शक्त-
मेवं प्रमाणमखिलं जडवस्तुनिष्ठम् ।
किन्त्वप्रबुद्ध पुरुषं व्यवहारकाले
संश्रित्य संजनयति व्यवहारमात्रम् ॥ २१ ॥'

अर्थात् अज्ञात अर्थका अवबोधक प्रमाण ही अपने विषयको प्रकाशित करनेमें समर्थ होता है, ऐसा बड़े-बड़े तन्त्रकारोंका मत है, इसलिए अज्ञातार्थ बोधकत्वरूप प्रामाण्य आत्मविषयक प्रमाणसे भिन्न प्रत्यक्षादिमें युक्तिपूर्वक विचारनेसे भी नहीं हो सकता है। इस रीतिसे प्रत्यक्षादि प्रमाण अज्ञात वस्तुका यद्यपि बोध नहीं कराते हैं, तथापि अज्ञानी पुरुषका अवलम्बन करके व्यवहारकालमें व्यवहारमात्रकी उपपत्ति कराते हैं। इस विषयमें अधिक विचार संक्षेपशारीरकके द्वितीय अध्यायके ८वें श्लोकमें किया गया है, अतः वहींसे अधिक युक्तियोंका अनुसन्धान करना चाहिए, विस्तारके भयसे उसका प्रकृतस्थलमें विचार नहीं किया जाता है।

श्रुत्यादिबाधशङ्का। अज्ञातबोधकं हि प्रमाणम्। न च प्रत्यक्षादिविषयस्य घटादेरज्ञातत्वमस्ति, जडे आवरणकृत्याभावेनाऽज्ञानविषयत्वानुपगमात्। स्वप्रकाशतया प्रसक्तप्रकाशं ब्रह्मैवाऽज्ञानविषय इति तद्बोधकमेव तत्त्वावेदकं प्रमाणम्, तदेव प्रमितिविषयः।

अत एव श्रुतिरपि 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यात्मन एव प्रमेयत्वमिति नियच्छति। नहि 'द्रष्टव्यः' इत्यनेन दर्शनं विधीयते, प्रमाणपरतन्त्रस्य तस्य विध्यगोचरत्वात्, किन्तु 'आत्मा दर्शनार्हः' इति। अज्ञातत्वादात्मन एव प्रमेयत्वमुचितम्, नाऽन्यस्येति नियम्यते इति।

अद्वैत बोधकश्रुति आदिके बाधकी शङ्का ही नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रमाण वही होता है जो अज्ञातका बोध करावे, प्रत्यक्ष आदिके विषय अज्ञात नहीं हैं, जड़पदार्थमें आवरण कार्य न होनेसे अज्ञानविषयत्वरूप अज्ञातत्व नहीं माना गया है। स्वप्रकाश होनेके कारण जिसकी प्रकाशता प्रसक्त है, उसी ब्रह्ममें अज्ञानकी विषयता भी है, इसलिए अज्ञात ब्रह्मवस्तुका बोध करानेवाली 'तत्त्वमसि' आदि श्रुतियां ही तत्त्वावेदक प्रमाण हैं, और वही ब्रह्मप्रमितिका विषय भी हो सकती हैं।

ब्रह्मके अज्ञात होनेसे ही 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (अरे मैत्रेयि! आत्माका साक्षात्कार करना चाहिए) इत्यादि श्रुति भी आत्मामें ही प्रमाविषयत्वका समर्पण करती है। यदि शङ्का हो कि 'द्रष्टव्यः' इससे विधान होता है? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि * प्रमाणाधीन आत्मदर्शनमें विधिविषयता हो ही नहीं सकती है। [यदि शङ्का हो कि विधायक तव्यप्रत्ययकी क्या व्यवस्था होगी? तो इसका यही उत्तर है कि वह तव्यप्रत्यय अर्हार्थक है]—अर्थात् आत्मा साक्षात्कारके योग्य है, इस अर्थका बोधक है। इससे आत्माके अज्ञात होनेसे उसीमें प्रमेयत्व (प्रमाज्ञानकी विषयता) मानना उचित है, अन्यत्र नहीं, इस प्रकार नियम होता है †

---

* विधान उसका होता है, जिसमें कि पुरुष स्वतन्त्र अर्थात् कर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ हो, ज्ञानमें पुरुष स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि प्रमाणोंके रहनेसे ज्ञान तो अपने आप ही हो जाता है, इसलिए प्रमाण पराधीन—प्रमाणमात्रसे ही जिसकी उत्पत्ति हो सकती है, ऐसे—आत्मसाक्षात्कारमें 'द्रष्टव्यः' विधि नहीं हो सकती है, यह भाव है।

† अर्थात् संसारमें एक आत्मा ही ज्ञातव्य है, अन्य नहीं, क्योंकि वही सम्पूर्ण दुःखग्रामका

जातिकालादिकं सत्त्वमिष्टमध्यक्षगोचरः ।
नहि तच्छ्रौतमिथ्यात्वविरुद्धमिति केचन ॥ ५ ॥

जातिरूप या देश, कालादि सम्बन्धरूप सत्त्व प्रत्यक्षका गोचर है, अतः श्रुतिसे प्रतिपादित मिथ्यात्वसे प्रत्यक्षका विरोध नहीं है, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं ॥ ५ ॥

केचित्तु—घटादिसत्त्वग्राहिणः प्रत्यक्षस्य प्रामाण्ये ब्रह्मप्रमाणन्यूनताऽनवगमेऽपि तद्ग्राह्यं सत्त्वमनुगतप्रत्ययात् सत्ताजातिरूपं वा, इहेदानीं घटोऽस्ति' इति देशकालसम्बन्धप्रतीतेः तत्तद्देशकालसम्बन्धरूपं वा, 'नास्ति घटः' इति स्वरूपनिषेधप्रतीतेर्घटादिस्वरूपं वा पर्यवस्यति । तच्च स्वमिथ्यात्वेन न विरुध्यते । नहि मिथ्यात्ववादिनाऽपि घटादेः स्वरूपं

* कुछ लोग कहते हैं कि यद्यपि घट आदि पदार्थोंकी सत्ता ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्षके प्रामाण्यमें ब्रह्मप्रतिपादक श्रुतिप्रमाणोंसे स्वल्प भी न्यूनता नहीं है, तथापि प्रत्यक्षप्रमाणसे ग्रहण किया जानेवाला सत्त्व 'घटः सन्, पटः सन्' इत्यादि अनुगत प्रत्यय होनेसे सत्ता जातिरूप ही है, अथवा यहाँ इस समय घट है, इस प्रकारसे घट आदिमें देश, कालके सम्बन्धकी प्रतीति होनेसे, तत्-तत् देशकालके सम्बन्धरूप ही है, अथवा 'घट नहीं है' इस प्रकार घटके स्वरूपनिषेधकी प्रतीतिसे घटादिस्वरूप ही है। परन्तु वह सत्त्वके मिथ्या होनेपर भी विरुद्ध नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्वका प्रतिपादन करनेवाला भी घटादिका स्वरूप, उसका देशकालसंसर्ग अथवा घट आदिमें जाति आदि नहीं मानता है, ऐसा नहीं है, किन्तु उनमें अबाध्यत्व ही नहीं मानता है। यदि शङ्का हो कि

अभिधायक है, इस प्रकार आत्माके ज्ञातव्यमें विशेष योग्यताका सूचन करनेके लिए 'द्रष्टव्यः' में तव्यप्रत्यय है, विधायक नहीं है, यह भाव है।

* इस केचित्तुके मतका यह भाव है कि जैसे श्रुति यथार्थ वस्तुका ही ग्रहण करती है, वैसे प्रत्यक्ष भी तात्त्विक अर्थात् सत्य ही घट आदि पदार्थका ग्रहण करता है, परन्तु घट आदिमें प्रतिभात होनेवाली सत्ता सदासत्ता (त्रिकालाबाधित सत्ता) नहीं है, किन्तु 'घटः सन्' इत्यादि अनुगत प्रत्ययसे सिद्ध हुई सत्ता जाति ही है, अतः श्रुति और प्रत्यक्षके भिन्न-भिन्न विषय होनेके कारण प्रत्यक्षविरुद्ध होनेसे श्रुतिमें अप्रामाण्यकी शङ्का नहीं हो सकती है। और यह भी आग्रह नहीं है कि घटादिमें भासमान सत्ता जातिरूप ही है। परन्तु जातिरूप हो या देशकालसम्बन्धरूप हो या घटादिस्वरूप हो, इनको जगत्मिथ्यावादी भी व्यवहारदशामें मानता ही है, अतः विरोध नहीं है।

वा, तस्य देशकालसम्बन्धो वा, तत्र जात्यादिकं वा नाभ्युपगम्यते, किन्तु तेषामबाध्यत्वम्। न चाऽबाध्यत्वमेव सत्त्वं प्रत्यक्षग्राह्यमस्त्वितिवाच्यम्, 'कालत्रयेऽपि नाऽस्य बाधः' इति वर्तमानमात्रग्राहिणा प्रत्यक्षेण ग्रहीतुमशक्यत्वादित्याहुः।

अयावज्ज्ञानबाध्यत्वमबाध्यत्वमिति द्विधा।

सत्त्वयोर्भेदमाश्रित्याविरोधमितरे जगुः॥ ६॥

कुछ-कालतक अर्थात् ब्रह्मज्ञानपर्यन्त अबाध्यत्वरूप सत्ताके दो भेद मान करके प्रत्यक्ष और श्रुतिके अविरोधका समाधान कोई लोग करते हैं॥ ६॥

अन्ये तु—अबाध्यत्वरूपसत्यत्वस्य प्रत्यक्षग्राह्यत्वेऽपि 'प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्' इतिश्रुत्या प्रधानभूतप्राणग्रहणोपलक्षितस्य कृत्स्नस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मणश्च सत्यत्वोत्कर्षापकर्षप्रतीतेः, सत्यत्वे चाबाध्यत्वरूपे सर्वदैवाबाध्यत्वं किञ्चित्कालमबाध्यत्वमित्येवंविधोत्कर्षापकर्षं विना 'राजराजो मन्मथमन्मथः' इत्यादिशब्दतात्पर्यगोचरनियन्तृत्वसौन्दर्यादी-

---

अबाध्यत्वरूप सत्त्वका ही प्रत्यक्षसे ग्रहण क्यों नहीं होता है? तो युक्त नहीं है, क्योंकि 'तीनों कालोंमें इस विषयका बाध नहीं है, इस प्रकार अबाध्यत्वका प्रत्यक्षसे, जो कि केवल वर्तमान विषयका ही ग्रहण करनेमें पटु है, ग्रहण नहीं हो सकता है।

और कुछ लोग कहते हैं कि कदाचित् यह मान भी लिया जाय, कि घटादिमें अबाध्यत्वरूप सत्ताका ही प्रत्यक्षसे ग्रहण होता है, तो भी 'प्राणा वै सत्यम्०' (प्राण सत्य हैं) इत्यादि श्रुतिसे सूत्रात्मक जगत्के विधारक मुख्य प्राणसे उपलक्षित सम्पूर्ण प्रपञ्च और ब्रह्ममें सत्यत्वका उत्कर्ष और अपकर्ष प्रतीत होता है। यदि अबाध्यत्वरूप ही सत्यत्व है, तो सर्वदा अबाध्यत्व और कुछ कालतक अबाध्यत्व, इस प्रकार उत्कर्ष और अपकर्षकी कल्पनाके विना, 'राजराजः' और 'मन्मथमन्मथः' * इत्यादि शब्दोंके तात्पर्य

---

* राजशब्दका अर्थ है—पालकत्वरूप नियामकत्व, और वह पाल्य (जिसका पालन किया जाय) वस्तुसे सापेक्ष है, इस अवस्थामें 'विष्णुशर्मा राजराजः' (विष्णुशर्मा राजाका भी राजा है) ऐसे प्रयोगमें विष्णुशर्माका अन्य राजाओंकी अपेक्षासे कुछ उत्कर्ष सूचित होता है और अन्य राजाओंमें अपकर्ष सूचित होता है, वे उत्कर्ष और अपकर्ष पालनके अधिकदेशविषयकत्व और अल्पदेशविषयकत्वरूप हैं, इसी प्रकार 'श्रीरामः मन्मथमन्मथः' (भगवान्

नामिव भूयोविषयत्वाल्पविषयत्वादिरूपोत्कर्षापकर्षासम्भवाद्, विधान्तरेण तत्सम्भवेऽपि प्रपञ्चस्य ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वश्रुत्यन्तरैकार्थ्याद् उक्तोत्कर्षापकर्षे एव पर्यवसानाच्च प्रत्यक्षग्राह्यं घटादिसत्यत्वं यावद्ब्रह्मज्ञानमबाध्यत्वरूपमिति न मिथ्यात्वश्रुतिविरोध इत्याहुः ।

प्रत्यक्षं बाध्यमाचख्युरपच्छेदनयात् परे ।
यतः शङ्कितदोषं तन्निर्दोषा बाधते श्रुतिः ॥ ७ ॥

अपच्छेदन्यायसे प्रत्यक्ष बाधित होता है, क्योंकि जिसके विषयमें दोषकी शङ्का हो सकती है, ऐसे प्रत्यक्षका निर्दुष्ट श्रुति बाध करती है, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं ॥ ७ ॥

विषयीभूत नियन्तृत्व और सौन्दर्यादिके समान अधिकविषयता और न्यून-विषयता आदिरूप उत्कर्ष और अपकर्ष हो नहीं सकता है। यद्यपि त्रिकाला-बाध्यत्वरूप सत्त्वका अङ्गीकार करके अन्य रीतिसे † भी उत्कर्ष और अपकर्षका निरूपण कर सकते हैं, तथापि प्रपञ्चमें ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वका प्रतिपादन करनेवाली अन्य श्रुतिके साथ एकार्थत्वके लिए, अर्थात् उससे विरोध न हो इसलिए, तथा-कथित उत्कर्ष और अपकर्षमें ही पर्य्यवसान होनेसे प्रत्यक्षसे गृहीत होनेवाला घट आदिका सत्यत्व ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्ति तक ही अबाध्यरूप है, अतः मिथ्या-त्वप्रतिपादक श्रुतिके साथ प्रत्यक्षादि प्रमाणका विरोध नहीं है।

रामचन्द्रजी कामदेवके भी कामदेव हैं अर्थात् कामदेवसे भी अत्यन्त सुन्दर हैं) इस प्रयोगका अत्यन्त सौन्दर्यके बोधके लिए ही व्यवहार किया जाता है, साधारण सौन्दर्यका अर्थ उत्कृष्ट रूपादिमत्त्व और असाधारण सौन्दर्यका अर्थ उससे भी अत्युत्कृष्ट रूपादिमत्त्व है, प्रकृत स्थलमें व्यावहारिक सत्त्व और पारमार्थिक सत्त्व में भी संसारकालमें अबाध्यत्व और त्रिकालाबाध्यत्व-रूपसे उत्कृष्टत्व और अपकृष्टत्वका आपादन कर सकते हैं, यह भाव है।

† प्रकृतमें शङ्काका भाव यह है कि केवल अबाधितत्वरूप सत्ताका अङ्गीकार करके भी अन्य प्रकारसे उत्कर्ष और अपकर्षका सम्भव हो सकता है, वह इस प्रकार है—ब्रह्म और प्रपञ्चमें त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्त्व समान है, परन्तु ब्रह्ममें त्रिकालाबाध्यत्व श्रुतिगम्य है और प्रपञ्चमें लौकिक प्रमाणगम्य है, अतः वैदिकप्रमाणगम्य होनेसे ब्रह्मका सत्त्व उत्कृष्ट है और प्रपञ्चका सत्त्व लौकिकप्रमाणवेद्य होनेसे अपकृष्ट है, इस परिस्थितिमें मिथ्यात्वविरुद्ध सत्त्वका प्रपञ्चमें प्रत्यक्षादिसे ग्रहण होनेके कारण विरोध हो सकता है, इसपर कहा गया कि 'प्राणा वै सत्यम्' इत्यादि श्रुतिसे यदि लौकिक प्रपञ्चमें त्रिकालाबाधित सत्ताका ही ग्रहण किया जाय, तो लौकिक प्रपञ्चमें असत्यत्वका प्रतिपादन करनेवाली अन्य श्रुतिके साथ विरोध होगा, अतः उक्त उत्कर्षा-पकर्ष नहीं कर सकते हैं, यह भाव है।

अपरे तु—प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वसत्यत्वग्राहिणोः श्रुतिप्रत्यक्षयोर्विरोधेऽपि दोषशङ्काकलङ्कितात् प्रथमप्रवृत्तात् प्रत्यक्षाद् निर्दोषत्वादपच्छेदन्यायेन परत्वाच्च श्रुतिरेव बलीयसी।

'प्राबल्यमागमस्यैव जात्या तेषु त्रिषु स्मृतम्' इति स्मरणाच्च।

न च वेदैकगम्यार्थविषयकमिदं स्मरणम्, तत्र प्रत्यक्षविरोधशङ्काऽभावेन शङ्कितप्रत्यक्षविरोधे एव वेदार्थे वेदस्य प्राबल्योक्त्यौचित्यात्।

---

* कुछ लोग कहते हैं—प्रपञ्चमें मिथ्यात्व और सत्यत्वका ग्रहण करनेवाले श्रुतिप्रमाण और प्रत्यक्षप्रमाणका परस्पर विरोध होनेपर भी दोषकी आशङ्कासे कलङ्कित, तथा प्रथम प्रवृत्त प्रत्यक्षसे निर्दुष्ट होनेके कारण और अपच्छेदन्यायसे पर होनेके कारण श्रुति ही बलवती है, अतः श्रुतिका प्रत्यक्षसे बाध नहीं हो सकता है, यह भाव है।

और 'प्राबल्यम्०' (आगम होने से ही प्रत्यक्ष आदि तीनों प्रमाणोंमें से आगमप्रमाण बलवान् है, यह प्रसिद्ध है) इस प्रकार शास्त्रके बलवत्तर प्रामाण्यमें स्मृति भी प्रमाण है।

यदि शङ्का हो कि केवल वेदगम्य अर्थोंमें ही उक्त स्मृति है, अर्थात् उक्त स्मृतिवाक्य उसी आगमको बलवत्तर कहता है, जो वेदैकगम्य स्वर्गसाधनत्वादिका प्रतिपादन करते हैं, मिथ्यात्व केवल वेदगम्य नहीं है, क्योंकि अनुमानादिसे भी मिथ्यात्वकी सिद्धि होती है, अतः मिथ्यात्वप्रतिपादक श्रुतिमें उक्त स्मृतिसे प्रबलता सिद्ध नहीं होगी ? तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि वेदैकगम्य पदार्थमें प्रत्यक्षसे विरोधकी शङ्काका उदय ही न होगा, अतः [उक्त वचनको वेदैकगम्य अर्थविषयक माननेमें प्राबल्य-बोधक वचन व्यर्थ हो जायगा, इससे] जिस वेदोक्त अर्थका प्रत्यक्षके साथ विरोध शङ्कित हो, † उसी वेदार्थमें वेदको प्रबल कहना उचित है।

---

* इन लोगोंके मतमें घटादिनिष्ठ सत्त्व त्रिकालाबाध्यरूप ही है, और उसी सत्ताका प्रत्यक्षसे ग्रहण होता है, अतः प्रत्यक्ष और आगमका अवश्य ही विरोध है, तथापि पर होनेसे अपच्छेदन्यायसे प्रत्यक्षका आगम बाध करता है, यह विशेष है। अपच्छेदन्यायका आगे वर्णन किया जायगा।

† शङ्कितप्रत्यक्षविरोध—शङ्कितः प्रत्यक्षेण सह विरोधो यस्य मिथ्यात्वरूपस्य वेदार्थस्य स तथा, इस व्युत्पत्तिसे जिस मिथ्यात्व आदि वेदोक्त अर्थका प्रत्यक्षसे विरोध शङ्कित हो वही

'तलवद् दृश्यते व्योम खद्योतो हव्यवाडिव ।
न तलं विद्यते व्योम न खद्योतो हुताशनः ॥ १ ॥
तस्मात् प्रत्यक्षदृष्टेऽपि युक्तमर्थं परीक्षितुम् ।
परीक्ष्य ज्ञापयन्नर्थान्न धर्मात् परिहीयते ॥ २ ॥'

इति नारदस्मृतौ साक्षिप्रकरणे प्रत्यक्षदृष्टस्याऽपि प्रत्यक्षमविश्वस्य प्रमाणोपदेशादिभिः परीक्षणीयत्वप्रतिपादनाच्च । नहि नभोनैल्यप्रत्यक्षं

'तलवत्०' (आकाश इन्द्रनीलमणिसे बनी हुई कड़ाईके सदृश दीखता है और जुगनूँ अग्निके सदृश दिखाई देता है, परन्तु आकाश न तो कटाह है और न जुगनूँ अग्नि ही है; अतः प्रत्यक्षसे गृहीत अर्थमें भी खूब परीक्षा करनी चाहिए । यदि परीक्षा करके आचार्य अपने शिष्यवर्गको उपदेश करे, तो शिष्यवर्ग ध्येयसे भ्रष्ट नहीं होता ।)

इस प्रकार नारदस्मृतिके साक्षीके प्रकरणमें प्रत्यक्षसे गृहीत अर्थकी, प्रत्यक्षप्रमाणका अविश्वास करके प्रमाण (आगमप्रमाण), उपदेश आदिसे परीक्षा करनेका प्रतिपादन किया गया है । आकाशकी नीलिमाका जो प्रत्यक्ष

पर आगम प्रत्यक्षसे बलवान् होता है, तात्पर्य यह है कि जिस अर्थमें वेद और वेदसे इतर प्रमाणका परस्पर विरोध प्रसक्त हो, वहींपर एक अर्थमें दोनोंका प्रामाण्य न होनेके कारण उन दोनोंमेंसे किसी एकका बाध होता है, इस अवस्थामें यही प्राप्त होता है कि जो बलवान् है, उससे दुर्बल प्रमाणका बाध करना चाहिए । कौन दुर्बल है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर अपेक्षित अर्थका समर्पक होनेसे वचन सार्थक है, इस विषयमें एक शङ्का होती है, वह यह है कि प्रत्यक्षप्रमाण कहींपर अप्रमाण हो, तो प्रपञ्चसत्यत्वके ग्राहक प्रत्यक्षमें भी मिथ्यात्व-रूप विरुद्ध कोटिका अनुसन्धान करनेवालोंको अप्रामण्यकी शङ्का हो, और इससे शङ्कितदोष-प्रत्यक्ष निर्दुष्ट प्रबल श्रुतिसे बाधित हो, परन्तु वह नहीं होगा, क्योंकि कहींपर भी प्रत्यक्षमें अप्रामाण्यकी अवगति नहीं हुई है, परन्तु सत्ख्यातिवादियोंकी यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि 'तलवद्' इत्यादि नारदस्मृतिसे यह अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है, और व्यवहारमें आकाशमें जो नीलादिकी प्रतीति होती है, वह विरुद्ध ही है, अतः प्रत्यक्षप्रमाणमें कहींपर अप्रामाण्य गृहीत नहीं होता, यह कथन असङ्गत है । नारदस्मृतिमें इन श्लोकोंका पाठ साक्षिप्रकरणमें है, उस प्रकरणमें यह शङ्का हुई है कि आत्मामें साक्षित्व नहीं हो सकता है, कारण कि यद्यपि वह ज्ञाता है, परन्तु उदासीन नहीं है, क्योंकि 'मैं करता हूँ' इस प्रकार सब को कर्तृत्वका अनुभव होता है । इसपर इन श्लोकोंसे यही कहा गया कि लोकमें जैसे आकाशादिमें नीलिमा आदिका ग्रहण होता है, परन्तु वह वास्तविक नहीं है, वैसे ही आत्मामें कर्तृत्व आदिका ग्रहण वास्तविक नहीं है, अतः आत्मामें साक्षित्वकी अनुपपत्ति नहीं है, यह भाव है ।

नभसः शब्दादिषु पञ्चसु शब्दैकगुणत्वप्रतिपादकागमोपदेशमन्तरेण प्रत्यक्षादिना शक्यमपवदितुम्। न च 'नभसि समीपे नैल्यानुपलम्भाद् दूरे तद्धीर्दूरत्वदोषजन्या' इति निश्चयेन तद्बाधः। दूरे नैल्यदर्शनात् समीपे तदनुपलम्भस्तुहिनावगुण्ठनानुपलम्भवत् सामीप्यदोषजन्य इत्यपि सम्भवाद्। अनुभवबलाद् नभोनैल्यमव्याप्यवृत्तीत्युपपत्तेश्च।

नाऽपि दूरस्थस्य पुंसो यत्र भूसन्निहिते नभःप्रदेशे नैल्यधीः, तत्रैव समीपं गतस्य तस्या नैल्यबुद्धेरभावप्रत्यक्षेण बाधः। उपरिस्थितस्यैव

होता है, उसका—शब्द आदि पाँच गुणोंमें से आकाशमें केवल शब्दगुणाश्रयत्वका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोपदेशके सिवा—प्रत्यक्षसे अपवाद नहीं कर सकते हैं। यदि कहो कि आगमके विना भी आकाशमें नैल्यका बाध होता है, जैसे कि 'आकाशमें समीपसे नैल्यका उपलम्भ न होनेसे दूरमें नैल्यबुद्धि दूरत्व आदि दोषसे जन्य है' इस प्रकारके निश्चयसे नैल्यका बाध होता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जैसे वृक्षमें हिमका आवरण दूरसे दिखाई देता है समीपमें नहीं दिखाई देता, क्योंकि समीपमें उसका (हिमावरणका) * सामीप्यदोषसे अनुपलम्भ ही है, वैसे ही आकाशमें दूरसे नैल्यका प्रत्यक्ष होता है और समीपमें प्रत्यक्ष नहीं होता, इसमें मुख्य कारण सामीप्य दोष ही है, अतः आकाशमें नैल्यरूपका अभाव प्रसक्त नहीं होगा, इस प्रकार भी कल्पना कर सकते हैं और अनुभवके आधारपर आकाशके नैल्यको अव्याप्यवृत्ति मानकर भी उक्त उपपत्ति कर सकते हैं।

और यह भी शङ्का नहीं करनी चाहिए कि अत्यन्त दूर प्रदेशमें खड़े हुए पुरुषको जहाँ पृथ्वीसन्निहित आकाशमें नैल्यबुद्धि होती है, वहींपर यदि पुरुष समीपमें जाय, तो उसको वह नीलबुद्धि नहीं होती है, अतः इसी अभावप्रत्यक्षसे आकाशमें नैल्यका बाध होता है, क्योंकि ऊपरके देशमें अवस्थित नैल्यका ही (मेघ)

* सामीप्यदोषके अधीन है अवस्थिति जिसकी, ऐसा अनुपलम्भ (ज्ञानका अभाव) यह सामीप्यदोषजन्यका अर्थ करना चाहिए, अन्य अनुपलम्भशब्दका अर्थ है—उपलम्भका प्रागभाव, वह जन्य कैसे हो सकता है। सामीप्यदोषसे उपलम्भके निरुद्ध होनेपर, तो उसके प्रागभावका विनाश न होनेके कारण दोषाधीन स्थिति हो सकती है, अतः असङ्गति नहीं होगी, यह भाव है।

नैल्यस्याऽभ्रनक्षत्रादेरिव दूरत्वदोषाद् भूसन्निधानावभास इत्युपपत्तेः। पृथिव्यादिषु सङ्कीर्णतया प्रतीयमानानां गन्धादीनाम्—

'उपलभ्याऽप्सु चेद्गन्धं केचिद् ब्रूयुरनैपुणाः।
पृथिव्यामेव तं विद्यादपो वायुं च संश्रितम्॥ १॥'

इत्यादिभिरागमैरेव व्यवस्थाया वक्तव्यत्वेन प्रत्यक्षादागमप्राबल्यस्य निर्विशङ्कत्वाच्च। नह्याजानसिद्धजलोपष्टम्भादिगतं गन्धादि 'पृथिवीगुण एव गन्धः, न जलादिगुणः' इत्यादिरूपेणाऽस्मदादिभिः प्रत्यक्षेण शक्यं विवेचयितुम्। पृथिव्यादीनां प्रायः परस्परसंसृष्टतयाऽन्यधर्मस्याऽन्यत्राऽवभासः सम्भवति इति शङ्कितदोषं प्रत्यक्षम्। अतस्तत्राऽऽगमेन शिक्ष्यत इति चेत्, तर्हि इहाऽपि ब्रह्मप्रपञ्चयोरुपादानोपादेयभावेन परस्परसंसृष्टतयाऽन्यधर्मस्याऽन्यत्राऽवभासः सम्भाव्यते इति शङ्कितदोषं प्रत्यक्षम्—

बादल या नक्षत्र आदिके समान दूरत्वदोषसे पृथ्वीकी सन्निधिमें अवभास होता है, इस प्रकार भी उपपत्ति कर सकते हैं।

और 'उपलभ्याप्सु०' (पृथ्वीके समान जल और वायुमें गन्धका ग्रहण करके यदि कोई अपरिपक्वबुद्धि कहे कि 'जल और वायुमें भी स्वाभाविक गन्ध है' तो उसका वैसा कहना युक्त नहीं है, किन्तु जल और वायुमें उपलभ्यमान गन्ध उनके अन्तर्गत पृथ्वीका ही है, ऐसा जानना चाहिए।) इत्यादि आगमप्रमाणोंसे ही पृथ्वी आदिमें संकीर्णरूपसे प्रतीयमान गन्ध आदिकी भी व्यवस्था कह सकते हैं, अतः प्रत्यक्षसे आगमप्रमाणकी बलवत्तरतामें कोई शङ्का नहीं है। स्वभावतः सिद्ध जलोपष्टम्भ पार्थिव द्रव्यमें रहनेवाले गन्ध आदि 'पृथ्वीके ही गुण हैं, जलके गुण नहीं हैं' इस प्रकार हम लोग प्रत्यक्षसे विवेक नहीं कर सकते हैं, [क्योंकि जलमें भी कहींपर स्वाभाविक गन्ध है, और कहींपर औपाधिक है, ऐसी भी कल्पना हो सकती है] प्रायः पृथ्वी आदिके परस्पर संसृष्ट होनेके कारण अन्य धर्मोंका अन्यमें अवभास होता है, इसलिए प्रत्यक्ष शङ्कितदोषसे कलङ्कित है, इसलिए यदि जलादिमें गन्धके प्रत्यक्षका उक्त शास्त्रसे बाध होता है? तो प्रकृतमें भी ब्रह्म और प्रपञ्चके परस्पर उपादानोपादेयभाव होनेके कारण अन्योऽन्य तादात्म्यापन्न होकर अन्यके धर्मोंका अन्यत्रमें अवश्य अवभास हो सकता है, इसलिए प्रपञ्चमें सत्यत्वका प्रत्यक्ष भी दोषशङ्कासे कलङ्कित ही है। अतः समान रीतिसे उस प्रत्यक्षकी—

'अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् ।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥१॥'

इति वृद्धोक्तप्रकारेणाऽऽगमेन व्यवस्थाप्यतामिति तुल्यम् । न चैवमुपजीव्यविरोधः । आगमप्रमाणेन वर्णपदवाक्यादिस्वरूपांशप्रत्यक्षमुपजीव्याऽनुपजीव्यतत्सत्यत्वांशोपमर्दनादित्याहुः ॥

* 'अस्ति भाति प्रियं०' (घट है, घट प्रकाशित होता है, घट प्रिय है, ये तीन अंश ब्रह्मरूप हैं और घट यह नाम अंश और घटादिका कम्बुग्रीवादिमत्त्व आदिरूप अंश ये दोनों जगत्‌रूप हैं) इस प्रकारके वृद्धोक्त आगमसे—व्यवस्था करनी चाहिए। यदि कहो कि आगमसे प्रत्यक्षका बाध होगा, तो उपजीव्यके साथ विरोध होगा ? तो यह शङ्का भी युक्त नहीं है, क्योंकि वर्ण, पद, वाक्य आदि स्वरूपांशके प्रत्यक्षको उपजीव्य करके आगमप्रमाण अनुपजीव्य प्रत्यक्षगत सत्यत्वांशका उपमर्दन कर सकता है† ॥ १ ॥

* ब्रह्ममें अध्यस्त होनेके कारण घटमें अस्तित्वका, चैतन्यका और आनन्दका अव भास होता है—घट है, घट भासता है, और घट प्रिय है, इसलिए घटमें भासनेवाले ये तीन अंश ब्रह्मके ही हैं, घटके नहीं हैं घटादि नाम और उनका स्वरूप ब्रह्मरूप नहीं है, क्योंकि ब्रह्म नाम और रूपसे विनिर्मुक्त है। इसलिए जगत्‌में भासनेवालोंमें से प्रथम तीन रूप ब्रह्मके और इतर दो रूप जगत्‌के हैं, सभी जगत्‌के पदार्थोंमें पांच अंश अवश्य भासते हैं, यह निर्विवाद है, क्योंकि शत्रु आदिका दुःख सबको प्रिय भासता है। अतः जगत्‌के पञ्चांशमें कोई विरोध नहीं है, यह भाव है।

† शङ्काका तात्पर्य यह था कि प्रत्यक्षशब्दका उपजीव्य है अर्थात् प्रत्यक्षके विना शब्द स्वार्थका बोध कर ही नहीं सकता है, अतः शब्दप्रमाण अपने अर्थके बोधनमें प्रत्यक्षकी अपेक्षा करेगा, अतः उपजीव्य है, यदि शब्दप्रमाण अपने उपजीव्यका विरोध करेगा, तो स्वार्थका बोध ही नहीं करेगा, इसलिए आगमका प्रत्यक्षसे बाध करना असङ्गत है ? इस शङ्कापर उत्तर है कि अवश्य प्रत्यक्षशब्दका उपजीव्य है, परन्तु वह कौनसा प्रत्यक्ष है ? वर्ण, पद और वाक्यात्मक शब्दका श्रोत्रसे होनेवाला प्रत्यक्ष, क्योंकि शब्दज्ञानके विना शाब्दबोध नहीं हो सकता है। इस परिस्थितिमें यदि श्रुति सम्पूर्ण प्रत्यक्षका बाध करेगी, तो उपजीव्य प्रत्यक्षका भी विरोध प्रसक्त होगा, परन्तु श्रोत्र इन्द्रियसे उत्पन्न होनेवाला शब्द प्रत्यक्ष, जो शब्दात्मक ही है, उसका सत्त्व भी ग्रहण करता है, और श्रुतिसे प्रत्यक्षके सत्त्वांशका बाध होता है, परन्तु यह शब्दका उपजीव्य नहीं है, क्योंकि कल्पित शब्दसे भी शाब्दबोध हो सकता है, तो उसकी सत्ता मानना निरर्थक है, और शब्दस्वरूपांशके प्रत्यक्षरूप उपजीव्यका बाध नहीं करता है, अतः उपजीव्यके साथ विरोध नहीं है, यह भाव है।

ननु सोमपदे नैवं भवेन्मत्वर्थलक्षणा ।

प्रस्तरो यजमानः स्याद्

यदि आगम प्रत्यक्षसे बलवान् है, तो 'सोमेन यजेत' इसमें सोमपदकी मत्वर्थमें लक्षणा नहीं होगी और प्रस्तर यजमान भी होगा।

नन्वागमस्य प्रत्यक्षाद् बलीयस्त्वे 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यत्र प्रत्यक्षाविरोधाय यजमानशब्दस्य प्रस्तरे गौणी वृत्तिर्न कल्पनीया। तथा 'सोमेन यजेत' इत्यत्र वैयधिकरण्येनाऽन्वये यागे इष्टसाधनत्वम्, सोमलतायां

अब शङ्का होती है कि यदि आगमको प्रत्यक्षसे बलवान् माना जाय, तो 'यजमानः प्रस्तरः' (कुशमुष्टि यजमान है) इस श्रुतिमें प्रत्यक्षके साथ विरोधके परिहारके लिए यजमानशब्दकी कुशमुष्टिमें गौणी वृत्ति नहीं माननी चाहिए, [तात्पर्यार्थ यह है कि चूंकि कुशमुष्टि यजमान (याग करनेवाला) नहीं हो सकती है, अतः 'यजमानः प्रस्तरः' इस श्रुतिसे प्रस्तरको जो यजमान कहा गया है, वह मुख्य नहीं है अर्थात् उक्त श्रुतिका तात्पर्य प्रस्तरको यजमान कहने में नहीं है, किन्तु केवल लाक्षणिक है, यह सिद्धान्त किया गया है, परन्तु अब इस सिद्धान्तकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षसे आगम बलवान् ही ठहरा, अतः गौण कल्पना निरर्थक है,] वैसे 'सोमेन यजेत' * (सोमवल्लीवाले यागसे अभीष्ट प्राप्त करे) इस श्रुतिमें कहा गया है—वैयधिकरण्यसे सोम और यागका अन्वय हो, तो यागमें इष्टसाधनत्व और सोमलतामें याग-

* 'सोमेन यजेत' (सोमयागसे इष्टका सम्पादन करे) इस श्रुतिमें शङ्का हुई कि सोमशब्दका अन्वय धात्वर्थ यागमें सामानाधिकरण्यसे करना या वैयधिकरण्यसे ? सामानाधिकरण्यशब्दका अर्थ है—एकार्थकत्व अर्थात् अभेद, वैयधिकरण्यका अर्थ होगा भिन्नार्थकत्व। और जहाँ जहाँ सामानाधिकरण्यसे अन्वय होता है, वहाँ वहाँ अभेद ही देखा जाता है, जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' (वही देवदत्त है) इसलिए यदि सामानाधिकरण्यसे अन्वय करें, तो 'सोमेन यजेत' इसका अर्थ होगा सोमरूप यागसे इष्टका सम्पादन करे, परन्तु यह नहीं हो सकता है, क्योंकि द्रव्यदेवतात्मक याग सोम नहीं हो सकता है, इसमें केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। यदि वैयधिकरण्यसे अन्वय मानेंगे, तो यह अर्थ होगा—याग इष्टका साधन है और सोमयागका साधन है, इस परिस्थितिमें एक बार श्रुतविधिप्रत्ययकी दो व्यापारोंमें लक्षणा माननी होगी, इसलिए उस व्यापारसे घटित वाक्यका भी द्विविध व्यापार होगा, अतः वाक्यभेद प्रसक्त होगा, यह भाव है, इनमें सामानाधिकरण्यसे अन्वयका प्रत्यक्षविरोधसे परित्याग किया जाता है, परन्तु प्रत्यक्षसे श्रुति के बलवती होनेसे सामानाधिकरण्यसे अन्वय हो सकता है, तो क्यों उसका परित्याग किया जाता है, यह पूर्वपक्षका भाव है।

यागसाधनत्वं च बोधनीयमिति व्यापारभेदेन वाक्यभेदापत्तेः। सामानाधिकरण्येनाऽन्वये वक्तव्ये प्रत्यक्षाविरोधाय 'सोमवता यागेन' इति मत्वर्थलक्षणा न कल्पनीया। उभयत्राऽपि सत्यपि प्रत्यक्षविरोधे तदनादृत्याऽऽगमेन बलीयसा प्रस्तरे यजमानाभेदस्य, यागे सोमाभेदस्य च सिद्धिसम्भवादिति चेत्,

अत्राऽऽहुर्भामतीकृतः ॥ ८ ॥
मानान्तराद्बलवती श्रुतिस्तात्पर्यगोचरे ।
अन्यत्र त्वविरुद्धार्थे देवताविग्रहादिके ॥ ९ ॥

इस आक्षेपके समाधानमें भामतीकार कहते हैं कि तात्पर्यविषयपदार्थमें अन्य प्रमाणोंसे श्रुति बलवती है और अन्यत्र देवताशरीर आदि अविरुद्ध अर्थमें श्रुतिप्रमाण है ॥ ८ ॥ ९ ॥

अत्रोक्तं भामतीनिबन्धे—तात्पर्यवती श्रुतिः प्रत्यक्षात् बलवती

साधनत्वकी कल्पना करनी होगी, अतः व्यापारके भेदसे वाक्यभेद प्रसक्त होगा, यदि सामानाधिकरण्यसे अन्वय किया जायगा, तो प्रत्यक्षसे विरोध होगा, अतः मत्वर्थमें लक्षणा करनी होगी, परन्तु अब प्रत्यक्षके साथ अविरोधके लिए मत्वर्थमें लक्षणा करनेकी कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि दोनों स्थलोंमें प्रत्यक्ष विरोध होनेपर भी उसकी परवा न कर बलवान् आगमप्रमाणसे प्रस्तरमें यजमानका अभेद और यागमें सोमका अभेद सिद्ध हो सकता है।

परन्तु यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि इस विषयमें भामतीकारने कहा है कि तात्पर्यसे युक्त श्रुति ही प्रत्यक्षसे बलवती होती है, श्रुतिमात्र (सब श्रुति) बलवती * नहीं होती है। मन्त्रोंका और अर्थवादवाक्योंका स्तुतिके

---

* जब तात्पर्यवाली श्रुति ही प्रमाण है, तो 'सोमेन यजेत' इत्यादि श्रुतियोंका सोम और याग आदिके सम्बन्धमें तात्पर्य न होनेसे श्रुतिकी अपेक्षा प्रत्यक्ष ही बलवान् होगा, इसलिए प्रत्यक्षके साथ विरोधके परिहारके लिए सोमशब्दकी मत्वर्थमें लक्षणा करनी चाहिए, वैसे ही 'यजमानः प्रस्तरः' यह श्रुति भी, स्वार्थमें तात्पर्य न होनेसे, गौणार्थक ही माननी चाहिए, प्रपञ्चमें मिथ्यात्वप्रतिपादक श्रुतियोंका स्वार्थके प्रतिपादनमें ही तात्पर्य होनेसे, प्रत्यक्षकी अपेक्षा श्रुति ही बलवती होती है, अतः इन श्रुतियोंसे प्रत्यक्षका बाध होना अनिष्टकारक है, यह समाधानका भाव है।

न श्रुतिमात्रम्। मन्त्रार्थवादानां तु स्तुतिद्वारभूतेऽर्थे वाक्यार्थद्वारभूते पदार्थे इव न तात्पर्यम्। तात्पर्याभावे मानान्तराविरुद्धदेवताविग्रहादिकं न तेभ्यः सिध्येत्। तात्पर्यवत्येव शब्दस्य प्रामाण्यनियमादिति चेत्, न;

द्वारभूत अर्थमें अर्थात् विधान करनेके लिए अभीष्ट अर्थोंकी स्तुति आदिके द्वारभूत † अर्थमें वाक्यार्थके द्वारभूत पदार्थके समान तात्पर्य नहीं होता है। यदि ‡ शङ्का हो कि मन्त्र और अर्थवादोंका स्वार्थके प्रतिपादनमें अगर तात्पर्य नहीं है, तो मानान्तरसे (प्रत्यक्ष आदि अन्य प्रमाणोंसे) अविरुद्ध देवताओंके शरीर आदिकी इन वाक्योंसे सिद्धि नहीं होगी? क्योंकि तात्पर्यविषय अर्थमें ही शब्दका (श्रुतिका) प्रामाण्य है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि

---

† मन्त्रादिका स्वार्थमें, फल न होनेसे और गौरव होनेसे, तात्पर्य नहीं है, इसलिए 'देवस्य त्वा' इत्यादि मन्त्रोंकी और 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि अर्थवादोंकी विधेयगत स्तुतिमें ही लक्षणावृत्तिका आश्रयण करना चाहिए। इस अवस्थामें द्रव्यदेवतादिरूप मन्त्र आदि वाक्यार्थोंका लक्षणागम्य स्तुतिके साथ सम्बन्ध करना चाहिए, इसलिए स्तुतिमें लक्षणाका मन्त्र आदिका अर्थ द्वारभूत है, जैसे कि गङ्गापदकी तीररूप अर्थमें जो लक्षणा है उसमें प्रवाहरूप अर्थ द्वारभूत है अथवा वाक्यार्थके तात्पर्यसे प्रयुक्त पदोंका वाक्यार्थके ज्ञानमें द्वारभूत स्मारित पदोंका अर्थ द्वार है, परन्तु गङ्गाशब्दका तात्पर्य प्रवाहमें नहीं है और वाक्योंका तात्पर्य स्मारित पदार्थोंमें नहीं है, वैसे ही मन्त्र आदिका भी स्तुतिके द्वारभूत स्वार्थोंमें तात्पर्य नहीं है, इससे तात्पर्यरहित मन्त्रवाक्योंका प्रत्यक्षप्रमाणके अनुकूल ही अर्थ करना चाहिए, यह भाव है।

‡ शङ्काका तात्पर्य यह है कि यदि मन्त्र, अर्थवाद आदिका स्वार्थमें तात्पर्य न माना जाय, तो देवताओंके शरीरोंको बतलानेवाले 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' (वज्र है हाथमें जिसके, ऐसे पुरन्दर) इत्यादि अर्थवादोंका देवताके विग्रह आदि स्वार्थमें तात्पर्य न होनेके कारण देवताओंके शरीरका ज्ञान उन वाक्योंसे नहीं होगा, क्योंकि वेदतात्पर्यविषयत्व वेदजन्य-यथार्थज्ञानविषयत्वके प्रति व्यापक है अर्थात् जहां जहां वेदजन्य यथार्थ ज्ञानकी विषयता रहेगी, वहां वहां वेदकी तात्पर्यविषयता अवश्य रहेगी, प्रकृतमें वेदके तात्पर्यकी विषयता नहीं है, अतः देवताके शरीरमें भी वेदजन्य यथार्थ ज्ञानकी विषयता नहीं रहेगी, क्योंकि व्यापकके अभावसे व्याप्यके अभावका ज्ञान होता है, इस अवस्थामें तात्पर्यवती ही श्रुति प्रमाण है, इस नियमके होनेसे 'वज्रहस्तः' इत्यादि वाक्यसे बोधित इन्द्रका शरीर सिद्ध नहीं होगा।

'एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयमग्निष्टोमसाम कृत्वा पशुकामो ह्येतेन यजेत' इति विशिष्टविधेस्तात्पर्यागोचरेऽपि विशेषणस्वरूपे प्रामाण्यदर्शनेन उक्तनियमासिद्धेः। अत्र हि रेवतीऋगाधारं वारवन्तीयं साम विशेषणम्। न चैतत् सोमादिविशेषणवल्लोकसिद्धम्। येन तद्विशिष्टयागविधिमात्रे प्रामाण्यं वाक्यस्य स्यात्। नाऽपि विशिष्टविधिना विशेषणाक्षेपः। आक्षेपाद्विशेषणप्रतिपत्तौ विशिष्टगोचरो विधिः। तस्मिंश्च सति तेन विशेषणाक्षेपः इति परस्पराश्रयापत्तेः। अतो विशिष्टविधिपरस्यैव वाक्यस्य विशेषणस्वरूपेऽपि

'एतस्यैव०' * इत्यादि विशिष्टविधिके—तात्पर्यका विषय न होनेपर भी विशेषणस्वरूपमें—प्रामण्यके देखनेसे पूर्वोक्त नियम नहीं हो सकता है। प्रकृतमें रेवती नामकी ऋचाओंमें वारवन्तीयनामक साम विशेषण है, परन्तु यह † वारवन्तीय साम सोम आदि विशेषणके समान लोकसिद्ध नहीं है, जिससे कि उक्त सामविशिष्ट यागकी विधिमात्रमें वाक्यका प्रामाण्य हो। और विशिष्टविधिसे विशेषणका आक्षेप भी नहीं कर सकते हैं, क्योंकि आक्षेपसे विशेषणके ज्ञात होनेपर विशिष्टविधि होगी और विशिष्टविषयकविधिके ज्ञात होनेपर उससे विशेषणका आक्षेप होगा, इस प्रकार ‡ अन्योन्याश्रय प्रसक्त होगा। इससे विशिष्टविधिके

---

* 'एतस्यैव०' (रेवत्यधिकरणवाले वारवन्तीयनामक सामसाध्य अग्निष्टोमस्तोत्रविशिष्ट प्रकृत अग्निष्टुत् धर्मवाले यागसे पशुकी अभिलाषा करनेवाला इष्ट सम्पादन करे) रेवती ऋचा—जिसमें 'रे' शब्द आता है, ऐसी 'रेवतीनः' इत्यादि ऋचा। वारवन्तीयम्—'अश्वं न त्वा वारवन्तम्' इस ऋचामें गेय साम। अग्निष्टोम साम—'यज्ञा यज्ञा वो अग्नय' इसमें गेय साम। प्रकृतमें इस रेवत्याधारकवारवन्तीयसामादिविशेषणविशिष्ट क्रतुभावनाविधिका तात्पर्यविषय विशेषणस्वरूप नहीं है, परन्तु विशेषणस्वरूपमें प्रामाण्य होनेसे उक्त नियम अर्थात् शब्दतात्पर्यविषयत्व शाब्दप्रमितिविषयताके प्रति व्यापक है, यह नियम सिद्ध नहीं हो सकता है, इसी ग्रन्थका 'अत्र हि' इत्यादि ग्रन्थसे विवरण किया गया है।

† रेवती ऋचाधारक वारवन्तीयनामक साम विशेषण है, और यह किसी लौकिक प्रमाणसे प्राप्त नहीं है, यदि वह किसी लौकिक प्रमाणसे प्राप्त होता, तो वारवन्तीय सामरूप विशेषणकी दधि आदिके समान लोकतः प्राप्ति होनेसे 'एतस्यैव' इत्यादि वाक्यका उससे अतिरिक्त अर्थमें प्रमितिजनकत्वरूप प्रामाण्य होता, परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि वारवन्तीय साम अन्य ऋचाओंमें अध्ययनसिद्ध है, अतः उक्त वाक्यसे ही रेवतीऋचाधारकवारवन्तीयसामरूप विशेषणकी प्रमिति कहनी चाहिए, यह भाव है।

‡ तात्पर्य यह है कि विशेषणगुणविषयक विधिकी कल्पनाके पूर्वमें विशिष्टविधिसे विशेषणका स्वरूप प्रमित है या नहीं? प्रथम पक्ष मानें, तो विशेषगोचरविधिकी कल्पना व्यर्थ है द्वितीय

प्रामाण्यं वक्तव्यम्। अथ च न तत्र तात्पर्यम्। उभयत्र तात्पर्ये वाक्यभेदापत्तेः।

एवमर्थवादानामपि विधेयस्तुतिपराणां स्तुतिद्वारभूतेऽर्थे न तात्पर्यमिति तेभ्यः प्रत्यक्षस्यैव बलवत्त्वात् तदविरोधाय तेषु वृत्त्यन्तरकल्पनम्। 'सोमेन यजेत' इत्यत्र विशिष्टविधिपरे वाक्ये सोमद्रव्याभिन्नयागरूपं

बोधक वाक्यमें ही विशेषणके स्वरूपमें भी प्रामाण्य कहना चाहिए, यदि कहोगे कि वहां तात्पर्य नहीं है, तो दोनों जगहोंमें तात्पर्यको माननेसे वाक्यभेदकी आपत्ति * प्रसक्त होगी।

विशिष्टविधिके विशेषणस्वरूपके समान अर्थात् जैसे विशिष्टविधिबोधकवाक्यका विशिष्टद्वारा विशेषणांशमें प्रामाण्य है, स्वतः नहीं है, वैसे अर्थवाद वाक्योंका भी, जो विधेयभूत अर्थके स्तावक हैं, स्तुतिद्वारभूत अर्थमें, तात्पर्य नहीं है [तथापि देवताओंके शरीर आदिके ज्ञानके प्रति कारण हो सकते हैं] †, इसलिए तात्पर्यरहित उन मन्त्र और अर्थवादोंकी अपेक्षा प्रत्यक्षप्रमाण ही बलवान् है, अतः उनके (प्रत्यक्ष आदिके) साथ अविरोधके लिए मन्त्र और अर्थवाद आदिकी अन्यवृत्ति माननी चाहिए। 'सोमेन यजेत' इत्यादि विशिष्टविधिके बोधकवाक्यमें यदि 'सोमलतारूप द्रव्यसे अभिन्न यागरूप

पक्ष मानें, तो विधिका आक्षेप हो ही नहीं सकता है, क्योंकि जो प्रमित है अर्थात् जिसका यथार्थ ज्ञान हुआ है, ऐसा द्रव्यदेवतासम्बन्धयागविधिका आक्षेपक होता है, इस अवस्थामें विशिष्टविधिसे विशेषणविधिका आक्षेप है, इस प्रकार जो कहनेवाला है उसको आक्षेपसे पूर्वमें विशेषणको जानना चाहिए, उसका प्रमापक कौन है? इस शङ्कामें आप कल्पित विधिको ही प्रमापक मानेंगे, इससे आक्षिप्तविधिसे विशेषणस्वरूपके ज्ञात होनेपर प्रकृत विधि विशिष्ट विषयक होगी और उस विधिके विशिष्टविषयक होनेपर उस विशिष्टविधिसे विशेषणविधिका आक्षेप होगा, इसलिए परस्पराश्रय दोषकी प्रसक्ति होनेसे विशेषणविधिका आक्षेप ही असिद्ध होगा।

* यदि प्रकृतमें कोई शङ्का करे कि 'यत्परः शब्द स वाक्यार्थः' (वही शब्दका अर्थ होता है जो शब्द तात्पर्यसे गम्य होता है) इस नियमके अनुसार उक्त वाक्योंका तथाकथित अर्थोंमें (विशेषण आदि अर्थोंमें) तात्पर्य न होनेसे उनका बोध नहीं होना चाहिए, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'यत्परः' इत्यादि नियम औत्सर्गिक है, और गौरवसे बाध भी होता है, यह भाव है।

† इसलिए जैसे तात्पर्यके अविषय रेवती वारवन्तीय विशेषणस्वरूप अर्थमें भी श्रुति प्रमा उत्पन्न करती है, वैसे अन्यपरक मन्त्र भी देवताके शरीर आदिका बोध करते हैं, अतः देवताधिकरणके साथ विरोध नहीं है, यह भाव है।

विशिष्टं विधेयमित्युपगमे तस्य विधेयस्य 'दध्ना जुहोति' इत्यादौ विधेयस्य दध्यादेरिव लोकसिद्धत्वाभावेन विधिपराद्वाक्यादेव रेवत्याधारवारवन्तीयविशेषणस्येव विना तात्पर्यं सिद्धिरेष्टव्या। नहि तात्पर्यविरहितादागमाद्यागसोमलताभेदग्राहिप्रत्यक्षविरुद्धार्थः सिध्यतीति तत्राऽपि तदविरोधाय मत्वर्थलक्षणाश्रयणम्।

अद्वैतश्रुतिस्तु उपक्रमोपसंहारैकरूप्यादिषड्विधलिङ्गावगमिताद्वैततात्पर्या प्रत्यक्षाद् बलवतीति ततः प्रत्यक्षस्यैव बाधः, न तदविरोधाय श्रुतेरन्यथानयनमिति।

कथंचिद्विषयप्राप्त्या मानान्तरसमर्थने ॥
श्रुतिर्बलीयसी नो चेद्विपरीतं बलाबलम् ॥१०॥

यदि प्रत्यक्ष आदिकी व्यावहारिक विषयोंसे उपपत्ति हो सकती है, अतः प्रत्यक्ष आदिकी अपेक्षा श्रुति ही बलवती है। व्यावहारिक विषयोंसे प्रत्यक्ष आदिकी उपपत्ति न हो, तो बल और अबल विपरीत होंगे याने निरवकाश होनेसे श्रुतिकी अपेक्षा प्रत्यक्ष आदि ही बलवान् होंगे ॥१०॥

विवरणवार्तिके तु प्रतिपादितम्—न तात्पर्यवत्त्वेन श्रुतेः प्रत्यक्षात् प्राबल्यम्। 'कृष्णलं श्रपयेद्' इति विधेः श्रपणस्य कृष्णलार्थत्वप्रतिपादने

विशिष्टका विधान मानेंगे, तो उस विधेयकी अर्थात् सोमसे अभिन्न यागरूप विशिष्टकी—'दध्ना जुहोति' (दधिसे होम करे) इत्यादिमें विधेय दधिके समान लोकसे—सिद्धि न होनेके कारण, रेवती ऋचा है आधार जिसका, ऐसे वारवन्तीय सामरूप विशेषणके समान तात्पर्यके विना ही विशिष्टविधायकवाक्यसे उसकी सिद्धि माननी होगी, परन्तु तात्पर्यरहित आगमसे—सोमलतासे भेदको ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्षसे विरुद्ध अर्थ—सिद्ध नहीं हो सकता है, अतः 'सोमेन यजेत' इत्यादि स्थलमें भी प्रत्यक्षके साथ विरोध न आवे, इसलिए मत्वर्थमें लक्षणाका आश्रयण होता है।

अद्वैतब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिका तो उपक्रम और उपसंहारके ऐक्य आदि छः लिङ्गोंसे अद्वैतमें ही तात्पर्य जाना जाता है, अतः प्रत्यक्षसे श्रुति बलवती है, इसलिए अद्वैतश्रुतिसे प्रत्यक्षका ही बाध होता है, अतः प्रत्यक्षके साथ अविरोधके लिए अद्वैतश्रुतिका गौण अर्थ नहीं कर सकते हैं।

विवरणवार्तिकमें, तो प्रतिपादन किया गया है कि तात्पर्यवती श्रुतिका भी प्रत्यक्षसे प्राबल्य नहीं है, क्योंकि 'कृष्णलं श्रपयेत्' (सोनेके बने हुए छोटे-

तात्पर्येऽपि कृष्णले रूपरसपरावृत्तिप्रादुर्भावपर्यन्तमुख्यश्रपणसम्बन्धः प्रत्यक्ष-विरुद्ध इति तदविरोधाय श्रपणशब्दस्य उष्णीकरणमात्रे लक्षणाभ्युपगमात्।

'तत्त्वमसि' इति वाक्यस्य जीवब्रह्माभेदप्रतिपादने तात्पर्येऽपि त्वम्पदवाच्यस्य तत्पदवाच्याभेदः प्रत्यक्षविरुद्ध इति तदविरोधाय निष्कृष्ट-चैतन्ये लक्षणाभ्युपगमाच्च।

छोटे मापोंका पाक करे) * इस विधिका तात्पर्य यद्यपि कृष्णलोंके अङ्गभूत श्रपणमें ही है, तथापि कृष्णलोंमें मुख्यपाकका सम्बन्ध—जो कि रूप और रसकी परावृत्तिके प्रादुर्भावपर्य्यन्त है, प्रत्यक्षविरुद्ध होनेसे—नहीं हो सकता है, इसलिए उसके अविरोधके लिए श्रपणशब्दकी उष्णीकरणमात्रमें लक्षणाका स्वीकार है।

† और 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंका जीव और ब्रह्मके अभेद प्रतिपादनमें तात्पर्य होनेपर भी, 'त्वम्पद' वाच्य जीवका 'तत्पद' वाच्य ब्रह्मके साथ अभेद प्रत्यक्षविरुद्ध है, अतः उसके अविरोधके लिए विशिष्टरूप वाच्यसे अर्थसे—अलग किये हुए केवल विशेष्यरूप चैतन्यमें लक्षणा ‡ मानी जाती है।

---

* प्रकृतमें कृष्णलशब्दका अर्थ सुवर्णके विकारभूत माप किया गया है, और 'कृष्णलं श्रपयेत्' इत्यादिसे कृष्णलके अङ्गभूत श्रपण (पाक) का विधान किया जाता है। परन्तु कृष्णलका मुख्य पाक नहीं हो सकता है, क्योंकि रूपरसपरावृत्तिपर्य्यन्त अधिश्रयणादि व्यापार अर्थात् पूर्वके रूप और रस आदिके विनाशपूर्वक अन्यरूप और अन्य रस आदिकी उत्पत्ति तक अधिश्रयण आदि व्यापार ही मुख्य श्रपणशब्दका अर्थ है, और इस पाकके साथ कृष्णलका वस्तुतः सम्बन्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि कृष्णलोंमें अधिश्रयण (पाकानुकूल व्यापार) आदिके करनेपर भी रूपरसादिकी परावृत्ति या प्रादुर्भाव नहीं देखा जाता है।

† 'कृष्णलं श्रपयेत्' इस श्रुतिसे श्रपणका ही विधान होता है, और वह प्रत्यक्षसे बाधित भी नहीं है, क्योंकि ज्वालाधिश्रयण आदि क्रियारूप पाककी ही श्रपणशब्दसे विवक्षा है, इसलिए कृष्णलमें वह पाक हो सकता है, पूर्वरूपपरावृत्ति या प्रादुर्भाव धात्वर्थके अन्तर्गत नहीं होनेसे उसके न रहनेपर भी कोई हानि नहीं है, किन्तु कर्मत्वरूप पाकका फल वह द्वितीयार्थ ही है, और जो फल होता है, वह विधिके योग्य नहीं होता है, इसलिए वह विधेयभूत श्रपणात्मक भी नहीं है, इस अवस्थामें विधेयभूत श्रपणका कोई दृष्टफल न होनेसे अदृष्टार्थक ही पर्यवसन्न होता है, अतः श्रुतिके तात्पर्यके विषयीभूत श्रपणमें कोई प्रत्यक्ष विरोध न होनेसे उसमें श्रपण-शब्दकी लक्षणा करना व्यर्थ है, इस प्रकार यदि किसीको शङ्का हो, तो उसके लिए 'तत्त्वमसि' इत्यादिसे अन्य दृष्टान्त कहते हैं।

‡ तात्पर्य यह है कि 'तत्त्वमसि' आदि जितने महावाक्य हैं, उन सबका तात्पर्य अखण्ड,

अर्थवादानामपि प्रयाजाद्यङ्गविधिवाक्यानामिव स्वार्थप्रमितावनन्यार्थतया प्रमितानामेवाऽर्थानां प्रयोजनवशादन्यार्थतेति प्रयाजादिवाक्यवत्तेषामप्यवान्तरसंसर्गे तात्पर्यमस्त्येव, वाक्यैकवाक्यत्वात् । पदैकवाक्यतायामेव

अर्थवादवाक्योंके भी—प्रयाज आदि अङ्गोंके विधायक वाक्योंके समान—स्वार्थका अवबोध होनेपर अन्य प्रयोजन न होनेसे प्रमित अर्थोंका ही किसी प्रयोजनवशसे उन अर्थवादोंमें अन्यार्थपरता है, अतः प्रयाज आदि वाक्योंके समान अर्थवादोंका भी अवान्तरपदार्थसंसर्गके बोधमें तात्पर्य है ही, अर्थात् अर्थवाद वाक्योंका भी विधिके अन्वयके पूर्वकालमें स्वरसतः प्रतीयमान देवताके विग्रह (शरीर) आदिके संसर्गमें भी अवान्तर ‡ तात्पर्य माननेमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि वाक्यैकवाक्यता है अर्थात् विधिवाक्योंके साथ अर्थवादवाक्योंकी

एकरस चैतन्यरूप वस्तुके प्रतिपादनमें ही है, क्योंकि 'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' (हे मुमुक्षु लोगो उसी आत्माको जानो, जिसमें यह समस्त जगत् अध्यस्त है) 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' (उसी प्रकृत पर आत्माको जानकर संसाररूप मृत्युको तैर जाता है) 'एकधैवानुद्रष्टव्यम्' (शास्त्र और आचार्यके उपदेशके बाद एकरूपसे आत्माको जानना चाहिए) इत्यादि अनेक श्रुतियोंसे मुक्तिके प्रति साधनभूत महावाक्यार्थके ज्ञानके प्रति केवल उक्त चैतन्यात्मक वस्तुका ही नियमन होता है, इस प्रकारकी वस्तुके बोधनमें तात्पर्य रखनेवाले महावाक्योंकी जब तक लक्षणा न मानी जाय, तब तक उक्त तात्पर्यका निर्वाह नहीं हो सकता है, अतः उन महावाक्योंमें तात्पर्यके अनुसार लक्षणाका अभ्युपगम किया गया है, प्रत्यक्षके साथ विरोधके परिहारके लिए लक्षणका अभ्युपगम नहीं किया गया है। और जो 'प्रत्यक्षविरोधके परिहारके लिए महावाक्योंमें लक्षणाका स्वीकार किया गया है, इस प्रकार निबन्धोंमें व्यवहार होता है, वह केवल इसीलिए होता है कि 'तद्' और 'त्वम्' शब्दकी केवल चैतन्यमें लक्षणा स्वीकार करके वाक्यार्थबोध माननेसे प्रत्यक्षके साथ विरोधका भी परिहार हो जाता है।

‡ तात्पर्यार्थ यह है कि 'समिधो यजति' इत्यादिसे अवगत समिध्, प्रयाज आदिका दर्शपूर्णमासके साथ अन्वय अवश्य होता है, क्योंकि उनका परस्पर उपजीव्योपजीवकभाव है, परन्तु 'समिधो यजति' इत्यादि जितने अङ्गविधिवाक्य हैं, वे पहले स्वार्थकी प्रमितिमें अन्यार्थरूपसे अवश्य प्रमित होंगे, पीछे उनका देश आदिके साथ सम्बन्ध होगा, वैसे ही अर्थवादवाक्य भी स्वार्थांशमें पूर्वमें प्रमित होते हैं अनन्तर उनका स्वार्थज्ञानमात्रसे कोई फल न होनेके कारण विधेयके स्तावकरूपसे विधिके साथ एकवाक्यताकी कल्पना करते हैं, इसलिए अर्थवादवाक्योंका भी विधिके साथ अन्वयके पूर्वमें स्वरसतः प्रतीयमान देवताके शरीर आदिके संसर्गमें अवान्तर तात्पर्य है।

परमवान्तरतात्पर्यानभ्युपगमादिति विवरणाचार्यैर्न्यायनिर्णये व्यवस्थापनेन 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादीनामपि मुख्यार्थतात्पर्यप्रसक्तौ प्रत्यक्षाविरोधायैव लक्षणाऽभ्युपगमाच्च ।

कथं तर्हि श्रुतेः प्राबल्यम्? उच्यते—निर्दोषत्वात् परत्वाच्च श्रुतिमात्रस्य प्रत्यक्षात् प्राबल्यमित्युत्सर्गः किन्तु श्रुतिबाधितमपि प्रत्यक्षं कथं-

---

एकवाक्यता है, पदैकवाक्यतामें * ही अवान्तरतात्पर्यका अभ्युपगम नहीं माना जाता है, ऐसी विवरणाचार्यने न्यायनिर्णयमें व्यवस्था की है, अतः 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि वाक्योंका मुख्य अर्थमें तात्पर्यकी प्रसक्ति होनेपर प्रत्यक्षके साथ विरोध होगा, अतः उसकी निवृत्ति करनेके लिए ही लक्षणा मानी गई है।

तब श्रुति प्रबल कैसे होती है? निर्दोष होनेसे और प्रत्यक्षकी अपेक्षासे पर होनेसे, ऐसा कहते हैं। सम्पूर्ण श्रुति प्रत्यक्षकी अपेक्षासे प्रबल है, यह नियम उत्सर्ग—सामान्य है, [तात्पर्य यह है कि श्रुति और उससे भिन्न प्रमाणोंकी जहाँ परस्पर विप्रतिपत्ति (विरोध) होती है, वहींपर श्रुति बलवती है और जहाँ श्रुतिबाधित प्रत्यक्ष प्रमाण अवकाशरहित होता है, वहाँ निरवकाश प्रमाणसे श्रुतिका बाध होता है, क्योंकि यह एक नियम है कि सावकाश और निरवकाशमें निरवकाश प्रमाण ही बलवान् होता है,] किन्तु श्रुतिसे यद्यपि प्रत्यक्षका बाध किया गया हो, तथापि उसकी उचित विषयके

---

* वाक्योंके होनेपर ही वाक्योंकी विधिवाक्यके साथ एकवाक्यता मानी गई है, कारण कि वाक्योंका वाक्यार्थमें ही स्वभावतः तात्पर्य है। पदोंके होनेपर ही एक वाक्यार्थके बोधनसे एकवाक्यता होती है, अतः पदैकवाक्यता कहलाती है। इस पदैकवाक्यतामें जो पदार्थ हैं, वे वाक्यार्थके समान अपूर्व नहीं हैं, अतः उनका अवान्तर तात्पर्य भी नहीं है, इसीसे रेवत्याधारकवारवन्तीयसामरूप विशेषणमें भी तात्पर्य है, यह समझना चाहिए, क्योंकि स्वभावतः वाक्यार्थमें ही वाक्यका तात्पर्य है, विशिष्टविधिका तात्पर्य विशिष्टभावनामें है, अतः उसका विशेषणमें भी तात्पर्य अर्थतः सिद्ध होता है। यदि विशिष्ट विधिका तात्पर्य केवल विशेषणमें माना जाय, तो उसके विशिष्टविषयकत्वकी सिद्धि नहीं होगी, मीमांसकोंके यहाँ 'विशिष्टविधिका विशेषणमें तात्पर्य नहीं है' इस प्रकारका व्यवहार प्रत्येकमें विशिष्टविधिकी विषयता नहीं है, इसी तात्पर्यसे होता है, 'तात्पर्यविषयमें ही वेद प्रमाज्ञानका जनक है' इस प्रकारके नियम न्यायनिर्णयमें विवरणाचार्यने भी माना है, अतः 'यजमानः प्रस्तरः' इसका प्रस्तराभेदमें यदि तात्पर्य माना जाय, तो प्रत्यक्षसे बाधित होगा, अतः उसके साथ विरोध न हो, इसलिए उसकी लक्षणा मानी जाती है, यह भाव है।

चित् स्वोचितविषयोपहारेण सम्भावनीयम् , निर्विषयज्ञानायोगात् । अत एवाऽद्वैतश्रुतिविरोधेन तत्त्वावेदनात् प्रच्यावितं सत्यत्वम् अर्थक्रियासमर्थव्यावहारिकविषयसमर्पणेनोपपाद्यते । किं बहुना 'नेदं रजतम्' इति सर्वसिद्धप्रत्यक्षबाधितमपि शुक्तिरजतप्रत्यक्षमनुभवानुरोधात् पुरोदेशे शुक्तिसंभिन्नरजतोपगमेन समर्थ्यते, न तु तद्विरोधेन व्यवहितमान्तरमसदेव वा रजतं

उपहारसे (समर्पणसे) उपपत्ति करनी चाहिए, क्योंकि जितने ज्ञान होते हैं, वे सब सविषयक होते हैं अर्थात् प्रत्यक्षजन्य ज्ञानका कोई विषय नहीं होता, तो उसके ज्ञानत्वकी व्याहति होगी, इससे ज्ञानकी उपपत्तिके लिए उस ज्ञानमें योग्य विषयकी कल्पना करनी चाहिए, यह भाव है] । इसीलिए अर्थात् प्रत्यक्ष आदि ज्ञान अविषयक नहीं हो सकते हैं, इससे [भाष्य आदि निबन्धोंमें] अद्वैतब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंके साथ विरोध होनेसे [द्वैतप्रपञ्चमें तात्त्विकत्व न होनेके कारण द्वैतबोधक प्रत्यक्षमें] तत्त्वावेदकरूप प्रामाण्यसे रहित सत्यत्वकी अर्थक्रियामें समर्थ व्यावहारिक विषयके समर्पणसे उपपत्ति करते हैं। अधिक क्या कहा जाय, * 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) इस प्रकार बाधक प्रत्यक्षसे, जो सभीको सम्मत है, शुक्तिमें रजतका यद्यपि प्रत्यक्ष बाधित है, तथापि अनुभवके अनुसार पुरोवर्ती प्रदेशमें शुक्तिके साथ तादात्म्यापन्न रजतकी उत्पत्ति मानकर उस प्रत्यक्षकी उपपत्ति की जाती है, परन्तु रजतमें इदमर्थके साथ अभिन्नत्वानुभवके विरोधसे अन्यदेशस्थ या ज्ञानाकार रजत विषय नहीं माना जाता है, [तात्पर्य यह है कि देशान्तरस्थ रजतको 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इत्याकारक भ्रमज्ञानमें विषय मानेंगे अथवा ज्ञानाकार रजतको विषय मानेंगे, तो 'इदं रजतम्' इस प्रकार पुरोवर्ती प्रत्यय नहीं होगा अर्थात् इदमर्थके साथ अभेदको वह प्रत्यक्ष अवगाहन नहीं करेगा, क्योंकि देशान्तरमें रहनेवाला

---

* अद्वैतश्रुतिबाधित घट आदिका प्रत्यक्ष निर्विषयक माना जाय, तो जैसा सम्पूर्ण व्यवहारका लोपप्रसङ्ग बाधक है, वैसा शुक्तिरजत आदि प्रत्यक्ष निर्विषयक माने जानेपर बाधक नहीं है, क्योंकि कहींपर असत् रजत आदिका भी भान माना गया है, तथापि सिद्धान्तमें शुक्तिरजतस्थलमें तात्कालिक रजतकी उत्पत्ति मान कर उसी रजतको शुक्तिरजत प्रत्यक्षका विषय मानते हैं, क्योंकि निर्विषयक प्रत्यक्ष नहीं होता है, इससे श्रुतिबाधित प्रत्यक्ष जहाँ निरवकाश होता है, वहाँ उस प्रत्यक्षसे श्रुतिका बाध युक्त और सिद्धान्तसम्मत है, अतः श्रुतिका प्राबल्य औत्सर्गिक है ।

विषय इति परिकल्प्यते। एवं च प्रस्तरे यजमानभेदग्राहिणो यावद्ब्रह्मज्ञानमर्थक्रियासंवादेनाऽनुवर्तमानस्य प्रत्यक्षस्य प्रातिभासिकविषयत्वाभ्युपगमेनोपपादनायोगाद् 'यजमानः प्रस्तरः' इति श्रुतिबाध्यत्वे सर्वथा निर्विषयत्वं स्यादिति तत्परिहाराय उत्सर्गमपोह्य श्रुतिरेव तत्सिद्ध्यधिकरणादिप्रतिपादितप्रकारेणाऽन्यथानीयते।

न चाऽद्वैतश्रुतिप्रत्यक्षयोरिव इह श्रुतिप्रत्यक्षयोस्तात्त्विकव्यावहारिक-

---

रजत और ज्ञानाकार रजत पुरोवर्ती (सामने) नहीं हो सकते हैं, इससे इदमर्थसम्भिन्नत्वका विरोध होगा यह भाव है,] विरोधके रहते अन्य प्रमाणोंसे श्रुतिका बाध होना न्याय्य है, इसलिए ब्रह्मज्ञान जब तक न हो तब तक अर्थक्रियामें समर्थ भेदविषयकत्वरूपसे अनुवर्तमान यजमान और प्रस्तरके परस्पर भेदको ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्षकी, प्रातिभासिकविषयक मानकर, उपपत्ति नहीं कर सकते हैं, अतः परस्पर अर्थात् कुशमुष्टिमें यजमानका भेद ग्रहण करनेवाले प्रत्यक्षका 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि श्रुतिसे बाध किया जायगा, तो सर्वथा * उक्त प्रत्यक्ष निरवकाश हो जायगा, अतः उक्त प्रत्यक्षमें निरवकाशत्वके परिहारके लिए उक्त सामान्य नियमका बाध करके श्रुतिको ही † 'तत्सिद्धि' अधिकरणमें प्रतिपादित प्रकारसे गौण मानना चाहिए।

यदि शङ्का हो कि अद्वैतश्रुति और प्रत्यक्षके परस्पर विरोध होनेपर जैसे श्रुतिका विषय अद्वैत पारमार्थिक माना जाता है और प्रत्यक्षका विषय व्यावहारिक द्वैत माना जाता है, वैसे ही प्रकृतस्थलमें भी 'यजमानः प्रस्तरः' इस श्रुतिका और प्रत्यक्षका—यजमान और प्रस्तरका पारमार्थिक अभेद और व्यावहारिक

---

* प्रस्तरमें (कुशमुष्टिमें) यजमानभेदविषयक प्रत्यक्ष प्रातिभासिक भेदविषयक नहीं हो सकता है, क्योंकि ब्रह्मज्ञानके बिना उसका बाध नहीं होता है, व्यावहारिक भेद भी उसका विषय नहीं हो सकता, क्योंकि उसका खण्डन आगेके ग्रन्थमें ही होनेवाला है। यदि पारमार्थिक भेद माना जाय, तो अद्वैतश्रुतिके साथ विरोध होगा, इसलिए वह निरवकाश होगा, अतः 'यजमानः प्रस्तरः' उसको गौण मानना पड़ता है, यह भाव है।

† तत्सिद्धि अधिकरणका सूत्र है—'तत्सिद्धिजातिसारूप्यप्रशंसाभूमलिङ्गसमवाया इति गुणाश्रयः' [पू० मी० १।४।२३] यद्यपि इतना बड़ा सूत्र एक ही है, परन्तु 'तत्सिद्धिः, जातिः' इत्यादि विभागशः उपलब्धि केवल व्याख्यासौकर्यार्थ ही है, 'परिधिपरिधान' आदि यजमानके कार्यकी कुशमुष्टिसे (प्रस्तरसे) सिद्धि होती है, अतः 'यजमान' शब्द गौणीवृत्तिसे प्रस्तरका स्तावक है, यह भाव है।

विषयत्वोपगमेन प्रत्यक्षोपपादनं कर्तुं शक्यम् । ब्रह्मातिरिक्तसकलमिथ्यात्वप्रतिपादकषड्विधतात्पर्यलिङ्गोपपन्नानेकश्रुतिविरुद्धेन एकेनाऽर्थवादेन प्रस्तरे यजमानतादात्म्यस्य तात्त्विकस्य प्रतिपादनासम्भवात् । एवं 'तत्त्वमसि' वाक्येन त्वंपदवाच्यस्य सर्वज्ञत्वाभोक्तृत्वाकर्तृत्वादिविशिष्टब्रह्मस्वरूपत्वबोधने तत्राऽसर्वज्ञत्वभोक्तृत्वादिप्रत्यक्षमत्यन्तं निरालम्बनं स्यादिति तत्परिहाराय अहङ्कारशबलितस्य भोक्तृत्वादि, ततो निष्कृष्टस्य शुद्धस्य उदासीनब्रह्मस्वरूपत्वम्' इति व्यवस्थामाश्रित्य भागत्यागलक्षणाऽऽश्रीयते । एवं

भेद क्रमशः—विषय हैं, इस प्रकार मानकर भी प्रत्यक्षका उपपादन कर सकते हैं? तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि छः प्रकारके उपक्रम आदि तात्पर्यके बोधक प्रमाणोंसे युक्त, ब्रह्मसे अतिरिक्त समस्त संसारके मिथ्यात्वका प्रतिपादन करनेवाली अनेक श्रुतियोंके साथ अत्यन्त विरुद्ध एक * अर्थवादवाक्यसे यजमान और प्रस्तरके तात्त्विक अभेदका प्रतिपादन नहीं हो सकता है । इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' † इत्यादि वाक्यसे 'त्वंशब्द' के वाच्य जीवमें सर्वज्ञत्व, अभोक्तृत्व, अकर्तृत्व आदिसे युक्त ब्रह्मरूपताका बोधन करनेमें उस जीवमें असर्वज्ञत्व, भोक्तृत्व आदिका जो प्रत्यक्ष है, वह अत्यन्त निरालम्ब होगा, इसलिए उसके परिहारके लिए अहङ्कारसे उपहित अर्थात् अन्तःकरणसे विशिष्ट चैतन्यमें भोक्तृत्वादि और उससे रहित शुद्धमें उदासीन ब्रह्मस्वरूपता है, इस प्रकारकी

---

* यदि इस स्थलमें कोई शङ्का करे कि यजमान और प्रस्तरका व्यावहारिक अभेद ही श्रुतिसे बोधित होता है, इससे व्यावहारिक अभेदप्रतिपादक श्रुतिसे बाधित भेदप्रत्यक्ष भी व्यावहारिक भेदविषयक ही होगा, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि समानसत्ताकभेद और अभेद एक जगह नहीं रहते हैं, और श्रुतिसे प्रस्तर और यजमानका प्रातिभासिक अभेद भी बोधित नहीं होता है, क्योंकि शुक्तिमें रजतके अभेदके समान प्रस्तरमें यजमानके अभेदका किसीसे ग्रहण नहीं होता है ।

† 'तत्त्वमसि' इस वाक्यसे किञ्चिज्ज्ञत्व आदि धर्मोंसे युक्त चैतन्यात्मक जीवमें उससे विरुद्ध सर्वज्ञत्वादिसे युक्त चैतन्यात्मक ब्रह्मके साथ सदातन अभेदका प्रतिपादन होता है, इसके अनुरोधसे यदि जीवमें सर्वज्ञत्वादि धर्मोंका अङ्गीकार किया जाय, तो असर्वज्ञत्वादिरूप संसारका अवगाही प्रत्यक्ष विरुद्ध होगा, अतः सांसारिक निरवकाश प्रत्यक्षसे श्रुतिका बाध करना चाहिए, और वह बाध विशेष्य चैतन्यांशमात्रका सङ्कोचरूप ही है, 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादिके समान सर्वथा मुख्यार्थका त्याग करके गौण अर्थकी कल्पनारूप नहीं है, यह भाव है ।

'कृष्णलं श्रपयेद्' इत्यादावपि प्रत्यक्षस्याऽत्यन्तनिर्विषयत्वप्रसक्तौ तत्परिहाराय श्रुतौ लक्षणा उष्णीकरणे। 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' इत्यत्र प्रत्यक्षस्य कथञ्चिद्विषयोपपादनसम्भवे तु न प्रबलायाः श्रुतेरन्यथानयनमिति न कश्चिदप्यव्यवस्थाप्रसङ्गः।

अथवा कृष्णलेऽशक्तेर्लक्षणा श्रपयेदिह।
व्यवस्थेत्थं विवरणवार्तिके समुदीरिता॥ ११॥

अथवा कृष्णलके पाकमें किसीकी सामर्थ्य न होनेसे 'श्रपयेत्' की उष्णीकरणमें लक्षणा मानी जाती है, इस प्रकार विवरणवार्तिकमें व्यवस्था कही गई है।

व्यवस्थाका आश्रयण करके भाग-त्याग लक्षणाका * आश्रयण किया जाता है। इसी प्रकार 'कृष्णलं श्रपयेत्' इत्यादि † स्थलोंमें भी प्रत्यक्षकी निर्विषयता प्रसक्त होनेसे उसका परिहार करनेके लिए श्रुतिमें 'श्रपयेत्'की केवल गर्म करनेमें लक्षणा की जाती है। 'नेह नानाऽस्ति किञ्चन' (ब्रह्ममें कोई द्वैत है ही नहीं) इत्यादिमें यदि‡ किसी प्रकारसे भी प्रत्यक्षके सविषयकत्वका उपपादन कर सकते हैं, तो प्रबलश्रुतिकी लक्षणा नहीं माननी चाहिए, इस प्रकारसे कोई अव्यवस्था प्रसक्त नहीं है।

---

* 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यमें 'त्वम्' शब्दका अर्थ है—'अन्तःकरणविशिष्ट चेतन' इसमें दो भाग हैं—एक विशेषण और दूसरा विशेष्य, उनमेंसे विशेषणभागका—अन्तःकरणांशका—त्याग करके चैतन्यमात्र विशेष्य दलका परिग्रहण करना चाहिए। वैसे ही 'तत्' शब्दके—मायाविशिष्ट चैतन्यरूप अर्थमें भी दो भाग करके विशेष्यमात्रमें ही लक्षणा करनी चाहिए, यह भाव है।

† 'कृष्णलं श्रपेत्' इस श्रुतिके जोरसे कृष्णलोंमें रूपरसादिकी परावृत्तिके प्रादुर्भाव पर्यन्त पाक माना जाय, तो उनमें श्रपणाभावका जो प्रत्यक्ष होता है, उसका कोई विषय ही नहीं होगा। और कृष्णलोंमें अनुभूयमान जो श्रपणका अभाव है, वह पारमार्थिक नहीं है, क्योंकि अद्वैत श्रुतिके साथ विरोध होगा, अतः व्यावहारिक ही मानना होगा, इससे श्रुतिद्वारा उक्त श्रपण भी व्यावहारिक मानना होगा, इस परिस्थितिमें कृष्णलोंमें व्यावहारिक श्रपणका अभाव कैसे रहेगा और उसे प्रातिभासिक भी नहीं मान सकते हैं, क्योंकि उसका व्यवहारकालमें बाध नहीं होता है, अतः श्रपणाभावका प्रत्यक्ष अवश्य निर्विषयक होगा, अतः श्रपणकी उष्णीकरणमें (अर्थात् कृष्णलोंको केवल अग्निसे गर्म करनेमें) ही लक्षणा करनी चाहिए। इसी प्रकार 'सोमेन यजेत' इत्यादि स्थलमें भी सोम और यागका अभेद प्रत्यक्षसे बाधित है, अतः मत्वर्थमें लक्षणा करनी चाहिए, यह भाव है।

‡ द्वैतमें मिथ्यात्वका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंके और द्वैतमें सत्यत्वग्राही प्रत्यक्षके

अथवा 'कृष्णलं श्रपयेत्' 'सोमेन यजेत' इत्यादौ न प्रत्यक्षानुरोधेन लक्षणाश्रयणम्, किन्तु अनुष्ठानाशक्त्या। नहि कृष्णले उष्णीकरणमात्रमिव मुख्यः पाकोऽनुष्ठातुं शक्यते। न वा सोमद्रव्यकरणको याग इव तदभिन्नो यागः केनचिदनुष्ठातुं शक्यते। न चाऽनुष्ठेयत्वाभिमतस्य प्रत्यक्षविरोध एवाऽनुष्ठानाशक्तिरिति शब्दान्तरेण व्यवह्रियते इति वाच्यम्। 'शशिमण्डलं कान्तिमत् कुर्याद्' इति विधौ अनुष्ठेयत्वाभिमतस्य शशिमण्डले कान्तिमत्त्वस्य प्रत्यक्षाविरोधेऽप्यनुष्ठानाशक्तिदर्शनेन तस्यास्ततो भिन्नत्वात्। तथा च तत्र तत एव लक्षणाऽऽश्रयणम्।

---

* अथवा 'कृष्णलं श्रपयेत्' और 'सोमेन यजेत' इत्यादि स्थलमें प्रत्यक्षके अनुरोधसे लक्षणाका आश्रयण नहीं करते हैं, किन्तु [मुख्यार्थक माननेसे] अनुष्ठान ही नहीं हो सकता है, अतः लक्षणाका आश्रयण करते हैं, कारण कि कृष्णलमें (सुवर्णमाषोंमें) उष्णीकरणके सिवा मुख्य पाक नहीं कर सकते हैं, [इसी प्रकार 'सोमेन' इत्यादिमें भी सोम और यागका अभेद नहीं हो सकता है] तथा सोमद्रव्य है उपकरण जिसमें, ऐसे यागके समान सोमद्रव्यसे अभिन्न यागका कोई पुरुष अनुष्ठान नहीं कर सकता है। यदि शङ्का हो कि अनुष्ठेयत्वेन जो अभिमत है, उसके साथ प्रत्यक्षविरोध ही शब्दान्तरसे 'अनुष्ठानकी अशक्ति' कहलाता है? तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि 'शशिमण्डलं कान्तिमत् कुर्यात्' (चन्द्रमण्डलको कान्तियुक्त बनावे) इस विधिमें अनुष्ठेयत्वरूपसे अभिमत जो चन्द्रमण्डलमें कान्तिमत्व (कान्ति) है, उसमें प्रत्यक्षविरोध न होनेपर भी अनुष्ठानकी अशक्ति दिखती है, अतः यह स्वीकार करना होगा कि प्रत्यक्ष-विरोध और

विरोधस्थलमें श्रुतिसे प्रत्यक्षके बाधित होने पर भी उसमें निरवकाशत्व नहीं है, क्योंकि कल्पितद्वैत और तद्गतसत्ता आदिसे उपपत्ति हो सकती है, यह तात्पर्य है।

* पूर्वके ग्रन्थसे प्रत्यक्षसे श्रुतिके बाधमें अनेक उदाहरण दिखलाये गये, परन्तु श्रुतिसे प्रत्यक्षका बाध होता है, इसमें अधिक दृष्टान्त नहीं बतलाये गये, अर्थात् एक ही बतलाया है। इस अवस्थामें 'श्रुतिकी अपेक्षा प्रत्यक्ष बलवान् है' इसी उत्सर्गकी सिद्धि हो सकती है, प्रत्यक्षसे श्रुति बलवती है, इसकी सिद्धि नहीं हो सकती है—इस अस्वरससे 'अथवा' इस पक्षको कहते हैं, यह भाव है।

तस्मादपच्छेदन्यायादिसिद्धस्य श्रुतिबलीयस्त्वस्य न कश्चिद् बाध इति ।

अथ कथमत्रापच्छेदन्यायप्रवृत्तिः ? उच्यते—यथा ज्योतिष्टोमे बहिष्पवमानार्थं प्रसर्पतामुद्गातुरपच्छेदे सति 'यद्युद्गाताऽपच्छिद्येतादक्षिणं

अनुष्ठानाशक्ति दो अलग-अलग पदार्थ हैं। इसलिए 'सोमेन यजेत' इत्यादिमें अनुष्ठानकी अशक्ति ही लक्षणाके स्वीकारमें बीज है। इससे अपच्छेदन्यायसे सिद्ध श्रुतिके प्राबल्यके साथ कोई विरोध या बाध नहीं है †

अब शङ्का होती है कि प्रकृतमें अपच्छेद न्यायकी प्रवृत्ति कैसे होती है ? कहते हैं—ज्योतिष्टोम यागमें बहिष्पवमानके * लिए जाते हुए ऋत्विजोंमें से यदि उद्गाताका अपच्छेद (विच्छेद) हो जाय, तो 'यद्युद्गाताऽपच्छिद्येता०' † (यदि उद्गाताका विच्छेद हो, तो दक्षिणाके विना उस यागको करके फिर उस यागको करे) इस श्रुतिके देखनेसे उद्गाताके विच्छेदनिमित्तक प्रायश्चित्त करनेका

† अनुष्ठानकी अशक्तिसे ही लक्षणाके आश्रयण करनेसे और प्रत्यक्षविरोधसे लक्षणा न माननेसे श्रुतिसे प्रत्यक्षका प्राबल्य सिद्ध नहीं होता है, आगमसे बाधित गगन-नैल्य आदिके प्रत्यक्ष बतलाये गये हैं, अतः आगम ही प्रबल है, यह औत्सर्गिक है, अर्थात् बाधित होनेपर उसका त्याग किया जायगा, अतः यदि प्रत्यक्षसे आगम बलवान् होगा, तो 'यजमान और प्रस्तरका' परस्पर अभेद हो जायगा, इत्यादि बाधोंका प्रसङ्ग, जो पहले आशंकित था, अब नहीं है, यह भाव है।

* बहिष्पवमाननामक स्तोत्र है और वह स्तोत्र 'उपास्मै गायता नरः' 'दविद्युतत्या रुचा' 'पवमानस्य ते कवे' इत्यादि तीन सूक्तोंके गानसे साध्य है।

† बहिष्पवमान स्तोत्रके लिए एक दूसरेका कच्छ पकड़ करके जाते हुए ऋत्विजोंमें से यदि उद्गाताका विच्छेद हो जाय, तो जिस यागका आरम्भ किया है, उसको दक्षिणाके विना समाप्त करके यजमानको पुनः उस यागका आरम्भ करना चाहिए। यदि प्रतिहर्ताका विच्छेद हो जाय, तो यजमानको सर्वस्व दक्षिणा दे देनी चाहिए। ये दो विरुद्ध प्रायश्चित्त सुननेमें आते हैं, एक तो अदक्षिणापूर्वक यागकी समाप्ति और (पुनः याग) और दूसरा सर्वस्वदानपूर्वक यागकी समाप्ति। इस अवस्थामें यदि क्रमसे दोनोंका विच्छेद हो जाय, तो कौन प्रायश्चित्त करना चाहिए, क्योंकि विरुद्ध प्रायश्चित्तोंका एक कालमें तो अनुष्ठान नहीं हो सकता है, इसलिए क्या पूर्वनिमित्तक प्रायश्चित्त करना चाहिए या परनिमित्तक ? इस प्रकारका संशय होनेपर निर्णय किया गया है कि पूर्वसे पर बलवान् है, अर्थात् अनन्तर होनेवाला ज्ञान पूर्वमें अप्रामाण्यका निश्चय करके होता है, जैसे शुक्तिमें रजतज्ञानके उत्तरमें जायमान 'नेदं रजतम्' इस प्रकारका बाधज्ञान पूर्वज्ञानमें अप्रामाण्यका निश्चय करके ही प्रवृत्त होता है, वैसे ही पूर्वनिमित्तक प्रायश्चित्तसे उत्तरनिमित्तक प्रायश्चित्त बलवान् होगा और उत्तर प्रायश्चित्तसे पूर्वका बाध होता है, यह भाव है।

यज्ञमिष्ट्वा तेन पुनर्यजेत' इति श्रुतिनिरीक्षणेन जाता उद्गात्रपच्छेदनिमित्तकप्रायश्चित्तकर्तव्यताबुद्धिः पश्चात् प्रतिहर्त्रपच्छेदे सति 'यदि प्रतिहर्ताऽपच्छिद्येत सर्ववेदसं दद्याद्' इति श्रुतिनिरीक्षणेन जातया तद्विरुद्धप्रतिहर्त्रपच्छेदनिमित्तप्रायश्चित्तकर्तव्यताबुद्ध्या बाध्यते ।

एवं पूर्वं घटादिसत्यत्वप्रत्यक्षं परया तन्मिथ्यात्वश्रुतिजन्यबुद्ध्या बाध्यते । न चोदाहृतस्थले पूर्वनैमित्तिककर्तव्यताबुद्धेः परनैमित्तिककर्तव्यताबुद्ध्या बाधेऽपि पूर्वनैमित्तिककर्तव्यताजनकं शास्त्रं यत्रोद्गातृमात्रापच्छेदः, उभयोरपि युगपदपच्छेदौ वा, उद्गात्रपच्छेदस्य परत्वं वा, तत्र सावकाशम्, प्रत्यक्षं तु अद्वैतश्रुत्या बाधे विषयान्तराभावान्निरालम्बनं स्यादिति वैषम्यं शङ्कनीयम् । यत्र घटादौ श्रुत्या बाध्यं प्रत्यक्षं प्रवर्तते, तत्रैव व्यावहारिकं विषयं लब्ध्वा कृतार्थस्य तस्य परापच्छेदस्थले सर्वथा बाधितस्य पूर्वापच्छेदशास्त्रस्येव विषयान्तरान्वेषणाभावाद् । इहाऽपि सर्व-

---

ज्ञान होता है, उसके बाद 'यदि प्रतिहर्ता०' (यदि प्रतिहर्ताका विच्छेद हो, तो सर्वस्व दान दे दे) इस प्रकारकी श्रुतिके देखनेसे उत्पन्न हुई उद्गाताके विच्छेदनिमित्तकर्तव्यतासे विरुद्ध प्रतिहर्ताके विच्छेदनिमित्तक प्रायश्चित्तकर्तव्यबुद्धिसे प्राक्तन बुद्धिका बाध होता है ।

इसी प्रकार पूर्वमें घट आदिमें होनेवाला सत्यत्वविषयक प्रत्यक्ष अनन्तरमें होनेवाले श्रुतिजन्य मिथ्यात्वविषयक बुद्धिसे बाधित होता है, यदि शङ्का हो कि पूर्वके उदाहृतस्थलमें अर्थात् जहाँ प्रथम उद्गाताका अपच्छेद हुआ है, उस स्थलमें प्राथमिक नैमित्तिकप्रायश्चित्तकर्तव्यत्व ज्ञानसे पश्चात् हुई नैमित्तिक कर्तव्यताका बोधक शास्त्र—जहाँ केवल उद्गाताका विभाग हुआ है, वहाँ अथवा एक कालमें दोनोंका जहाँ विच्छेद हुआ है, वहाँ अथवा जहाँ उद्गाताका विच्छेद पीछे हुआ है, वहाँ—सावकाश है और प्रत्यक्ष, तो अद्वैतश्रुतिसे बाध होनेपर अन्य किसी विषयके न होनेसे, निरालम्बन है, अतः वैषम्य है ? तो यह भी शङ्का युक्त नहीं है; कारण कि जिस घट आदिमें श्रुतिसे बाध्य प्रत्यक्ष प्रवृत्त होता है, उसी घट आदिमें व्यावहारिक—व्यवहार करनेमें उपयुक्त—सत्तारूप विषयकी प्राप्ति करके कृतार्थ प्रत्यक्षको, जैसे पर अपच्छेदस्थलमें सर्वथा बाधित पूर्व अपच्छेद शास्त्रको अन्य विषयकी अन्वेषणा करनी पड़ती है, वैसे

प्रत्ययवेद्यब्रह्मसत्तायां सावकाशं प्रत्यक्षमिति वक्तुं शक्यत्वाच्च ।

यत्त्वेकस्मिन्नपि प्रयोगे क्रमिकाभ्यां निमित्ताभ्यां क्रतौ तत्तन्नैमित्तिककर्तव्यतयोर्बदरफले श्यामरक्तरूपयोरिव क्रमेणोत्पादाद् रूपज्ञानद्वयवत् कर्तव्यताज्ञानद्वयमपि प्रमाणमेवेति न परेण पूर्वज्ञानबाधे अपच्छेदन्याय उदाहरणम् ।

अत एवापच्छेदाधिकरणे (पू० मी० अ० ६ पा० ५ अधि० १९)

प्रकृतमें अन्य विषयकी अन्वेषणा नहीं करनी पड़ती है । और इस स्थलमें भी * सम्पूर्ण प्रतीतिमें वेद्य ब्रह्मसत्तारूप विषयको लेकर प्रत्यक्ष सावकाश है ।

कोई लोग कहते हैं कि जैसे एक बदर (बेर) के फलमें क्रमशः पहले हरारूप उत्पन्न होता है, अनन्तर पाकवशात् पूर्वरूपके नाशके बाद पीला या रक्तरूप उत्पन्न होता है, और दोनों रूप कालभेदसे प्रामाणिक हैं, वैसे ही एक ही क्रतु (याग) के प्रयोगमें क्रमशः उत्पन्न हुए निमित्तोंसे (अर्थात् उद्गाताका अपच्छेद और प्रतिहर्ताका अपच्छेदरूप निमित्तोंसे) तत् तत् प्रायश्चित्त कर्तव्यताओंमें दो ज्ञान भी प्रमाण ही हैं, अतः परज्ञानसे पूर्वज्ञानके बाधमें अपच्छेदन्याय उदाहरण नहीं हो सकता है ।

इसीसे अपच्छेदाधिकरणमें 'नैमित्तिकशास्त्रका (किसी निमित्तको लेकर

---

* ब्रह्ममें पारमार्थिक सत्ता है, घट आदिमें व्यावहारिक सत्ता है और शुक्तिरजतमें प्रातिभासिक सत्ता है, इस प्रकारकी तीन सत्ताओंके स्वीकारपक्षमें घटादिसत्ताके प्रत्यक्षके लिए कोई विषयान्तरकी अन्वेषणा करनी नहीं पड़ती है, क्योंकि घट आदिमें विद्यमान व्यावहारिक सत्ता ही इस प्रत्यक्षकी विषय हो सकती है, और 'एक ही सर्वत्र सत्ता है' इस पक्षमें व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ताके न रहनेसे घटादिसत्त्वप्रत्यक्षका अन्य विषय खोजना होगा । जैसे कि उत्तर कालमें उत्पन्न विरुद्ध अपच्छेदसे बाधित पूर्वापच्छेदनिमित्तक प्रायश्चित अपने विषयकी अन्वेषणा करता है । परन्तु एकसत्तावादियोंके मतसे भी कोई विरोध नहीं है, कारण कि घटादिगतसत्त्वप्रत्यक्ष घटादिमें सत्ताके न रहनेपर भी निरवकाश नहीं है, क्योंकि अधिष्ठान सत्ताको लेकर उस प्रत्यक्षकी सावकाशता हो सकती है । इसलिए कहते हैं 'इहापि' अर्थात् 'एकसत्तापक्षमें भी संसारमें जितने प्रत्यय मनमें स्फुरित होते हैं, उन सबमें सत् वस्तु स्फुरित है, अतः सभी जगत्की सत्ता सर्वप्रत्ययवेद्य है और वह सभीके अधिष्ठानभूत ब्रह्मकी ही सत्ता है, उससे अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि अतिरिक्त सत्ता माननेमें गौरव है, यह भाव है ।

'नैमित्तिकशास्त्रस्य ह्ययमर्थः—निमित्तोपजननात् प्रागन्यथाकर्तव्योऽपि क्रतुर्निमित्ते सत्यन्यथाकर्तव्यः' इति शास्त्रदीपिकावचनमिति, तन्न; अङ्गस्य सतः कर्तव्यत्वम् । न च पश्चाद्भाविप्रतिहर्त्रपच्छेदवति क्रतौ पूर्ववृत्तोद्गात्रपच्छेदनिमित्तकस्य प्रायश्चित्तस्याऽङ्गत्वमस्ति। आहवनीयशास्त्रस्य पदहोमातिरिक्तहोमविषयत्ववद् 'यद्युद्गाताऽपच्छिद्येत' इति शास्त्रस्य पश्चाद्भाविप्रतिहर्त्रपच्छेदरहितक्रतुविषयत्वात् ।

उक्तं हि न्यायरत्नमालायाम्—

'साधारणस्य शास्त्रस्य विशेषविषयादिना ।
संकोचः क्लृप्तरूपस्य प्राप्तबाधोऽभिधीयते ॥'

प्रवृत्त हुए शास्त्रको नैमित्तिक शास्त्र कहा जाता है) यह अर्थ है—निमित्तके उत्पन्न होनेके पूर्वमें अन्यरूपसे अर्थात् उत्तरकालमें उत्पन्न होनेवाले प्रतिहर्ताके अपच्छेदके पूर्वमें अदक्षिणारूपसे किया जानेवाला भी यज्ञ निमित्तके आ जानेपर अन्य रीतिसे अर्थात् अनन्तर प्रतिहर्ताके विच्छेद होनेपर सर्वस्वदक्षिणारूपसे किया जाता है' इस प्रकारका शास्त्रदीपिकाकारका वचन भी उपपन्न होता है। परन्तु यह सब कल्पना असङ्गत है, क्योंकि [विरुद्ध प्रकारसे जहाँ अपच्छेद हुए हैं, वहाँ यदि] पूर्व नैमित्तिककर्तव्यता क्रतुके प्रति अङ्ग हो, तो उसमें कर्तव्यत्व आ सकता है, परन्तु क्रतुके प्रति उसके अङ्गत्वमें प्रमाण नहीं है, अतः पूर्वकी प्रसक्ति हो ही नहीं सकती है। और पश्चात् कालमें उत्पन्न होनेवाले प्रतिहर्ताके अपच्छेदवाले क्रतुमें पूर्वकालमें उत्पन्न उद्गाताके अपच्छेदसे हुए प्रायश्चित्त अङ्ग नहीं है]। * 'आवहनीये जुहोति' इस आवहनीयशास्त्रकी पदहोमातिरिक्त होममें ही जैसे विषयता है, वैसे ही 'यदि उद्गाता विच्छेद करे' इत्यादि शास्त्रकी भी पीछे कालमें होनेवाले प्रतिहर्ताके अपच्छेदसे शून्य क्रतुमें विषयता है।

न्यायरत्नमालामें कहा भी है—

'साधारणस्य शास्त्रस्य०' प्रत्यक्षसिद्ध और होममात्रमें प्रवृत्त साधारणशास्त्र-आहवहनीये जुहोति (आवहनीय अग्निमें होम करे) इत्यादिका 'पदे जुहोति' (गौके सप्तम पादविक्षेपमें [सप्तम खुर जहाँ पड़ा हो, उसमें] होम करे) इस

---

* 'आवहनीये जुहोति' इस शास्त्रका 'पदे जुहोति' इस वाक्यसे संकोच होता है, इसीको प्राप्तबाध कहा जाता है, इसका आगेके न्यायरत्नमालाके श्लोकमें विचार किया जायगा।

इति उक्तलक्षणप्राप्तबाधविवेचने, 'तत्रैवं सति शास्त्रार्थो भवति, पश्चाद्भाव्युद्गात्रपच्छेदविधुरप्रतिहर्त्रपच्छेदवतः क्रतोस्सर्ववेदसदानमङ्गम्, एवमुद्गात्रपच्छेदेऽपि द्रष्टव्यम्' इति ।

यत्तु शास्त्रदीपिकावचनमुदाहृतम्, तदपि—'तेनोत्पन्नमपि पूर्वप्रायश्चित्तज्ञानं मिथ्या भवति, बाधितत्वाद्, उत्तरस्य तु न किञ्चिद्बाधकमस्ति' इति पूर्वकर्तव्यताबाध्यत्वप्रतिपादकग्रन्थोपसंहारपठितत्वाद् निमित्तोपजननात् प्राङ्निमित्तोपजननं विनानिमित्तोपजननाभावे सति अन्यथा कर्तव्यो-

---

विशेषविषयक शास्त्रसे संकोच होता है अर्थात् पदहोमातिरिक्त स्थलमें आवहनीय होम करे, इस प्रकार जो संकोच होता है; उसे प्राप्तबाध कहते हैं। तात्पर्यार्थ यह हुआ कि इस स्थानमें जैसे सामान्यशास्त्रका विशेष शास्त्र बाधक है, वैसे ही सामान्यशास्त्रोंमें भी किसी विषयमें विरोध होनेपर पूर्वकालमें प्राप्त नैमित्तकशास्त्रका उत्तरकालमें प्राप्त नैमित्तिकशास्त्रसे बाध होता है, जैसे कि विरुद्ध अपच्छेदनिमित्तकशास्त्रोंमें। इससे श्लोकस्थ विशेष विषयादिमें पठित आदि शब्दसे 'परशास्त्र' आदिका संग्रह होता है यह बात श्लोकमें उक्तलक्षण प्राप्तबाधके विवेचनके अवसरमें कही गई है। अपच्छेद स्थलमें उत्तरज्ञानसे पूर्वज्ञानका बाध होनेपर उक्त नैमित्तिक शास्त्रका यह अभिप्राय होता है कि उत्तरकालमें होनेवाले उद्गाताके अपच्छेदसे रहित प्रतिहर्ताके विच्छेदसे युक्त क्रतुका सर्वस्वदान अङ्ग है और पश्चात्कालमें होनेवाले प्रतिहर्ताके अपच्छेदसे रहित उद्गाताके विच्छेदसे युक्त क्रतुकी दक्षिणाके बिना समाप्ति करना अङ्ग है—यह ध्यान रखना चाहिए।

जो कि पूर्वमें शास्त्रदीपिकाकार (पार्थसारथिमिश्र) का 'नैमित्तिकशास्त्रस्य' इत्यादि वाक्य उदाहरणरूपसे दिया गया है, वह भी—पूर्वकालमें प्रवृत्त नैमित्तिकशास्त्रसे उत्पन्न होनेपर भी प्राक्तनप्रायश्चित्तज्ञान उत्तर नैमित्तिक शास्त्रसे बाधित होनेसे मिथ्या ही होता है, और उत्तरकालमें उत्पन्न हुए प्रायश्चित्त ज्ञानका कोई बाधक नहीं है, इस प्रकार पूर्वकर्तव्यतामें बाध्यत्वका प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थके उपसंहारमें पढ़ा गया है, अतः निमित्तकी उत्पत्तिके बिना अर्थात् निमित्तके उत्पन्न न होनेपर अन्यरूपसे भी कर्तव्य हैं इस प्रकार—

ऽपीति—कृत्वाचिन्तामात्रपरम्। न तूत्तरनिमित्तोपजननात्प्राक्पूर्वनैमित्तिक-कर्तव्यता वस्तुत आसीदित्येवंपरम्, पूर्वग्रन्थसन्दर्भविरोधापत्तेः।

कृत्वाचिन्तापरक है, उत्तरनिमित्तके उत्पन्न होनेसे पूर्व उसमें वस्तुतः कर्तव्यता थी, इस अर्थका प्रतिपादक वह ग्रन्थ नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे पूर्व ग्रन्थके साथ विरोध होगा *।

* शास्त्रदीपिकाकारका वचन 'नैमित्तिकशास्त्रस्य०' (निर्णयसागरमुद्रित पुस्तकमें शास्त्रदीपिकामें 'नैमित्तिकशास्त्राणां ह्ययमर्थः' ऐसा पाठ उपलब्ध होता है, और इस ग्रन्थमें 'नैमित्तिकशास्त्रस्य' इत्यादिरूपसे पाठ उपलब्ध होता है, अतः अन्य पुस्तकोंमें कदाचित् एकवचनान्त पाठ भी होगा यह ज्ञात होता है) इत्यादिका उपन्यास इसलिए किया गया है कि दो रूपज्ञानके समान अर्थात् एक ही घटमें क्रमिक रूपद्वयज्ञान जैसे प्रामाणिक है, वैसे एक ही क्रतुमें क्रमिक नैमित्तिकप्रायश्चित्तद्वयज्ञान भी प्रामाणिक हो सकते हैं, अतः पूर्वसे परका बाध या परसे पूर्वका बाध करनेकी चिन्ता ही नहीं हो सकती है। इसपर सिद्धान्ती कहते हैं कि नहीं उक्त ग्रन्थका आपके मतानुसार अर्थ नहीं है, परन्तु उसका अभिप्राय कुछ दूसरा ही है। 'नैमित्तिकशास्त्रस्य' इत्यादि वाक्य उपसंहारभागमें पठित है, इसलिए उसका अभिप्राय उपक्रम ग्रन्थके अनुसार ही होगा और उपक्रमस्थ वाक्य है—'तेनोत्पन्नमपि' इत्यादि। इसका तात्पर्यार्थ यह है कि पहले शङ्का की गई कि जिस स्थलमें क्रमिक उद्गाता और प्रतिहर्ताका विभाग हुआ हो, वहाँपर पूर्वनिमित्तक ही प्रायश्चित्त करना चाहिए, क्योंकि उसका कोई विरोधी नहीं है, अतः अनायास उसका परिज्ञान हो जाता है। और उत्तरनिमित्तक प्रायश्चित्तका पूर्व-निमित्तक प्रायश्चित्तसे विरुद्ध होनेके कारण ज्ञान नहीं हो सकता है, इसलिए पूर्व ही बलवान् है। इस परिस्थितिमें 'तेनोत्पन्नम्' इत्यादिसे कहा कि यद्यपि पूर्वनैमित्तिकशास्त्रसे उस पूर्व प्रायश्चित्तकी अवगति होती है, तथापि वह बाधित होनेसे मिथ्या है। भाव यह है कि 'यद्युद्गातापच्छिन्द्यात्' इत्यादि प्रत्यक्षशास्त्रसे पूर्वनिमित्तक प्रायश्चित्तका ज्ञान होता है, परन्तु जो उत्तरनिमित्तक प्रायश्चित्तका ज्ञान है, वह अपनसे विरुद्ध पूर्वज्ञानका बाध करके ही प्रवृत्त होता है, लोकमें भी 'शुक्तिरजतम्' और 'नेदं रजतम्' इत्यादिस्थलमें, ऐसा देखा गया है; अतः पूर्वज्ञान मिथ्या है, इसलिए वह बलवान् नहीं है। इस अवस्थामें 'तेनोत्पन्नमपि' इत्यादि उपक्रम ग्रन्थके अनुसार 'निमित्तोपजननं विना' इत्यादिका यही अर्थ होगा कि जिस क्रतुमें दो प्रकारके क्रमिक विरुद्ध अपच्छेद न हो, उस स्थलमें यदि द्वितीय निमित्तकी उत्पत्ति न हो, तो पूर्वनिमित्तके बलसे इस क्रतुका प्रयोग अन्य रीतिसे हो सकता है, परन्तु प्रकृतमें तो ऐसा है नहीं अर्थात् द्वितीय निमित्तकी उत्पत्ति हो गई है, अतः उत्तरनिमित्तक प्रायश्चित्तज्ञान पूर्वका बाध करेगा ही, इस प्रकार पूर्वनिमित्तसे अन्यथाकर्तव्यत्वकी क्रतुमें केवल संभावना होती है, वस्तुतः उसकी सत्ता निश्चित नहीं होती है कि अन्यथाकर्तव्य याग था, इसलिए शास्त्रदीपिकावचन भी दो ज्ञानोंमें प्रामण्यका प्रतिपादक नहीं है, यह भाव है।

ज्योतिष्टोम यज्ञ सोमयागका ही प्रकार है 'ज्योतींषि स्तोमा यस्य सः=ज्योतिष्टोमः' इस

[टिप्पणी]

प्रकार ज्योतिरूप स्तोम जिसमें हों उसे ज्योतिष्टोम कहना चाहिए, यह अर्थ लब्ध होता है। त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश एकविंश इस प्रकार चार स्तोम होते हैं इसमें 'त्रिवृत्पञ्चदशः सप्तदश एकविंश एतानि वाव ज्योतींषि य एतस्य स्तोमाः' (तै० ब्रा० १।५।११) यह वाक्य प्रमाण है। इस ज्योतिष्टोम यागमें हविर्धानसे बहिष्पवमान देशके प्रति जाते हुए ऋत्विजोंका अन्वारम्भ सुना जाता है अर्थात् अध्वर्यु प्रस्तोताके कच्छको पकड़े और उद्गाता प्रस्तोताके कच्छको, प्रतिहर्ता उद्गाताके कच्छको, ब्रह्मा प्रतिहर्ताके कच्छको, यजमान ब्रह्माके कच्छको और प्रशास्ता यजमानके कच्छको पकड़े। इस प्रकार एक दूसरेका कच्छ पकड़ कर जाते हुए ऋत्विजोंमेंसे एकका विच्छेद होनेपर प्रायश्चित्त करना पड़ता है—वह इस प्रकार है—प्रस्तोता अपच्छेद करे तो ब्रह्माको वर दे। यदि प्रतिहर्ता अपच्छेद करे तो सर्वस्व दे। यदि उद्गाता अपच्छेद करे, तो उस यज्ञको दक्षिणा बिना समाप्त कर पुनः याग करे। उसमें वही दक्षिणा दे जो पूर्वमें दी जानेवाली थी।

इन प्रायश्चित्तोंके विषयमें एक यह भी विचार प्रस्तुत होता है कि यदि एक कालमें उद्गाता और प्रतिहर्ताका अपच्छेद हो जाय तो क्या प्रायश्चित्त करना चाहिए या नहीं? इस सन्देहमें पूर्वपक्षी यह कहता है कि ऐसी स्थितिमें प्रायश्चित्त नहीं करना चाहिए, क्योंकि एककालमें प्रतिहर्ता और उद्गाताका जहाँपर विच्छेद हुआ हो, वहाँपर सापेक्ष होनेसे यह निश्चित नहीं होता है कि विच्छेदका कौन प्रायश्चित किया जाय। इसलिए युगपत् अपच्छेदकालमें प्रायश्चित्त करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, इस पूर्वपक्षके परिहारमें सिद्धान्तीका कहना है—युगपत् अपच्छेदमें भी प्रायश्चित्त होता ही है, क्योंकि विभजन (अपच्छेद) क्रियाके प्रति जो कर्ता है वह सापेक्ष नहीं है, किन्तु निरपेक्ष ही है, अतः विच्छेदक्रियाके प्रति एक एकमें भी कर्तृता है, विशेष इतना ही है कि युगपत् अपच्छेदमें काल एक है। तात्पर्यार्थ यह है कि अपच्छेदशब्दका अर्थ है—विभाग। और यद्यपि विभाग उभयमें समवायसम्बन्धसे रहता है, तथापि जिसकी क्रियासे उत्पन्न होगा तत्कर्तृक ही कहा जाता है। प्रकृतमें यद्यपि दोनों पुरुषोंकी (प्रतिहर्ता और उद्गाताकी) क्रियासे विभागकी उत्पत्ति हुई है, अतः प्रत्येकमें निरपेक्ष कर्तृता न होनेके कारण इस अपच्छेदमें एककर्तृकत्वका व्यवहार नहीं होगा यह शङ्का हो सकती है; तथापि अन्य स्थलमें अर्थात् एककी क्रियासे जन्य विभागमें एक पुरुषकी ही कर्तृता भासती है, इससे दैवात् एक कालमें दोनों कर्ताओंका समावेश होनेपर भी प्रत्येकमें ही कर्तृत्व निरपेक्ष है, अतः अवश्य प्रायश्चित्त करना होगा।

अब यहां युगपत् विच्छेदमें शङ्का होती है कि क्या दोनों ही प्रायश्चित्त करने चाहिएँ या विकल्पसे एक; इस संशयमें पूर्वपक्ष होता है कि दोनों प्रायश्चित्त करने चाहिएँ, क्योंकि युगपत् अपच्छेदमें समुच्चय करना ही न्याय्य है, कारण कि प्रयोग एक है। अथवा अदक्षिणात्व और सर्वस्वदक्षिणात्वका विरोध है, तो प्रयोगभेदसे व्यवस्था अर्थात् विकल्प करना चाहिए,—अपच्छेदयुक्त प्रथम प्रयोगमें दक्षिणा न देनी चाहिए और उत्तर प्रयोगमें सर्वस्व-दक्षिणा देनी चाहिए, इसपर सिद्धान्त यह होता है कि उत्तर प्रयोगमें अपच्छेद नहीं है, इसलिए निमित्तके बिना नैमित्तिक प्रायश्चित हो नहीं सकता, इससे पूर्वके प्रयोगमें दोनों निमित्तोंके होनेसे प्रायश्चित्त होते, परन्तु वे अन्योऽन्य विरुद्ध हैं, अतः विकल्प मानना उचित है, इसलिए

[टिप्पणी]

युगपदपच्छेदमें प्रायश्चित्तका विकल्प है अर्थात् सर्वस्वदान करे या प्रथम प्रयोगको समाप्त करके पुनः याग करे।

क्रमिक प्रायश्चित्त स्थलमें भी विचार किया गया है कि जहाँ पहले उद्गाताका विच्छेद हुआ अनन्तर प्रतिहर्ताका, वहाँपर क्या पूर्व प्रायश्चित्त करना चाहिए या उत्तरनिमित्तकप्रायश्चित्त करना चाहिए ? ऐसा संशय होनेपर पूर्वपक्षी कहता है कि पूर्व ही करना चाहिए, क्योंकि वह असञ्जात-विरोधी है अर्थात् श्रुति, लिङ्ग आदि स्थलमें असञ्जात विरोध होनेसे पूर्व-पूर्व ही बलवान् होते हैं और उत्तरकी प्रवृत्ति रुक जाती है, वैसे ही प्रकृतमें भी पूर्वनिमित्तकप्रायश्चित्तसे उत्तरनिमित्तकप्रायश्चित्त रुक जायगा अर्थात् वह प्रवृत्त ही न होगा, अतः पूर्व ही बलवान् है, इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होनेपर सिद्धान्त किया जाता है कि श्रुति, लिङ्ग आदिके दृष्टान्तसे पूर्वनिमित्तकप्रायश्चित्तको प्रबल नहीं मान सकते हैं, क्योंकि श्रुति, लिङ्ग आदि स्थलमें उत्तर पूर्वकी अपेक्षा रखते हैं, इसलिए पूर्वके साथ विरोध होनेपर उत्तरकी उत्पत्ति ही नहीं होगी, और प्रकृतमें दोनों ज्ञान परस्पर निरपेक्ष होकर दो वाक्योंसे उत्पन्न होते हैं, उत्पद्यमान उत्तर ज्ञान पूर्वका बाध करके ही उत्पन्न होता है। यद्यपि निरपेक्षत्वांश दोनोंमें समान है, तथापि पूर्वज्ञानकी उत्पत्ति-दशामें अविद्यमान उत्तरज्ञान बाधित नहीं होता है। उत्तरकालमें स्वयं बाधित पूर्वज्ञान उत्तरका बाधक कैसे होगा ? अर्थात् नहीं होगा। और दूसरा कोई कारण भी नहीं है जिससे कि उसका बाधक हो सके। इसलिए क्रमिक प्रायश्चित्तस्थलमें उत्तरकालीन अपच्छेदनिमित्तक प्राय-श्चित्तका ही अनुष्ठान करना चाहिए। इस प्रकारके अपच्छेदाधिकरणका निम्नश्लोकोंसे विचार किया गया है—

'उद्गातुः प्रतिहर्तुश्च सहापच्छेदनेऽस्ति न।
प्रायश्चित्तमुताऽस्त्यत्र, न निमित्तविघाततः॥
एकैकस्यैव विच्छेद-कर्तृत्वान्न विहन्यते।
कालमात्रं तु तत्रैकप्रायश्चित्तमतो भवेत्॥
समुच्चयो विकल्पो वा प्रायश्चित्तद्वयेऽग्रिमः।
अदक्षिणत्वं पूर्वस्मिन् प्रयोगेऽन्यत्तु पश्चिमे॥
प्रयोगे पश्चिमे नास्ति निमित्तं तेन तद्द्वयम्।
प्राप्तमेकप्रयोगेऽतो विरुद्धत्वाद्विकल्प्यते॥
अपच्छेदक्रमे पूर्वः प्रबलः स्यादुतोत्तरः।
असंजातविरोधेन पूर्वेणोत्तरबाधनम्॥
निरपेक्षोत्तरज्ञानं जायते पूर्वबाधया।
न बाधकान्तरं तस्य तेन प्रबलमुत्तरम्॥'

[अ० न्या० पृ० ३४८ श्लो० २१-२६ आनन्दाश्रम]

इस प्रकारसे अपच्छेदन्यायके कुछ अंशका निरूपण किया गया है। इस न्यायसे भी श्रुति पर होनेसे बलवती ही है और पूर्वभावी प्रत्यक्ष निर्बल है। इसका अन्य ग्रन्थोंमें भी अर्थात् अद्वैतसिद्धि आदि ग्रन्थोंमें भी विचार करके पूर्वभावी प्रत्यक्षको निर्बल निश्चित करते हुए आगम ही बलवान् माना गया है।

आस्तां मीमांसकमर्यादा। श्यामतदुत्तररक्तरूपन्यायेन क्रमिककर्तव्यताद्वयोत्पत्त्युपगमे को विरोधः?

उच्यते—तथा हि किं तत् कर्तव्यत्वम्, यत् परनैमित्तिककर्तव्यतोत्पत्त्या निवर्तेत। न तावत् पूर्वनैमित्तिकस्य कृतिसाध्यत्वयोग्यत्वम्। तस्य पश्चादप्यनपायात्। नापि फलमुखं कृतिसाध्यत्वम्, तस्य पूर्वमप्यजननात्। नापि यदननुष्ठाने क्रतोर्वैकल्यं तत्त्वम्, अङ्गत्वं वा। अननु-

थोड़ी देरके लिए मीमांसकोंकी *परिपाटी अलग ही रहे, श्यामरूप और उसके उत्तरकालमें उत्पन्न होनेवाले रक्तरूपके दृष्टान्तसे क्रमिक दो कर्तव्यताओंकी उत्पत्ति यदि मानी जाय, तो विरोध क्या है? अर्थात् कुछ नहीं है।

इसे कहते हैं—वह कौनसी कर्तव्यता है जो उत्तरकालीन नैमित्तिक कर्तव्यताकी उत्पत्तिसे निवृत्त होगी? यदि कहो कि पूर्वकालीन निमित्तसे जायमान प्रायश्चित्तमें कृतिसाध्यताकी योग्यतारूप है, तो यह युक्त नहीं है, कारण कि उस कर्तव्यत्वकी अनुवृत्ति पीछे भी होती है†। और यदि कहो कि फलमुख कृतिसाध्यत्व‡ कार्यत्व है, तो यह भी असङ्गत है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति पहले भी नहीं है। यदि कहो कि जिसके × अनुष्ठान न करनेसे

* तात्पर्य यह है कि घटमें पहले श्यामरूप रहता है, उत्तर क्षणमें पाकसे श्यामरूपका नाश और रक्तरूपकी उत्पत्ति जैसे होती है, वैसे ही उत्तरनैमित्तिक कर्तव्यकी उत्पत्तिसे विनष्ट होनेवाला यदि पूर्वनिमित्तक कर्तव्यत्व माना जाय, तो उस कर्तव्यत्वका निरूपण प्रथम करना चाहिए और वह अशक्य है, इसी बातको मूलमें 'उच्यते' इत्यादिसे कहते हैं।

† अर्थात् उत्तरकालीन प्रायश्चित्तके कर्तव्यत्वकालमें भी उक्तलक्षणलक्षित पूर्वनिमित्तक कर्तव्यत्वकी अनुवृत्ति होती है, अतः उत्तरकालीन कर्तव्यतासे पूर्वकालीन कर्तव्यताका विनाश हो ही नहीं सकता, इसलिए 'बेर' के श्याम और रक्तरूपके समान उन कर्तव्यताओंमें क्रमिकत्वका स्वीकार नहीं कर सकते हैं, यह भाव है।

‡ फलमुखकृतिसाध्यत्वका अर्थ है—फलोन्मुखकृतिसाध्यत्व, फल—कार्य उससे उन्मुख—युक्त अर्थात् कर्तव्यत्व उसे कहते हैं जो कृतिसाध्य होकर उत्पत्तिसे युक्त हो, प्रकृतमें यह नहीं है, क्योंकि उस कर्तव्यत्वकी उत्पत्ति पहले भी नहीं हुई है, जब उसकी उत्पत्ति हो, तब उसमें फलमुखकृतिसाध्यत्व रहे, परन्तु वैसा है नहीं। इस अवस्थामें पूर्वनैमित्तिक ज्ञानमें प्रामाण्य ही मीमांसकोंके अनुसार सिद्ध होता है, श्याम और रक्तरूपके समान प्रमात्व सिद्ध नहीं होता है। इसलिए कर्तव्यताद्वय प्रमाण सिद्ध नहीं है, यह भाव है।

× जिसके अनुष्ठानाभावसे क्रतुमें कुछ न्यूनता हो अर्थात् क्रतुके वैकल्यमें प्रयोजक अननुष्ठानके प्रतियोगीभूत अनुष्ठानका जो आश्रय हो, वह कर्तव्य है। जहाँ प्रथम उद्गाताका

क्रतुमें वैकल्य हो जाय, वह कर्तव्यत्व है, अथवा क्रतुके प्रति अङ्गता कर्तव्यता

अपच्छेद हुआ हो, पश्चात् प्रतिहर्ताका अपच्छेद हुआ हो, वहाँ उद्गाताके प्रायश्चित्तका अनुष्ठान क्रतुके वैकल्यका प्रयोजक है अथवा वह प्रायश्चित्त क्रतुका अङ्ग है, इस प्रकार कहनेवालेको यह कहना चाहिए कि पूर्व प्रायश्चित्तके अनुष्ठानमें वैकल्यप्रयोजकत्व क्या है, क्या वैकल्योत्पादकता है अथवा वैकल्यव्यापकता है अथवा वैकल्यव्याप्यता है ? आद्य पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि अभावरूप अननुष्ठान किसीका उत्पादक नहीं हो सकता है और क्रतुवैकल्यके क्रतुके उपकारके प्रागभावरूप होनेसे वह उत्पाद्य भी नहीं हो सकता है और द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि जिस यज्ञमें केवल उद्गाताका अपच्छेद हुआ है उस यज्ञमें तन्निमित्तके प्रायश्चित्त भी किया है और किसी अन्य कारणसे क्रतुका वैकल्य भी हुआ है, उस यागमें उद्गाताके प्रायश्चित्तका अननुष्ठान नहीं होनेसे व्यभिचार हो जायगा, अतः परिशेषात् तृतीय पक्ष ही अवशिष्ट रहता है अर्थात् क्रतुवैकल्यव्याप्यता ही क्रतुवैकल्यप्रयोजकत्व है और प्रायश्चित्तको क्रत्वङ्ग माननेपर उसमें दो प्रकारसे अङ्गता मान सकते हैं एक तो फलोपकारित्वरूप और दूसरी सन्निपत्योपकारित्वरूप। फलोपकारित्वरूप अर्थात् परमापूर्वरूप (मुख्य अपूर्व) के प्रति अदृष्ट द्वारा जिसकी कारणता हो, जैसे प्रयाज आदि अदृष्टद्वारा परमापूर्वमें उपकारक होते हैं। इसी प्रकार सन्निपत्योपकारकका अर्थ है यागके स्वरूपका उपकारक जैसे द्रव्य और देवता, ये दोनों यागके स्वरूपमें ही उपकारक हैं। यदि क्रतुवैकल्यप्रयोजकत्व और क्रत्वङ्गत्व क्रतुवैकल्यव्याप्यत्व और फलोपकारित्व या सन्निपत्योपकारिकत्वरूप क्रमशः माना जाय तो क्या हानि है ? इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि क्रमशः उत्पन्न हुए विरुद्ध प्रायश्चित्तोंसे युक्त क्रतुमें पूर्वप्रायश्चित्तके अननुष्ठानमें रहनेवाले क्रतुवैकल्यव्याप्यत्वरूप क्रतुप्रयोजकत्व और उसी पूर्वप्रायश्चित्तमें रहनेवाला अङ्गत्व द्वितीय निमित्तकी उत्पत्तिके बाद अनुवर्तमान होता है, या नहीं ? यदि अनुवृत्ति मानी जाय, तो क्रतुवैकल्यप्रयोजक अननुष्ठानके प्रतियोगी अनुष्ठानशालित्वरूप पूर्वप्रायश्चित्तगतकर्तव्यत्वका और उस प्रायश्चित्तगत अङ्गत्वका उत्तरनैमित्तिकप्रायश्चित्तकर्तव्यतासे जो विनाश माना गया है, उसका भङ्ग प्रसक्त होगा, यदि द्वितीय कल्प मानें, तो यही अर्थ पर्य्यवसन्न होगा कि पूर्व प्रायश्चित्तके अननुष्ठानमें क्रतुवैकल्यव्याप्यत्व द्वितीय निमित्तकी उत्पत्तिके पूर्वमें ही होगा, उसकी उत्पत्तिके बाद नहीं होगा, इसी प्रकार पूर्वप्रायश्चित्तगत अङ्गत्वरूप कर्तव्यता द्वितीय निमित्तके उत्पन्न होनेके पूर्वमें ही पूर्वप्रायश्चित्तमें है, अनन्तर नहीं है। इस अवस्थामें व्याप्यत्व और कारणत्वकी अपने आश्रयमें सत्ता कादाचित्की (कुछ समयके लिए) ही प्रसक्त होगी, अतः कादाचित्कत्वप्रसङ्गके निरासके लिए अर्थात् अङ्गत्व और प्रयोजकत्वके यावदाश्रयभावित्वरूप स्वाभाविकत्वके निर्वाहके लिए यही कहना होगा—अनन्तरकालमें उत्पन्न होनेवाले विरुद्ध अपच्छेदके अभावसे युक्त क्रतुका पूर्वापच्छेद-निमित्तक प्रायश्चित्त अङ्ग है अर्थात् पूर्वके अपच्छेदसे किया जानेवाला प्रायश्चित्त वहींपर क्रतुका अङ्ग होता है जहाँपर उत्तरकालीन अपच्छेद न हुआ हो, इसी प्रकार पश्चात् भावी अपच्छेदसे विधुर क्रतुमें पूर्वकालिक अपच्छेदनिमित्तिक प्रायश्चित्तका अननुष्ठान उस क्रतुके वैकल्यका सम्पादक है। इस परिस्थितिमें जब उत्तर अपच्छेद होगा, तब उस अपच्छेदसे युक्त क्रतुमें पूर्वापच्छेदनिमित्तक प्रायश्चित्तमें अङ्गत्व और उसी पूर्वनिमित्तक प्रायश्चित्तके अननुष्ठानमें

ष्ठाने क्रतुवैकल्यप्रयोजकत्वस्य नियमविशेषरूपत्वेन कर्माङ्गत्वस्य फलोपकारितया सन्निपातितया वा कारणत्वविशेषरूपत्वेन च तयोः कादाचित्कत्वायोगेन स्वाभाविकत्वनिर्वाहाय पश्चाद्भाविविरुद्धापच्छेदाभाववतः क्रतोः पूर्वापच्छेदनैमित्तिकमङ्गम्। तत्रैव तदननुष्ठानं क्रतुवैकल्यप्रयोजकमिति विशेषणीयतया पाश्चात्यापच्छेदान्तरवति क्रतौ पूर्वापच्छेदनैमित्तिके क्रत्व-

---

हैं, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि अनुष्ठानके न करनेमें—अनुष्ठानके अभावमें—जो क्रतुके वैकल्यके प्रति प्रयोजकत्व (हेतुत्व) है, वह नियमविशेषरूप है अर्थात् क्रतुवैकल्यव्याप्यत्वरूप * है, और कर्मके प्रति जो अङ्गत्व है, वह फलोपकारितारूपसे अथवा † सन्निपातितारूपसे कारणत्वविशेषरूप है, इसलिए उनमें अर्थात् क्रतुवैकल्यप्रयोजकत्व और कर्माङ्गत्वमें कादाचित्कत्वके न होनेसे स्वाभाविकत्वके निर्वाह करनेके लिए उत्तरकालमें होनेवाले विरुद्ध अपच्छेदके अभावसे युक्त क्रतुका पूर्वकालीन निमित्तसे जायमान प्रायश्चित्त अङ्ग है, और उसीमें उसका अननुष्ठान क्रतुकी विकलतामें कारण है, इस प्रकार विशेषण देना ‡ होगा, इससे पश्चाद्भावी अपच्छेदसे युक्त क्रतुमें पूर्वकालीन

क्रतुवैकल्यकी प्रयोजकताके पाश्चात्य अपच्छेदोत्पत्तिके पूर्वमें न होनेसे भ्रान्ति ही होगी, अतः क्रतुवैकल्यप्रयोजकानुष्ठानप्रतियोग्यनुष्ठानशालित्व अथवा पश्चाद्भाविविरुद्धापच्छेदाभाववत्क्रतुवैकल्यप्रयोजकानुष्ठानप्रतियोग्यनुष्ठानशालित्वरूप कर्तव्यत्व अथवा तादृश अङ्गत्व (पश्चाद्भाव्यपच्छेदाभाववत्क्रतुं प्रति फलोपकारित्वेन सन्निपत्योपकारित्वेन कारणत्वरूप अङ्गत्व) को भी कर्तव्यत्व नहीं मान सकते हैं, यह भाव है।

* क्रतुवैकल्यव्याप्यत्वका अर्थ है—जहाँ-जहाँ अनुष्ठानका अभाव हो वहाँ-वहाँ क्रतुमें वैकल्य होना चाहिए, व्याप्यके अस्तित्वमें व्यापकका अस्तित्व अवश्य रहता है, जैसे धूमके रहनेपर वह्निकी सत्ता पर्वतमें अवश्य रहती है, इसलिए प्रायश्चित्तके अननुष्ठानमें क्रतुवैकल्यव्याप्यता अवश्य रहेगी।

† अपच्छेदसंयुक्त प्रायश्चित्तमें क्रतुकी अङ्गता मानी जाय, तो वह दो प्रकारसे घटेगी अर्थात् साक्षात् या परम्परया। क्रतुके स्वरूपमें जो कारण होगा वह फलोपकारी अङ्ग होगा और क्रतुजन्य परमापूर्वका अदृष्टद्वारा सम्पादक जो कारण होगा वह सन्निपाती अङ्ग होगा, इसलिए मूलमें 'फलोपकारितया' और 'सन्निपातितया' इत्यादि कहा गया है, यह भाव है।

‡ व्याप्यत्व और अङ्गत्वका कादाचित्कत्व प्रसङ्ग किस प्रकार है, उसका निरूपण पूर्वमें किया जा चुका है। इसके परिहारके लिए क्रतुवैकल्य प्रयोजकका और क्रत्वङ्गका क्रमशः उत्तरकालिक विरुद्ध अपच्छेदसे रहित क्रतुका ही पूर्व प्रायश्चित्त अङ्ग है, ऐसा अर्थ करना होगा, इससे उक्त व्याप्यत्व और अङ्गत्वका स्वाभाविकत्व सिद्ध होगा, अन्यथा नहीं होता है, यह भाव है।

ङ्गत्वस्य, तदननुष्ठाने क्रतुवैकल्यप्रयोजकत्वस्य वा पाश्चात्यापच्छेदोत्पत्तेः पूर्वमसम्भवात् । नहि वस्तु किञ्चिद्वस्त्वन्तरं प्रति कञ्चित्कालं व्याप्यं पश्चान्नेति वा, कञ्चित्कालं कारणं पश्चान्नेति वा, क्वचिद् दृष्टम्, युक्तं वा । नापि कर्तव्यत्वं नाम धर्मान्तरमेवाऽऽगमापाययोग्यं कल्प्यम्, मानाभावात् ।

अपच्छेदनिमित्तक प्रायश्चित्तकी अङ्गताका और उसके अनुष्ठान न करनेपर विकलताके हेतुत्वका परकालीन अपच्छेदके पूर्वकालमें भी असम्भव ही है। क्योंकि ऐसा कहींपर नहीं देखा गया है और युक्त भी नहीं है कि * कोई वस्तु किसी वस्तुके प्रति कुछ कालतक व्याप्य होती है, और पीछे व्याप्य नहीं होती है तथा किसी भी वस्तुके प्रति कोई वस्तु अल्प समयतक कारण रहती हो और पीछे कारण नहीं रहती हो। और † आगम और विनाशके योग्य कोई धर्मान्तर भी कर्तव्यत्व नहीं हो सकता है, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं है। विरुद्ध जो अपच्छेदशास्त्र है, उनकी 'पदे जुहोति' और 'आवहनीये जुहोति' इन दो शास्त्रोंके समान व्यवस्था हो सकती है, इसलिए क्रमिक दो कर्तव्यताओंके उपपादक वचन अप्रमाण हैं।

---

* व्याप्यत्व और अङ्गत्व (कारणत्व) कादाचित्क नहीं होते हैं, स्वाभाविक ही होते हैं, उसमें प्रसिद्ध दृष्टान्त देते हैं कि वह्निके प्रति धूम व्याप्य है, उसमें व्याप्यता कुछ समयतक रहती है और कुछ समयतक नहीं रहती है, यह देखा नहीं गया है और किसी युक्तिसे सिद्ध भी नहीं है। यदि कदाचित् जबरदस्ती मान लिया जाय कि वह्निकी धूममें व्याप्यता कुछकाल तक ही रहती है, तो आपत्ति यह होगी कि तो 'वह्निमान् धूमात्' (धूम होनेसे पर्वत वह्निमान् है) इस स्थलको सोपाधिकता प्रसक्त होगी, क्योंकि व्याप्यत्वाभावमें उपाधि प्रयोजक है, इसीलिए 'धूमवान् वह्नेः' इस स्थलमें वह्निहेतु सोपाधिक होता है। इसी प्रकार कारणमें कारणत्व कादाचित्क होगा, तो धूमादिकार्यके लिए वह्निरूप कारणके ग्रहणमें देवदत्त आदिकी जो प्रवृत्ति होती है, उसमें अब निष्कम्प प्रवृत्ति नहीं होगी, अतः व्याप्यत्व और अङ्गत्वको (कारणत्वको) कदाचित्क नहीं मान सकते हैं, यह भाव है।

† यदि कर्तव्यत्वका यह अर्थ किया जाय कि जो धर्म आगम (उत्पत्ति) और अपाय (विनाश) योग्य हो, अर्थात् जो प्रथम निमित्तके जननके अनन्तर ही आगमयोग्य हो और द्वितीय निमित्तके उत्पन्न होनेके बाद ही विनाशके योग्य कोई अन्य धर्मसे—उक्तलक्षणलक्षित धर्मों भिन्न—कर्तव्यत्व है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसे विलक्षण धर्ममें कोई प्रमाण ही नहीं है। अतः जैसे—'आवहनीये जुहोति' इस शास्त्रकी पदहोमातिरिक्त स्थलमें विषयता है, वैसे ही क्रमिक विरुद्ध प्रायश्चित्तकी व्यवस्था भी हो सकती है, अतः क्रमिक कर्तव्यद्वयकी उत्पत्ति मानना निरालम्ब है, यह भाव है।

विरुद्धापच्छेदशास्त्रयोः पदाहवनीयशास्त्रवद् व्यवस्थोपपत्तेः। तस्मान्निरालम्बनं क्रमिककर्तव्यताद्वयोत्पत्तिवचः।

ननूपक्रमवत् पूर्वं प्रत्यक्षं बलवच्छ्रुतेः।

नैकवाक्येष्विदं बाधस्त्वपच्छेदनयादिह ॥१२॥

यदि यह शङ्का हो कि उपक्रमके समान प्रत्यक्ष पूर्वभावी है, अतः श्रुतिसे प्रत्यक्ष बलवान् है, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि परस्पर एकवाक्यता स्थलमें ही उपक्रमन्यायसे पूर्व बलवान् होता है, यहाँ तो अपच्छेदन्यायसे प्रत्यक्षसे पर श्रुति ही बलवती है ॥ १२ ॥

ननु चोपक्रमाधिकरणन्यायेनाऽसञ्जातविरोधित्वात् प्रत्यक्षमेवाऽऽगमाद् बलीयः किं न स्यात्?

उच्यते—यत्रैकवाक्यता प्रतीयते, तत्रैकस्मिन्नेवार्थे पर्यवसानेन भाव्यम्, अर्थभेदे प्रतीतैकवाक्यताभङ्गप्रसङ्गात्। अतस्तत्र प्रथममसञ्जातप्रतिपक्षेण

अब शङ्का होती है कि उपक्रमाधिकरणन्यायसे असञ्जातविरोधी * होनेके कारण प्रत्यक्ष ही आगमसे बलवान् क्यों न होगा? अर्थात् आगमकी अपेक्षा प्रत्यक्ष ही बलवान् है। [तात्पर्य यह है कि जैसे उपक्रमवाक्यके अर्थज्ञानके समयमें उपसंहारवाक्यार्थका परिज्ञान न होनेसे किसी विरोधीका परिस्फुरण नहीं होता है, अतः उपक्रम असञ्जातविरोधी है, वैसे ही द्वैतमें सत्यत्वके प्रत्यक्ष-समयमें विरोधी अर्थ, अर्थात् द्वैतमिथ्यात्वग्राहक श्रुतिका अर्थ, अनुभूत नहीं होता है, अतः विरोधकी परिस्फूर्ति न होनेसे प्रत्यक्ष असञ्जातविरोधी है, इसलिए वह बलवान् हो सकता है।]

इस आक्षेपके समाधानमें कहते हैं कि जहाँपर एकवाक्यता प्रतीत होती है, वहां एक ही अर्थमें वाक्यका पर्यवसान होता है, यदि ऐसे स्थलमें अर्थभेद माना जाय, तो प्रतीत एकवाक्यताका भङ्ग होगा [अर्थात् भिन्न-भिन्न अर्थोंके रहते एकवाक्यताका ज्ञान नहीं हो सकता है, अतः एकवाक्यतामें—उपक्रम

---

* उपक्रमाधिकरणन्यायसे उपक्रम ही बलवान् होता है, क्योंकि उपक्रम—आरम्भ जब होता है, तब अन्य विरोधी नहीं होता, अतः इसी उपक्रमन्यायसे प्रत्यक्षके असञ्जातविरोधी-(न सञ्जातो विरोधी यस्य सः, अर्थात् जिसका प्रतिद्वन्द्वी उत्पन्न न हुआ हो) होनेसे शब्दकी अपेक्षा वही बलवान् होगा, प्रत्यक्ष जब प्रवृत्त होगा, तब मिथ्यात्वबोधक श्रुतियोंकी प्रवृत्ति न होनेके कारण यह असञ्जातविरोधी है ही।

'प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयद्' इत्याद्युपक्रमेण परकृतिसरूपार्थवादेन दातुरिष्टौ बुद्धिमधिरोपितायां तद्विरुद्धार्थं 'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणान् चतुष्कपालान्निर्वपेद्' इत्युपसंहारगतं पदजातमुपजातप्रतिपक्षत्वाद्यथाश्रुतार्थसमर्पणेन तदेकवाक्यतामप्रतिपद्यमानमेकवाक्यतानिर्वाहाय णिजर्थमन्तर्भाव्य तदानुगुण्येनैवाऽऽत्मानं लभते इति उपक्रमस्य प्राबल्यम्। यत्र तु परस्परमेकवाक्यता न प्रतीयते, तत्र पूर्ववृत्तमविगणय्य लब्धात्मकं विरुद्धार्थकं वाक्यं स्वार्थं बोधयत्येवेति न तत्र पूर्ववृत्तस्य प्राबल्यम्।

अत एव षोडशिग्रहणवाक्यं पूर्ववृत्तमविगणय्य तदग्रहणवाक्यस्यापि

और उपसंहार आदिकी एकवाक्यतामें—एक ही अर्थका प्रतिभास होना चाहिए, यह भाव है। इससे पूर्वकालमें जिसका विरोधी उत्पन्न न हुआ हो, ऐसे परकृति* के सदृश 'प्रजापतिर्व०' (प्रजापतिने वरुणको अश्व दिया) इत्यादि अर्थवादके उपक्रमसे दाताकी इष्टिके बुद्धिमें आरूढ़ होनेपर 'यावतोऽश्वान्०' (जितने अश्वोंका प्रतिग्रह करावे † उतने वारुणचतुष्कपालोंका निर्वाप करे) इस प्रकारके उपक्रमसे विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करनेवाला उपसंहारस्थ वाक्य संजातविरोधी है, अतः आपाततः प्रतीयमान अर्थका बोधन करनेपर उपक्रमवाक्यके साथ एकवाक्यता प्राप्त नहीं कर सकता है, अतः उपक्रमवाक्यके साथ एकवाक्यता की उपपत्ति करनेके लिए णिच्के अर्थका अन्तर्भाव करके ही उपक्रमके अनुकूल एकवाक्यता होती है, अतः उपक्रमवाक्य बलवान् है। और जहांपर उपक्रम और उपसंहारकी एकवाक्यताकी प्रतीति किसी भी रीतिसे नहीं होती है, वहांपर पूर्ववृत्तान्तपर ध्यान न दे करके अपनी सत्तासे विरुद्धार्थक वाक्य अपने स्वार्थका बोधन करता ही है, अतः उस स्थलमें पूर्ववृत्त—पूर्ववाक्य—प्रबल नहीं होता है।

इसीलिए पूर्ववृत्त षोडशिग्रहणवाक्यकी अर्थात् 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'-

---

* 'परकृतिः—परस्य-प्रजापतेः कृतिः-अनुष्ठानम्' इस व्युत्पत्तिसे यद्यपि प्रजापतिका अनुष्ठान परकृतिशब्दका अर्थ प्रतीत होता है, तथापि यहाँपर उस अनुष्ठानका प्रतिपादक वाक्य परकृति-शब्दका अर्थ है।

† प्रतिगृह्णीयात् (प्रतिग्रह करे) इस शब्दमें णिजर्थका अन्तर्भाव करके 'प्रतिग्राहयेत्' (प्रतिग्रह करावे) ऐसा अर्थ आगे ग्रन्थकार ही करेंगे। इस वाक्यसे—जितने अश्व दे, वरुणदेवताके उद्देश्यसे उतने ही चतुष्कपालोंका निर्वाप करे। कपालशब्दका अर्थ है—पुरोडाश बनानेके लिए बनाया हुआ मिट्टीका पात्रविशेष।

स्वार्थबोधकत्वमुपेयते, किन्तूभयोर्विषयान्तराभावाद् अगत्या तत्रैव विकल्पानुष्ठानमिष्यते ।

एवं चाऽद्वैतागमस्य प्रत्यक्षेणैकवाक्यत्वशङ्काऽभावात् पूर्ववृत्तमपि तद्-विगणय्य स्वार्थबोधकत्वमप्रतिहतम् ।

तदर्थबोधजनने च—

'पूर्वं परमजातत्वादबाधित्वैव जायते ।
परस्यानन्यथोत्पादान्नाद्याबाधेन सम्भवः ॥'

इत्यपच्छेदन्यायस्यैव प्रवृत्तिः, नोपक्रमन्यायस्य ।

अत एव लोकेऽपि प्रथमवृत्तं शुक्तिरूप्यप्रत्यक्षमाप्तोपदेशेन बाध्यते इति ॥ २ ॥

इस वाक्यकी 'नातिरात्रे षोडशिनं ‡ गृह्णाति' यह वाक्य भी अपेक्षा न करके ही स्वार्थबोधक है, ऐसा स्वीकार किया गया है, परन्तु विशेष इतना है कि षोडशीके ग्रहण और अग्रहणका अन्य विषय नहीं है, अतः अगत्या अर्थात् समुच्चयका भी असम्भव होनेसे अतिरात्रमें ही विकल्पसे अनुष्ठान माना जाता है ।

एवञ्च अर्थात् उपक्रमन्यायके प्रतीत्यैक्यवाक्यविषयक होनेसे अद्वैत-बोधक शास्त्रकी प्रत्यक्षके साथ एकवाक्यताकी शङ्का भी नहीं हो सकती है, इसीलिए प्रत्यक्ष यद्यपि पूर्ववृत्त है, तथापि उसका ख्याल न करके आगम अपने अर्थका बोधन करता ही है ।

आगम अपने अर्थका बोध करता है, इसलिए—

'पूर्वं परमजातत्वात्०' (पूर्व अर्थात् प्रथम अपच्छेदनिमित्तक प्रायश्चित्त कर्तव्यताज्ञान परका अर्थात् दूसरे कालमें होनेवाले नैमित्तिककर्तव्यज्ञानकी उत्पत्ति न होनेसे उसका बाध न करके ही प्रवृत्त होता है और परशास्त्रकी पूर्वके बाधके विना उत्पत्ति नहीं हो सकती है, अतः वह पूर्वका बाध करके ही उत्पन्न होता है) ।

इसीसे व्यवहारमें भी प्रथमकालमें प्रवृत्त शुक्ति-रजतका प्रत्यक्ष उत्तरकालमें प्रवृत्त आप्तोपदेशसे बाधित होता है ॥२॥

---

‡ षोडशिनामक स्तोत्रके बाद जहाँ अतिरात्र सामोंका गान किया जाता है, उस ज्योतिष्टोमका नाम अतिरात्र है ।

ननूपजीव्यप्रत्यक्षविरुद्धेऽर्थे श्रुतेः कथम् ।
मानत्वं युक्तमिति चेद्,

यदि शङ्का हो कि उपजीव्यभूत प्रत्यक्षसे विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करनेवाले आगममें प्रामाण्य कैसे होगा, क्योंकि अबाधितार्थबोधकत्व ही प्रामाण्य है,

ननु तथाऽप्युपजीव्यत्वेन प्रत्यक्षस्यैव प्राबल्यं दुर्वारम् । अपच्छेदशास्त्रयोर्हि न पूर्वं परस्योपजीव्यमिति युक्तः परेण पूर्वस्य बाधः । इह तु वर्णपदादिस्वरूपग्राहकतया मिथ्यात्वबोधकागमं प्रति प्रत्यक्षस्योपजीव्यत्वाद् आगमस्यैव तद्विरुद्धमिथ्यात्वबोधकत्वरूपो बाधो युज्यते । न च मिथ्यात्वश्रुत्या वर्णपदादिसत्यत्वांशोपमर्देऽपि उपजीव्यस्वरूपांशोपमर्दाभावान्नोपजीव्यविरोध इति वाच्यम्, 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादिश्रुतिभिः स्वरूपेणैव प्रपञ्चाभावबोधनात् ।

अब पुनः शङ्का होती है कि* यद्यपि आगमके समान प्रत्यक्ष स्वतः बलवान् नहीं है, तथापि आगमका उपजीव्य होनेसे प्रत्यक्ष ही बलवान् है, अपच्छेदशास्त्रोंमें पूर्व परका उपजीव्य (कारण) नहीं है, अतः उनमें पर पूर्वका बाध अवश्य करता है, और प्रकृतमें अर्थात् आगम और प्रत्यक्षस्थलमें मिथ्यात्वबोधक 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि आगम (शास्त्र) का— वर्ण, पद आदि स्वरूपका ग्राहक होनेसे—प्रत्यक्ष उपजीव्य है, अतः प्रत्यक्षविरुद्ध मिथ्यात्वरूप अर्थका बोधक होनेसे आगमका ही बाध युक्त है । इस विषयमें यदि शङ्का हो कि मिथ्यात्वबोधक श्रुतिसे वर्ण, पद आदिमें सत्यत्व अंशका उपमर्द (बाध) होनेपर भी उपजीव्यस्वरूपांशका बाध न होनेसे उपजीव्यभूत प्रत्यक्षसे आगमका विरोध नहीं है ? तो यह भी शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि 'नेह नानास्ति' इत्यादि श्रुतियोंसे स्वरूपका ही निषेध होता है, [अतः उपजीव्यके साथ सर्वथा विरोध होनेसे प्रत्यक्ष ही बलवान् है आगम बलवान् नहीं है, यह भाव है] ।

---

* यद्यपि इस शङ्काका 'न चैमुपजीव्यविरोधः' इत्यादिसे उत्थान और परिहार किया गया है, तथापि उस परिहारका फिर आक्षेप करनेके लिए इस ग्रन्थका उल्लेख किया गया है, 'नेह नानास्ति' इत्यादि श्रुतिसे प्रपञ्चका स्वरूप ही निषिद्ध होता है, अतः उपजीव्य स्वरूपका उपमर्द होनेसे उपजीव्य विरोधका निरास नहीं है, इसलिए अनधिकगताबाधितविषयकत्व न होनेके कारण अप्रामाण्यापत्ति दुर्वार है, यह भाव है ।

अत्र केचित् प्रचक्षते ॥ १३ ॥

न पदज्ञानमानत्वनियता शाब्दमानता ।

वृषभादिपदे भ्रान्त्या न्यूनाधिक्येऽपि दर्शनात् ॥ १४ ॥

इस शङ्काके परिहारमें कुछ लोग कहते हैं कि प्रमात्मक शाब्दबोध प्रमात्मक पदज्ञानसे नियत नहीं है, क्योंकि वृषभ आदि पदोंमें भ्रमात्मक ज्ञानसे भी शाब्दबोध देखा जाता है, अतः उक्त दोष नहीं है ॥ १३ ॥ १४ ॥

अत्र केचिदाहुः—'वृषमानय' इत्यादिवाक्यं श्रवणदोषाद् 'वृषभमानय' इत्यादिरूपेण शृण्वतोऽपि शाब्दप्रमितिदर्शनेन शाब्दप्रमितौ वर्णपदादिप्रत्यक्षं प्रमाभ्रमसाधारणमेवापेक्षितमित्यद्वैतागमेन वर्णपदादिप्रत्यक्षमात्रमुपजीव्यम्, न तत्प्रमा। तथा च वर्णपदादिस्वरूपोपमर्देऽपि नोपजीव्यविरोध इति।

असद्विलक्षणं रूपमुपजीव्यं न तात्त्विकम्।

तच्चानिर्वचनीयार्थेष्वविरुद्धमितीतरे ॥ १५ ॥

कुछ लोग कहते हैं कि पदका असद्विलक्षणस्वरूप ही शाब्दप्रमाके प्रति उपजीव्य है, तात्त्विक स्वरूप उपजीव्य नहीं है, असद्विलक्षणस्वरूप को अनिर्वचनीय प्रपञ्चमें माननेसे भी विरोध नहीं है, अतः उक्त दोषकी प्रसक्ति नहीं हो सकती है ॥ १५ ॥

इस आक्षेपके समाधानमें कोई लोग कहते हैं—'वृषमानय' (बैलको लाओ) यह शब्द किसीसे कोई कहता है परन्तु कानके दोषसे वह 'वृषभमानय' ऐसा सुनता है फिर भी उसको 'बैल लाओ' इस प्रकार यथार्थ शाब्द ज्ञान होता है, इससे शाब्दज्ञानमें भ्रमप्रमासाधारण वर्ण, पद आदिका प्रत्यक्षमात्र उपजीव्य है, उसका प्रमात्मक प्रत्यक्ष उपजीव्य—कारण नहीं है, इसलिए आगम उसके स्वरूपांशका उपमर्द भले करे, तो भी उपजीव्यके साथ विरोध नहीं होगा। [तात्पर्यार्थ यह है कि प्रपञ्चके सत्यत्व पक्षमें भी 'वृषमानय' इस दृष्टान्तके अनुरोधसे भ्रमप्रमासाधारण शब्दप्रत्यक्ष, अर्थात् शब्दका प्रत्यक्ष भ्रमात्मक हो चाहे प्रमात्मक हो, शाब्दबोधका उपजीव्य है, ऐसा कहना होगा, हमारे (वेदान्तियोंके) मतमें निषेधश्रुतिके बलसे भ्रमरूप प्रत्यक्ष ही सर्वत्र शाब्दबोधमें और अन्य व्यवहारोंमें कारण है, यह विशेष है, अतः शाब्दबोधके प्रति उपजीव्यविरोध नहीं है, क्योंकि शब्दस्वरूप उपजीव्य नहीं है]।

अन्ये त्वाहुः—शाब्दप्रमितौ वर्णपदादिस्वरूपसिद्ध्यनपेक्षायामप्ययोग्यशब्दात् प्रमित्यनुदयाद्योग्यतास्वरूपसिद्ध्यपेक्षाऽस्ति। तदपेक्षायामपि नोपजीव्यविरोधः। 'नेह नानास्ति' इति श्रुत्या निषेधेऽपि यावद्ब्रह्मज्ञानमनुवर्तमानस्याऽर्थक्रियासंवादिनोऽसद्विलक्षणप्रपञ्चस्वरूपस्याऽङ्गीकारात्। अन्यथा प्रत्यक्षादीनां व्यावहारिकप्रमाणानां निर्विषयत्वप्रसङ्गात्।

न च स्वरूपेण निषेधेऽपि कथं प्रपञ्चस्वरूपस्यात्मलाभः। निषेधस्य प्रतियोग्यप्रतिक्षेपरूपत्वे व्याघातादिति वाच्यम्, शुक्तौ 'इदं रजतम्' 'नेदं रजतम्' इति प्रतीतिद्वयानुरोधेनाधिष्ठानगताध्यस्ताभावस्य बाध-

---

कुछ लोग* उक्त उपजीव्यविरोधका अन्य प्रकारसे समाधान करते हैं—यद्यपि शाब्दबोधमें वर्ण, पद आदिके स्वरूपकी सिद्धि अपेक्षित नहीं है, तथापि अयोग्य शब्दसे शाब्दज्ञानकी उत्पत्ति न होनेके कारण योग्यता-स्वरूपकी सिद्धि अपेक्षित है। उस योग्यताकी अपेक्षा होनेपर भी उपजीव्यके साथ विरोध नहीं है, क्योंकि 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्मातिरिक्त समस्त प्रपञ्चका निषेध होनेपर भी ब्रह्मज्ञानपर्यन्त अनुवर्तमान तथा अर्थक्रियामें समर्थ असत् पदार्थोंसे विलक्षण प्रपञ्चके स्वरूपका अङ्गीकार किया जाता है। यदि असत् (शशशृङ्ग) पदार्थसे विलक्षण प्रपञ्चस्वरूप न माना जाय, तो जितने व्यावहारिक प्रमाण हैं, वे सब निर्विषयक हो जायँगे।

शङ्का होती है कि स्वरूपतः प्रपञ्चके निषिद्ध होनेपर प्रपञ्चस्वरूपके अस्तित्वका लाभ कैसे होगा? क्योंकि यदि निषेधको प्रतियोगीका अभावरूप न माना जाय, तो व्याघात होगा। परन्तु यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि शुक्तिमें 'इदं रजतम्' नेदं रजतम्' (यह रजत है और यह रजत नहीं है) इस प्रकार दो प्रतीतियोंके अनुरोधसे अधिष्ठानमें अध्यस्तका अभाव—बाधपर्यन्त अनुवृत्त होने-

---

* इस मतका अवलम्बन करनेवालोंका कहना है कि पूर्व मतमें केवल शब्दका प्रत्यक्षज्ञान शाब्दबोधमें प्रयोजक है, वह चाहे प्रमात्मक हो चाहे भ्रमात्मक हो, परन्तु वर्ण, पद आदिका स्वरूप कारण नहीं है, लेकिन यह उनका कहना युक्त नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष निर्विषयक नहीं होता है; अतः वर्णादिस्वरूपका अवश्य शाब्दबोधके कारणरूपसे अङ्गीकार करना चाहिए। इस परिस्थितिमें पूर्वमतमें भी उपजीव्य विरोध अवश्य है, अतः पूर्वोक्त समाधान युक्त नहीं है, अतः मतान्तर कहते हैं, यह भाव है।

पर्यन्तानुवृत्तिकासद्विलक्षणप्रतियोगिस्वरूपसहिष्णुत्वाभ्युपगमात् ।

एतेन प्रपञ्चस्य स्वरूपेण निषेधे शशशृङ्गवदसत्त्वमेव स्यादिति निरस्तम्, ब्रह्मज्ञाननिवर्त्यस्वरूपाङ्गीकारेण वैषम्यात् ।

न चाऽस्याध्यस्तस्याऽधिष्ठाने स्वरूपेण निषेधे अन्यत्र तस्य स्वरूपेण निषेधः स्वतः सिद्ध इति तस्य सर्वदेशकालसम्बन्धिनिषेधप्रतियोगित्वापत्त्या असत्त्वं दुर्वारम् । 'सर्वदेशकालसम्बन्धिनिषेधप्रतियोगित्वमसत्त्वम्'

वाले असद्विलक्षण प्रतियोगिस्वरूपका—सहिष्णु है, ऐसा माना जाता है* ।

इससे अर्थात् वक्ष्यमाणब्रह्मज्ञाननिवर्त्यरूप प्रपञ्चस्वरूपका अङ्गीकार करनेसे यह भी निरस्त हुआ समझना चाहिए कि 'नेह नानास्ति' इत्यादि श्रुतिसे प्रपञ्चका स्वरूपतः निषेध करनेपर शशशृङ्गके समान प्रपञ्च असत् ही होगा, क्योंकि ब्रह्मज्ञानसे निवृत्त होनेवाले स्वरूपसे युक्त उस प्रपञ्चका स्वीकार किया गया है । अतः शशशृङ्गसे वैषम्य है ।

यदि शङ्का हो कि अध्यस्तका अधिष्ठानमें स्वरूपतः निषेध किया जाय, तो अन्यत्र अर्थात् अधिष्ठानसे अतिरिक्त देश, कालमें अध्यस्तका निषेध स्वतः सिद्ध है ही; इसलिए वह असत् हो जायगा, क्योंकि सब देश और कालके साथ सम्बन्ध रखनेवाले अभावका वह प्रतियोगी है । असत्त्वका निर्वचन भी यही है

---

† शङ्कासमाधानका तात्पर्य यह है कि अधिष्ठानभूत ब्रह्ममें प्रपञ्चस्वरूप और प्रपञ्चका निषेध दोनों एक कालमें नहीं मान सकते हैं, यदि निषेध श्रुतिके अनुसार प्रपञ्च-निषेध ब्रह्ममें माना जाय, तो प्रपञ्चकी अवस्थिति नहीं होगी, क्योंकि अभाव प्रतियोगीकी स्थितिका विरोधी होता है, यदि कथञ्चित् जबर्दस्ती मान लिया जाय कि प्रतियोगी और अभाव एकत्र रहते हैं, तो निषेधत्वका व्याघात होगा, क्योंकि निषेधत्व (अभावत्व) प्रतियोग्यवस्थितिविरोधित्वरूप है, अतः स्वरूपतः प्रपञ्चका निषेध करनेपर प्रपञ्चस्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता है, अतः प्रपञ्चको सत्य मानना चाहिए, यह पूर्वपक्षका तात्पर्य है, इसपर सिद्धान्त कहते हैं कि कल्पितपदार्थप्रतियोगिक अभाव अधिष्ठानसे अन्यत्र प्रतियोगीके साथ भले ही विरोधी हो, परन्तु अधिष्ठानमें कुछ काल तक अविरोधी रहता है अर्थात् अधिष्ठानमें रहनेवाला कल्पितप्रतियोगिक अभाव प्रतियोगीकी अवस्थितिको सहन करता है, ऐसी कल्पनामें द्वैतग्राही प्रत्यक्ष और निषेधश्रुति प्रमाणरूपसे हमको मिल रहे हैं, जैसे न्यायमें घटत्वाद्यभावको प्रतियोगीके साथ घटाद्यधिकरणमें विरोधी मानते हैं, तथापि संयोगादिके अभावको प्रतियोगीके साथ विरोधी नहीं मानते हैं अर्थात् संयोगाधिकरणमें भी संयोगाभाव माना जाता है, वैसे ही हम लोग भी मानें, तो क्या हानि है अर्थात् कुछ हानि नहीं है ।

इत्येवाऽसत्त्वनिर्वचनाद्, विधान्तरेण तन्निर्वचनायोगादिति वाच्यम्; असतः सर्वदेशकालसम्बन्धिनिषेधप्रतियोगित्वमुपगच्छता, तथात्वे–प्रत्यक्षस्य सर्वदेशकालयोः प्रत्यक्षीकरणायोगेन, आगमस्य तादृशागमानुपलम्भेन च प्रमाणयितुमशक्यतयाऽनुमानमेव प्रमाणयितव्यमिति तदनुमाने यत् सद्व्यावृत्तं लिङ्गं वाच्यम्, तस्यैव प्रथमप्रतीतस्यासत्त्वनिर्वचनत्वोपपत्तेरित्याहुः।

पारमार्थिकसत्यत्वं नेह नानेति नुद्यते।
व्यावहारिकसत्यत्वं न निषिद्धमितीतरे॥ १६॥

'नेह नानास्ति' इत्यादि श्रुतिसे प्रपञ्चके पारमार्थिक रूपका ही बाध होता है, व्यावहारिक स्वरूपका बाध नहीं होता, इससे आगमका उपजीव्य प्रत्यक्षसे विरोध नहीं है, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं॥ १६॥

कि सब देश और काल आदिके साथ सम्बन्ध रखनेवाले निषेधका जो प्रतियोगी हो, इसके सिवा अन्य कोई प्रकार नहीं है, जिससे कि असत्का निर्वचन हो सके; तो यह भी शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि जो महाशय असत्को सर्वदेशकालसम्बन्धी निषेधका प्रतियोगी मानते हैं, वे उस प्रकारके असत्त्वमें प्रत्यक्षको प्रमाण नहीं दे सकते हैं, क्योंकि सब देश और कालका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, उसी प्रकार शशशृङ्ग आदि सर्वदेशकालसम्बन्धिनिषेधके प्रतियोगी हैं इसमें आगम भी प्रमाण नहीं हो सकता है, क्योंकि उस प्रकारका असत्त्वबोधक कोई आगम मिलता ही नहीं, अतः अनुमान ही प्रमाणको कहना होगा। उस अनुमानमें जो* सद्व्यावृत्त हेतु करोगे उसीको, प्रथमोपस्थित होनेके कारण, असत्का लक्षण मानेंगे।

* सत् पदार्थमें नहीं जानेवाला जो हेतु करोगे वही असत्का लक्षण होगा अर्थात् शशशृङ्ग असत् है, निःस्वरूप होनेसे, जो निःस्वरूप नहीं है वह असत् भी नहीं है, जैसे ब्रह्म इस प्रकारके अनुमानसे ही शशशृङ्ग आदिमें तुम्हें असत्त्वकी सिद्धि करनी होगी, इसलिए प्रथमोपस्थित होनेसे निःस्वरूपत्व ही असत्का निर्दुष्ट लक्षण हो सकता है, तो किसलिए सर्वदेशकाल सम्बन्धिनिषेधप्रतियोगित्वरूप असत्त्व मानना चाहिए? नहीं मानना चाहिए, प्रकृतमें ज्ञाननिवर्त्यत्वरूप स्वरूप प्रपञ्चमें है, इसलिए प्रपञ्चमें निःस्वरूपत्वरूप असत्त्व नहीं है, अतः शशशृङ्गादिसे प्रपञ्च विलक्षण हो सकता है, यह भाव है।

अपरे तु 'नेह नानास्ति' इति श्रुतेः सत्यत्वेन प्रपञ्चनिषेधे एव तात्पर्यम्, न स्वरूपेण। निषेधस्य स्वरूपाप्रतिक्षेपकत्वे तस्य तन्निषेधत्वायोगात्। तत्प्रतिक्षेपकत्वे प्रत्यक्षविरोधात्।

न च सत्यत्वस्यापि 'सन् घटः' इत्यादिप्रत्यक्षसिद्धत्वाद् न तेनापि रूपेण निषेधो युक्त इति वाच्यम्, प्रत्यक्षस्य श्रुत्यविरोधाय सत्यत्वा-

---

कुछ लोग कहते हैं कि 'नेह नानास्ति किञ्चन' (ब्रह्ममें द्वैत प्रपञ्च नहीं है) इस श्रुतिका (ब्रह्ममें) प्रपञ्चका सत्यत्वरूपसे निषेधमें ही तात्पर्य है, प्रपञ्चके स्वरूपसे निषेधमें तात्पर्य नहीं है। यदि ब्रह्ममें प्रपञ्चका स्वरूपसे निषेध प्रतियोगीका प्रतिक्षेपक—विरोधी न माना जाय, तो वह प्रपञ्चका स्वरूपसे निषेध ही नहीं रहेगा। यदि निषेध प्रतियोगीका विरोधी माना जाय, तो प्रत्यक्षविरोध होगा, [इससे प्रपञ्चके अधिकरणीभूत ब्रह्ममें प्रपञ्चका स्वरूपसे निषेध श्रुति नहीं करती है, किन्तु प्रपञ्चका सत्यत्वरूपसे निषेध करती है, अतः प्रतियोगी और अभावके भिन्नाधिकरणक होनेसे, कोई दोष नहीं है, यह तात्पर्यार्थ है]।

* यदि शङ्का हो कि 'घटः सन्' (घट सत् है) इत्यादि प्रत्यक्षसे घटादि-प्रपञ्चमें भी सत्यत्व सिद्ध है, अतः सत्यत्वरूपसे भी प्रपञ्चका निषेध नहीं कर सकते हैं, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि श्रुतिके साथ विरोध न हो, इसलिए सत्यत्वाभासरूप व्यावहारिक सत्यत्व ही 'घटः सन्' इत्यादि प्रत्यक्षका विषय है।

---

* इस ग्रन्थका तात्पर्यार्थ यह है कि ब्रह्ममें जैसे प्रपञ्च प्रत्यक्षसिद्ध है, वैसे प्रपञ्चमें सत्यत्व भी 'घटः सन्' इत्यादिसे प्रत्यक्षसिद्ध है, इससे निषेधश्रुतिका तात्पर्य प्रपञ्चके सत्यत्वके निषेधमें भी नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रपञ्चमें सत्यत्व है और उसीमें उसका निषेध करना है, अतः निषेध और प्रतियोगीकी अवस्थिति एकत्र हो जानेके कारण निषेधत्वका पूर्वोक्त रीतिसे व्याघात ही होगा, इसपर उत्तर देते हैं कि घट आदिमें जिस सत्यत्वका प्रत्यक्ष होता है, वह ब्रह्मगतसत्त्वके समान पारमार्थिक नहीं है, किन्तु व्यावहारिक सत्यत्वरूप है, ऐसी कल्पना की जाती है, इसलिए उक्त दोष नहीं है, क्योंकि प्रपञ्चमें व्यावहारिक सत्यत्वका निषेध नहीं करते हैं, किन्तु पारमार्थिकत्वका ही निषेध करते हैं, इसलिए शुक्तिमें जो रजतका निषेध किया जाता है, वह सत्यरजतका ही निषेध किया जाता है, कल्पित रजतका निषेध नहीं किया जाता है, क्योंकि इस मतमें शुक्त्यादिमें कल्पित रजतादिका निषेध नहीं माना जाता है, किन्तु देशान्तरस्थ सत्य रजतादिका ही निषेध किया जाता है, इसीमें 'अत एव' इत्यादि ग्रन्थसे युक्ति दी गई है, और इस मतमें सत्ताके त्रैविध्यका अङ्गीकार भी है।

भासरूपव्यावहारिकसत्यत्वविषयत्वोपपत्तेः । न चैवं सति पारमार्थिक-सत्यत्वस्य ब्रह्मगतस्य प्रपञ्चे प्रसक्त्यभावात् तेन रूपेण प्रपञ्चनिषेधानुपपत्तिः । यथा शुक्तौ रजताभासप्रतीतिरेव सत्यरजतप्रसक्तिरिति तन्निषेधः, अत एव 'नेदं रजतम्, किन्तु तत्', 'नेयं मदीया गौः, किन्तु सैव,' 'नात्र वर्तमानश्चैत्रः, किन्त्वपवरके' इति निषिध्यमानस्याऽन्यत्र सत्त्वमवगम्यते, एवं सत्यत्वाभासप्रतीतिरेव सत्यत्वप्रसक्तिरिति तन्निषेधोपपत्तेः । अतो वर्णपदयोग्यतादिस्वरूपोपमर्दशङ्काभावान्नोपजीव्यविरोध इत्याहुः ।

अन्येऽविवेकादेकैव ब्रह्मसत्ता घटादिषु ।
असन्निकृष्टे ह्यध्यासोऽन्यत्र संसर्गकल्पनम् ॥ १७ ॥

एक ही ब्रह्मसत्ता घट आदिमें अविवेकसे गृहीत होती है । असन्निकृष्ट स्थलमें अध्यास होता है और अन्यत्र—सन्निकृष्ट स्थलमें संसर्गकी कल्पना की जाती है ॥ १७ ॥

अन्ये तु ब्रह्मणि पारमार्थिकसत्यत्वम्, प्रपञ्चे व्यावहारिकसत्यत्वं सत्यत्वाभासरूपम्, शुक्तिरजतादौ प्रातिभासिकसत्यत्वं ततोऽपि निकृष्ट-

---

यदि शङ्का हो कि प्रपञ्चमें व्यावहारिक सत्यत्व माननेपर ब्रह्ममें रहनेवाले पारमार्थिक सत्यत्वकी प्रपञ्चमें प्रसक्ति न होनेके कारण पारमार्थिक सत्यत्वरूपसे प्रपञ्चका निषेध नहीं हो सकता है ? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जैसे शुक्तिमें रजताभासकी प्रतीति ही सत्य रजतकी प्रसक्ति है, इससे उसका निषेध होता है, इसीलिए यह रजत नहीं है, किन्तु वह रजत है, यह मेरी गाय नहीं है, किन्तु वह मेरी गाय है, यहाँ चैत्र वर्तमान नहीं है, किन्तु भीतर है, इस प्रकारका निषेध होता है, उनकी अन्यत्र सत्ता ज्ञात होती है, वैसे ही सत्यत्वाभासप्रतीति ही सत्यत्वप्रसक्ति है, इसलिए उस सत्यत्वका प्रपञ्चमें निषेध हो सकता है । इससे वर्ण, पद, योग्यता आदि स्वरूपोपमर्दकी शङ्का न होनेसे उपजीव्यके साथ कोई विरोध नहीं है ।

कुछ लोग कहते हैं कि ब्रह्ममें पारमार्थिक सत्यत्व प्रपञ्चमें सत्यत्वाभासरूप व्यावहारिक सत्यत्व और शुक्तिरजत आदिमें व्यावहारिक सत्यतासे निकृष्ट प्रातिभासिक सत्यत्व, इस प्रकार सत्ताका त्रैविध्य नहीं है ? किन्तु ब्रह्मरूप

मिति सत्तात्रैविध्यं नोपेयते, अधिष्ठानब्रह्मगतपारमार्थिकसत्ताऽनुवेधादेव घटादौ शुक्तिरजतादौ च सत्त्वाभिमानोपपत्त्या सत्यत्वाभासकल्पनस्य निष्प्रमाणकत्वात्। एवं च प्रपञ्चे सत्यत्वप्रतीत्यभावात्, तत्तादात्म्यापन्ने ब्रह्मणि तत्प्रतीतेरेवाविवेकेन प्रपञ्चे तत्प्रसक्त्युपपत्तेश्च सत्यत्वेन प्रपञ्चनिषेधे नोपजीव्यविरोधः, न वा अप्रसक्तनिषेधनम्।

न च ब्रह्मगतपारमार्थिकसत्ताऽतिरेकेण प्रपञ्चे सत्त्वाभासानुपगमे व्यवहितसत्यरजतातिरेकेण शुक्तौ रजताभासोत्पत्तिः किमर्थमुपेयत इति वाच्यम्, व्यवहितस्याऽसन्निकृष्टस्याऽऽपरोक्ष्यासम्भवात् तन्निर्वाहाय तदुपगमात् ॥ ३ ॥

नन्वेवं स्वमुखं स्वस्यासन्निकृष्टमितीतरत्।
दर्पणेऽध्यस्तताऽऽपन्नं प्रातिविम्बं मृषेति चेद् ॥ १८ ॥

रजताभासकी उत्पत्ति माननेपर दर्पणमें अध्यस्त अपना मुख भी असन्निकृष्ट होनेसे अन्य अनिर्वचनीय उत्पन्न होगा, अतः वह मिथ्या होगा, यदि इस प्रकार शङ्का हो तो युक्त नहीं है ॥ १८ ॥

अधिष्ठानमें रहनेवाले पारमार्थिक सत्यत्वके सम्बन्धसे ही घट आदिमें और शुक्तिरजत आदिमें सत्ताका भान हो सकता है, फिर सत्यत्वाभासरूप सत्तान्तरकी कल्पना प्रमाणशून्य है। इस परिस्थितिमें* प्रपञ्चमें सत्यत्वकी प्रतीति न होनेसे प्रपञ्चतादात्म्यापन्न ब्रह्ममें सत्यत्वकी प्रतीतिसे ही अविवेकसे प्रपञ्चमें सत्यत्वकी प्रसक्ति है, अतः सत्यत्वरूपधर्मसे यदि ब्रह्ममें प्रपञ्चका निषेध किया जाय, तो उपजीव्य विरोध नहीं है और अप्रसक्तका निषेध भी नहीं है।

यदि शङ्का हो कि ब्रह्ममें रहनेवाली पारमार्थिक सत्तासे अतिरिक्त प्रपञ्चमें सत्त्वाभासरूप सत्ताके न माननेपर शुक्तिमें भी व्यवहित (दूरस्थ) रजतसे अतिरिक्त प्रातिभासिक रजतकी उत्पत्ति माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि व्यवहित रजतके साथ इन्द्रियका सम्बन्ध न होनेके कारण उसकी अपरोक्षता नहीं हो सकती है, इसलिए अपरोक्षत्वका निर्वाह करनेके लिए प्रातिभासिक रजतकी उत्पत्ति मानी जाती है ॥३॥

---

* इस परिस्थितिमें अर्थात् 'सत्' रूपसे प्रतीयमान घटादितादात्म्यापन्न सद्रूस्वंशरूप ब्रह्ममें ही 'सन् घटः' इत्याकारक प्रतीतिकी विषयता है, जैसे 'मृद्घटः' इत्यादि प्रतीतिकी मृदंशमें मृद्विषयता है और ब्रह्ममें सत्ताप्रतीति होनेसे ही घटादिमें सत्ताव्यवहार होता है, यह भाव है।

नन्वेवं प्रतिविम्बभ्रमस्थलेऽपि ग्रीवास्थमुखातिरेकेण दर्पणे मुखाभासोत्पत्तिरुपेया स्यात्। स्वकीये ग्रीवास्थमुखे नासाद्यवच्छिन्नप्रदेशापरोक्ष्यसम्भवेऽपि नयनगोलकललाटादिप्रदेशापरोक्ष्यायोगात्। प्रतिविम्बभ्रमे नयनगोलकादिप्रदेशापरोक्ष्यदर्शनाच्च। न च बिम्बातिरिक्तप्रतिविम्बाभ्युपगमे इष्टापत्तिः। ब्रह्मप्रतिविम्बजीवस्यापि ततो भेदेन मिथ्यात्वापत्तेः।

रजतकी अपरोक्षताके लिए यदि शुक्तिमें अनिर्वचनीय रजतकी उत्पत्ति मानी जायगी, तो जहाँपर प्रतिविम्बका भ्रम होता है, वहाँ भी ग्रीवास्थ मुखसे अतिरिक्त दर्पणमें अनिर्वचनीय मुखाभास की उत्पत्ति माननी ही होगी, क्योंकि प्रतिविम्बत्वरूपसे स्वीकृत अपने ग्रीवास्थ मुखमें नासिका आदिसे युक्त प्रदेशका अपरोक्षत्व होनेपर भी नेत्रके गोलक और ललाट आदि प्रदेशका आपरोक्ष्य नहीं होगा, [क्योंकि उस अंशके साथ इन्द्रियसन्निकर्ष नहीं है, यह भाव है]। और प्रतिविम्बविभ्रममें नयनके गोलक आदि प्रदेशोंका आपरोक्ष्य देखा भी जाता है। यदि शङ्का हो कि विम्बसे अतिरिक्त प्रतिविम्ब माननेमें इष्टापत्ति ही है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जीवभूत ब्रह्मप्रतिविम्बके ब्रह्मभिन्न होनेपर जीवमें मिथ्यात्वकी प्रसक्ति होगी। [तात्पर्यार्थ यह है कि विम्ब और प्रतिविम्बको यदि एक माना जायगा, तो प्रतिविम्बका आपरोक्ष्य (प्रत्यक्षात्मक ज्ञान) नहीं होगा, क्योंकि विम्बभूत मुखमें रहनेवाले आँखके गोलक तथा ललाट आदिके साथ इन्द्रिय आदिका सन्निकर्ष न होनेके कारण तदभिन्न प्रतिविम्बका प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, और यदि प्रत्यक्षकी उपपत्तिके लिए विम्बसे अतिरिक्त प्रतिविम्ब मानोगे, तो उसको मिथ्या ही मानना होगा, अन्यथा अद्वैतकी हानि होगी। इस अवस्थामें ब्रह्मप्रतिविम्बरूपसे माने गये जीवका भी ब्रह्मसे भेद और उसको मिथ्या मानना होगा, क्योंकि जीव ब्रह्मसे स्वरूपतः भिन्न है, ब्रह्मप्रतिविम्ब होनेसे, मुखप्रतिविम्बवत्, इस अनुमानसे जीवमें ब्रह्मका भेद सिद्ध करनेपर—जीव मिथ्या है, ब्रह्मभिन्न होनेके कारण, घट आदिके समान, इस अनुमानसे जीवमें मिथ्यात्वप्रसक्ति होगी, इसे इष्टापत्ति नहीं मान सकते हैं, अतः मुखाभासादिकी उत्पत्ति नहीं मान सकते हैं, यह शङ्ककका कहना है]।

दर्पणादिपरावृत्तैर्निजैर्नयनरश्मिभिः ।
सन्निकृष्टं मुखं तत्रोपाध्यन्तःस्थितिविभ्रमः ॥ १९ ॥
न दर्पणे मुखाध्यासः संस्कारादेरसंभवात् ।
ममेदमिति भानाच्चेत्याहुर्विवरणानुगाः ॥ २० ॥

क्योंकि दर्पण आदिसे परावृत्त अपनी नयनकी रश्मियाँ ही सन्निकृष्ट मुखका ग्रहण करती हैं और उसमें केवल उपाध्यन्तःस्थत्व आदि का अध्यास होता है। दर्पणमें मुखका अध्यास उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि संस्कार नहीं है और 'मेरा यह मुख है' इस प्रकार अभेदानुभव भी होता है, ऐसा विवरणानुसारी लोग कहते हैं ॥ १९ ॥ २० ॥

अत्र विवरणानुसारिणः प्राहुः—ग्रीवास्थ एव मुखे दर्पणोपाधिसन्निधानदोषाद् दर्पणस्थत्वप्रत्यङ्मुखत्वबिम्बभेदानामध्याससम्भवेन न दर्पणे मुखस्याध्यासः कल्पनीयः, गौरवाद् । 'दर्पणे मुखं नास्ति' इति संसर्गमात्रबाधात् । मिथ्यावस्त्वन्तरत्वे 'नेदं मुखम्' इति स्वरूपबाधापत्तेः । 'दर्पणे मम मुखं भाति' इति स्वमुखाभेदप्रत्यभिज्ञानाच्च ।

* इस आक्षेपके समाधानमें विवरणानुसारी कहते हैं—ग्रीवास्थ मुखमें ही दर्पणरूप उपाधिके सान्निध्यरूप दोषसे दर्पणस्थत्व, प्रत्यङ्मुखत्व, बिम्बभिन्नत्व आदिका अध्यास हो सकता है, इसलिए दर्पणमें मुखाध्यासकी कल्पना करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि धर्माध्यासकी अपेक्षा धर्मीका अध्यास माननेमें गौरव है। और 'दर्पणमें मुख नहीं है' इस प्रकार जो बाध होता है, वह दर्पणस्थत्वादि संसर्गका ही बाध है, प्रतिबिम्बस्वरूपका बाध नहीं है, [अतः दर्पणस्थत्व आदि संसर्ग मिथ्या हैं और प्रतिबिम्ब सत्य हैं, यह भाव है]। यदि यह मान लिया जाय कि प्रतिबिम्ब [शुक्तिरजतके समान बिम्बभूत वस्तुसे मिथ्याभूत अन्य वस्तु है] तो 'नेदं मुखम्' (यह मुख नहीं है) इस प्रकार स्वरूपबाध ही होता, परन्तु ऐसा तो होता नहीं है, अतः प्रतिबिम्बको मिथ्या वस्तु नहीं मान सकते हैं। और प्रतिबिम्बको सत्यस्वरूप मानने में और भी कारण है कि 'दर्पणमें मेरा मुख है' इस प्रकार अपने बिम्बभूत मुखके साथ अभेदकी प्रत्यभिज्ञा होती है। [इसलिए प्रतिबिम्ब मिथ्या नहीं है, उसके विषयमें अनुमानसे यह फलित होगा—बिम्बके समान प्रतिबिम्ब सत्य है, बिम्बाभिन्न होनेसे और बाधाभाव होनेसे। इससे प्रतिबिम्बभूत जीवका भी सत्यत्व ही सिद्ध होगा,

* इस विवरणके मतमें बिम्ब और प्रतिबिम्बका ऐक्य होनेसे बिम्बभिन्नत्व हेतुसे मिथ्यात्वका अनुमान नहीं कर सकते हैं, यह भाव है।

न च ग्रीवास्थमुखस्याधिष्ठानस्यापरोक्ष्यासम्भवः, उपाधिप्रतिहत-नयनरश्मीनां परावृत्य बिम्बग्राहित्वनियमाभ्युपगमाल्लतादिवद् । तन्नियमानभ्युपगमे परमाणोः, कुड्यादिव्यवहितस्थूलस्यापि चाक्षुषप्रतिबिम्ब-भ्रमप्रसङ्गात् । न च 'अव्यवहितस्थूलोद्भूतरूपवत एव चाक्षुषप्रतिबिम्ब-भ्रमः, नान्यस्य' इति नियम इति वाच्यम्, बिम्बस्थौल्योद्भूतरूपयोः क्लृप्तेन चाक्षुषज्ञानजननेन उपयोगसम्भवे विधान्तरेणोपयोगकल्पनानु-

---

क्योंकि उसके ब्रह्मप्रतिबिम्ब होनेपर भी वह ब्रह्मसे अभिन्न है, यह भाव है।

यदि शङ्का हो कि बिम्ब और प्रतिबिम्बको एक माना जायगा, तो प्रति-बिम्बका सर्वांशसे प्रत्यक्ष नहीं होगा, क्योंकि ग्रीवास्थमुखके (जो प्रतिबिम्बत्व आदिका अधिष्ठानभूत है) नयनगोलक आदिके साथ स्वकीय चक्षुका सन्निकर्ष नहीं है, परन्तु यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि उपाधिसे प्रतिहत नेत्र-रश्मियाँ निवृत्त होकर बिम्बको ही ग्रहण करती हैं, जैसे कि ऊपर चढ़ती हुई लताएँ प्रतिहत होकर पुनः नीचे आ जाती हैं, ऐसा नियम माना गया है। यदि यह नियम न माना जाय, तो परमाणु और दिवाल आदि व्यवधानग्रस्त स्थूल पदार्थोंका भी प्रतिबिम्ब प्रसक्त होगा। [तात्पर्यार्थ यह है कि प्रति-बिम्बस्थलमें नेत्रकी किरणें चक्षुगोलकमें से निकलकर दर्पण आदि स्वच्छ द्रव्यरूप उपाधिके समीप जाती हैं और उस उपाधिसे आघात खाकर पुनः वापस लौटती हैं और ग्रीवास्थ मुख और उसके अवयवोंसे संसृष्ट हो जाती हैं। इसके बाद वहीं रश्मियाँ जैसे सामनेके पदार्थोंका साक्षात्कार करती हैं, वैसे ही स्वकीयग्रीवास्थ मुखका सर्वांशसे प्रत्यक्ष करती हैं। इसपर यदि कोई शङ्का करे कि परावृत्त नयनकी रश्मियाँ गोलक द्वारा अन्तर्लीन हो जाती हैं, यह अन्यत्र कहा गया है, इससे यहांपर लौटकर वे मुखसन्निकृष्ट होकर मुखको देखती हैं, यह कल्पना गौरवग्रस्त है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि जो प्रतिबिम्बकी उत्पत्ति मानते हैं, उनको भी यह कहना होगा कि चक्षुसन्निकृष्ट पदार्थ ही बिम्ब होता है, असन्निकृष्ट नहीं, इससे उक्त नियम अवश्य मानना होगा। यदि सन्निकृष्ट बिम्ब न माना जाय, तो व्यवहित पदार्थका भी प्रतिबिम्ब-विभ्रम प्रसक्त होगा, अतः ग्रीवास्थ मुखके नयनगोलक आदिके साथ स्वचक्षुःसन्निकर्ष होनेसे प्रतिबिम्बका सर्वांशतः प्रत्यक्ष होगा। यदि

पपत्तेः । कुड्यादिव्यवधानस्य प्रतिहतनयनरश्मिसम्बन्धविघटनं विनैवेह प्रतिबन्धकत्वे तथैव घटप्रत्यक्षादिस्थलेऽपि तस्य प्रतिबन्धकत्वसम्भवेन

शङ्का हो कि उसी द्रव्यका चाक्षुषप्रतिविम्ब होता भ्रम है, जो कि व्यवधान रहित, उद्भूतरूपवान् और स्थूल हो, दूसरेका चाक्षुष प्रतिविम्ब भ्रम नहीं होता है, ऐसा नियम है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि विम्बगत* स्थूलत्व और उद्भूतरूपका क्लृप्त चक्षुरिन्द्रियजन्य ज्ञान द्वारा उपयोग हो सकता है, फिर उनका उपयोग प्रकारान्तरसे मानना अर्थात् स्थूलता और उद्भूतरूपका उनके आश्रय विम्ब द्वारा प्रतिविम्बभ्रमकी उत्पत्तिमें उपयोग मानना अनुचित है। और इस अवस्थामें यह भी आपत्ति हो सकती है—व्यवधानभूत दिवाल आदि पदार्थोंमें प्रतिहत नेत्ररश्मि आदिके सम्बन्धके विघटनके विना ही प्रतिविम्बविभ्रम-स्थलमें प्रतिबन्धकत्व होनेपर घट आदिके प्रत्यक्षस्थलमें भी सन्निकर्षविघटनके विना भित्ति आदि व्यवधानोंमें प्रतिबन्धकत्वकी उपपत्ति हो सकती है, तो

* समाधानका तात्पर्य यह है कि द्रव्यके चाक्षुषप्रत्यक्षमें द्रव्यगत महत्त्व और उद्भूतरूप कारण है, यह मानी हुई बात है। इसी प्रकार बाह्य वस्तुके प्रत्यक्षके प्रति दिवाल आदि पदार्थ सन्निकर्षके निरसन द्वारा ही प्रतिबन्धक हैं, यह क्लृप्त है। इस अवस्थामें प्रतिविम्ब और विम्बके अभेदपक्षमें विम्बका चाक्षुष प्रत्यक्ष ही प्रतिविम्बका चाक्षुष प्रत्यक्ष है, अतः विम्बभूत मुख आदिमें रहनेवाले स्थूलत्व और उद्भूतरूपको क्लृप्त चाक्षुष प्रत्यक्षसे अन्यत्र कारण नहीं मानना पड़ता है, अतः लाघव है, और शुक्तिरजतके समान साक्षीसे भास्य अनिर्वचनीय प्रतिविम्बाध्यासकी उत्पत्तिपक्षमें, तो प्रतिविम्बाध्यासमें प्रतिविम्बसन्निकर्षको कारण माननेसे, वायु और परमाणु आदिके चाक्षुष प्रसङ्गके निवारणके लिए विम्बगत महत्त्व और उद्भूतरूपको—महत्त्व और स्थौल्यका आश्रयीभूत द्रव्यरूप विम्बसे उत्पन्न होनेवाले प्रति-बिम्बके अध्यासकी उत्पत्तिमें भी—कारण मानना होगा, यह गौरव है। इसी प्रकार विम्ब और प्रतिविम्बके अभेदपक्षमें यह माना जाता है कि नयनरश्मियाँ परावृत्त होकर विम्बके साथ सम्बद्ध होती हैं; इससे प्रतिविम्बविभ्रममें भी विम्बसन्निकर्षके हेतु होनेसे घट आदिके चक्षुर्जन्य ज्ञानके समान प्रतिविम्बके चाक्षुषमें भी दिवाल आदि सन्निकर्षके विघटनद्वारा ही प्रतिबन्धक होंगे, अक्लृप्त साक्षात् प्रतिबन्धक नहीं होंगे, अतः लाघव है, प्रतिविम्बके अध्यासपक्षमें तो विम्बसन्निकर्षके हेतुत्वका अभ्युपगम न होनेसे कुड्यादिमें (दिवाल आदिमें) क्लृप्त सन्निकर्षविघटकत्व कह नहीं सकते हैं, अतः कुड्यादिमें प्रतिविम्ब अध्यासके प्रति साक्षात् ही प्रतिबन्धकताकी ही कल्पना करनी होगी, अन्यथा व्यवहितका भी प्रतिविम्ब प्रसक्त होगा, इसलिए गौरव है, अतः 'अव्यवहित' इत्यादि ग्रन्थोक्त नियमसे भी उपपत्ति नहीं हो सकती है।

चक्षुःसन्निकर्षमात्रस्य कारणत्वविलोपप्रसङ्गाच्च। दर्पणे मिथ्यामुखाध्यासवादिनाऽपि कारणत्रयान्तर्गतसंस्कारसिद्ध्यर्थं नयनरश्मीनां कदाचित् परावृत्य स्वमुखग्राहकत्वकल्पनयैव पूर्वानुभवस्य समर्थनीयत्वाच्च। न च नासादिप्रदेशावच्छिन्नपूर्वानुभवादेव संस्कारोपपत्तिः। तावता नयनगोलकादिप्रतिबिम्बाध्यासानुपपत्तेः तटाकसलिले तटविटपिसमारूढादृष्टचरपुरुषप्रतिबिम्बाध्यासस्थले कथमपि पूर्वानुभवस्य दुर्वचत्वाच्च। एवं चोपाधिप्रतिहतनयनरश्मीनां बिम्बं प्राप्य तद्ग्राहकत्वेऽवश्यं वक्तव्ये फलबलाद्दर्पणाद्यभिहतानामेव बिम्बं प्राप्य तद्ग्राहकत्वम्, न शिलादि-

---

फिर चक्षुःसन्निकर्षमात्रमें प्रत्यक्षकारणत्वका विलोप प्रसक्त हो जायगा। और यह भी बात है कि जो दर्पणमें मिथ्याभूत मुखप्रतिबिम्ब मानता है, उसको भी दोष, सम्प्रयोग और संस्कार इन तीन कारणोंके अन्तर्गत संस्कारकी सिद्धिके लिए किसी समयमें नयनरश्मियाँ परावृत्त होकर ही स्वमुखकी ग्राहक होती हैं, इस प्रकारकी कल्पना करके पूर्वानुभवका समर्थन करना पड़ेगा। यदि शङ्का हो कि नासिका आदि प्रदेशसे युक्त पूर्वके अनुभवसे ही उक्त स्थलमें संस्कारकी उपपत्ति हो सकती है ? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि नासिका आदि प्रदेशसे युक्त पूर्वानुभवसे नयनगोलक आदि प्रतिबिम्बाध्यासकी उपपत्ति नहीं हो सकती है और तालावके जलमें किसी समयमें नहीं देखे गये और किनारेके वृक्षके ऊपर चढ़े हुए पुरुषके प्रतिबिम्बस्थलमें किसी रीतिसे भी पूर्वानुभवका समर्थन भी नहीं कर सकते हैं। इस अवस्थामें उक्त प्रकारसे उपाधिसे आहत होकर चक्षुकी रश्मियाँ लौटकर बिम्बको ग्रहण करती हैं, इस प्रकार अवश्य कहना होगा, परन्तु अनुभवके आधारपर यह भी कहना होगा कि दर्पण आदि स्वच्छ उपाधिके प्रतिघातसे लौटी हुई रश्मियाँ ही बिम्बका ग्रहण करती हैं, शिला आदिसे आहत हुई रश्मियाँ नहीं ग्रहण करती हैं, अतः शिला आदिमें प्रतिबिम्ब नहीं होता है। जो उपाधियाँ अत्यन्त स्वच्छ नहीं हैं, ऐसी ताम्र आदि उपाधियोंसे आहत नयनरश्मियाँ मलिन उपाधिके सम्बन्धसे मुख आदि बिम्बभूत पदार्थोंके नयनगोलक आदि संस्थानोंका ग्रहण नहीं कर सकती हैं, [अतः शिलादिसे वैलक्षण्य होनेपर भी उनमें कार्त्स्न्येन प्रतिबिम्बग्राहकत्व नहीं है, यह भाव है।] और

प्रतिहतानाम् । अनतिस्वच्छताम्रादिप्रतिहतानां मलिनोपाधिसम्बन्धदोषाद् मुखादिसंस्थानविशेषग्राहकत्वं साक्षात् सूर्यं प्रेप्सूनामिव उपाधिं प्राप्य निवृत्तानां न तथा सौरतेजसा प्रतिहतिरिति न प्रतिबिम्बसूर्यावलोकने साक्षात्तदवलोकने इवाऽशक्यत्वम् । जलाद्युपाधिसन्निकर्षे केषांचिदुपाधिप्रतिहतानां बिम्बप्राप्तावपि केषांचित्तदन्तर्गमनेनान्तरसिकतादिग्रहणमित्यादिकल्पनान्न कश्चिद् दोष इति ।

अद्वैतविद्याचार्यास्तु पार्श्वस्थैर्भेददर्शनात् ।
ग्रीवास्थादन्यदध्यस्तं प्रतिबिम्बमुखं विदुः ॥ २१ ॥

अद्वैतविद्याचार्य कहते हैं कि समीपस्थ मनुष्य मुख्य मुखसे प्रतिबिम्बभूत मुखका भेद देखते हैं, अतः ग्रीवास्थ मुखसे अध्यस्त प्रतिबिम्बभूत मुख भिन्न है ॥२१॥

अद्वैतविद्याकृतस्तु प्रतिबिम्बस्य मिथ्यात्वमभ्युपगच्छतां त्रिविधजीववादिनां विद्यारण्यगुरुप्रभृतीनामभिप्रायमेवमाहुः—

साक्षात् सूर्यको देखनेकी इच्छासे प्रवृत्त हुई नयनरश्मियाँ जैसे सूर्यके तेजसे पराहत होती हैं, वैसे उपाधिके प्रति जाकर लौटी हुई नेत्रकी रश्मियाँ सूर्यके तेजसे आहत नहीं होती हैं, इसलिए साक्षात् सूर्यके अवलोकनमें जैसी कठिनाई होती है, वैसी प्रतिबिम्बित सूर्यके अवलोकनमें नहीं होती है। जल आदि उपाधिके सन्निकर्षमें कुछ नेत्रकी किरणें उपाधिसे आहत होकर बिम्बदेश तक जाती हैं, तो भी अवशिष्ट कुछ रश्मियाँ उपाधिके भीतर जाकर उसमें की बालू आदिका ग्रहण करती हैं, इत्यादि कल्पना करनेसे कुछ भी *दोष नहीं है।

प्रतिबिम्बको मिथ्या और जीवको पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक भेदसे त्रिविध माननेवाले श्रीविद्यारण्यप्रभृतियोंका अभिप्राय अद्वैताचार्य निम्न प्रकारसे कहते हैं—

---

* नयनरश्मियाँ परावृत्त होकर बिम्बको ग्रहण करती हैं, यही सुरेश्वराचार्यजीका भी मत है—

'दर्पणाभिहता दृष्टिः परावृत्य स्वमाननम् ।
व्याप्नुवत्याभिमुख्येन व्यत्यस्तं दर्शयेन्मुखम् ॥'

अर्थात् दर्पण आदि उपाधियोंसे प्रतिहत दृष्टि लौटकर अपने ग्रीवास्थ मुखको व्याप्त करती हुई विपरीत मुखका आभिमुख्यसे ग्रहण कराती है, यह भाव है।

चैत्रमुखाद् भेदेन तत्सदृशत्वेन च पार्श्वस्थैः स्पष्टं निरीक्ष्यमाणं दर्पणे तत्प्रतिबिम्बं ततो भिन्नं स्वरूपतो मिथ्यैव, स्वकरगतादिव रजताच्छुक्तिरजतम् । न च 'दर्पणे मम मुखं भाति' इति बिम्बाभेदज्ञानविरोधः, स्पष्टभेदद्वित्वप्रत्यङ्मुखत्वादिज्ञानविरोधेनाऽभेदज्ञानासम्भवाद् । 'दर्पणे मम मुखम्' इति व्यपदेशस्य स्वच्छायामुखे स्वमुखव्यपदेशवद् गौणत्वाच्च । न चाऽभेदज्ञानविरोधाद् भेदव्यपदेश एव गौणः किं न स्यादिति शङ्क्यम्, बालानां प्रतिबिम्बे पुरुषान्तरभ्रमस्य हानोपादित्साद्यर्थक्रियापर्यन्त-

चैत्र जिस कालमें अपना मुख दर्पणमें देखता है, उस कालमें पासके मनुष्य ग्रीवास्थ बिम्बभूत चैत्रके मुखसे भिन्न और सदृश प्रतिबिम्बभूत मुखको स्पष्टरूपसे देखते हैं और वह स्वरूपतः मिथ्या ही है, जैसे कि अपने हाथके रजतसे भिन्न और उसके सदृश स्पष्ट दिखनेवाला शुक्तिरजत स्वरूपतः मिथ्या होता है। यदि शङ्का हो कि प्रतिबिम्ब बिम्बसे भिन्न कैसे हो सकता है, क्योंकि 'दर्पणमें मेरा मुख भासता है' इस प्रकार बिम्बसे प्रतिबिम्बका अभेद भासता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रतिबिम्ब और बिम्बका स्पष्टभेद, द्वित्व, प्रत्यङ्मुखत्व, प्राङ्मुखत्व आदिके ज्ञानसे विरोध होनेके कारण अभेदज्ञान हो ही नहीं सकता है। और 'दर्पणमें मेरा मुख है' इस प्रकारका व्यपदेश तो जैसे अपने छायामुखमें अपने मुखका व्यवहार होता है, वैसे ही गौण है *। इसपर यदि शङ्का हो कि अभेदज्ञानके विरोधसे भेदव्यपदेश ही तुल्ययुक्तिसे गौण क्यों न माना जाय? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि बालकोंको प्रतिबिम्बमें अन्य पुरुषका भ्रम होता है, जिससे हान (त्याग), उपादित्सा (ग्रहण करनेकी इच्छा) आदि जो उसकी अर्थक्रिया होती है, उसका अपलाप किसी रीतिसे नहीं कर सकते हैं †। इसपर भी यदि पुनः शङ्का हो कि बुद्धिमान् पुरुष भी

* 'दर्पणमें मेरा मुख दिखता है', 'मेरा मुख मलिन है', 'मेरा मुख दीर्घ है', 'दर्पण आदिमें मेरा ग्रीवास्थ मुख ही है' इत्यादि अनेक अभेदोंका अनुभव होता है, अतः अभेदानुभव ही मुख्य है, और भेदानुभव तो अभेदानुभवके विरोधसे केवल औपचारिक है, अतः बिम्ब और प्रतिबिम्बका वास्तविक भेद न होनेपर भी कल्पित भेद मान करके उक्त अभेदानुभवोंकी उपपत्ति हो सकती है, यह पूर्वपक्षका भाव है।

† तात्पर्य यह कि प्रतिबिम्बविषयक प्रवृत्ति आदि लोकमें होती है, अतः उसका अवश्य भेद मानना चाहिए, इसीलिए अज्ञानी बालक जलाशय आदिमें अत्यन्त भयंकर प्रतिबिम्बको देखकर

स्याऽपलपितुमशक्यत्वात्। न च प्रेक्षावतामपि स्वमुखविशेषपरिज्ञानाय दर्पणाद्युपादानदर्शनाद् अभेदज्ञानमप्यर्थक्रियापर्यन्तमिति वाच्यम्, भेदेऽपि प्रतिबिम्बस्य बिम्बसमानाकारत्वनियमविशेषपरिज्ञानादेव तदुपादानोपपत्तेः।

---

* अपने मुखकी विशेषता जाननेकी इच्छासे दर्पण आदिका परिग्रह करते हैं, अतः अर्थक्रियापर्यन्त, तो अभेदज्ञान भी है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि बिम्ब और प्रतिबिम्बका स्वरूपतः भेद प्रतीत होनेपर भी प्रतिबिम्ब बिम्बका समानाकार ही होता है, इस नियमविशेषके परिज्ञानसे ही दर्पण आदिके ग्रहणमें प्रेक्षावान्की † प्रवृत्ति होती है।

पलायन करते हैं, सौम्य और प्रीतिकर प्रतिबिम्बको देखकर उसको ग्रहण करनेकी इच्छा करते हैं और प्रतिबिम्बप्रदेश तक जाते हैं, अतः प्रतिबिम्ब और बिम्बका परस्पर भेद अवश्य मानना चाहिए, अभेद नहीं।

* शङ्का करनेवालेका भाव यह है कि यदि बिम्ब और प्रतिबिम्बका वस्तुतः भेद ही है, तो परीक्षकोंको उसका परिज्ञान ठीक ठीक होगा ही। इस अवस्थामें वे जो अपने मुखकी विशेषता जाननेके लिए दर्पण आदिका ग्रहण करते हैं, वह नहीं होना चाहिए। परन्तु उनकी प्रवृत्ति दर्पण आदिके परिग्रहमें होती है, अतः बिम्ब और प्रतिबिम्बका अभेद है, यह निर्विवाद है।

† समाधानका सारांश यह है कि बिम्ब और प्रतिबिम्बके स्वरूपतः भेदका निश्चय पूर्वोक्त युक्तियोंसे उन परीक्षकोंको यद्यपि है, तथापि प्रतिबिम्बमें बिम्बसमानाकारत्व नियमविशेषके परिज्ञानसे दर्पण आदिका ग्रहण करनेमें उनकी प्रवृत्ति होती है।

वस्तुतस्तु बिम्ब और प्रतिबिम्बमें अभेदपक्षकी कल्पना ही युक्त है, क्योंकि उसमें लाघव है और बिम्बप्रतिबिम्ब भावापन्नत्वरूपसे श्रुतिसिद्ध जीव और ब्रह्मके अभेदकी प्रतिपत्तिमें उपयोगी होनेके कारण लौकिक बिम्ब और प्रतिबिम्बका अभेद श्रुतिसे प्रमाणित भी है। प्रतिबिम्बभूत जीव ही जब ब्रह्माभिन्न हो सकता है, तो तदतिरिक्त पारमार्थिक अवच्छिन्न जीवकी आवश्यकता ही क्या है? बिम्ब और प्रतिबिम्बके अभेदमें 'यथा ह्ययं ज्योति०' इत्यादि श्रुति भी प्रमाण हो सकती है—जैसे एक सूर्य अनेक जल आदि उपाधियोंमें प्रतिबिम्बित होनेसे नाना होता है, और स्वतः एक ही है। इन प्रमाणोंसे बिम्ब और प्रतिबिम्बका अभेद ही सिद्ध होता है, भेद सिद्ध नहीं होता, इसलिए पूर्वोक्त विवरणकारका ही मत श्रेष्ठ है, यद्यपि सूक्ष्म विचारसे अभेदपक्ष ही ठीक है, इसीलिए भामती आदि ग्रन्थोंमें लौकिकबिम्ब और प्रतिबिम्बके दृष्टान्तसे ही जीव और ब्रह्मका अभेद व्यवस्थित किया गया है, तथापि यह प्रतिबिम्बोत्पत्तिप्रक्रिया मन्दाधिकारियोंके लिए अर्थात् उनको अपनी बुद्धिके अनुसार तत्त्वका अधिगम हो, इसलिए प्रतिपादित है। अधिकांश कृष्णालंकार टीका पृ० ३१६ काशी चौ० मु० में देखना चाहिए।

यत्तु 'नात्र मुखम्' इति दर्पणे मुखसंसर्गमात्रस्य बाधः, न मुखस्येति। तन्न; 'नेदं रजतम्' इत्यत्रापि इदमर्थे रजततादात्म्यमात्रस्य बाधो, न रजतस्येत्यापत्तेः। यदि च इदमंशे रजतस्य तादात्म्येनाऽध्यासाद् 'नेदं रजतम्' इति तादात्म्येन रजतस्यैव बाधः, न तादात्म्यमात्रस्य, तदा दर्पणे मुखस्य संसर्गितयाऽध्यासाद् 'नात्र मुखम्' इति संसर्गितया मुखस्यैव बाधः, न संसर्गमात्रस्येति तुल्यम्।

यत्तु धर्मिणोऽप्यध्यासकल्पने गौरवमिति, तद् रजताभासकल्पनागौरववत् प्रामाणिकत्वान्न दोषः। स्वनेत्रगोलकादिप्रतिबिम्बभ्रमस्थले बिम्बापरोक्ष्यकल्पनोपायाभावात्। नयनरश्मीनामुपाधिप्रतिहतानां बिम्बप्राप्तिकल्पने हि दृष्टविरुद्धं बह्वापद्यते। कथं हि जलसन्निकर्षे केषुचिन्न-

और पूर्वमें जो कहा गया है कि 'यहाँ मुख नहीं है, इस प्रकारका जो बाध होता है, वह दर्पणमें मुखसंसर्गका ही बाध होता है, मुखका बाध नहीं होता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) इस बाधस्थलमें भी तुल्ययुक्तिसे इदमर्थमें रजतके तादात्म्यमात्रका बाध प्रसक्त होगा, रजतका नहीं होगा। यह भी आपत्ति आ सकती है। यदि कहा जाय कि इदमंशमें रजतका तादात्म्यसे अध्यास होता है, इसलिए 'नेदं रजतम्' इससे तादात्म्येन रजतका ही बाध होता है, तादात्म्यमात्रका नहीं होता, तो हम भी इस रीतिसे कह सकते हैं कि दर्पणमें मुखका संसर्गरूपसे ही अध्यास होता है, अतः 'नात्र मुखम्' इससे संसर्गरूपसे मुखका ही बाध होता है, केवल संसर्गका बाध नहीं होता है।

और जो यह कहा है कि धर्मीके अध्यासकी कल्पनामें गौरव है, तो वह भी युक्त नहीं है, शुक्तिमें रजताध्यासकी कल्पनामें जैसे गौरव प्रामाणिक है, वैसे ही प्रतिबिम्बाध्यास भी * प्रामाणिक है, अतः गौरव दोष नहीं है। और स्वकीय नेत्रगोलक आदिके प्रतिबिम्बविभ्रमस्थलमें बिम्बभूत मुखकी अपरोक्षताकी कल्पनामें कोई हेतु भी नहीं है। यदि उक्त दोषके परिहारके लिए नयनकी रश्मियोंका उपाधिके आघातसे बिम्बके प्रति गमन माना जाय, तो प्रमाणविरुद्ध भी अनेक प्रसङ्ग आ सकते हैं। [इसी दृष्टविरुद्ध

* अर्थात् बाधकज्ञान उभयत्र समानरूपसे प्रमाण है, यह भाव है।

यनरश्मिषु अप्रतिहतमन्तर्गच्छत्सु अन्ये जलसम्बन्धेनाऽपि प्रतिहन्यमाना नितान्तमृदवः सकलनयनरश्मिप्रतिघातिनं किरणसमूहं निर्जित्य तन्मध्यगतं सूर्यमण्डलं प्रविशेयुः। कथं च चन्द्रावलोकन इव तत्प्रतिबिम्बावलोकनेऽपि अमृतशीतलं तद्बिम्बसन्निकर्षाविशेषे लोचनयोः शैत्याभिव्यक्त्या आप्यायनं न स्यात्। कथं च जलसम्बन्धेनाऽपि प्रतिहन्यमानाः शिलादिसम्बन्धेन न प्रतिहन्येरन्। तत्प्रतिहत्या परावृत्तौ वा नयनगोलकादिभिर्न संसृज्येरन्। तत्संसर्गे वा संसृष्टं न साक्षात्कारयेयुः। दोषेणापि हि विशेषांशग्रहणमात्रं प्रतिबध्यमानं दृश्यते, न तु सन्निकृष्टधर्मिस्वरूपग्रहणमपि।

प्रसङ्गका उपपादन करते हैं]। और जलके साथ सन्निकर्ष होनेपर कुछ नयनरश्मियाँ अप्रतिहतरूपसे भीतर (जलके अन्दर) जाती हैं, यह माननेपर भी जलके सम्बन्धसे प्रतिहत होनेवाले, अत एव सर्वथा कोमल अन्य रश्मियाँ—सम्पूर्ण नयनरश्मियोंका प्रतिघात करनेवाले सूर्यकिरणके समूहको जीत कर, अर्थात् उसको दबाकर उनके मध्यवर्ती सूर्यमण्डलमें कैसे प्रवेश करेंगी? अर्थात् कभी सूर्यमण्डलको ग्रहण नहीं कर सकती हैं। और बिम्बभूत चन्द्रके दर्शनके समान उसके प्रतिबिम्बके दर्शनसे भी नेत्रोंमें शैत्यकी अभिव्यक्ति द्वारा उष्णताकी शान्ति क्यों नहीं होती है? अर्थात् बिम्ब और प्रतिबिम्बका अभेद-माननेवालोंके पक्षमें प्रतिबिम्बके दर्शनसे भी नेत्रोंकी गर्मी शान्त होनी चाहिए, क्योंकि अमृतके समान अत्यन्त शीतल चन्द्रबिम्बके साथ सन्निकर्ष (बिम्ब प्रतिबिम्बाभेदवादियोंके मतमें) समान ही है। और जिन नेत्ररश्मियोंका जलादि जैसे पदार्थोंसे आघात होता है, उनका शिला आदिके सम्बन्धसे प्रतिघात क्यों नहीं होता है? अर्थात् शिलादिसे उनका प्रतिघात होना ही चाहिए, यह भाव है, यदि माना जाय कि शिला आदिसे भी प्रतिघात होता है, तो फिर लौटकर नयनगोलकके साथ सम्बन्ध क्यों नहीं होता है? यदि इसपर कहो कि नेत्रगोलकके साथ उनका सम्बन्ध होता है, तो वे नयनगोलक आदिका ग्रहण क्यों नहीं करती है? यदि दोषविशेषसे इस प्रश्नका परिहार करेंगे, तो उसका यही उत्तर है कि दोषसे विशेष अंशका केवल ग्रहण ही प्रतिबद्ध देखा जाता है, सन्निकृष्ट (सम्बद्ध) धर्मीके स्वरूपका ग्रहण प्रतिबद्ध नहीं देखा जाता है।

प्रतिमुखाध्यासपक्षे तु न किञ्चिद् दृष्टविरुद्धं कल्पनीयम् ।

तथा हि—अव्यवहितस्थूलोद्भूतरूपस्यैव चाक्षुषाध्यासदर्शनाद् बिम्बगतस्थौल्योद्भूतरूपयोः स्वाश्रयसाक्षात्कारकारणत्वेन क्लृप्तयोः स्वाश्रयप्रतिबिम्बाध्यासेऽपि कारणत्वम्, कुड्याद्यावरणद्रव्यस्य त्वगिन्द्रियादिन्यायेन प्राप्यकारितयाऽवगतनयनसन्निकर्षविघटनद्वारा व्यवहितवस्तुसाक्षात्कारप्रतिबन्धकत्वेन क्लृप्तस्य व्यवहितप्रतिबिम्बाध्यासेऽपि विनैव द्वारान्तरं प्रतिबन्धकत्वं च कल्पनीयम् । तत्र को विरोधः क्वचित् कारणत्वादिना क्लृप्तस्य फलबलादन्यत्रापि कारणत्वादिकल्पने ।

जिस पक्षमें बिम्ब और प्रतिबिम्बका अभेद न मानकर अनिर्वचनीय प्रतिबिम्बाध्यासकी ही उत्पत्ति मानी जाती है, उस पक्षमें किसी भी व्यवहार-विरुद्ध कारण या प्रतिबन्धककी कल्पना नहीं की जाती है ।

किसी प्रकारके व्यवधानसे रहित स्थूल और उद्भूत रूपवान्का ही चाक्षुष अध्यास लोकमें देखा जाता है, इससे बिम्बमें रहनेवाले स्थूलत्व और उद्भूतरूप, जो अपने आधारके प्रत्यक्षमें * कारणतारूपसे विनिश्चित हैं, वे आश्रयके प्रतिबिम्बाध्यासमें भी कारण हैं, ऐसी कल्पना कर सकते हैं। दिवाल आदि जितने आवारक द्रव्य हैं, वे—त्वगिन्द्रियके समान † प्राप्यकारित्वरूपसे निश्चित नेत्रके सन्निकर्षके विघटन द्वारा ही व्यवहित वस्तुके साक्षात्कारमें प्रतिबन्धक क्लृप्त हैं, अतः व्यवहितके प्रतिम्बाध्यासमें भी किसी द्वारविशेषकी अपेक्षा न करके ही वे प्रतिबन्धक हैं, ऐसी कल्पना की जाती है। कहींपर कारणत्व आदि रूपसे निश्चित वस्तुमें फलके बलसे यदि अन्यत्र भी कारणत्व आदिकी कल्पना की जाय, तो उसमें क्या विरोध है, अर्थात् कुछ भी विरोध नहीं है, यह भाव है ।

---

* अर्थात् महत्त्व और उद्भूतरूप इन दोनोंमें उनके आश्रयीभूत द्रव्यविषयक चाक्षुषप्रत्यक्षमात्रके प्रति कारणता है । यह पटादि प्रत्यक्ष स्थलमें देखा गया है, अतः क्लृप्त है ।

† जैसे त्वगिन्द्रिय विषयदेशको प्राप्त होकर ही उस विषयका ग्रहण करती है, वैसे ही चक्षुरिन्द्रिय भी विषयदेश को प्राप्त करके ही विषयका ग्रहण करती है, अतः उनको प्राप्यकारी कहा जाता है। अतः पूर्वमें—दिवाल आदिमें साक्षात्कार प्रतिबन्धकत्व माननेसे सन्निकर्षमात्रका विलोप प्रसङ्ग होगा, यह जो कहा था, वह निराकृत हुआ समझना चाहिए, क्योंकि सन्निकर्षमें हेतुत्वग्राहक प्रमाणके अनुरोधसे सन्निकर्षके विघटन द्वारा ही कुड्यादिमें प्रत्यक्षकी प्रतिबन्धकता मानी जाती है,

एतेनोपाधिप्रतिहतनयनरश्मीनां विम्बप्राप्त्यनुपगमे व्यवहितस्योद्भूतरूपादिरहितस्य च चाक्षुषप्रतिविम्बभ्रमप्रसङ्ग इति निरस्तम् ।

किं च तदुपगमे एव उक्तदूषणप्रसङ्गः । कथम् ? साक्षात् सूर्यावलोकन इव विना चक्षुर्विक्षेपमवनतमौलिना निरीक्ष्यमाणे सलिले ततः प्रतिहतानां नयनरश्मीनामूर्ध्वमुत्प्लुत्य विम्बसूर्यग्राहकत्ववत् तिर्यक्चक्षुर्विक्षेपं विना ऋजुचक्षुषा दर्पणे विलोक्यमाने तत्प्रतिहतानां पार्श्वस्थमुखग्राहकत्ववच्च वदनसाचीकरणाभावेऽप्युपाधिप्रतिहतानां पृष्ठभागव्यवहितग्राहकत्वं

इससे अर्थात् विम्बगत अव्यवहितत्व, स्थूलत्व और उद्भूतरूपत्व आदिकी प्रतिविम्बध्यासके प्रति हेतुता होनेसे—उपाधिसे आहत नयनरश्मियोंका विम्बके प्रति गमन न माना जाय, तो व्यवहित या उद्भूतरूप आदिसे रहित वस्तुका चाक्षुष प्रतिविम्बाध्यास प्रसक्त होगा—इस आपत्तिका भी निरास हुआ ही समझना चाहिए ।

किञ्च, आहत रश्मियोंका विम्बके प्रति गमन माननेमें ही व्यवहितका प्रतिविम्ब प्रसक्त होगा । कैसे होगा ? इस प्रकार होगा—जैसे साक्षात् गगनस्थ सूर्यमण्डलको देखनेके लिए चक्षुका विक्षेप (चक्षुको सूर्यकी ओर करना) आवश्यक है, परन्तु उसके विना अधोमुखसे निरीक्ष्यमाण जलमें उससे (जलसे) प्रतिहत नयनकी किरणें ऊपर जाकर विम्बका ग्रहण करती हैं, और जैसे [पार्श्वस्थ (समीपस्थ) पुरुषको ग्रहण करनेके लिए चक्षुके तिरछेपनकी आवश्यकता होती है] तिरछे देखे विना सीधे नेत्रोंसे देखे जाते हुए दर्पणमें उससे (दर्पणसे) प्रतिहत नेत्ररश्मियाँ पार्श्वस्थ मुखको ग्रहण करती हैं, वैसे ही वदनके साचीकरणके * विना भी दर्पण आदि उपाधिसे प्रतिहत रश्मियोंसे पृष्ठभागसे व्यवहित पदार्थोंका भी ग्रहण होना

प्रकृतमें प्रतिविम्बाध्यासमें कुड्यादिव्यवहित मुखादि साक्षात्प्रतिवन्धक माना जाय, तो भी कोई हानि नहीं है, अन्यथा प्रतिविम्बकी उत्पत्तिमें विम्बसन्निकर्षको कारण न माननेके कारण व्यवहित वस्तुका भी प्रसङ्ग आ सकता है, अतः दिवाल आदिसे व्यवहित मुखादिमें प्रतिविम्बोत्पत्तिकी प्रतिवन्धकता माननी चाहिए, यह भाव है ।

* चक्षुसे पृष्ठभागसे व्यवहित पदार्थका ग्रहण करनेमें उपयुक्त मुखका व्यापार अर्थात् पीछेके पदार्थको देखनेमें मुखको जो उसकी ओर घूमाना पड़ता है, इसी व्यापार की प्रकृतमें साचीकरणशब्दसे विवक्षा की गई है, यह भाव है ।

तावद् दुर्वारम् । उपाधिप्रतिहतनयनरश्मीनां प्रतिनिवृत्तिनियमं विहाय यत्र बिम्बं तत्रैव गमनोपगमात् । तथा मलिनदर्पणे श्यामतया गौरमुखप्रतिबिम्बस्थले विद्यमानस्यापि बिम्बगतगौररूपस्य चाक्षुषज्ञानेऽनुपयोगितया पीतशङ्खभ्रमन्यायेनारोप्यरूपवैशिष्ट्येनैव बिम्बमुखस्य चाक्षुषत्वं निर्वाह्यमिति, तथैव नीरूपस्यापि दर्पणोपाधिश्यामत्ववैशिष्ट्येन चाक्षुषप्रतिबिम्बभ्रमविषयत्वमपि दुर्वारम् । स्वतो नीरूपस्यापि नभसोऽध्यस्तनैल्यवैशिष्ट्येन

चाहिए, क्योंकि उपाधिसे प्रतिहत नेत्ररश्मियोंके प्रतिनिवृत्तिनियमका † परित्याग करके जहाँ बिम्ब हो, वहीं गमनका उपगम है। तथा इसी प्रकारसे ‡ मलिन दर्पणमें गौरमुखके प्रतिबिम्बित होनेपर उस प्रतिबिम्बका श्यामरूपसे भान होता है, गौर रूपसे नहीं, इससे बिम्बमें गौर रूपके रहनेपर भी उसका चाक्षुष ज्ञानमें उपयोग न होनेसे पीतशङ्खभ्रमन्यायसे * आरोपित रूपके सम्बन्धसे ही बिम्बकी चाक्षुषताका निर्वाह करना चाहिए, इस अवस्थामें नीरूप आकाश आदिका भी दर्पण आदिके श्यामत्व सम्बन्धसे चाक्षुषप्रतिबिम्बभ्रम हो सकता है, क्योंकि † आकाशके स्वतः नीरूप होनेपर भी अध्यस्त नैल्यके

† प्रतिनिवृत्तिनियम—नेत्रगोलकके अभिमुख विषयसे आहत रश्मियाँ फिर गोलकके द्वारा शरीरके भीतर जाती हैं, इस प्रकारका नियम।

‡ उपाधिप्रतिहत नयनरश्मियोंके प्रतिनिवृत्तिनियमाभाव पक्षमें पृष्ठभागव्यवहित प्रतिबिम्बकी आपत्ति हो सकती है, वैसे ही नीरूप वायुका भी चाक्षुष प्रतिबिम्ब प्रसक्त हो सकता है, इस प्रकार दूषणान्तरके समुच्चयके लिये तथा शब्द है।

* कवितार्किकमतके उपपादनके अवसरमें शंखका आरोप्य पीतरूपके सम्बन्धसे ही भ्रम हो सकता है, अन्यथा नहीं, यह कहा जा चुका है, इसी पीतशङ्खन्यायसे, यह भाव है।

वस्तुतस्तु 'द्रव्यके चाक्षुष प्रत्यक्षमें द्रव्यगत उद्भूतरूप ही कारण है' इस नियमके विद्यमान होनेसे नीरूप द्रव्यका चाक्षुष प्रतिबिम्ब—भ्रम हो ही नहीं सकता है। मलिन दर्पणमें गौर मुखके प्रतिबिम्ब भ्रमस्थलमें और पीतशङ्ख आदि भ्रमस्थलमें 'श्याम मुख' और 'पीतशङ्ख' इस प्रकारके भ्रमके पूर्वमें अध्यासके प्रति कारणभूत धर्मिज्ञानमें गौर और शुक्ल आदि कारण होनेसे उपयोगके अभावकी सिद्धि नहीं हो सकती है, अर्थात् बिम्बगत गौर रूप आदिकी उपयोगिता धर्मिज्ञानके लिए अवश्य है। द्रव्य चाक्षुषमें रूपविषयकत्वनियमाभाव कवितार्किकके मतमें दिखलाया भी जा चुका है।

† कवितार्किकमतसे ही आरोप्यरूपविशिष्टत्वेन आकाशका चाक्षुष ज्ञान माना जाता है, वस्तुतस्तु अन्य पूर्वाचार्योंको यह स्वीकृत नहीं है, उनके मतसे गगनमें समन्ताद् व्याप्त

चाक्षुषत्वसंप्रतिपत्तेः । तस्मात् स्वरूपतः प्रतिमुखाध्यासपक्ष एव श्रेयान् ।

सामान्यतोऽपि संस्कारो विशेषारोपकारणम् ।
स्वप्ने तथैव वाच्यत्वादिह बिम्बानुसारिता ॥ २२ ॥

सामान्यतः संस्कार विशेषारोपमें कारण होता है, क्योंकि स्वप्नमें अदृष्टानुरोधसे पुरुषाकृति विशेषका अध्यास कहा गया है, अतः प्रकृतमें बिम्बानुसारितासे मुखाकृतिका अध्यास होगा ॥ २२ ॥

न च तत्रापि पूर्वानुभवसंस्कारदौर्घट्यम्, पुरुषसामान्यानुभवसंस्कारमात्रेण स्वप्नेष्वदृष्टचरपुरुषाध्यासवन्मुखसामान्यानुभवसंस्कारमात्रेण दर्पणेषु मुखविशेषाध्यासोपपत्तेः ।

इयांस्तु भेदः—स्वप्नेषु शुभाशुभहेत्वदृष्टानुरोधेन पुरुषाकृतिविशेषा-

---

संसर्गसे चाक्षुषत्व माना गया है, इसलिए स्वरूपतः प्रतिबिम्बाध्यासकी उत्पत्ति होती है, यही पक्ष अधिकारी विशेषके लिए श्रेयस्कर है।

प्रतिबिम्बाध्यास पक्षमें अध्यासके कारण संस्कारकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि अध्यस्यमान मुखके सजातीय मुखका * पूर्वमें कदापि अनुभव हुआ ही नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है, कारण कि जैसे सामान्य पुरुषविषयक अनुभवसे जायमान संस्कारमात्रसे स्वप्नमें किसी समय अननुभूत पुरुषका अध्यास होता है, वैसे ही मुखके सामान्य अनुभवसे जायमान संस्कारमात्रसे दर्पणमें मुखविशेषका अध्यास हो सकता है ।

स्वप्न और प्रतिबिम्बाध्यासमें केवल इतना ही विशेष है कि स्वप्नमें शुभ और

सूर्यके आलोक आदिविषयक चाक्षुष वृत्तिसे आलोक आदिसे अवच्छिन्न चैतन्यकी अभिव्यक्तिके कालमें आलोक आदिमें अनुगत गगनसे अवच्छिन्न चैतन्यकी भी अभिव्यक्ति मानकर अभिव्यक्त गगनावच्छिन्न साक्षीमें नैल्य आदिका अध्यास मान कर नैल्य आदिसे विशिष्ट गगन साक्षीसे भासता है, यह प्रकृतमें ज्ञातव्य है ।

* पहले यह जो कहा गया है कि उपाधिसे प्रतिहत नयनरश्मियोंका बिम्बके प्रति गमन न माना जाय, तो अध्यस्यमान मुखसदृश मुखविषयक अनुभवके पूर्वमें न होनेके कारण अध्यासके कारण संस्कारकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है, अतः उपाधिसे टकर खाकर रश्मियाँ बिम्बको ग्रहण करती हैं, यह मानना चाहिए, इसका प्रकृत ग्रन्थसे खण्डन करते हैं ।

ध्यासः, इह तु बिम्बसन्निधानानुरोधेन मुखाकृतिविशेषाध्यास इति ।

न च प्रतिबिम्बस्य स्वरूपतो मिथ्यात्वे ब्रह्मप्रतिबिम्बजीवस्यापि मिथ्यात्वापत्तिर्दोषः । प्रतिबिम्बजीवस्य तथात्वेऽप्यवच्छिन्नजीवस्य सत्यतया मुक्तिभाक्त्वोपपत्तेरिति ।

न च्छाया नापि वस्त्वन्यत्प्रतिबिम्बमसंभवात् ।

प्रतिबिम्ब बिम्बकी न छाया है और न अन्य वस्तु है क्योंकि उन दोनोंका सम्भव नहीं है ।

यत्तु प्रतिबिम्बं दर्पणादिषु मुखच्छायाविशेषरूपतया सत्यमेवेति कस्यचिन्मतम्, तन्न । छाया हि नाम शरीरादेस्तत्तदवयवैरालोके कियद्देशव्यापिनि निरुद्धे तत्र देशे लब्धात्मकं तम एव । न च मौक्तिक-

---

अशुभके हेतुभूत अदृष्टके † अनुरोधसे पुरुषाकृतिविशेषका अध्यास होता है और प्रकृतमें बिम्बके सामीप्यके अनुरोधसे मुखाकृतिविशेषका अध्यास होता है ।

यदि प्रतिबिम्ब स्वरूपसे मिथ्या माना जाय, तो ब्रह्मके प्रतिबिम्ब जीवमें भी मिथ्यात्व प्रसक्त होगा, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रतिबिम्बभूत जीव मिथ्या है, तो भी अवच्छिन्न जीवके सत्यस्वरूप होनेसे मुक्तिभागिता हो सकती है ।

कुछ लोग कहते हैं कि दर्पण आदिमें दिखनेवाला प्रतिबिम्ब मुखकी छायाविशेष * है और वह सत्यस्वरूप ही है, परन्तु उन लोगोंका मत युक्त नहीं है, कारण कि शरीर आदिकी जो छाया है—वह कुछ देशमें व्याप्त आलोकके शरीरके उन-उन अवयवोंसे निरुद्ध होनेपर उन उन देशोंमें आनेवाला—तमोरूप ही है, अन्य कोई पदार्थ नहीं है, और मौक्तिक, माणिक्य

---

† प्रतिमुखके अध्यासमें मुखसामान्यानुभवजन्य संस्कार यदि कारण माना जाय, तो चैत्रमुख और दर्पणके परस्पर सान्निध्यमें अन्य मुखका भी स्वप्नके समान अध्यास प्रसक्त होगा, इसीका 'इयांस्तु' ग्रन्थसे उत्तर देते हैं ।

* यद्यपि वृक्ष आदिकी छायामें नैल्यका भास होता है, और प्रतिबिम्बमें प्रायः नैल्य नहीं देखा जाता है, इससे प्रतिबिम्बको छाया मानना एक प्रकारसे अनुचित सा ही है, तथापि उसको छायाविशेष माननेमें कोई दोष नहीं है अर्थात् वृक्ष आदिकी नीलरूप युक्त जैसे छाया है, वैसे ही दर्पण आदिमें पड़नेवाला प्रतिबिम्ब भी विलक्षण छायाभेद ही है, इसलिए बिम्बसे छायाके भिन्न होनेपर भी वृक्ष आदिकी छायाके समान वह सत्य ही है, असत्य नहीं है, क्योंकि छायाका लोकमें मिथ्यात्वेन ग्रहण नहीं हो सकता है इसी विशेष अर्थका सूचन करनेके लिए मूलकारने 'छायाविशेष'में विशेष पद दिया है, यह भाव है ।

माणिक्यादिप्रतिबिम्बस्य तमोविरुद्धसितलोहितादिरूपवतस्तमोरूपच्छायात्वं युक्तम्। न वा तमोरूपच्छायारहिततपनादिप्रतिबिम्बस्य तथात्वमुपपन्नम्।

ननु तर्हि प्रतिबिम्बरूपच्छायायास्तमोरूपत्वासम्भवे द्रव्यान्तरत्वमस्तु, क्लृप्तद्रव्यानन्तर्भावे तमोवद् द्रव्यान्तरत्वाकल्पनोपपत्तेरिति चेत्, तत् किं द्रव्यान्तरं प्रतीयमानरूपपरिमाणसंस्थानविशेषप्रत्यङ्मुखत्वादिधर्मयुक्तम्, तद्रहितं वा स्यात्? अन्त्ये न तेन द्रव्यान्तरेण रूपविशेषादि-

आदिका प्रतिबिम्ब, जो कि तमसे अत्यन्त विरुद्ध श्वेत और रक्त है, वह अन्धकाररूप छाया कैसे हो सकता है, अर्थात् किसी प्रकारसे भी मोती आदि की छाया अन्धकार रूप नहीं † हो सकती है। और अन्धकाररूप छायासे रहित सूर्यके प्रतिबिम्बको छाया रूप मानना युक्तियुक्त नहीं हो सकता है, अतः उनका मत तुच्छ है।

यदि पुनः इस विषयमें शङ्का हो कि प्रतिबिम्बरूप छाया अन्धकाररूप भले ही न हो सके, परन्तु अन्य द्रव्यरूप हो सकेगी, क्योंकि उसका पृथ्वी आदि द्रव्यमें अन्तर्भाव न होनेपर भी अन्धकारके समान * उसे अन्य द्रव्य मान सकते हैं, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस विषयमें विकल्प हो सकता है कि प्रतिबिम्बरूप वह द्रव्यान्तर क्या प्रतीयमान रूप, परिमाण, संस्थान-विशेष और प्रत्यङ्मुखत्व आदि धर्मोंसे युक्त है या उनसे रहित है? यदि द्वितीय पक्षका अङ्गीकार करो, तो उस कल्पित द्रव्यान्तरसे रूपविशेष

† तात्पर्य यह है कि अन्धकार द्रव्यका गुण है नीलरूप, मोती, माणिक्य, आदिके प्रतिबिम्ब छायामें भी क्रमशः श्वेत और रक्त (लोहित) रूप ही देखे जाते हैं, अतः उन्हें अन्धकार कैसे मान सकते हैं, क्योंकि वह अत्यन्त विरुद्ध है। यदि कथंचित् ऐसा मान भी लिया जाय, तो भी जिसकी कभी छाया (अन्धकार) ही नहीं है, ऐसे अन्धकारके अनाश्रय सूर्यका जल आदिमें प्रतिबिम्ब देखा जाता है, उस प्रतिबिम्बको अन्धकाररूप छाया कैसे मान सकते हैं, अतः प्रतिबिम्बको अन्धकाररूप छाया नहीं मान सकते हैं। अत एव छायाके दृष्टान्तसे उसे सत्य भी नहीं मान सकते हैं, यह प्रतिबिम्बमिथ्यात्ववादियोंका मत है।

* यद्यपि नैयायिक लोग अन्धकारको प्रकृष्ट प्रकाशक तेजोभावरूप मानते हैं, तथापि सिद्धान्तमें वह अभावरूप नहीं है, किन्तु पृथ्वी आदि नौ द्रव्योंके समान दशम द्रव्यरूप माना गया है, इसी प्रकार प्रतिबिम्बको भी अन्धकारके समान एकादशवाँ द्रव्य मानेंगे, यह भाव है।

घटितप्रतिबिम्बोपलम्भनिर्वाह इति व्यर्थं तत्कल्पनम्। प्रथमे तु कथमेकस्मिन्नल्पपरिमाणे युगपदसंकीर्णतया प्रतीयमानानां महापरिमाणानामनेकमुखप्रतिबिम्बानां सत्यतानिर्वाहः? कथं च निबिडावयवानुस्यूते दर्पणे तथैवाऽवतिष्ठमाने तदन्तर्हनुनासिकाद्यनेकनिम्नोन्नतप्रदेशवतो द्रव्यान्तरस्योत्पत्तिः? किं च सितपीतरक्ताद्यनेकवर्णादिमतः प्रतिबिम्बस्योत्पत्तौ दर्पणमध्ये स्थितं तत्सन्निहितं न तादृशं कारणमस्ति।

यद्युच्येत—'उपाधिमध्यविश्रान्तियोग्यपरिमाणानामेव प्रतिबिम्बानां महापरिमाणज्ञानं तादृशनिम्नोन्नतादिज्ञानं च भ्रम एव। यथापूर्वं दर्पण-

---

आदिसे युक्त उपलभ्यमान प्रतिबिम्बका निर्वाह नहीं हो सकता है, अतः ऐसे निरर्थक द्रव्यान्तरको मानना† अयुक्त है। प्रथम पक्ष मानो, तो अल्प परिमाणवाले एक ही दर्पणमें युगपत् (एक कालमें) असंकीर्णरूपसे प्रतीयमान बड़े परिमाणवाले अनेक मुखप्रतिबिम्बोंमें सत्यताका निर्वाह कैसे हो सकेगा ‡। अर्थात् सत्यताका निर्वाह नहीं हो सकेगा। और दूसरी बात यह भी है कि अत्यन्त घने अवयवोंसे अनुस्यूत दर्पण, जो ज्योंका त्यों है, उसमें हनु, नासिका आदि अनेक निम्न उन्नत प्रदेशोंसे युक्त अन्य द्रव्यकी उत्पत्ति भी कैसे हो सकती है? किञ्च, श्वेत, पीत, रक्त आदि अनेक रङ्गोंसे युक्त प्रतिबिम्बकी उत्पत्तिमें दर्पणके भीतर स्थित, अथवा उसके समीपवर्ती कोई श्वेत आदि वर्णोंसे युक्त कारण भी नहीं है, जिससे कि उस प्रतिबिम्बात्मक द्रव्यान्तरकी उत्पत्ति भी हो सके।

यदि कहा जाय कि दर्पण आदि उपाधियोंके बीचमें जिस परिमाणसे विश्रान्ति कर सके, ऐसे ही परिमाणसे युक्त प्रतिबिम्ब उत्पन्न होते हैं, और उनमें महापरिमाणका जो अवभास होता है और हनु, नासिका आदि जो निम्नोन्नतादि ज्ञान होता है, वह भ्रमात्मक ही है। एवं उसके अवयवोंकी अव-

---

† अर्थात् प्रतिबिम्बको रूपादिरहित माननेपर रूपादियुक्त प्रतिबिम्बका जो प्रत्यक्ष होता है, उसके साथ विरोध होगा, यह भाव है।

‡ तात्पर्य यह है कि छोटे दर्पणमें एक कालमें ही अनेक बड़े बड़े असंकीर्णरूपसे प्रतीयमान प्रतिबिम्बोंके द्रव्यान्तर होनेपर भी उन्हें सत्यस्वरूप नहीं मान सकते हैं। मिथ्या माननेपर तो जैसे स्वप्नावस्थामें छोटे शरीरान्तराकाशमें बड़े बड़े रथ, गज आदिका उपलम्भ होता है, वैसे ही स्वल्प परिमाणवाले दर्पणोंमें उनकी उपपत्ति हो सकती है।

तदवयवावस्थानाविरोधेन तादृक्प्रतिबिम्बोत्पादनसमर्थं च किञ्चित् कारणं कल्प्यम्' इति । तर्हि शुक्तिरजतमपि सत्यमस्तु । तत्रापि शुक्तौ यथापूर्वं स्थितायामेव तत्तादात्म्यापन्नरजतोत्पादनसमर्थं किञ्चित्कारणं परिकल्प्य तस्या रजतस्य दोषत्वाभिमतकारणसहकृतेन्द्रियग्राह्यत्वनियमवर्णनोपपत्तेः किं 'शुक्तिरजतमसत्यम्, प्रतिबिम्बः सत्यः' इत्यर्धजरतीयन्यायेन । न च तथा सति 'रजतम्' इति दृश्यमानायाः शुक्तेरग्नौ प्रक्षेपे रजतवद् द्रवीभा-

स्थिति पूर्ववत् ही रहे, इसलिए उनका अविरोधी तथा उस प्रतिबिम्बके उत्पादनमें समर्थ किसी कारण द्रव्यकी भी कल्पना करनी चाहिए * । इसलिए प्रतिबिम्बके द्रव्यान्तर और सत्य होनेमें कोई विरोध नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है; क्योंकि इस युक्तिसे शुक्तिरजत भी सत्य हो जायगा । अर्थात् शुक्तिरजतमें भी यथापूर्व अवस्थित शुक्तिमें ही शुक्तितादात्म्यापन्न रजतके उत्पादनमें समर्थ किसी कारणविशेषकी कल्पना करके उस रजतमें दोषत्वसे अभिमत कारण† सहकृत इन्द्रियग्राह्यत्व नियमको मानकर उपपत्ति हो सकती है फिर 'शुक्तिरजत असत्य है' और प्रतिबिम्ब सत्य है ? इस अर्धजरतीयन्यायके ‡ अङ्गीकारका प्रयोजन ही क्या है ? यदि शङ्का हो कि शुक्तिरजतको सत्य नहीं मान सकते हैं, कारण कि उनके सत्य होनेपर रजतरूपसे देखी गई शुक्ति का अग्निमें प्रक्षेप करनेपर रजतके समान द्रवीभावकी आपत्ति होगी, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि अग्नि और कस्तूरीके प्रतिबिम्बमें जैसे उष्णता और

* जैसे दीवारके अवयवोंमें मोतीके अवयव भीतातकोंने माने हैं, वैसे ही दर्पणके अवयवोंमें संसृष्ट प्रतिबिम्बके अवयवोंकी भी कल्पना करनी चाहिए, यह तात्पर्य है । यहाँ शङ्का करनेवालेका भाव यह है कि प्रतिबिम्ब स्वयं सत्य है और उसमें प्रतीयमान धर्म असत्य हैं ।

† यदि शुक्तिरजत सत्य माना जायगा तो उसका अस्तित्व सदा शुक्तिमें होनेके कारण शुक्ति-प्रत्यक्षकालमें भी रजतका प्रत्यक्ष होना चाहिए, इस शङ्काका इस नियमसे परिहार किया गया अर्थात् शुक्तिमें रजतके होनेपर भी उसका प्रत्यक्ष तभी होगा जब इन्द्रिय दोषसहकृत होगी, अतः पूर्वोक्त दोष नहीं आ सकता है, यह भाव है ।

‡ जरती—वृद्धा, उसके आधे हिस्सेकी सुरत आदिकी अभिलाषा करना और अवशिष्ट भागकी इच्छा नहीं करना, इसमें कोई युक्ति नहीं है, वैसे प्रकृतमें शुक्तिरजतको मिथ्या मानना और प्रतिबिम्बको सत्य मानना, युक्तिविधुर है ।

वापत्तिः । अनलकस्तूरिकादिप्रतिबिम्बस्यौष्ण्यसौरभादिराहित्यवच्छुक्तिरजतस्य द्रवीभावयोग्यताराहित्योपपत्तेः ।

अथोच्येत—'नेदं रजतम्', 'मिथ्यैव रजतमभाद्' इति सर्वसंप्रतिपन्नबाधान्न शुक्तिरजतं सत्यम्' इति । तर्हि 'दर्पणे मुखं नास्ति, मिथ्यैवात्र दर्पणे मुखमभाद्' इत्यादिसर्वसिद्धबाधात् प्रतिबिम्बमप्यसत्यमित्येव युक्तम् । तस्मादसङ्गतः प्रतिबिम्बसत्यत्ववादः ।

नन्वध्यासोऽप्ययुक्तोऽस्योपादानाज्ञानसंक्षयाद् ॥ २३ ॥

प्रतिबिम्ब मिथ्या है यह कथन भी अयुक्त है क्योंकि शुक्तिरजतके समान उसके उपादान कारण अज्ञान का नाश हो गया है ॥ २३ ॥

ननु तन्मिथ्यात्ववादोऽप्ययुक्तः, शुक्तिरजत इव कस्यचिदन्वय-

सौगन्ध्य नहीं है, वैसे ही शुक्तिरजतमें द्रवीभावकी योग्यता नहीं है, इस प्रकार कह सकते हैं ।

यदि कहा जाय कि 'यह रजत नहीं है' 'मिथ्या ही रजत देखा गया' इस प्रकार जगत्प्रसिद्ध बाधसे शुक्तिरजत सत्य नहीं हो सकता, तो तुल्ययुक्त्या यह भी कह सकते हैं कि दर्पणमें * मिथ्या ही मुख देखा गया, इस प्रकारके सर्वजनीन बाधके अनुभवसे प्रतिबिम्ब भी असत्य हो सकता है । इसलिए प्रतिबिम्ब सत्यत्ववाद असङ्गत है ।

यदि शङ्का † हो कि प्रतिबिम्बका मिथ्यात्ववाद भी युक्तिहीन ही है,

---

* जिस पक्षमें बिम्ब और प्रतिबिम्बका अभेद है, उस पक्षमें प्रतिबिम्बमें जो मिथ्यात्वका अनुभव होता है, वह प्रतिबिम्बत्वरूपसे प्रतिबिम्बको विषय करता है, स्वरूपतः प्रतिबिम्बको विषय नहीं करता है, यह ज्ञातव्य है । यदि शङ्का हो कि शुक्तिरजतमें जो मिथ्यात्वक अनुभव होता है, वह इदमर्थ तादात्म्यापन्नत्वरूपसे रजतको विषय करता है, स्वरूपतः रजतको विषय नहीं करता है, इस प्रकार शुक्तिरजतस्थलमें कहकर रजत और इदमर्थका तादात्म्य ही कल्पित है, रजत कल्पित नहीं है ? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि शुक्तिमें अनिर्वचनीय रजतकी उत्पत्ति यदि नहीं मानी जायगी, तो रजतका प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता है, अतः उसकी उत्पत्ति अवश्य माननी चाहिए। उसकी उत्पत्तिमें अन्वय और व्यतिरेकसे अनिर्वचनीय अज्ञान ही कारण है, अन्य नहीं है, अतः वह मिथ्या ही हो सकता है, क्योंकि शुक्तिरजतमें सत्यत्वसाधक अनन्यथासिद्ध कोई प्रमाण नहीं है, जैसे कि बिम्ब और प्रतिबिम्बके अभेद पक्षमें प्रतिबिम्बमें सत्यत्वसाधक प्रमाण पूर्वमें हैं । अतः शुक्तिरजतमें मिथ्यात्वावगाही अनुभव स्वरूपतः रजतका अवगाहन करता है इससे शुक्तिरजत मिथ्या ही है, यह भाव है ।

† प्रतिबिम्बाध्यासमें अज्ञान उपादान कारण नहीं है, क्योंकि दर्पण आदि अधिष्ठानोंकी

व्यतिरेकशालिनः कारणस्याऽज्ञानस्य निवर्तकस्य च ज्ञानस्य चाऽनिरूपणात् ।

अथ केचिदाविद्याऽत्राऽऽवरणांशे विनश्यति ।
विक्षेपांशे तु बिम्बादिप्रतिबद्धाऽस्य कारणम् ॥ २४ ॥

इसपर कुछ लोग कहते हैं कि यहांपर अज्ञानका आवरण अंशसे नाश हो जाता है और विक्षेप अंशसे अज्ञान रहता है। वही बिम्बसम्बद्ध प्रतिबिंम्ब मुखका कारण होता है ॥ २४ ॥

अत्र केचित्—यद्यपि सर्वात्मनाऽधिष्ठानज्ञानानन्तरमपि जायमाने प्रतिबिम्बाध्यासे नाऽधिष्ठानावरणमज्ञानमुपादानम्, न वाऽधिष्ठानविशेषांशज्ञानं निवर्तकम्, तथाऽप्यधिष्ठानाज्ञानस्यावरणशक्त्यंशेन निवृत्तावपि विक्षेप-

---

क्योंकि शुक्तिरजतके समान किसी अन्वय और व्यतिरेकसे युक्त अज्ञानरूप कारणका और निवर्तक ज्ञानका निरुपण नहीं ‡ हो सकता है ?

इस आक्षेपके समाधानमें कुछ लोग कहते हैं कि यद्यपि सामान्य और विशेषरूपसे* अधिष्ठानके ज्ञानके अनन्तर उत्पन्न होनेवाले प्रतिबिम्बाध्यासमें अधिष्ठानका आवारक अज्ञान उपादान नहीं है और अधिष्ठानके विशेपांशका ज्ञान प्रतिबिम्बाध्यासका निवर्तक नहीं है, तथापि आवरणशक्तिसे युक्त

अधिगति सर्वात्मना होनेके कारण अज्ञान निवृत्त हो गया है, और अधिष्ठान साक्षात्कारके रहते प्रतिबिम्बाध्यासकी अनुवृत्ति होनेके कारण ज्ञान अधिष्ठानज्ञान निवर्त्यत्वरूप मिथ्यात्व भी उसमें नहीं है, अतः प्रतिबिम्ब मिथ्यात्ववाद असङ्गत है, यह पूर्वपक्षका भाव है।

‡ जैसे शुक्तिरजत प्रकरणमें शुक्तिका अज्ञान अन्वय और व्यतिरेकसे शुक्तिरजताध्यासका कारण है, जैसा कि निरूपण किया जा चुका है, वैसे प्रतिबिम्बाध्यासमें दर्पणका अज्ञान होनेपर प्रतिबिम्बाध्यास होगा और उसके अभावमें नहीं होगा। इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेकसे युक्त अज्ञानका निरूपण नहीं कर सकते हैं और प्रतिबिम्बाध्यासका निवर्तक ज्ञान भी उपलब्ध नहीं होता है, अतः प्रतिबिम्बमिथ्यात्ववाद असङ्गत है।

* शुक्तिमें जब रजतका अध्यास होता है, तब पूर्वमें शुक्तिका इदन्त्वसामान्यरूपसे ज्ञान होता है शुक्तित्वादिविशेषरूपसे नहीं होता है, अतः शुक्तिरजतमें अधिष्ठानके विशेषका आवरण अज्ञान उपादान हो सकता है, प्रकृतमें प्रतिबिम्बाध्यासके पूर्वमें इदन्त्व सामान्यसे और दर्पणत्वविशेषसे अधिष्ठानका साक्षात्कार होनेके कारण सर्वांशमें ही दर्पण आदिका साक्षात्कार है, अतः अधिष्ठानविशेषांशावरणरूप अज्ञानके निवृत्त होनेके कारण वह प्रतिबिम्बाध्यासके प्रति उपादान नहीं हो सकता है, यह ठीक है, तथापि अज्ञानके एकदेशकी निवृत्ति होनेके कारण अवशिष्टविक्षेपांशयुक्त अज्ञान ही प्रतिबिम्बाध्यासके प्रति उपादान है, अतः विरोध नहीं है, यह भाव है।

शक्त्यंशेनानुवृत्तिसम्भवात् तदेवोपादानम् । बिम्बोपाधिसन्निधिनिवृत्ति-सचिवं चाऽधिष्ठानज्ञानं सोपादानस्य तस्य निवर्तकमिति ।

मूलाविद्याऽथवा हेतुर्विक्षेपांशेन संस्थिता ।
बिम्बादिदोपजन्यत्वान्मिथ्येत्यन्ये प्रचक्षते ॥ २५ ॥

अथवा विक्षेप अंशसे स्थित मूलाऽविद्या प्रतिबिम्बाध्यासकी हेतु है बिम्ब आदिके दोषसे जन्य होनेके कारण प्रतिबिम्ब मिथ्या है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं ॥ २५ ॥

अन्ये तु ज्ञानस्य विक्षेपशक्त्यंशं विहायाऽऽवरणशक्त्यंशमात्रनिवर्तकत्वं न स्वाभाविकम्, ब्रह्मज्ञानेन मूलाज्ञानस्य शुक्त्यादिज्ञानेनाऽवस्थाऽज्ञानस्य चाऽऽवरणशक्त्यंशमात्रनिवृत्तौ तस्य विक्षेपशक्त्या सर्वदाऽनुवृत्तिप्रसङ्गात् । न च बिम्बोपाधिसन्निधिरूपविक्षेपशक्त्यंशनिवृत्तिप्रतिबन्धकप्रयुक्तं तत् । बिम्बोपाधिसन्निधानात् प्रागेव बिम्बे चैत्रमुखे दर्पणसंसर्गाद्य-

अधिष्ठानके अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर भी विक्षेपशक्तिरूप अंशसे युक्त अज्ञानकी अनुवृत्ति होनेसे वही विक्षेपशक्तिरूप अंशसे युक्त अज्ञान प्रतिबिम्बाध्यासके प्रति कारण है । बिम्ब और उपाधिकी सन्निधिकी निवृत्तिसे युक्त अधिष्ठानज्ञान (दर्पणमें मेरा मुख नहीं है) उपादानसहित अध्यासका निवर्तक है ।

कुछ लोग तो कहते हैं कि अज्ञानके विक्षेपशक्तिरूप अंशको छोड़कर केवल आवरणशक्त्यंशका निवर्तक ज्ञान स्वभावतः नहीं हो सकता है, क्योंकि, ब्रह्मज्ञानसे मूलाज्ञानका और शुक्ति आदिके ज्ञानसे अवस्थारूप अज्ञानका केवल आवरण शक्त्यंश ही यदि निवृत्त होगा, तो विक्षेपशक्त्यंशसे युक्त अज्ञानकी सर्वदा अर्थात् विदेहकैवल्यावस्थामें भी अनुवृत्ति प्रसक्त होगी। यदि शङ्का हो कि बिम्ब और उपाधि (दर्पण आदि) के सान्निध्यरूप विक्षेप शक्त्यंशकी निवृत्तिके प्रतिबन्धकसे युक्त ही ज्ञान केवल आवरण शक्त्यंशको निवृत्त करता है, स्वभावतः नहीं, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि * बिम्ब और दर्पण आदि उपाधिके आभिमुख्यलक्षण

* प्रतिबिम्ब और बिम्बके अभेदपक्षमें प्रतिबिम्बकी उत्पत्ति न होनेपर भी बिम्बभूत चैत्रके मुखमें बिम्बत्व और प्रतिबिम्बत्व आदि अनिर्वचनीय धर्म उत्पन्न होते हैं, ऐसा माना गया है, अतः चैत्रके मुखावच्छिन्न चैतन्यमें रहनेवाला अज्ञान ही उसका कारण होगा, दर्पणकी सन्निधिके पूर्वमें विष्णुमित्र द्वारा चैत्रमुखके निरीक्ष्यमाण होनेपर उस समय प्रतिबन्धकके न रहनेसे चैत्रमुखविषयक विष्णुमित्रके साक्षात्कारसे विक्षेपशक्तिसे युक्त उस अज्ञानकी निवृत्ति

भावे दर्पणे चैत्रमुखाभावे वा प्रत्यक्षतोऽवगम्यमाने विक्षेपशक्त्यंशस्यापि निवृत्त्यवश्यम्भावेन तत्काले तयोस्सन्निधाने सति उपादानाभावेन प्रतिबिम्बभ्रमाभावप्रसङ्गात् । अतो मूलाज्ञानमेव प्रतिबिम्बाध्यासस्योपादानम् । न चाऽत्राऽप्युक्तदोषतौल्यम् । पराग्विषयवृत्तिपरिणामानां स्वस्वविषयावच्छिन्नचैतन्यप्रदेशे मूलाज्ञानावरणशक्त्यंशाभिभावकत्वेऽपि तदीयविक्षेपशक्त्यंशानिवर्तकत्वात् । अन्यथा तत्प्रदेशस्थितव्यावहारिकविक्षेपाणामपि विलयापत्तेः ।

सन्निधानके पूर्वक्षणमें ही बिम्बभूत चैत्रके मुखमें दर्पणस्थत्व आदि दर्पणसंसर्गके अभावका अर्थात् चैत्रमुखमें दर्पणस्थत्वादि नहीं हैं, इस प्रकारके अभावका अथवा दर्पणमें चैत्रका मुख नहीं है, इस प्रकार प्रत्यक्षसे दर्पणमें चैत्रमुखके अभावका ग्रहण होनेपर प्रतिबन्धकके न रहनेसे विक्षेपशक्त्यंशसे युक्त अज्ञानकी भी निवृत्ति अवश्य होगी, इस परिस्थितिमें विक्षेपशक्त्यंशनिवर्तक साक्षात्कारकी उत्पत्तिके द्वितीय क्षणमें चैत्रमुख और उपाधिका सान्निध्य होनेपर भी उपादानके (विक्षेपशक्त्यंशयुक्त अवस्थारूप अज्ञानके) न होनेके कारण अधिष्ठानसे युक्त विष्णुमित्रको 'दर्पणमें चैत्रमुख है' इस प्रकार प्रतिबिम्बाध्यास नहीं होगा, अतः—अवस्थारूप अज्ञानके प्रतिबिम्बाध्यासके प्रति कारण न होनेसे—उसके प्रति मूलाज्ञानको ही उपादानकारण मानना चाहिए । यदि शङ्का हो कि इसमें भी पूर्वोक्त दोष तुल्य ही है, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि पुरोवर्ती घटादिविषय आकारसे परिणत अन्तःकरणकी वृत्तियां यद्यपि अपने-अपने विषयावच्छिन्न चैतन्यप्रदेशमें मूलाज्ञानके आवरण शक्त्यंशकी निवृत्ति करती हैं, तथापि वे वृत्तियाँ अज्ञानके विक्षेपांशकी निवृत्ति नहीं करती हैं, ऐसा अभ्युपगम है । यदि यह न माना जाय, तो उस-उस प्रदेशमें स्थित व्यावहारिक विषयोंका भी विलोप हो जायगा ।

होती है। उत्तर क्षणमें ही चैत्रमुखका दर्पणाभिमुख्य होनेपर विष्णुमित्रको 'दर्पणमें चैत्रका मुख है' इस प्रकार भ्रम होता, उसमें दर्पणस्थत्व आदिकी उत्पत्ति नहीं होगी, क्योंकि विक्षेपशक्तिसे युक्त अज्ञानरूप उपादान नहीं है, इस अभिप्रायसे 'बिम्बोपाधि' इत्यादिसे उपाधिसन्निधानरूप विक्षेपशक्त्यंशनिवृत्तिप्रतिबन्धकप्रयुक्त ज्ञानमें आवरणशक्त्यंश निवर्तकत्वका खण्डन किया जाता है, यह भाव है ।

न च प्रतिबिम्बस्य मूलाज्ञानकार्यत्वे व्यावहारिकत्वापत्तिः । अविद्यातिरिक्तदोषाजन्यत्वस्य व्यावहारिकत्वप्रयोजकत्वात् । प्रकृते च तदतिरिक्तबिम्बोपाधिसन्निधानदोषसद्भावेन प्रातिभासिकत्वोपपत्तेः ।

बिम्बापसरणाध्यक्षाद्विक्षेपांशस्य बाधनम् ।

विरोधादथवा ब्रह्मज्ञानेनैवास्य बाधनम् ॥ २६ ॥

बिम्बकी सन्निधिकी निवृत्तिसे युक्त अधिष्ठानसाक्षात्कारसे विक्षेप अंश का बाध होता है, क्योंकि दोनोंका परस्पर विरोध है अथवा केवल ब्रह्मज्ञानसे ही विक्षेप अंशका नाश होता है ॥ २६ ॥

न चैवं सति बिम्बोपाधिसन्निधिनिवृत्तिसहकृतस्याप्यधिष्ठानज्ञानस्य प्रतिबिम्बाध्यासानिवर्तकत्वप्रसङ्गः, तन्मूलाज्ञाननिवर्तकत्वाभावादिति वाच्यम्, विरोधाभावात् । ब्रह्माज्ञानानिवर्तकत्वेऽपि तदुपादानक-

---

यदि शङ्का हो कि प्रतिबिम्बाध्यासके प्रति मूलाज्ञान उपादान माना जायगा, तो घटादिके समान वे भी व्यावहारिक होंगे, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि व्यावहारिकत्वके प्रति केवल अविद्या ही कारण होती है, और यहांपर अविद्यासे अतिरिक्त बिम्ब और उपाधिके सान्निध्य आदि दोषोंका भी कारणत्वरूपसे अवस्थान होनेसे व्यावहारिकत्वकी आपत्ति नहीं हो सकती है, किन्तु प्रातिभासिकत्वकी ही उपपत्ति हो सकती है ।

यदि पुनः शङ्का हो कि प्रतिबिम्बाध्यास मूलाज्ञानका कार्य होगा, तो बिम्ब और उपाधिके सान्निध्यकी निवृत्तिसे युक्त अधिष्ठानसाक्षात्कार भी प्रतिबिम्बाध्यासका निवर्तक नहीं हो सकेगा, क्योंकि शुक्तिरजत आदि स्थलमें केवल अधिष्ठानका साक्षात्कार ही निवर्तक देखा गया है, अतः उक्त सान्निध्यनिवृत्तिसहकृत अधिष्ठानसाक्षात्कार मूलाज्ञानका निवर्तक नहीं हो सकता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि विरोधके न होनेसे * अधिष्ठानसाक्षात्कार ब्रह्माज्ञानका निवर्तक न होनेपर भी ब्रह्माज्ञान (मूलाज्ञान) है उपादान

---

* ज्ञान और अज्ञानका वहींपर ही विरोध होता है, जहाँपर वे दोनों समानविषयक हों, इसीसे पटाज्ञानकी घटज्ञानसे निवृत्ति नहीं होती है । प्रकृतमें मूलाज्ञान ब्रह्मविषयक है, और प्रतिबिम्बाध्यासका अधिष्ठानसाक्षात्कार दर्पणाद्यवच्छिन्न चैतन्यविषयक है, अतः उनका समानविषयकत्वरूप विरोधका प्रयोजक न होनेसे विरोध नहीं है, अतः यदि उक्त अधिष्ठानके ज्ञानको ब्रह्माज्ञानका निवर्तक न माना जाय, तो भी ग्रन्थोक्तरीतिसे अधिष्ठानज्ञानमें अध्यासके निवर्तकत्वकी उपपत्ति हो सकती है, यह भाव है ।

प्रतिबिम्बाध्यासविरोधिविषयकतयाऽधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानस्य प्रतिबन्धकविरहसचिवस्य तन्निवर्तकत्वोपपत्तेः। अवस्थाऽज्ञानोपादानत्वपक्षेऽपि तस्य प्राचीनाधिष्ठानज्ञाननिवर्तितावरणशक्तिकस्य समानविषयत्वभङ्गेन प्रतिबन्धकाभावकालीनाधिष्ठानज्ञानेन निवर्तयितुमशक्यतया प्रतिबिम्बाध्यासमात्रस्यैव तन्निवर्त्यत्वस्योपेयत्वात्। अथवा स्वोपादानाज्ञाननिवर्तकब्रह्मज्ञान-

जिसका, ऐसे प्रतिबिम्बाध्यासके प्रति विरोधिविषयक होनेसे—'दर्पणमें मुख नहीं है, इत्यादिरूप अधिष्ठानयथार्थज्ञानके अभावविषयक होनेसे—प्रतिबन्धक (उक्त सन्निधान) की निवृत्तिसहकृत अधिष्ठानयथार्थज्ञान मूलाज्ञानका निवर्तक हो सकता है। जो लोग अवस्थारूप अज्ञानको प्रतिबिम्बाध्यासका उपादान मानते हैं, उनके पक्षमें भी * अवस्थारूप अज्ञानके, जिसकी कि आवरणशक्ति 'दर्पणमें मुख नहीं है' इस प्रकारके प्रतिबिम्बाध्यासके प्राक्तन अधिष्ठानसाक्षात्कारसे निवृत्त हो गई है, † समानविषयत्वका भङ्ग होनेसे बिम्ब और उपाधिकी सन्निधिरूप प्रतिबन्धकके अभावकालीन अधिष्ठानज्ञानसे उस अवस्थारूप अज्ञानकी निवृत्ति नहीं कर सकते हैं, अतः प्रतिबिम्बाध्यासमात्र ही अधिष्ठानसाक्षात्कारसे निवृत्त होता है, ऐसा माना गया है। ‡ अथवा प्रतिबिम्बाध्यासके प्रति उपादानभूत अज्ञानके निवर्तक ब्रह्मज्ञानसे

* जिस पक्षमें प्रतिबिम्बाध्यासको अवस्थारूप अज्ञानसे जन्य मानते हैं, उस पक्षमें भी बिम्ब और उपाधिके सान्निध्यकी निवृत्तिसे युक्त अधिष्ठानसाक्षात्कार ही उस अध्यासके उपादानका (अज्ञानका) निवर्तक होता है, यह मानना होगा, इसीसे ज्ञान अज्ञानका ही निवर्तक है और अज्ञानका कार्य तो उपादानकी निवृत्तिसे निवृत्त होता है, इस प्रकारका पञ्चपादिकाकारका वचन सार्थक होता है, इस प्रकार आशङ्का करके अवस्थारूप अज्ञानके उपादानत्वपक्षसे प्रतिबिम्बाध्यासकी निवृत्तिका प्रकार बतलाते हैं, यह भाव है।

† आवरणके विनष्ट होनेपर दर्पणाद्यवच्छिन्न चैतन्य अवस्थारूप अज्ञानका विषय नहीं हो सकता है, अतः अधिष्ठानज्ञान अवस्थारूप अज्ञानका समानविषयक नहीं होगा, इस परिस्थितिमें उनका परस्पर निवर्त्य-निवर्तकभाव नहीं हो सकता है, केवल प्रतिबिम्बाध्यासमात्रकी ही निवृत्ति ज्ञान करता है, यह अवस्थारूप अज्ञानके प्रतिबिम्बाध्यासोपादानत्वपक्षमें मानना होगा, यह भाव है।

‡ उक्त पक्षके अनुसार निवर्त्यनिवर्तकभावकी उपपत्ति करनेपर भी 'ज्ञान अज्ञानका ही निवर्तक है, इस पञ्चपादिकाकारके वचनके साथ अविरोध नहीं होता है, अतः 'अथवा' पक्ष है।

निवर्त्य एवायमध्यासोऽस्तु । व्यावहारिकत्वापत्तिस्तु अविद्यातिरिक्तदोष-जन्यत्वेन प्रत्युक्तेत्याहुः ॥ ४ ॥

सुषुप्त्याख्यं तमोऽज्ञानं तद्बीजं स्वप्नबोधयोः ।
इत्याचार्योक्तितः स्वाप्नाध्यासोऽप्येवं प्रतीयताम् ॥ २७ ॥

जो सुषुप्तिनामक अज्ञानरूप अंधकार है वह स्वप्न और जागरणका कारण है ऐसा आचार्योंका वचन है, अतएव स्वाप्न अध्यासको भी प्रातिभासिक ही समझना चाहिये ॥ २७ ॥

एवं स्वप्नाध्यासस्याऽप्यनवच्छिन्नचैतन्ये अहङ्कारोपहितचैतन्ये वाऽवस्थारूपाज्ञानशून्येऽध्यासात् ।

'सुषुप्त्याख्यं तमोऽज्ञानं यद् बीजं स्वप्नबोधयोः' ।

इति आचार्याणां स्वप्नजाग्रत्प्रपञ्चयोरेकाज्ञानकार्यत्वोक्तेश्च मूलाज्ञानकार्यतया स्वोपादाननिवर्तकब्रह्मज्ञानैकबाध्यस्य अविद्याऽतिरिक्तनिद्रादिदोष-जन्यतयैव प्रातिभासिकत्वमिति केचिदाहुः ।

जाग्रत्प्रबोधबाध्यत्वमन्ये स्वप्नस्य मन्वते ।
दण्डभ्रान्तेरहिभ्रान्त्या दृढयेवात्र बाधनम् ॥ २८ ॥

और लोग मानते हैं कि जैसे दृढ सर्पभ्रम से दण्डभ्रम का बाध होता है, वैसे ही स्वाप्न अध्यास का जाग्रत्-ज्ञान से बाध होता है ॥ २८ ॥

ही इस अध्यासकी निवृत्ति होती है, और इसे व्यावहारिक तो इसलिए नहीं मान सकते हैं कि यह अविद्यासे अतिरिक्त दोषसे जन्य है ॥ ४ ॥

पूर्वोक्त न्यायके अनुसार स्वप्नाध्यास भी मूलाविद्याका कार्य है, क्योंकि अहङ्कार आदिसे अनवच्छिन्न अथवा अहङ्कारसे अवच्छिन्न चैतन्यमें, जो अवस्थारूप अज्ञानसे शून्य है, अध्यास होता है और जो सुषुप्तिरूप अज्ञानाख्य अन्धकार है, वह जाग्रत् और सुषुप्तिका कारण है, इस प्रकार आचार्योंने जाग्रत् और स्वप्नप्रपञ्चको एक ही अज्ञानका कार्य कहा है, अतः अपने उपादान मूलाविद्याके निवर्तक ब्रह्मज्ञानसे ही उसकी निवृत्ति होती है और वह अविद्यातिरिक्त निद्रा आदि दोषसे जन्य है, अतः प्रातिभासिक है, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं ।

अन्ये तु 'बाध्यन्ते चैते रथादयः स्वप्नदृष्टाः प्रबोधे' इति भाष्योक्तेः, 'अविद्यात्मकबन्धप्रत्यनीकत्वाद् जाग्रद्बोधवद्' इति विवरणदर्शनाद्, उत्थितस्य स्वप्नमिथ्यात्वानुभवाच्च जाग्रद्बोधस्स्वाप्नाध्यासनिवर्तक इति ब्रह्मज्ञानेतरज्ञानबाध्यतयैव तस्य प्रातिभासिकत्वम् । न चाऽधिष्ठानयाथात्म्यागोचरं स्वोपादानाज्ञानानिवर्तकं ज्ञानं कथमध्यासनिवर्तकं स्यादिति वाच्यम्, रज्जुसर्पाध्यासस्य स्वोपादानाज्ञाननिवर्तकाधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानेनेव तत्रैव स्वानन्तरोत्पन्नदण्डभ्रमेणापि निवृत्तिदर्शनादित्याहुः ।

जाग्रत्प्रपञ्चमावृत्य जीवं निद्रा तमोमयी ।
स्वाप्नमाविष्करोत्यर्थं बोध्यं प्रागुजविबोधतः ॥ २९ ॥

जाग्रत्कालीन प्रपञ्च और जीवको आवृत करके अन्धकाररूप निद्रा जबतक कि जीवको भान नहीं होता तबतक प्रातिभासिक स्वप्नप्रपञ्चकी उत्पत्ति करती है ॥ २९ ॥

---

* कुछ लोग कहते हैं कि स्वप्नाध्यास जाग्रत्कालीन ज्ञानसे निवृत्त होता है, अतः ब्रह्मज्ञानसे इतर ज्ञानसे निवर्त्य होनेके कारण ही वह प्रातिभासिक है, क्योंकि स्वप्नमें दीखनेवाले रथ आदिकी जाग्रत्कालीन ज्ञानसे निवृत्ति होती है, इस प्रकारकी भाष्योक्ति है तथा अविद्यात्मक अर्थात् अविद्याकार्य होनेसे अविद्यारूप प्रपञ्चके जाग्रत्कालीन ज्ञानके समान निवर्तक होनेसे, इस प्रकारका विवरण ग्रन्थ है और सुषुप्तिसे उठनेके बाद स्वप्नमें मिथ्यात्वका अनुभव है, अतः स्वप्नाध्यासकी जाग्रत्कालीन बोधसे ही निवृत्ति होती है, अतः ब्रह्मज्ञानेतर ज्ञानसे बाध्य होनेसे ही स्वप्नप्रपञ्च प्रातिभासिक है । यदि शङ्का हो कि अधिष्ठानके यथार्थ स्वरूपका अवगाहन न करनेवाला और स्वप्नोपादान मूलाऽज्ञानको निवृत्त न करनेवाला जाग्रत्कालीन ज्ञान स्वप्नाध्यासका निवर्तक नहीं हो सकता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जैसे रज्जुमें उत्पन्न हुए सर्पाध्यासकी उसके उपादानभूत रज्जुके अज्ञानकी निवृत्ति करनेवाले अधिष्ठानयथार्थज्ञानसे निवृत्ति होती है, वैसे ही उसी रज्जुमें बादको उत्पन्न हुए दण्डके भ्रमसे भी सर्पाध्यासकी निवृत्ति देखी जाती है, इसी प्रकार प्रकृतमें अधिष्ठानके याथात्म्यका अवगाहन न करे तो भी जाग्रद्बोध स्वप्नाध्यासकी निवृत्ति कर सकता है ।

---

* अविद्यातिरिक्तदोषजन्यत्व ही प्रातिभासिकत्वप्रयोजक है, इस मतके अनुसार निद्रा आदि दोषजन्यत्व ही स्वप्नप्रपञ्चमें प्रातिभासिकत्व है, इसका उपपादन किया गया । अब

अपरे तु जाग्रद्भोगप्रदकर्मोपरमे सति जाग्रत्प्रपञ्चद्रष्टारं प्रतिबिम्बरूपं व्यावहारिकं जीवं तद्दृश्यं जाग्रत्प्रपञ्चमप्यावृत्य जायमानो निद्रारूपो मूलाज्ञानस्यावस्थाभेदः स्वाप्नप्रपञ्चाध्यासोपादानम्, न मूलाज्ञानम्। न च निद्राया अवस्थाज्ञानरूपत्वे मानाभावः। मूलाज्ञानेनावृतस्य जाग्रत्प्रपञ्चद्रष्टुः व्यावहारिकजीवस्य 'मनुष्योऽहम्, ब्राह्मणोऽहम्, देवदत्तपुत्रोऽहम्' इत्यादिना स्वात्मानमसन्दिग्धाविपर्यस्तमभिमन्यमानस्य तदीयचिरपरिचयेन तं प्रति सर्वदा अनावृतैकरूपस्याऽनुभूतस्वपितामहात्यय-

† कोई लोग कहते हैं कि जाग्रत् भोगको देनेवाले कर्मके उपरत होनेपर जाग्रत् प्रपञ्चको देखनेवाले प्रतिबिम्बरूप व्यावहारिक जीव और उस जीवसे दीखनेवाले जाग्रत्प्रपञ्चको भी आवृत करके उत्पन्न होनेवाले मूलाज्ञानकी अवस्थारूप निद्रा-दोष स्वाप्नाध्यासका उपादान है, मूलाज्ञान उपादान नहीं है। यदि शङ्का हो कि निद्राके अवस्थारूप अज्ञान होनेमें प्रमाण नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि यदि निद्राको अवस्थारूप अज्ञान न माना जायगा, तो मूलाज्ञानसे आवृत जाग्रत् प्रपञ्चको देखनेवाला व्यावहारिक जीव जो कि अपने आत्माके विषयमें 'मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं देवदत्तका पुत्र हूँ' इत्यादिरूपसे असन्दिग्ध और अविपर्यस्त अभिमान करता है, उसका और अपने दीर्घकालके परिचयसे * अपने प्रति सर्वदा अनावृत और एकरूपसे अनुभूत स्वकीय

व्यवहारकालमें जिसका बाध हो, वह प्रातिभासिक है, इस सिद्धान्तका अनुसरण करके स्वप्नप्रपञ्चमें प्रातिभासिकत्वका उपपादन करते हैं।

† अधिष्ठानका यथार्थज्ञान अध्यासका निवर्तक है, ऐसा यदि नियम माना जाय, तो भी प्रकृतमें कोई हानि नहीं है, ऐसा मान कर 'अपरे तु' के पक्षका उत्थान है। इस मतमें व्यावहारिक जीव स्वप्नको देखनेवाले जीवका अधिष्ठान माना जाता है और व्यावहारिक जगत् स्वाप्नजगत्का अधिष्ठान माना जाता है, अनवच्छिन्न चैतन्य आदि नहीं, उक्त दो प्रकारके अधिष्ठानके आवरण द्वारा ही निद्रारूप अवस्थाऽज्ञान द्रष्टा और दृश्यात्मक प्रपञ्चका उपादान है, मूल अज्ञान नहीं, क्योंकि वह मूलाज्ञान केवल ब्रह्मचैतन्यका ही आवारक है, अतः व्यावहारिक जीवादिका आवारक नहीं हो सकता है। इसलिए व्यावहारिक जीव और जगद्विषयक ज्ञानसे, जो कि अधिष्ठानका यथार्थ ज्ञानात्मक है, स्वप्नाध्यासकी निवृत्ति होगी, यह भाव है।

* देवदत्तका पुत्र अपने पितामह आदिके मरणका अनुभव करके पीछे प्रतिमास या प्रतिवत्सर श्राद्ध, तर्पण आदि करता है, अतः उनके मरणविषयक अनुभव और स्मरणका पुनः पुनः अभ्यास ही चिरपरिचय है, इसलिए अपने पितामहके अत्यय आदिमें जरा भी सन्देह और भ्रम नहीं है, अतः एकरूपसे ही स्वकीय पितामहादिविनाशसे प्रपञ्चकी अनुवृत्ति होती है, यह भाव है।

यादिजाग्रत्प्रपञ्चवृत्तान्तस्य च स्वप्नसमये केनचिदावरणाभावे जागरण इव स्वप्नेऽपि 'व्याघ्रोऽहम्, शूद्रोऽहम्, यज्ञदत्तपुत्रोऽहम्' इत्यादिभ्रमस्य स्वपितामहजीवद्दशादिभ्रमस्य चाभावप्रसङ्गेन निद्राया एव तत्कालोत्पन्नव्यावहारिकजगज्जीवावारकाज्ञानावस्थाभेदरूपत्वसिद्धेः। न चैवं जीवस्याऽप्यावृतत्वात् स्वप्नप्रपञ्चस्य द्रष्ट्रभावप्रसङ्गः। स्वप्नप्रपञ्चेन सह द्रष्टुर्जीवस्यापि प्रातिभासिकाध्यासात्। एवं च पुनर्जाग्रद्भोगप्रदकर्मोद्भूते बोधे व्यावहारिकजीवस्वरूपज्ञानात् स्वोपादाननिद्रारूपाज्ञाननिवर्तकादेव स्वप्नप्रपञ्चबाधः। न चैवं तद्द्रष्टुः प्रातिभासिकजीवस्यापि ततो बाधे 'स्वप्ने करिणमन्वभूवम्' इत्यनुसन्धानं न स्यादिति वाच्यम्। व्यावहारिकजीवे प्रातिभासिकजीवस्याऽध्यस्ततया तदनुभवाद्व्यावहारिकजीवस्यानुसन्धानोपगमेऽप्यतिप्रसङ्गाभावादित्याहुः।

पितामहके विनाश आदि जाग्रत्प्रपञ्चका स्वप्नकालमें किसी कारणसे आवरणका अभाव होनेपर जागरणके समान स्वप्नमें भी 'मैं ब्राह्मण हूँ, 'मैं शूद्र हूँ, 'मैं यज्ञदत्तका पुत्र हूँ' इत्यादि भ्रमका और स्वकीय पितामहके जीवनदशा आदि भ्रमका अभाव प्रसक्त हो जायगा, इसलिए निद्राको ही निद्राकालमें उत्पन्न व्यावहारिक जगत् और जीवको आवृत्त करनेवाली अज्ञानकी अवस्था मानना चाहिए। यदि फिर शङ्का हो कि जीव भी यदि उस कालमें आवृत होगा, तो स्वप्नप्रपञ्चका द्रष्टा नहीं होगा? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि स्वप्नप्रपञ्चके साथ-साथ द्रष्टारूप जीव भी प्रातिभासिक उत्पन्न होता है। व्यावहारिक जीव और जगत्के स्वप्न जीव और जगत्के अधिष्ठान सिद्ध होनेपर फिर जाग्रत्कालीन भोगके देनेवाले कर्मसे उत्पन्न जागरण होनेपर 'मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि रूपसे व्यावहारिक जीवके स्वरूप ज्ञानसे ही जो अपने उपादानभूत निद्रारूप अज्ञानका निवर्तक है, स्वाप्न प्रपञ्चका बाध होता है। यदि फिर शङ्का हो कि स्वाप्न प्रपञ्चके द्रष्टा प्रातिभासिक जीवका भी जागरणसे बाध होगा, तो 'स्वप्नमें हाथीका मैंने अनुभव किया था' इस प्रकारका स्मरण नहीं होगा, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि व्यावहारिक जीवमें प्रातिभासिक जीवके अध्यस्त होनेके कारण प्रातिभासिक जीवके अनुभवसे व्यावहारिक जीवका अनुसन्धान माना जाय तो भी कोई हानि नहीं है।

नन्वहङ्कृत्यवच्छिन्नेऽनवच्छिन्ने च नोचितः ।
स्वप्नाध्यासोऽनहंभावाच्चक्षुराद्यनपेक्षणात् ॥ ३० ॥

अहङ्कारावच्छिन्न चैतन्यमें तथा अहङ्कारानवच्छिन्न चैतन्यमें स्वाप्नाध्यास होना युक्त नहीं है, क्योंकि स्वाप्नपदार्थोंके साक्षीसे भिन्नदेशस्थ होनेसे साक्षात् तथा चक्षु आदिके उपरत होनेसे उनके द्वारा भी अहंवृत्ति नहीं हो सकती है ॥ ३० ॥

नन्वनवच्छिन्नचैतन्ये अहङ्कारोपहितचैतन्ये वा स्वाप्नप्रपञ्चाध्यास इति प्रागुक्तं पक्षद्वयमप्ययुक्तम् । आद्ये स्वप्नगजादेरहङ्कारोपहितसाक्षिणो विच्छिन्नदेशत्वेन सुखादिवदन्तःकरणवृत्तिसंसर्गमनपेक्ष्य तेन प्रकाशनस्य चक्षुरादीनामुपरततया वृत्त्युदयासम्भवेन तेन प्रकाशनस्य चाऽयोगात् । द्वितीये 'इदं रजतम्' इतिवत् 'अहं गजः' इति वा 'अहं सुखी' इतिवद् 'अहं गजवान्' इति वाऽध्यासप्रसङ्गात् ।

अत्र द्वितीय आचख्युः केचिद्देहान्तरेव तम् ।
स्वाप्नधीवृत्त्यभिव्यक्तशुद्धचैतन्यसंश्रयम् ॥ ३१ ॥

यहाँपर द्वितीय पक्षमें कोई लोग समाधान देते हैं कि देहके भीतर ही स्वाप्न पदार्थोंको विषय करनेवाली वृत्तिसे अभिव्यक्त शुद्ध चैतन्यमें स्वाप्न पदार्थोंका अध्यास होता है ॥ ३१ ॥

अब शङ्का होती है अनवच्छिन्न चैतन्यमें अथवा अहङ्कारावच्छिन्न चैतन्यमें स्वाप्न प्रपञ्चका अध्यास होता है, ऐसा जो पक्षद्वय पूर्वमें कहा गया है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि अनवच्छिन्न चैतन्याधिष्ठानत्व-पक्षमें [स्वप्नकालीन गज आदिको शरीरसे अन्य देशस्थत्व ही कहना होगा, इसमें यह विकल्प हो सकता है कि क्या उन स्वाप्न पदार्थोंका साक्षीसे भास होता है, या इन्द्रियोंसे ? प्रथम कल्प, तो युक्त नहीं है, क्योंकि] स्वाप्न गज आदि पदार्थोंका अहङ्कारोपहित साक्षीरूप चैतन्यसे पृथक्देशस्थ होनेके कारण सुख आदिके समान अन्तःकरणकी वृत्तिकी अपेक्षा न करके उस साक्षीसे उन स्वाप्न पदार्थोंका अवभास नहीं हो सकता है; द्वितीय कल्प भी युक्त नहीं है, क्योंकि स्वप्न समयमें चक्षु आदिके उपरत होनेसे वृत्तिका सम्भव न होनेके कारण वृत्तिसंसर्गकी अपेक्षा करके भी साक्षीसे प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है । अहङ्कारावच्छिन्न चैतन्यके स्वप्नाध्यासाधिष्ठानत्वपक्षमें 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस प्रकारका जैसे ज्ञान होता है, वैसे ही 'अहं गजः' (मैं हाथी हूँ) इस प्रकारका अथवा 'मैं सुखी हूँ' इस ज्ञानके समान मैं गजवान् हूँ' इस प्रकारका अध्यास प्रसक्त होगा ।

अत्र केचिदाद्यपक्षं समर्थयन्ते—अहङ्कारानवच्छिन्नचैतन्यं न देहाद्बहिः स्वाप्नप्रपञ्चस्याऽधिष्ठानमुपेयते, किन्तु तदन्तरेव। अत एव दृश्यमानपरिमाणोचितदेशसम्पत्त्यभावात् स्वाप्नगजादीनां मायामयत्वमुच्यते। एवं चाऽन्तःकरणस्य देहाद्बहिरस्वातन्त्र्याज्जागरणे बाह्यशुक्तीदमंशादिगोचरवृत्त्युत्पादाय चक्षुराद्यपेक्षायामपि देहान्तरन्तःकरणस्य स्वतन्त्रस्य स्वयमेव वृत्तिसम्भवाद्देहान्तरन्तःकरणवृत्त्यभिव्यक्तस्याऽनवच्छिन्नचैतन्यस्याऽधिष्ठानत्वे न काचिदनुपपत्तिः। अत एव यथा जागरणे सम्प्रयोगजन्यवृत्त्यभिव्यक्तशुक्तीदमंशावच्छिन्नचैतन्यस्थिताऽविद्या रूप्याकारेण विवर्तते, तथा स्वप्नेऽपि देहस्याऽन्तरन्तःकरणवृत्तौ निद्रादिदोषोपहितायामभिव्यक्तचैतन्यस्थाविद्या अदृष्टोद्बोधितनानाविषयसंस्कारसहिता प्रपञ्चाकारेण विवर्तताम् इति विवरणोपन्यासे भारतीतीर्थवचनमिति।

यहांपर कुछ लोग प्रथम पक्षका ही समर्थन करते हैं—अहङ्कारादिसे अनवच्छिन्न चैतन्य देहसे बाहर स्वाप्न प्रपञ्चका अधिष्ठान नहीं होता है, किन्तु देहके भीतर ही अधिष्ठान होता है। इसीसे अर्थात् आन्तर चैतन्यके अधिष्ठान होनेसे ही दृश्यमान परिमाणसे युक्त हाथी आदिका शरीरके भीतर उचित स्थान न होनेके कारण उनको सूत्रकार बादरायणने प्रातिभासिक कहा है। इस युक्तिके अनुसार आन्तर चैतन्यके स्वाप्नाध्यासाधिष्ठानत्वकी सिद्धि होनेपर यद्यपि देहके बाहर अन्तःकरण स्वतन्त्र नहीं है, अतः जाग्रत् अवस्थामें बाह्य शुक्तिके इदमंशाकारवृत्तिको उत्पन्न करनेके लिए वह चक्षुकी अपेक्षा करता है, तथापि देहके अवान्तर प्रदेशमें अन्तःकरणकी स्वतन्त्रता होनेके कारण चक्षु आदिकी अपेक्षा न करके ही उसकी स्वतः वृत्ति हो सकती है, अतः देहके भीतर अन्तःकरणकी वृत्तिसे अभिव्यक्त अनवच्छिन्न चैतन्यको अधिष्ठान माननेपर भी कोई विरोध नहीं है। इसीसे—'जैसे जाग्रत् अवस्थामें सम्प्रयोगजन्य (इन्द्रियके सम्बन्धसे उत्पन्न) वृत्तिसे अभिव्यक्त शुक्तिके इदमंशसे अवच्छिन्न चैतन्यमें रहनेवाली अविद्या रजताकारसे परिणत होती है, वैसे ही स्वप्नमें भी निद्रा, पित्तोद्रेक आदि दोषोंसे उपहित देहके अवान्तर भागमें अन्तःकरणकी वृत्तिमें अभिव्यक्त चैतन्यमें रहनेवाली अविद्या, जो कि अदृष्टविशेषसे उद्बोधित अनेक विषयोंके संस्कारसे युक्त है, विचित्र प्रपञ्चके आकारमें परिणत होती है—इस प्रकारका विवरणोपन्यासमें भारतीतीर्थमुनिका वचन भी है।

अन्येऽनहमवच्छिन्नाविद्याविम्बिताचिद्गतम् ।
तद्भास्यं तदधिष्ठानवृत्त्या मातरि तत्प्रथाम् ॥ ३२ ॥

अहङ्कारसे अवच्छिन्न अविद्यामें प्रतिबिम्बित चैतन्यमें ही स्वाप्नाध्यास होता है और उसीसे उसका प्रकाश होता है, प्रमातामें स्वप्नका प्रकाश, तो अधिष्ठानविषयक अन्तःकरणवृत्तिकृत अभेदाभिव्यक्तिसे होता है, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं ॥३२॥

अन्ये त्वनवच्छिन्नचैतन्यं न वृत्त्यभिव्यक्तं सत् स्वाप्नप्रपञ्चस्याऽधिष्ठानम्, अशब्दमूलकानवच्छिन्नचैतन्यगोचरवृत्त्युदयासम्भवाद् अहङ्काराद्यवच्छिन्नचैतन्य एवाऽहमाकारवृत्त्युदयदर्शनात् । तस्मात् स्वतोऽपरोक्षमहङ्काराद्यनवच्छिन्नचैतन्यं तदधिष्ठानम् ।

अत एव संक्षेपशारीरके—(सं० शा० अ० १ श्लो० ४१)
'अपरोक्षरूपविषयभ्रमधीरपरोक्षमास्पदमपेक्ष्य भवेत् ।
मनसा स्वतो नयनतो यदि वा स्वपनभ्रमादिषु तथा प्रथितेः' ॥

इति श्लोकेनाऽपरोक्षाध्यासापेक्षितमधिष्ठानापरोक्ष्यं क्वचित् स्वतः,

---

कुछ लोग कहते हैं कि अनवच्छिन्न चैतन्य वृत्तिद्वारा अभिव्यक्त होकर स्वाप्न प्रपञ्चका अधिष्ठान नहीं होता है, क्योंकि शास्त्रसे अतिरिक्त प्रमाणसे जन्य अनवच्छिन्नचैतन्यविषयक वृत्तिकी उत्पत्ति हो ही नहीं सकती है, क्योंकि अहङ्कार, शरीर आदिसे अवच्छिन्न चैतन्यविषयक ही अहमाकार वृत्तिकी उत्पत्ति देखी जाती है । इससे स्वतः अर्थात् वृत्तिके विना अभिव्यक्त अपरोक्ष चैतन्य ही स्वाप्न प्रपञ्चका अधिष्ठान है ।

स्वतः अपरोक्ष चैतन्यको स्वप्नाध्यासका अधिष्ठान स्वीकार करनेसे ही संक्षेपशारीरकमें—

'अपरोक्ष०' (अपरोक्षरूप जो शुक्तिरजतादिविषयक भ्रमरूप बुद्धि है, अथवा अपरोक्ष रूप जो शुक्ति रजतादि, तद् विषयक भ्रमरूप जो बुद्धि है, वह अपरोक्ष अधिष्ठानकी अपेक्षा रखकर होती है, और यह अधिष्ठानापारोक्ष्य मनसे, स्वतः अथवा चक्षुसे होता है, क्योंकि स्वप्नभ्रममें अन्वय-व्यतिरेकसे वैसा ही देखा जाता है) इस श्लोकसे अपरोक्षाध्यासके लिए अपेक्षित अधिष्ठानका आप-

क्वचिन्मानसवृत्त्या, क्वचिद् बहिरिन्द्रियवृत्त्येत्यभिधाय,

'स्वतोऽपरोक्षा चितिरत्र विभ्रमस्तथाऽपि रूपाकृतिरेव जायते ।
मनोनिमित्तं स्वपने मुहुर्मुहुर्विनाऽपि चक्षुर्विषयं स्वमास्पदम् ॥
मनोऽवगम्येऽप्यपरोक्षताबलात्तथाऽम्बरे रूपमुपोल्लिखन् भ्रमः ।
सितादिभेदैर्बहुधा समीक्ष्यते तथाऽक्षिगम्ये रजतादिविभ्रमे ॥'

इत्याद्यनन्तरश्लोकेन स्वप्नाध्यासे स्वतोऽधिष्ठानापरोक्ष्यमुदाहृतम् । न चाऽहङ्कारानवच्छिन्नचैतन्यमात्रमावृतमिति वृत्तिमन्तरेण न तदभिव्यक्तिरिति वाच्यम्, ब्रह्मचैतन्यमेवावृतमविद्याप्रतिबिम्बजीवचैतन्यमहङ्कारानवच्छिन्नमप्यनावृतमित्युपगमाद् । एवं चाऽहङ्कारानवच्छिन्नचैतन्येऽध्यस्यमाने स्वाप्नगजादौ तत्समनियताधिष्ठानगोचरान्तःकरणादिवृत्तिकृता-

रोक्ष्य * कहीं स्वतः, कहीं मानसवृत्तिसे कहीं बहिरिन्द्रियजन्य वृत्तिसे उत्पन्न होता है, ऐसा कह कर 'स्वतोऽपरोक्षा०' (यद्यपि स्वप्नाध्यासरूप भ्रमका स्वतः अपरोक्ष चैतन्य ही अधिष्ठान है, तथापि उस चैतन्यमें मनोगत बुद्धिवासनाके प्रभावसे चक्षुर्ग्राह्य बाह्य रूपादि आलम्बनके विना अनेक विषयाकारोंसे युक्त वह भ्रम बार-बार उत्पन्न होता है, वैसे मनोगम्य आकाशमें अपरोक्षताके बलसे अपरोक्ष चिदात्माके साथ अभेदाभिव्यक्तिसे—रूपोल्लेखी विभ्रम होता है, वैसे ही चक्षुसे दिखनेवाले रजतादिविभ्रममें श्वेत आदि अनेक प्रकार देखे जाते हैं।) इत्यादि अनन्तरके श्लोकोंसे स्वप्नाध्यासमें अधिष्ठानका आपरोक्ष्य (प्रत्यक्ष) स्वतः ही दिखलाया है। यदि शङ्का हो कि अहङ्कारानवच्छिन्न चैतन्यमात्र तो आवृत है, अतः वृत्तिके विना उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्मचैतन्य ही आवृत है, और अविद्यामें प्रतिबिम्बित अहङ्कारसे अनवच्छिन्न भी जीवचैतन्य अनावृत है, ऐसा स्वीकार किया गया है, इस अवस्थामें अर्थात् स्वतः अपरोक्ष जीवचैतन्यके अधिष्ठान होनेपर अहङ्कारानवच्छिन्न चैतन्यमें अध्यस्यमान स्वप्नके गज आदि प्रपञ्चमें स्वाप्न प्रपञ्चके समनियत † अधिष्ठानविषयक अन्तःकरण आदिकी वृत्तियोंसे सम्पादित

* शुक्ति-रजत स्थलमें नयनसन्निकर्षसे अधिष्ठानका आपरोक्ष्य है, गगननीलत्वके अध्यासमें मनसे अधिष्ठानापारोक्ष्य है और स्वप्नाध्यासमें स्वतः अधिष्ठानका आपरोक्ष्य है, यह भाव है।

† जब गज आदिका अध्यास होता है, तब अधिष्ठानविषयक अन्तःकरणकी अविद्यावृत्ति उत्पन्न होती ही है, इसलिए स्वाप्न प्रपञ्चके अधिष्ठानभूत चैतन्यके साथ वृत्तियुक्त अन्तःकरणके

भेदाभिव्यक्त्या प्रमातृचैतन्यस्याऽपि 'इदं पश्यामि' इति व्यवहार इत्याहुः।

आद्येऽहङ्कृत्युपहितचिदाभासास्पदं परे।
अहन्ताधीप्रसक्तिस्तु नाहङ्काराविशेषणात्॥ ३३॥

अहङ्कारसे उपहित चैतन्याभास स्वप्नका अधिष्ठान है, अतः आद्यपक्षमें—अहङ्कारावच्छिन्न चैतन्याधिष्ठानत्वपक्षमें—अहङ्कारका विशेषण रूपसे प्रवेश न होनेके कारण 'अहं गजः' इत्यादि प्रतीति नहीं होती है, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं॥ ३३॥

अपरे तु द्वितीयं पक्षं समर्थयन्ते—अहङ्कारावच्छिन्नचैतन्यमधिष्ठानमित्यहङ्कारस्य विशेषणभावेनाऽधिष्ठानकोटिप्रवेशो नोपेयते, किं त्वहङ्कारोपहितं तत्प्रतिबिम्बरूपचैतन्यमात्रमधिष्ठानमिति, अतो न'अहं गजः' इत्याद्यनुभवप्रसङ्ग इति।

इदंवृत्तिचिदाभासे इत्थं रजतकल्पनात्।
नाहं रजतधीस्तद्वदनन्यनरवेद्यता॥ ३४॥

इसी प्रकार इदमाकार वृत्तिसे उपहित चिदाभासमें रजतकी कल्पना होनेसे 'अहं रजतम्' ऐसी प्रतीति नहीं होती है और अन्य पुरुष वेद्यता भी नहीं है॥ ३४॥

एवं शुक्तिरजतमपि शुक्तीदमंशावच्छिन्नचैतन्यप्रतिबिम्बे वृत्तिमदन्तःकरणगतेऽध्यस्यते। शुक्तीदमंशावच्छिन्नबिम्बचैतन्ये सर्वसाधारणे तस्या-

---

अभेदाभिव्यक्तिसे प्रमातृचैतन्यमें भी 'मैं यह देखता हूँ' इस प्रकार व्यवहार देखा जाता है।

कुछ लोग तो द्वितीय पक्षका—अहङ्कारसे अवच्छिन्न चैतन्य स्वप्नाध्यासका अधिष्ठान है, इसीका—समर्थन करते हैं—अहङ्कारावच्छिन्न चैतन्य अधिष्ठान है, इससे अहङ्कारका अधिष्ठानकोटिमें विशेषणरूपसे प्रवेश नहीं करते हैं, किन्तु अहङ्कारसे उपहित अहङ्कारमें प्रतिबिम्बित चैतन्य ही अधिष्ठान होता है, ऐसा अङ्गीकार करते हैं, इसलिए 'अहं गजः' (मैं हाथी हूँ) ऐसा अनुभव नहीं होता है।

इसी प्रकार शुक्तिरजत भी शुक्तिके इदमंशावच्छिन्न चैतन्यके वृत्ति युक्त अन्तःकरणमें पड़े हुए प्रतिबिम्बमें अध्यस्त होता है, शुक्तीदमंशावच्छिन्न बिम्ब

सम्बन्ध होनेपर प्रमातृत्वकी प्राप्ति होनेपर प्रमातामें स्वप्नद्रष्टृत्वकी उपपत्ति हो सकती है, यह भाव है।

ध्यासे सुखादिवदनन्यवेद्यत्वाभावप्रसङ्गादिति केचित् ।

अन्ये तु बिम्बचैतन्ये रजताध्यासवादिनः ।
प्राहुस्तत्तदविद्योत्थन्तत्तत्पुरुषगोचरम् ॥ ३५ ॥

कुछ लोगोंका कहना है कि बिम्बचैतन्यमें रजतका अध्यास होता है और तत्-तत् पुरुषोंके अज्ञानसे उत्पन्न तत्-तत् रजतका तत्-तत् पुरुषोंको प्रत्यक्ष होता है ॥ ३५ ॥

केचित्तु बिम्बचैतन्य एव तदध्यासमुपेत्य 'यदीयाज्ञानोपादानकं यत्, तत्तस्यैव प्रत्यक्षम्, न जीवान्तरस्य इत्यनन्यवेद्यत्वमुपपादयन्ति ॥५॥

नन्वस्तु रजताध्यासे कथञ्चिच्चाक्षुषत्वधीः ।
कथं स्वप्नगजज्ञाने तस्याः साधु समर्थनम् ॥ ३६ ॥

अब शङ्का होती है कि यद्यपि रजताध्यासमें कथञ्चित् चाक्षुषत्वका उपपादन हो सकता है, तथापि स्वाप्नगजादिज्ञानमें चाक्षुषत्वका समर्थन कैसे कर सकते है ? ॥ ३६ ॥

ननु शुक्तिरजताध्यासे चाक्षुषत्वानुभवः साक्षाद्वाऽधिष्ठानज्ञानद्वारा तदपेक्षणाद्वा समर्थ्यते । स्वाप्नगजादिचाक्षुषत्वानुभवः कथं समर्थनीयः ।

चैतन्यमें, जो सर्वसाधारण है, उसका अध्यास माना जायगा, तो सुखादिके समान अनन्यवेद्यत्वके अभावका प्रसङ्ग होगा, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं ।

कुछ लोग तो बिम्बचैतन्यमें ही रजतादिका अध्यास होता है, ऐसा मान कर जिसके अज्ञानरूप उपादानसे जिसकी उत्पत्ति हुई हो, वह उसी जीवको प्रत्यक्ष होता है, जीवान्तरको नहीं, इस प्रकार अनन्यवेद्यत्वका उपपादन करते हैं ॥ ५ ॥

अब शङ्का होती है कि शुक्तिमें रजतका जो अध्यास होता है, उसमें चक्षुरिन्द्रियग्राह्यत्वका जो अनुभव होता है, वह साक्षात् अथवा अधिष्ठानके ज्ञानद्वारा चक्षुकी अपेक्षा होनेसे होता है । [स्वप्नप्रपञ्चके अधिष्ठानका निरूपण करके स्वाप्न पदार्थोंके अनुभवका उपपादन करनेके लिए इस ग्रन्थका उपक्रम है । शुक्तिरजतका अनुभव इन्द्रियसे होता है, इस प्रकारके पूर्वमें उक्त कवितार्किक मतके अनुसार 'साक्षात्' कहा गया है । और जिस मतमें शुक्तिरजत आदि भ्रान्त पदार्थ साक्षिभास्य हैं, उस मतसे 'अधिष्ठान-ज्ञानद्वारा' इत्यादि ग्रन्थका कथन है, क्योंकि इस मतमें भी धर्मिज्ञानद्वारा

खानां विरामादग्राह्यप्रातिभासिकनिह्नवात् ।
स्वयञ्ज्योतिष्ट्ववादाच्च न स्वाप्नेन्द्रियकल्पना ॥ ३७ ॥

उक्त शङ्काके परिहारमें कहते हैं कि स्वप्नमें इन्द्रियोंके उपरत होनेसे, तथा अग्राह्य इन्द्रियोंके प्रातिभसिक न होनेसे और स्वयंप्रकाशत्वकी उक्ति होनेसे स्वाप्न इन्द्रियोंकी कल्पना नहीं है, अतः स्वाप्नपदार्थोंमें चाक्षुषत्वका भी भ्रम है ॥ ३७ ॥

उच्यते—न तावत् तत्समर्थनाय स्वाप्नदेहवद्विषयवच्च इन्द्रियाणामपि प्रातिभासिको विवर्तः शक्यते वक्तुम्, प्रातिभासिकस्याऽज्ञातसत्त्वाभावात् । इन्द्रियाणां चातीन्द्रियाणां सत्त्वेऽज्ञातसत्त्वस्य वाच्यत्वात् । नापि व्यावहारिकाणामेवेन्द्रियाणां स्वस्वगोलकेभ्यो निष्क्रम्य स्वाप्नदेहमाश्रित्य स्वस्वविषयग्राहकत्वं वक्तुं शक्यते , स्वप्नसमये तेषां व्यापारराहित्यरूपोपरतिश्रवणात् । व्यावहारिकस्य स्पर्शनेन्द्रियस्य स्वोचितव्यावहारिकदेशसम्पत्तिविधुरान्तःशरीरे स्वाधिकपरिमाणकृत्स्नस्वाप्नशरीरव्यापित्वायोगाच्च । तदेकदेशाश्रयत्वे च तस्य स्वाप्नजलावगाहनजन्य-

---

चक्षुकी अपेक्षा शुक्तिरजतके लिए होती ही है, यह भाव है] । परन्तु स्वाप्न गज आदिके चाक्षुषत्वका जो अनुभव होता है, उसका समर्थन कैसे किया जाता है ?

इस आक्षेपके समाधानमें कुछ लोग कहते हैं—स्वाप्न प्रपञ्चमें चाक्षुषत्वका प्रतिपादन करनेके लिए स्वाप्न देह और विषयोंकी नाईं इन्द्रियोंका भी प्रातिभासिक विवर्त नहीं मान सकते हैं, क्योंकि प्रातिभासिक पदार्थकी अज्ञात सत्ता नहीं मानी जाती है । अतीन्द्रिय इन्द्रियोंका यदि प्रातिभासिक विवर्त माना जाय, तो उनकी भी अज्ञात सत्ता ही कही जायगी, [क्योंकि वे सर्वत्र व्यवहारमें अज्ञात सत्तावाली ही देखी जाती हैं ।] और यह भी नहीं कह सकते हैं कि व्यावहारिक इन्द्रियाँ अपने अपने गोलकसे (स्थानसे) निकलकर स्वाप्न शरीरका आश्रय करके अपने-अपने विषयोंका ग्रहण करती हैं, क्योंकि स्वप्नके समयमें उनका व्यापार नहीं होता है अर्थात् स्वप्नमें इन्द्रियाँ उपरत रहती हैं, ऐसा श्रुतिमें कहा गया है और व्यावहारिक स्पर्शेन्द्रिय (त्वक्) का अपने उपयुक्त व्यावहारिक देशकी सम्पत्तिसे शून्य शरीरके भीतर अपनेसे अधिक परिमाणवाले स्वाप्न शरीरमें व्यापित्वकी उपपत्ति भी नहीं हो सकती है । यदि उस

सर्वाङ्गीणशीतस्पर्शानिर्वाहात् ।

अत एव 'स्वप्ने जाग्रदिन्द्रियाणामुपरतावपि तैजसव्यवहारोपयुक्तानि सूक्ष्मशरीरावयवभूतानि सूक्ष्मेन्द्रियाणि सन्तीति तैस्स्वाप्नपदार्थानामैन्द्रियकत्वम्, इत्युपपादनशङ्काऽपि निरस्ता । जाग्रदिन्द्रियव्यतिरिक्तसूक्ष्मेन्द्रियाप्रसिद्धेः ।

किञ्च, 'अत्रायं पुरुषः स्वयञ्ज्योतिः' इति जागरे आदित्यादिज्योतिर्व्यतिकराच्चक्षुरादिवृत्तिसञ्चाराच्च दुर्विवेकमात्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वमिति स्वप्नावस्थामधिकृत्य तत्राऽऽत्मनः स्वयञ्ज्योतिष्ट्वं प्रतिपादयति । अन्यथा तस्य सर्वदा स्वयञ्ज्योतिष्ट्वेनाऽत्रेति वैयर्थ्यात् । तत्र यदि स्वप्नेऽपि चक्षुरादिवृत्तिसञ्चारः कल्प्येत, तदा तत्राऽपि जागर इव तस्य स्वयञ्ज्योतिष्ट्वं दुर्विवेचं स्यादित्युदाहृता श्रुतिः पीड्येत ।

स्पर्शेन्द्रियका—स्वाप्न शरीरका—एक देश—आश्रय—माना जाय, तो स्वाप्नजलमें अवगाहन करनेसे सम्पूर्ण अङ्गोंमें जो शैत्यका अनुभव होता है, उसका निर्वाह नहीं हो सकेगा ।

इसीसे 'स्वप्नमें जाग्रत् इन्द्रियोंके उपरत होनेपर भी तैजस और व्यवहारके लिए उपयुक्त सूक्ष्म शरीरके अवयवभूत सूक्ष्म इन्द्रियाँ हैं, इसलिए उन्हींसे स्वाप्न पदार्थोंका ऐन्द्रियकज्ञान होता है' इस प्रकारकी उपपादन-शङ्का भी निरस्त हुई, क्योंकि जाग्रत् इन्द्रियोंके समान उनसे भिन्न सूक्ष्म इन्द्रियाँ प्रसिद्ध नहीं हैं ।

किञ्च, 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' (स्वप्नावस्थामें पुरुष स्वयंज्योति—स्वप्रकाश है) यह श्रुति—जाग्रत् अवस्थामें आदित्य आदिके प्रकाशके सम्पर्कसे और चक्षु आदिकी वृत्तियोंका संचार होनेसे आत्मामें स्वयंप्रकाशत्वका निर्वचन अशक्य है, अतः स्वप्नावस्थाका अधिकार करके ही आत्मामें स्वयंज्योतिष्ट्वका—प्रतिपादन करती है, यदि वैसा न माना जाय, तो आत्माके सर्वदा स्वप्रकाश होनेके कारण श्रुतिमें उक्त 'अत्र' शब्द व्यर्थ होगा । उक्त प्रकारके अभिप्राय सिद्ध होनेपर यदि स्वप्नमें भी चक्षु आदिका संचार माना जाय, तो स्वप्नमें भी जाग्रत् अवस्थाके समान स्वयंज्योतिष्ट्वका निर्वचन अशक्य होनेसे उदाहृत श्रुतिके साथ विरोध प्रसक्त होगा ।

ननु स्वप्ने चक्षुराद्युपरमकल्पनेऽपि अन्तःकरणमनुपरतमास्त इति परिशेषासिद्धेर्न स्वयञ्ज्योतिष्ट्वविवेकः; मैवम्, 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वाद्' इत्यधिकरणे (उ० मी० अ० २ पा० ३ सू० ३३) न्यायनिर्णयोक्तरीत्याऽन्तःकरणस्य चक्षुरादिकरणान्तरनिरपेक्षस्य ज्ञानसाधनत्वाभावाद्वा, तत्त्वप्रदीपिकोक्तरीत्या स्वप्ने तस्यैव गजाद्याकारेण परिणामेन ज्ञानकर्मतयाऽवस्थितत्वेन तदानीं ज्ञानसाधनत्वायोगाद्वा परिशेषोपपत्तेः।

न च स्वप्नेऽन्तःकरणवृत्त्यभावे उत्थितस्य स्वप्नदृष्टगजाद्यनुसन्धानानुपपत्तिः; सुषुप्तिक्लृप्तया अविद्यावृत्त्या तदुपपत्तेः। सुषुप्तौ तदवस्थोपहितमेव स्वरूपचैतन्यमज्ञानसुखादिप्रकाशः उत्थितस्याऽनुसन्धानमुपाधिभूतावस्थाविनाशजन्यरूपसंस्कारेणेति वेदान्तकौमुद्यभिमते सुषुप्तावविद्या-

यदि शङ्का हो कि स्वप्नावस्थामें चक्षु आदिके उपरत होनेपर भी अन्तःकरण अनुपरत ही रहता है, इसलिए परिशेषकी—अवभासकान्तराभावकी—असिद्धि होनेसे आत्मामें स्वयंज्योतिष्ट्वकी हानि तो बनी ही है? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' * इस अधिकरणमें न्यायनिर्णयके कथनानुसार चक्षु आदि अन्य करणोंसे निरपेक्ष ज्ञानसाधनताका अभाव अन्तःकरणमें है, अर्थात् स्वप्नज्ञानका मन उपादान है, करण नहीं है, क्योंकि ऊपादान और करण एक नहीं होता है, यह भाव है। अथवा तत्त्वप्रदीपिकाके वचनके अनुसार स्वप्नमें अन्तःकरण ही गज आदिके आकारमें परिणत होता है, अतः ज्ञानकर्मस्वरूपसे अवस्थित अन्तःकरण स्वप्नावस्थामें ज्ञानसाधन हो ही नहीं सकता है।

यदि शङ्का हो कि स्वप्नमें अन्तःकरणकी वृत्ति न मानी जाय, तो स्वप्नमें देखे गये गज आदिका अनुसन्धान नहीं होगा, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिमें क्लृप्त अविद्यावृत्तिसे अनुसन्धानकी (स्मृतिकी) उपपत्ति हो सकती है। सुषुप्तिमें निद्रावस्थासे युक्त स्वरूपचैतन्य ही अज्ञान, सुख आदिका प्रकाश है, जागनेपर जो उनका स्मरण होता है, वह उपाधिभूत अवस्थाके विनाशसे उत्पन्न होनेवाले संस्कारसे ही

* आत्मा ही कर्ता है बुद्धि नहीं है, क्योंकि कर्ताके लिए अपेक्षित उपायोंका बोध करानेमें समर्थ विधिशास्त्र उपलब्ध होता है, यह सूत्रका अर्थ है। 'चक्षुरादीनां चैतन्येन विषय सम्बन्धार्थत्वात्' (ब्रह्मसूत्र शा० भा० १४७९ पृ० अच्युतग्रन्थमाला काशी मु०) इत्यादि न्यायनिर्णयकी पङ्क्ति है।

वृत्त्यभावपक्षे इहापि स्वाप्नगजादिभासकचैतन्योपाधिभूतस्वप्नावस्थाविनाश-रूपसंस्कारादनुसन्धानोपपत्तेश्च ।

अथवा 'तदेतत् सत्त्वं येन स्वप्नं पश्यति' इत्यादिश्रुतेरस्तु स्वप्नेऽपि कल्पतरूक्तरीत्या स्वाप्नगजादिगोचरान्तःकरणवृत्तिः । न च तावता परिशेषासिद्धिः । अन्तःकरणस्य 'अहम्' इति गृह्यमाणस्य सर्वात्मना जीवैक्येनाऽध्यस्ततया लोकदृष्ट्या तस्य तद्व्यतिरेकाप्रसिद्धेः परिशेषार्थं चक्षुरादिव्यापाराभावमात्रस्यैवाऽपेक्षितत्वात् । 'प्रसिद्धदृश्यमात्रं दृगवभासयोग्यम्' इति निश्चयसत्त्वेन परिशेषार्थमन्यानपेक्षणात् ।

होता है, इस प्रकार वेदान्तकौमुदीमें स्वीकृत सुषुप्तिमें अविद्यावृत्तिके अभाव-पक्षमें स्वप्नावस्थामें भी स्वाप्न गज आदिके अवभासक चैतन्यके उपाधिभूत स्वप्नावस्थाके विनाशसे उत्पन्न संस्कारसे स्मरणकी उपपत्ति हो सकती है ।

अथवा 'तदेतत् सत्त्वम्०' (वही सत्त्व—अन्तःकरण है, जिससे स्वप्न देखा जाता है) इत्यादि श्रुतिसे * कल्पतरुकारके कथनानुसार स्वाप्न रथ, गज आदि पदार्थोंको विषय करनेवाली अन्तःकरणकी वृत्ति रहे तो भी कोई हानि नहीं है । यदि शङ्का हो कि स्वप्नमें यदि अन्तःकरणकी अवस्थिति मानी जाय, तो परिशेषकी असिद्धि होगी ? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'अहम्' रूपसे गृह्यमाण अन्तःकरणके सर्वात्मना जीवतादात्म्यरूपसे अध्यस्त होनेसे व्यवहारदृष्टिसे अन्तःकरणमें जीवभेदकी असिद्धि होनेके कारण परिशेषके लिए चक्षु आदि बाह्य करणोंके व्यापारका अभावमात्र ही अपेक्षित है; कारण कि प्रसिद्ध दृश्यमात्र पदार्थ द्रष्टाके अवभासयोग्य हैं, इस प्रकार निश्चय होनेसे परिशेषके लिए अन्य चक्षु आदि व्यापारकी अपेक्षा नहीं होती है । [तात्पर्यार्थ यह है कि जागरणके समान स्वप्नमें भी गज आदि स्वाप्न पदार्थोंका अवगाहन करनेवाली वृत्ति यदि मानी जाय, तो भी कोई हानि नहीं है, इसीसे जाग्रत् होनेपर संस्कार द्वारा सुषुप्तिके अज्ञान आदिके

---

* कल्पतरुकारने कहा है कि सत्त्वशब्दसे कहलानेवाले अन्तःकरणकी तृतीया श्रुतिसे स्वाप्नगजादिविषयकज्ञानकरणता है, इसलिए श्रुतिके आधारसे (तदेतत् इत्यादि श्रुतिसे) स्वप्नमें चाक्षुषवृत्तिके न होनेपर भी मानसवृत्ति है, अतः संस्कारकी अनुपपत्ति नहीं है, यह भाव है ।

अत्राऽऽहुरत एवाऽत्र चाक्षुषत्वादिधीर्भ्रमः ॥

स्वप्नमें चक्षु आदिके व्यापारके न होनेसे स्वाप्न पदार्थोंमें चाक्षुषत्व आदिका ज्ञान भ्रमात्मक ही है, ऐसा कहते हैं।

तस्मात् सर्वथाऽपि स्वप्ने चक्षुरादिव्यापारासम्भवात् स्वाप्नगजादौ चाक्षुषत्वाद्यनुभवो भ्रम एव।

अन्वयव्यतिरेकादिकल्पनाऽप्यक्षिकल्पना ॥३८॥
असंभावितसाहस्रदर्शनात् स्वप्नदर्शने ॥
इत्थमेव हि शुक्त्यादौ रूप्याद्यध्यक्षधीगतिः ॥३९॥

स्वाप्न भ्रममें चक्षुके साथ ज्ञानका अन्वय-व्यतिरेक और चक्षु आदि कल्पित ही हैं, क्योंकि स्वप्नमें असम्भावित हजारों पदार्थ देखे जाते हैं, इसी प्रकारकी शुक्ति आदिमें रूप्य आदिके प्रत्यक्ष ज्ञानकी भी गति है ॥३८॥३९॥

ननु स्वप्नेऽपि चक्षुरुन्मीलने गजाद्यनुभवः, तन्निमीलने नेति जागर

स्मरण कोई बाधक नहीं है। ..इसपर शङ्का यह होती है कि स्वप्नमें अन्तःकरणके माननेपर 'अत्रायम्' इत्यादि श्रुतिसे आत्माका जो अवशेष कहा गया है वह बाधित होगा, तथा स्वयंज्योतिष्ट्व भी उपपन्न नहीं होगा है, परन्तु यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वतोभावेन अन्तःकरणका जीवचैतन्यके साथ ऐक्य 'मैं देखता हूँ' इत्यादि रूपसे अध्यस्त होनेके कारण उसका द्रष्टृत्वरूपसे ग्रहण होता है, इसलिए अज्ञ पुरुषोंकी दृष्टिसे चिदात्माका अन्तःकरणसे भेद ही गृहीत नहीं होता है, अतः परिशेषके लिए लोकप्रसिद्ध द्रष्टृ भिन्न चक्षु आदिके व्यापारका अभाव ही अपेक्षित है, अन्तःकरणवृत्तिलक्षण व्यापारका द्रष्टाके व्यापाररूपसे ग्रहण होता है, अतः उसके रहनेपर भी परिशेषकी असिद्धि नहीं है]।

इससे स्वप्नमें किसी प्रकारसे भी चक्षु आदिके व्यापारका सम्भव न होनेके कारण स्वाप्न गज आदि पदार्थोंमें होनेवाला चाक्षुषत्वानुभव भ्रमात्मक ही है, यह भाव है।

यदि शङ्का हो कि स्वप्नावस्थामें भी चक्षुके खोलनेपर स्वाप्न गज आदि पदार्थोंका अनुभव होता है, और चक्षुओंके बन्द करनेपर उन पदार्थोंका भान

इव गजाद्यनुभवस्य चक्षुरुन्मीलनाद्यनुविधानं प्रतीयते इति चेत्, 'चक्षुषा रजतादिकं पश्यामि' इत्यनुभववदयमपि कश्चित् स्वप्नभ्रमो भविष्यति यत् केवलसाक्षिरूपे स्वाप्नगजाद्यनुभवे चक्षुराद्यनुविधानं तदनुविधायिनी वृत्तिर्वाऽध्यस्यते। किमिव हि दुर्घटमपि भ्रमं माया न करोति विशेषतो निद्रारूपेण परिणता, यस्या माहात्म्यात् स्वप्ने रथः प्रतीतः क्षणेन मनुष्यः प्रतीयते, स च क्षणेन मार्जारः। स्वप्नद्रष्टुश्च न पूर्वापरविरोधानुसन्धानम्। तस्मादन्वयाद्यनुविधानप्रतीतितौल्येऽपि जाग्रद्गजाद्यनुभव एव चक्षुरादि-जन्यः, न स्वाप्नगजाद्यनुभवः॥

दृष्टिसृष्टिविदस्त्वाहुर्गतिं जाग्रद्धियोऽप्यमूम्॥
अर्थसृष्टेः पुराऽर्थेषु सन्निकर्षाद्यसम्भवात्॥४०॥

दृष्टिसृष्टिवादियोंका कहना है कि जाग्रत्कालीन घटादिके ज्ञानोंकी भी स्वप्नकालीन पदार्थोंके ज्ञानकी नाईं ही गति है, क्योंकि अर्थदृष्टिके पूर्वमें अर्थोंमें इन्द्रियोंका सन्निकर्ष नहीं है॥४०॥

नहीं होता है, इसलिए जाग्रत् गज आदिके अनुभवके समान चक्षुरुन्मीलनके साथ अन्वय-व्यतिरेक देखा जाता है, अतः स्वाप्न पदार्थोंके चाक्षुषत्वानुभवको भ्रमात्मक कैसे मान सकते हैं? तो यह भी शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि 'चक्षुसे रजत आदि देखता हूँ' इस भ्रमात्मक अनुभवके समान यह भी कोई स्वप्नभ्रम होगा, जो कि केवल साक्षीरूप स्वाप्नगज आदिके अनुभवमें चक्षु आदिका अन्वयव्यतिरेक या चक्षु आदिके अन्वय-व्यतिरेकसे युक्त मानसवृत्ति (अर्थात् पूर्वमें कल्पतरुके वचनके अनुसार कल्पित स्वाप्न प्रपञ्चगोचर मानसवृत्तिमें चक्षु आदिका अनुविधान) अध्यस्त होती है। क्योंकि ऐसा कौन दुर्घट भ्रमरूप कार्य है जिसे माया नहीं कर सकती हो, वहाँपर भी विशेषतः निद्रारूपसे परिणत माया तो सभी कुछ कर सकती है। कारण कि निद्रारूपसे परिणत जिस मायाके प्रभावसे स्वप्नमें रथरूपसे देखा गया पदार्थ क्षणमें मनुष्य बन जाता है, वही एक क्षणमें बिल्ली प्रतीत होता है और स्वप्नके द्रष्टाको पूर्वापरके विरोधकी भी प्रतीति नहीं होती है। इसलिए चक्षु आदिके अन्वय-व्यतिरेककी प्रतीति होनेपर भी जाग्रत् गज आदिका अनुभव ही चक्षु आदिसे जन्य है, स्वाप्नगजादिका अनुभव चक्षु आदिसे जन्य नहीं है।

दृष्टिसृष्टिवादिनस्तु कल्पितस्याऽज्ञातसत्त्वमनुपपन्नमिति कृत्स्नस्य जाग्रत्प्रपञ्चस्य दृष्टिसमसमयां सृष्टिमुपेत्य घटादिदृष्टेश्चक्षुःसन्निकर्षानुविधान-प्रतीतिं दृष्टेः पूर्वं घटाद्यभावेनासङ्गच्छमानां स्वप्नवदेव समर्थयमानाः जाग्रद्घटाद्यनुभवोऽपि न चाक्षुष इत्याहुः ॥

निरुपाधिरथाऽन्यो वा कल्पकः प्रथमे भवेत् ॥
मुक्तस्य संसृतिः को वा द्वितीये मोहकल्पकः ॥४१॥

प्रपञ्चका कल्पक निरुपाधिक आत्मा है अथवा सोपाधिक आत्मा है ? प्रथम पक्षमें मुक्त पुरुषको संसारप्राप्ति होगी और द्वितीय पक्षमें अज्ञानका कल्पक कौन होगा॥४१॥

ननु दृष्टिसृष्टिमवलम्ब्य कृत्स्नस्य जाग्रत्प्रपञ्चस्य कल्पितत्वोपगमे कस्तस्य कल्पकः—निरुपाधिरात्मा वा, अविद्योपहितो वा ? नाद्यः, मोक्षेऽपि साधनान्तरनिरपेक्षस्य कल्पकस्य सत्त्वेन प्रपञ्चानुवृत्त्या संसारा-

---

* दृष्टिसृष्टिवादियोंका कहना है कि जो पदार्थ कल्पित है, उसकी अज्ञातसत्ता हो ही नहीं सकती है, अतः सम्पूर्ण जाग्रत्प्रपञ्चकी दृष्टि-समकालीन सृष्टि मानकर घटादिदृष्टिमें चक्षुके सन्निकर्षका अनुविधानप्रत्यय दृष्टिके पूर्वमें घटादिका अभाव होनेसे नहीं हो सकता है, अतः स्वप्नके समान जाग्रत् कालीन घट आदिका अनुभव भी चाक्षुष नहीं है ॥६॥

अब शङ्का होती है कि यदि दृष्टिसृष्टिका अवलम्बन करके सम्पूर्ण प्रपञ्च कल्पित माना जाय, तो उसकी कल्पना करनेवाला कौन है ? अविद्यारूप उपाधिसे रहित आत्मा है अथवा अविद्यारूप उपाधिसे उपहित आत्मा है ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि मोक्षमें भी, अन्य साधनोंकी अपेक्षा न करनेवाले निरुपाधिक कल्पक आत्माकी अवस्थिति होनेके कारण, प्रपञ्चकी अनुवृत्ति होगी, इससे मोक्ष और संसारमें कोई अन्तर नहीं रह जायगा। अविद्यासे उपहित आत्मा

---

* अनेक पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानसे जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, ऐसे शुद्धसत्त्व पुरुष स्वप्नप्रपञ्चसे जाग्रत्प्रपञ्चमें कुछ भी विलक्षणता नहीं देखते हैं, उन ब्रह्मविद्याभिलाषियोंका लक्ष्य करके स्वप्न और जाग्रत् अवस्थामें समस्त संसारकी उत्पत्ति और लयका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिका अनुसरण करके दृष्टिसृष्टिवादका पूर्वाचार्योंने निरूपण किया है, इसी वादका अवलम्बन करके प्रसङ्गवश जाग्रत्पदार्थोंमें भी चाक्षुषत्वानुभवको भ्रान्त बतलाते हैं, यह भाव है।

विशेषप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, अविद्याया अपि कल्पनीयत्वेन तत्कल्पनात्प्रागेव कल्पकसिद्धेर्वक्तव्यत्वात्।

अत्राहुः पूर्वसंक्लसमोहयुक्तोऽन्यकल्पकः॥

उक्त शङ्काके समाधानमें कोई लोग कहते हैं कि पूर्व-पूर्व कल्पित अविद्यासे युक्त आत्मा ही उत्तर उत्तर अविद्याका कल्पक है।

अत्र केचिदाहुः—पूर्वपूर्वकल्पिताविद्योपहित उत्तरोत्तराविद्याकल्पकः। अनिदंप्रथमत्वाच्च कल्पककल्पनाप्रवाहस्य नानवस्थादोषः। न चाऽविद्याया अनादित्वोपगमाच्छुक्तिरजतवत् कल्पितत्वं न युज्यते, अन्यथा साद्यनादिविभागानुपपत्तेरिति वाच्यम्, यथा स्वप्ने कल्प्यमानं गोपुरादि किञ्चित्

संसारका कल्पक है, यह द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि अविद्या भी कल्पित ही है, इससे उस अविद्याकी कल्पनासे पहले ही कल्पक अविद्योपहित आत्माका अस्तित्व मानना होगा, [परन्तु वह तो है नहीं, अतः अविद्याकी सृष्टि हो ही नहीं सकेगी]।

इस आक्षेपके परिहारमें कोई लोग कहते हैं कि पूर्व-पूर्व कल्पित अविद्यासे उपहित आत्मा ही उत्तर-उत्तर अविद्याका कल्पक है। यह अविद्या प्रथम कल्पित है यह बात नहीं होगी, इससे कल्पक और कल्पनाके प्रवाहमें अनवस्था दोष नहीं है, [क्योंकि प्रपञ्चकल्पकत्वरूपसे श्रुतिसिद्ध अविद्योपहित आत्मा पूर्व-पूर्व अविद्याके बिना प्रपञ्चका कल्पक ही नहीं हो सकता है]। यदि यह शङ्का हो कि अविद्याका अनादिरूपसे स्वीकार किया गया है, इसलिए शुक्तिरजतके समान उसको कल्पित नहीं मान सकते हैं, यदि हठात् उसे कल्पित मानोगे तो सादि * और अनादिका जो विभाग किया गया है, वह असङ्गत होगा, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जैसे स्वप्नमें कल्प्यमान किसी गोपुर आदिकी—

---

* 'जीव ईशो विशुद्धा चित्तथा जीवेशयोर्भिदा।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः॥'

जीव, ईश्वर, विशुद्ध ब्रह्म, जीव और ईश्वरका भेद, अविद्या, अविद्या और चैतन्यका सम्बन्ध, ये छः पदार्थ वेदान्तमतमें अनादि हैं और अन्य सादि हैं, यह श्लोकका अर्थ है, यदि अविद्या कल्पित मानी जाय, तो इस श्लोकसे अनादि और सादिका जो विभाग किया गया है, वह विरुद्ध होगा, यह भाव है।

पूर्वसिद्धत्वेन कल्प्यते, किञ्चित्तदानीमुत्पाद्यमानत्वेन, एवं जागरेऽपि किञ्चित् कल्प्यमानं सादित्वेन कल्प्यते, किञ्चिदन्यथेति तावता साधनादिविभागोपपत्तेः। एतेन कार्यकारणविभागोऽपि व्याख्यात इति ॥

अविद्याव्यतिरिक्ते वा दृष्टिसृष्टिरितीतरे ॥४२॥

कुछ लोग कहते हैं कि अविद्या आदिसे अतिरिक्त पदार्थोंमें ही दृष्टिसृष्टि है ॥४२॥

अन्ये तु वस्तुतोऽनाद्येवाऽविद्याऽऽदि। तत्र दृष्टिसृष्टिर्नोपेयते, किन्तु ततोऽन्यत्र प्रपञ्चमात्रे इत्याहुः ॥

नन्वेवं श्रौतसर्गस्य कल्पकः को न कश्चन ॥
अध्यारोप्यापवादो हि निष्प्रपञ्चत्वसिद्धये ॥४३॥

यदि शङ्का हो कि श्रौत संसारका कल्पक कौन है? तो कहिए कि—कोई नहीं है, क्योंकि निष्प्रपञ्च ब्रह्मकी सिद्धिके लिए ही आरोप करके अपवाद है ॥४३॥

पूर्वसिद्धरूपसे कल्पना की जाती है और किसीकी उसी कालमें उत्पद्यमानरूपसे कल्पना की जाती है, वैसे ही जागरणमें भी किसीकी—आकाशादि कल्प्यमान पदार्थकी—सादिरूपसे कल्पना की जाती है और किसी की—अविद्यादि पदार्थ की—अनादिरूपसे कल्पना की जाती है, इस कल्पनासे सादि और अनादि पदार्थोंके विभागकी उपपत्ति हो सकती है। सादि-अनादि-विभागकी उपपत्तिके कथनसे कार्यकारणभावकी* भी उपपत्ति हुई समझनी चाहिए।

कुछ लोग कहते हैं कि अविद्या जीव आदि छः पदार्थ वस्तुतः—अनादि ही हैं, उनमें दृष्टि-सृष्टि नहीं मानते हैं, किन्तु अविद्यादिसे भिन्न सम्पूर्ण कार्य प्रपञ्चमें दृष्टिसृष्टि मानते हैं, अतः दोष नहीं है।

---

* प्रत्यक्षके प्रति घट आदि विषय जो कारण हैं, उनको घटादिप्रत्यक्षसे पूर्व अज्ञात ही मानना पड़ेगा, अन्यथा कार्य-कारणभावका विघात होगा, इसी प्रकार अविद्यासे उपहित एक चिदात्मा ही यदि अपनेमें संसारकी कल्पना करता है, तो संसारी जीवके एक होनेसे गुरुशिष्यविभाग और देवतिर्यगादिविभाग अनुपपन्न होगा, ऐसी शङ्का करके कहते हैं कि सादि-अनादि-विभागके युक्तिसिद्धत्वका प्रतिपादिपादन करनेसे यह मालूम होता है कि वस्तुतः प्रत्यक्ष के प्रति विषय के कारण न होनेपर भी उसकी कारणरूपसे कल्पना है, यह भाव है।

नन्वेवमपि श्रुतिमात्रप्रतीतस्य वियदादिसर्गतत्क्रमादेः कः कल्पकः? न कोऽपि। किमालम्बना तर्हि 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादि-श्रुतिः? निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मैक्यावलम्बनेत्यवेहि। अध्यारोपापवादाभ्यां

यदि शङ्का हो कि अविद्यासे उपहित आत्मा पूर्वोक्त युक्तिसे प्रत्यक्ष वस्तुका कल्पक भले ही † हो, परन्तु केवल श्रुतिमात्रसे प्रतीत आकाश आदि प्रपञ्च और उनके क्रम आदिका कल्पक कौन होगा? अर्थात् कोई नहीं होगा, तो यह शङ्का भी युक्त नहीं है, क्योंकि वस्तुतः उसका कोई कल्पक नहीं है। इस परिस्थितिमें पूर्वपक्षी पूछता है कि 'आत्मनः०' (आत्मासे आकाशकी उत्पत्ति हुई) इत्यादि श्रुति निरालम्ब होगी, नहीं, निरालम्ब नहीं होगी, क्योंकि पूर्वपक्षीको यह जानना चाहिए कि उन श्रुतियोंका आलम्बन प्रपञ्चशून्य ब्रह्म और जीवका ऐक्य है, [अतः उनके प्रामाण्यके विषयमें पूर्वपक्ष नहीं हो सकता है]। अध्यारोप और अपवादसे ※ प्रपञ्चशून्य ब्रह्मकी अवगति

• 'दृष्टिसमये एव प्रपञ्चसृष्टिः' (दृष्टिकालमें ही प्रपञ्च-सृष्टि) इस मतमें दृष्टिशब्दसे प्रत्यक्षप्रतीति ही विवक्षित है, परोक्षप्रतीति विवक्षित नहीं है क्योंकि प्रत्यक्षप्रतीति ही विषयाभिन्न होनेसे प्रातिभासिक पदार्थकी साधक हो सकती है, इस परिस्थितिमें वियदादि पदार्थ प्रातिभासिक सिद्ध नहीं होंगे, क्योंकि वे केवल श्रुतिमात्रगम्य हैं, यदि आकाशादि प्रपञ्च—श्रुति और प्रत्यक्ष दोनोंसे—प्रतीत होते, तो प्रत्यक्षके विषय होनेसे घटादिके समान वे आकाशादि पदार्थ भी प्रातिभासिक सिद्ध होते, परन्तु वैसा होता नहीं, अतः आकाशादि, जो केवल श्रुतिसे सिद्ध हैं, उनका कल्पक कौन है? यह प्रश्नकर्ताका भाव है।

† अध्यारोपशब्दका अर्थ है किसी सत्यवस्तुमें असत्यवस्तुका आरोप, जैसे कि सत्य रज्जुमें सर्पका आरोप करके ही 'यह सर्प है' ऐसी प्रतीति होती है। और इसी आरोपित वस्तुका बाध अपवाद है। यह बाध श्रौत, यौक्तिक और प्रत्यक्ष भेदसे तीन प्रकारका है 'नेह नानास्ति' इत्यादि बाध श्रौत है, कटक, कुण्डल आदि अपने उपादान भूत सुवर्णसे भिन्न नहीं है, ऐसा निश्चय करके दृश्यमान घटादिमें मिथ्यात्वके अवधारणसे प्रपञ्चमें ब्रह्मात्मकत्वका जो निश्चय होता है, वह यौक्तिक बाध है और यह रज्जु है, सर्प नहीं, इस प्रत्यक्षसे जैसे सर्पका बाध होता है, वैसे ही तत्त्वमस्यादि वाक्यसे उत्पन्न सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्म मैं हूँ, इस प्रत्यक्षसे ब्रह्मात्मत्वनिश्चय होता है, वह प्रत्यक्षबाध है। इस प्रकारके अध्यारोप और अपवाद से निष्प्रपञ्च ब्रह्मकी प्रतिपत्ति होती है, यह भाव है, लोकमें जैसे आकाशस्वरूपके परिज्ञान करानेके लिए प्रवृत्त पुरुष पहले नैल्य और विशालता आदिका ग्रहण कराकर अनन्तर 'यह आकाश वस्तुतः नील नहीं है' इस प्रकारके अपवादसे नीरूप, व्यापक और उदासीन गगनतत्त्वका निश्चय कराता है, वैसे ही वेदान्त भी पहले वियदादिका कारण

निष्प्रपञ्चब्रह्मप्रतिपत्तिर्भवतीति तत्प्रतिपत्त्युपायतया श्रुतिषु सृष्टिप्रलयोपन्यासः, न तात्पर्येणेति भाष्यादिषूद्घोषः। व्यर्थस्तर्हि तात्पर्याभावे वियत्प्राणपादयोर्वियदादिसर्गतत्क्रमादिविषयश्रुतीनां परस्परविरोधपरिहाराय यत्नः ? न व्यर्थः। न्यायव्युत्पत्त्यर्थमभ्युपेत्य तात्पर्यं तत्प्रवृत्तेः।

सूत्रेषु सृष्टिचिन्ता तु क्त्वाचिन्ताप्रदर्शनम्॥
स्वाप्नवत्फलसंवादः शुद्धिर्वा कर्मणां फलम्॥४४॥

सूत्रोंमें सृष्टिका विचार तो, क्त्वाचिन्ताका प्रदर्शन ही है, और वैदिक कर्मोंका फलसंवाद स्वप्नके समान है, अथवा उनका फल अन्तःकरणकी शुद्धि है॥४४॥

उक्तं हि शास्त्रदर्पणे—
'श्रुतीनां सृष्टितात्पर्यं स्वीकृत्येदमिहेरितम्।
ब्रह्मात्मैक्यपरत्वात्तु तासां तन्नैव विद्यते॥' इति।

होती है, इसलिए समस्त प्रपञ्चशून्य ब्रह्मकी अवगतिके उपायरूपसे श्रुतियोंमें सृष्टि और प्रलयका कथन किया गया है, वस्तुतः सृष्टि आदिका प्रतिपादन करना श्रुतियोंका तात्पर्यविषयीभूत अर्थ नहीं है, इस प्रकार भाष्य आदि बड़े बड़े निबन्धोंमें सहस्रशः प्रतिपादन किया गया है। यदि वियदादिसर्ग और उसके क्रमके प्रतिपादनमें श्रुतियोंका तात्पर्य नहीं है, तो वियत्पाद और प्राणपादमें परस्पर विरोधके परिहारमें जिस प्रयत्नका अवलम्बन सूत्रकार, भाष्यकार प्रभृतिने किया है, वह व्यर्थ होगा। नहीं, व्यर्थ नहीं होगा, क्योंकि न्यायोंकी व्युत्पत्तिके लिए कथञ्चित् तात्पर्यका अङ्गीकार करके वियत्पाद और प्राणपादमें यत्नानुष्ठान किया है।

* शास्त्र दर्पणमें कहा भी है—
'श्रुतीनां सृष्टि०' ('स इमाँल्लोकानसृजत' इत्यादि सृष्टिप्रतिपादक

ब्रह्म है, ऐसा सृष्टि-वाक्योंसे ग्रहण करा कर पीछे निषेधवाक्योंसे आरोपित संसारकारणत्वके निषेधसे जीव और प्रपञ्चशून्य ब्रह्मके ऐक्यका—प्रतिपादन करते हैं। इसलिए सृष्टिवाक्योंका—निषेधवाक्योंमें अपेक्षित निषेध्योंका समर्पण करके, उनके साथ एकवाक्यतापन्न होकर निष्प्रपञ्च ब्रह्मका प्रतिपादन ही—प्रयोजन है, स्वार्थमात्र प्रतिपादनप्रयोजन नहीं है, यह भाव है।

*. जिन अनुभवानन्द स्वामीजीके शिष्य श्रीअमलानन्द स्वामीजीने भामतीके ऊपर कल्पतरु व्याख्या की है, उन्हींके स्वरचित ब्रह्मसूत्रानुगामी 'शास्त्रदर्पण' नामक ग्रन्थमें यह श्लोक है, [द्रष्टव्य—अ० १ पा० ४ सू० ४ पृ० ८७ वाणीविलास प्रेस श्रीरङ्गम्]।

ज्योतिष्टोमादिश्रुतिबोधितानुष्ठानात् फलसिद्धिः स्वाप्नश्रुतिबोधितानुष्ठानप्रयुक्तफलसंवादतुल्या। ज्योतिष्टोमादिश्रुतीनां च सत्त्वशुद्धिद्वारा ब्रह्मणि तात्पर्यान्नाऽप्रामाण्यमित्यादिदृष्टिसृष्टिव्युत्पादनप्रक्रियाप्रपञ्चस्त्वाकरग्रन्थेषु द्रष्टव्यः। अयमेको दृष्टिसमसमया विश्वसृष्टिरिति दृष्टिसृष्टिवादः।

दृष्टिरेव हि विश्वस्य सृष्टिरित्यपरा विधा॥
ज्ञानस्वरूपमेवाऽऽहुरित्येतत्स्मृतियानिकाः॥४५॥

स्मृत्यनुसारी कुछ लोग दृष्टि ही संसारसृष्टि है, ऐसा दृष्टिसृष्टिका अन्य प्रकार है और यह संसार ज्ञानस्वरूप है, ऐसा कहते हैं॥४५॥

श्रुतियोंका स्वार्थमें तात्पर्य मानकर ही वियत्पाद और प्राणपादमें विरोधका समाधान किया गया है, क्योंकि सृष्टिप्रतिपादक श्रुतियोंका तात्पर्य वस्तुतः ब्रह्मात्मैक्यमें ही होनेसे सृष्टिके प्रतिपादनमें उनका अभिप्राय है ही नहीं)।

'ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' (स्वर्गको † चाहनेवाला ज्योतिष्टोम याग करे) इत्यादि श्रुतियोंसे प्रतिपादित अनुष्ठानसे स्वर्गरूप फलकी सिद्धि वैसी ही है, जैसी कि स्वप्नावस्थामें उक्त श्रुतिकी कल्पना करके उससे ज्योतिष्टोम आदिका परिज्ञान प्राप्त कर उसके अनुष्ठानसे फलकी प्राप्ति हो अर्थात् जैसे पुरुष स्वप्नकालमें परिकल्पित श्रुतियोंसे स्वर्ग आदिके साधनविशेषोंको जानकर उनके अनुष्ठानसे मिथ्या ही फल प्राप्त करता है, वैसे ही जागरणमें भी उन श्रुतियोंसे साधनविशेषोंकी अवगति द्वारा उनका अनुष्ठान करके मिथ्या स्वर्गादि फल प्राप्त करता है, यह भाव है। और अन्तःकरणकी शुद्धि द्वारा ज्योतिष्टोमादि यागकी प्रतिपादक श्रुतियाँ‡ ब्रह्मका ही परिज्ञान कराती हैं, अतः वे निष्प्रमाण नहीं हैं, इत्यादि दृष्टिसृष्टिवादका विवेचन-प्रकार आकर ग्रन्थोंमें देखना चाहिए। एक यह—दृष्टि समकालीन ही संसारकी उत्पत्ति है, इस प्रकारका—दृष्टिसृष्टिवाद है।

---

† 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतञ्च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्' अर्थात् जिस सुखमें दुःखकी मात्रा न हो, जिसका नाश न हो—जो चिरस्थायी हो और जो इच्छानुसार प्राप्त होता हो, वह सुख स्वर्गशब्दसे कहा जाता है।

‡ कर्मप्रतिपादक वाक्योंसे और उपासनाप्रतिपादक वाक्योंसे विहित कर्म और उपासनाओंका अनुष्ठान करनेवाले पुरुषका ही चित्त शुद्ध होता है, शुद्धचित्त अधिकारी पुरुषको वेदान्तशास्त्र ब्रह्मज्ञान कराता है, अतः कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड अधिकारित्वकी प्राप्ति द्वारा ब्रह्मज्ञानके ही अङ्ग हैं, इसलिए उन दोनों काण्डोंका भी ब्रह्ममें ही तात्पर्य है, स्वर्गसाधनत्वरूप स्वार्थमें नहीं है, अतः उनमें अप्रामाण्य शङ्का नहीं है, यह भाव है।

अन्यस्तु दृष्टिरेव विश्वसृष्टिः । दृश्यस्य दृष्टिभेदे प्रमाणाभावात् ।
'ज्ञानस्वरूपमेवाऽऽहुर्जगदेतद्विचक्षणाः ।
अर्थस्वरूपं भ्राम्यन्तः पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः ॥'
इति स्मृतेश्चेति सिद्धान्तमुक्तावल्यादिदर्शितो दृष्टिसृष्टिवादः ।

सृष्टिदृष्टिं परे प्राहुः संस्काराद्यनपेक्षणात् ॥
तथाऽपि विश्वं मिथ्यैव बाध्यत्वाच्छ्रुतिमानतः ॥४६॥

यद्यपि संस्कार आदिकी अपेक्षा न होनेके कारण कुछ लोग सृष्टिदृष्टिवादका ही आश्रयण करते हैं, तथापि श्रुति बाधित होनेसे संसार मिथ्या है ॥४६॥

द्विविधेऽपि दृष्टिसृष्टिवादे मनःप्रत्ययमलभमानाः केचिदाचार्याः सृष्टिदृष्टिवादं रोचयन्ते । श्रुतिदर्शितेन क्रमेण परमेश्वरसृष्टमज्ञातसत्तायुक्तमेव विश्वं तत्तद्विषयप्रमाणावतरणे तस्य तस्य दृष्टिसिद्धिरिति ।

---

* सिद्धान्तमुक्तावली आदिमें दूसरे ही दृष्टिसृष्टिवादका निरूपण किया गया है—दृष्टि ही विश्वसृष्टि है, [अर्थात् स्वप्रकाशज्ञानस्वरूपा दृष्टि ही प्रपञ्चकी सृष्टि है, दृष्टिसमकालीन अन्य प्रपञ्चकी सृष्टि नहीं है, क्योंकि] दृश्य पदार्थको स्वप्रकाशज्ञानस्वरूपसे पृथक् माननेमें कोई प्रमाण नहीं है, और इस अर्थकी प्रतिपादिका स्मृति भी है कि विवेकी पुरुष इस प्रत्यक्षसिद्ध जगत्को ज्ञानात्मक ही कहते हैं, परन्तु कुछ कुदृष्टि–भ्रान्त पुरुष—इसी ज्ञानरूप जगत्को ज्ञानसत्तासे भिन्न देखते हैं ।

उक्त दो प्रकारके दृष्टिसृष्टिवादमें विश्वास न रखते हुए † कुछ आचार्य सृष्टिदृष्टिवादमें अपनी अभिरुचि रखते हैं । श्रुतिमें बतलाये गये क्रमके अनुसार परमेश्वरसे बना हुआ जगत् अज्ञात सत्तासे ही युक्त है, और उन-उन विषयोंमें प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होनेपर उन-उन विषयोंका ज्ञान सिद्ध होता है ।

---

* द्रष्टव्य—जीवानन्द विद्यासागर द्वारा कलकत्तामें मुद्रित सिद्धान्तमुक्तावलीके ३१५ वें पेजमें इस दृष्टिसृष्टिवादका विस्तारसे वर्णन किया गया है—कोऽयं विकारः द्वैतं तद्दृष्टिर्वा ? इत्यादिसे ।

† मनःप्रत्ययशब्दका अर्थ है—विश्वास अर्थात् दृष्टिसृष्टिवादमें प्रामाणिकत्वका निश्चय नहीं है, इसमें हेतु यह है कि जाग्रत्प्रपञ्चमें प्रातिभासिकत्वका अङ्गीकार, आकाश आदि सृष्टिका अपलाप, कर्मोपासनाकाण्डमें वर्णित अर्थोंके अनुष्ठानसे होनेवाले स्वर्ग आदिका अपलाप आदि । अतः सृष्टि-दृष्टिवाद ही युक्त है अर्थात् श्रुतिमें जिस आकाशादिक्रमसे सृष्टिका प्रतिपादन किया गया है, उसी

न चैवं प्रपञ्चस्य कल्पितत्वाभावे श्रुत्यादिप्रतिपन्नस्य सृष्टिप्रलयादिमतः प्रत्यक्षादिप्रतिपन्नार्थक्रियाकारिणश्च तस्य सत्यत्वमेवाऽभ्युपगतं स्यादिति वाच्यम्, शुक्तिरजतादिवत् सम्प्रयोगसंस्कारदोषरूपेण, अधिष्ठानज्ञानसंस्कार-दोषरूपेण वा कारणत्रयेणाऽजन्यतया कल्पनासमसमयत्वाभावेऽपि ज्ञानैकनिव-

---

यदि शङ्का हो कि * उक्त रीतिसे प्रपञ्चको यदि कल्पित न माना जाय, तो श्रुति, स्मृति आदिसे ज्ञात सृष्टि, प्रलय आदिसे युक्त तथा प्रत्यक्ष प्रमाणसे ज्ञात अर्थक्रियाकारित्वसे युक्त संसारमें सत्यता ही स्वीकृत होगी ? तो यह शङ्का † युक्त नहीं है, क्योंकि यद्यपि शुक्ति-रजत आदिके समान सम्प्रयोग, संस्कार और दोषरूप अथवा अधिष्ठानज्ञान, संस्कार और दोषरूप तीन कारणोंसे जन्य न होनेके कारण वियदादि प्रपञ्च कल्पनासमानकालीन नहीं है, तथापि ‡

क्रमसे परमेश्वरसे सृष्टि उत्पन्न होती है, और वह अज्ञात सत्तावाली है, तत्-तत् विषयोंमें तत्-तत् प्रमाणोंकी प्रवृत्ति होनेके अनन्तर आवरणभङ्ग द्वारा तत्-तत् विषयोंका अपरोक्षावभास (दृष्टि) होता है, अतः दृष्टि ही सृष्टि नहीं है, यह सृष्टिदृष्टिवादियोंका भाव है ।

* शङ्काका तात्पर्य यह है कि सृष्टिदृष्टिवादके अनुसार प्रपञ्च कल्पित न माना जाय, तो प्रपञ्च सत्य ही सिद्ध होगा, क्योंकि प्रपञ्च सत्य है, श्रुतिसिद्ध होनेसे, ब्रह्मके समान, यह अनुमान प्रमाण है । यद्यपि प्रपञ्च स्वरूपतः प्रत्यक्षसे सिद्ध है, तथापि सृष्टि, प्रलय आदियुक्तत्वरूपसे श्रुति, स्मृति आदिसे ही सिद्ध है, इसी प्रकार प्रपञ्च सत्य है, अर्थक्रियाकारी होनेसे, सृष्टि आदि अर्थक्रियाकारी ब्रह्मके समान, यह हेतु स्वरूपासिद्ध भी नहीं है, क्योंकि पृथ्वी, जल आदिमें उक्त हेतु प्रत्यक्षसे सिद्ध ही है ।

† समाधानका तात्पर्य यह है—यद्यपि आकाश आदि प्रपञ्चमें कल्पना-समान-कालिकत्व नहीं है, जैसे कि दृष्टिसृष्टिवादियोंने माना है, क्योंकि वहींपर कल्पनासमानकालिकत्व होता है, जहाँपर सम्प्रयोग आदि कारणत्रयजन्यत्व रहता है, तथापि पारमार्थिक सत्यत्वसे विरुद्ध मिथ्यात्व, जिसका (तीन प्रकारोंसे मूलमें निर्वचन किया है) वियदादि प्रपञ्चमें वर्तमान है, अतः इस वादमें भी प्रपञ्च पारमार्थिक सत्य नहीं हो सकता है ।

‡ केवल ज्ञाननिवर्त्यत्व—जिसका बाध केवल अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कार हीसे हो, वह मिथ्यात्व है । जैसे शुक्तिमें उत्पन्न रजतकी निवृत्ति शुक्तिरूप अधिष्ठानके तत्त्वसाक्षात्कारसे होती है, अतः वह मिथ्या है ।

सदसद्विलक्षणत्व—जो सत् (त्रिकालाबाधित) से और असत् (किसी समयमें भी प्रतीत न होनेवाले) से विलक्षण हो, वह मिथ्या है, जैसे शुक्तिरजत न सत् है और न शशशृङ्गके समान असत् है, अतः शुक्तिरजत मिथ्या है । केवल सद्विलक्षणको मिथ्या कहनेसे असत् शशशृङ्गमें दोष होगा और असद्विलक्षणमात्र कहनेसे ब्रह्ममें अतिव्याप्ति होगी, इसलिए सदसद्विलक्षण मिथ्याका लक्षण कहा गया है ।

र्त्यत्वरूपस्य, सदसद्विलक्षणत्वरूपस्य, प्रतिपन्नोपाधिगतत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपस्य वा मिथ्यात्वस्याऽभ्युपगमात् । सत्यत्वपक्षे प्रपञ्चे उक्तरूपमिथ्यात्वाभावेन ततो भेदात् ।

अहङ्कारादीमिथ्यात्वं नन्वेवं सम्प्रसिध्यति ।
तदध्यासाय टीकादौ व्यर्था कारणकल्पना ॥४७॥

शङ्का—जब आकाश आदिके समान अहङ्कार और उसके धर्म मिथ्या सिद्ध होते हैं, तब उसके मिथ्यात्वके लिए भाष्य, टीका और विवरणमें कारणत्रयकी की गई कल्पना व्यर्थ ही है ॥४७॥

नन्वेवमहङ्कारतद्धर्माणामपि उक्तरूपमिथ्यात्वं वियदादिवत् कल्पितत्वा-

---

केवल ज्ञानसे निवर्त्यत्वरूप, सदसद्विलक्षणत्वरूप अथवा प्रतिपन्नोपाधिगतत्रैकालिक निषेधप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व आकाश आदि प्रपञ्चमें सिद्ध ही है। [अतः सत्यत्वविरोधी उक्त त्रिविध लक्षणोंसे लक्षित मिथ्यात्वके विद्यमान होनेसे उनमें सत्यत्वकी प्रसक्ति नहीं है, यह भाव है]। घटादिके सत्यत्वपक्षमें प्रपञ्चमें उक्त मिथ्यात्वके न होनेसे सत्यत्वपक्षसे दृष्टिसृष्टिपक्षमें भेद है ही।

यदि शङ्का हो कि * ज्ञाननिवर्त्यत्व आदि यदि मिथ्यात्वके स्वरूप माने जांय, तो आकाशादि प्रपञ्चके समान अहङ्कार और उसके धर्मोंमें कथित मिथ्यात्व

तृतीय प्रतिपन्नोपाधिगतत्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्व मिथ्यात्वका लक्षण है—अर्थात् अधिष्ठानमें ज्ञात जो अत्यन्ताभाव उसका जो प्रतियोगी हो, वह मिथ्या है, जैसे शुक्तिरजतका अधिष्ठान है शुक्ति, उसमें रहनेवाला त्रैकालिक निषेध अत्यन्ताभाव है—शुक्तिमें रजत नहीं है, नहीं था और होगा भी नहीं, इसका प्रतियोगी हुआ रजत, इसलिए रजत मिथ्या है।

ये मिथ्याके तीनों लक्षण प्रपञ्चमें घटते हैं, क्योंकि आकाश आदि प्रपञ्चका ब्रह्मरूप अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारसे बाध होता है, प्रपञ्च सत् एवं असत्से विलक्षण है और ब्रह्मरूप जो उपाधि—अधिष्ठान है, उसमें प्रपञ्चका जो त्रैकालिक निषेध है यह उसका प्रतियोगी भी प्रपञ्च है।

* 'तथान्तःकरणधर्मान्—कामसङ्कल्पविचिकित्सा······एवमहं प्रत्ययिनम्०' इत्यादि भाष्य, युष्मदर्थलक्षणापन्नोऽहङ्कारोऽध्यस्त इति······ननु बहिरर्थकरणदोषोर्थगतः······न त्विह कारणन्तरायत्ता इत्यादि टीका (पृ० २५६ भामत्यादि टीकानवकोपेत भाष्य कलकत्ता मुद्रित) और इसी पत्रस्थ अद्वितीयचैतन्यात्मनि······इत्यादि विवरण, जिनसे अहङ्कारादि अध्यास सिद्ध किया गया है, इस प्रकृत शङ्काके बीज हैं, यह भाव है।

भावेऽपि सिध्यतीति भाष्यटीकाविवरणेषु तदध्यासे कारणत्रितयसम्पादना-दियत्नो व्यर्थ इति चेद्,

अत्राहुः साक्षिवेद्यत्वादहङ्कारस्पृहादिकम् ।
प्रातिभासिकमेवेति चित्सुखाचार्ययोगिनः ॥४८॥

उक्त शङ्काके समाधानमें योगी चित्सुखाचार्य कहते हैं कि अहङ्कार और उसके धर्म साक्षिवेद्य होनेसे [शुक्तिरजतके समान] प्रातिभासिक ही हैं ॥४८॥

अहङ्कारादीनामपि केवलसाक्षिवेद्यतया शुक्तिरजतवत् प्रातिभासिकत्व-मभिमतमिति चित्सुखाचार्याः ॥

चैतन्यस्याऽप्रमाणस्य प्रमाणत्वेन कीर्तनात् ।
तं तु रामाद्वयाचार्याः प्रौढिवादं प्रचक्षते ॥४९॥

अप्रमाणभूत चैतन्यमें प्रमाणत्वके कथनसे उस कारणत्रितय प्रतिपादक भाष्यटीकादि ग्रन्थको रामाद्वयाचार्य प्रौढिवादमात्र मानते हैं ॥४९॥

अभ्युपेत्यवादमात्रं तत्, 'अद्वितीयाधिष्ठानब्रह्मात्मप्रमाणस्य चैतन्यस्य' इत्यादितत्रत्यकारणत्रितयसम्पादनग्रन्थस्य चैतन्यस्य प्रमाकरणत्वे वेदान्त-

---

उन अहङ्कारादिके प्रातिभासिक न माननेपर भी हो सकता है, फिर भाष्य, टीका और विवरणमें अहङ्कार आदिके अध्यासमें कारणत्रयके सम्पादन आदिमें जो प्रयत्न किया गया है, वह व्यर्थ ही है ?

नहीं, व्यर्थ नहीं है, क्योंकि केवल साक्षीसे वेद्य होनेके कारण शुक्ति-रजतके समान अहङ्कार आदि प्रातिभासिक ही हैं, ऐसा चित्सुखाचार्य मानते हैं ।

† उक्त विषयमें रामाद्वयाचार्यका कहना है कि भाष्य; टीका आदि सब ग्रन्थ केवल अभ्युपेत्यवाद ही हैं अर्थात् अहङ्कार आदिमें प्रातिभासिकत्वका केवल आपाततः स्वीकार करके भाष्य, टीकादिमें कारणत्रयका सम्पादन किया गया है, वस्तुस्थितिका अङ्गीकार करके नहीं किया गया है, क्योंकि वहाँके 'अद्वितीया०' (अद्वितीय अधिष्ठानरूप ब्रह्मात्मामें चैतन्य ही प्रमाण है) इत्यादि

---

† इनका तात्पर्य यह है कि अहङ्कार आदि भले ही केवल साक्षीसे वेद्य हों, परन्तु उन्हें शुक्तिरजतादिके समान प्रातिभासिक मानना अयुक्त है, क्योंकि अहङ्कार आदिका व्यवहारकालमें बाध नहीं देखा जाता है, इसलिए वे वस्तुतः प्रातिभासिक नहीं हैं, परन्तु उनके प्रातिभासिकत्व-का आपाततः अङ्गीकार करके कारणत्रयजन्यत्वका समर्थन भाष्य आदिमें किया गया है ।

करणत्वादिकल्पनाभङ्गप्रसङ्गेन प्रौढिवादत्वस्य स्फुटत्वादिति रामाद्वयाचार्याः ॥ ७ ॥

ननु प्रपञ्चो मिथ्यात्वात् कथमर्थक्रियाक्षमः ।

यदि शङ्का हो कि प्रपञ्च मिथ्या होनेसे अर्थक्रियामें समर्थ कैसे होगा ?

(८) ननु दृष्टिसृष्टिवादे, सृष्टिदृष्टिवादे च मिथ्यात्वसम्प्रतिपत्तेः कथं मिथ्याभूतस्याऽर्थक्रियाकारित्वम् ?

केचित् स्वप्नवदत्राऽऽहुः समसत्ताकतत्क्रियाम् ॥ ५० ॥

उक्त शङ्काके समाधानमें कुछ लोग कहते हैं कि स्वप्नके समान जागरणमें भी समानसत्ताक अर्थक्रिया होगी ॥५०॥

स्वप्नवदिति ब्रूमः । ननु स्वाप्नजलादिसाध्यावगाहनादिरूपाऽर्थक्रिया

कारणत्रयसम्पादक ग्रन्थकी प्रौढिवादता स्पष्ट है, [यदि उसे प्रौढिवाद न माना जाय, तो चैतन्यके प्रमाकरण होनेसे वेदान्त ही ब्रह्मप्रमाके करण हैं, इत्यादि कल्पनाका भङ्ग होगा] ॥७॥

अब * शङ्का होती है कि दृष्टि-सृष्टिवादमें और सृष्टि-दृष्टिवादमें प्रपञ्चके मिथ्यात्वका अङ्गीकार होनेसे मिथ्याभूत प्रपञ्च अर्थक्रियाकारी कैसे होगा ?

इस † आक्षेपके समाधानमें कुछ लोग कहते हैं कि स्वप्नके समान जाग्रत्‌में अर्थक्रियाकारित्व हो सकता है, अर्थात् जैसे मिथ्याभूत स्वाप्न जलमें स्नान आदि अर्थक्रिया देखी जाती है, परन्तु उन पदार्थोंमें सत्यत्व नहीं है, वैसे ही उक्त दो वादोंमें प्रपञ्चके सत्य न होनेपर भी अर्थक्रिया हो सकती है, यह भाव है। यदि शङ्का हो कि स्वप्नके जल आदिसे होनेवाली अवगाहन आदि अर्थक्रिया असत्य ही है, सत्य नहीं है, जाग्रत्‌में अवगाहनादि अर्थ सत्य

---

* अर्थक्रियाकारित्व प्रपञ्चके पारमार्थिकत्वमें प्रयोजक नहीं है, ऐसा पूर्वमें कहा जा चुका है, परन्तु शङ्का करनेवाला कहता है—वह अयुक्त है, क्योंकि जो मिथ्याभूत पदार्थ है, उसमें अर्थक्रियाकारित्व रह नहीं सकता है, कारण कि मिथ्याभूत शुक्तिरजतसे कटक आदि अर्थक्रिया नहीं देखी जाती है, अतः प्रपञ्च मिथ्या नहीं है, यह शङ्का करनेवालेका अभिप्राय है।

† अर्थक्रियाकारित्व हेतुसे भी प्रपञ्चमें सत्यत्वका साधन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि स्वाप्न पदार्थोंमें व्यभिचार है, यह इस ग्रन्थसे कहा जाता है।

असत्यैव, किन्तु जाग्रज्जलादिसाध्या सा सत्या? अविशिष्टमुभयत्रापि स्वसमानसत्ताकार्थक्रियाकारित्वमिति केचित्।

स्वप्नोत्थभयकम्पादेर्जागरेऽप्यनुवर्तनात्।
अद्वैतविद्याचार्याणां समसत्ता न सम्मता ॥ ५१ ॥

स्वप्नसे जागनेवाले मनुष्यके भय, कम्प आदि जागरणमें देखे जाते हैं, अतः अद्वैतविद्याचार्य समसत्ताक अर्थक्रिया नहीं मानते हैं ॥५१॥

अद्वैतविद्याचार्यास्त्वाहुः—स्वाप्नपदार्थानां न केवलं प्रबोधबाध्यार्थक्रियामात्रकारित्वम्। स्वाप्नाङ्गनाभुजङ्गमादीनां तदबाध्यसुखभयादिजन-

---

है? तो यह भी शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसे प्रश्न करनेवालोंसे यह पूछा जा सकता है कि क्या जाग्रत्कालीन जलादिसे साध्य अवगाहनादि अर्थक्रिया सत्य है? अर्थात् उसे भी सत्य नहीं मान सकते हैं, इसलिए सत्यार्थक्रियाकारित्वसे भी प्रपञ्चमें सत्यत्व सिद्ध नहीं कर सकते हैं। स्वसमानसत्ताक ‡ अर्थक्रियाकारित्व तो स्वप्न और जाग्रत् दोनोंमें समान है, [परन्तु इससे प्रपञ्चमें सत्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता है]।

* पूर्वोक्त आक्षेपके समाधानमें अद्वैतविद्याचार्य कहते हैं—स्वप्नकालीन पदार्थोंकी केवल वही अर्थक्रियाकारिता नहीं है, जो कि प्रबोधसे बाधित होती

---

‡ तात्पर्य यह है कि केवल अर्थक्रियाकारिता सत्यत्वप्रयोजक नहीं है, परन्तु सत्यार्थक्रियाकारिता ही सत्यत्वकी प्रयोजक है। आकाश, घट आदिकी अर्थक्रिया सत्य है, इसलिए वे आकाशादि मिथ्या नहीं हो सकते हैं, स्वाप्न जलादिकी अर्थ क्रिया असत्य है, अतः उनमें सत्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता है, अतः घटादि प्रपञ्च सत्य है, सत्यार्थक्रियाकारी होनेसे इस अनुमानसे प्रपञ्चमें सत्यत्व सिद्ध हो सकता है, तथापि यह असङ्गत है, क्योंकि जाग्रत्कालीन अर्थोंकी अर्थक्रिया भी सत्य—त्रिकालाबाधित—नहीं है, अतः उसे नहीं मान सकते हैं। अर्थक्रियाकारिता, तो दोनोंमें समान है।

* अद्वैतविद्याचार्यके मतमें स्वप्नकालीन पदार्थोंकी भी अर्थक्रिया सत्य मानी गई है, अतः पूर्व मतोंसे इसमें वैलक्षण्य है। तात्पर्य यह है कि प्रबोधसे बाध्य अर्थक्रिया प्रातिभासिक अर्थक्रिया होती है, और जो प्रबोधसे बाधित अर्थक्रिया नहीं होती है, वह भले ही स्वप्नकालीन क्यों न हो परन्तु अप्रातिभासिक—सत्य—ही अर्थक्रिया होती है। इसलिए स्वप्नकालके सभी पदार्थोंमें असत्य अर्थक्रियाकारिता नहीं रहती है, किन्तु व्यावहारिक अर्थक्रियाकारित्व भी रहता ही है। क्योंकि स्वाप्नाङ्गना आदिसे ऐसे सुख आदि होते हैं, जिनका जागरणमें बाध नहीं होता है, इसी प्रकार व्यावहारिक पदार्थोंमें व्यावहारिकार्थक्रियाकारिता

कत्वस्यापि दर्शनात् । स्वाप्नविषयजन्यस्यापि हि सुखभयादेः प्रबोधानन्तरं न बाधोऽनुभूयते, प्रत्युत प्रबोधानन्तरमपि मनःप्रसादशरीरकम्पनादिना सह तदनुवृत्तिदर्शनात् प्रागपि सत्त्वमेवाऽवसीयते। अत एव प्राणिनां पुनरपि सुखजनकविषयगोचरस्वप्ने वाञ्छा, अतादृशे च स्वप्ने प्रद्वेषः । सम्भवति च स्वप्नेऽपि ज्ञानवद् अन्तःकरणवृत्तिरूपस्य सुखभयादेरुदयः । न च स्वाप्नाङ्गनादिज्ञानमेव सुखादिजनकम्, तच्च सदेवेति वाच्यम्, तस्यापि

है, क्योंकि स्वप्नकालीन अङ्गना, भयङ्कर सर्प आदिसे जागरणमें बाधित न होनेवाले सुख, भय आदि भी देखे जाते हैं । यद्यपि स्वाप्निक अङ्गना आदि विषयोंसे आनन्द और भय आदि उत्पन्न हुये हैं, तथापि उनका 'स्वप्नमें सुख, भय आदि मुझे नहीं हुए' इस प्रकार प्रबोधमें बाध नहीं देखा जाता है, प्रत्युत उठनेके बाद भी मनकी † प्रसन्नता और शरीरके कम्प आदिके साथ सुखादिकी अनुवृत्ति देखी जाती है, अतः उठनेके पूर्वमें भी उनकी सत्ता निश्चित होती है। इसीसे आनन्दप्रद विषयोंसे युक्त स्वप्नकी प्राणियोंको फिर भी इच्छा होती है और जो स्वप्न सुखप्रद विषयोंसे युक्त नहीं है, उसकी इच्छा नहीं होती है— उसमें द्वेष होता है । ‡ स्वप्नमें ज्ञानके समान अन्तःकरणके वृत्तिरूप सुख, भय आदि उत्पन्न होते हैं। यदि शङ्का हो कि स्वप्नकालिक अङ्गना आदिका ज्ञान ही सुख आदिका कारण है, और वह ज्ञान तो सत्य ही है, इसलिए कोई अनुपपत्ति

सिद्ध हो सकती है, इसलिए अर्थक्रियाकारिताकी मिथ्यात्वपक्षमें अनुपपत्ति नहीं हो सकती है, यह भाव है।

† सुखानुभवसे मनःप्रसाद हुआ करता है और भय या दुःखके अनुभवसे शरीरकम्प आदि हुआ करता है, इन्हींसे ज्ञात होता है कि जागनेके बाद भी सुख, भय आदिकी अनुवृत्ति होती है, इसलिए उनकी जाग्रत्कालमें अनुवृत्ति होनेसे प्रबोधके पूर्वमें भी उनकी सत्यता साबित होती है, यह भाव है। इस विषयमें अनुमान भी करते हैं—स्वप्नकालीन भय और सुख आदि, जाग्रत् सुख आदिके समान व्यावहारिक सत्य हैं, प्रातिभासिक नहीं हैं, क्योंकि प्रबोधके बाद भी उनका बाध नहीं होता है और जाग्रत्कालमें उनकी अनुवृत्ति भी होती है।

‡ 'तदेतत्सत्त्वम् येन स्वप्नं पश्यति' इस श्रुतिके आधारपर कल्पतरुकारने मानसवृत्तिरूप ज्ञान स्वप्नमें माना है, इसी प्रकार मानसवृत्तिरूप अन्तःकरण वृत्तिरूप—भय आदि भी व्यावहारिक हो सकते हैं, यह भाव है।

दर्शनस्पर्शनादिवृत्तिरूपस्य स्वप्नप्रपञ्चसाक्षिण्यध्यस्तस्य कल्पनामात्रसिद्धत्वात्, नह्युपरतेन्द्रियस्य चक्षुरादिवृत्तयः सत्याः सम्भवन्ति। न च तद्विषयापरोक्ष्यमात्रं सुखजनकम्, तच्च साक्षिरूपं सदेवेति वाच्यम्, दर्शनात् स्पर्शने कामिन्याः, पदा स्पर्शनात् पाणिना स्पर्शने; भुजङ्गस्याऽ-

नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि वह * ज्ञान भी, जो कि दर्शन, स्पर्शन आदि वृत्तिरूप और स्वप्नप्रपञ्चके साक्षीमें अध्यस्त है, केवल कल्पनासे ही सिद्ध है, क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ उपरत हुई हैं, ऐसे पुरुषके चक्षु आदिकी वृत्तियाँ सत्य नहीं हो सकती हैं। यदि शङ्का हो कि स्वाप्न विषयका आपरोक्ष्य ही सुखजनक है और वह साक्षीरूप होनेसे सत्य है, अतः अनुपपत्ति नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जागरणमें सुन्दरीके दर्शनकी अपेक्षा स्पर्श करनेमें †

* शङ्का समाधानका तात्पर्य यह है कि स्वाप्न सुख आदिकी उत्पत्ति स्वाप्न अङ्गना आदिसे नहीं होती है, किन्तु उनके ज्ञानसे होती है, अतः असत्यसे सत्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है, किन्तु सत्यसे सत्यकी उत्पत्ति होती है। प्रकृतमें स्वाप्न अङ्गना आदिका ज्ञान साक्षीरूप है, अतः अनुपपत्ति नहीं है, यह पूर्वपक्षका आशय है, इसका उत्तर है कि मनोमात्रजन्य वृत्तिरूप ज्ञान सत्य है या चक्षुरादिजन्य वृत्तिरूप ज्ञान सत्य है अथवा केवल साक्षीरूप ज्ञान सत्य है। इस विकल्पमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि इसमें भी यह विकल्प हो सकता है कि केवल उक्त वृत्ति ही भयादिकी हेतु है या स्वाप्न भुजङ्ग आदिरूप विषयसे विशेषित वृत्ति हेतु है? इसमें पहला पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि यत्किञ्चित् वृत्तिसे भी सुख आदिकी स्वप्नमें उत्पत्ति होने लगेगी, द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि वृत्तिमात्रके सत्य होनेपर भी विषयोंके असत्य होनेसे उन विषयोंसे विशिष्ट वृत्ति असत्य होगी, इसलिए प्रातिभासिक ज्ञानसे व्यावहारिक अर्थक्रिया उत्पन्न हो सकती है, अतः उक्त उदाहरण युक्त ही है, ऐसा समझ कर प्रथम कहे गये विकल्पमेंसे द्वितीय पक्ष का अर्थात् चक्षुरादिजन्य वृत्तिरूप ज्ञानस्वरूपका 'ज्ञानस्यापि' इत्यादि मूलसे परिहार किया गया है। तृतीय विकल्पका 'न च तद्विषया' इत्यादिसे परिहार किया गया है। अतः 'स्वाप्न अङ्गनादिज्ञान सत्य है, यह कहना असङ्गत है।

† जागरण अवस्थामें यह अक्सर देखा गया है और अनुभवसिद्ध भी है कि किसी रमणीके दर्शनकी अपेक्षा स्पर्शसे अधिक सुख होता है, एवमेव सर्पके पुच्छस्पर्शकी अपेक्षा सिरके स्पर्शसे भय अधिक होता है। अतः यह मानना आवश्यक है कि केवल विषयापरोक्ष्यसे सुख, भय आदिकी उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु दर्शन, स्पर्शन आदि रूपवृत्तिविशेषसे युक्त विषयोंके आपरोक्ष्यसे ही सुख आदिकी उत्पत्ति होती है, इसी प्रकार स्वप्नमें भी तत्-तत् विषयोंके केवल आपरोक्ष्यसे सुखादिकी उत्पत्ति नहीं होती है, किन्तु तादृशवृत्तिविशेषोंसे विशेषित विषयोंके आपरोक्ष्यसे ही उनकी उत्पत्ति होती है। इसलिए केवल

मर्मस्थले स्पर्शनाद् मर्मस्थले स्पर्शने सुखविशेषस्य भयविशेषस्य चाऽनुभवसिद्धत्वेन स्वप्नेऽपि तत्तत्सुखभयादिविशेषस्य कल्पितदर्शनस्पर्शनादिवृत्तिविशेषजन्यत्वस्य वक्तव्यत्वादिति।

अन्तर्बाह्यपुमध्यस्ततमसोऽर्थक्रियेक्षणात्।
दीपादिनाश्यताद्दष्टेर्युक्तमेतादितीतरे ॥ ५२ ॥

स्वप्नमें बाह्यपुरुषसे अध्यस्त घरके भीतरके अंधकारमें अर्थक्रिया—घटाद्यावरण और दीपादिनाश्यता—देखी जाती है, अतः पूर्वोक्त अद्वैताचार्यसम्मत पक्ष युक्त ही है, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं॥ ५२॥

तथा जागरे घटादिप्रकाशनक्षमतत्रत्यपुरुषान्तरनिरीक्ष्यमाणालोकवत्यपवरके सद्यः प्रविष्टेन पुंसा कल्पितस्य सन्तमसस्य प्रसिद्धसन्तमसोचितार्थक्रियाकारित्वं दृष्टम्। तेन तं प्रति घटाद्यावरणम्, दीपाद्यानयने तदपसरणम्, तन्नयने पुनरावरणमित्यादेर्दर्शनादित्यपि केचित्।

और वहां भी पैरसे स्पर्शकी अपेक्षा हस्तसे स्पर्श करनेमें, और सर्पके अमर्मस्थलके स्पर्शकी अपेक्षा मर्मस्थलके स्पर्श करनेमें क्रमशः अधिक सुखविशेष और भयविशेष अनुभवसिद्ध है, इसलिए स्वप्नमें भी तत्-तत् सुख, भय आदि विशेष—कल्पित दर्शन, स्पर्शन आदि वृत्तिविशेषोंसे—जन्य हैं, यह कह सकते हैं।

इसी * प्रकार जाग्रदवस्थामें घट आदि पदार्थोंका प्रकाशन करनेमें समर्थ तथा छोटे घरमें स्थित अन्य पुरुषों द्वारा दृश्यमान तेजसे युक्त छोटे घर में भी तत्क्षण प्रविष्ट पुरुष द्वारा कल्पित अन्धकार, प्रसिद्ध अन्धकारके सदृश, अर्थक्रियाकारी देखा जाता है, क्योंकि उस अन्धकारसे उस पुरुषके प्रति घटादिका आवरण, दीप आदिके लानेपर उसका अपसरण और दीप आदिके हटानेपर पुनः संवरण आदि अनुभूत होते हैं—ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं।

विषयापरोक्ष्यके सत्य होनेपर भी उक्त विशिष्ट आपरोक्ष्यके प्रातिभासिक होनेके कारण प्रातिभासिकसे व्यावहारिक सत्यकी उत्पत्ति हो सकती है, यह भाव है।

* पूर्वोक्त प्रकारसे स्वप्नावस्थामें असत्यसे सत्य अर्थक्रियाका उपपादन किया गया, जागरणमें भी असत्यसे सत्य अर्थक्रिया होती है, यह भी कुछ लोगों का सम्मत पक्ष है, अब उसे कहते हैं।

अन्ये तु हेतुसत्यत्वापेक्षा नाऽर्थक्रियां प्रति ।
मरीचितोये तोयत्वजात्यभावान्न तत्क्रिया ॥ ५३ ॥

कुछ लोग कहते हैं—अर्थक्रियाके प्रति हेतुकी सत्यता अपेक्षित नहीं है, मरु-मरीचिका जलमें अर्थक्रिया इसलिए नहीं होती है कि उसमें अवगाहनादि कार्यका कारणतावच्छेदक जलत्व जाति नहीं है ॥५३॥

अन्ये तु पानावगाहनाद्यर्थक्रियायां जलादिस्वरूपमात्रमुपयोगि, न तद्गतं सत्यत्वम् । तस्य कारणत्वतदवच्छेदकत्वयोरभावादिति किं तेन । न चैवं सति मरुमरीचिकोदकशुक्तिरजतादेरपि प्रसिद्धोदकाद्युचितार्थक्रियाकारित्वप्रसङ्गः । 'मरीचिकोदकादावुदकत्वादिजातिर्नास्तीति तद्विषयकभ्रमस्य उदकशब्दोल्लेखित्वं तदुल्लेखिपूर्वानुभवसंस्कारजन्य-

कुछ लोग कहते हैं कि जलपान और स्नान आदि अर्थक्रियामें केवल जल आदिका स्वरूप ही अपेक्षित है, जलादिकी सत्यता अपेक्षित नहीं है, क्योंकि जलादिगत सत्यतामें न तो उक्त अर्थक्रियाकी कारणता है और न तो कारणतावच्छेदकता है, इससे उसकी सत्यताका प्रकृतमें कुछ प्रयोजन नहीं है । यदि शङ्का हो कि सत्यताको यदि कारणावच्छेदक न माना जाय, तो मरुमरीचिकोदक † और शुक्ति-रजतमें भी व्यावहारिक जलके योग्य अर्थक्रियाकारिता प्रसक्त होगी, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'मरीचिकाजल आदिमें उदकत्व आदि जाति ही नहीं है, और मरु-मरीचिका-जलविषयक भ्रममें 'यह जल है' इत्याकारक जो जलावगाही प्रत्यय होता है । वह तो उदकशब्दोल्लेखी पूर्वानुभवसे उत्पन्न होनेवाले संस्कारसे उक्त भ्रम उत्पन्न होता है—इसलिए होता है । इस प्रकारके तत्त्वशुद्धिकार आदिके मतसे मरु-मरीचिकाजल आदिमें तत्-तत् अर्थक्रियाओंके प्रति हेतुभूत ‡

† मरुभूमिमें सम्पृक्त किरणोंमें आरोपित जलको 'मरुमरीचिकोदक' कहते हैं ।

‡ व्यावहारिक जलकी पान आदि जो अर्थक्रियाएँ हैं, उनमें उदकत्व जाति प्रयोजक है, क्योंकि जलके बिना पान हो ही नहीं सकता है । इसी प्रकार प्रसिद्ध रजत आदिकी कटक, कुण्डल आदि अर्थक्रियामें भी रजतत्व आदि प्रयोजक है, क्योंकि रजतत्वादिसे रहित मृत्तिका आदिसे कटक आदि नहीं हो सकते हैं, इस परिस्थितिमें प्रातिभासिक मरुमरीचिका जलमें वस्तुतः जलत्वादि अर्थक्रिया प्रयोजक धर्मोंके न रहनेसे उनसे अर्थक्रिया नहीं हो सकती है, यह भाव है ।

त्वप्रयुक्तम्' इति तत्त्वशुद्धिकारादिमते तत्तदर्थक्रियाप्रयोजकोदकत्वादिजात्यभावादेव तदप्रसङ्गात् ।

अन्ये तु जातिरस्त्येव काचिदर्थक्रियाऽपि च ।
हेतूच्छेदेन बाधेनाऽनध्यासेन च नाऽखिला ॥५४॥

कुछ लोग कहते हैं कि मरुमरीचिका जल आदिमें उदकत्व आदि जाति है और उक्तस्थलमें कोई अर्थक्रिया भी वहाँ होती है, परन्तु हेतुके उच्छेदसे, बाधसे और अनध्याससे सम्पूर्ण अर्थक्रियाएँ नहीं होती हैं॥ ५४ ॥

तत्राप्युदकत्वादिजातिरस्ति । अन्यथा तद्वैशिष्टयोल्लेखिभ्रमविरोधाद्, उदकाद्यर्थिनस्तत्र प्रवृत्त्यभावप्रसङ्गाच्चेति प्रातिभासिके पूर्वदृष्टसजातीयत्वव्यवहारानुरोधिनां मते क्वचिदधिष्ठानविशेषज्ञानेन समूलाध्यासनाशात्,

---

उदकत्व आदि जाति ही नहीं है, अतः तथाकथित प्रसिद्ध उदक आदिसे होनेवाली अर्थक्रियाओंका प्रातिभासिक जलादिसे प्रसङ्ग नहीं है, यह भाव है ।

* मरीचिकाजल आदिमें भी उदकत्व आदि जातियाँ हैं । यदि उनमें उदकत्वादि जातियाँ न मानी जाँय, तो उदकत्व आदि जातियोंका अवगाहन करनेवाले भ्रमोंके साथ विरोध होगा, और दूसरी बात यह है कि जलादि के अभिलाषुकोंकी प्रवृत्ति ही उन स्थलोंमें नहीं होगी †, इस प्रकारसे प्रातिभासिक पदार्थोंमें जो पूर्वदृष्ट पदार्थोंकी सजातीयता ‡ मानते हैं, उनके मतमें तत्-तत् भ्रमविषयीभूत पदार्थोंमें तत्-तत् अर्थक्रियाकारिता इसलिए नहीं होती है कि कहींपर × अधिष्ठानगत विशेषांशके परिज्ञानसे समूल-अध्यासका विनाश

---

* प्रातिभासिक जलादि पदार्थोंमें जलत्व आदि जातिका अङ्गीकार करके भी उक्त अतिप्रसङ्गका निवारण कुछ लोग करते हैं—'तत्रापि' इस ग्रन्थसे ।

† क्योंकि प्रवृत्तिके प्रति इष्टतावच्छेदकविशिष्टका ज्ञान प्रयोजक है, प्रकृत प्रातिभासिक जलादि पदार्थोंमें यदि जलत्वादि धर्मोंका अङ्गीकार न किया जाय, तो इष्टतावच्छेदक जलत्वादिवैशिष्ट्यावगाही ज्ञानके न होनेसे जलार्थीकी प्रवृत्ति ही नहीं होगी । परन्तु होती है, अतः जलत्वादि जातियाँ माननी चाहिएँ, यह भाव है ।

‡ तात्पर्य यह है कि प्रातिभासिक और व्यावहारिक जलमें एक जातिके न माननेपर भाष्यादिमें प्रतिभासिकाध्यासोंमें पूर्वदृष्टकी सजातीयताका जो व्यवहार किया गया है, वह भी विरुद्ध होगा, यदि प्रातिभासिक जलमें जलत्वादि न माने जाँय तो ।

× मनुष्य दूरसे मरीचिकामें जलकी भ्रान्तिके बाद स्नान आदिके लिए उनके पास गया, जानेके

क्वचिदधिष्ठानसामान्यज्ञानोपरमेण केवलाध्यासनाशात्, क्वचित् गुञ्जापुञ्जादौ चक्षुषा वह्न्याद्यध्यासस्थले दाहपाकादिप्रयोजकस्योष्णस्पर्शादेरनध्यासाच्च तत्र तत्राऽर्थक्रियाभावोपपत्तेः। क्वचित् कासांचिदर्थक्रियाणामिष्यमाणत्वाच्च। मरीचिकोदकादिव्यावर्तकस्याऽर्थक्रियोपयोगिरूपस्य वक्तव्यत्वे च श्रुतिविरुद्धं प्रत्यक्षादिना दुर्ग्रहं त्रिकालाबाध्यत्वं विहाय दोषविशेषाजन्यरजतत्वादेरेव रजताद्युचितार्थक्रियोपयोगिरूपस्य वक्तुं शक्यत्वाच्च। तस्मान्मिथ्यात्वेऽप्य-

---

हुआ है, कहींपर अधिष्ठानके सामान्यांशज्ञानके उपरत होनेसे केवल अध्यासका नाश हुआ है * और किसी स्थलमें गुञ्जा-पुञ्ज आदिमें चक्षुसे वह्नि आदिके अध्यासस्थलमें दाह, पाक अर्थक्रियाके हेतुभूत उष्णस्पर्श आदि अध्यस्त नहीं होते हैं। और किसी स्थलविशेषमें कुछ अर्थक्रियाओंका अङ्गीकार भी करते हैं †। मरीचिकाजल आदिमें न रहनेवाले अर्थात् केवल व्यावहारिक पदार्थोंमें रहनेवाले अर्थक्रियामें उपयुक्त धर्मका यदि निर्वचन करता है, तो मिथ्यात्वश्रुतिसे विरुद्ध तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे ग्रहण न होनेवाले त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्यत्वको छोड़कर ‡ दोषविशेषसे अजन्य रजतादिवृत्ति रजतत्व आदि रजतादिकी उपयुक्त अर्थक्रियाके प्रति कारणतावच्छेद धर्म है, ऐसा कह सकते हैं। इससे अर्थोंके मिथ्या

अनन्तर उसे ज्ञात होता है कि यह जल नहीं है, किन्तु केवल मरीचिका है, इस प्रकार विशेषदर्शनसे अपने उपादान अज्ञानके साथ जलाध्यास निवृत्त होता है, अतः इससे अर्थक्रियाकी प्रसक्ति नहीं होती है, यह भाव है।

* जिस शुक्तिरजतादि स्थलमें विशेषदर्शन नहीं हुआ हो, उस स्थलमें अधिष्ठानसामान्यज्ञानरूप कारणका नाश होनेसे ही उक्त स्थलमें अर्थक्रियाकारिता नहीं है, यह भाव है।

† 'स्वप्नवदिति ब्रूमः' इस ग्रन्थसे स्वप्नमें जिन पदार्थोंकी अर्थक्रियाकारिता मानी गई है, उन पदार्थोंकी अर्थक्रियाकारिता इष्ट है, यह भाव है।

‡ तात्पर्य यह है कि अर्थक्रियाके प्रति कारणतावच्छेदक सत्यत्व है, ऐसा पूर्वमें कहा गया है, परन्तु उसे नहीं मान सकते हैं, क्योंकि सद्रूपरजतसे कटक आदि कार्य होते हैं, और तद्भिन्न शुक्तिरजतसे नहीं होते हैं, इस प्रकारके अन्वय और व्यतिरेकसे सहकृत प्रत्यक्षसे ही अर्थक्रियाकारितावच्छेदकरूपसे सत्त्वका परिज्ञान तुम्हें करना होगा, परन्तु यह सत्त्व मिथ्यात्वका विरोधी कालत्रयाबाध्यत्वरूप नहीं हो सकता है, क्योंकि उसका प्रत्यक्षसे ग्रहण नहीं हो सकता है, अतः उससे पृथक् ही कहना होगा।

र्थक्रियाकारित्वसम्भवान्मिथ्यैव प्रपञ्चः, न सत्य इति ॥८॥

ननु मिथ्यात्वसत्यत्वे ब्रह्मैक्यश्रुतिपीडनम् ।
तन्मिथ्यात्वे तु विश्वस्य सत्यत्वं केन वार्यते ॥५५॥

शङ्का होती है कि मिथ्यात्वको सत्य माननेसे ब्रह्मैक्यश्रुति बाधित होगी, उसके मिथ्या होनेपर भी विश्वकी सत्यता का निराकरण होगा ॥ ५५ ॥

ननु मिथ्यात्वस्य प्रपञ्चधर्मस्य सत्यत्वे ब्रह्माद्वैतक्षतेस्तदपि मिथ्यैव वक्तव्यमिति कुतः प्रपञ्चस्य सत्यत्वक्षतिः? मिथ्याभूतं ब्रह्मणः सप्रपञ्चत्वं न निष्प्रपञ्चत्वविरोधीति त्वदुक्तरीत्या मिथ्याभूतमिथ्यात्वस्य सत्यत्वाविरोधात् ॥

सत्यमत्रोक्तमद्वैतदीपिकायां विरोधिनीम् ।
स्वधर्म्यन्यूनसत्ताकं मिथ्यात्वं सत्यतां हरेत् ॥५६॥

इस प्रश्नके समाधानमें अद्वैतदीपिकामें कहा है कि अपने धर्मीकी अन्यून सत्तावाला मिथ्यात्व अपने से विरुद्ध सत्यत्वका अपहरण करता है ॥ ५६ ॥

अत्रोक्तमद्वैतदीपिकायाम्—वियदादिप्रपञ्चसमानस्वभावं मिथ्यात्वम् ।

होनेपर भी अर्थक्रियाकारिताका सम्भव होनेसे प्रपञ्च मिथ्या ही है, सत्य नहीं है, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं ॥ ८ ॥

अब शङ्का होती है कि प्रपञ्चमें रहनेवाला मिथ्यात्व यदि सत्य है, तो अद्वैत ब्रह्मकी क्षति होगी अर्थात् अद्वितीय ब्रह्म सिद्ध नहीं होगा, इसलिए सिद्धान्तीको उसे भी मिथ्या ही कहना होगा। इस परिस्थितिमें प्रपञ्चकी सत्यताका निरास कैसे होगा? क्योंकि ब्रह्मका मिथ्याभूत प्रपञ्चतादात्म्य * प्रपञ्चशून्यताका विरोधी नहीं है, इस प्रकारके तुम्हारे ही कथनके अनुसार मिथ्याभूत मिथ्यात्व सत्यत्वका विरोधी नहीं हो सकता है।

इस † आक्षेपके समाधानमें अद्वैतदीपिकामें कहा है कि मिथ्यात्वका

---

* प्रपञ्चतादात्म्य ही सप्रपञ्चत्व है और निष्प्रपञ्चत्व प्रपञ्चात्यन्ताभावरूप है, इस प्रकारका निष्प्रपञ्चत्व वास्तविक है, क्योंकि, व्यावहारिक प्रपञ्चका अत्यन्ताभाव ब्रह्ममें पारमार्थिक माना गया है, इससे एक ब्रह्ममें सप्रपञ्चत्व और निष्प्रपञ्चत्वका विरोध नहीं है, वैसे ही मिथ्यात्व और सत्यत्वका विरोध नहीं है।

† मिथ्यात्वधर्म मिथ्याभूत ही है, इस पक्षका ग्रहण करके समाधान करते हैं—आकाश

तच्च धर्मिणः सत्यत्वप्रतिक्षेपकम्। धर्मस्य स्वविरुद्धधर्मप्रतिक्षेपकत्वे हि उभयवादिसिद्धं धर्मिसमसत्त्वं तन्त्रम्, न पारमार्थिकत्वम्। अघटत्वादिप्रतिक्षेपके पटत्वादावस्माकं पारमार्थिकत्वासम्प्रतिपत्तेः। ब्रह्मणः सप्रपञ्चत्वं न धर्मिसमसत्ताकमिति न निष्प्रपञ्चत्वप्रतिक्षेपकम्।

अत एव मिथ्यात्वस्य व्यावहारिकत्वे तद्विरोधिनोऽप्रातिभासिकस्य

आकाश आदि प्रपञ्चके साथ समानस्वभाव है अर्थात् आकाश आदि पदार्थोंकी जैसी सत्ता है, वैसी ही सत्ता मिथ्यात्वकी भी है। और वह मिथ्यात्व धर्मीके सत्यत्वका विरोधी—विघातक—है, अपने विरुद्ध धर्मका विरोध करनेमें धर्मका धर्मीसे समानसत्ताकत्व वादी और प्रतिवादी दोनोंके मतमें प्रयोजक है, धर्मकी पारमार्थिकता प्रयोजक नहीं है, क्योंकि अघटत्वके प्रतिक्षेपक पटत्व आदिमें हमारे (वेदान्तीके) मतसे पारमार्थिकत्व सम्प्रतिपन्न—निश्चित—नहीं है। ब्रह्मका प्रपञ्चतादात्म्य धर्मिसमानसत्ताक नहीं है, अतः निष्प्रपञ्चत्वका प्रतिक्षेपक नहीं है।

इसीसे ‡ यह भी प्रश्न निरस्त हुआ समझना चाहिए कि यदि मिथ्यात्व व्यावहारिक हो, तो उसका विरोधी अप्रातिभासिक प्रपञ्चसत्यत्व पारमार्थिक

आदि पदार्थोंकी व्यावहारिक सत्ता है, इसलिए मिथ्यात्वकी भी व्यावहारिक सत्ता होगी। इस विषयमें यदि शङ्का हो कि आरोपित घटत्व आदि आरोपाधिकरणीभूत अपने आश्रय पटादिमें विरुद्ध अघटत्व आदिके विघातक नहीं देखे जाते हैं, अतः सत्य घटत्व आदि स्वविरुद्ध धर्मोंके स्वाश्रयमें प्रतिक्षेपक होंगे? इस दशामें मिथ्याभूत मिथ्यात्व प्रपञ्चके सत्यत्वका कैसे विरोधी होगा, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि स्वविरुद्ध धर्मका प्रतिक्षेपक वही धर्म होता है, जो धर्मिसमानसत्तावाला हो, इस प्रकारका उभयवादिसिद्ध एक प्रयोजक मानना चाहिए, संदिग्ध नहीं मानना चाहिए, क्योंकि परमतमें घटत्वादिकी सत्ता पारमार्थिक है, और हमारे मतमें नहीं है, अतः सत्यत्व धर्म स्वाश्रयमें स्वविरुद्ध धर्मका प्रतिक्षेपक नहीं हो सकता है, किन्तु मूलोक्त धर्मिसमानसत्ताक धर्म ही प्रतिक्षेपक हो सकता है, यह भाव है।

‡ प्रकृतमें यह शङ्का हो सकती है कि प्रपञ्चगतमिथ्यात्वके मिथ्यात्वपक्षमें उस मिथ्यात्वको व्यावहारिक ही मानना चाहिए, क्योंकि उसकी निवृत्ति केवल ब्रह्मज्ञानसे होती है, इसलिए उसे प्रातिभासिक, या पारमार्थिक नहीं मान सकते, क्योंकि प्रातिभासिक पदार्थकी निवृत्ति ब्रह्मज्ञानके सिवा अन्य ज्ञानसे भी होती है और पारमार्थिककी कभी भी निवृत्ति नहीं होती है। और उसके व्यावहारिक होनेपर प्रपञ्चगतसत्यत्व पारमार्थिक सिद्ध होता है, क्योंकि 'सन् घटः' इत्यादि प्रत्यक्षसे सिद्ध प्रपञ्चका सत्यत्व ब्रह्मज्ञान तक अनुवृत्त होता है अतः प्रातिभासिक नहीं मान सकते हैं और व्यावहारिक मिथ्यात्वधर्मसे युक्त प्रपञ्चमें सत्यत्वको व्यावहारिक नहीं मान सकते

प्रपञ्चसत्यत्वस्य पारमार्थिकत्वं स्यादिति निरस्तम् । धर्मिसमसत्ताकस्य मिथ्यात्वस्य व्यावहारिकत्वे धर्मिणोऽपि व्यावहारिकत्वनियमात् ।

स्वधर्मीक्षाऽक्षतो धर्मः स्वविरुद्धहरोऽथवा ॥

अथवा अपने धर्मीके साक्षात्कारसे निवृत्त न होनेवाला धर्म अपने विरुद्ध धर्मका अपहरण करता है ।

अथवा यो यस्य स्वविषयसाक्षात्कारानिवर्त्यो धर्मः, स तत्र स्वविरुद्धधर्मप्रतिक्षेपकः । शुक्तौ शुक्तितादात्म्यं तद्विषयसाक्षात्कारानिवर्त्यम्

होगा, क्योंकि धर्मीके समान सत्तावाले मिथ्यात्वके व्यावहारिक होनेपर धर्मी भी व्यावहारिक ही होता है, ऐसा नियम है ।

अथवा * जिसका जो धर्म अपने विषयके साक्षात्कारसे निवृत्त न होता हो, वह धर्म उस धर्मीमें अपने विरुद्ध धर्मका प्रतिक्षेपक होता है अर्थात् अपने विरुद्ध धर्मकी स्थिति नहीं होने देता है, यह भाव है । शुक्तिमें रहनेवाला शुक्तितादात्म्य शुक्तिविषयक साक्षात्कारसे निवृत्त नहीं होता है, इसलिए वह

हैं । इस परिस्थितिमें प्रपञ्चगत सत्यत्व जब पारमार्थिक है, तो उसका धर्मी प्रपञ्च भी पारमार्थिक अवश्य हो सकता है, अतः ब्रह्माद्वैतकी क्षति होगी, इस प्रश्नका समाधान 'अतएव' इस ग्रन्थसे किया जाता है । तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्वरूप धर्ममें धर्मिसमानसत्ताकत्वके आधारपर व्यावहारिकत्वका अङ्गीकार करके मिथ्यात्वाश्रय प्रपञ्चमें सत्यत्वपर्यवसायी पारमार्थिकत्वका आपादन, विरोध होनेके कारण, हो ही नहीं सकता है । यदि प्रपञ्चमें अनुभूयमानसत्यत्वका व्यावहारिकरूपसे अङ्गीकार किया जाय, तो भी कोई हानि नहीं है । यदि शङ्का हो कि समानसत्तावाले मिथ्यात्व और सत्यत्व एक जगहपर रहेंगे कैसे ? क्योंकि उनका विरोध है, वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जब तक तत्त्वज्ञान न हो, तब तक बाधित न होनेवाले प्रत्यक्षका विषय, तथा मिथ्यात्वका अविरुद्ध सत्यत्व प्रपञ्चमें रहता है, ऐसा बार बार पूर्वमें कहा गया है, यह भाव है ।

* इस पक्षका अवलम्बन करनेवालोंका मत है कि सर्वत्र ब्रह्मसत्ता ही प्रतीत होती है, उससे भिन्न व्यावहारिक अथवा प्रातिभासिक सत्ता है ही नहीं, इसलिए 'धर्मिसमानसत्ताकत्व' आदिसे कहा गया समाधान युक्त नहीं है, अतः स्वाभिमत समाधान 'अथवा' इस ग्रन्थसे कहते हैं । तात्पर्य यह है कि वही धर्म अपने विरोधी धर्मकी स्थितिका निवर्तक होता है, जो अपने आश्रयके प्रत्यक्षसे निवृत्त न होता हो, इसलिए स्वाश्रयसाक्षात्कारानिवर्त्यत्व ही धर्मके स्वविरुद्धधर्मप्रतिक्षेपकत्वमें प्रयोजक है, यह फलित है । पारमार्थिकत्व या धर्मिसमानसत्ताकत्व प्रयोजक नहीं है, शुक्ति रजतभ्रमस्थलमें शुक्तित्व धर्मकी शुक्तिका साक्षात्कार होनेपर भी निवृत्ति नहीं होती है, इसलिये शुक्तित्व धर्म अशुक्तित्वविरोधी है, यह सर्वानुभवसिद्ध है, अतः इस प्रयोजकके स्वीकार करनेमें विरोध नहीं है, यह भाव है ।

अशुक्तित्वस्य विरोधि, तत्रैव रजततादात्म्यं तन्निवर्त्यमरजतत्वाविरोधीति व्यवस्थादर्शनात्। एवं च प्रपञ्चमिथ्यात्वं कल्पितमपि प्रपञ्चसाक्षात्कार-निवर्त्यमिति सत्यत्वप्रतिक्षेपकमेव। ब्रह्मणः सप्रपञ्चत्वं तु ब्रह्मसाक्षात्कारा-निवर्त्यमिति न निष्प्रपञ्चत्वप्रतिक्षेपकमिति।

शाब्दप्रामाण्ययोग्यत्वसत्त्वं लौकिकमप्यलम् ॥ ५७ ॥

शाब्दज्ञान प्रामाण्य और शब्दकी योग्यता में व्यावहारिक सत्त्वसे भी पारमार्थिक ब्रह्मकी सिद्धि हो सकती है ॥५७॥

एतेन शब्दगम्यस्य ब्रह्मणः सत्यत्वे शब्दयोग्यतायाः, शाब्दधी-प्रामाण्यस्य च सत्यत्वं वक्तव्यम्। प्रातिभासिकयोग्यतावताऽनाप्तवाक्येन व्यावहारिकार्थस्य व्यावहारिकयोग्यतावताऽग्निहोत्रादिवाक्येन तात्त्विकार्थस्य

अशुक्तित्वका—रजतत्वका—विरोधी है, और इसी स्थलमें जो रजततादात्म्य है, वह शुक्तिके साक्षात्कारसे निवृत्त होता है, अतः शुक्तित्वका विरोधी नहीं हो सकता है। ऐसा होनेपर यद्यपि प्रपञ्चका मिथ्यात्व कल्पित है, तथापि प्रपञ्चसाक्षात्कार-से निवृत्त नहीं होता है, इससे अर्थात् उक्त प्रमाणोंसे स्वाश्रय साक्षात्कारसे अनिवर्त्य धर्म स्वाश्रयमें अपनेसे विरुद्ध धर्मकी स्थितिमें विरोधी है ऐसा निश्चित होनेपर सत्यत्वका विरोधी ही है, ब्रह्मका प्रपञ्चतादात्म्य ब्रह्मके साक्षात्कारसे निवृत्त होता है, इससे प्रपञ्चतादात्म्य निष्प्रपञ्चत्वका विरोधी नहीं है।

इसीसे अर्थात् वक्ष्यमाण हेतुसे यह भी शङ्का निरस्त हुई कि यदि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यसे ज्ञेय ब्रह्म सत्य है, तो शब्दकी योग्यताको † और शब्दज्ञानके प्रामाण्यको भी सत्य कहना चाहिए, क्योंकि प्रातिभासिक योग्यतासे युक्त अनाप्त पुरुषके वाक्यसे व्यावहारिक अर्थ और व्यावहारिक योग्यतावाले 'अग्निहोत्रं जुहोति' (अग्निहोत्र होम करे) इत्यादि वाक्योंसे तात्त्विक अर्थकी

---

† बाध निश्चयका अभाव योग्यता है, वह शाब्दबोधमें कारण है। जैसे 'जलेन सिञ्चति' जलसे सिञ्चन करता है, इत्यादि स्थलमें सिञ्चनकरणताके बाधका निश्चय नहीं है, अतः इससे शाब्दबोध होता है और 'वह्निना सिञ्चति' (अग्निसे सिञ्चन करता है) इस स्थलमें वह्निमें सिञ्चन-करणताका बाध निश्चित है, इसलिए इस वाक्यसे शाब्द बोध नहीं होता है। प्रकृतमें जिस उपनिषत् वाक्यसे ब्रह्मका बोध होगा उस उपनिषद् वाक्यकी योग्यता अवश्य अपेक्षित है, अन्यथा उससे ब्रह्मज्ञान हो ही नहीं सकेगा, इस परिस्थितिमें द्वैतापत्ति दोष देते हैं।

वा सिद्ध्यभावेन योग्यतासमानसत्ताकस्यैव शब्दार्थसिद्धिनियमात्। अर्थाबाधरूपप्रामाण्यस्याऽसत्यत्वे अर्थस्य सत्यत्वायोगाच्च। तथा च ब्रह्मातिरिक्तसत्यवस्तुसत्त्वेन द्वैतावश्यम्भाव इति वियदादिप्रपञ्चोऽपि सत्योऽस्त्विति निरस्तम्।

व्यावहारिकस्याऽर्थक्रियाकारित्वस्य व्यवस्थापितत्वेन व्यावहारिकयोग्यताया अपि सत्यब्रह्मसिद्धिसम्भवात्। ब्रह्मपरे वेदान्ते सत्यादिपदसत्त्वाद् ब्रह्मसत्यत्वसिद्धेः। अग्निहोत्रादिवाक्ये तादृशपदाभावात्, तत्सत्त्वेऽपि प्रबलब्रह्माद्वैतश्रुतिविरोधात् तदसिद्धिरित्येव वैषम्योपपत्तेः। शब्दार्थयोग्यतयोः समानसत्ताकत्वनियमस्य निष्प्रमाणकत्वात्। घटज्ञान-

---

सिद्धि न होनेके कारण योग्यतासमानसत्ताक शब्दार्थकी ‡ सिद्धि होती है, यह नियम प्राप्त होता है और अर्थाबाधरूप * प्रामाण्यके असत्य होनेपर अर्थ भी सत्य नहीं हो सकता है, इस अवस्थामें ब्रह्मसे पृथक् योग्यता आदि अबाधित अर्थोंका अस्तित्व होनेपर द्वैत ही सिद्ध होगा, इससे आकाशादि प्रपञ्चमें भी सत्यत्व प्रसक्त होगा।

व्यावहारिक प्रपञ्चकी अर्थक्रियाकारिताका अद्वैतवादमें अङ्गीकार होनेसे उसी व्यावहारिक योग्यतासे सत्य—त्रिकालाबाधित—ब्रह्मकी सिद्धि हो सकती है। ब्रह्मपरक वेदान्तोंमें सत्यादि पदोंके होनेसे ब्रह्मकी सत्यता सिद्ध होती है। और 'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादि वाक्योंमें सत्यादि पदोंके न रहनेसे अग्निहोत्रादि त्रिकालाबाधित सिद्ध नहीं होते हैं। यदि अग्नि होत्रादि प्रकरणमें सत्यादि पद हैं, तो भी प्रबल ब्रह्माद्वैत श्रुतिका विरोध होनेसे अग्निहोत्रादिकी सत्यता सिद्ध नहीं होती है, इस प्रकार वैषम्यकी उपपत्ति होती है। शब्दार्थ और योग्यताके समानसत्ताकत्वके नियममें कोई प्रमाण भी नहीं है। जैसे घट-

---

‡ जैसी योग्यताकी सत्ता होगी, वैसी ही सत्तासे युक्त शब्दार्थकी सिद्धि होगी, यह नियम अवश्य मानना चाहिए, अन्यथा प्रातिभासिक योग्यतावाले शब्दसे भी व्यावहारिक अर्थकी सिद्धि हो जायगी, यह भाव है।

* जिस ज्ञानके विषयका बाध होता है, वह ज्ञान प्रमाण नहीं माना जाता है, जैसे शुक्तिमें रजतज्ञान, अतः वही ज्ञान प्रमाण है, जिसका अर्थ बाधित न होता हो, इसलिए अर्थाबाध अर्थात् अबाधितार्थत्वरूप ही प्रामाण्य है, यह भाव है।

प्रामाण्यस्याऽघटत्ववत् सत्यभूतब्रह्मज्ञानप्रामाण्यस्याऽपि तदतिरिक्तघटितत्वेन मिथ्यात्वोपपत्तेश्च। तस्माद् (उ० मी० अ० २ पा० १ अधि० ६) आरम्भणाधिकरणोक्तन्यायेन कृत्स्नस्य वियदादिप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं वज्रलेपायते ॥ ९ ॥

न जीवैः सद्वितीयत्वं ब्रह्मणस्तदभेदतः।
तेषां च भोगसाङ्कर्यं वारणीयमुपाधिभिः ॥ ५८ ॥

जीवों को लेकर ब्रह्ममें द्वैतत्व प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि जीव ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, और उनके भोगके साङ्कर्य का परिहार उपाधिके आधारपर करना चाहिए ॥ ५८ ॥

ननु आरम्भणशब्दादिभिरचेतनस्य वियदादिप्रपञ्चस्य मिथ्यात्व-सिद्धावपि चेतनानामपवर्गभाजां मिथ्यात्वायोगाद् अद्वितीये ब्रह्मणि

ज्ञानके प्रामाण्यमें अघटत्वका, वैसे ही सत्यात्मक ब्रह्मज्ञानके प्रामाण्यमें * ब्रह्म-भिन्न ब्रह्मत्वका सम्बन्ध होनेसे मिथ्यात्वकी उपपत्ति है। इससे आरम्भणाधिकरणमें † कहे गये सिद्धान्तके अनुसार सम्पूर्ण आकाश आदि प्रपञ्च मिथ्या ही है ॥९॥

यदि यह शङ्का हो कि आरम्भणाधिकरणके सिद्धान्तके अनुसार अचेतन आकाश आदि प्रपञ्च मिथ्या हो सकता है, परन्तु मुक्त चेतन जीवोंमें मिथ्यात्व-का सम्बन्ध न होनेसे अद्वितीय ब्रह्ममें समन्वय नहीं हो सकता है, और पूर्वमें

---

* ब्रह्मत्वाधिकरण ब्रह्ममें ब्रह्मत्वप्रकारक अनुभवत्वरूप जो ब्रह्मज्ञानका प्रामाण्य है, वह ब्रह्मसे भिन्न ब्रह्मत्वके सम्बन्धसे युक्त है, अतः वह भी मिथ्या ही है, यह भाव है। यदि कहा जाय कि ब्रह्मज्ञानमें रहनेवाला प्रामाण्य अबाधितार्थानुभवत्वरूप है, और केवल योग्य विषयस्वरूपमें उसका पर्यवसान है। वह प्रामाण्य अखण्डार्थक वेदान्तोंमें ब्रह्मरूप ही है, तदतिरिक्त घटित नहीं है, इसलिए वह सत्य ही है? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उसके सत्य होनेपर भी कोई दोष नहीं है, कारण कि वह केवल ब्रह्मस्वरूप ही है, अतः इससे भी ब्रह्मातिरिक्त सत्य वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती है, यह भाव है।

† तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः 'ब्रह्मरूप अभिन्ननिमित्तोपादान कारणसे यह कार्य अलग नहीं है' क्योंकि 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकैव सत्यम्' 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्' 'ब्रह्मैवेदम्' (विकार केवल वाचारम्भण ही है मृत्तिका सत्य है—अर्थात् कारण सत्य है, यह सब सत्य-रूप है, यह सब ब्रह्म ही है) इत्यादि श्रुति प्रमाण है, यह सूत्रका अर्थ है। इसका अधिक विस्तार अच्युतग्रन्थमालामुद्रित ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यरत्नप्रभा भाषानुवादमें देखना चाहिए [पृ० १००० द्वितीय खण्ड]।

समन्वयो न युक्तः। न च तेषां ब्रह्माभेदः प्रागुक्तो युक्तः, परस्परं-भिन्नानां तेषाम् एकेन ब्रह्मणाऽभेदासम्भवात्। न च तद्भेदासिद्धिः। सुखदुःखादिव्यवस्थया तत्सिद्धेरिति चेद्, न ; तेषामभेदेऽपि उपाधिभेदादेव तद्व्यवस्थोपपत्तेः ॥ १० ॥

नन्वन्यभेदादन्यस्य कथं साङ्कर्यवारणम्।

यदि शङ्का हो कि दूसरे के भेदसे दूसरे का भोगसाङ्कर्य कैसे परिहृत होगा ?

ननु उपाधिभेदेऽपि तदभेदानपायात् कथं व्यवस्था। नह्याश्रय-भेदेनोपपादनीयो विरुद्धधर्मासङ्करस्तदतिरिक्तस्य कस्यचिद्भेदोपगमेन सिध्यति।

अत्राहुर्नान्यताऽसङ्गे भोक्तृतादात्म्यकल्पनात् ॥ ६९ ॥

इसके परिहारमें कहते हैं कि अन्यत्व है ही नहीं, क्योंकि असङ्ग आत्मामें भोक्तृ-तादात्म्य कल्पित है ॥ ६९ ॥

अत्र केचिदाहुः—सिध्यत्येवाऽन्तःकरणोपाधिभेदेन सुखदुःखादिव्य-

उनके साथ ब्रह्मका जो अभेद कहा गया है, वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जो परस्पर भिन्न हैं, उनका एक ब्रह्मके साथ अभेद नहीं हो सकता है। और भेदकी असिद्धि है, यह भी नहीं हो सकता है, क्योंकि सुख और दुःख आदिकी व्यवस्थासे उसकी सिद्धि है। तो यह भी शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि उन अपवर्गभागी जीवोंका वस्तुतः ब्रह्मके साथ अभेद ही है, तथापि उपाधिके बलसे उनका भेद हो सकता है ॥१०॥

यदि शङ्का हो कि उपाधिके भिन्न होनेपर भी आत्माके अभेदका विनाश न होनेके कारण सुख, दुःख आदिकी व्यवस्था कैसे होगी ? क्योंकि जिन विरुद्ध धर्मोंके असाङ्कर्यका—आश्रयके भेदसे—उपपादन करना है, उनकी किसी भिन्न वस्तुके भेदसे उपपत्ति कैसे हो सकती है ?

इस * आक्षेपके समाधानमें कुछ लोग कहते हैं—अन्तःकरणरूप उपाधि-

---

* अन्तःकरण ही कर्तृत्वादि प्रपञ्चका आश्रय है और 'अहम्' अनुभवका गोचर है, आत्मा नहीं, क्योंकि वह कूटस्थ है, इसलिए आश्रयके भेदसे व्यवस्था हो सकती है, यह 'केचित्' पक्षका भाव है।

वस्था । 'कामस्संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' इत्यादिश्रुतिभिस्तस्यैव निखिलानर्थाश्रयत्वप्रतिपादनात् । 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' 'असङ्गो नहि सज्जते' इत्यादिश्रुतिभिः चेतनस्य सर्वात्मनौदासीन्यप्रतिपादनाच्च ।

न चैवं सति कर्तृत्वादिबन्धस्य चैतन्यसामानाधिकरण्यानुभवविरोधः । अन्तःकरणस्य चेतनतादात्म्येनाध्यस्ततया तद्धर्माणां चैतन्यसामानाधिकरण्यानुभवोपपत्तेः । न चाऽन्तःकरणस्य कर्तृत्वादिबन्धाश्रयत्वे चेतनः

भेदसे सुख, दुःख आदिकी व्यवस्था सिद्ध ही है, क्योंकि 'कामस्संकल्पो०' (इच्छा, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि और भय ये सब अन्तःकरणके परिणाम होनेसे मन ही हैं) 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' (अन्तःकरण शास्त्रीय कर्म करता है) इत्यादि श्रुतियाँ उसी अन्तःकरणका सम्पूर्ण अनर्थोंके आश्रयरूपसे प्रतिपादन करती हैं । और 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' (सर्वदा चैतन्यात्मा ब्रह्म असङ्ग—किसी धर्म विशेषका आश्रय नहीं है) 'असङ्गो नहि सज्जते' (असङ्ग होनेके कारण आत्मा किसी पदार्थसे सम्बद्ध नहीं होता है) इत्यादि अनेक श्रुतियाँ चेतन ब्रह्ममें सर्वथा औदासीन्यका ही प्रतिपादन करती हैं ।

यदि यह शङ्का हो कि अन्तःकरण ही सम्पूर्ण कर्तृत्व आदि प्रपञ्चका यदि आश्रय माना जाय, तो 'मैं कर्ता हूँ' 'मैं भोक्ता हूँ' इत्यादिरूपसे जो कर्तृत्व आदि प्रपञ्चका चैतन्यके साथ सामानाधिकरण्य अनुभूत होता है, वह बाधित होगा, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि अन्तःकरणका जो अध्यास हुआ है, वह चेतनके साथ तादात्म्यरूपसे हुआ है, अतः अन्तःकरणके धर्मोंका चैतन्यके सामानाधिकरण्यरूपसे भान होता है † । यदि यह शङ्का हो कि कर्तृत्व आदि प्रपञ्चका आश्रय यदि अन्तःकरण ही है, तो चेतन आत्मा संसारका भागी नहीं होगा

---

† तात्पर्य यह है कि यद्यपि आत्मा चैतन्यरूप है, तथापि भेदकल्पनासे चैतन्य आत्माके धर्मरूपसे भासता है, वैसे ही आत्मा और अन्तःकरणका ऐक्याध्यास होनेसे उनके धर्मोंका अर्थात् चैतन्य, कर्तृत्व आदिका सामानाधिकरण्य भासता है इस प्रक्रियासे उक्त अनुभवके साथ विरोध नहीं है, यह भाव है ।

संसारी न स्यादिति वाच्यम्, कर्तृत्वादिप्रपञ्चाश्रयाहङ्कारग्रन्थितादात्म्याध्यासाधिष्ठानभाव एव तस्य संसारः' इत्युपगमात् । तावतैव भीषणत्वाश्रयसर्पतादात्म्याध्यासाधिष्ठाने रज्ज्वादौ 'अयं भीषणः' इत्यभिमानवद् आत्मनोऽनर्थाश्रयत्वाभिमानोपपत्तेः । एतदभिप्रायेणैव 'ध्यायतीव लेलायतीव' 'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते' इत्यादिश्रुतिस्मृतिदर्शनाच्च ।

न चैकस्मिन्नेवाऽऽत्मनि विचित्रसुखदुःखाश्रयतत्तदन्तःकरणानामध्या-

तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि कर्तृत्व आदि प्रपञ्चके आश्रयीभूत * अहङ्कार (अन्तःकरण) के साथ ग्रन्थिरूप तादात्म्यके अध्यासका जब आत्मा अधिष्ठान भाव है, तभी वही आत्माका संसार है, ऐसा स्वीकार किया गया है। उपाधि ही संसारकी आश्रय है, इसीसे † जैसे भयकारणत्वके आश्रयीभूत सर्पके तादात्म्याध्यासके अधिष्ठानभूत रस्सीमें 'यही भय हेतु है' इस प्रकार अभिमान होता है, वैसे ही आत्मा (अन्तःकरणतादात्म्याध्यासाधिष्ठान होनेसे) अनर्थका आश्रय है, यह अभिमानमात्र (भ्रान्तिमात्र) है। बुद्धिका ही संसार आत्मामें आरोपित है, इसी भावसे—'ध्यायतीव०' (बुद्धिके ध्यान करनेसे मानो आत्मा ध्यान करता है, बुद्धिके चलनेपर आत्मा मानो चलता है, ऐसा प्रतीत होता है) 'अहङ्कार०' (कर्तृत्वाश्रय अहङ्कारके साथ तादात्म्यापन्न होनेसे ही आत्मा अपनेको कर्ता मानता है) इस प्रकारकी श्रुति-स्मृतियाँ देखी जाती हैं।

यदि ‡ शङ्का हो कि बुद्धिके धर्मोंकी व्यवस्था होनेपर भी विचित्र सुख, दुःखके आश्रयीभूत तत्-तत् अन्तःकरणोंका एक ही आत्मामें अध्यास होनेसे

* चेतन स्वतः संसारका आश्रय नहीं है, तथापि बुद्धिमें रहनेवाले संसारका, (जो कि साक्षीसे अनुभूत है,) उसमें आरोप हो सकता है, इसलिए आरोपित संसाराश्रयत्व आत्मामें है, यह भाव है।

† तावतैव—केवल उपाधिके संसाराश्रयत्व होनेसे प्रकृतमें यदि शङ्का हो कि अन्यनिष्ठ संसारका आत्मामें आरोप यदि माना जाय, तो अन्यथाख्याति प्रसक्त होगी ? तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि अनुभूयमान आरोपस्थलमें आरोप और अधिष्ठानके अनिर्वचनीय संसर्गकी उत्पत्ति मानी जाती है, अन्यथाख्यातिवादमें उसकी उत्पत्ति नहीं मानी जाती है, यह वैषम्य है।

‡ बुद्धि स्वतः संसारकी आश्रय है और आत्मामें संसारकी केवल भ्रान्ति है, इस व्यवस्थाको

साद् आत्मन्याभिमानिकसुखदुःखादिव्यवस्थैवमपि न सिध्यतीति वाच्यम्, आध्यासिकतादात्म्यापन्नान्तःकरणगतानर्थजातस्येव तद्गतपरस्परभेदस्यापि अभिमानत आत्मीयतया आत्मनो यादृशमनर्थभाक्त्वम्, तादृशेन भेदेन तद्व्यवस्थोपपत्तेः।

एतेन सुखदुःखादीनामन्तःकरणधर्मत्वेऽपि तदनुभवः साक्षिरूप इति तस्यैकत्वात् सुखदुःखानुभवरूपभोगव्यवस्था न सिध्यतीति निरस्तम्।

तत्तदन्तःकरणतादात्म्यापत्त्या तत्तदन्तःकरणभेदेन भेदवत एव साक्षिणस्तत्तदन्तःकरणसुखदुःखाद्यनुभवरूपत्वेन तद्व्यवस्थाया अप्युपपत्तेरिति।

आत्मामें आभिमानिक सुख, दुःख आदिकी व्यवस्था नहीं हो सकती है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि अध्यासप्राप्त तादात्म्यसे युक्त अन्तःकरणमें रहनेवाले अनर्थ समुदायके समान उस अन्तःकरणमें रहनेवाले पारस्परिक भेद भी अभिमानसे आत्माके सम्बन्धी होते हैं अर्थात् आत्मामें आ जाते हैं, इसलिए आत्मामें जैसे अनर्थकी व्यवस्था होती है, वैसे ही अन्तःकरणके भेदसे जीवमें भेदकी व्यवस्था हो सकती है।

यदि किसीको यह शङ्का हो कि भले ही सुख, दुःख आदि अन्तःकरणके धर्म हों, परन्तु अनुभव तो साक्षीरूप है, इसलिए साक्षीके एक होनेसे सुख-दुःखका अनुभव जो व्यवस्थितरूपसे देखा जाता है, वह नहीं * होगा? तो यह शङ्का भी वक्ष्यमाण हेतुसे निरस्त हुई समझनी चाहिए, क्योंकि तत्-तत् अन्तःकरणके साथ तादात्म्यभावको प्राप्त हुआ साक्षी तत्-तत् अन्तःकरणोंके भेदसे भेदवान् होकर ही उन-उन अन्तःकरणोंमें रहनेवाले सुखदुःख आदिका अनुभवरूप होता है, इसलिए उक्त व्यवस्था भी उपपन्न हो † सकती है।

मानने पर प्रतिशरीर बुद्धिके भेदसे बुद्धिगत धर्मोंकी व्यवस्था हो सकती है, परन्तु प्रतिशरीर आत्माका भेद न होनेसे आत्माके प्रपञ्चकी व्यवस्था नहीं हो सकती है? यह शङ्काका भाव है, समाधानका यह भाव है कि बुद्धिगत संसारका जैसे आत्मामें आरोप होता है, वैसे बुद्धिमें रहनेवाले भेदका भी आत्मामें आरोप होता है, इसलिए उक्त अव्यवस्था नहीं है।

* अर्थात् सुख और दुःखका अनुभव साक्षीरूप है, इसलिए उसके एक होनेसे देवदत्तका सुखानुभव यज्ञदत्तका भी सुखानुभव होगा, इस परिस्थितिमें जिस समय देवदत्तको सुखका अनुभव हुआ, उसी समयमें उसी देवदत्तके सुखानुभवको लेकर यज्ञदत्तको भी 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार अनुभव होना चाहिए, यह शङ्काका भाव है।

† अर्थात् जैसे अन्तःकरणका भेद आत्मामें अध्यस्त होता है, वैसे ही उसका भेद साक्षीमें

अन्ये भोक्ता चिदाभासः कूटस्थैक्येन कल्पितः ।
अतो न भिन्नगामित्वमित्याहुर्बन्धमोक्षयोः ॥ ६० ॥

कुछ लोग कहते हैं कि कूटस्थके तादात्म्यरूपसे कल्पित चिदाभास ही भोक्ता है, अतः बन्ध और मोक्षका वैयधिकरण्य नहीं है ॥ ६० ॥

अन्ये तु जडस्य कर्तृत्वादिबन्धाश्रयत्वानुपपत्तेः 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वाद्' इति चेतनस्यैव तदाश्रयत्वप्रतिपादकसूत्रेणान्तःकरणे चिदाभासो बन्धाश्रयः । तस्य चाऽसत्यस्य बिम्बाद्भिन्नस्य प्रत्यन्तःकरणभेदाद्विद्वदविद्वत्सुखिदुःखिकर्त्रकर्त्रादिव्यवस्था । न चैवमध्यस्तस्य बन्धाश्रयत्वे बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यापत्तिः । अस्य चिदाभास्यान्तःकरणावच्छिन्ने स्वरूपतस्सत्यतया मुक्त्यन्वयिनि परमार्थजीवेऽध्यस्ततया कर्तृत्वाश्रयचिदाभासतादात्म्याध्यासाधिष्ठानभावस्तस्य बन्ध इत्यभ्युपगमादित्याहुः ।

कुछ लोग ‡ कहते हैं कि जड़ अन्तःकरण कर्तृत्व आदि धर्मोंका आश्रय नहीं हो सकता है, इसलिए 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' इस—चेतनमें कर्तृत्वादि धर्मोंका प्रतिपादन करनेवाले—सूत्रके आधारपर अन्तःकरणमें पड़ा हुआ चैतन्याभास (चैतन्यप्रतिबिम्ब) कर्तृत्वादि प्रपञ्चका आश्रय है । बिम्बसे भिन्न मिथ्यारूप उस प्रतिबिम्बका प्रत्येक अन्तःकरणमें भेद होनेके कारण विद्वान् और अविद्वान्, सुखी और दुःखी, कर्ता और अकर्ता आदिकी व्यवस्था हो सकती है। यदि शङ्का हो कि बिम्ब और प्रतिबिम्बका भेद माननेपर जो अध्यस्त चैतन्य है, वह बन्धका (कर्तृत्वादि प्रपञ्चका) आश्रय होगा और अनध्यस्त बिम्बचैतन्य मोक्षका आश्रय होगा, इस अवस्थामें बन्ध और मोक्षका सामानाधिकरण्य नहीं होगा ? तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि यह चिदाभास अन्तःकरणावच्छिन्न पारमार्थिक जीवमें, जो स्व—

भी अध्यस्त होता है, इसलिए तथाकथित अव्यवस्थाका आपादन नहीं हो सकता है, यह समाधानका भाव है ।

‡ आत्माके ऐक्यपक्षमें यह अन्य समाधान कहते हैं, जड़ अन्तःकरण कर्ता—नहीं है, किन्तु आत्मा है, इसमें 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' (ब्र० सू० अ० २ पा० ३ अधि० १४ सूत्र ३३) यह सूत्र प्रमाण है, क्योंकि इस सूत्रमें कर्ता आत्मा ही है बुद्धि (अन्तःकरण) नहीं है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है ।

अन्ये विशिष्टो भोक्ताऽत्र संशुद्धो मुक्तिसङ्गतः ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तमित्यादिश्रुतिदर्शनात् ॥ ६१ ॥

अन्य लोग कहते हैं कि विशिष्ट आत्मा भोक्ता है और शुद्ध आत्मा मुक्तिका भागी है, क्योंकि 'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम्' इत्यादि श्रुति देखी जाती है ॥ ६१ ॥

अपरे तु—

'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।'

इति सहकारित्वेन देहेन्द्रियैः तादात्म्येन मनसा च युक्तस्य चेतनस्य भोक्तृत्वश्रवणादन्तःकरणभेदेन तद्विशिष्टभेदाद् व्यवस्था । न चैवं विशिष्टस्य बन्धः, शुद्धस्य मोक्ष इति वैयधिकरण्यम्, विशिष्टगतस्य बन्धस्य विशेष्येऽनन्वयाभावाद् विशिष्टस्याऽनतिरेकादित्याहुः ।

कोई लोग कहते हैं कि * 'आत्मेन्द्रिय०' (देह, इन्द्रिय और अन्तःकरणसे युक्त चैतन्य भोक्ता है, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं) इस प्रकारकी श्रुतिसे यही ज्ञात होता है कि सहकारित्वरूपसे देह और इन्द्रियोंसे युक्त तथा तादात्म्यरूपसे अन्तःकरणसे युक्त चैतन्य ही भोक्ता है, इससे अन्तःकरणके भेदसे ही अन्तःकरणविशिष्ट चेतनका भेद होनेसे सुखित्व, दुःखित्व आदिकी व्यवस्था होती है । इसमें यदि शङ्का हो कि विशिष्टमें † बन्ध है और शुद्धमें मोक्ष है, इसलिए संसार और मोक्षका वैयधिकरण्य ही है तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि विशिष्टमें रहनेवाला बन्ध विशेष्यमें अन्वित होता है, क्योंकि विशिष्ट विशेष्यसे भिन्न ‡ नहीं है ।

---

* सब शरीरोंमें यद्यपि चिदात्मा एक है, तथापि केवल वही संसारका आश्रय नहीं है, किन्तु बुद्धिविशिष्ट चिदात्मा उसका आश्रय है । और बुद्धिविशिष्ट चिदात्माके प्रतिशरीर भिन्न होनेके कारण सुख-दुःखादिका साङ्कर्य नहीं है, इस प्रकार अन्यमतवाले कहते हैं, यह भाव है ।

† शङ्काका भाव यह है कि बुद्धिविशिष्ट आत्मा केवल आत्मासे भिन्न है, क्योंकि विशिष्ट शुद्ध नहीं है, ऐसी प्रतीति होती है, कारण कि विशिष्टमें रहनेवाला शुद्धप्रतियोगिक भेद विशेष्यमें रहता है, यह नियम है, इस अवस्थामें विशिष्टात्मगत संसारका विशेष्यमें सम्बन्ध होनेपर भी मुक्तिमें अन्वित केवल चैतन्यमें संसारके न होनेसे वैयधिकरण्य तदवस्थ है ।

‡ तात्पर्य यह है कि विशिष्ट और शुद्धमें कोई भेद नहीं है, लोकमें दण्डसे युक्त पुरुषमें शुद्ध पुरुषका अभेद प्रत्यभिज्ञात होता है अर्थात् वही पुरुष है, इस प्रकार शुद्ध पुरुषका अवगाहन करनेवाली प्रत्यभिज्ञा होती है और इस प्रत्यभिज्ञामें कोई बाधक भी नहीं है, इसलिए

परे कर्तृमनःसन्नाद्भोक्तृताऽन्या प्रकल्प्यते ।
स्फटिकेऽन्विव लौहित्यं श्रोत्रवत्तद्व्यवस्थितिः ॥ ६२ ॥

कुछ लोग कहते हैं कि कर्तृरूप मनके सान्निध्यसे आत्मामें अन्य भोक्तृता कल्पित है, जैसे कि जपाकुसमके सान्निध्यसे स्फटिकमें अन्य ही लौहित्य कल्पित होता है, श्रोत्रके समान व्यवस्था हो सकती है ॥ ६२ ॥

इतरे तु अस्तु केवलश्चेतनः कर्तृत्वादिबन्धाश्रयः । स्फटिकलौहित्यन्यायेनाऽन्तःकरणस्य, तद्विशिष्टस्य वा कर्तृत्वाद्याश्रयस्य सन्निधानाच्चेतनेऽपि कर्तृत्वाद्यन्तरस्याऽध्यासोपगमात् । न च तस्यैकत्वाद् व्यवस्थानुपपत्तिः, उपाधिभेदादेव तदुपपत्तेः । न चाऽन्यभेदादन्यत्र विरुद्धधर्म-

अन्य लोग कहते हैं कि केवल चैतन्य ही कर्तृत्वादि प्रपञ्चका आश्रय है । स्फटिकलौहित्यन्यायसे × अन्तःकरणके अथवा अन्तःकरणविशिष्ट कर्तृत्वादिके आश्रयीभूत चैतन्यके सन्निधानसे चेतनमें भी अन्य कर्तृत्वादि धर्म अध्यस्त हो सकते हैं । यदि शङ्का हो कि चैतन्यके एक होनेसे कोई सुखी, कोई दुःखी है, आदि व्यवस्था नहीं होगी, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उपाधिके भेदसे ही उक्त व्यवस्था हो सकती है । पुनः यदि शङ्का हो कि अन्यके भेदसे अन्यत्र विरुद्ध धर्मोंकी व्यवस्था नहीं हो सकती है, तो यह

विशिष्टके अन्तर्गत विशेष्यका और शुद्धका परस्पर अभेद स्वाभाविक है और भेद काल्पनिक है, प्रकृतमें विशिष्ट आत्मामें रहनेवाले बन्धका शुद्धमें भी अन्वय होता है, अतः संसार और मोक्षके वैयधिकरण्यका संभव नहीं है, यह भाव है ।

× जैसे लौहित्य (रक्तरूप) के आश्रयीभूत जपाकुसमके सन्निधानसे स्फटिकमें उपाधिगत लौहित्यसे अन्य प्रतिबिम्बभूत लौहित्य उत्पन्न होता है, वैसे ही चिदात्मामें अन्तःकरण आदिमें रहनेवाले संसारसे अन्य ही विलक्षण अध्यासात्मक कर्तृत्वादि प्रपञ्चकी उत्पत्ति होती है, यह तात्पर्य है । यदि शङ्का हो कि साक्षीद्वारा अन्तःकरण आदिमें अनुभूयमान प्रपञ्चका ही चिदात्मामें संसर्गाध्यास माननेसे वैयधिकरण्यशङ्काका समाधान हो सकता है, फिर बुद्धि आदिमें रहनेवाले प्रपञ्चके सदृश अन्य प्रपञ्चकी उत्पत्ति माननेमें कोई प्रमाण ही नहीं है ? तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि 'बुद्धेर्गुणेन...आऽऽराग्रमात्रो ह्यवरः' (अन्तःकरणके गुणसे जीव आराके अग्र भागके समान अर्थात् अत्यल्पपरिमाण है) इस श्रुतिसे बुद्धिके गुणसे ही जीवमें अल्पपरिमाणका प्रतिपादन किया गया है, इस न्यायसे बुद्धिधर्मके सदृश कर्तृत्वादिकी भी आत्मामें उपपत्ति हो सकती है, अतः उक्त कल्पना प्रमाणशून्य नहीं है, यह भाव है ।

व्यवस्था न युज्यते इति वाच्यम्, मूलाग्ररूपोपाधिभेदमात्रेण वृक्षे संयोगतदभावव्यवस्थादर्शनात्। तत्तत्पुरुपकर्णपुटोपाधिभेदेन श्रोत्रभावमुपगतस्याऽऽकाशस्य तत्र-तत्र शब्दोपलम्भकत्वानुपलम्भकत्वतारमन्द्रेष्टानिष्टशब्दोपलम्भकत्वादिवैचित्र्यदर्शनाचेत्याहुः।

एके त्वनाश्रितोपाधिभेदभेदकल्पनम्।
प्रतिबिम्बेष्विवोपाधिधर्माध्यासव्यवस्थितिः॥ ६३॥

अनाश्रित उपाधिभेद भेदका कल्पक है, और प्रतिबिम्बोंमें उपाधिधर्मोंकी व्यवस्थाके समान प्रकृतमें भी व्यवस्था हो जाती है, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं॥६३॥

एके तु यद्याश्रयभेदादेव विरुद्धधर्मव्यवस्थोपादननियमः, तदा

भी युक्त नहीं है, क्योंकि मूल और अग्ररूप उपाधिके भेदसे ही एक वृक्षमें संयोग और संयोगाभावकी व्यवस्था देखी जाती है*। और इसी प्रकार तत्-तत् पुरुषोंके कर्णपुटरूप उपाधिके भेदसे श्रोत्रेन्द्रियत्वको† प्राप्त हुए आकाशमें तत्-तत् स्थलमें शब्दके उपलम्भकत्व और अनुपलम्भकत्व तथा तार, मन्द्र, इष्ट और अनिष्ट शब्दके उपलम्भकत्व आदि वैचित्र्य देखे जाते हैं।

कुछ लोग तो कहते हैं कि यदि आश्रयके भेदसे ही विरुद्ध धर्मोंकी व्यवस्था उपपादित होती है, यह नियम है, तो अन्तःकरणसे उपहित निष्कृष्ट

---

* तात्पर्य यह है कि संयोग और संयोगाभाव अव्याप्यवृत्ति है अर्थात् अपने अभावाधिकरणमें भी इनकी स्थिति रहती है, वृक्षमें संयोग भी है और उसका अभाव भी है, परन्तु उनमें अवच्छेदक अलग अलग हैं, संयोगके अवस्थानमें शाखा अवच्छेदक है और संयोगाभावके अवस्थानमें मूल अवच्छेदक है, इसी रीतिसे उपाधिके (अवच्छेदकके) भेदसे एक आत्मामें सुखित्व और दुःखित्वकी व्यवस्था हो सकती है।

† कर्णपुटसे—कर्णविवरसे अवच्छिन्न आकाश ही श्रोत्र-इन्द्रिय है, अन्य आकाश श्रोत्रेन्द्रिय नहीं है, इसीलिए श्रोत्र पदार्थके निर्वचनमें 'कर्णविवरावच्छिन्नाकाशः श्रोत्रम्' ऐसा कहा गया है। तार शब्द—नाद विशेषका वाची है, इस विषयमें सङ्गीतरत्नाकरमें इस प्रकारका विवरण मिलता है—

नादोऽतिसूक्ष्मः सूक्ष्मश्च ... ...
नकारं प्राणनामानं दकारमनलं विदुः।
जातः प्राणाग्निसंयोगात्तेन नादोऽभिधीयते॥६॥
व्यवहारे त्वसौ त्रेधा हृदि मन्द्रोऽभिधीयते।
कण्ठे मध्यो मूर्ध्नि तारो द्विगुणश्चोत्तरोत्तरः॥७॥
[संगीतरत्नाकर स्वराध्याय प्रकरण तृतीय]

चेतने निष्कृष्टे एवोपाधिवशाद् भेदकल्पनाऽस्तु। अकल्पिताश्रयभेद एव व्यवस्थाप्रयोजक इति क्वाप्यसम्प्रतिपत्तेः। मणिमुकुरकृपाणाद्युपाधिकल्पितेन भेदेन मुखे श्यामावदातवर्तुलदीर्घभावादिधर्माणामङ्गुल्युपष्टम्भोपाधिकल्पितेन भेदेन दीपे पाश्चात्त्यपौरस्त्यादिधर्माणां च व्यवस्थासम्प्रतिपत्तेरित्याहुः ॥ ११ ॥

क उपाधिरिह—

प्रकृतिमें उपाधि कौन है ?

एवमुपाधिवशाद् व्यवस्थोपपादने सम्भाविते जीवानां परस्परसुखाद्यननुसन्धानप्रयोजक उपाधिः क इति निरूपणीयम्।

आहुर्भोगायतनभिन्नताम्।

भोगायतन (भोगाश्रय) शरीर आदिका भेद ही उपाधि है, ऐसा कोई लोग कहते हैं ॥

चेतनमें ही उपाधिसे भेदकी कल्पना रहे। अकल्पित आश्रयका भेद ही व्यवस्थाका प्रयोजक (कारण) है, ऐसा कहींपर भी अद्यावधि निश्चित नहीं है, क्योंकि मुखमें मणि, मुकुर (दर्पण), कृपाण (तलवार) आदि उपाधिके कल्पित भेदसे श्यामत्व, अवदातत्व (स्वच्छत्व), वर्तुलत्व, दीर्घत्व आदि धर्मोंकी और दीपमें अङ्गुलि आदि उपाधिके अवलम्बनसे परिकल्पित भेदसे‡ पाश्चात्य, पौरस्त्य आदि धर्मोंकी व्यवस्था देखी जाती है ॥११॥

उक्त प्रकारकी उपाधिके आधारपर भले ही व्यवस्थाका उपपादन हो, परन्तु जीवोंके सुख आदिका परस्पर अनुसन्धान* और अननुसन्धानकी प्रयोजक उपाधि कौन है ? इसका निरूपण अवश्य करना चाहिए।

---

‡ अर्थात् दीपके आगे अङ्गुली रख देनेसे सामने अन्धकार हो जाता है, इससे कुछ ऊपर अङ्गुलीसे आड़ कर देनेसे कुछ ऊपरके हिस्सेमें अन्धकार हो जाता है, और निम्न देशमें प्रकाश होता है।

* अर्थात् देवदत्त अपने सुखका आप ही अनुभव करता है, यज्ञदत्तके सुखका अनुभव नहीं करता है, इसी प्रकार एक ही देवदत्त चरणमें दुःखका अनुभव करता है, हस्तमें नहीं करता है, इसमें अवश्य कोई प्रयोजक उपाधि होनी चाहिए, अन्यथा किसी एकके प्रति अनुभव और किसी एकके प्रति अननुभवकी व्यवस्था नहीं हो सकती है, अतः उस उपाधिके निर्वचनके लिए यह प्रश्न किया गया है, यह भाव है।

अत्र केचिदाहुः—भोगायतनाभेदतद्भेदावनुसन्धानानुसन्धानप्रयोजकोपाधी, शरीरावच्छिन्नवेदनायास्तदवच्छिन्नेनाऽनुसन्धानात् चरणावच्छिन्नवेदनाया हस्तावच्छिन्नेनाऽनुसन्धानाच्च । 'हस्तावच्छिन्नोऽहं पादावच्छिन्नवेदनामनुभवामि' इत्यप्रत्ययात् । कथं तर्हि चरणलग्नकण्टकोद्धाराय हस्तव्यापारः ? नाऽयं हस्तव्यापारः, हस्तावच्छिन्नानुसन्धानात्, किन्तु अवयवावयविनोश्चरणशरीरयोर्भेदासत्त्वेन चरणावच्छिन्नवेदना शरीरावच्छिन्नेन 'अहं चरणे वेदानावान्' इत्यनुसन्धीयते इति तदनुसन्धानात् । एवं चैत्रमैत्रशरीरयोरभेदाभावात् चैत्रशरीरावच्छिन्नवेदना न मैत्रशरीरा-

इस आक्षेपके समाधानमें कुछ लोग कहते हैं कि भोगायतनका† अभेद और उसका भेद सुखादिके अनुसन्धान और अननुसन्धानमें क्रमशः प्रयोजक उपाधि हैं, क्योंकि शरीरावच्छिन्न वेदनाका—सुख-दुःखका—शरीरावच्छिन्न आत्मासे ही अनुसन्धान होता है और चरणावच्छिन्न वेदनाका हस्तावच्छिन्न आत्मासे अनुसन्धान नहीं होता है, कारण कि 'हस्तावच्छिन्न मैं चरणावच्छिन्न वेदनाका अनुभव करता हूँ' इस प्रकारका अनुभव नहीं होता है। तो पैरमें लगे हुए कांटेको निकालनेके लिए हाथ व्यापार क्यों करता है ? नहीं यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि हाथका यह व्यापार (कण्टकोद्धारक व्यापार) हस्तावच्छिन्न चैतन्यवृत्ति दुःखादिके अनुसन्धानसे नहीं होता है, किन्तु चरण और शरीरका (जो कि अवयव और अवयवीरूप हैं) परस्पर भेद न होनेसे चरणसे अवच्छिन्न आत्मामें रहनेवाली वेदनाका 'मैं चरणमें दुःखी हूँ' इस प्रकार शरीरावच्छिन्न आत्मा ही अनुसन्धान करता है, अतः शरीरावच्छिन्न आत्माको चरणावच्छिन्न आत्मामें रहनेवाले दुःखादिका अनुसन्धान होनेसे उस स्थलमें हस्तादिव्यापार होता है। इसीलिए चैत्र और मैत्रके शरीरोंका परस्पर तादात्म्य न होनेसे चैत्रशरीरावच्छिन्न आत्मामें रहनेवाली वेदनाका मैत्रशरीरावच्छिन्न आत्मा अनुसन्धान नहीं करता है। और चैत्र तथा मैत्र दोनोंके शरीरोंमें अनुस्यूत-

† भोगायतनशब्दका अर्थ है अवच्छेदकतासम्बन्धसे सुख या दुःखके साक्षात्कारका आश्रय, वह शरीर है अथवा हस्त, पाद आदि अवयव हैं। इनकी अभिन्नतासे सुख आदिका अनुभव है, और भिन्नतासे अननुभव होता है, देवदत्तका शरीर एक है, इसलिए देवदत्तशरीरावच्छिन्न आत्मामें रहनेवाले सुख, दुःख आदिका देवदत्तको अनुसन्धान होता है, यज्ञदत्तका शरीर भिन्न है, अतः उसके सुखादिका अनुभव नहीं होता।

वच्छिन्नेनाऽनुसन्धीयते । नाप्युभयशरीरानुस्यूतावयव्यन्तरावच्छिन्नेनाऽनुसन्धीयते । उभयानुस्यूतस्याऽवयविनो भोगायतनस्यैवाऽभावादिति न चैत्रशरीरलग्नकण्टकोद्धाराय मैत्रशरीरव्यापारप्रसङ्ग इति ।

अन्ये विश्लिष्टतद्भेदं भोगासाङ्कर्यकारणम् ॥ ६४ ॥

अन्य लोग विश्लिष्ट उपाधिका भेद भोगके असाङ्कर्यका प्रयोजक है, ऐसा कहते हैं ॥ ६४ ॥

अन्ये तु विश्लिष्टोपाधिभेदोऽननुसन्धानप्रयोजकः । तथा च हस्तावच्छिन्नस्य चरणावच्छिन्नवेदनानुसन्धानाभ्युपगमेऽपि न दोषः । न चैवं सति गर्भस्थस्य मातृसुखानुसन्धानप्रसङ्गः । एकस्मिन्नवयविन्यवयवभावेनाऽननुप्रविष्टयोर्विश्लिष्टशब्देन विवक्षितत्वाद् मातृगर्भशरीरयोस्तथात्वादित्याहुः ।

रूपसे अनुवर्तमान किसी अन्य अवयवीसे अवच्छिन्न आत्मासे भी अनुसन्धान नहीं हो सकता है, क्योंकि उभय अर्थात् चैत्र और मैत्र दोनोंके शरीरमें अनुवर्तमान सुखदुःखका आश्रयीभूत कोई अवयवी ही नहीं है, इसलिए चैत्रके शरीरमें लगे हुए कण्टकके निकालनेके लिए मैत्रके शरीरका व्यापार प्रसक्त नहीं होता है ।

कुछ लोग कहते हैं कि विश्लिष्ट (विश्लेष—विभाग—को प्राप्त हुई) भोगायतनरूप उपाधिका भेद अननुसन्धानका प्रयोजक है । इसलिए हस्तावच्छिन्न आत्माको चरणावच्छिन्न आत्मामें रहनेवाले दुःखादिका अनुभव होगा, तो भी कोई हानि नहीं है * । यदि शङ्का हो कि उक्त विश्लिष्ट उपाधिको ही अननुसन्धानका प्रयोजक माना जाय, तो गर्भस्थ जीवको माताके सुखका अनुसन्धान प्रसक्त होगा ? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जिनका एक अवयवीमें अवयवभावसे प्रवेश नहीं है, उन्हींको विश्लिष्टशब्दसे कहा जाता है, अतः माताके और गर्भके शरीरका एक अवयवीमें अवयवरूपसे प्रवेश न होनेसे उक्त दोष नहीं है ।

---

* भोगायतनभूत हस्त और चरणका परस्पर भेद होनेपर भी वे विश्लिष्ट नहीं हैं, अतः विश्लिष्ट भोगायतनभेदरूप अननुसन्धानके प्रयोजक नहीं होनेसे चरणावच्छिन्न आत्माके दुःख आदिका हस्तावच्छिन्नसे यदि अनुभव हो, तो भी दोष नहीं है, यह भाव है ।

न च—

'उद्यतायुधदोर्दण्डाः पतितस्वशिरोऽक्षिभिः ।
पश्यन्तः पातयन्ति स्म कवन्धा अप्यरीनिह ॥'

इति भारतोक्त्या विश्लेषेऽप्यनुसन्धानमवगतमिति वाच्यम् , तत्रापि शिरःकवन्धयोरेकस्मिन् अवयविन्यवयवभावेनाऽनुप्रविष्टचरत्वात् शिरश्छेदनानन्तरं मूर्छामरणयोरन्यतरावश्यंभावेन दृष्टविरुद्धार्थस्य तादृशवचनस्य कैमुत्यन्यायेन योधोत्साहातिशयप्रशंसापरत्वात् । तादृक्प्रभावयुक्तपुरुष-

यदि शङ्का हो कि 'उद्यतायुध०' (जिनके भुजदण्डमें आयुध उद्यत हैं, ऐसे कवन्ध भी—[जिन योधाओंके सिर छिन्न हो गए हैं, वे कवन्ध कहे जाते हैं] गिरे हुए अपने सिरको अक्षियोंसे देखते हुए रणभूमिमें शत्रुओंके प्राण लेते हैं ।) इस महाभारतकी उक्तिसे ज्ञात होता है कि उपाधिका विश्लेष होनेपर भी † अनुसन्धान होता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उस स्थलमें भी सिर और कवन्धका एक अवयवीमें अवयवरूपसे पूर्वमें प्रवेश होनेसे मस्तक छेदनके बाद मूर्च्छा या मरण इन दोनोंमें से कोई अवश्य होता है, इसलिए प्रत्यक्षसे विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन करनेवाले उक्त वचनको कैमुतिकन्यायसे ‡ योद्धाओंके उत्साहातिशयका प्रशंसार्थक ही मानना होगा । अथवा विशिष्ट × प्रभावसे युक्त पुरुषविशेषविषयक होनेसे उक्त वचनको यथार्थ

† जैसे चैत्र और मैत्रके शरीर विश्लिष्ट हैं, वैसे ही कवन्ध और उसका मस्तक विश्लिष्ट है, तो भी विश्लिष्ट शिरोवच्छिन्न चैतन्यसे कवन्धावच्छिन्न आत्माके योद्धापनका अनुसन्धान होता है, अतः व्यभिचार है, यह भाव है ।

‡ अर्थात् जब कवन्ध भी शत्रुओंसे टक्कर लेते हैं, तब अन्य जीवित योद्धाओंके उत्साहमें क्या कहना है, यह भाव है ।

× तात्पर्य यह है कि उक्त महाभारतका वचन प्रशंसार्थक नहीं है, प्रत्युत यथार्थ है, क्योंकि योगप्रभावसे या वरदानके माहात्म्यसे मस्तक छेदनके अनन्तर भी युद्धका अनुसन्धान हो सकता है, तो फिर विश्लिष्ट उपाधि अननुसन्धानकी प्रयोजक है, इस नियमका व्यभिचार तो स्थिर ही है, इस प्रकारकी शङ्का हो, तो इसका 'तादृक्' इत्यादि मूलसे परिहार करते हैं—अर्थात् उक्त महाभारतका वचन उन्हीं पुरुषोंको उद्देश्य कर कहता है, जो वीर पुरुष योगी या वरदान प्राप्त किये हुए थे, उनके मस्तकका छेदन होनेपर भी अपने गिरे हुए सिर आदिसे अनुसन्धान करके वे अपने शत्रुओंसे लड़ते थे, इसलिए योगादिप्रभावविधुर पुरुषोंके अननुसन्धानमें विश्लिष्ट उपाधि प्रयोजक है, योगादिप्रभावयुक्त पुरुषोंके प्रति वह प्रयोजक नहीं है ।

विशेषविषयत्वेन भूतार्थवादत्वेऽपि निरुक्तस्योत्सर्गतोऽननुसन्धानतन्त्रत्वाविघाताच्च । अत एवोक्तवक्ष्यमाणपक्षेषु योगिनां जातिस्मराणां च शरीरान्तरवृत्तान्तानुसन्धाने न दोषप्रसक्तिः ।

देहभेदं परे प्राहुर्बाल्यादिषु न तद्भिदा ।
माययाऽपचयी देहो दीपवन्नैव चाणुभिः ॥ ६५ ॥

अन्य लोग कहते हैं कि 'शरीरका भेद भोगके असाङ्कर्यका प्रयोजक है' बाल्यावस्था आदिका शरीर भिन्न नहीं है दीपकके समान मायासे छोटा और बड़ा शरीर होता है, अणुओंसे नहीं होता है ॥ ६५ ॥

अपरे तु शरीरैक्यभेदावनुसन्धानतदभावप्रयोजकोपाधी, बाल्यभवान्तरानुभूतयोरनुसन्धानतदभावदृष्टेः । न च बाल्ययौवनयोरपि शरीरभेदः शङ्कनीयः, प्रत्यभिज्ञानात् । न च परिमाणभेदेन तद्भेदावगमः,

---

मान लिया जाय, तो भी उक्त विश्लिष्टोपाधिभेदके स्वाभाविक अननुसन्धानके प्रयोजकत्वका व्याघात नहीं हो सकता है। उक्त प्रयोजकके औत्सर्गिक होनेसे कहे हुए और कहे जानेवाले पक्षमें योगी और पूर्वकी जातिस्मरण करनेवालोंके अन्य शरीरके वृत्तान्तके अनुसन्धानमें कोई दोष नहीं है ।

कुछ लोग तो कहते हैं कि शरीरका ऐक्य और शरीरका भेद ही अनुसन्धान और अननुसन्धानमें क्रमशः प्रयोजक उपाधि हैं, क्योंकि बाल्यावस्थामें और जन्मान्तरमें अनुभूत पदार्थोंका वृद्धावस्थामें अनुसन्धान और इस जन्ममें अननुसन्धान देखा* जाता है। यदि शङ्का हो कि बाल्यावस्था और युवावस्थाके शरीरोंका भेद है ? तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि 'वही यह शरीर है' इस प्रकार उनकी ऐक्यावगाहिनी प्रत्यभिज्ञा होती है। यदि शङ्का हो कि बाल्य और युवावस्थाके शरीरोंका परिमाणके भेदसे भेद है, तो यह भी युक्त नहीं

---

* अर्थात् बाल्यावस्थामें जिस किसी पदार्थविशेषका अनुभव किया गया है, उसका युवावस्थामें स्मरण होता है, उसका कारण यही है, कि बाल्य और यौवन अवस्थाका शरीर एक है, और जन्मान्तरमें अनुभूत पदार्थका जो स्मरण नहीं होता है, उसमें कारण यही है कि जन्मान्तरका शरीर और इस जन्मका शरीर परस्पर भिन्न है, अतः इस अनुभवसे अनुसन्धान और अननुसन्धानमें शरीरैक्य और शरीरभेदको क्रमशः प्रयोजक माननेमें कोई हानि नहीं है, यह भाव है ।

एकस्मिन् वृक्षे मूलाग्रभेदेनेव कालभेदेनैकस्मिन्ननेकपरिमाणान्वयोपपत्तेः।

नन्ववयवोपचयमन्तरेण न परिमाणभेदः। अवयवाश्च पश्चादापतन्तो न पूर्वसिद्धं शरीरं परियुज्यन्ते इति परिमाणभेदे शरीरभेद आवश्यक इति चेत्, न; प्रदीपारोपणसमसमयसौधोदरव्यापिप्रभामण्डलविकासतत्पिधानसमसमयतत्सङ्कोचाद्यननुरोधिनः परमाणुप्रक्रिययोरसम्भवादस्याऽनभ्युपगमात्। विवर्तवादे चैन्द्रजालिकदर्शितशरीरवद् विनैवाऽवयवोपचयं मायया शरीरस्य वृद्ध्युपपत्तेरित्याहुः।

लिङ्गभेदं परेऽ—

कुछ लोग अन्तःकरणके भेदको अवाङ्कर्यका प्रयोजक मानते हैं।

इतरे त्वन्तःकरणाभेदतद्भेदाभ्यामनुसन्धानाननुसन्धानव्यवस्थामाहुः। अयं च पक्षः प्रागुपपादितः।

है, क्योंकि एक ही वृक्षमें मूल और अग्रके भेदसे जैसे भेदका अवभास होता है, वैसे ही एक ही शरीरमें कालभेदसे अनेक परिमाणोंका सम्बन्ध हो सकता है, यह भाव है।

यदि शङ्का हो कि अवयवोंकी वृद्धिके बिना परिमाणका भेद नहीं हो सकता है। और पीछेसे आनेवाले अवयव पूर्वसिद्ध शरीरके साथ सम्बद्ध नहीं हो सकते हैं, इससे परिमाणके भेदसे शरीरका † भेद आवश्यक है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रदीपके जलानेके समयमें ही महलके अन्दर व्याप्त होनेवाले प्रभामण्डलके विकासका और प्रदीपके आच्छादनकालमें ही उक्त प्रभामण्डलके संकोचका अनुसरण न करनेवालेकी परमाणुप्रक्रियाका सम्भव न होनेसे उक्त परिमाणभेदका अङ्गीकार ही नहीं है। विवर्तवादमें तो ऐन्द्रजालिकसे दिखलाये गये शरीरके समान अवयवकी वृद्धिके बिना ही मायासे शरीरकी वृद्धि हो सकती है।

कुछ लोग कहते हैं कि अन्तःकरणके अभेद और उसके भेदसे ही अनुसन्धान और अननुसन्धानकी उपपत्ति हो सकती है। इस पक्षका पूर्वमें उपपादन किया जा चुका है।

---

† तात्पर्य यह है कि पूर्वसिद्ध शरीर उत्तरकालभावी बड़े शरीरके प्रति उपादान नहीं हो सकता है, इसलिए पूर्व शरीरका नाश होनेके बाद पूर्व शरीरके अवयव और पीछे आनेवाले

विद्याभेदमन्ये प्रचक्षते ।

कोई लोग अज्ञानके भेदको उक्त असाङ्कर्यका प्रयोजक कहते हैं ।

केचित्तु 'अज्ञानानि जीवभेदोपाधिभूतानि नाना' इति स्वीकृत्य तद्भेदाभेदाभ्याम् अनुसन्धानाननुसन्धानव्यवस्थामाहुः ॥ १२ ॥

अदृष्टानियमादिभ्यः कारणादेर्व्यवस्थितिः ॥ ६६ ॥

अदृष्टानियम आदिसे कारण आदिकी व्यवस्था होती है ॥ ६६ ॥

अत्र केचिद् (उ० मी० अ० २ पा० ३ सू० ४३) 'अंशो नानाव्यपदेशाद्' इत्यधिकरणे 'अदृष्टानियमात्' (उ० मी० अ० २ पा० ३ सू० ५१) 'अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम्' (उ० मी० अ० २ पा० ३ सू० ५२) 'प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावाद्' (उ० मी० अ० २ पा० ३

कुछ लोग जीवके उपाधिभूत अज्ञान अनेक हैं, इस प्रकार अङ्गीकार करके अज्ञानके अभेद और भेदसे अनुसन्धान और अननुसन्धानकी व्यवस्थाका उपपादन करते हैं ॥ १२ ॥

इस विषयमें कुछ लोग कहते हैं * 'अंशो नानाव्यपदेशात्' 'अदृष्टानियमात्' † 'अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम्' ‡ 'प्रदेशादिचेन्नान्तर्भावात्' इन सूत्रोंकी

उपचित अवयव दोनों मिलकर अन्य शरीरका द्व्यणुकादिक्रमसे आरम्भ करते हैं, अतः शरीरोंके परिमाणके भेदसे शरीरोंका भी भेद अवश्य मानना चाहिए, यह पूर्वपक्षका भाव है ।

* जीव ब्रह्मका अंश है, क्योंकि 'य आत्मनि' श्रुतिमें जीव और ब्रह्मका नानात्व व्यपदिष्ट है। इस विषयमें यदि शङ्का हो कि ब्रह्म तो अंशवान् नहीं है ऐसी परिस्थितिमें जीव ब्रह्मका अंश कैसे होगा? तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि जैसे घटादिसे अवच्छिन्न आकाश महाकाशका अंश होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी हो सकता है अर्थात् अवच्छिन्न चैतन्य अनवच्छिन्न चैतन्यका अंश है, ऐसा माना जा सकता है, वस्तुतः नहीं है, यह सूत्रका एक हिस्सा है, परन्तु सूत्रका पूर्णस्वरूप—'अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके' इतना है, इसका विस्तार अच्युतग्रन्थमालामुद्रित भाषानुवादसहित शाङ्करभाष्यके पृ० १५०८ में देखना चाहिए ।

'अदृष्टानियमात्' साङ्ख्यमतमें प्रधानमें रहनेवाला अदृष्ट और न्यायमतमें अदृष्टका हेतु आत्ममनःसंयोग हरएक आत्माके प्रति साधारण है, अतः 'यह इसका अदृष्ट है' इस प्रकार व्यवस्था न होनेके कारण भोगादिका साङ्कर्य उनके मतमें भी समान है, यह इस सूत्रका अर्थ है।

† साधारण मनके संयोग आदिसे होनेवाले सङ्कल्प आदि भी अदृष्ट नियमके सम्पादक नहीं हैं, अतः भोगका साङ्कर्य ज्योंका त्यों है ।

‡ प्रदेशभेदादिति चेन्नान्तर्भावात्—आत्माओंके विभु होनेपर भी शरीरावच्छिन्न आत्-

सू० ५३) इतिसूत्रतद्गतभाष्यरीतिमनुसृत्य एकस्मिन्नात्मन्युपाधिभेदेन व्यवस्थानुपगमे कणभुगादिरीत्याऽऽत्मभेदवादेऽपि व्यवस्थाऽनुपपत्ति-तौल्यमाहुः ।

तथाहि—चैत्रचरणलग्नकण्टकेन चैत्रस्य वेदनोत्पादनसमये अन्येषा-मप्यात्मनां कुतो वेदना न जायते । सर्वात्मना सर्वगतत्वेन चैत्रशरीरान्त-र्भावाविशेषात् । न च 'यस्य शरीरे कण्टकवेधादि, तस्यैव वेदना, नाऽन्येषाम्' इति व्यवस्था । 'सर्वात्मसन्निधावुत्पद्यमानं शरीरं कस्यचिदेव, नाऽन्येषाम्' इति नियन्तुमशक्यत्वात् ।

न च 'यददृष्टोत्पादितं यच्छरीरम्, तत्तदीयम्' इति नियमः । अदृष्ट-

---

और इनके भाष्यकी प्रणालीका अनुसरण करके एक आत्मामें उपाधिकी भिन्नतासे व्यवस्थाका अङ्गीकार न करनेपर कणाद आदिकी रीतिसे आत्माके भेदवादमें भी सुख आदिकी व्यवस्था नहीं हो सकती है ।

* जैसे कि चैत्रके पैरमें चुभे हुए कण्टकसे जब चैत्रको दुःख उत्पन्न होता है, उस कालमें दूसरे जीवोंको भी दुःख क्यों नहीं होता है ? क्योंकि सभी आत्माओंके व्यापक होनेसे चैत्रके शरीरमें भी उनका अन्तर्भाव समान ही है । यदि शङ्का हो कि 'जिसके शरीरमें कांटा चुभा हो, उसीके शरीरमें वेदना होती है' ऐसा नियम है ? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रत्येक आत्माके सामीप्यमें उत्पन्न हुआ शरीर 'किसी व्यक्तिविशेषका होता है, दूसरोंका नहीं होता' इस प्रकार नियम नहीं कर सकते हैं ।

यदि शङ्का हो कि 'जिस अदृष्टसे जिसका शरीर उत्पन्न हुआ है, वह उसीका है' ऐसा नियम है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार अदृष्टका भी नियम नहीं कर सकते हैं, कारण कि जब उसी प्रकारके अदृष्टके

प्रदेशसे अभिसन्धि (संकल्प) आदिकी व्यवस्था हो सकती है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि आत्मामें विभुत्व होनेसे सभीमें सबका सम्बन्ध होनेके कारण 'यह इसका शरीर है' यह नियम नहीं हो सकता है, अतः उक्त दोष समान है, यह भाव है ।

* इस ग्रन्थसे 'अदृष्टानियमात्' इत्यादि सूत्रोंका, जो कि पूर्वमें मूलमें ही उपन्यस्त हैं, उनका स्पष्टीकरण करते हैं, इससे यह निश्चित होगा कि उपाधिभेदके विना आत्माओंको नाना मान कर भी भोगादिके साङ्कर्यका परिहार नहीं कर सकते हैं ।

स्याऽपि नियमासिद्धेः। यदा हि तददृष्टोत्पादनाय केनचिदात्मना संयुज्यते मनः, संयुज्यत एव तदाऽन्यैरपि। कथं कारणसाधारण्ये क्वचिदेव तददृष्टमुत्पद्येत। ननु मनस्संयोगमात्रसाधारण्येऽपि 'अहमिदं फलं प्राप्तवान्' इति अभिसन्धिरदृष्टोत्पादककर्मानुकूलकृतिरित्येवमादि व्यवस्थितमिति तत एवाऽदृष्टनियमो भविष्यतीति चेत्, न; अभिसन्ध्यादीनामपि साधारणमनस्संयोगादिनिष्पाद्यतया व्यवस्थित्यसिद्धेः। ननु स्वकीयमनस्संयोगोऽभिसन्ध्यादिकारणमिति मनस्संयोग एवाऽसाधारणो भविष्यतीति, न; 'नित्यं सर्वात्मसंयुक्तं मनः कस्यचिदेव स्वम्' इति नियन्तुमशक्यत्वात्। न चाऽदृष्टविशेषादात्मविशेषाणां मनसस्स्वस्वामिभावसिद्धिः। तस्याऽप्यदृष्टस्य पूर्ववद् व्यवस्थित्यसिद्धेः।

उत्पादनके लिए किसी आत्माके साथ मनका सम्बन्ध होता, तब दूसरे आत्माओंके साथ भी मनका सम्बन्ध है ही, [क्योंकि आत्मा व्यापक है] । इसलिए आत्ममनःसंयोगरूप असमवायिकारण और समवायिकारणरूप आत्माके साधारण होनेसे किसी स्थलविशेषमें वह उत्पन्न होता है, यह कैसे होगा। यदि शङ्का हो कि केवल आत्ममनःसंयोगके साधारण होनेपर भी 'मैं इस फलको प्राप्त करूँ' इस प्रकार अभिसन्धि (फलकी इच्छा) और अदृष्टके उत्पादक कर्मोंके अनुकूल कृति आदि नियमित हैं, अतः उन्हींसे ही उक्त अदृष्टका नियम होगा? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि अभिसन्धि (फलेच्छा) प्रभृति भी सर्वसाधारण आत्ममनःसंयोगसे ही निष्पादित होते हैं, अतः अभिसन्धि आदि भी नियमत नहीं हो सकते हैं। यदि शङ्का हो कि स्वकीय मनःसंयोग ही अभिसन्धि आदिका कारण है, इसलिए मनःसंयोग ही असाधारण कारण है, सामान्य कारण नहीं है, अतः अदृष्टनियम हो सकता है, तो यह भी युक्त नहीं है, नित्य और सभी आत्माओंके साथ सम्बद्ध मन किसी व्यक्तिविशेषका होकर स्वकीय होता है, ऐसा भी नियम नहीं हो सकता है। यदि शङ्का हो कि अदृष्टविशेषसे ही तत्-तत् आत्मा तत्-तत् मनोंके स्वामी हैं? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उस अदृष्टकी पूर्वके समान व्यवस्था नहीं हो सकती है।

नन्वात्मनां विभुत्वेऽपि तेषां प्रदेशविशेषा एव बन्धभाज इति आत्मान्तराणां चैत्रशरीरे तत्प्रदेशविशेषाभावात् सुखदुःखादिव्यवस्था भविष्यतीति, न; यस्मिन् प्रदेशे चैत्रः सुखाद्यनुभूय तस्मात् प्रदेशादपक्रान्तस्तस्मिन्नेव मैत्रे समागते तस्यापि तत्र सुखदुःखादिदर्शनेन शरीरान्तरे आत्मान्तरप्रदेशविशेषस्याऽप्यन्तर्भावात् । तस्मादात्मभेदेऽपि व्यवस्था दुरुपपादैव । कथंचित्तदुपपादने च श्रुत्यनुरोधाल्लाघवाच्चैकात्म्यमङ्गीकृत्य तत्रैव तदुपपादनं कर्तुं युक्तमिति ॥ १३ ॥

यदि शङ्का हो कि आत्माओंके स्वतः व्यापक होनेपर भी उनके प्रदेशविशेष ही सुख, दुःख आदि बन्धके आश्रय हैं, अतः चैत्रशरीरमें अन्य आत्माओंके प्रदेशविशेषोंकी अवस्थिति न रहनेके कारण सुख, दुःख आदिकी व्यवस्था होगी ? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जिस * प्रदेशमें चैत्रने सुख, दुःख आदिका अनुभव किया हो, उस प्रदेशसे उसके हट जानेपर उसी प्रदेशमें आये हुए मैत्रके भी सुख, दुःख आदि देखे जाते हैं, अतः अन्य शरीरमें दूसरे आत्माके प्रदेश भी अन्तर्भूत हैं, इससे आत्मभेद पक्षमें भी व्यवस्थाका उपपादन अशक्य ही है, किसी प्रकारसे सुख, दुःख आदिके साङ्कर्यका परिहार किया जाय, तो भी श्रुतिके † अनुसार और लाघवसे एक आत्माका अङ्गीकार करके उसीमें सुखादिकी व्यवस्था करनी चाहिए ॥१३॥

---

* पूर्वपक्षसे यह नियम फलित होता है कि एक शरीरमें एक ही आत्माका प्रदेश है, अन्य आत्माका नहीं, परन्तु यह असङ्गत है, क्योंकि प्रदेशसे वही आत्माका प्रदेश लिया जायगा जो कि अदृष्टका आश्रय होगा, क्योंकि सुख, दुःख आदि अव्याप्यवृत्ति हैं, इस अवस्थामें जिस आसन आदि प्रदेशमें चैत्रका शरीर अवस्थित होकर चैत्रसुखका आश्रय होता है, उसी प्रदेशमें चैत्रशरीरके हट जानेपर मैत्रका शरीर बैठ जाय तो वह सुखाश्रय देखा जाता है । इस अवस्थामें पीछे आये हुए मैत्रशरीरमें चैत्र और मैत्रके आत्मप्रदेशोंका, जो कि अदृष्टके आश्रय हैं, प्रवेश होनेसे उसमें (मैत्रशरीरमें) चैत्र और मैत्र दोनोंके भोगका प्रसङ्ग होगा । यदि इसमें शङ्का हो कि पूर्वके शरीरके अपक्रान्त होनेपर उसके साथ साथ चैत्रशरीरमें रहनेवाले आत्माके प्रदेशका भी अपसरण होता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रदेशवाले आत्माके स्थिर होनेके कारण, प्रदेशका चलना बन ही नहीं सकता । इसी प्रणालीके अनुसार इतर आत्माओंमें भी प्रदेशान्तर्भावप्रयुक्त साङ्कर्य तदवस्थ ही है, अतः आत्मभेदवादियोंका मत सर्वथा अश्रद्धेय तथा युक्ति और प्रमाणसे विधुर है, यह भाव है ।

† 'तत्त्वमसि' 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार आत्माका भेद भासता ही

एवमण्वात्मवादेऽपि भोगश्चेशे प्रसज्यते ।
तथाऽन्ये बहवो दोषा विद्वद्भिः संप्रदर्शिताः ॥ ६७ ॥

इसी प्रकार आत्माके अणुत्ववादमें भी ईश्वरमें भोगकी प्रसक्ति होगी, इसी प्रकार विद्वानोंने दूसरे अनेक दोष अणुवादमें कहे हैं ॥ ६७ ॥

सन्तु तर्ह्यणव एवात्मानः, यदि विभुत्वे व्यवस्था न सुवचा । मैवम्, आत्मनामणुत्वे कदाचित् सर्वाङ्गीणसुखोदयस्य करशिरश्चरणाधिष्ठानस्य चाऽनुपपत्तेः ।

यदत्राऽर्वाचीनकल्पनम्—उत्क्रान्तिगत्यागतिश्रवणान्यथानुपपत्त्या 'अणुर्ह्येवैष आत्मा यं वा एते सिनीतः पुण्यं च पापं च' 'वालाग्रशतभागस्य' इत्यादिश्रुतिषु साक्षादणुत्वश्रवणेन च अणव एव जीवाः । तेपामणुत्वेऽपि

यदि जीवोंको विभु माननेपर व्यवस्था नहीं होती है, तो अणुपरिमाण ही मानो इस प्रकारकी यदि शङ्का हो, तो वह युक्त नहीं है, क्योंकि आत्माको अणु माननेपर किसी समय जो सम्पूर्ण शरीरमें सुखानुभव होता है, उसकी और कभी एक ही समयमें हाथ, मस्तक और चरणकी जो प्रेरणा होती है, उसकी अनुपपत्ति होगी ।

इस विषयमें कुछ अर्वाचीनोंने कल्पना की है कि आत्माकी उत्क्रान्ति *, गति और आगति आदिकी अनुपपत्ति न हो, इसलिए और 'अणुर्ह्येवैष०' (जिस आत्माको पुण्य और पाप बाँधते हैं, वह आत्मा अणु है) 'वालाग्र०' (केशके अग्रभागका सौवां भाग जीव है) इत्यादि श्रुतियोंमें तो साक्षात् जीवके अणुत्वका प्रतिपादन है, इसलिए जीव अणुपरिमाणवाले ही हैं । उनके अणुपरिमाण होनेपर भी दीपप्रभाके † दृष्टान्तसे

नहीं है, किन्तु आत्माका ऐक्य ही बुद्धिपथमें उतरता है, और अनेक आत्माओंके अङ्गीकारकी अपेक्षा एक आत्मा माननेमें कितना लाघव और विरोधाभाव है, यह वेदान्तरसिक जानते ही हैं, यह तात्पर्य है ।

* 'समुत्क्रान्तम्' इत्यादि श्रुति आत्माका उत्क्रमण आदि दिखलाती है ।

† जैसे दीपकी प्रभा अपने आश्रय दीपको छोड़कर अन्य गृहोदरादि प्रदेशमें व्याप्त होती है, वैसे ही ज्ञान, सुख आदि अपने आश्रय अणु आत्माको छोड़कर शरीर आदिमें व्याप्त हो सकते हैं, यह भाव है ।

ज्ञानसुखादीनां प्रदीपप्रभान्यायेन आश्रयातिरिक्तप्रदेशविशेषव्यापिगुणतया न सर्वाङ्गीणसुखानुपलब्धिः। 'द्रोणं बृहस्पतेर्भागम्' इत्यादिस्मृत्यनुरोधेन जीवानामंशसत्त्वात्। करशिरश्चरणाद्यनुगतेषु सुखदुःखादियौगपद्यं कायव्यूहगतेषु योगिनां भोगवैचित्र्यं चेति न काचिदनुपपत्तिः। एवं च जीवानामणुत्वेनाऽसङ्करात् सुख दुःखादिव्यवस्था विभोरीश्वराद् भेदश्चेति।

अत्रोक्तमद्वैतदीपिकायाम्—एवमपि कथं व्यवस्थासिद्धिः। चैत्रस्य 'पादे वेदना, शिरसि सुखम्' इति स्वांशभेदगतसुखदुःखानुसन्धानवद्

सुख, दुःख आदि आश्रयसे अतिरिक्त प्रदेशविशेषमें व्यापी गुण हैं, अतः सर्वाङ्गीण सुख, दुःखोंकी अनुपलब्धि भी नहीं है। और 'द्रोणं बृहस्प०' (द्रोणाचार्य देवाचार्य बृहस्पतिका अंश है) इस स्मृतिके आधारपर जीव सांश भी सिद्ध होते हैं, अतः हाथ, सिर, पैर आदिमें जीवांशोंके अनुगत होनेसे ही सुख, दुःख आदिका यौगपद्य और अनेक शरीरोंके समूहोंमें जीवांशोंके जानेसे योगी लोगोंके भोगका वैचित्र्य होता है, इसलिए जीवाणुवादमें कोई अनुपपत्ति नहीं है। इस प्रकार जीवोंके अणु होनेपर भी एक शरीरमें सभी जीवोंका प्रवेश न होनेके कारण सुख, दुःख आदिकी व्यवस्था और विभु ईश्वरसे भेद भी हो सकता है, [जीवको विभु माननेसे दोनोंके लक्षणमें भेद न होनेके कारण ईश्वरसे जीवका भेद सिद्ध नहीं होगा। जीवको अणु माननेसे तो उन दोनोंमें अत्यन्त वैलक्षण्य होनेके कारण भेद स्पष्टरूपसे सिद्ध होता है, यह भाव है]।

इस प्रकारकी अर्वाचीनोंकी कल्पनाका अद्वैतदीपिका नामके ग्रन्थमें परिहार किया गया है कि * जीवमें अणुत्व और सांशत्वके माननेपर भी व्यवस्था किस प्रकार हो सकती है? क्योंकि चैत्रके 'पैरमें वेदना है, सिरमें सुख है' इस प्रकार जीवके भिन्न अंशोंमें रहनेवाले सुख, दुःखोंका जैसे अनुभव होता

* अपने अंशमें रहनेवाले सुख आदिका जीव अनुभव करता है और अन्यजीवगत सुखादिका अनुभव नहीं करता, इस प्रकार स्वीकार करते हुए पूर्वपक्षीको कहना होगा कि भेद अननुसन्धानका प्रयोजक है और अभेद अनुसन्धानका प्रयोजक है, इसमें यह विकल्प हो सकता है—जो अननुसन्धानका प्रयोजक भेद है, वह भेदमात्र है अथवा शुद्ध भेद है? प्रथम पक्षमें अपने अंशवृत्ति सुख आदिका भी चैत्र अनुभव नहीं कर सकेगा, क्योंकि अननुसन्धानमें हेतु वहाँ भेद है, यदि भेदके विद्यमान होनेपर भी वह सुखादिका अनुसन्धान करता है, यह स्वीकार करोगे तो यह भी मानना पड़ेगा कि चैत्रगत सुखादिका अनुसन्धान मैत्र भी

मैत्रगतसुखदुःखानुसन्धानस्यापि दुर्वारत्वात् । अविशेषो हि चैत्रजीवात्तदंशयोः मैत्रस्य च भेदः । कायव्यूहस्थले वियुज्याऽन्यत्र प्रसरणसमर्थानामंशानां जीवाद् भेदावश्यंभावाद् अंशांशिनोस्त्वया भेदाभेदाभ्युपगमाच्च । न च शुद्धभेदोऽननुसन्धानप्रयोजक इति वाच्यम्, शुद्धत्वं हि भेदस्यांऽशांशिभावासहचरितत्वं वा अभेदासहचरितत्वं वा स्यात्? नाऽऽद्यः, 'अंशो ह्येष परमस्य' 'ममैवांशो जीवलोके' 'अंशो नानाव्यपदेशात्' इति श्रुतिस्मृतिसूत्रैर्जीवस्य ब्रह्मांशत्वप्रतिपादनेन ब्रह्मजीवयोर्भोगसाङ्कर्यप्रसङ्गात् ।

ननु जीवांशानां जीवं प्रतीव जीवस्य ब्रह्म प्रति नांशत्वम्, किन्तु

है, वैसे ही मैत्रमें रहनेवाले सुख, दुःखोंके अनुभवका भी कैसे परिहार कर सकते हैं, क्योंकि जैसे चैत्रके जीवसे उसके अंशोंका भेद है, वैसे ही चैत्रजीवसे मैत्रका भी भेद है । योगीके कायव्यूह स्थलमें अंशीसे विभक्त होकर अन्य स्थलमें प्रसक्त होनेवाले अंशोंका जीवसे भेद अवश्य होगा, और तुम अंश और अंशीका भेदाभेद स्वीकार करते हो । यदि शङ्का हो कि शुद्ध भेद ही अननुसन्धानका प्रयोजक है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि शुद्धभेदका अर्थ क्या अंशांशिभावका असाहचर्य है, अथवा अभेदका असाहचर्य है? इसमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि † 'अंशो ह्येष परमस्य' 'ममैवांशो जीवलोके' 'अंशो नानाव्यपदेशात्' इस प्रकारकी श्रुति, स्मृति और सूत्रोंसे जीवमें ब्रह्मांशत्वका प्रतिपादन होनेसे जीव और ब्रह्ममें भोगसाङ्कर्य प्रसक्त होगा ।

* यदि शङ्का हो कि जीवके प्रति जीवांश जैसे मुख्य अंश हैं, वैसे ब्रह्मके

करता है, इसी बातको 'चैत्रस्य' इत्यादि मूलसे बतलाते हैं । द्वितीय पक्षका 'न च' इत्यादि ग्रन्थसे आशङ्कापूर्वक परिहार स्वयं ग्रन्थकार करेंगे ।

† जीव परमात्माका अंश है, लोकमें जीवरूप मेरा (ईश्वरका) ही अंश हैं, और जीव परमात्माका अंश है, क्योंकि नानाव्यपदेश है, क्रमशः श्रुति, स्मृति और सूत्रका यह अर्थ है । इसलिए अननुसन्धानका प्रयोजक शुद्धभेद अर्थात् अंशांशिभावसे रहित भेद माना जाय, तो प्रकृतमें जीव और ईश्वरका अंशांशिभावसे असहकृत भेद न होनेसे अननुसन्धान नहीं होगा, किन्तु परस्परके भोगोंका अन्योन्यको अनुसन्धान होगा, यह भाव है ।

* प्रकृतमें शङ्का करनेवालेका भाव यह है कि अननुसन्धानमें शुद्धभेद प्रयोजक है; इसमें शुद्धत्व केवल अंशांशिभावासहकृतत्व नहीं है, किन्तु मुख्यांशांशिभावासहकृतत्व है,

'चन्द्रबिम्बस्य गुरुबिम्बः शतांशः' इतिवत् 'सदृशत्वे सति ततो न्यूनत्वमात्रम्' औपचारिकांशत्वमिति चेत्, किं तदतिरेकेण मुख्यमंशत्वं जीवांशानां जीवं प्रति, यदत्राननुसन्धानप्रयोजकशरीरे निवेश्यते ? न तावत् पटं प्रति तन्तूनामिवाऽऽरम्भकत्वम्। जीवस्याऽनादित्वात्। नाऽपि महाकाशं प्रति घटाकाशादीनामिव प्रदेशत्वम्, टङ्कच्छिन्नपाषाणशकलादीनामिव खण्डत्वं वा, अणुत्वेन निष्प्रदेशत्वादच्छेद्यत्वाच्च। भिन्ना-

प्रति जीव मुख्य अंश नहीं है, किन्तु 'चन्द्रबिम्बका गुरुबिम्ब शतांश है' यहांपर जैसे गुरुबिम्बमें चन्द्रबिम्बका औपचारिक अंशत्व प्रतीत होता है, वैसे ही प्रकृतमें जीव ईश्वरके सदृश तथा उससे न्यून है, अतः जीवमें औपचारिक अंशत्व भासित होता है ? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि इसमें यह प्रश्न होता है कि जीवके प्रति जीवांशोंमें मुख्यांशत्व, जो कि औपचारिकांशत्वसे भिन्न है †, क्या है, जिसका कि अननुसन्धानके प्रयोजकीभूत शरीरमें (नियमस्वरूपमें) विशेषणरूपसे निवेश करते हो ? यदि कहो कि जैसे पटके प्रति तन्तु आरम्भक हैं, अत एव वे पटके मुख्य अंश कहे जाते हैं, वैसे ही प्रकृतमें आरम्भकत्वरूप मुख्य अंशत्व है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि जीव अनादि है, [अर्थात् जीवांशोंमें जीवके प्रति मुख्य अंशत्व है, ऐसा पूर्वमें जो तुमने कहा है, यह नहीं हो सकता है, क्योंकि जीव अनादि है, इसलिए वे जीवांश जीवके आरम्भक नहीं हो सकते हैं, अतः उनमें आरम्भकत्वरूप मुख्य अंशत्व नहीं हो सकता है, यह भाव है।] यदि कहो कि महाकाशके प्रति घटाकाश आदिमें जैसे प्रदेशत्वरूप अंशत्व है, वैसे ही प्रकृतमें प्रदेशत्वरूप अथवा टङ्कसे तोड़े हुए पत्थरके टुकड़ोंके समान खण्डत्वरूप मुख्यांशत्व है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जीव अणु है, अतः उसका प्रदेश नहीं है और इसीसे उसका टुकड़ा भी नहीं

जीव और ईश्वरका अंशांशिभाव मुख्य नहीं है, किन्तु गौण है, इसलिए उनका शुद्ध भेद होनेसे परस्पर अनुसन्धानका साङ्कर्य नहीं है और जीव और उसके अंशोंमें मुख्यांशांशिभावत्वके होनेसे शुद्ध भेद उनका नहीं है, अतः अनुसन्धानकी उपपत्ति भी हो सकती है, यह भाव है।

† अर्थात् आरम्भकावयवत्व, प्रदेशत्व, खण्डत्व अथवा भिन्नाभिन्नत्वरूप मुख्यांशत्व है ? यह प्रश्नका आशय है, इनमें प्रत्येक पक्षका मूलकारने ही क्रमशः खण्डन किया है।

भिन्नद्रव्यत्वमंशत्वमभिमतमिति चेद्, न; तथा सति जीवेश्वरयोर्जीवानां च भोगसाङ्कर्यप्रसङ्गात्। स्वतो भिन्नानां तेषां चेतनत्वादिना अभेदस्यापि त्वयाऽङ्गीकारात्, समूहसमूहिनोर्भेदाभेदवादिनस्तव मते एकसमूहान्तर्गतजीवानां परस्परमप्यभेदसत्त्वाच्च स्वाभिन्नसमूहाभिन्नेन स्वस्याऽप्यभेदस्य दुर्वारत्वात्। यदि संयोगादीनां जातेश्चाऽनेकाश्रितत्वं स्यात्, तदा गुणगुण्यादेरभेदाद् घटाभिन्नसंयोगाभिन्नपटादेरपि घटाभेदः प्रसज्ये-

हो सकता है, जिससे कि प्रदेशत्व और खण्डत्वरूप जीवके अंशोंमें मुख्यांशत्व हो। यदि कहो कि भिन्नाभिन्नद्रव्यत्वरूप अंशत्व प्रकृतमें अभिमत है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेपर जीव और ईश्वरका और जीवोंका परस्पर भोगसाङ्कर्य प्रसक्त होगा, क्योंकि जीव और ईश्वर तथा अनेक जीव स्वरूपतः परस्पर भिन्न * हैं, तथापि वे चेतनत्व आदि धर्मोंसे अभिन्न हैं, ऐसा तुम मानते हो और दूसरी बात यह है कि तुम समूह और समूहीका भेदाभेद मानते हो, इसलिए तुम्हारे मतमें एक समूहमें विद्यमान सम्पूर्ण जीवोंका † परस्पर अभेद भी है, कारण कि अपनेसे अभिन्न समूहके साथ अभेद होनेसे अपना भी दूसरेके साथ अभेद है, इसका निवारण नहीं कर सकते हैं, क्योंकि गुण और गुणीका अभेद मानकर यदि संयोग, विभाग आदि अनेकाश्रित माने जाँय, तथा जाति और व्यक्तिका अभेद मान कर यदि जातिको अनेकाश्रित माना जाय, तो गुण और गुणीका अभेद होनेसे घटाभिन्न संयोगसे अभिन्न पटमें भी घटाभेद प्रसक्त होगा, ऐसा कहते हुए तुमने 'तदभिन्ना-

* अननुसन्धानमें प्रयोजकीभूत जो भिन्नाभिन्नद्रव्यत्वासहकृत भेद है, वह जीव और ईश्वरमें भी है, अतः जीव और ईश्वरके भोगका साङ्कर्य प्रसक्त होगा, क्योंकि घट और पटका परस्पर घटत्वादि विशेष धर्मोंसे भेद होनेपर भी द्रव्यत्वरूप व्यापक धर्मसे जैसे अभेद है, वैसे ही जीवत्व और ईश्वरत्वरूप धर्मोंसे उनका परस्पर भेद होनेपर भी सत्त्व, द्रव्यत्व, चैतन्यत्व आदि धर्मोंसे उनका अभेद है, यह भाव है।

† तात्पर्य यह है कि समूह और समूही का स्वरूपतः भेद और व्यापक धर्मोंसे अभेद तुम मानते हो, इस अवस्थामें उत्सवमें एकत्र मिलित मनुष्योंका परस्पर भेदाभेद होनेके कारण भिन्नाभिन्नद्रव्यत्वासहकृत शुद्धभेदके न रहनेसे उस उत्सवमें संमिलित यावत् व्यक्तियोंके भोगका साङ्कर्य प्रसक्त होगा, क्योंकि एक समूही देवदत्तसे अभिन्न समूहका यज्ञदत्तके साथ अभेद होनेसे देवदत्तका यज्ञदत्तके साथ अभेद निरस्त नहीं हो सकता है, अर्थात् समूहको लेकर देवदत्तका यज्ञदत्तके साथ अवश्य अभेद है, इसलिए भोगसाङ्कर्यका प्रसङ्ग है ही।

तेत्यादि वदता त्वया तदभिन्नाभिन्नस्य तदभेदनियमाभ्युपगमात् ।

न च जीवान्तरसाधारणचेतनत्वादिधर्मैकरूप्यैकसमूहान्तर्गतत्वादिप्रयुक्ताभेदविलक्षणमभेदान्तरमंशांशिनोरस्ति भेदेऽप्यनुसन्धानप्रयोजकम्, यदत्रानतिप्रसङ्गाय विवक्ष्येत । तथा सति तस्यैव विशिष्य निर्वक्तव्यत्वा-

भिन्नस्य ‡ तदभिन्नत्वम्' यह नियम माना है ।

* और अंश और अंशीका भेद रहनेपर भी अनुसन्धानका प्रयोजक—अन्य जीवोंमें रहनेवाले चेतनत्व आदि धर्मोंसे होनेवाले तथा एक समूहान्तर्गतत्वरूपसे होनेवाले अभेदसे विलक्षण—अन्य—अभेद भी उनका नहीं है, जिसकी कि अतिप्रसङ्गके वारणके लिए विवक्षा की जाय, क्योंकि अंश और अंशीका विलक्षण भेद माननेपर उसका भी विशेषरूपसे निर्वचन करना पड़ेगा । यदि कहो कि अंश और अंशीके अभेदमें धर्मोंसे होनेवाली एकरूपता आदि अभेदप्रयोजक नहीं हैं, यही विशेष है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जीव और उसके अंशोंमें चेतनत्वादि धर्मोंसे एकरूपता और एक शरीरावच्छेदमें एवम् कार्यसमूहके मेलनमें उनका समूह † होनेसे जीव और उसके अंशोंके अभेदमें

‡ 'तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमः' इस नियमको नैयायिक लोगोंने माना है, अपनेसे अभिन्न पदार्थसे जो अभिन्न पदार्थ है, वह आपसे भी अभिन्न होता है, यह उक्त नियमका अर्थ है, जैसे गुण और गुणीका जो अभेद मानते हैं, उनके मतमें उक्त नियमके आधारपर नैयायिकोंने दोष दिया है कि पटसे अभिन्न संयोग है और उससे अभिन्न घट है, अतः पट और घटका भी अभेद प्रसक्त हो सकता है, यह भाव है ।

* प्रकृतमें शङ्काका यह कारण है कि जीव और ईश्वर तथा जीवांशोंका एवं समूहाभिन्न जीवोंका जो चेतनत्वादि धर्मप्रयुक्त अभेद है, उससे विलक्षण ही जीव और उसके अंशोंका अभेद है, इसलिए जीव और उसके अंशोंका भेद होनेपर भी परस्पर अनुसन्धान होता है, जीव और ईश्वरका चेतनत्वादि धर्मोंसे अभेद होनेपर भी उक्त विलक्षण अभेदके न रहनेसे परस्पर अनुसन्धानकी प्रसक्ति नहीं है, अतः भिन्नाभिन्नद्रव्यत्वासहकृत भेद शुद्धभेद है, और वह अननुसन्धानका प्रयोजक है, इसमें जो अभेद प्रविष्ट है, वह जीव और उसके अंशोंका अनुसन्धानप्रयोजक विलक्षण अभेद है, इसलिए उक्त भिन्नाभिन्नद्रव्यत्वासहकृत भेदरूप शुद्धभेदमें दोष नहीं है, यह भाव है ।

† जैसे जीव और उसके अंशोंकी चेतनत्वादिसे एकरूपता है, वैसे जीव और उसके अवयवोंका एक शरीरमें अनुप्रवेश कालमें उस शरीरावच्छेदेन समूह भी है, वैसे योगीके जीवके अवयवोंका कायव्यूहसे फलभोगवाले अनेक शरीरोंमें प्रवेश होनेसे कदाचित् उन शरीरी जीवोंका मेल न

पत्तेः । धर्मैकरूप्याद्यप्रयुक्तत्वमंशांशिनोरभेदे विशेष इति चेत्, न; जीवतदंशयोश्चेतनत्वादिधर्मैकरूप्यसत्त्वेन एकशरीरावच्छेदे कायव्यूहमेलने च समूहत्वेन च तयोरभेदे धर्मैकरूप्यादिप्रयुक्तत्वस्यापि सद्भावात् । धर्मैकरूप्यादिप्रयुक्ताभेदान्तरसत्त्वेऽपि जीवतदंशयोरंशांशिभावप्रयोजकाभेदो न तत्प्रयुक्त इति चेद्, न; तयोरभेदद्वयाभावात् त्वन्मतेऽधिकरणैक्ये सति भेदस्याऽभेदस्य वा प्रतियोगिभेदेन तदाकारभेदेन वा अनेकत्वानभ्युपगमात् । तस्मादाद्यपक्षे सुस्थोऽतिप्रसङ्गः ।

एतेनैव द्वितीयपक्षोऽपि निरस्तः । अभेदासहचरितभेदस्याऽननुसन्धानप्रयोजकत्वे उक्तरीत्या त्वन्मते जीवब्रह्मणोर्जीवानां चाऽभेदस्यापि सत्त्वेनातिप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात् ।

ननु 'अभेदप्रत्यक्षमनुसन्धाने प्रयोजकम्' इति तदभावेऽननुसन्धानम् ।

धर्मैक्यरूप आदि प्रयोजक हैं । यदि शङ्का हो कि जीव और उसके अंशोंमें धर्मैक्यरूप्यसे होनेवाला कोई दूसरा अभेद भले ही रहे, परन्तु जीव और उसके अंशोंमें रहनेवाला अंशांशिभावप्रयोजक अभेद धर्मैक्यरूप्य आदिसे नहीं होता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि अंश और अंशीमें दो अभेद रह ही नहीं सकते हैं, तुमारे मतमें भी अधिकरणकी एकता होनेपर भेद और अभेद प्रतियोगीके भेदसे या प्रतियोगीके आकारके भेद अनेक नहीं माने जाते हैं । इससे प्रथम पक्षमें (भेदके अंशांशिभावासहचरितत्वरूप शुद्धत्व पक्षमें) अतिप्रसङ्ग विद्यमान ही है ।

इसीसे द्वितीय पक्ष भी निरस्त हुआ ही समझना चाहिए, क्योंकि अभेदसे असहकृत भेद अननुसन्धानका प्रयोजक माना जाय, तो उक्त रीतिसे चेतनत्वादि धर्मैक्यरूप्य आदि पङ्क्तिसे कही गई रीतिसे) तुम्हारे मतमें भी जीव और ब्रह्म और जीवोंका भी परस्पर अभेद होनेके कारण अतिप्रसङ्ग दुर्वार ही है ।

यदि शङ्का हो कि 'अभेदप्रत्यक्ष अनुसन्धानमें प्रयोजक है' इसलिए अभेदप्रत्यक्षके न होनेपर अननुसन्धान होगा । अंशीका अपना अभेद और

होनेपर योगी जीवके अंशियोंके साथ समूह भी है, इसलिए धर्मैकरूप्यप्रयुक्त अभेद होनेसे तदप्रयुक्तत्वका असम्भव है, यह भाव है ।

स्वस्य स्वाभेदः स्वांशाभेदश्च प्रत्यक्ष इति तद्द्रष्टुर्दुःखाद्यनुसन्धानम्, जीवान्तरेणाऽभेदसत्त्वेऽपि तस्याऽप्रत्यक्षत्वान्न तद्दुःखाद्यनुसन्धानम्। जातिस्मरस्य प्राग्भवीयात्मनाऽपि अभेदस्य प्रत्यक्षसत्त्वात् तद्वृत्तान्तानुसन्धानम्, अन्येषां तदभावाद् नेत्यादि सर्वं सङ्गच्छते इति चेत्, तर्ह्यैकात्म्यवादेऽपि सर्वात्मतावरकाज्ञानावरणाच्चैत्रस्य न मैत्रात्माद्यभेदप्रत्यक्षमिति तत एव सर्वव्यवस्थोपपत्तेर्व्यर्थः श्रुतिविरुद्ध आत्मभेदाभ्युपगमः।

न चेत्थमपि प्रपञ्चतत्त्ववादिनस्तत्र व्यवस्थानिर्वाहः, सर्वज्ञस्येश्वरस्य वस्तुसज्जीवान्तराभेदप्रत्यक्षावश्यंभावेन जीवेषु दुःखवत्सु 'अहं दुःखी' इत्यनु-

---

अपने अंशोंका अभेद प्रत्यक्ष है, इसलिए अभेददर्शीको दुःख आदिका अनुसन्धान होता है और जीवान्तरके साथ अभेद होनेपर भी उसका प्रत्यक्ष नहीं है, अतः उसे अन्यका दुःख अनुभूत नहीं होता है, पूर्वकी जातिका स्मरण करनेवाले वामदेव प्रभृतिको प्राग्भवीय आत्माके साथ अभेदका प्रत्यक्ष है, इसलिए उनको पूर्ववृत्तान्तका अनुसन्धान होता है, दूसरोंको उसका प्रत्यक्ष न होनेसे अनुसन्धान नहीं होता है, इत्यादि सभी व्यवस्थाकी उपपत्ति हो सकती है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस अवस्थामें एकात्मवादमें भी सर्वात्मताके आवारक अज्ञानका आवरण होनेसे चैत्रको मैत्रात्माके साथ अभेदका प्रत्यक्ष नहीं है, इसलिए उसीसे * सब व्यवस्थाकी यदि उपपत्ति हो सकती है, तो श्रुतिविरुद्ध आत्माके भेदकी कल्पना व्यर्थ ही है।

और † इस प्रकारकी कल्पनासे अर्थात् अभेदप्रत्यक्ष अनुसन्धानमें प्रयोजक है, इस कल्पनासे भी प्रपञ्चको तात्त्विक माननेवाले तुम्हारे मतमें व्यवस्थाका निर्वाह नहीं हो सकता है, क्योंकि ‡ सर्वज्ञ ईश्वरको वस्तुसत् अन्य जीवोंके अभेदका प्रत्यक्ष अवश्य होनेसे जीवोंके दुःखसे 'मैं दुःखी हूँ' इस प्रकार

---

* अर्थात् चैत्र, मैत्र आदि सभीको परस्परमें अभेदप्रत्यक्ष नहीं होनेसे ही व्यवस्थितिरूपसे सुख आदिके अनुसन्धानकी उपपत्ति हो सकती है, इसीसे, यह अर्थ है।

† अभेदप्रत्यक्षको अनुसन्धानका प्रयोजक मानकर अन्य मतमें आत्मभेदकल्पनामें गौरव और श्रुतिका विरोध कहा गया, अब इस ग्रन्थसे—आत्माके अभेदप्रत्यक्षको अनुसन्धान-प्रयोजक मान भी नहीं सकते हैं, यह कहते हैं।

‡ यदि ईश्वर अन्य जीवसे अन्य जीवका पारमार्थिक अभेदको जानता नहीं है, यह मान लिया जाय, तो ईश्वर सर्वज्ञ नहीं हो सकेगा, यह भाव है।

भवापत्तेः। अस्मन्मते त्वीश्वरः स्वाभिन्ने जीवे संसारं प्रतिबिम्बमुखे मालिन्यमिव पश्यन्नपि मिथ्यात्वनिश्चयान्न शोचतीति नैष प्रसङ्गः।

स्यादेतत्—मा भूदंशभेदः करशिरश्चरणादीनां कायव्यूहस्य चाऽधिष्ठानम्, आत्मदीपस्याऽनपायिनी ज्ञानप्रभाऽस्ति व्यापिनीति सैव सर्वाधिष्ठानं

ईश्वरको भी दुःखित्वका अनुभव प्रसक्त होगा। हम वेदान्तियोंके मतमें तो ब्रह्माभिन्न जीवमें—प्रतिबिम्बभूत मुखमें दर्पणकी मलिनता देखनेपर भी उसे जैसे मिथ्या मानते हैं, वैसे ही—संसारको देखता हुआ भी ईश्वर उसे मिथ्या मानता है, अतः उसके विषयमें कुछ नहीं सोचता है, अतः उक्त दोष नहीं * है।

अब इस प्रकार जीवाणुवादियोंकी शङ्का है कि जीवके अंशविशेष—हाथ, सिर, पैर आदिका और कायव्यूहका—अधिष्ठान (प्रेरक) भले ही न हो, परन्तु आत्मारूप दीपककी अविनाशिनी ज्ञानात्मक व्यापक प्रभा है, *

* कुछ लोगोंने कहा है कि जीवोंके सांश होनेसे हाथ, सिर, पैर आदिमें जीवांशोंके अनुगत होनेपर सुख, दुःख आदिका यौगपद्य हो सकता है, और कायव्यूहमें योगीके जीवावयवोंके जानेपर योगियोंको भी युगपत् सुख, दुःख आदिके भोगका वैचित्र्य हो सकता है, अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है, जीवके प्रति उसके अंशोंमें मुख्य अंशत्व नहीं है, इसका निराकरण हो चुका है, और जीवाणुवादमें जीवसदृश होकर जीवसे न्यूनपरिमाणत्वरूप औपचारिक अंशत्वका भी बाध है, क्योंकि जीवका अणुपरिमाण होनेसे उससे न्यूनपरिमाण ही नहीं हो सकता है, और सदृशत्व होकर न्यूनपरिणामत्वरूप जो औपचारिक अंशत्व है, वह तो चन्द्रबिम्ब और गुरुबिम्बके समान जीवांशोंके अत्यन्त भेदका प्रयोजक है, अतः जीवको अपने अंशगत दुःखादिके प्रति अनुसन्धातृत्व भी नहीं हो सकता है, वैसे ही योगीके जीवांश कायव्यूहके अधिष्ठाता हैं, तथापि उनसे अत्यन्त भिन्न योगीका जीव कायव्यूहका अधिष्ठाता नहीं हो सकता है, इसी प्रकार शरीराधिष्ठाता जीव और अवयवोंके अधिष्ठाता अंश अत्यन्त भिन्न-भिन्न हैं। अतः एक ही शरीरमें अनेक भोक्ताओंकी प्रसक्ति होगी, और जीवको सांश माननेमें कोई प्रमाण भी नहीं है, 'द्रोणं बृहस्पतेर्भागम्' इत्यादि वाक्य—उक्त प्रकारसे अंशपरक न होनेसे बृहस्पति आदि अपने योग-प्रभावसे पृथ्वीका भार हरण करना आदि देवताओंके कार्यके लिए अन्य शरीरका परिग्रहण करते हैं—यही बोध कराता है। इससे यह भी खण्डित हुआ समझना चाहिए कि राम, कृष्ण आदि विष्णुके अंश हैं।

* जीव स्वयं अणु भले ही हो, परन्तु उसकी नित्य और व्यापक ज्ञानात्मक प्रभा है, इससे उसके एकदेशमें रहनेपर भी अपनेमें रहनेवाले ज्ञानके प्रभावसे हाथ आदि शरीरके सम्पूर्ण अवयवोंमें और कायव्यूहमें वह अधिष्ठित होता है, अतः निरंश जीवके अधिष्ठातृत्व आदिकी अनुपपत्ति नहीं है, यह शङ्काका तात्पर्य है।

भविष्यतीति चेद्, न ; ज्ञानवद् आत्मधर्मस्य सुखदुःखभोगस्य ज्ञानमाश्रित्य उत्पत्त्यसम्भवेन करचरणाद्यवयवभेदेनाऽवयविनः, कायव्यूहवतः कायभेदेन च भोगवैचित्र्याभावप्रसङ्गात् । 'सुखदुःखभोगादि ज्ञानधर्म एव, नात्मधर्मः' इत्यभ्युपगमे तद्वैचित्र्येण आत्मगुणस्य ज्ञानस्य भेदसिद्धावप्यात्मनो भेदासिद्ध्या भोगवैचित्र्यादिनाऽऽत्माभेदप्रतिक्षेपायोगात् । 'भोगाद्याश्रयस्याऽऽत्मनोऽणुत्वेन प्रतिशरीरं विच्छिन्नतया तद्व्यापित्ववाद इव

अतः वही प्रभा हाथ आदिकी प्रेरक होगी, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि † ज्ञानके समान आत्मामें रहनेवाले सुख-दुःखात्मक भोगकी ज्ञानको आश्रय करके—ज्ञानमें—उत्पत्ति नहीं हो सकती है, अतः हाथ, पैर आदि अवयवोंके भेदसे अवयवी जीवको और अनेक शरीरवाले योगीको, शरीरोंके भेदसे, विचित्र भोग नहीं हो सकते हैं। सुख-दुःखात्मक भोग आदि ज्ञानके ही धर्म हैं, आत्माके धर्म नहीं हैं, ऐसा यदि मानो, तो उक्त भोगके वैचित्र्यसे आत्माके गुणभूत ज्ञानका भेद सिद्ध होनेपर भी आत्माका भेद सिद्ध नहीं हो सकता है, इससे भोगके वैचित्र्यसे आत्माके अभेदका अपाकरण नहीं कर सकते हैं। और 'भोग आदिका आश्रय आत्मा अणु होनेसे प्रत्येक शरीरमें विच्छिन्न-भिन्न है, अतः जीवके व्यापकवादके समान और जीव और ईशके

† समाधानकर्ताका भाव यह है—पूर्वपक्षीके मतसे ज्ञान ही व्यापक ठहरा, यदि व्यापक ज्ञानमें सुखादिकी उत्पत्ति मानी जाय, तो शरीरके प्रत्येक अवयवमें और कायव्यूहमें युगपत् सुखादिका अनुभव हो सकता है, परन्तु पूर्वपक्षी सुखादिको ज्ञानधर्म नहीं मानता, किन्तु अणु आत्माका ही धर्म मानता है, इसलिए ज्ञानके व्यापक होनेपर भी हाथ आदि अवयवोंमें और कायव्यूहमें युगपत् भोगके वैचित्र्यकी उपपत्ति नहीं हो सकती है।

और योगियोंके भोगका वैचित्र्य है इसमें स्मृति प्रमाण भी है—

आत्मनां च सहस्राणि बहूनि भरतर्षभ ।
योगी कुर्यात् बलं प्राप्य तैश्च सर्वां महीं चरेत् ॥
प्राप्नुयात् विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत् ।
सङ्क्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव ॥

अर्थात् योगी योगके प्रभावसे अनेक शरीरोंको धारणकर सम्पूर्ण पृथ्वीमें जा सकता है, कुछ शरीरोंसे वह अनेक भोग करता है और कई एक शरीरोंसे उग्र तप भी करता है, और उन शरीरोंको पुनः अपनेमें लीन भी कर लेता है जैसे सूर्य अपनी किरणोंको समेट लेता है, यह उपर्युक्त श्लोकोंका भाव है।

तदभेदवाद इव च न सर्वधर्मसङ्करापत्तिः' इति मतहानेश्च । तस्माज्जीवस्याऽणुत्वोपगमेन व्यवस्थोपपादनं न युक्तमिति ।

नाऽपि तेन तस्येश्वराद् भेदसाधनं युक्तम्, उत्क्रान्त्यादिश्रवणात्, साक्षादणुत्वश्रवणाच्च 'अणुर्जीवः' इति वदतः तव मते 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' 'अन्तः प्रविष्टश्शास्ता जनानाम्' 'गुहां प्रविष्टौ परमे परार्ध्ये' इत्यादिश्रुतिषु प्रवेशादिश्रवणात्, 'स एषोऽणिमा एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा' इति श्रुतौ साक्षादणुत्वश्रवणाच्च परोऽप्यणुरेव सिध्येदिति कुतः परजीवयोर्विभुत्वाणुत्वाभ्यां भेदसिद्धिः ।

अभेदवादके समान सब धर्मोंका साङ्कर्य प्रसक्त नहीं है' इस प्रकारके अपने मतकी हानि भी प्रसक्त होगी, इससे जीवको अणु माननेपर भी व्यवस्थाका उपपादन नहीं हो सकता है ।

और जीवको अणु मानकर उसका ईश्वरसे भेद भी पूर्वपक्षी नहीं कर सकते हैं, क्योंकि उत्क्रान्ति आदिके और साक्षात् अणुत्वके श्रवणसे 'जीवको अणु माननेवाले पूर्वपक्षीके मतमें 'तत्सृष्ट्वा०' (जगत्को बना करके परमात्माने जगत्में ही प्रवेश किया) 'अन्तः०' (शरीरके भीतर प्रविष्ट हुआ, परमात्मा जनोंका नियन्ता है) 'गुहां०' (परार्ध्य * हृदयाकाशमें जो बुद्धिरूप गुहा है, उसमें जीव और ईश्वर प्रविष्ट हैं) इत्यादि श्रुतियोंसे जगत् आदिमें ईश्वरके प्रवेश प्रभृति सुने जाते हैं और 'स एषोऽणिमा०' (यह परमात्मा अणु है, मेरे हृदयमें यही आत्मा है, जो व्रीहि और यवसे छोटा है, इस श्रुतिमें साक्षात् अणुत्वका कथन है, इससे ईश्वर भी अणु ही सिद्ध होगा, इसलिए पूर्वपक्षीके मतमें भी अणुत्व और विभुत्वसे जीव और ईश्वरका भेद कैसे सिद्ध होगा ? †

---

* परार्ध्य शब्दका अर्थ है—परस्य अर्धम्—स्थानम् अर्हतीति परार्ध्यम् अर्थात् ईश्वरके स्थानके लिए जो योग्य है, ऐसा हृदयाकाश ।

† पूर्वपक्षी श्रुतियोंके आधारपर जीवमें अणुत्वकी और ईश्वरमें व्यापकत्वकी सिद्धि करता है, और इन्हीं अणुत्व और विभुत्वरूप विरुद्ध धर्मोंसे जीव और ईश्वरके भेदका भी साधन करता है, परन्तु ईश्वरमें उक्त श्रुतियोंसे अणुत्वकी सिद्धि ही हुई, इसलिए पूर्वपक्षीके मतसे दोनोंमें रहनेवाले एक अणुत्वसे उन दोनोंका भेद कैसे सिद्ध हो सकता है ?, अर्थात् कभी नहीं होगा । अतः पूर्वपक्षी अपने अभीष्ट जीवेश्वरके भेदकी भी सिद्धि जीवको अणु मानकर नहीं कर सकता है, यह भाव है ।

ननु 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' 'ज्यायान् दिवो ज्यायानन्तरिक्षाद्' इत्यादिश्रवणात्, सर्वप्रपञ्चोपादानत्वाच्च परस्य सर्वगतत्वसिद्धेः तदणुत्वश्रुतयः उपासनार्थाः, दुर्ग्रहत्वाभिप्राया वा उन्नेयाः। प्रवेशश्रुतयश्च शरीराद्युपाधिना निर्वाह्याः। न च जीवोत्क्रान्त्यादिश्रुतयोऽपि बुद्ध्या उपाधिना निर्वोढुं शक्या इति शङ्क्यम्, 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति'

यदि ‡ शङ्का हो कि 'आकाशवत्०' (ईश्वर आकाशके समान सर्वगत और नित्य है) 'ज्यायान् दिवो०' (ईश्वर द्युलोक और अन्तरिक्षसे बड़ा है) इत्यादि श्रुतिसे और सब प्रपञ्चके प्रति ईश्वरकी उपादानता श्रुत होनेसे परमात्मा व्यापक ही सिद्ध होता है। इससे ईश्वरमें अणुत्वकी प्रतिपादक श्रुतियाँ उपासनाके लिए अथवा ईश्वरमें दुर्ग्रहत्वके प्रतिपादनके लिए हैं। एवं प्रवेशश्रुतियोंका शरीर आदि उपाधिसे निर्वाह करना चाहिए। यदि शङ्का हो कि * जीवमें उत्क्रमण आदिकी प्रतिपादक श्रुतियोंका भी बुद्धिरूप उपाधिसे निर्वाह कर सकते हैं, तो फिर उक्त युक्तिसे जीवका अणुत्व सिद्ध नहीं होगा? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'तमुत्क्रामन्तम्०' (जीवके उत्क्रान्त होनेपर प्राण उत्क्रमण करता है) इत्यादि श्रुतिसे प्राणात्मक

---

‡ पूर्वपक्षी अपने मतकी स्थिरताके लिए कहता है कि अनेक श्रुतियां ईश्वरमें विभुत्वका प्रतिपादन करती हैं, अतः विभुत्व-प्रतिपादक श्रुतियोंके आधारपर अणुत्वबोधक श्रुतियाँ उपासनार्थ हैं अथवा ईश्वर साधारण प्रयत्नसे ज्ञात नहीं हो सकता है, अपि तु उसको जाननेके लिए अत्यन्त कठिन प्रयत्न करना चाहिए यह सूचन करती हैं। और जीवको अणु माननेमें अनेक प्रत्यक्ष श्रुतियाँ हैं, अतः जीव अणु और ईश्वर व्यापक ही सिद्ध होता है।

* सिद्धान्तीकी बीचमें यह शङ्का है—जैसे ईश्वरमें विभुत्वका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ औपचारिक नहीं हैं, और अणुत्वप्रतिपादक श्रुतियाँ मुख्य हैं, ऐसा तुल्ययुक्त्या क्यों न माना जाय? इसपर 'तमुत्क्रामन्तम्' इत्यादिसे पूर्वपक्षी उत्तर देता है। इसमें फिर शङ्का की जाय कि यद्यपि श्रुतिमें प्राणके उत्क्रमणके पूर्वमें जीवकी उत्क्रान्ति सुनी जाती है, तथापि केवल जीवकी उत्क्रान्ति नहीं होती है, परन्तु बुद्धिविशिष्ट जीवकी उत्क्रान्ति सुनी जाती है? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि बुद्धि और प्राण अभिन्न-एक-ही हैं, श्रुतिने कहा भी है—'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा' (जो प्राण है, वही बुद्धि है)। अतः अनेक श्रुतियोंसे साक्षात् जीवकी उत्क्रान्ति, आदिका ज्ञान होता है, इससे जीवको अणु मानना ही युक्त है, विभु मानना युक्त नहीं है। इससे जीव और ईशका भेद सिद्ध हो सकता है, यह पूर्वपक्षीका भाव है।

इति प्राणाख्यबुद्ध्युत्क्रान्तेः प्रागेव जीवोत्क्रान्तिवचनात्। तथा 'विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' इति नामरूपविमोक्षानन्तरमपि गतिश्रवणाच्च। 'तद्यथाऽनस्सुसमाहितमुत्सर्जन् यायादेवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन् याति' इति स्वाभाविकगत्याश्रयशकटदृष्टान्तोक्तेश्चेति चेद्, नैतत्सारम्; 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः।'

'घटसंवृतमाकाशं नीयमाने घटे यथा।
घटो नीयेत नाकाशं तद्वज्जीवो नभोपमः॥'

इत्यादिश्रुतिषु जीवस्यापि विभुत्वश्रवणात्। त्वन्मते प्रकृतेरेव जगदुपादानत्वेन ब्रह्मणो जगदुपादानत्वाभावाज्जीवस्य कायव्यूहगतविचित्रसुख-

---

बुद्धिकी उत्क्रान्तिसे पूर्व ही जीवकी उत्क्रान्ति ज्ञात होती है, इसी प्रकार 'विद्वान्नाम०' (आत्मतत्त्वज्ञानी नाम और रूपसे * विमुक्त होकर दिव्य पर पुरुषके प्रति जाता है) इत्यादि श्रुतिसे नाम और रूपसे मोक्ष होनेके बाद भी जीवकी गति सुनी जाती है। और 'तद्यथा०' (जैसे अनेक सामानोंसे भरपूर बैलगाड़ी शब्द करती हुई जाती है, वैसे ही शरीरमें रहनेवाला यह जीव ईश्वरकी प्रेरणासे प्रेरित होकर जाता है) इस प्रकारकी श्रुतिसे जीवमें गाड़ीके दृष्टान्तसे स्वाभाविक गति कही भी गई है? तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि 'स वा एष०' (वह विज्ञानमय जीव बड़ा व्यापक है) 'घटसंवृतमाकाशं' (घटसे सम्बद्ध आकाश जैसे घटके ले जानेपर जाता है, परन्तु स्वतः नहीं जाता है, वैसे ही जीव भी उपाधिके गमनसे जाता है, स्वतः नहीं जाता है, अर्थात् आकाशके समान है) इत्यादि श्रुतियोंसे जीवमें भी विभुत्वका श्रवण है। तुम्हारे मतमें † माया ही जगत्की उपादान होनेसे ब्रह्म जगत्का उपादान नहीं है और जीवको अणु माननेपर भी जैसे शरीर-

---

* नाम और रूपसे अर्थात् अज्ञानसे होनेवाले सम्पूर्ण संसारसे मुक्त होकर परमात्माके प्रति जाता है, यह भाव है।

† सिद्धान्ती उक्त पूर्वपक्षीके मतका खण्डन करता है, भाव यह है कि जैसे परमात्माके प्रकरणमें प्रतिपादित परमेश्वरका विभुत्व औपचारिक नहीं हो सकता है, वैसे ही जीवप्रकरणमें सुना गया जीवका विभुत्व भी औपचारिक नहीं हो सकता है, अतः जीवप्रकरणमें पठित अनेक वाक्य 'स वा' इत्यादिसे बतलाये हैं।

दुःखोपादानत्ववदणुत्वेऽपि जगदुपादानत्वसम्भवाच्च, ततस्तस्य सर्वगतत्वासिद्धेः। तत्प्रवेशश्रुतीनां शरीरोपाधिकत्वकल्पने जीवोत्क्रान्त्यादिश्रुतीनामपि बुद्ध्युपाधिकत्वोपगमसम्भवात्। 'पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते' (उ० मी० अ० २ पा० ४ सू० १२) इति सूत्रभाष्ये बुद्धिप्राणयोः कार्यभेदाद्भेदस्य प्रतिपादितत्वेन बुद्ध्युपाधिके जीवे प्रथममुत्क्रामति प्राणस्यानूत्क्रमणोपपत्तेः। नामरूपविमोक्षानन्तरं ब्रह्मप्राप्तिश्रवणस्य प्राप्तरि

समुदायमें विचित्र सुख, दुःख आदिके प्रति उसे उपादान मानते हो, वैसे ही वह जगत्का उपादान भी हो सकता है, अतः ईश्वरमें व्यापकत्वकी उपपत्ति नहीं हो सकती है*। ब्रह्मकी प्रवेशबोधक श्रुतियोंकी शरीररूप उपाधिसे जैसे उपपत्ति करते हो, वैसे ही जीवकी उत्क्रान्ति आदि बोधक श्रुतियोंकी भी बुद्धि आदि उपाधियोंसे उपपत्ति कर सकते हैं। † 'पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते' इस सूत्रके भाष्यमें कार्यके पार्थक्यसे प्राण और बुद्धिमें परस्पर भेदका प्रतिपादन किया गया है, अतः बुद्धिरूप उपाधिसे उपहित जीव प्रथम उत्क्रमण करता है, फिर प्राणका उत्क्रमण उपपन्न हो सकता है। नाम और रूपसे विमुक्त होनेके बाद ब्रह्मकी प्राप्तिकी जो श्रुति है, वह प्राप्त करनेवाले जीवमें

* इस ग्रन्थसे सिद्धान्तीने कहा कि पूर्वपक्षी ईश्वरमें विभुत्वका भी साधन नहीं कर सकता है, इससे सुतरां उसके मतमें जीव और ईश्वरभेद भी असिद्ध ही है, क्योंकि ईश्वरमें व्यापकत्व तभी हो सकता है, जब कि ईश्वर जगत्‌का उपादान हो परन्तु पूर्वपक्षीने ईश्वरको जगत्का उपादान नहीं माना है, किन्तु प्रकृतिको माना है, अतः ईश्वरमें व्यापकत्व सिद्ध नहीं हो सकता है, और जीवमें अणुत्वकी भी सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि सुखदुःखके प्रति जैसे जीवको उपादान तुमने माना है, वैसे ही युक्तिसे वह संसारका भी उपादान हो सकता है, इससे उपादान होनेके कारण जीवमें भी व्यापकत्वकी सिद्धि हो सकती है।

† पञ्चवृत्तिर्मनोवद् व्यपदिश्यते इसका यह अर्थ है—मनके समान अर्थात् जैसे मनकी श्रोत्र, चक्षु आदिके भेदसे शब्द आदि विषयक पांच प्रकारकी वृत्तियाँ होती हैं, वैसे ही प्राणकी प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान रूपसे पाँच प्रकारकी वृत्तियाँ होती हैं, अतः प्राण मनके समान श्रुतिमें कहा गया है। इसमें दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिककी उपपत्तिके लिए अवश्य प्राण और मनका भेद मानना चाहिए, 'यो वै प्राणः सा प्रज्ञा' इत्यादिसे प्राण और प्रज्ञाका जो अभेद कहा गया है, वह प्रज्ञा और प्राणरूप उपाधिसे उपहित प्रत्यगात्माके एक होनेसे उपहित आत्माकी मुख्यतासे कहा गया है, यह समझना चाहिए।

जीव इव प्राप्तव्ये ब्रह्मण्यपि विभुत्वविरोधित्वात् । प्राकृतनामरूपविमोक्षानन्तरमपि अप्राकृतलोकविग्रहाद्युपधानेन ब्रह्मणः प्राप्तव्यत्ववादिमते प्राप्तुर्जीवस्याऽप्यप्राकृतदेहेन्द्रियादिसत्त्वेन तदुपधानेन ब्रह्मप्राप्तिश्रवणाविरोधात् स्वाभाविकगत्याश्रयशकटदृष्टान्तश्रवणमात्राद् जीवस्य स्वाभाविकप्रवेशाश्रयजीवसमभिव्याहारेण ब्रह्मणोऽपि स्वाभाविकप्रवेशसिद्धिसम्भवाद् । ब्रह्मजीवोभयान्वयिन एकस्य प्रविष्टपदस्य एकरूपप्रवेशपरत्वस्य

जैसे विभुत्वकी विरोधी है, वैसे ही प्राप्तव्य ब्रह्ममें भी विभुत्वकी विरोधी हो सकती है। और दूसरी बात यह भी है कि * प्राकृत नाम और रूपसे विमोक्ष होनेके अनन्तर भी अप्राकृत लोक-विग्रह आदि उपाधिसे ब्रह्ममें प्राप्तव्यता है, इस प्रकार कहनेवाले तुम्हारे मतमें ब्रह्मप्राप्ति करनेवाले जीवको भी अप्राकृत शरीर, इन्द्रिय आदि हैं, अतः उन उपाधियोंके आधारपर ब्रह्मप्राप्तिका विरोध भी नहीं है, इससे स्वाभाविक गमनक्रियाके आश्रय शकटके दृष्टान्तमात्रसे जीवमें स्वाभाविक गति आदिकी सिद्धि होनेपर 'गुहां प्रविष्टौ' इससे स्वाभाविक प्रवेश करनेवाले जीवके सान्निध्यसे ब्रह्ममें भी स्वाभाविक प्रवेशकी भी सिद्धि हो सकती है † । क्योंकि ब्रह्म और जीव दोनोंमें सम्बन्ध रखनेवाले एक प्रविष्टपदकी एकरूपप्रवेशबोधकता ही कहनी चाहिए * ।

* अर्वाचीनोंके मतमें व्यापकत्वरूपसे ब्रह्म मुक्तोंका प्राप्य नहीं है, किन्तु लोकविशेष आदि उपहितत्वरूपसे ब्रह्म मुक्तोंका प्राप्य है, अतः उपहितत्वरूपसे ब्रह्ममें रहनेवाली प्राप्तव्यता ब्रह्मकी स्वरूपतः व्यापकत्वविरोधी नहीं है, ऐसी आशङ्का करके जीवमें भी तुल्ययुक्त्या यह प्रकार हो सकता है, ऐसा 'प्राकृत' इत्यादि ग्रन्थसे कहते हैं। तात्पर्य यह है कि 'विद्वान् नाम रूपाद्विमुक्तः' इस श्रुतिमें 'प्राकृतनामरूपसे विमुक्त' इस अर्थकी कल्पना करके अर्वाचीन ज्ञानी जीवके अप्राकृत नाम-रूपका स्वीकार करते हैं, इसलिए स्वतः विभु जीव, जो कि अप्राकृत नाम-रूप उपाधिसे परिच्छिन्न है, ब्रह्मके प्रति गन्ता (गमनकर्ता) हो सकता है, अतः जीवविषयक विभुत्वश्रुतियोंका बाध न करना उचित नहीं है, यह भाव है।

† तात्पर्य यह है—एक बार कहा गया पद अनेकार्थक नहीं होता है, यह नियम है, इससे 'गुहां प्रविष्टौ' इसमें एक प्रविष्टशब्दकी जीवमें स्वाभाविकार्थकता और ब्रह्ममें औपाधिकार्थकता माननी अयुक्त है, अतः ब्रह्ममें पूर्वपक्षीको स्वाभाविक गति प्राप्त होगी, यदि ईश्वरमें विभुत्वप्रतिपादक श्रुतिके अनुरोधसे प्रविष्टश्रुतिका सामान्यप्रवेश अर्थ मानते हो, तो जीवमें भी विभुत्वप्रतिपादक श्रुतिके आधारपर शकटदृष्टान्तमें गमनादिका साम्यमात्र प्रदर्शित है, स्वाभाविकगत्याश्रयत्व प्रतिपादित नहीं है, ऐसा मान सकते हैं; यह भाव है।

वक्तव्यत्वात्। तस्मात् परमते ब्रह्मजीवयोर्विभुत्वाणुत्वव्यवस्थित्यसिद्धेर्न ततो भेदसिद्धिं प्रत्याशा। अस्मन्मते ब्रह्मात्मैक्यपरमहावाक्यानुरोधेनाऽवान्तरवाक्यानां नेयत्वात् स्वरूपेण जीवस्य विभुत्वम्, औपाधिकरूपेण परिच्छेद इत्यादिप्रकारेण जीवब्रह्मभेदप्रापकश्रुतीनामुपपादनं भाष्यादिषु व्यक्तम्।

इससे पर—जीवाणुवादीके मतमें जीव और ब्रह्ममें अणुत्व और विभुत्वकी व्यवस्था नहीं हो सकती है, अतः उससे भेदसिद्धिकी आशा नहीं करनी चाहिए। हमारे मतमें ब्रह्म और जीवके ऐक्यबोधक 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यके अनुरोधसे अवान्तर * वाक्योंका अर्थ करना चाहिए, अतः जीव स्वरूपतः † व्यापक है और औपाधिकरूपसे परिच्छिन्न है, इत्यादिरूपसे जीव और ब्रह्मके भेदका बोध करानेवाली श्रुतियोंकी उपपत्ति भाष्य आदिमें स्पष्ट है।

---

* जैसे अर्वाचीनोंके पक्षमें—जीव और ईश्वर दोनोंमें विभुत्व और अणुत्व प्रतिपादक श्रुतियोंके समान होनेसे और उन दोनों श्रुतियोंकी अन्यथासिद्धिके समान होनेके कारण उनमें अणुत्व और विभुत्व समान रूपसे ही सिद्ध होंगे, एक अणु और दूसरा विभु, इस प्रकार व्यवस्था सिद्ध नहीं होगी—यह दोष दिया गया है। वैसे ही दोष सिद्धान्तमें भी आ सकते हैं, क्योंकि जीवके परिच्छिन्नत्व और विभुत्वका प्रतिपादक श्रुतिलिङ्ग समान ही है, अतः जीवमें विभुत्व स्वाभाविक है और परिच्छिन्नत्व औपाधिक है, इस प्रकार व्यवस्था नहीं हो सकती है, इसपर सिद्धान्ती 'अस्मन्मते' इत्यादिसे कहते हैं कि नहीं—हमारे मतमें अव्यवस्था नहीं हो सकती है, क्योंकि महावाक्यके अनुसार ही अवान्तर वाक्योंका अर्थ होता है, प्रकृतमें महावाक्य 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य हैं, क्योंकि मुक्तिका साधनीभूत जो ब्रह्मात्मैक्यज्ञान है, उसके प्रति तत्त्वमस्यादि वाक्य जनक हैं, और अवान्तर वाक्य 'स एषोऽणिमा' इत्यादि हैं, क्योंकि ये महावाक्यार्थज्ञानके कारणीभूत 'तत् और त्वम्' पदार्थके ज्ञानके प्रति साधन हैं, और जितने पदार्थप्रतिपादकवाक्य होते हैं, वे सबके सब महावाक्यके अङ्ग होते हैं, अतः सिद्धान्तमें अव्यवस्था नहीं है, यह भाव है।

† यदि स्वरूपतः जीव व्यापक न हो, तो महावाक्यसे प्रतिपाद्य ब्रह्मके साथ भेद अनुपपन्न होगा, अतः जीवको स्वरूपतः व्यापक ही मानना चाहिए।

तस्मात् प्रपञ्चमिथ्यात्वात् पराभेदाच्च देहिनः ।
मानान्तराविरोधेन सिद्धोऽद्वैते समन्वयः ॥६८॥

इससे प्रपञ्चके मिथ्या होनेसे, परमात्माके साथ जीवका अभेद होनेसे और अन्य किसी प्रमाणके साथ विरोध न होनेसे अद्वैत ब्रह्ममें वेदान्तोंका समन्वय सिद्ध ही है ॥६८॥

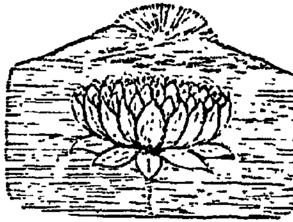
इति श्रीमद्गङ्गाधरसरस्वतीविरचितायां वेदान्तसिद्धान्तसूक्तिमञ्जर्यां
द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः ।

तस्मादचेतनस्य प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वात् चेतनप्रपञ्चस्य ब्रह्माभेदाच्च न वेदान्तानामद्वितीये ब्रह्मणि विद्यैकप्राप्ये समन्वयस्य कश्चिद्विरोध इति ॥

इति सिद्धान्तलेशसंग्रहे द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः ।

इससे अचेतन प्रपञ्चके मिथ्या होनेसे और चेतनप्रपञ्चका ब्रह्मके साथ अभेद होनेसे केवल विद्यासे प्राप्य अद्वितीय ब्रह्ममें वेदान्तोंका तात्पर्य है, इसमें कोई विरोध नहीं है ।

इति पं० मूलशङ्करव्यासविरचित सिद्धान्तलेशसंग्रहके भाषानुवादमें
द्वितीय परिच्छेद समाप्त





नमः परमात्मने

तृतीयः परिच्छेदः

ज्ञानेनैव कथं मुक्तिः कर्मभिश्चापि तत्स्मृतेः।
नाविद्यकत्वाद् बन्धस्य नान्यः पन्था इति श्रुतेः॥ १॥

यदि शङ्का हो कि ज्ञान ही से मुक्ति कैसे होगी? क्योंकि कर्मसे भी मुक्ति होती है, ऐसी स्मृति है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि समग्रप्रपञ्च अविद्यासे होता है, और 'नान्यः पन्था' इत्यादि श्रुति है॥ १॥

ननु कथं विद्ययैव ब्रह्मप्राप्तिः। यावता कर्मणामपि तत्प्राप्तिहेतुत्वं स्मर्यते—

'तत्प्राप्तिहेतुर्विज्ञानं कर्म चोक्तं महामुने!' इति।

सत्यम्, 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति श्रुतेः, नित्यसिद्ध-

*अब शङ्का होती है कि विद्यासे ही ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, ऐसा कैसे कहते हो जब कि कर्म भी ब्रह्मप्राप्तिके प्रति साधनरूपसे स्मृतिमें कहे गये हैं—

'तत्प्राप्तिहेतुर्विज्ञानम्०' (हे महामुने! ब्रह्मप्राप्तिके प्रति साधन कर्म और विज्ञान दोनों ही† कहे गये हैं)।

ठीक है, ‡ तथापि शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि 'नान्यः पन्था०' (मुक्तिके लिए ज्ञानको छोड़कर अन्य मार्ग ही नहीं है) ऐसी श्रुति है†, और सर्वदा

---

* पूर्व परिच्छेदके अन्तमें ब्रह्मप्राप्तिरूप मोक्ष केवल विद्यासे होता है, ऐसा कहा गया है, इस विषयमें समुच्चयवादी शङ्का करता है कि केवल विद्यासे ही मुक्ति होती है, यह नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म भी साधनरूपसे स्मृति आदिमें बतलाए गये हैं, यह भाव है।

† अर्थात् 'तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत्' (ब्रह्मज्ञान और पुण्य दोनोंके समुच्चयमें ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मको प्राप्त करता है) इस श्रुतिमें कहा गया है, यह भाव है।

‡ अर्थात् पूर्वपक्षीका समुच्चयवाद युक्त नहीं है, क्योंकि युक्तिसे उपबृंहित 'नान्यः पन्थाः' इत्यादि श्रुतिसे समुच्चयका बाध होता है, श्रुतिका अर्थ यह है, केवल ब्रह्मज्ञानसे अन्य—ज्ञानकर्मसमुच्चयरूप अथवा केवल कर्मरूप मार्ग मोक्षके लिए है ही नहीं। और मोक्ष तो आत्माका सर्वदा है ही, परन्तु उसमें अप्राप्तमात्र भ्रम है, इस भ्रमकी निवृत्ति ही मोक्ष है, अतः अज्ञान निवृत्ति केवल ज्ञानसे ही हो सकती है, कर्मसे नहीं हो सकती, यह लोकमें दृष्टचर है, जैसे कण्ठमें मालाके रहते हुए भी भ्रमसे वह अप्राप्तसी प्रतीत होती है, और भ्रमके निवृत्त होनेपर मनुष्य उसे

ब्रह्मावाप्तौ कण्ठगतविस्मृतकनकमालाऽवाप्तितुल्यायां विद्यातिरिक्तस्य साधनत्वासम्भवाच्च । ब्रह्मावाप्तौ परम्परया कर्मापेक्षामात्रपरा तादृशी स्मृतिः, क्व तर्हि कर्मणामुपयोगः ?

कर्मणामुपयोगस्तु भामतीकृन्मते स्थितः ।
तमेतमिति वाक्येन मुख्ये विविदिषोद्भवे ॥ २ ॥

भामतीकारके मतमें कर्मोंका उपयोग 'तमेतम्' इत्यादि वाक्यसे मुख्य विविदिषामें है ॥ २ ॥

अत्र भामतीमतानुवर्तिन आहुः—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' इति श्रुतेर्विद्यासम्पादनद्वारा ब्रह्मावाप्त्युपायभूतायां विविदिषायामुपयोगः । ननु इष्यमाणविद्याया-

सिद्ध (प्राप्त) ब्रह्मकी प्राप्तिमें, जो कि गलेमें होते हुए भी विस्मृत सुवर्णमालाकी प्राप्तिके समान है, विद्यासे (ज्ञानसे) भिन्न कोई साधन हो ही नहीं सकता । अतः उक्त श्रुति ब्रह्मकी प्राप्तिमें केवल परम्परासे कर्मोंकी अपेक्षा ही बतलाती है, तो कर्मोंका उपयोग कहाँ है ?

इस विषयमें भामतीकारके अनुयायी कहते हैं कि 'तमेतं वेदा०' (ब्रह्माभिन्न जीवको स्वाध्याय, यज्ञ, दान और अनाशक * तपसे ब्राह्मण लोग जाननेकी इच्छा करते हैं) इस श्रुतिसे विद्याकी प्राप्ति द्वारा ब्रह्मप्राप्तिकी हेतुभूत विविदिषामें † कर्मोंका उपयोग है । यदि शङ्का हो कि ‡ इष्यमाण विद्यामें ही कर्मोंका उप-

प्राप्त हुई समझता है, वैसे ही मोक्षके प्राप्त होनेपर भ्रमकी निवृत्तिसे अप्राप्त वस्तु प्राप्त हुई, ऐसा समझता है, अतः समुच्चयवाद असङ्गत ही है, यह भाव है ।

* अर्थात् ऐसा तप करना चाहिए जिससे कि शरीरका विनाश न हो, इसलिए हित, मित, तथा पवित्र अशन करके ही तप करना चाहिए, अनशन आदि शरीरनाशक तप नहीं करना चाहिए, यह भाव है ।

† ब्रह्मज्ञानकी इच्छा, जो कि रुचिरूप है उसमें, यह अर्थ है ।

‡ शङ्काका बीज यह है कि विद्या ही साक्षात् मुक्तिके प्रति कारण है, इसलिए उसके प्रति ही यज्ञ आदिको कारण क्यों न माना जाय, जैसे अन्यत्र स्वर्गादिके प्रति, जो इष्यमाण—इच्छाके विषय हैं, यज्ञ आदिका विनियोग किया जाता है, प्रकृतमें इच्छाकी विषय विद्या है, इसलिए उसीमें यज्ञादिका अन्वय होना अभीष्ट है, यह भाव है ।

मेवोपयोगः किं न स्यात्? न स्याद्; प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यात्। 'विद्यासंयोगात् प्रत्यासन्नानि विद्यासाधनानि शमदमादीनि, विविदिषासंयोगात्तु बाह्यतराणि यज्ञादीनि' इति सर्वापेक्षाधिकरणभाष्याच्च (उ० मी० अ० ३ पा० ४ अधि० ६ सू० २७)। ननु विविदिषार्थं यज्ञाद्यनुष्ठातुर्वेदनगोचरेच्छावत्त्वे विविदिषायाः सिद्धत्वेन तदभावे वेदनोपायविविदिषायां कामनाऽसम्भवेन च विविदिषार्थं यज्ञाद्यनुष्ठानायोगाद् न यज्ञादीनां विविदिषायां

योग क्यों नहीं होता, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थमें प्रत्ययार्थ ही ×प्रधान होता है। और 'विद्याके साक्षात् साधन होनेसे शम, दम आदि विद्याके अन्तरङ्ग कारण विद्याकी उत्पत्ति तक अनुष्ठेय हैं। तथा ब्रह्मज्ञानेच्छाके साधन होनेके कारण बहिरङ्ग यज्ञ आदि साधन विविदिषाकी उत्पत्ति तक ही अनुष्ठेय हैं, इस प्रकारका सर्वापेक्षाधिकरण-भाष्य † भी है। यदि शङ्का हो कि विविदिषाके लिए यज्ञ आदिका अनुष्ठान करनेवाले पुरुषको ज्ञानविषयक यदि पूर्वसे इच्छा विद्यमान है, तो विविदिषा सिद्ध ही है, यदि ज्ञानविषयिणी इच्छा उसे नहीं है, तो ज्ञानकी कारण विविदिषामें भी इच्छा नहीं हो सकती, अतः उभय था विविदिषाके लिए यज्ञादिका अनुष्ठान हो ही नहीं सकता है*, इसलिए विविदिषामें यज्ञ आदिका विनियोग युक्ति-युक्त नहीं है, तो

× तात्पर्य यह है कि 'स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत' इत्यादि स्थलमें याग आदिमें विधिप्रत्ययसे इष्ट-साधनता बोधित होती है, वह इष्ट क्या है? इस प्रकारकी विशेष जिज्ञासा होनेपर पुरुषके विशेषणरूपसे श्रुत कामना और स्वर्ग दोनोंमें से किसी एककी भी शब्दतः प्रधानता प्रतीत न होनेसे आर्थिक प्रधानताका आश्रयण किया जाता है, और अर्थतः प्रधान है—स्वर्ग, इसलिए फलरूपसे उसीका अन्वय किया गया है—याग स्वर्गका साधन है। प्रकृतमें ज्ञानेच्छाका ही फलरूपसे अन्वय होता है, क्योंकि शब्दसे वही प्रधान प्रतीत होती है, इसलिए फलप्रत्यासत्ति आदि अकिञ्चित्कर हैं। प्रकृतमें भगवान् भाष्यकारकी भी सम्मति है।

† विविदिषामें ही कर्मोंका विनियोग है, इसमें भाष्य भी प्रमाण है, 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्', इस सूत्रसे यह सर्वापेक्षाधिकरण आरब्ध है, देखिए—पृ० २२२२ अच्युतग्रन्थमालामुद्रित शाङ्करभाष्य।

* प्रकारान्तरसे विविदिषाविनियोगका आक्षेप करते हैं, भाव यह है कि यदि ज्ञानेच्छा यज्ञ आदिका फल है, तो ज्ञानेच्छाविषयक ज्ञानसे यज्ञ आदिका अनुष्ठान करना चाहिए और ज्ञानेच्छाके स्वतः फलत्व न होनेसे ज्ञान द्वारा ही उसमें मुक्तिफलकत्व होगा, इससे यह क्रम प्राप्त होगा कि पहले मुक्तिमें स्वतः पुरुषार्थत्वके ज्ञानसे इच्छा होगी, उसके बाद ब्रह्मज्ञानमें मुक्ति-

विनियोगो युक्त इति चेद्, न; अन्नद्वेषेण कार्श्यं प्राप्तस्य तत्परिहारायाऽन्न-विषयौत्कण्ठ्यलक्षणायामिच्छायां सत्यामप्युत्कटाजीर्णादिप्रयुक्तधातुवैषम्य-दोषात् तत्र प्रवृत्तिपर्यन्ता रुचिर्न जायते इति तद्रोचकौषधविधिवद् निरतिशयानन्दरूपं ब्रह्म तत्प्राप्तौ विद्यासाधनमित्यर्थे प्राचीनबहुजन्मानुष्ठितानभिसंहितफलकनित्यनैमित्तिककर्मोपसञ्जातचित्तप्रसादमहिम्ना सम्पन्न-विश्वासस्य पुरुषस्य ब्रह्मावाप्तौ विद्यायां च तदौन्मुख्यलक्षणायामिच्छायां सत्यामप्यनादिभवसञ्चितानेकदुरितदोषेणाऽऽस्तिककामुकस्य हेयकर्मणीव

यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जैसे अन्नमें द्वेषसे अर्थात् किसी दोषवशसे अन्न न खानेसे जिसको शरीरमें कृशता प्राप्त है, उसे अपने शरीरके दौर्बल्यका परिहार करनेके लिए अन्नमें उत्कण्ठारूप इच्छा, तो अवश्य होती है, परन्तु बड़े उत्कट अजीर्णरूप दोषसे उत्पन्न धातुवैषम्यसे अन्न-खानेमें प्रवृत्ति करानेवाली रुचि नहीं होती है, इसलिए अन्नमें रुचिके सम्पादक औषधका उपचार किया जाना आवश्यक होता है, वैसे ही 'ब्रह्म निरतिशय आनन्दरूप है और उसकी प्राप्तिका साधन विद्या है' इस विषयमें पहलेके अनेक जन्मोंमें फलकी इच्छाके विना अनुष्ठित अनेक नित्य, नैमित्तिक कर्मोंसे उत्पन्न हुई चित्तकी प्रसन्नतासे जिस पुरुषको—विश्वास हुआ है, उस पुरुषको ब्रह्मकी प्राप्तिमें और विद्यामें उत्सुकतारूप इच्छा तो अवश्य होती है, परन्तु जैसे आस्तिक † कामी पुरुषकी निन्दित कर्ममें प्रवृत्ति होती है, वैसे ही विषय-

---

साधनत्वके ज्ञानसे इच्छा होगी, उसके बाद वेदनेच्छामें वेदनसाधनत्वज्ञानसे इच्छा होगी, इस इच्छाके अनन्तर यज्ञ आदिका अनुष्ठान होगा, इस परिस्थितिमें वेदनेच्छारूप विविदिषाके उद्देश्यसे यज्ञादिमें प्रवृत्त पुरुषको विविदिषाके फलभूत ब्रह्मज्ञानमें इच्छा है, या नहीं है ? प्रथम पक्षमें यज्ञ आदिका अनुष्ठान व्यर्थ होगा, द्वितीय पक्षमें यज्ञ आदिका अनुष्ठान ही नहीं प्रसक्त होगा, क्योंकि विविदिषाके फलमें (वेदनमें) कामनाके न रहनेसे विविदिषामें भी इच्छा नहीं है, अतः विविदिषामें यज्ञादिका विनियोग नहीं हो सकता है, यह पूर्वपक्षका भाव है।

† जिस पुरुषने पूर्वके अनेक जन्मोंमें अनेक कर्मोंका अनुष्ठान किया है, उन्हीं कर्मोंसे जब उसकी चित्तशुद्धि हुई है, और ब्रह्मविद्यामें जिसका विश्वास भी हुआ है, तो कैसे वह विषयभोगमें प्रवृत्त होगा ? इस शङ्काके परिहारमें यह 'आस्तिककामुकस्य' दृष्टान्त है, सारांश यह है कि जिसको कि वेदविहित कर्मोंके करनेसे अवश्य कल्याण होता है,

विषयभोगे प्रावण्यं सम्पादयता प्रतिबन्धाद्विद्यासाधने श्रवणादौ प्रवृत्ति-पर्यन्ता रुचिर्न जायत इति प्रतिबन्धनिरासपूर्वं तत्सम्पादकयज्ञादिविधा-नोपपत्तेरिति ।

स्वर्गवत्काम्यमाने तं ज्ञाने विवरणानुगाः ।
जिज्ञासितव्यं श्रुतिभिर्ब्रह्मेत्यत्र श्रुतेरिव ॥३॥

विवरणानुसारी कहते हैं कि स्वर्गके समान अभिलषित ज्ञानमें ही कर्मोंका उपयोग है, जैसे कि 'श्रुतियोंसे ब्रह्म जानना चाहिए' इसमें श्रुतियोंका ब्रह्मज्ञानमें उपयोग है ॥३॥

भोगमें दक्षताका सम्पादन करानेवाले अनेक जन्मोंके सञ्चित पापोंके प्रभावसे प्रतिवन्ध होनेके कारण विद्याके साधन श्रवण आदिमें पुरुषकी प्रवृत्ति करानेवाली रुचिलक्षण इच्छा नहीं होती है, अतः प्रतिवन्धके निरासपूर्वक विविदिषाशब्दसे कहलानेवाली श्रवणादिमें प्रवृत्तिपर्यन्त रुचिकी उत्पत्तिके लिए यज्ञादिका अनुष्ठान करना चाहिए। [सारांश यह है कि ज्ञानकी इच्छा दो प्रकारकी है—एक तो विद्यामें उत्कण्ठारूप और दूसरी रुचिरूप, पहली इच्छा, यज्ञ आदिके अनुष्ठानके पूर्वमें भी है, अतः उसीको लेकर ज्ञानकी कारण विविदिषामें कामना होती है, इससे विविदिषाके लिए यज्ञ आदिका अनुष्ठान होता है, दूसरी रुचिरूप इच्छा यज्ञ आदिके अनुष्ठानके बाद होती है, अतः उस रुच्यात्मक विविदिषामें यज्ञ आदिका विनियोग कर सकते हैं, इसलिए पूर्वपक्षीकी उक्त शङ्का उपपत्तिशून्य है *]।

और उनका अनुष्ठान न करनेसे पाप होता है, इस प्रकार शास्त्रपरिशीलनसे ज्ञान है, ऐसे किसी पुरुषको भी कामोद्रेक होता है और पापविशेषसे निषिद्धाचरण करता है, वैसे मुमुक्षुको भी पापविशेषसे विषयमें प्रवृत्ति हो सकती है, यह भाव है।

* इस भामतीकारके अनुसारी मतमें—'अस्यार्थः—'विविदिषन्ति यज्ञेन' इति तृतीयाश्रुत्या यज्ञादीनामङ्गत्वेन ब्रह्मज्ञाने विनियोगात्.........नित्यस्वाध्यायेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति, न तु-विन्दन्ति, वस्तुतः प्रधानस्यापि वेदनस्य प्रकृत्यर्थतया शब्दतो गुणत्वात्, इच्छायाश्च प्रत्ययार्थतया प्राधान्यात्, प्रधानेन च कार्यसम्प्रत्ययात्' यह साक्षात् वाचस्पतिकी उक्ति—प्रमाणभूत है, तात्पर्य यह है कि 'विविदिषन्ति यज्ञेन' इसमें 'यज्ञेन' इस तृतीयाविभक्त्यन्तश्रुतिसे ब्रह्मज्ञानमें यज्ञ आदिका अङ्गत्वरूपसे विनियोग होता है.........नित्य स्वाध्यायसे ब्राह्मण ब्रह्मज्ञानकी इच्छा करते हैं, न कि जानते हैं, यद्यपि वस्तुतः वेदन (ज्ञान) प्रधान है, तथापि शब्दमर्यादासे वह अप्रधान है, और इच्छा प्रत्ययार्थ होनेके कारण प्रधान है, और प्रधानमें अन्यका सम्बन्ध होता है, [द्रष्टव्य—पृ० ५१ और ६१ कल्पतरुसहित भामती निर्णयसागर प्रेसमें मुद्रित]।

विवरणानुसारिणस्त्वाहुः—'प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्य प्राधान्यम्' इति सामान्यन्यायाद् 'इच्छाविषयतया शब्दबोध्ये एव शब्दसाधनतान्वयः' इति स्वर्गकामादिवाक्ये क्लृप्तविशेषन्यायस्य बलवत्त्वात्। 'अश्वेन जिगमिषति' 'असिना जिघांसति' इत्यादिलौकिकप्रयोगे अश्वादिरूपसाधनस्य, 'तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यं' 'मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादिवैदिकप्रयोगे तव्यार्थभूतविधेश्च सन्प्रत्ययाभिहितेच्छाविषये एव गमनादा-

---

विवरणानुसारी लोग कहते हैं कि † 'प्रकृति०' (प्रकृति और प्रत्ययके अर्थोंमें प्रत्ययका ‡ अर्थ ही प्रधान होता है) इस सामान्य नियमसे स्वर्गकामादि वाक्यमें क्लृप्त 'इच्छाविषय होनेसे शब्दबोध्य अर्थमें ही शब्दसाधनताका अन्वय होता है' यह न्याय बलवान् है। और 'घोड़ेसे जानेकी इच्छा करता है, तलवारसे मारनेकी अभिलाषा करता है' इत्यादि लौकिकप्रयोगमें अश्व आदिरूपसाधनका और 'तदन्वेष्टव्यम्०' (उसकी—परमात्माकी—खोज करनी चाहिए, उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए, आत्माका मनन करना चाहिए, निदिध्यासन करना चाहिए) इत्यादि वैदिकप्रयोगमें तव्यार्थभूत विधिका सन्प्रत्ययसे कही गई इच्छाके विषयभूत गमन आदिमें ही अन्वय

---

† भामत्यादि नवटीकोपेत शाङ्करभाष्यके पृ० ६८३ में इस मतकी पोषक विवरणकी पंक्तियाँ हैं—'नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानैः संस्कृतस्याऽऽत्मनो यदि श्रवणमननध्यानाभ्यासादीनि ज्ञानसाधनानि सम्पद्यन्ते, तदा संस्कारकर्माणि सहकारिविशेषादात्मज्ञानमवतारयन्ति—इत्यादि। इसी प्रकार और अनेक वाक्योंसे भी इसी अर्थका प्रतिपादन श्रुति और स्मृतिके विरोधपरिहारपूर्वक किया गया है।

‡ 'विविदिषन्ति यज्ञेन' इसमें सन्‌रूप प्रत्ययका अर्थ है—इच्छा और विद्‌धातुरूप प्रकृतिका अर्थ है—ज्ञान, इनमें प्रत्ययार्थ इच्छा ही प्रधान है, इसलिए शब्दतः प्रधानरूपसे प्रतीत होनेवाली इच्छामें ही यज्ञादिका विनियोग प्राप्त है, परन्तु इस नियमका औत्सर्गिक होनेसे बाध हो सकता है। अतः 'स्वर्गकामो यजेत' इस विधिवाक्यमें विधायकप्रत्ययसे इष्टसाधनत्वरूपसे अवगत यागके इष्ट विशेषकी आकाङ्क्षामें शब्दतः स्वर्गके प्रधान न होनेपर भी फलत्वरूपसे अन्वय किया गया है, इसलिए 'इष्यमाणसमभिव्याहारे इष्यमाणस्यैव प्राधान्यम्' न तु इच्छायाः' (इच्छा और इच्छाविषयके सामीप्य रहते इच्छाका विषय ही प्रधान होता है, इच्छा नहीं) इस प्रकारका विशेषनियम, जो कि पूर्व सामान्यनियमका बाधक है, बलवान् है, यह भाव है।

वन्वयस्य व्युत्पन्नत्वाच्च प्रकृत्यभिहितायां विद्यायां यज्ञादीनां विनियोगः ।

ननु तथा सति यावद्विद्योदयं कर्मानुष्ठानापत्त्या 'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयम्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं कर्मत्यागरूपस्य सन्न्यासस्य विद्यार्थत्वं पीड्येतेति चेद्, न; प्राग् बीजावापात् कर्षणम्, तदनन्तरमकर्षणमिति कर्षणाकर्षणाभ्यां व्रीह्यादिनिष्पत्तिवद्—

'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥'

इत्यादिवचनानुसारेण चेतसः शुद्धौ विविदिषादिरूपप्रत्यक्प्रावण्यो-

---

व्युत्पन्न है, अतः प्रकृतिसे अभिहित (कथित) विद्यामें ही यज्ञ आदिका × विनियोग है ।

यदि शङ्का हो कि ऐसा होनेपर विद्याकी उत्पत्ति तक कर्मानुष्ठानकी प्रसक्ति होनेसे 'त्यजतैव०' (सब कर्मोंका त्याग करके ही पुरुषको) प्रत्यगात्मरूप ब्रह्मका साक्षात्कार करना चाहिए, त्याग किये बिना नहीं) इत्यादि श्रुतिसे* सिद्ध कर्मत्यागरूप संन्यासमें विद्यार्थता बाधित होगी, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जैसे बीज बोनेके पूर्वमें हल जोतना पड़ता है, उसके बाद नहीं, इससे कर्षण और अकर्षणसे व्रीहिकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही—

'आरुरुक्षोर्मु०' (योगकी सिद्धि होनेके पूर्वमें उसके प्रति कर्म कारण हैं और योगसिद्ध होनेके बाद उन कर्मोंका शम (संन्यास) कारण है, ऐसा कहा जाता है) इस वचनके अनुसार अन्तःकरणकी शुद्धिमें विविदिषारूप प्रत्यक्प्रावण्य

× यदि इसमें कोई शङ्का करे कि उदाहृत वाक्योंमें अर्थात् 'अश्वेन जिगमिषति' इत्यादि वाक्योंमें अश्व आदिका इच्छामें अन्वय नहीं हो सकता है, इसलिए इच्छान्वयका परित्याग किया है ? तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि तुल्ययुक्तिसे यह भी कह सकते हैं कि वेदनेच्छाके भी यज्ञान्वयमें अयोग्य होनेसे उसमें यज्ञादिका विनियोग नहीं हो सकता है और ब्रह्मवेदनका, जो कि ब्रह्मानन्दसाक्षात्काररूप है, फलरूपसे अन्वय हो सकता है, यह भाव है ।

* 'अथ परिव्राट्' इस प्रकारसे उपक्रम करके 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' इत्यादि कही गई अन्य श्रुतिसे परिव्राट्शब्दसे कथित संन्यास ब्रह्मसाक्षात्कारका कारण बतलाया गया है, इसी प्रकार अन्य श्रुतियोंमें भी कहा गया है, यह अभिप्राय है ।

दयपर्यन्तं कर्मानुष्ठानम्, ततः कर्मतत्सन्न्यासाभ्यां विद्यानिष्पत्त्यभ्युपगमात्।

उक्तं हि नैष्कर्म्यसिद्धौ—

'प्रत्यक्प्रवणतां बुद्धेः कर्माण्यापाद्य शुद्धितः।
कृतार्थान्यस्तमायान्ति प्रावृडन्ते घना इव ॥' इति

कर्मणां विद्यार्थत्वपक्षेऽपि विविदिषापर्यन्तमेव कर्मानुष्ठाने विविदिषार्थत्वपक्षात् को भेद इति चेद्, अयं भेदः—कर्मणां विद्यार्थत्वपक्षे द्वारभूतविविदिषासिद्ध्यनन्तरमुपरतावपि फलपर्यन्तानि विशिष्टगुरुलाभान्निर्विघ्नश्रवणमननादिसाधनानि निवृत्तिप्रमुखानि सम्पाद्य विद्योत्पादकत्वनियमोऽस्ति। विविदिषार्थत्वपक्षे तु श्रवणादिप्रवृत्तिजननसमर्थोत्कटेच्छासम्पादनमात्रेण कृतार्थतेति नाऽवश्यं विद्योत्पादकत्वनियमः। 'यस्यैतेचत्वारिंशत्

(योग) के उदयतक कर्मोंका अनुष्ठान और उसके बाद संन्यास है, इस रीतिसे कर्म और कर्मके त्यागसे विद्याकी उत्पत्ति होती है, ऐसा माना है।

नैष्कर्म्यसिद्धिमें भी कहा है—

'प्रत्यक्प्रवणताम्०' (चित्तशुद्धिद्वारा बुद्धिमें विविदिषा, वैराग्य आदि प्रत्यक्प्रावण्यकी प्राप्ति करनेके बाद कर्मोंका प्रयोजन प्राप्त हो जानेसे वे कर्म वर्षाकालके बाद मेघके समान अस्त हो जाते हैं।) यदि शङ्का हो कि कर्मोंके विद्यार्थत्वपक्षमें भी विविदिषातक ही उनका अनुष्ठान होनेसे कर्मोंके विविदिषार्थत्वपक्षसे क्या भेद हुआ ? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि भेद इस प्रकारसे है—कर्मोंके विविदिषार्थत्वपक्षमें द्वारभूत विविदिषाकी सिद्धिके बाद उनका त्याग होनेपर भी अदृष्टद्वारा फलकी उत्पत्तितक विशिष्ट गुरुकी प्राप्तिसे निवृत्तिप्रमुख (निवृत्तिसहित) श्रवण, मनन आदिका सम्पादन करके वे कर्म विद्याके उत्पादक होते हैं, ऐसा नियम है और विविदिषार्थत्वपक्षमें, तो अर्थात् जिस पक्षमें कर्मोंका प्रयोजन केवल ब्रह्मज्ञानकी इच्छा पैदा करना है, उस पक्षमें तो श्रवण आदिमें प्रवृत्ति करानेमें समर्थ, ऐसी उत्कट इच्छाके सम्पादनमात्रसे कृतार्थता है, इसलिए उनमें अवश्य विद्योत्पादकत्व * है,

* विविदिषार्थत्वपक्षमें यज्ञ आदिसे उत्पन्न अदृष्ट श्रवण आदिमें प्रवृत्ति तक रुचिका (विविदिषाका) उत्पादन करके नष्ट हो जाता है, क्योंकि अदृष्टका फलोत्पत्तिके बाद विनाश होता है, यह नियम है। और विविदिषाकी उत्पत्तिके अनन्तर श्रवण आदिके प्रति बाधक न

संस्काराः' इति स्मृतिमूले कर्मणामात्मज्ञानयोग्यतापादकमलापकर्षणगुणाधानलक्षणसंस्कारार्थत्वपक्षे इवेति वदन्ति ॥ १ ॥

तत्रोपयोगः कथितः कैश्चिदाश्रमकर्मणाम् ।

कोई लोग कहते हैं कि आश्रम-कर्मोंका ब्रह्मविद्या आदिमें उपयोग है ।

ननु केषां कर्मणामुदाहृतश्रुत्या विनियोगो बोध्यते ? अत्र कैश्चिदुक्तम्—'वेदानुवचनेन' इति ब्रह्मचारिधर्माणाम्, 'यज्ञेन दानेन' इति गृहस्थधर्माणाम्, 'तपसाऽनाशकेन' इति वानप्रस्थधर्माणां च उपलक्षणमित्याश्रमधर्मा-

---

ऐसा नियम नहीं है। जैसे कि 'यस्यैते०' (जिस पुरुषके श्रौत, स्मार्त आदि चालीस संस्कार हैं) इत्यादि स्मृतिसे प्रतिपादित कर्मोंके संस्कारार्थत्वपक्षमें, जो कि संस्कार आत्मज्ञानकी योग्यताके सम्पादक मलापकर्षणरूप और गुणके आधानरूप हैं, उक्त नियम नहीं है ॥ १ ॥

अब शङ्का होती है कि पूर्वोक्त श्रुतिसे किन कर्मोंका विनियोग ज्ञात होता है ? इस शङ्काके समाधानमें कोई लोग कहते हैं कि 'वेदानुवचनेन'* यह ब्रह्मचारीके धर्मोंका, 'यज्ञेन दानेन' यह गृहस्थ धर्मोंका और 'तपसाऽनाशकेन' यह वानप्रस्थधर्मोंका उपलक्षण है, इसलिए सभी आश्रमधर्म विद्यामें उपयुक्त

रहनेसे विविदिषासे ही श्रवणादि द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है, श्रवण आदिके प्रतिबन्धक पापके रहनेपर यत्न करनेपर भी श्रवण आदि नहीं होते हैं, इसलिए दुरितसत्ताका निश्चय करके उसकी निवृत्तिका उपाय करता है, प्रायः निवर्तक उपायके न करनेसे श्रवण आदि नहीं हो सकते हैं, इसलिए ज्ञान भी नहीं होता है, जैसे औषधसे अन्नके भक्षणमें रुचिकी उत्पत्ति करके यदि अन्न प्राप्त हो, तो उसके भक्षणसे कृशता निकल जाती है, परन्तु यदि यत्न करनेपर भी अन्न नहीं मिला, तो कृशता ज्योंकी त्यों बनी रहती है, इसलिए उनमें अवश्य विद्योत्पादकता है, यह नियम नहीं है, यह भाव है। इसीमें दृष्टान्त है—जो लोग कर्मोंका संस्काररूप फल मानते हैं, उनके पक्षमें यदि कर्मोंसे संस्कृत पुरुषको श्रवणादिसाधन मिले, तो उसे तत्त्वज्ञान द्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, यदि न मिले तो पुण्यलोककी प्राप्ति होती है, यह सिद्धान्त किया गया है, इसलिए कर्मोंके संस्कारार्थत्वपक्षमें कर्मोंमें विद्योत्पादकता अवश्य ही है, ऐसा नियम नहीं है, वैसे विविदिषार्थत्ववादियोंके मतमें भी है, यह भाव है।

*शिष्य वेदका उच्चारण गुरुवचनके अनन्तर करता है, अतः वेदानुवचनशब्दसे वेदाध्ययनका ग्रहण किया जाता है, यह ब्रह्मचारीके धर्मोंमें प्रधान ही है, इसलिए वेदाध्ययनसे ब्रह्मचारीके सम्पूर्ण धर्मोंका ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर उपलक्षणमें बीज समझना चाहिए।

णामेव विद्योपयोगः। अत एव 'विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि' (उ० मी० अ० ३ पा० ४ सू० ३२) इति शारीरकसूत्रे विद्यार्थकर्मस्वाश्रमकर्मपदप्रयोग इति ॥

'परैस्तु वैधुरादीनामपि कल्पतरूक्तितः ॥४॥

कोई लोग कल्पतरुकी उक्तिके अनुसार आश्रमरहित विधुर आदिकोंके कर्मोका भी उपयोग कहते हैं ॥ ४ ॥

कल्पतरौ तु नाऽऽश्रमधर्माणामेव विद्योपयोगः, 'अन्तरा चाऽपि तु तद्दृष्टेः' (उ० मी० अ० ३ पा० ४ सू० ३६) इत्यधिकरणे आश्रमरहितविधुराद्यनुष्ठितकर्मणामपि विद्योपयोगनिरूपणात्। न च विधुरादीनामनाश्रमिणां प्राग्जन्मानुष्ठितयज्ञाद्युत्पादितविविदिषाणां विद्यासाधनश्रवणादावधिकारनिरूपणमात्रपरं तदधिकरणम्, न तु तदनुष्ठितकर्मणां विद्योपयोगनिरूपणपरमिति शङ्क्यम्। 'विशेषानुग्रहश्च' इति (उ० मी० अ० ३ पा० ४ सू० ३८)

हैं, इसीलिए 'विहितत्वाच्चाश्रमकर्माऽपि'* इस शारीरिकसूत्रमें विद्याके उपयोगी कर्मोंमें 'आश्रमकर्म' पदका प्रयोग किया गया है।

कल्पतरुमें † तो कहा है कि आश्रमधर्मोंका ही विद्यामें उपयोग है, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि 'अन्तरा चाऽपि' इस अधिकरणमें आश्रमरहित विधुर आदिसे अनुष्ठित कर्मोंका भी विद्यामें उपयोगनिरूपण किया गया है। यदि शङ्का हो कि पूर्वजन्ममें अनुष्ठित यज्ञ आदिसे जिन्होंने विविदिषाकी उत्पत्ति की है, ऐसे अनाश्रमी विधुरोंका विद्याके साधन श्रवण आदिमें अधिकार है, इसीका निरूपण उक्त अधिकरणमें किया गया है, न कि विधुरोंसे इसी जन्ममें अनुष्ठित कर्मोंका विद्यामें उपयोगका निरूपण किया गया है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'विशेषानुग्रहश्च'‡

* सूत्रका यह अर्थ है कि कर्मफलोंकी अभिलाषा न करनेवाले आश्रमीको भी आश्रमकर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिए, क्योंकि आश्रमीके प्रति उन कर्मोंका शास्त्रोंमें विधान है, अन्यथा प्रत्यवाय होगा, यह भाव है।

† इस सूत्रका यह अर्थ है—आश्रमके विना रहे हुए पुरुषोंका भी ब्रह्म-विद्यामें अधिकार है, क्योंकि रैक्वप्रभृति अनाश्रमी पुरुषोंको भी ब्रह्मविद्या हुई है, यह भाव है।

‡ देवताराधन आदि विशेषधर्मोंसे चित्तशुद्धिद्वारा रैक्वप्रभृतिको आश्रमधर्मोंके समान विद्याका अनुग्रह देखा गया है, अतः अनाश्रमियोंका कर्म भी विद्याका साधन है, इसीलिए—

'जप्येनैव संसिद्ध्येत् ब्राह्मणो नाऽत्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यात् मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥'

अर्थात् जपसे भी ब्राह्मण सिद्धि प्राप्त करता है, उसमें तनिक भी संशय नहीं है। वह अन्य कर्म करे या न करे, क्योंकि ब्राह्मण दयावान् कहलाता है, यह भाव है।

तदधिकरणसूत्रतद्भाष्ययोस्तदनुष्ठितानां जपादिरूपवर्णमात्रधर्माणामपि विद्योपयोगस्य कण्ठत उक्तेः। 'विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि' इति सूत्रे आश्रमकर्मपदस्य वर्णधर्माणामप्युपलक्षणत्वादित्यभिप्रायेणोक्तम्—

तत्र क्लृप्तफलत्वेन नित्यानामेव केचन।

कोई लोग कहते हैं कि क्लृप्त फल होनेसे नित्य कर्म ही विद्याके उपयोगी हैं।

आश्रमधर्मव्यतिरिक्तानामप्यस्ति विद्योपयोगः, किन्तु नित्यानामेव। तेषां हि फलं दुरितक्षयं विद्याऽपेक्षते, न काम्यानां फलं स्वर्गादि। तत्र यथा प्रकृतौ क्लृप्तोपकाराणामङ्गानामतिदेशे सति न प्राकृतोपकारा-

इस प्रकारके उसके अधिकरणके सूत्र और भाष्यमें जपादिरूप सम्पूर्ण धर्मोंका उपयोग साक्षात् कहा गया है। 'विहितत्वाच्चाश्रमकर्माऽपि' इस सूत्रमें 'आश्रम कर्मशब्द सभी वर्णधर्मोंका उपलक्षण है' अर्थात् आश्रमकर्मसे भिन्न इतर वर्णधर्मोंका भी ग्रहण करना चाहिए, यह भाव है—इसी अभिप्रायसे कल्पतरुमें पक्तियां भी हैं—

यद्यपि आश्रमधर्मोंसे *इतर धर्म भी विद्याके उपयोगी हैं, तथापि वे नित्यधर्म ही हैं, क्योंकि उनका दुरितक्षयरूप जो फल है, उसीकी अपेक्षा विद्या करती है, काम्यकर्मोंसे होनेवाले स्वर्ग आदि फलकी अपेक्षा नहीं करती है, इस परिस्थितिमें अर्थात् विद्यामें उपयोगी उपकारकी हेतुताके काम्यकर्मोंमें न होनेसे जैसे प्रकृतियागमें † प्रसिद्ध उपकारी अङ्गोंका विकृतिमें अतिदेश होनेपर प्रकृतिमें किये हुए उनके उपकारसे

* इन पंक्तियोंको कल्पतरुमें, जिसके प्रणेता अमलानन्दस्वामी हैं, देखिए पृ० ६२ भामतीकल्पतरुसहित शाङ्करभाष्य। इससे यही सिद्ध होता है कि 'विविदिषन्ति' इत्यादि विविदिषाश्रुतिसे जिन यज्ञ आदि धर्मोंका विद्यामें उपयोग कहा गया है, वे नित्य ही धर्म लेने चाहिएँ, काम्य नहीं, क्योंकि काम्योंका यदि ग्रहण किया जायगा, तो काम्य कर्मोंके स्वाभाविक फलका परित्याग करके उनका नित्यसाधारण पापक्षयरूप फल मानना होगा, कारण कि विद्या पापक्षयकी अपेक्षा रखती है, स्वर्ग आदिकी नहीं, इससे केवल गौरव होगा, यह भाव है।

† प्रकृतियाग उसे कहते हैं, जो अतिदिश्यमान अङ्गका प्रतियोगी हो। प्रतियोगी उसे कहना चाहिए कि जिस यागके अङ्ग अतिदिष्ट होते हों, और विकृतियागका अर्थ है अतिदिश्यमान अङ्गोंका अनुयोगी, जिसमें अङ्ग अतिदिष्ट हों, वह अनुयोगी है। प्रकृतियागमें श्रुत पदार्थकी विकृतिमें कल्पना करना अतिदेश कहलाता है। दर्शपूर्णमास प्रकृतियाग है, क्योंकि इसके पदार्थोंका विकृतिभूत सौर्य पशुयाग आदिमें अतिदेश होता है, और सौर्य पशुयाग आदि विकृतियाग हैं, क्योंकि वे अतिदिश्यमान दर्शपूर्णमासयागके पदार्थोंके अनुयोगी हैं, यह भाव है।

तिरिक्तोपकारकल्पनम्, एवं ज्ञाने विनियुक्तानां यज्ञादीनां क्लृप्तनित्यफल-पापक्षयातिरेकेण न नित्यकाम्यसाधारणविद्योपयोग्युपकारकल्पनमिति ।

काम्यानामपि संक्षेपशारीरककृतां नये ॥ ५ ॥

न चोपकारसंक्लृप्तिद्वारं वाक्यं प्रतीक्षते ।
प्राप्तेर्वचनवैयर्थ्यं द्वारभेदेऽविशिष्टता ॥ ६ ॥

संक्षेपशारीरककारके मतमें काम्यकर्म भी विद्याके उपयोगी हैं, वाक्य उपकार-संक्लृप्तिरूप द्वारकी अर्थात् अन्यत्र जिस उपकार की प्राप्ति हुई हो, उसकी अपेक्षा नहीं करता है, क्योंकि उसकी प्राप्ति होनेसे वाक्य ही व्यर्थ होगा, यदि द्वारभेद मानेंगे, तो समानता ही प्रसक्त होगी ॥ ५ ॥ ६ ॥

संक्षेपशारीरके तु नित्यानां काम्यानां च कर्मणां विनियोग उक्तः, यज्ञादिशब्दाविशेषात् । प्रकृतौ क्लृप्तोपकाराणां पदार्थानां क्लृप्तप्राकृतो-

---

भिन्न उपकारकी कल्पना नहीं की जाती है, वैसे ही ज्ञानमें विनियुक्त [नित्य] यज्ञोंका नित्यकर्मोंके फलरूपसे प्रसिद्ध पापविनाशसे अतिरिक्त नित्य और काम्यकर्मोंके साधारण विद्यामें उपयुक्त उपकारकी कल्पना नहीं की जाती है, कारण कि वैसी कल्पना करनेमें गौरव है ।

* संक्षेपशारीरकमें तो नित्य और काम्य दोनों कर्मोंका विद्यामें विनियोग कहा है, क्योंकि 'तमेतम्' इत्यादि श्रुतिमें सामान्यरूपसे यज्ञ आदि शब्दोंका कथन किया गया है । † प्रकृतियागमें जिनका उपकार प्रसिद्ध है, ऐसे पदार्थों-का—क्लृप्त प्रकृतियागीयके उपकारके अतिदेशसे ही विकृतियागमें अतिदेशसे—

---

* संक्षेपशारीरककारका यह भाव है कि 'विविदिषन्ति यज्ञेन' इसमें यज्ञशब्द जैसे नित्य यज्ञोंमें रूढ है, वैसे ही काम्ययज्ञोंमें भी रूढ है, इसलिए नित्य कर्मोंके समान काम्य-कर्मोंका भी विद्यामें उपयोग प्रतीत होता है, अतः नित्यकाम्य साधारण किसी उपकारविशेषकी कल्पनामें कोई विरोध नहीं है ।

† नित्यकाम्यसाधारण विद्यामें उपयुक्त उपकारकी यदि कल्पना की जाय, तो पूर्वमीमांसाके न्यायके साथ विरोध होगा, ऐसा समझ कर कल्पतरुमें विकृतिमें अतिदिष्ट अङ्गोंका दृष्टान्त दिया गया है, उसका परिहार इस ग्रन्थसे करते हैं । तात्पर्य यह है कि प्रकृतियागमें जिन पदार्थोंका उपकार क्लृप्त है, उनका पहले अतिदेश होता है, अनन्तर उन पदार्थोंके उपकारका विकृतिमें अतिदेश होता है, पहले प्राकृतिके पदार्थोंके अतिदेशसे विकृतिमें विनियोग करनेके बाद उनके उपकारकी कल्पना नहीं की जाती है, इसलिए प्रकृतिविकृतिस्थलमें क्लृप्त उपकारका

पकारातिदेशमुखेनैव विकृतिष्वतिदेशेन सम्बन्धः, न तु पदार्थानामतिदेशानन्तरमुपकारकल्पनेति न तत्र प्राकृतोपकारातिरिक्तोपकारकल्पनाप्रसक्तिः। इह तु प्रत्यक्षश्रुत्या प्रथममेव विनियुक्तानां यज्ञादीनामुपदिष्टानामङ्गानामिव पश्चात् कल्पनीय उपकारः प्रथमावगतविनियोगनिर्वाहायाक्लृप्तोऽपि सामान्यशब्दोपात्तसकलनित्यकाम्यसाधारणः कथं न कल्प्यः। अध्वरेषु अध्वरमीमांसकैरपि हि 'उपकारमुखेन पदार्थान्वये एव क्लृप्तोपकारनियमः, पदार्थान्वयानन्तरम् उपकारकल्पने त्वक्लृप्तोऽपि विनियुक्तपदार्थानुगुण एव उपकारः कल्पनीयः' इति सम्प्रतिपन्नैव बाध-

सम्बन्ध होता है, पदार्थोंके अतिदेशके बाद उपकारकी कल्पना नहीं की जाती है, इसलिए विकृतिस्थलमें प्रकृतिस्थपदार्थोंके उपकारसे पृथक् उपकारकी कल्पना प्रसक्त नहीं है, प्रकृतस्थलमें+ तो साक्षात् 'यज्ञेन' इस श्रुतिसे पहले ही विनियुक्त यज्ञ आदिके—जैसे* उपदिष्ट अङ्गोंका प्रथम अवगत विनियोगके निर्वाहके लिए अवलृप्त दृष्टादृष्टरूप उपकारकी कल्पना की जाती है, वैसे ही प्रथम अवगत विनियोगका निर्वाह करनेके लिए अक्लृप्त होनेपर भी सामान्य यज्ञशब्दसे नित्यकाम्य साधारण पश्चात् कल्पनीय—उपकारकी कल्पना क्यों न की जाय? अर्थात् अवश्य की जाय, यह भाव है। प्रथम उपकारके अतिदेशके अनन्तर जहाँ पदार्थोंका अन्वय किया जाता है, वहींपर क्लृप्त अर्थात् प्रथमतः ज्ञात उपकारकी कल्पना होती है, अन्य की नहीं, यह नियम है और जहाँपर पदार्थोंके अन्वयके पीछे उपकारकी कल्पना की जाती है, वहींपर अवलृप्त होनेपर भी विनियुक्त पदार्थोंके अनुकूल ही उपकारकी कल्पना की

परित्याग करके अन्य उपकारकी कल्पना नहीं की जाती है, इसलिए दृष्टान्त विषम है अर्थात् प्रकृतस्थलमें तो पहले यज्ञ आदिका विनियोग करनेके बाद उपकारकी कल्पना की जाती है और अतिदेशस्थलमें प्रकृतिमें उपकारकी कल्पना करनेके बाद प्रकृतियज्ञके पदार्थोंका विकृतिमें विनियोग होता है।

* दर्शपूर्णमासके प्रकरणमें अथवा अन्य स्थलमें जो पदार्थ उपदिष्ट हैं अर्थात् साक्षात् श्रुतिसे बोधित हैं उनका श्रुति, लिङ्ग आदि प्रमाणोंसे पहले ही दर्श, पूर्णमास आदिमें विनियोग हो जाता है, अनन्तर इस विनियोगके निर्वाहके लिए दृष्ट और अदृष्टरूप किसी फलरूप द्वारकी कल्पना की जाती है, इसी प्रकार 'विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादि श्रुतिसे प्रथमतः ही यज्ञ आदिका विविदिषामें विनियोग हो जाता है, इसलिए इस विनियोगको सफल करनेके लिए अक्लृप्त उपकारकी यदि कल्पना की जाय, तो भी कोई हानि नहीं है, यह भाव है।

लक्षणारम्भसिद्ध्यर्थमुपकारमुखेन विकृतिषु प्राकृतान्वयो दशमाद्ये समर्थितः। किञ्च 'क्लृप्तोपकारालाभान्नित्यानामेवाऽयं विनियोगः' इत्यभ्युपगमे नित्येभ्यो दुरितक्षयस्य तस्माच्च ज्ञानोत्पत्तेरन्यतः सिद्धौ व्यर्थोऽयं

जाती है, इस प्रकार कर्मोंके विषयमें अङ्गीकार करके ही पूर्वमीमांसकोंने बाधाध्यायके आरम्भके लिए उपकारका अतिदेश करनेके बाद विकृतिमें प्रकृतिस्थ पदार्थोंका सम्बन्ध * दशम अध्यायके प्रथम पादमें बतलाया है। किञ्च, क्लृप्त उपकारकी काम्योंमें प्राप्ति न होनेसे नित्य कर्मोंका ही यह विद्यामें विनियोग है, ऐसा माननेपर नित्य कर्मोंसे पापका विनाश और विविदिषावाक्यसे भिन्न वाक्यसे ज्ञानोत्पत्ति यदि सिद्ध है, तो यह विनियोग ही

* प्रकृतियागके अङ्गभूत पदार्थोंकी, अतिदेशसे विकृतियागमें, प्राप्ति दिखलाई गई है। तात्पर्य यह है कि पूर्वमीमांसाके दशम अध्यायमें विकृतिमें अतिदिष्ट अङ्गोंका प्रकृतिमें क्लृप्त उपकारका सम्भव न होनेपर बाधका निरूपण किया गया है। उस बाधनिरूपणकी, यदि विकृतिमें अतिदेशसे पदार्थप्राप्तिके बाद उपकारकी कल्पना की जाय, तो सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि जैसे प्रकृतिमें श्रुति आदिसे विनियुक्त पदार्थोंका दृष्ट फल न रहनेपर अदृष्ट उपकारकी कल्पना की जाती है, वैसे ही अतिदेशसे विकृतियागमें विनियुक्त पदार्थोंका दृष्ट उपकारके न रहनेपर अदृष्ट उपकारकी भी कल्पना हो सकनेसे उसकी सिद्धिके लिए सभी अङ्गोंका अनुष्ठान अवश्यंभावी होनेके कारण कुछ अङ्गोंका अनुष्ठान या उसके अंशातिदेशप्रामाण्यरूप बाधका असम्भव है, इसलिए बाधनिरूपणकी सिद्धिके लिए प्रकृतिमें क्लृप्त उपकारके अतिदेशसे ही विकृतिमें प्रकृतिस्थ पदार्थोंका अन्वय है, इस प्रकार दशम अध्यायके प्रथम अधिकरणमें निश्चित किया गया है, इसलिए जहांपर पदार्थोंके विनियोगके अनन्तर उपकारकी कल्पना की गई हो, वहाँपर उन पदार्थोंकी अपनी सामर्थ्यके अनुसार प्रथमतः ज्ञात विनियोगके निर्वाहके लिए अक्लृप्त उपकारकी कल्पना मीमांसक सम्मत है, ऐसा प्रतीत होता है। यदि विनियोगके बाद जहाँ उपकारकी कल्पना की गई हो, उस स्थलमें भी क्लृप्त उपकारका सम्भव न होनेपर विनियुक्त पदार्थका परित्याग ही इष्ट हो, अक्लृप्त उपकारकी कल्पना इष्ट न हो, ऐसा माना जाय, तो 'उपकारमुखेन' इत्यादि निरूपण करनेवाला अधिकरण ही व्यर्थ होगा, क्योंकि श्रपण, अवघात आदि पदार्थोंका अतिदेशसे विनियोग होनेपर भी विकृतियागस्थ कृष्णल आदिमें श्रपण आदिके विक्लित्ति, तुषविमोक आदि लोकसिद्ध दृष्टोपकारका अभाव होनेसे और अक्लृप्त उपकारकी कल्पनाका स्वीकार न होनेसे श्रपणादिका अननुष्ठानलक्षण बाध, जिसका कि दशम अध्यायमें निरूपण किया गया है, हो सकता है, फिर उसके लिए 'उपकारमुखेन' इत्यादिनिरूपण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इससे विविदिषावाक्यसे सामान्यतः नित्यकाम्य साधारण विनियोगके प्रथम अवगत होनेपर उसकी उपपत्तिके लिए अक्लृप्त उपकारकी कल्पना युक्त ही है, यह भाव है।

विनियोगः; अन्यतस्तदसिद्धौ ज्ञानापेक्षितोपकारजनकत्वं तेष्वक्लृप्तमित्यविशेषाद् नित्यकाम्यसाधारणो विनियोगो दुर्वारः। ननु नित्यानां दुरितक्षयमात्रहेतुत्वस्याऽन्यतः सिद्धावपि विशिष्य ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकदुरितनिबर्हकत्वं न सिद्धम्, किन्तु अस्मिन् विनियोगे सति ज्ञानोद्देशेन नित्यान्यनुतिष्ठतोऽवश्यं ज्ञानं भवति; इतरथा शुद्धिमात्रम्, न नियता ज्ञानोत्पत्तिरिति सार्थकोऽयं विनियोग इति चेत्, तर्हि नित्याना-

व्यर्थ है, यदि दूसरेसे सिद्ध नहीं है, तो ज्ञानके लिए अपेक्षित उपकार जनकता नित्योंमें क्लृप्त ही नहीं है, इसलिए? नित्य और काम्य कर्मोंके साधारण विनियोगका निवारण कर ही नहीं सकते हैं। यदि शङ्का हो कि * नित्य कर्मोंमें केवल दुरितक्षयकी हेतुताकी अन्यसे सिद्धि होनेपर भी ज्ञानकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक पापक्षयहेतुता अन्य प्रमाणसे विशेषरूपतया सिद्ध नहीं है; किन्तु इस विनियोगसे ही यह सिद्ध होता है कि ज्ञानके उद्देशसे यदि पुरुष नित्य कर्मोंका अनुष्ठान करे, तो अवश्य ज्ञान उत्पन्न होता है, इस विनियोगके † न रहते केवल शुद्धिमात्र ही होती है, नियमसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए यह विनियोग सार्थक है? तो यह भी युक्त

* शङ्काका तात्पर्य यह है कि दुरित दो प्रकारके हैं—एक तो ज्ञानकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक और दूसरा ज्ञानकी उत्पत्तिमें उदासीन होकर नरकादि देनेवाला। इस अवस्थामें यदि नित्यकर्मोंका ज्ञानमें विनियोग न किया जाय, तो नित्यकर्मोंसे ज्ञानप्रतिबन्धक दुरितका क्षय होता है, इसमें प्रमाण नहीं है, 'धर्मेण पापमपनुदति' (धर्मसे पाप हट जाता है) 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' (यज्ञ, दान और तप मनीषियोंको पावन करनेवाले हैं) इस प्रकारके श्रुति-स्मृति-वचन भी नित्य कर्मोंमें सामान्यपापक्षयकी हेतुताका प्रतिपादन करते हैं। इससे नित्य कर्मोंमें नियमतः ज्ञानप्रतिबन्धकदुरितक्षयहेतुता दूसरेसे प्राप्त ही नहीं है, इसलिए उसकी प्राप्ति करानेके लिए यह विनियोग है, अर्थात् यह बात अन्यतः सिद्धिपक्षका अवलम्बन करके विनियोगकी सार्थकता बतलाती है, यह भाव है।

† तात्पर्य यह है कि यज्ञ आदिका ज्ञानमें विनियोग न होनेपर नित्य आदिके अनुष्ठानसे दुरितविनाशरूप शुद्धि ही प्राप्त होती है, परन्तु ज्ञानकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक दुरित क्षयरूप शुद्धि प्राप्त नहीं होती, क्योंकि ज्ञानके उद्देशसे नित्यकर्मोंका अनुष्ठान नहीं है, इस अवस्थामें अनेक जन्मोंसे जिसने नित्यकर्मोंका अनुष्ठान किया है, उसको भी नियमतः ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होगी, क्योंकि कदाचित् दैवयोगसे ज्ञानप्रतिबन्धक दुरितसमूहका सम्पूर्ण क्षय होनेपर भी ज्ञान कदाचित् होता है, इस प्रकार अनियत ज्ञानोत्पत्ति होगी।

मपि अक्लृप्तमेव ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकदुरितनिबर्हणत्वम्, ज्ञानसाधन-विशिष्टगुरुलाभश्रवणमननादिसम्पादकापूर्वं च द्वारं कल्पनीयमित्यक्लृप्तो-पकारकल्पनाऽविशेषान्न सामान्यश्रुत्यापादितो नित्यकाम्यसाधारणो विनि-योगो भञ्जनीय इति ॥ २ ॥

ब्राह्मणग्रहणं चाऽत्र त्रैवर्णिकानिदर्शनम् ।

वार्त्तिकोक्तेस्तथोद्देश्यगतत्वेनाऽविवक्षणात् ॥ ७ ॥

'विविदिषन्ति ब्राह्मणाः' इस श्रुतिमें ब्राह्मणग्रहण त्रैवर्णिकका उपलक्षण है, क्योंकि इस अर्थका पोषक वार्तिककारका वचन है और ब्राह्मणपदकी उद्देश्यविशेषण-तया भी विवक्षा नहीं है ॥ ७ ॥

नहीं है, क्योंकि * नित्य कर्मोंमें ज्ञानोपकारकत्वनियमके असिद्ध होनेपर नित्यकर्मोंमें भी ज्ञानकी उत्पत्तिमें अक्लृप्त ही प्रतिबन्धक दुरितके विनाश-कारणतारूप और † ज्ञानके प्रति साधनभूत श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुका लाभ, श्रवण, मनन आदिको प्राप्त करानेवाले अदृष्टरूप द्वारकी कल्पना करनी होगी, इसलिए अक्लृप्त कल्पनाके सामान्य होनेसे 'यज्ञेन' इस सामान्यश्रुतिसे प्राप्त नित्य और काम्यकर्मोंके साधारण विनियोगको नहीं हटाना चाहिए ॥२॥

---

* 'ज्ञानमें अपेक्षित उपकार नित्योंमें क्लृप्त है' यह मत प्रमाणशून्य है, ऐसा मानकर काम्योंके समान नित्यमें भी अक्लृप्त उपकारकी कल्पना समान है, इस अभिप्रायसे दूषित करते हैं, यह भाव है ।

† यदि प्रकृतमें शङ्का हो कि नित्यकर्मोंके विनियोग पक्षमें ही विधिका लाघव है, क्योंकि पक्षमें उनकी ज्ञानप्रतिबन्धकपापविनाशकी जनकता अन्य वचनसे प्राप्त होनेके कारण केवल नियम विधिसे लभ्य है, और काम्यकर्मोंकी ज्ञानप्रतिबन्धकदुरितविनाशकारणता किसीसे प्राप्त नहीं है, अतः ज्ञानमें काम्य कर्मोंके विनियोग पक्षमें विधिका गौरव अपरिहार्य है, तो यह शङ्का युक्त नहीं है,—क्योंकि इस परिस्थितिमें भी यज्ञ आदि श्रुतियोंके सङ्कोचरूप बाधके परिहारके लिए काम्य कर्मोंका भी विनियोग अवश्य है, इसीमें तात्पर्य है । यद्यपि नित्यकर्मोंसे ज्ञान-प्रतिबन्धक दुरित-विनाशरूप विशेषशुद्धिका लाभ होनेपर भी उतने मात्रसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है । क्योंकि प्रमाणप्रमेयासम्भावना आदि प्रत्यक्ष प्रतिबन्धक हैं, तथापि उन प्रतिबन्धकोंके निरासके लिए नित्योंमें उच्च गुरु तथा उनसे श्रवण आदिके सम्पादक अक्लृप्त अदृष्टकारणताकी विविदिषावाक्यके बलसे कल्पना करनी चाहिए, यह भाव है ।

नन्वेवमपि कथम्—

'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।'

इत्यादिस्मरणनिर्वाहः? न च तस्य विद्यार्थकर्मानुष्ठानपरत्वम्, विविदिषावाक्ये ब्राह्मणग्रहणेन ब्राह्मणानामेव विद्यार्थकर्मण्यधिकारप्रतीतेः। अतो जनकाद्यनुष्ठितकर्मणां साक्षादेव मुक्त्युपयोगो वक्तव्यः, मैवम्; विविदिषावाक्ये ब्राह्मणग्रहणस्य त्रैवर्णिकोपलक्षणत्वात्।

अब शङ्का होती है कि यद्यपि 'तस्मात्तिहेतुर्विज्ञानं कर्म चोक्तं महामुने' इत्यादि ज्ञान और कर्मके समुच्चयका प्रतिपादन करनेवाली स्मृतिका विविदिषावाक्यके साथ विरोध न हो, इसलिए 'ज्ञान साक्षात् मुक्तिका साधन है और कर्म विद्याकी प्राप्ति द्वारा मुक्तिमें साधन है, इस प्रकार क्रमसमुच्चयसे निरूपण किया गया, तो भी

'कर्मणैव' (जनक प्रभृति महानुभावोंने कर्मोंके द्वारा ही मुक्ति प्राप्त की) इत्यादि स्मृतिकी उपपत्ति कैसे हो सकती है, [क्योंकि इसमें 'कर्मणैव' (कर्मसे ही) इस अवधारणसे मुक्तिके प्रति कर्मातिरिक्त साधनताका खण्डन किया गया है, इसलिए साक्षात् मुक्तिके प्रति ही कर्मोंका उपयोग प्रतीत होता है]। यदि शङ्का हो कि 'कर्मणैव' इत्यादि स्मृतिका तात्पर्य विद्याके लिए कर्मोंके अनुष्ठानमें ही है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'ब्राह्मणाः विविदिषन्ति' इत्यादि विविदिषाश्रुतिमें 'ब्राह्मण' शब्दके कथनसे यही प्रतीत होता है—ब्राह्मणोंका ही विद्याके प्रयोजक कर्मोंमें अधिकार है। इसलिए * जनक आदि द्वारा अनुष्ठित कर्मोंका साक्षात् ही मुक्तिमें उपयोग है, ऐसा कहना चाहिए? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त विविदिषावाक्यमें ब्राह्मणका ग्रहण त्रैवर्णिकोंका † उपलक्षण है।

---

* अर्थात् 'विविदिषन्ति' इत्यादि श्रुतिसे ज्ञात विद्यासाधन कर्मोंमें त्रैवर्णिक अधिकृत नहीं है, इसलिए, यह अर्थ है।

† जब विविदिषावाक्यमें ब्राह्मणग्रहण उपलक्षण है, तब विद्याके प्रयोजक कर्मोंमें जनक आदिका भी अधिकार है, अतः 'कर्मणैव' इत्यादि स्मृतिका वचन विद्याप्रयोजक कर्मके अनुष्ठानमें ही पर्यवसित है, इसलिए उक्त वचनसे 'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (आत्मसाक्षात्कारसे ही मृत्युका–संसारका–अतिक्रमण कर सकते हैं, उससे अन्य संसारके अतिक्रमणके लिए मार्ग नहीं है) इस श्रुतिसे विरुद्ध साक्षात् कर्मोंमें मुक्तिसाधनता बोधित नहीं होती है, यह भाव है।

यथाऽऽहुरत्रभवन्तो वार्तिककाराः—

'ब्राह्मणग्रहणं चाऽत्र द्विजानामुपलक्षणम् ।
अविशिष्टाधिकारित्वात् सर्वेषामात्मबोधने ॥' इति ।

नहि 'विद्याकामो यज्ञादीननुतिष्ठेद्' इति विपरिणमिते विद्याकामाधिकारविधौ ब्राह्मणपदस्याऽधिकारिविशेषसमर्पकत्वं युज्यते; उद्देश्ये विशेषणायोगात् ।

इस विषयमें पूजनीय वार्तिककार कहते हैं—

'ब्राह्मणग्रहणं चाऽत्र०' (विविदिषावाक्यमें ब्राह्मण-ग्रहण द्विजोंका अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यका उपलक्षण है, क्योंकि आत्मज्ञानके साधनभूत कर्मोंमें ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यका अधिकार सामान्यरूपसे सुना गया है *)।

और 'विद्याकामो यज्ञादीननुतिष्ठेत्' (विद्याका अभिलाषी यज्ञ आदिका अनुष्ठान करे) इस प्रकार † विपरिणत विद्याकामकी अधिकार ‡ विधिमें ब्राह्मण पद अधिकारीका समर्पक (बोधक) है, ऐसा नहीं कह सकते हैं, कारण कि विद्याकामरूप उद्देश्यमें विशेषणका सम्बन्ध नहीं हो सकता है ।

---

* इस वार्तिकको सुरेश्वराचार्य विरचित वार्तिकके १८८९ पृष्ठमें चतुर्थ अध्याय चतुर्थ ब्राह्मणमें देखना चाहिए ।

† क्योंकि विद्याप्रयोजक कर्मोंका ही अधिकार प्रकृत है, यह भाव है, यदि इस विषयमें किसीको शङ्का हो कि विविदिषावाक्यमें ब्राह्मणशब्दमें त्रैवर्णिकोपलक्षणत्वके सिद्ध होनेपर तीनों वर्णोंका सामान्यरूपसे विद्याप्रयोजक कर्मोंमें अधिकार सिद्ध होगा और तीनों वर्णोंका सामान्यतः कर्मोंमें अधिकार सिद्ध होनेपर उसके अनुरोधसे ब्राह्मणग्रहणको उपलक्षण मान सकते हैं, इसलिए अन्योऽन्याश्रय होगा, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि ब्राह्मणपदमें सामान्यतः द्विजोपलक्षणताका अनाश्रय करके ही सभी द्विजोंका विद्यार्थकर्मोंमें अधिकार वार्तिक वचनमें कहा गया है ।

‡ तात्पर्य यह है कि किसीको यदि शङ्का हो—विविदिषावाक्यमें ब्राह्मण शब्दके ग्रहणसे ब्राह्मणका ही विद्यार्थ कर्मोंमें अधिकार प्रतीयमान होता है, तो फिर वर्णत्रयसाधारण अधिकारकी सिद्धि कैसे होती है ? तो इसपर कहना चाहिए कि क्या ब्राह्मणशब्द यज्ञ आदि विधिके उद्देश्यमें विशेषणके समर्पकरूपसे ब्राह्मणमात्रकी अधिकारिताका बोधक है, अथवा विधेयभूत कर्ताके समर्पकरूपसे अथवा इन दोनोंके समर्पक न होते हुए भी अन्य गति न होनेसे अपनी केवल सन्निधिमात्रसे ब्राह्मणमात्रके अधिकारका बोधक है ? इस प्रकार तीन विकल्पोंमें प्रथम

नापि 'राजा स्वाराज्यकामो राजसूयेन यजेत' इति स्वाराज्यकामाधिकारे राजसूयविधौ 'स्वाराज्यकामो राजकर्तृकेण राजसूयेन यजेत' इति कर्तृतया यागविशेषणत्वेन विधेयस्य राज्ञो राजकर्तृकराजसूयस्याऽराज्ञा सम्पादयितुमशक्यत्वाद् अर्थादधिकारिकोटिनिवेशवद्, इह यज्ञादिकर्तृतया विधेयस्य ब्राह्मणस्याऽर्थादधिकारिकोटिनिवेश इति युज्यते । 'सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गाद्' इति सूत्रे (उ० मी० अ० ३ पा० ४ सू० ३४)

यदि शङ्का हो कि जैसे 'राजा स्वाराज्यकामो०' (स्वाराज्यको चाहनेवाला राजा राजसूयनामक यज्ञ करे) स्वाराज्य चाहनेवालेकी अधिकार-बोधिका* इस राजसूयविधिमें 'स्वाराज्यके अभिलाषी राजा द्वारा किये जानेवाले राजसूय यज्ञसे अपना अभीष्ट सम्पादन करे' इस प्रकार कर्तृत्वरूपसे यागके विशेषण विधेयभूत राजाका—केवल राजासे किये जानेवाले राजसूयका राजासे इतर अनुष्ठान नहीं कर सकता है, इससे अर्थतः—अधिकारी कोटिमें विशेषणरूपसे निवेश होता है, वैसे ही प्रकृतमें 'विद्याका अभिलाषी पुरुष ब्राह्मणकर्तृक याग आदिका अनुष्ठान करे, इस प्रकार विधेयभूत ब्राह्मणका अर्थतः अधिकारी कोटिमें निवेश होगा ? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात्'† इस ब्रह्मसूत्रमें इस प्रकारकी व्यवस्था

विकल्पका इस ग्रन्थसे परिहार करते हैं । विद्यामें यज्ञ आदिका विनियोगबोधक विधिमें विद्याभिलाषीका अधिकार सिद्ध ही है, इसलिए ब्राह्मण्यविशिष्ट विद्याकामका अधिकार विवक्षित है, ऐसा स्वीकार कर ब्राह्मणपदमें विशेष अधिकारिसमर्पकताका अङ्गीकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि विधेयभूत यज्ञ आदिकी उद्देश्यता केवल विद्याभिलाषीमें ही प्रतीत होती है, अतः ब्राह्मण्यरूप विशेषणकी आकांक्षा नहीं है, इसलिए अनाकांक्षितका विद्याकामके प्रति विशेषण रूपसे अन्वय नहीं हो सकता है । यदि विशिष्टको उद्देश्य मानें, तो गौरव होगा, विद्याकाम और ब्राह्मण्य प्रत्येकको उद्देश्य मानें, तो वाक्यभेद प्रसक्त होगा अर्थात् विद्याका अभिलाषी यज्ञ आदि करे' और 'ब्राह्मण यज्ञ आदि करे' इस प्रकार वाक्यभेद होगा, यह भाव है ।

* उक्त तीन विकल्पोंमें से द्वितीय विकल्पका इस ग्रन्थसे शङ्कापूर्वक परिहार करते हैं, तात्पर्य यह है कि स्वाराज्यकाम वाक्यमें स्वाराज्याभिलाषीके प्रति राजपदका पूर्वोक्त रीतिसे विशेषणत्वरूपसे सम्बन्ध नहीं हो सकता है, इसलिए कर्तृविधायकताका अङ्गीकार करके यदि स्वाराज्यकामी राजा हो, तो राजसूय यज्ञ करे, ऐसा प्रतिपादन किया गया है । इससे अर्थात् जैसे राजाका अधिकारी कोटिमें प्रवेश हुआ है वैसे ही ब्राह्मण्यका अधिकारीकी कुक्षिमें प्रवेश क्यों नहीं, यह शङ्काका भाव है ।

† 'सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात्' इस सूत्रका अर्थ यों है—सर्वथा अपि—यज्ञ आदिके

'अन्यत्र विहितानामेव यज्ञादीनां विविदिषावाक्ये फलविशेषसम्बन्ध-विधिः, नापूर्वयज्ञादिविधिः' इति व्यवस्थापितत्वेन प्राप्तयज्ञाद्यनुवादेन एकस्मिन् वाक्ये 'कर्तृरूपगुणविधिः, फलसम्बन्धविधिश्च' इत्युभयविधानाद्वाक्यभेदापत्तेः।

नापि राजसूयवाक्ये राज्ञः कर्तृतया विधेयत्वाभावपक्षे राजपदसमभिव्याहारमात्राद्विशिष्टकर्तृत्वलाभवद् इह वाक्याभेदाय कर्तृतया ब्राह्मणाविधानेऽपि ब्राह्मणपदसमभिव्याहारमात्रेण ब्राह्मणकर्तृकत्वालाभात् तदधि-

की गई है कि 'कर्मकाण्डमें विहित यज्ञ आदिको उद्देश्य करके ही विविदिषावाक्यमें फलविशेषके सम्बन्धकी विधि है, अपूर्व यज्ञ आदिकी विधि नहीं है, और यदि पूर्वसे प्राप्त यज्ञ आदिका अनुवाद कर एक वाक्यमें कर्तृरूप गुण और फल-सम्बन्ध इन दोनोंकी विधि मानें, तो वाक्यभेदकी आपत्ति होगी* ।

† यदि शङ्का हो कि जैसे राजसूयवाक्यमें कर्तृरूपसे राजामें विधेयत्वके अभाव पक्षमें ‡ राजपदके सान्निध्यमात्रसे विशिष्ट कर्तृताका लाभ होता है, वैसे ही प्रकृतमें वाक्यभेदके परिहारके लिए कर्तृरूपसे ब्राह्मणका विधान न होनेपर भी ब्राह्मणपदके समभिव्याहारमात्रसे (सान्निध्यमात्रसे) ब्राह्मणकी कर्तृताका

आश्रमकर्मत्वपक्षमें या उनके विद्यासहकारित्वपक्षमें एवं—'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्' इत्यादि वाक्योंमें जो अग्निहोत्र आदि धर्म हैं, वे ही विहित हैं, क्योंकि 'उभयलिङ्गात्' अर्थात् श्रुति और स्मृति—दोनों प्रमाण हैं, श्रुतिसे 'विविदिषन्ति यज्ञेन' इत्यादि श्रुति लेनी चाहिए और स्मृतिसे 'अनाश्रितः कर्मफलम्' (कर्मफलकी अभिलाषा न करके जो यज्ञ आदिका अनुष्ठान करता है, उसे विद्या-प्राप्ति होती है) इत्यादिका ग्रहण करना चाहिए ।

* राजसूयवाक्यमें कर्त्रादिगुणविशिष्ट अपूर्व कर्मकी ही विधि मानी गई है, अतः वाक्य-भेद प्रसक्त नहीं है, अतः उसमें राजशब्दकी कर्तृरूप गुणविधायकता युक्त है, यह भाव है ।

† पूर्वोक्त तीन विकल्पोंमें से तृतीय विकल्पका इस ग्रन्थसे परिहार करते हैं । कर्तृत्वरूपसे राजामें विधेयताके न होनेपर भी राजाका ही राजसूय यज्ञमें अधिकार सिद्ध होता है, क्योंकि राजशब्दकी सन्निधिसे स्वाराज्यकामशब्द क्षत्रियपरक है, ऐसा स्वभावतः ज्ञात हो सकता है, अन्यथा राजपद व्यर्थ होगा, इस अभिप्रायसे जिनके मतमें राजाकी कर्तृत्वरूपसे विधि नहीं मानी जाती है, उनके मतमें, यह अर्थ है ।

‡ क्योंकि विद्याके हेतु यज्ञ आदिमें जैसे शूद्रका निषेध है, वैसे क्षत्रिय और वैश्यका निषेध नहीं है, अतः ब्राह्मणके समान उनका भी अधिकार है, यह भाव है ।

कारपर्यवसानमित्युपपद्यते । अन्यत्र त्रैवर्णिकाधिकारिकत्वेन क्लृप्तानामिहापि त्रैवर्णिकाधिकारात्मविद्यार्थत्वेन विधीयमानानां यज्ञादीनां त्रैवर्णिकाधिकारित्वस्य युक्ततया विधिसंसर्गहीनब्राह्मणपदसमभिव्याहारमात्रादधिकारसंकोचासम्भवेन ब्राह्मणपदस्य यथाप्राप्तविद्याधिकारिमात्रोपलक्षणत्वौचित्यात् ॥ ३ ॥

वैदिकत्वात्तु विद्यायाः शूद्रस्यानधिकारिता ।

विद्याके वैदिक होनेसे—वेदगम्य होनेसे—उसमें शूद्रका अधिकार नहीं है ।

ननु विद्याधिकारिमात्रोपलक्षणत्वे शूद्रस्यापि विद्यायामर्थित्वादि-

---

लाभ होता है अतः ब्राह्मणका† ही अधिकार फलतः सिद्ध होता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जिन यज्ञोंमें तीनों वर्णोंका अधिकार कर्मकाण्डमें निश्चित किया गया है, वे ही यज्ञ प्रकृत विविदिषा वाक्यमें आत्मज्ञानके, जिनमें कि तीनों वर्ण अधिकृत हैं, उत्पादन के लिए—विधीयमान हैं, अतः उनमें तीनों वर्णोंका अधिकार युक्तियुक्त होनेसे विधिसंसर्गसे* हीन ब्राह्मणपदकी सन्निधिसे अधिकारका सङ्कोच नहीं हो सकता है, अतः 'ब्राह्मणा विविदिषन्ति' इस श्रुतिमें ब्राह्मणशब्द यथाप्राप्त सामान्य विद्याधिकारीका उपलक्षण है, यही मानना उचित है ॥ ३ ॥

† अब शङ्का होती है कि यदि विविदिषावाक्यमें ब्राह्मणशब्दको विद्याधिकारीमात्रका उपलक्षण माना जाय, तो शूद्र भी विद्यामें अभिलाषा आदि कर सकता है, अतः वह भी विद्याके उपयुक्त कर्मोंमें अधिकृत होगा ?

---

* विधिसंसर्गहीन अर्थात् उद्देश्यके समर्पण द्वारा अथवा विधेयके समर्पण द्वारा विधिवाक्यार्थके अन्वयबोधमें ब्राह्मणशब्द अनुपयोगी है, राजसूय यज्ञका अन्यत्र विधान न होनेसे वर्णत्रयाधिकारता उसमें प्राप्त नहीं है, अतः विधिसंसर्गहीन राजपदके समभिव्याहारसे राजसूयवाक्यमें राजकर्तृताका नियम है। यदि शङ्का हो कि उक्त प्रकारसे विद्यार्थ कर्मोंमें क्षत्रिय और वैश्यके समान ब्राह्मणका भी अधिकार सिद्ध ही है, तो ब्राह्मण ग्रहण व्यर्थ है, तो युक्त नहीं है, क्योंकि विद्यार्थ कर्मोंमें ब्राह्मणका मुख्य अधिकार है, ऐसा सूचित करनेके लिए ब्राह्मणका ग्रहण है, यह भाव है।

† शङ्काका तात्पर्य यह है कि विद्या तो विधेय नहीं है, अतः उसमें अधिकार विद्यार्थित्वरूप ही होगा, और यह अर्थित्वरूप अधिकार शूद्रको भी हो सकता है, इसलिए क्षत्रिय आदिके समान शूद्रका भी विद्यार्थ कर्मोंमें अधिकार निवृत्त नहीं कर सकते हैं।

सम्भवेन तस्यापि विद्यार्थकर्माधिकारप्रसङ्ग इति चेद्, न; 'अध्ययनगृहीतस्वाध्यायजन्यतदर्थज्ञानवत एव वैदिकेष्वधिकारः' इत्यपशूद्राधिकरणे (उ० मी० अ० १ पा० ३ सू० ३४) अध्ययनवेदवाक्यश्रवणादिविधुरस्य शूद्रस्य विद्याधिकारनिषेधात्। 'न शूद्राय मतिं दद्याद्' इति स्मृतेरापाततोऽपि तस्य विद्यामहिम्नाऽवगत्युपायासम्भवेन तदर्थित्वानुपपत्तेश्च तस्य विद्यायामनधिकारादिति केचित्।

केचित् पौराणिके ज्ञाने तस्याप्याहुरधिक्रियाम् ॥ ८ ॥

कोई लोग पौराणिक ज्ञानमें शूद्रका भी अधिकार मानते हैं ॥ ८ ॥

अन्ये त्वाहुः—शूद्रस्याप्यस्त्येव विद्यार्थकर्माधिकारः, तस्य वेदानु-

---

तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि विधिवत् अध्ययनसे [वेदसे] उत्पन्न होनेवाले ज्ञानसे युक्त पुरुषको ही वैदिक कर्मोंमें अधिकार है, अन्यका नहीं, इस प्रकार अध्ययनसे प्राप्त वेदवाक्योंके श्रवणसे रहित शूद्रका अपशूद्राधिकरणमें * विद्यामें अधिकारनिषेध किया गया है और 'न शूद्राय मतिं दद्यात्' (शूद्रको शास्त्रार्थ ज्ञान नहीं देना चाहिए) इस प्रकार की स्मृतिसे साधारणरूपसे भी विद्याकी महिमासे अर्थात् विद्यारूप ब्रह्मप्राप्तिके साधनसे ज्ञानसाधनका असम्भव होनेसे शूद्रमें विद्यार्थिता ही नहीं हो सकती है, अतः शूद्रका विद्यामें अधिकार है ही नहीं, ऐसा कुछ लोग कहते हैं।

†अन्य कुछ लोग कहते हैं कि शूद्रका भी विद्याके उपयोगी कर्मोंमें अधिकार है। यद्यपि शूद्रका वेदाध्ययन और अग्निहोत्र आदिमें अधिकार नहीं

---

* 'शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात् सूच्यते हि' इस सूत्रसे आरब्ध अधिकरण अपशूद्राधिकरण कहलाता है, इसमें निर्णय किया गया है कि शूद्रका श्रुतिप्रतिपादित सगुण विद्यामें और निर्गुण ब्रह्मविद्याके साधन यज्ञ आदिमें अधिकार नहीं है, क्योंकि उसने वेदाध्ययन नहीं किया है। और वेदार्थानुष्ठानमें अध्ययनविधिसे सम्पादित वेदजन्य ज्ञान अपेक्षित है, अतः सगुण और निर्गुण ब्रह्मविद्यामें शूद्रका अधिकार है ही नहीं, इसीलिए तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः (तै—सं) 'शूद्रो विद्यायामनवक्लृप्तः' ये उक्तार्थमें प्रमाणभूत भी हैं।

† 'शूद्रका भी विद्यार्थ कर्मोंमें अधिकार प्रसक्त होगा' इसे इष्टापत्ति मानकर उक्त आक्षेपका समाधान करते हैं।

वचनाग्निहोत्राद्यसम्भवेऽपि कण्ठोक्तसर्ववर्णाधिकारश्रीपञ्चाक्षरमन्त्रराजविद्यादिजपपापक्षयहेतुतपोदानपाकयज्ञादिसम्भवाद्; 'वेदानुवचनेन यज्ञेन दानेन' इत्यादिपृथक्कारकविभक्तिश्रुतेः विधुरादीनां विद्यार्थजपदानादिमात्रानुष्ठानानुमतेश्च वेदानुवचनादिसमुच्चयानपेक्षणात् । न च शूद्रस्य विद्यायामर्थित्वासम्भवः ।

है, तथापि † जिनमें सब वर्णोंके अधिकारका प्रतिपादन किया गया है, ऐसे श्रीपञ्चाक्षररूप मन्त्राधिराज विद्या आदिका जप, पापक्षयके हेतुभूत तप, दान, पाकयज्ञ आदिमें अधिकार है और 'वेदानुवचनेन' (वेदाध्ययनसे), 'यज्ञेन' (यज्ञसे) 'दानेन' (दानसे) इत्यादि अलग अलग कारकविभक्तिका श्रवण होनेसे विधुर आदिको विद्यार्थ जप, दान आदिके अनुष्ठानकी अनुमति होनेसे वेदानुवचन आदिके ‡ समुच्चयकी अपेक्षा नहीं है। और शूद्रकी विद्यामें अर्थिता (अधिकारिता) नहीं है, ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि

---

† किं तस्य बहुभिर्मन्त्रैः किं तीर्थैः किं तपोऽध्वरैः ।
यस्यों नमः शिवायेति मन्त्रो हृदयगोचरः ॥
मन्त्राधिराजराजो यस्सर्ववेदान्तशेखरः ।
सर्वज्ञाननिधानञ्च सोऽयं शैवपञ्चाक्षरः ॥
प्रणवेन विना मन्त्रः सोऽयं पञ्चाक्षरः स्मृतः ।
स्त्रीभिश्शूद्रैश्च सङ्कीर्णैर्ध्यायते मुक्तिकाङ्क्षिभिः ॥ (ब्रह्मोत्तर खण्ड)

अर्थात् इन प्रमाणोंसे यह प्रतीत होता है कि जिसके हृदयमें ॐ नमः शिवाय यह मन्त्र है, उसको अनेक मन्त्रोंसे, अनेक तीर्थोंसे एवं अनेक प्रकारके तप और यज्ञोंसे कुछ भी प्रयोजन नहीं है। यह सब मन्त्रोंका अधिराज है, सब वेदान्तोंका मूर्धन्य है, सब ज्ञानोंका खजाना है। और यह 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्र यदि प्रणव (ॐ कार) से रहित हो, तो इसे पञ्चाक्षर कहते हैं, इसी पञ्चाक्षर मन्त्रको मुक्तिके अभिलाषी स्त्री, शूद्र आदि तथा सङ्कीर्ण जातिके लोग मुक्तिके लिए भजते हैं।

‡ 'वेदानुवचनेन विविदिषन्ति' 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यादि रूपसे प्रत्येकमें साधनताकी प्रतीति होनेसे समुच्चयकी अपेक्षा नहीं है, यदि समुच्चयकी विवक्षा होती, तो 'वेदानुवचनयज्ञदानतपोभिर्विविदिषन्ति' ऐसा वाक्य होता और पृथक् कारकविभक्तिके श्रवणमें भी वेदानुवचनेन च, यज्ञेन च, इत्यादि चकारघटित वाक्य होता, अतः समुच्चयकी विवक्षा नहीं है, यह भाव है।

'श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः' ।

इतीतिहासपुराणश्रवणे चातुर्वर्ण्याधिकारस्मरणेन पुराणाद्यवगतविद्या-माहात्म्यस्य तस्यापि तदर्थित्वसम्भवात् । 'न शूद्राय मतिं दद्याद्' इति स्मृतेश्च तदनुष्ठानानुपयोग्यग्निहोत्रादिकर्मज्ञानदाननिषेधपरत्वात् । अन्यथा तस्य स्ववर्णधर्मस्याप्यवगत्युपायासम्भवेन 'शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजाति-स्तस्यापि सत्यमक्रोधश्शौचमाचमनार्थे पाणिपादक्षालनमेवैके श्राद्धकर्म भृत्यभरणं स्वदारतुष्टिः परिचर्या चोत्तरेषाम्' इत्यादितद्धर्मविभाजक-

---

'श्रावयेत्०' (ब्राह्मण चार वर्णोंको पुराण आदि सुनावे, यदि क्षत्रिय आदिको पुराण आदि सुनाना हो तो ब्राह्मणको आगे करे) इस प्रकार स्मृति, पुराण और इतिहासके श्रवणमें चारों वर्णोंका अधिकार प्रतिपादित होनेसे जिस शूद्रने पुराण आदिसे विद्याका माहात्म्य जाना है, ऐसे शूद्रको भी विद्याकी अधि-कारिता प्राप्त हो सकती है। 'न शूद्राय' इस प्रकारकी पूर्वोक्त स्मृति शूद्रके अनुष्ठानके अनुपयोगी अग्निहोत्रादि कर्म, ज्ञान और दानका निषेध करनेवाली है। यदि सम्पूर्ण शास्त्रविषयक ज्ञानके निषधमें ही 'न शूद्राय' इत्यादि वचनका तात्पर्य माना जाय, तो उसको अपने वर्णधर्मके ज्ञानका साधन भी नहीं रहेगा, इससे 'शूद्रश्चतुर्थो वर्णः०' * अर्थात् शूद्र चौथा वर्ण है, उसका एक ही जन्म है (क्योंकि उपनयनरूप द्वितीय जन्म उसका नहीं है) उसका भी सत्य, अक्रोध, शुद्धता किसीके मतसे आचमनकी जगहमें हाथ और पैरका प्रक्षालनमात्र, श्राद्धकर्म, भृत्य, स्त्री आदिका पोषण, अपनी समानजातीय भार्यासे निर्वाह और ऊपरके ब्राह्मण आदि तीन वर्णोंकी

---

* गौतम धर्मसूत्रके दशम अध्यायमें ४९ वें सूत्रसे इस शूद्रधर्मका विभाग किया गया है, तात्पर्य यह है कि यद्यपि 'न शूद्राय मतिं दद्यात्' इत्यादि शास्त्रसे शूद्रोंको शास्त्रार्थज्ञानका दान निषिद्ध भासता है, तथापि

वृद्धौ च मातापितरौ भार्या साध्वी सुतः शिशुः ।
अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ॥

इत्यादि वचनके अनुसार जो ब्राह्मण अपने माता, पिता, सती स्त्री, और पुत्र आदिका पोषण करनेके लिए शूद्रोंके प्रति पुराण आदिके पठनमें प्रवृत्त होते हैं उनसे शूद्रोंको अपना कर्तव्य और विद्यामाहात्म्य अवश्य ज्ञात हो सकता है, अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है, यह भाव है।

वचनानामननुष्ठानलक्षणाप्रामाण्यापत्तेः । न चैवं सत्यपशूद्राधिकरणस्य निर्विषयत्वम् । तस्य—

'न शूद्रे पातकं किंचित् न च संस्कारमर्हति ।'

इत्यादिस्मृतेर्गुरूपसदनाख्यविद्याङ्गोपनयनसंस्कारविधुरस्य शूद्रस्य सगुणविद्यासु निर्गुणविद्यासाधनवेदान्तश्रवणादिषु चाधिकारनिषेधपरत्वाद् निर्गुणविद्यायां शूद्रस्यापि विषयसौन्दर्यप्रयुक्तार्थित्वस्य निषेद्धुमशक्य-

---

सेवा) इत्यादि शूद्रधर्मोंके विभाजक वचनोंका अननुष्ठानात्मक अप्रामाण्य प्रसक्त होगा । यदि शङ्का हो कि उक्त प्रकारसे यदि शूद्रका भी विद्याके उपयोगी कर्मोंमें अधिकार माना जाय, तो अपशूद्राधिकरण निर्विषयक अर्थात् व्यर्थ-सा होगा ? तो यह भी युक्त नहीं † है, क्योंकि उस अधिकरणका—

'न शूद्रे पातकं किञ्चित्०' (शूद्रको अभक्ष्यभक्षण आदिसे कोई पाप नहीं होता है और अध्ययनाङ्ग उपनयनात्मक संस्कार अथवा विद्याङ्ग उपगमनात्मक संस्कार भी उसके नहीं होते हैं) इत्यादि स्मृतिसे गुरूपसदनात्मक* विद्याके प्रति अङ्गभूत उपनयनरूप संस्कारसे रहित शूद्रका सगुण विद्यामें और निर्गुण विद्याके साधन वेदान्तके श्रवण आदिमें—अधिकारके निषेधमें ही तात्पर्य है, इससे निर्गुण विद्यामें विषयकी सुन्दरतासे होनेवाली शूद्रकी अर्थिताका निषेध नहीं कर सकते हैं । निर्गुण विद्याके विधेय† न होनेसे उससे भिन्न अधिकारिताकी प्रसक्ति नहीं है, अतः निर्गुण विद्यामें विषयसौन्दर्यप्रयुक्त अर्थित्वका निषेध

---

† अपशूद्राधिकरणमें शूद्रका विद्यामें अनधिकार बतलाया गया है, विद्यामें उपयुक्त कर्मोंमें शूद्रका अधिकार नहीं है, यह बतलानेके लिए नहीं है, किन्तु वेदान्तके श्रवण आदिमें शूद्रका अधिकार नहीं है, इस प्रकार प्रतिपादन करता है, इस अभिप्रायसे 'तस्य न शूद्रे' इत्यादि ग्रन्थसे परिहार करते हैं ।

* शिष्यरूपसे अङ्गीकार करके अपने समीपमें स्थापनरूप विद्याङ्ग उपनयन आचार्य करता है, इस उपनयनको गुरूपसदन इसलिए कहते हैं कि वह शिष्यकर्तृक गुरूपसदनपूर्वक है, 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवोपगच्छेत्' (ब्रह्मको जाननेके लिए गुरुजीके पास जाना चाहिए) इस श्रुतिसे विद्याङ्गरूपसे गुरूपसदनका विधान है 'तं होपनिन्ये' (उसका उपनयन किया) इस श्रुतिसे विद्याङ्ग उपनयन भी प्रतीत होता है ।

† स्वर्गानुभवके समान ब्रह्मानन्दरूप निर्गुण विद्याके फलरूप होनेसे उसमें विधेयता नहीं है, क्योंकि जो फल होता है, वह विधेय नहीं होता, इसलिए जैसे स्वर्गानुभव आदि फलमें स्वर्गार्थितामात्र अधिकार है, वैसे निर्गुण विद्यामें भी निर्गुणविद्यार्थितारूप ही अधिकार है,

त्वात्। अविधेयायां च तस्यां तदतिरिक्ताधिकाराप्रसक्त्या तन्निषेधायोगाच्च। न च तस्य वेदान्तश्रवणासम्भवे विद्यार्थकर्मानुष्ठानसम्भवेऽपि विद्यानुत्पत्तेस्तस्य तदर्थकर्मानुष्ठानं व्यर्थमिति वाच्यम्, तस्य वेदान्तश्रवणाधिकाराभावेऽपि भगवत्पादैः—'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' इति चेतिहासपुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्याधिकारस्मरणाद् वेदपूर्वस्तु नास्त्यधिकारः शूद्राणामिति स्थितम्' इति अपशूद्राधिकरणोपसंहारभाष्ये ब्रह्मात्मैक्यपरपुराणादिश्रवणे विद्यासाधनेऽधिकारस्य दर्शितत्वाद्। विद्योत्पत्तियोग्य-

नहीं कर सकते हैं। यदि शङ्का हो कि शूद्रका वेदान्तके श्रवणमें अपशूद्राधिकरणन्यायसे अधिकार न होनेके कारण विद्यार्थ जपादि कर्मोंका अनुष्ठान करनेपर भी विद्याकी उत्पत्ति नहीं होगी, इसलिए विद्याके लिए किया गया कर्म निरर्थक ही है? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि यद्यपि वेदान्त श्रवणमें शूद्रका अधिकार नहीं है, तथापि 'श्रावयेत् चतुरो वर्णान्' इस प्रकार इतिहास और पुराणके ज्ञानमें चारों वर्णोंके अधिकारप्रतिपादक स्मृतिवचन होनेसे शूद्रोंका वेदपूर्वक ही अधिकार नहीं है, यह बात ज्ञात होती है, इस प्रकारके अपशूद्राधिकरणके उपसंहारभाष्यमें भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने जीव-ब्रह्मके ऐक्यबोधक पुराण आदिके श्रवणमें, जो कि ब्रह्मज्ञानका साधन है, अधिकार बतलाया है। विद्याकी उत्पत्तिमें योग्य‡ शुद्ध दिव्य शरीरके

उसका निषेध नहीं कर सकते हैं, क्योंकि विधेयभूत उपासना आदिमें अन्य अधिकारि विशेषणकी अपेक्षा होती है, इसलिए दृष्टान्त विषम है, यह भाव है।

‡ यद्यपि 'श्रावयेत् चतुरो वर्णान्' इस वचनसे शूद्रको पुराण आदिके श्रवणमें आज्ञा मिलती है, तथापि, मनन आदिमें आज्ञाके न होनेसे मनन आदिका अनुष्ठान नहीं हो सकता है, यदि शङ्का हो कि मनन आदि तो श्रवणके अङ्ग ही है, अतः उनका अङ्गीके अभ्यनुज्ञानसे ही अभ्यनुज्ञान होगा? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रयाज और दर्शपूर्णमासके समान प्रकृतमें अङ्गाङ्गिभावबोधक प्रमाणके न रहनेसे श्रवण, मनन आदिमें परस्पर अङ्गाङ्गिभावव्यवहार केवल औपचारिक ही प्रतीत होता है, इसलिए शूद्रका अद्वैतवेदान्तश्रवणमें अधिकारके न रहनेपर भी उससे विद्याकी उत्पत्ति नहीं होनेके कारण विद्यार्थ कर्मोंके अनुष्ठानका नैरर्थक्य ज्यों का त्यों है, इस अस्वरससे इस ग्रन्थका उपक्रम है। अथवा 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' (इतिहास और पुराणोंसे वेदका उपबृंहण करे अर्थात् मीमांसानुसारी इतिहास और पुराणोंके वचनानुसार यथार्थ निर्णीतार्थमें वेदका स्थापन करे) इत्यादि वचनोंसे इतिहास आदिका ब्रह्मात्मैक्यबोधकभाग वेदान्तश्रवणजनित वेदान्तार्थ ज्ञानका उपकारकमात्र प्रतीत होता है, वेदान्तश्रवणकी उपेक्षा करके स्वतन्त्ररूपसे ब्रह्मात्मैक्यज्ञानजनक प्रतीत नहीं होता है, इसीसे

विमलदेवशरीरनिष्पादनद्वारा मुक्त्यर्थत्वं भविष्यतीति त्रैवर्णिकानां क्रम-मुक्तिफलकसगुणविद्यार्थकर्मानुष्ठानवद् वेदान्तश्रवणयोग्यत्रैवर्णिकशरीर-निष्पादनद्वारा विद्योत्पत्त्यर्थत्वं भविष्यतीति शूद्रस्य विद्यार्थकर्मानुष्ठाना-विरोधाच्च। तस्मात् विविदिषावाक्ये ब्राह्मणपदस्य यथाप्राप्तविद्याऽधि-कारिमात्रविषयत्वेन शूद्रस्याऽपि विद्यार्थकर्माधिकारः सिध्यत्येवेति ॥ ४ ॥

सन्न्यासस्याऽत्र किन्द्वारेणोपयोगः—

विद्यामें संन्यासका किस द्वारा उपयोग है?

नन्वस्तु कर्मणां चित्तशुद्धिद्वारा विद्योपयोगः, सन्न्यासस्य किंद्वारा तदुपयोगः?।

उत्पादन द्वारा सगुण ब्रह्मकी उपासना भी मुक्तिके लिए होगी, इस प्रकारके निश्चयसे तीनों वर्णोंका सगुण विद्याके लिए जिसका क्रमिक मुक्ति ही फल है, कर्मानुष्ठान जैसे होता है, वैसे ही वेदान्तश्रवणके लिए योग्य त्रैवर्णिक शरीरके निष्पादन द्वारा हमारे द्वारा किये गये धर्म विद्याकी उत्पत्तिमें हेतु होंगे, इस प्रकारके निश्चयसे शूद्रका विद्याके लिए कर्मोंके अनुष्ठानमें कोई विरोध नहीं है। इससे विविदिषावाक्यमें ब्राह्मणशब्द सामान्यतः प्राप्त सम्पूर्ण विद्याधिकारीके लिए ही प्रयुक्त है, इसलिए शूद्रका भी ब्रह्मज्ञानमें हेतुभूत कर्मोंमें अधिकार सिद्ध ही है ॥ ४ ॥

अब शङ्का होती है कि कर्म चित्तशुद्धिके द्वारा ब्रह्मविद्यामें उपयोगी भले ही हों, परन्तु संन्यासका ब्रह्मविद्यामें किस द्वारा उपयोग है? [अर्थात् अदृष्ट

उक्त वचनका पूर्वार्ध—'बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरेदिति' समझ होता है। इस पूर्वार्धका यह भाव है—जिस पुरुषने केवल वेदका ही विचार किया है और इतिहास तथा पुराण नहीं देखे हैं, ऐसे पुरुषसे वेद डरता है कि यह अल्पश्रुत पुरुष मुझे मार डालेगा अर्थात् मेरे विचार-रूप मीमांसामें न्यायाभासत्वादिशङ्कासे हमारा अन्य अर्थ करेगा। इस अवस्थामें वेदान्तश्रवणसे रहित शूद्र कदाचित् पुराणादि विज्ञान सम्पादन करे, तथापि उससे उसको ज्ञान नहीं हो सकता है। 'श्रावयेत् चतुरो वर्णान्' इत्यादि वचन भी शूद्रके अद्वैतपरक पुराण आदिका श्रवण अदृष्टार्थक है इस अभ्यनुज्ञापरक है। अपशूद्राधिकरणके भाष्यमें भी शूद्रका अद्वैत प्रतिपादक पुराणादिश्रवणमें अधिकारका वर्णन 'बिभेत्यल्पश्रुताद्' इत्यादि वचन नहीं है, यह मान कर ही किया गया है, अतः भाष्यसे विरोध भी नहीं है। इसलिए वेदान्तश्रवणमात्रसे साध्य विद्या श्रवण आदिके अभावमें शूद्रको सिद्ध नहीं हो सकती है, इस अस्वरससे यह 'विद्योत्पत्तियोग्य' इत्यादि ग्रन्थ है, यह भाव है।

अत्र केचन ।

कर्माविनाश्यदुरितनाशद्वारेति चक्षते ॥ ९ ॥

इस विषयमें कुछ लोग कहते हैं कि जिस पापका कर्मसे विनाश नहीं होता है, उस पापके विनाश द्वारा संन्यास विद्यामें उपयोगी है ॥ ९ ॥

केचिदाहुः—विद्योत्पत्तिप्रतिबन्धकदुरितानामनन्तत्वात् किञ्चिद् यज्ञाद्यनुष्ठाननिवर्त्यम्, किञ्चित् सन्न्यासापूर्वनिवर्त्यमिति कर्मवच्चित्तशुद्धिद्वारैव सन्न्यासस्याऽपि तदुपयोगः। तथा च गृहस्थादीनां कर्मच्छिद्रेषु श्रवणाद्यनुतिष्ठतां न तस्मिन् जन्मनि विद्यावाप्तिः, किं जन्मान्तरे

द्वारा संन्यास ब्रह्मविद्यामें उपयोगी है या दृष्टद्वारा ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि विद्याकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक पापोंकी यज्ञ आदिके अनुष्ठानसे उत्पन्न अदृष्टसे ही निवृत्ति होती है, अतः संन्यास निरर्थक ही है, द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि कोई दृष्ट द्वार देखा ही नहीं जाता है, अतः संन्यासका विद्यामें कोई उपयोग नहीं है, यह आक्षेपकर्ताका अभिप्राय है ।]

* इस आक्षेपके समाधानमें कुछ लोग कहते हैं—ब्रह्मविद्याके प्रादुर्भावमें प्रतिबन्धक अनेक पाप हैं, अतः उनमें से कई एक यज्ञ आदिके अनुष्ठानसे निवृत्त होते हैं और कई एक संन्यासजनित अपूर्वसे निवृत्त होते हैं, † इसलिए संन्यास भी चित्तकी शुद्धि द्वारा ही ब्रह्मविद्यामें उपयोगी है । इस परिस्थितिमें गृहस्थ आदि कर्मोंके अवकाश कालमें श्रवण आदिका अनुष्ठान भले ही करें, तथापि उस जन्ममें उनको ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति नहीं होती है, किन्तु

* अदृष्ट द्वारा संन्यास विद्यामें उपयोगी है, इस मतका इस ग्रन्थसे समर्थन करते हैं।

† यदि इसमें किसीको शङ्का हो कि संन्यासजन्य अपूर्व विद्याकी उत्पत्तिमें हेतु नहीं है, क्योंकि जिन्होंने संन्यास नहीं लिया है, उनमें से कोई एक विद्याके उद्देशसे श्रवण आदिका अनुष्ठान करते हैं, और कई एकको संन्यासके बिना ही विद्या भी हुई है, ऐसा देखा जाता है। इस शङ्काका 'तथा च' इससे परिहार किया जाता है। विद्याके प्रति संन्यासका दृष्ट द्वार नहीं देखा जाता है, अतः संन्यासविधिसे अदृष्ट द्वारा ही विद्याप्राप्तिके प्रति संन्यासकी हेतुता सिद्ध होनेसे, यह अर्थ है। यदि शङ्का हो कि संन्यासका भी चित्तविक्षेपनिवृत्तिरूप दृष्ट द्वार हो सकता है, क्योंकि विक्षिप्तचित्त पुरुषको ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि लौकिकवैदिक-कर्म करनेवाले पुरुषका भी चित्तविक्षेप प्रायः नहीं देखा जाता है, अतः संन्यास ही चित्तविक्षेपकी निवृत्तिमें कारण नहीं हो सकता है, यह भाव है।

सन्न्यासं लब्ध्वैव। येषां तु गृहस्थानामेव सतां जनकादीनां विद्या विद्यते, तेषां पूर्वजन्मनि सन्न्यासात् द्विद्याऽवाप्तिः। अतो न विद्यायां सन्न्यासापूर्वव्यभिचारशङ्काऽपीति।

अन्ये त्वदृष्टद्वारेण श्रवणेऽस्याऽङ्गतां जगुः।

कुछ लोग कहते हैं कि अदृष्ट द्वारा संन्यास श्रवणमें अङ्ग है।

अन्ये तु 'शान्तो दान्त उपरतः' इत्यादिश्रुतौ उपरतशब्दगृहीततया सन्न्यासस्य साधनचतुष्टयान्तर्गतत्वात्, 'सहकार्यन्तरविधिः' इति (उ० मी० अ० ३ पा० ४ सू० ४७) सूत्रभाष्ये 'तद्वतो विद्यावतः सन्न्या-

दूसरे जन्ममें संन्यास लेकर ही ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति होती है। जिन जनक प्रभृति गृहस्थाश्रमियोंको ही ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति हुई है, उनको पूर्व जन्मके संन्याससे ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति हुई है, ऐसा समझना चाहिए। इसलिए संन्यासजनित अपूर्वका ब्रह्मविद्यामें व्यभिचार नहीं है।

* कुछ लोग कहते हैं कि 'शान्तो दान्त उपरतः' (शमसे युक्त, दमसे युक्त, और नित्यकर्मोंके त्यागसे युक्त) इत्यादि श्रुतिमें संन्यासका उपरतिशब्दसे कथन होनेके कारण, वह साधनचतुष्टयके अन्तर्गत ही है, अतः 'सहकार्यन्तर-विधिः' इस सूत्रके भाष्यमें—'तद्वतो' अर्थात् श्रवण आदिके अनुष्ठानमें उपयोगी सामान्यज्ञानसे युक्त संन्यासीके लिए बाल्य और पाण्डित्यकी

* संन्यासके अदृष्टद्वारकत्वपक्षका अवलम्बन करके ही संन्यासापूर्वका श्रवण आदिके अधिकारीके विशेषणरूपसे विद्यामें उपयोग है, इसे सप्रमाण साबित करते हैं। 'शान्तो दान्त उपरतः' के आगे 'तितिक्षुः समाहितः श्रद्धावित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्' इतना और श्रुतिका भाग है। शमः—आन्तर इन्द्रियोंका निग्रह, दमः—बाह्य इन्द्रियोंका निग्रह, उपरतिः—नित्यकर्मोंका त्याग, तितिक्षुः—शीतोष्णादि-द्वन्द्वसहिष्णु अर्थात् शीतोष्णजन्य दुःखादिका सहन करनेवाला, समाहितः—श्रवण आदिके लिए अपेक्षित चित्तकी एकाग्रता, श्रद्धावित्त—देवता, वेदान्तवाक्य आदिमें विश्वास ही द्रव्य जिसका है, ऐसा होकर अपने कार्यकारणसंघातमें कार्यकरणसंघातके साक्षीरूप आत्माको 'मैं आत्मा हूँ' इस प्रकार देखे, यह उक्त श्रुतिका अर्थ है। यद्यपि 'शान्तो दान्तः' इस प्रकार शम और दमकी विधायक श्रुतिसे ही कर्ममात्रका निवारण हो सकता है, इससे उपरतिविधायक अग्रिम श्रुति व्यर्थसी भासती है, तथापि वह व्यर्थ नहीं है, क्योंकि शम, दम विधायकश्रुतिके सामान्य होनेसे उसका नित्यकर्मविधायक विशेषशास्त्रसे बाध हो सकता है, अतः उपरतिविधायकश्रुतिकी आवश्यकता है।

सिनो बाल्यपाण्डित्यापेक्षया तृतीयमिदं मौनं विधीयते, 'तस्मात् ब्राह्मणः पाण्डित्यम्' इत्यादिश्रुतौ ततः प्राग् 'भिक्षाचर्यं चरन्ति' इति 'सन्न्यासाधिकाराद्' इति प्रतिपादनात्,

'त्यक्ताशेषक्रियस्यैव संसारं प्रजिहासतः ।

जिज्ञासोरेव चैकात्म्यं त्रय्यन्तेष्वधिकारिता ॥'

इति वार्तिकोक्तेश्च सन्न्यासापूर्वस्य ज्ञानसाधनवेदान्तश्रवणाद्यधिकारिविशेषणत्वमिति तस्य विद्योपयोगमाहुः ।

दृष्टेन निर्विक्षेपेण नियमं त्वितरे बुधाः ॥ १० ॥

कई एक विद्वान् कहते हैं कि विक्षेपाभावरूप दृष्ट द्वारा अर्थात् अनन्यव्यापारतारूप दृष्टद्वारा संन्यासका विद्यामें उपयोग है ॥ १० ॥

अपरे तु 'श्रवणाद्यङ्गतयाऽऽत्मज्ञानफलता सन्न्यासस्य सिद्धा' इति

(श्रवण और मननकी) अपेक्षा तीसरे निदिध्यासनका विधान किया जाता है, क्योंकि 'भूतकालीन ब्राह्मणोंने साधारणरूपसे आत्माको जानकर तत्त्वसाक्षात्कारके लिए संन्यासका ग्रहण किया था, इससे आधुनिक मुमुक्षु ब्राह्मण भी संन्यासका ग्रहण करके श्रवण आदिका अनुष्ठान करें' इस प्रकारकी श्रुतिमें 'तस्मात् ब्राह्मणः' इसके पूर्व 'भिक्षाचर्यां चरन्ति' (भिक्षावृत्तिका अनुष्ठान करते हैं) इस तरह संन्यासका अधिकार है—ऐसा प्रतिपादन किया गया है।

और * 'त्यक्ताशेष०' (जो ऐहिक आमुष्मिक विषयभोगका त्याग करनेकी इच्छा रखता है, जो सम्पूर्ण नित्यनैमित्तिक क्रियाओंका परित्याग करके स्थित है और जो जीव ब्रह्मके ऐक्यको जाननेकी इच्छा करता है, उसीका वेदान्तशास्त्रोंमें अधिकार है) इस प्रकार वार्तिककारकी उक्तिसे ज्ञात होता है कि संन्यासजनित अपूर्वका ज्ञानके प्रति साधनभूत वेदान्तके श्रवण आदिमें अधिकारीके विशेषणरूपसे कथन है, अतः संन्यासका विद्यामें ही उपयोग है।

† कुछ लोग कहते हैं कि 'श्रवण आदिके अङ्ग होनेके कारण संन्यासका

* सम्बन्ध वार्तिकके १० वें पृष्ठमें यह श्लोक है [आनन्दाश्रम, पूना मुद्रित]।

† संन्यासका दृष्ट द्वारा विद्यामें उपयोग है, इस द्वितीय पक्षका अवलम्बन करके उसका समर्थन करते हैं। 'श्रवणाद्यङ्गतया' इत्यादि विवरणका तात्पर्य यह है कि कुछ समयके लिए अनुष्ठित श्रवण विद्योदयद्वारा अमृतत्वका साधन नहीं हो सकता, किन्तु सर्वदा किया हुआ

विवरणोक्तेरनन्यव्यापारतया श्रवणादिनिष्पादनं कुर्वतस्तस्य विद्यायामुपयोगः, दृष्टद्वारे सम्भवति अदृष्टकल्पनायोगात्। यदि त्वनलसस्य धीमतः पुरुषधौरेयस्याऽऽश्रमान्तरस्थस्याऽपि कर्मच्छिद्रेषु श्रवणादि सम्पद्यते,

फल ब्रह्मज्ञान सिद्ध ही है' इस प्रकारकी विवरणकारकी उक्तिसे अनन्यव्यापाररूपसे श्रवण आदिकी उत्पत्ति कराता हुआ सन्न्यास विद्यामें ही उपयोगी है, जब दृष्ट द्वार मिल सकता है, तब तो अदृष्ट द्वारकी कल्पना करना अयुक्त ही है। यदि अन्य आश्रमस्थ होते हुए भी आलस्यरहित किसी बुद्धिमान् † धीर पुरुषको कर्मजालमें रहते श्रवण आदिकी उत्पत्ति हो

श्रवण ही अमृतत्वका (मोक्षका) साधन होता है, क्योंकि 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' 'आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया' इत्यादि अनेक श्रुति और स्मृतियाँ हैं' इसलिए अनन्यव्यापाररूपसे श्रवण आदिके अनुष्ठानका विधान करनेवाला शास्त्र संन्यासकी अवश्य अपेक्षा रखता है, अतः गृहस्थाश्रमी-प्रभृति अपने आश्रमस्थ कर्मोंमें सदा व्यग्र होनेके कारण श्रवण आदिका अनुष्ठान नहीं कर सकते हैं, इसी प्रकार विद्याके साधनरूपसे संन्यासका विधान करनेवाला शास्त्र भी द्वाररूपसे निरन्तर श्रवण आदिकी अपेक्षा करता है, क्योंकि संन्यास साक्षात् विद्याका साधन नहीं है, और यह भी कारण है कि जब दृष्ट द्वार मिलता हो, तो अदृष्ट द्वारकी कल्पना भी नहीं की जाती है, इसमें भी श्रवण आदि तत्त्वके व्यञ्जक होनेसे अर्थतः प्रधान हैं और तत्त्वका व्यञ्जक न होनेसे संन्यास गौण है, इस रीतिसे श्रवण आदिकी विधि और संन्यासकी विधिकी परस्पर अपेक्षा होनेके कारण एकवाक्यता होनेसे उन दो वाक्योंसे संन्यासरूप अङ्गसे युक्त मनननिदिध्यासनसहित श्रवणका विधान होता है, अतः संन्यासके श्रवणाङ्गत्वबोधक शास्त्रके न होनेपर भी कोई हानि नहीं है।

अथवा उक्त विवरणकारके कथनका भाव यह है कि श्रवणविधि अपने साधनरूपसे विक्षेपकी निवृत्ति और विक्षेपनिवृत्तिके प्रति साधन संन्यासकी अपेक्षा करती है, क्योंकि विक्षिप्तचित्त पुरुषकी श्रवण आदिके अनुष्ठानमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। गृहस्थ आदि भी अपने विहित कर्मोंके अनुष्ठान कालसे अतिरिक्त कालमें भी अनेक विषयोंसे व्यग्र होनेके कारण विक्षिप्त ही रहते हैं, और संन्यासविधिसे भी, जो कि विक्षेपनिवृत्तिरूप दृष्ट द्वारा श्रवण आदिका सम्पादन कराकर विद्याका सम्पादन कराती है, संन्यासका विधान होनेसे उसका चारितार्थ्य हो सकता है, तो अदृष्टद्वारा विद्याके साधनीभूत संन्यासका विधान नहीं हो सकता, इसलिए पूर्वप्रतिपादनप्रकारके अनुसार विद्याके अङ्गरूपसे संन्यासकी ही विद्या फल है, अदृष्ट द्वारा नहीं है, यह सिद्ध है, इस पक्षमें 'अनन्यव्यापारतया' इसका विक्षेपनिवृत्तिद्वारा, यह अर्थ विवक्षित है।

† विषयोंसे इन्द्रियोंको हटानेकी अर्थात् इन्द्रियनिग्रह करनेकी सामर्थ्य जिस पुरुषमें है, और जो सत्त्वगुणप्रधान है एवं विषयोंमें दोषदर्शन जिसने किया है, ऐसे पुरुषको सांसारिक पदार्थोंसे गृहस्थाश्रममें रहनेपर भी विक्षेप नहीं हो सकता है, अतः संन्यासका फल जो

तदा 'चतुर्ष्वाश्रमेषु संन्यासाश्रमपरिग्रहेणैव श्रवणादि निर्वर्तनीयम्' इति नियमोऽभ्युपेय इति ॥ ५ ॥

क्षत्रियादेरसन्न्यासाच्छ्रवणादि कथं भवेद् ।

संन्यास न होनेके कारण श्रवण क्षत्रियादिको कैसे हो सकता है ?

नन्वस्मिन् पक्षद्वये क्षत्त्रियवैश्ययोः कथं वेदान्तश्रवणाद्यनुष्ठानम्; सन्न्यासस्य ब्राह्मणाधिकारित्वाद् 'ब्राह्मणो निर्वेदमायाद्' 'ब्राह्मणो व्युत्थाय' 'ब्राह्मणः प्रव्रजेद्' इति सन्न्यासविधिषु ब्राह्मणग्रहणात् ।

'अधिकारिविशेषस्य ज्ञानाय ब्राह्मणग्रहः ।
न सन्न्यासविधिर्यस्माच्छ्रुतौ क्षत्रियवैश्ययोः ॥' इति-
वार्तिकोक्तेश्चेति चेत्,

तत्र केचन सन्न्यासमाहुः क्षत्रियवैश्ययोः ॥ ११ ॥

इस विषय कोई लोग कहते हैं कि क्षत्रिय और वैश्योंका भी संन्यास है ॥११॥

सकती है, तो यह नियम मानना चाहिए कि चारों आश्रमोंमें संन्यास आश्रमका ग्रहण करके ही श्रवण आदिका सम्पादन करना चाहिए ॥५॥

अब शङ्का होती है कि इन दो पक्षोंमें अर्थात् संन्यासके अधिकारीके प्रति विशेषणत्व और श्रवणाङ्गत्व पक्षमें क्षत्रिय और वैश्य वेदान्तके श्रवण आदिका अनुष्ठान कैसे कर सकते हैं, क्योंकि ब्राह्मण ही संन्यासमें अधिकारी है, कारण कि 'ब्राह्मणो०' (ब्राह्मण ही वैराग्यपूर्वक संन्यास करे) 'ब्राह्मणो व्युत्थाय' (ब्राह्मण संन्यासका ग्रहण करके) 'ब्राह्मणः प्रव्रजेत्' (ब्राह्मण संन्यासका ग्रहण करे) इत्यादि संन्यासके विधायक वाक्योंमें ब्राह्मणका ही ग्रहण किया गया है ।

और 'अधिकारिविशेषस्य०' (विशेष अधिकारीके परिज्ञानके लिए ब्राह्मणका ग्रहण किया गया है, क्योंकि श्रुतिमें कहींपर भी क्षत्रिय और वैश्यकी संन्यासविधि नहीं है) ऐसा वार्तिकका वचन भी है ।

विक्षेपका अभाव है, वह संन्याससे भिन्न साधन द्वारा भी प्राप्त होता है, इसलिए विधित्सित (विधानके लिए अभीष्ट) संन्यासकी श्रवणादिमें अपेक्षित विक्षेप-निवृत्तिके प्रति पक्षमें प्राप्ति और पक्षमें अप्राप्ति दोनों हो सकती है, अतः संन्यासविधिको अपूर्वविधि नहीं मानना चाहिए, किन्तु नियमविधि ही माननी चाहिए ।

अत्र केचित्—'यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्, गृहाद्वा, वनाद्वा' इत्याद्यविशेषश्रुत्या,

'ब्राह्मणः क्षत्रियो वाऽपि वैश्यो वा प्रव्रजेद् गृहात् ।
त्रयाणामपि वर्णानाममी चत्वार आश्रमाः ॥'

इति स्मृत्यनुगृहीततया क्षत्रियवैश्ययोरपि सन्न्यासाधिकारसिद्धेः श्रुत्यन्तरेषु ब्राह्मणग्रहणं त्रयाणामुपलक्षणम्; अत एव वार्तिकेऽपि 'अधिकारिविशेषस्य' इति श्लोकेन भाष्याभिप्रायमुक्त्वा—

'त्रयाणामविशेषेण सन्न्यासः श्रूयते श्रुतौ ।
यदोपलक्षणार्थं स्यात् ब्राह्मणग्रहणं तदा ॥'

इत्यनन्तरश्लोकेन स्वमते क्षत्रियवैश्ययोरपि सन्न्यासाधिकरो दर्शित इति तयोः श्रवणाद्यनुष्ठानसिद्धिं समर्थयन्ते ।

अन्ये तु ब्राह्मणस्यैव सन्न्यासो बहुधा श्रुतेः ।
देवादिवदसन्न्यासश्रवणं क्षत्रवैश्ययोः ॥ १२ ॥

कुछ लोग कहते हैं कि अनेक श्रुतियोंसे संन्यास केवल ब्राह्मणके लिए है, क्षत्रिय और वैश्यको देवादिके समान संन्यासके बिना श्रवण है ॥ १२ ॥

इस आक्षेपके समाधानमें कोई लोग कहते हैं कि 'यदि वेतरथा०' (यदि ब्रह्मचर्य अवस्थामें ही वैराग्य उत्पन्न हुआ, तो ब्रह्मचर्यावस्थासे ही संन्यासका परिग्रहण करना चाहिए अथवा गृहस्थाश्रमसे या वानप्रस्थसे संन्यास लेना चाहिए) इस श्रुतिसे,

'ब्राह्मणः क्षत्रियो वाऽपि०' (ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य गृहस्थाश्रमसे संन्यासी हो सकते हैं, क्योंकि तीनों वर्णोंके लिए ये चार आश्रम हैं) इस स्मृतिके अनुगृहीत रूपसे, क्षत्रिय और वैश्यका भी संन्यासमें अधिकार सिद्ध है, अतः अन्य श्रुतियोंमें ब्राह्मणग्रहण तीनों वर्णोंका उपलक्षण है, इसीलिए वार्तिकमें 'अधिकारिविशेषस्य' इत्यादिसे भाष्यके अभिप्रायको कहकर—

'त्रयाणाम्०' (जब कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनोंका श्रुतिमें सामान्यरूपसे श्रवण होता है, तब ब्राह्मणशब्द तीनों वर्णोंका उपलक्षण ही है) इस प्रकारके पीछेके श्लोकसे अपने मतमें वार्तिककारने क्षत्रिय और वैश्यके भी श्रवण आदिके अनुष्ठानमें अधिकारका समर्थन किया है ।

अन्ये त्वनेकेषु सन्न्यासविधिवाक्येषु ब्राह्मणग्रहणात् उदाहृतजाबालश्रुतौ सन्न्यासविधिवाक्ये ब्राह्मणग्रहणाभावेऽपि श्रुत्यन्तरसिद्धं ब्राह्मणाधिकारमेव सिद्धं कृत्वा 'सन्न्यासावस्थायामयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मणः' इति ब्राह्मणपरामर्शाच्च ब्राह्मणस्यैव सन्न्यासाधिकारः। विरोधाधिकरणन्यायेन (पू० मी० अ० १ पा० ३ अधि० २) श्रुत्यविरुद्धस्यैव स्मृत्यर्थस्य

भाष्यका अनुसरण करनेवाले कई लोग कहते हैं कि संन्यासके विधायक अनेक वाक्योंमें ब्राह्मणशब्दके ग्रहणसे 'यदि वेतरथा' इत्यादि जाबालश्रुतिके संन्यासविधायक वाक्यमें ब्राह्मणग्रहणके न होनेपर भी अन्य श्रुतिसे सिद्ध अर्थात् 'ब्राह्मणो व्युत्थाय' इत्यादि श्रुतिसे ब्राह्मणका अधिकार निश्चित करके 'संन्यासावस्थायाम्' (संन्यासावस्थामें यज्ञोपवीत न होनेके कारण वह कैसे ब्राह्मण* हो सकता है ?) इस प्रकार ब्राह्मणका परामर्श करके संन्यासमें ब्राह्मणके ही अधिकारका प्रतिपादन किया गया है। क्योंकि विरोधाधिकरण न्यायसे† उसी स्मृतिके अर्थका परिग्रहण करना चाहिए, जो श्रुतिसे विरुद्ध

* अर्थात् तन्तुनिर्मित यज्ञोपवीत आदि ही ब्राह्मणत्वके व्यञ्जक हैं, अतः तन्तुनिर्मित यज्ञोपवीत आदिके न होनेसे यह परमहंस संन्यासी ब्राह्मण कैसे हो सकता है, यह आक्षेपका अभिप्राय है, यदि प्रकृतमें क्षत्रिय और वैश्यका भी संन्यास विवक्षित होता, तो 'कथं ब्राह्मणः' इसके समान 'कथं क्षत्रियः' 'कथं वैश्यः' ऐसा भी सुना जाता, परन्तु नहीं सुना जाता है, अतः उनका संन्यासमें अधिकार नहीं है, यह समुदितका भाव है।

† इस अधिकरणमें श्रुति और स्मृतिके विरोधमें श्रुतिका ही प्रामाण्य अङ्गीकार किया गया है, जैसे कि ऐन्द्र यागमें सुना जाता है कि 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्' और 'औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या' पूर्वकी श्रुति है और दूसरी कात्यायनस्मृति है। औदुम्बरीसे उदुम्बरकी शाखा अथवा उदुम्बरकी बनाई हुई पशु बन्धनके लिए स्थूणा—यूप—विवक्षित है, इस अवस्थामें दोनोंका एक समय यागमें अनुष्ठान नहीं हो सकता, क्योंकि यदि स्मृतिके अनुसार औदुम्बरीका वस्त्रसे वेष्टन करेंगे, तो उसका स्पर्श नहीं हो सकेगा, श्रुतिके अनुसार स्पर्श माने, तो वेष्टन नहीं होगा, इसपर सिद्धान्त किया गया है—'श्रुत्या स्मृतिर्बाध्यते' अर्थात् श्रुतिसे स्मृतिका बाध होता है, इससे कात्यायनस्मृतिका उक्त श्रुतिसे बाध होगा, क्योंकि स्मृतिका प्रामाण्य श्रुतिमूलक है, स्वतः नहीं, और उक्त स्मृतिसे श्रुतिकी कल्पना भी नहीं कर सकते, क्योंकि प्रत्यक्ष 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्' इत्यादि श्रुतिसे उसकी कल्पकत्वशक्ति व्याहत होगी, प्रकृतमें भी 'तस्माद् ब्राह्मणः' इत्यादि श्रुतिमें संन्यासके अनुरोधसे 'ब्राह्मण संन्यास लेकर पाण्डित्य आदिका अनुष्ठान करे' इस प्रकारके वाक्यार्थका लाभ होनेसे 'विविदिषु द्वारा क्रियमाण विद्यार्थ संन्यासमें ब्राह्मणका ही अधिकार है' यह भगवान् वार्तिककारका मत है, यदि वार्तिकवचनका तात्पर्य

सङ्ग्राह्यत्वात् । यत्तु सन्न्यासस्य सर्वाधिकारित्वेन वार्तिकवचनं तत् विद्वत्संन्यासविषयम्, न तु आतुरविविदिषासन्न्यासे भाष्याभिप्रायविरुद्ध-सर्वाधिकारप्रतिपादनपरम् ।

'सर्वाधिकारविच्छेदि विज्ञानं चेदुपेयते ।
कुतोऽधिकारनियमो व्युत्थाने क्रियते बलात् ॥'

इत्यनन्तरश्लोकेन ब्रह्मज्ञानोदयानन्तरं जीवन्मुक्तिकाले विद्वत्संन्यास

नहीं हो । और जो कि 'संन्यासमें सभी त्रैवर्णिकोंका अधिकार है' इस अर्थकी पुष्टिमें पूर्वमें वार्तिककारका वचन दिया गया है' वह तो विद्वत्संन्यासविषयक है, आतुर और विविदिषासंन्यासमें भाष्यसे असम्मत सभीके* अधिकारका प्रतिपादनविषयक नहीं है ।

*'सर्वाधिकार०' (क्षत्रिय और वैश्यको यदि सर्वाधिकारविच्छेदी विज्ञान हो जाय, तो सम्पूर्ण कर्मकी निवृत्तिरूप विद्वत्संन्यासमें भी विविदिषासंन्यासके समान ब्राह्मणोंका अधिकार है, यह नियम किस बलसे कर सकते हैं ? अर्थात् किसी प्रमाणके बलसे नहीं कर सकते हैं' इस प्रकारके पीछेके श्लोकसे ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्तिके बाद जीवन्मुक्तिकालमें विद्वत्संन्यासमें ही अधिकारके

भाष्यविरुद्ध अर्थमें माना जाय, तो संन्यासका सर्वसाधारणरूपसे प्रतिपादन करनेवाले स्मृतिवचनके समान वार्तिकवचन भी हेय-त्याज्य होगा, अतः वार्तिकवचन भी भाष्यके अविरुद्ध अर्थमें ही पर्यवसन्न है, इसी अभिप्रायसे 'तद् विद्वत्संन्यासविषयम्' इस अग्रिम मूलका उल्लेख किया गया है ।

* विविदिषासंन्यासमें सभीका अधिकार नहीं है, इसमें यह दूसरा भी हेतु है, तात्पर्य यह है—क्षत्रिय और वैश्यके तत्त्वज्ञानका अधिकार है या नहीं ? यदि नहीं है, तो जनक प्रभृतिके तत्त्वज्ञानके प्रतिपादक अनेक वचन विरुद्ध होंगे । यदि है, तो तत्त्वज्ञानसे कर्माधिकार प्रयोजक वर्णाश्रमादि अध्यासकी निवृत्ति होनेसे सकलकर्मनिवृत्तिरूप विद्वत्संन्यासमें क्षत्रिय और वैश्यके अधिकारका वारण नहीं कर सकते हैं, अतः विविदिषासंन्यासके समान विद्वत्संन्यासमें भी ब्राह्मणका ही अधिकार है, यह नियम नहीं बनेगा, विविदिषासंन्यास उसको कहते हैं—जिसका कि इस जन्ममें या जन्मान्तरमें अनुष्ठित वेदानुवचन आदिसे उत्पन्न ब्रह्मज्ञानकी इच्छासे ग्रहण किया जाय अर्थात् जिसमें दण्ड आदिका ग्रहण किया जाता है, ऐसा परमहंसाश्रम । और विद्वत्संन्यास उसे कहते हैं—जिसका कि श्रवण, मनन और निदिध्यासनसे परतत्त्वको जानकर ग्रहण किया जाता है, जैसे कि याज्ञवल्क्य प्रभृतिने ग्रहण किया था ।

एवाऽधिकारनियमनिराकरणात् । एवं च ब्राह्मणानामेव श्रवणाद्यनुष्ठाने सन्न्यासोऽङ्गम् ; क्षत्रियवैश्ययोस्तन्निरपेक्षः श्रवणाद्यधिकार इति तयोः श्रवणाद्यनुष्ठाननिर्वाहः । नहि सन्न्यासस्य श्रवणापेक्षितत्वपक्षे श्रवणमात्रस्य तदपेक्षा नियन्तुं शक्यते; क्रममुक्तिफलकसगुणोपासनया देवभावं प्राप्तस्य श्रवणादौ सन्न्यासनैरपेक्ष्यस्याऽवश्यं वक्तव्यत्वाद् देवानां कर्मानुष्ठानाप्रसक्त्या तत्त्यागरूपस्य सन्न्यासस्य तेष्वसम्भवादित्याहुः ।

ब्रह्मसंस्थश्रुतेर्न्यासी मुख्यः श्रवणविद्ययोः ।
क्षत्रियादेरनुमतिं जन्मान्तरफलां परे ॥ १३ ॥

'ब्रह्मसंस्थो' इत्यादि श्रुतिसे श्रवण और विद्यामें संन्यासी ही मुख्य अधिकारी हैं, और क्षत्रिय आदिकी जन्मान्तरमें फलके लिए श्रवणकी अनुमति है ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं ॥ १३ ॥

नियमका खण्डन किया गया है । एवञ्च अर्थात् श्रवणके अङ्गरूपसे अथवा अधिकारीके विशेषणरूपसे विद्याके साधन विविदिषासंन्यासमें ब्राह्मणका ही अधिकार है, ऐसा सिद्ध होनेपर यह फलित होता है—ब्राह्मणोंके ही श्रवण आदिके अनुष्ठानमें संन्यास अङ्ग है और क्षत्रिय एवं वैश्यका संन्यासके बिना ही श्रवण आदिके अनुष्ठानमें अधिकार है, अतः उनके श्रवण आदिका अनुष्ठान उपपन्न हो सकता है, और संन्यासके श्रवणापेक्षित्वपक्षमें अर्थात् श्रवणके अङ्गरूपसे या अधिकारीके विशेषणरूपसे श्रवण संन्यासकी अपेक्षा रखता है, इस पक्षमें श्रवणमात्रको (अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य आदि सभीके श्रवणको) संन्यासकी अपेक्षा है, ऐसा नियम भी नहीं कर सकते हैं, क्योंकि क्रमसे मुक्ति जिसका फल है, ऐसी सगुण उपासनासे देवभावको† जो प्राप्त हुआ है, उसके श्रवण आदिमें संन्यासकी अपेक्षा अवश्य कहनी होगी, परन्तु देवताओंको कर्मानुष्ठानकी प्राप्ति ही नहीं है, अतः उसका त्यागरूप संन्यास हो ही नहीं सकता है ।

---

† देवभावको प्राप्त हुए सगुण उपासकके श्रवणमें संन्यासका व्यभिचार है, यह कथन अयुक्त है, क्योंकि उसे सगुण विद्याकी सामर्थ्यसे ही निर्गुण ब्रह्मका साक्षात्कार हो सकता है, इसलिए श्रवण आदिका अनुष्ठान व्यर्थ है, यदि इस प्रकार शङ्का हो, तो अयुक्त है, क्योंकि देवताधिकरणमें देवभावको प्राप्त हुए उपासकको लेकर श्रवणादिमें देव आदिके अधिकारका निरूपण किया गया है, अतः उनको भी श्रवण आदिके बिना विद्या नहीं हो सकती

अपरे तु 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इति श्रुत्युदिता यस्य ब्रह्मणि संस्था—समाप्तिः—अनन्यव्यापारस्वरूपं तन्निष्ठात्वम्—तस्य श्रवणादिषु मुख्याधिकारः।

'गच्छतस्तिष्ठतो वाऽपि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा।
न विचारपरं चेतो यस्याऽसौ मृत उच्यते॥'
'आसुप्तेरामृतेः कालं नयेत् वेदान्तचिन्तया।'

इत्यादिस्मृतिषु सर्वदा विचारविधानात्। सा च ब्रह्मणि संस्था विना सन्न्यासमाश्रमान्तरस्थस्य न सम्भवति; स्वस्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानवैयग्र्यात् इति सन्न्यासरहितयोः क्षत्रियवैश्ययोर्न मुख्यः श्रवणाद्यधिकारः।

---

*कुछ लोग कहते हैं कि 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इस श्रुतिसे प्रतिपादित जिसकी ब्रह्ममें संस्था—समाप्ति अर्थात् दूसरे सब व्यापारको छोड़कर केवल ब्रह्ममें निष्ठा है, उसीका श्रवणमें अधिकार है।

'गच्छतः०' (जागते, सोते, जाते और बैठते हुए जिस पुरुषका चित्त ब्रह्मविचारसे युक्त नहीं है, उसे मरा हुआ समझना चाहिए, सोने और मरने तक वेदान्तविचारसे ही समयका यापन करना चाहिए') इत्यादि स्मृतिसे सदा ब्रह्मविचारका ही विधान किया गया है। और इस प्रकारकी जो ब्रह्ममें संस्था है, वह संन्यासके बिना अन्य आश्रममें रहकर नहीं हो सकती, क्योंकि अपने अपने आश्रममें विहित कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे चित्तकी व्यग्रता हो सकती है, अतः संन्याससे रहित क्षत्रिय और वैश्यका श्रवण आदिमें मुख्य अधिकार†

है, इसलिए व्यभिचार होनेके कारण संन्यास श्रवणमात्रका अङ्ग नहीं है, किन्तु ब्राह्मणकर्तृक श्रवणका ही संन्यासको अङ्ग है, अतः क्षत्रिय और वैश्यका संन्यासमें अधिकार न रहनेपर भी श्रवण आदिका निर्वाह हो सकता है, यह भाव है।

ⓐ देवकर्तृकश्रवणमें संन्यासाश्रमका यदि व्यभिचार है, तो उसका निवारण करनेके लिए त्रैवर्णिक मनुष्योंके श्रवणमें ही संन्यासाश्रमको हेतु मानना चाहिए, ब्राह्मणमात्रकर्तृक श्रवणमें संन्यासाश्रमकी हेतुता नहीं माननी चाहिए, क्योंकि वैसे संकोचमें कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि आगे ही कहा है कि चार आश्रमोंमें संन्यासाश्रमका परिग्रह करके ही श्रवण आदिका सम्पादन करना चाहिए, और आश्रमविभाग तीनों वर्णोंके लिए साधारण है, केवल ब्राह्मणके लिए नहीं है। इस अवस्थामें ब्राह्मण-संन्यासीके समान संन्याससे हीन क्षत्रिय और वैश्यका श्रवणमें अधिकार कैसे हो सकता है, इस अस्वरससे यह 'अपरे तु' मत कहा जाता है।

† तात्पर्य यह है 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' इस श्रुतिसे पाण्डित्य श्रुतिके समान ब्रह्मनिष्ठाधर्मवाले संन्यासाश्रमका विधान होता है, क्योंकि ब्रह्मसंस्थाशब्दसे कहलानेवाली ब्रह्मनिष्ठा

किं तु 'दृष्टार्था च विद्या प्रतिषेधाभावमात्रेणाऽप्यर्थिनमधिकरोति श्रवणा-

नहीं है। किन्तु 'प्रतिषेधाभावमात्रसे‡ दृष्टार्थ विद्या श्रवण आदिमें अर्थी पुरुषको

संन्यासाश्रममें ही हो सकती है, इस प्रकार संन्यासाधिकरण भाष्यमें प्रतिपादन किया गया है, इसलिए ब्रह्मनिष्ठाका संन्यासके धर्मरूपसे विधान होनेके कारण ब्राह्मणसंन्यासीकी ब्रह्मनिष्ठा धर्म है, अतः संन्यासीका श्रवण आदिमें मुख्य अधिकार है, क्योंकि ब्रह्मनिष्ठाके व्यतिक्रमसे प्रत्यवाय सुना जाता है—

'काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः।
स याति नरकान् घोरान् महारौरवसंज्ञकान्॥' (परमहंसोपनिषत्)

अर्थात् संन्यास आश्रमका धारण करनेवाला पुरुष ज्ञानरहित होकर अपनी बाह्य, और आभ्यन्तर इन्द्रियोंको यदि काबूमें नहीं रखता है, तो वह महारौरव आदि नरकोंमें गिरता है। और जैसे संन्यासीकी ज्ञाननिष्ठाका विधान करनेवाली *'संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्'* 'गच्छतस्तिष्ठतो वाऽपि' इत्यादि अनेक स्मृतियां हैं, वैसे ही उनका परित्याग करनेसे वह पतित होता है, इस अर्थकी प्रतिपादिका स्मृतियां भी अनेक हैं—

'त्वंपदार्थविवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणाम्।
श्रुत्या विधीयते यस्मात्तत्यागी पतितो भवेत्॥
नित्यं कर्म परित्यज्य वेदान्तश्रवणं विना।
वर्तमानस्तु संन्यासी पतत्येव न संशयः॥'

अर्थात् 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यघटक त्वंपदके विवेकके लिए सब कर्मोंके त्यागरूप संन्यासका श्रुतिसे विधान किया गया है, इसलिए संन्यासके त्याग देनेसे पतित होता है, अपने नित्यकर्मका परित्याग करके वेदान्तश्रवण आदि कुछ नहीं करता है, तो वह संन्यासी पतित हो जाता है। और अपने आश्रमधर्मका परित्याग करनेसे महान् अनर्थ होता है। इस विषयमें सच्चिदानन्द आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णने अपने साक्षात् श्रीमुखसे भी कहा है कि—

'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥'

अर्थात् अपना स्वकीय धर्म भले ही विगुण हो, परन्तु दूसरे धर्मोंसे अच्छा ही है, अतः अपने धर्ममें मरना भी अच्छा है, परन्तु परधर्मका अनुष्ठान भयावह है। इन सब प्रमाणोंके ऊपर दृष्टि रखते हुए भगवान् भाष्यकारने उस संन्यासीके लिए, जो संन्यासी अनन्यभावनासे श्रवण आदि नहीं करता है, पातित्यका भी सूचन किया है—'शम, दम आदिसे वर्धित ब्रह्मनिष्ठा ही संन्यासीका स्वकीय आश्रमविहित धर्म है, और अन्य लोगोंका यज्ञ आदि धर्म है, उनका अनुष्ठान न करनेसे उनको प्रत्यवाय होता है' इत्यादि। इससे श्रवण आदिका भिक्षुके प्रति विधान होनेसे और उनके न करनेसे प्रत्यवायका श्रवण होनेसे संन्यासीका ही श्रवणादिमें मुख्य अधिकार है, और संन्यास-आश्रमसे जो विधुर हैं, उनके प्रति श्रवण आदिका विधान न होनेसे और प्रत्यवायकी श्रुति न होनेसे उनका श्रवण आदिमें मुख्य अधिकार नहीं है।

‡ दृष्टफल—अज्ञाननिवृत्तिरूप दृष्ट फल है—जिसका, ऐसी विद्या प्रतिषेधाभावमात्रसे अर्थात् विघातक निषेधके अभावसे पुरुषको श्रवण आदिमें प्रवृत्त कराती है, श्रवणके लिए

दिषु' इति 'अन्तरा चाऽपि तु तद्दृष्टेः' इत्यधिकरणभाष्योक्तन्यायेन शूद्रवदप्रतिषिद्धयोस्तयोर्विधुरादीनामिव देहान्तरे विद्याप्रापकेणाऽमुख्याधिकारमात्रेण श्रवणाद्यनुमतिः। नहि 'अन्तरा चाऽपि तु तद्दृष्टेः' इत्यधिकरणे विधुरादीनामङ्गीकृतश्रवणाद्यधिकारो मुख्य इति वक्तुं शक्यते; 'अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च' (उ० मी० अ० ३ पा० ४ सू० ३९)

अधिकृत करती है' इस प्रकारके 'अन्तरा चाऽपि' इत्यादि अधिकरणोक्त भाष्यके अभिप्रायसे शूद्रके समान अप्रतिषिद्ध क्षत्रिय और वैश्यका विधुर आदिके समान जन्मान्तरमें विद्याको× प्राप्त करानेवाले अमुख्याधिकारमात्रसे श्रवण आदिमें अनुमति दी गई है। और 'अन्तरा चाऽपि' इस अधिकरणमें विधुर आदि पुरुषका जो श्रवण आदिमें अधिकार स्वीकार किया गया है, वह मुख्य है, ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि 'अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च'* इस प्रकार

संन्यासकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि श्रवणके प्रति संन्यास अङ्ग नहीं है, यह भाव है, यह भाष्यकी पंक्ति 'विशेषानुग्रहश्च' (ब्र० अ० ३ पा० ४ सू० ३८) इस सूत्रके अन्तिम भाष्यभागमें है।

× तात्पर्य यह है कि मुख्य अधिकारियों द्वारा प्रतिदिन किये जानेवाले श्रवण आदि जो अससङ्कुचित ब्रह्मचर्य, अहिंसा, शम, दम आदिसे युक्त हैं, इसी जन्ममें प्रायः विद्याके उत्पादक हैं, और जो मुख्य अधिकारी नहीं हैं, उनके अनन्यव्यापारत्वके न होनेके कारण श्रवण आदि इस जन्ममें विद्याके उत्पादनमें योग्य नहीं हैं, किन्तु भावी अनेक जन्मोंसे विशिष्ट श्रवण आदिका सम्पादन करके अन्य देहमें विद्याकी उत्पत्ति होगी, इसलिए गौण और मुख्य अधिकारीमें महान् फलभेद है, इसमें प्रमाण स्मृति भी है—

'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'।

अर्थात् अनेक जन्मोंमें सिद्ध (ज्ञानी) होकर उत्कृष्ट गतिको प्राप्त करता है।

* 'अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च' इस सूत्रका यह अर्थ है—अनाश्रमी पुरुषों द्वारा अनुष्ठित विद्यासाधनोंकी अपेक्षा आश्रमियों द्वारा अनुष्ठित विद्यासाधन श्रेष्ठ हैं, क्योंकि इस अर्थमें श्रुति और स्मृति प्रमाण हैं 'तेनेति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्' यह श्रुति और 'अनाश्रमी न तिष्ठेत' इत्यादि स्मृति प्रमाण हैं, पुण्यवान् पुरुष पुण्यसे प्राप्त ज्ञानसे ब्रह्म पाता है, यह उक्त श्रुतिका अर्थ है। इसमें पुण्यरूपसे प्रसिद्ध आश्रमधर्मोंकी ही विशेषरूपसे ब्रह्मप्राप्तिके प्रति साधनताका प्रतिपादन किया गया है, इसलिए यद्यपि अनाश्रमी पुरुषोंसे सम्पादित धर्म 'विशेषानुग्रहश्च' इस सूत्रके अनुसार विद्याके उपयोगी हैं, तथापि उनका अपकर्ष ही प्रतीत होता है, और वह अपकर्ष विद्यार्थ श्रवण आदि कर्मोंमें विधुर आदिका अमुख्य अधिकार होनेसे ही है, क्योंकि ऐसा माननेमें और कोई कारण नहीं है और अनाश्रमित्वकी निन्दा भी की गई है, इससे कर्म और ज्ञानमें मुख्याधिकारी निन्दाका पात्र नहीं है, यह सूत्र और भाष्यका अभिप्राय है, यह भाव है।

तेषाममुख्याधिकारस्फुटीकरणात् । न च तत्र तेषां श्रवणाद्यधिकार एव नोक्तः, किन्तु तदीयकर्मणां विद्याऽनुग्राहकत्वमिति शङ्क्यम्; 'दृष्टार्था च विद्या' इत्युदाहृततदधिकरणभाष्यविरोधात् । न च क्षत्रियवैश्ययोः सन्न्यासाभावाद् अमुख्याधिकारे तत एव देवानामपि श्रवणादिष्वमुख्य एवाऽधिकारः स्यात्, तथा च क्रममुक्तिफलकसगुणविद्यया देवदेहं प्राप्य श्रवणाद्यनुतिष्ठतां विद्याप्राप्त्यर्थं सन्न्यासार्हं पुनर्ब्राह्मणजन्म वक्तव्यमिति 'ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते' 'न च पुनरावर्तते' 'अनावृत्तिश्शब्दाद्' इत्यादिश्रुतिसूत्रविरोध इति वाच्यम्, देवानामनुष्ठेयकर्मवैयग्र्याभावात् स्वत एवानन्यव्यापारत्वं सम्भवतीति क्रममुक्तिफलकसगुणविद्याभिधायिशास्त्रप्रामाण्याद्विनाऽपि संन्यासं तेषां मुख्याधिकाराभ्युपगमादित्याहुः ॥ ६ ॥

के सूत्रसे सूत्रकारने ही उनके अमुख्य अधिकारका स्पष्टीकरण किया है। यदि शङ्का हो कि विधुराधिकरणमें विधुर आदिका श्रवण आदिमें अधिकार ही नहीं कहा गया है, किन्तु उनके द्वारा किये गये कर्म विद्यानुग्राहक अर्थात् विद्योत्पादक हैं, यह कहा गया है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'दृष्ट प्रयोजनके लिए विद्या है' इत्यादि पूर्व कथित अन्तराधिकरणोक्त भाष्यसे विरोध होगा। यदि शङ्का हो कि क्षत्रिय और वैश्यका संन्यास न होनेसे यदि श्रवण आदिमें अधिकार मुख्य नहीं है, तो देवोंको संन्यासमें अधिकार न होनेके कारण उनका भी श्रवण आदिमें अमुख्य अधिकार ही होगा। इस परस्थितिमें क्रमशः युक्तिरूप फल देनेवाली सगुण विद्यासे देवताशरीरको प्राप्त करके श्रवण आदिका अनुष्ठान करनेवाले जीवोंको विद्याकी प्राप्तिके लिए संन्यासयोग्य फिर ब्राह्मण जन्म होगा, यह कहना पड़ेगा, इस परिस्थितिमें 'ब्रह्मलोक०' (ब्रह्मलोक प्राप्त करता है) 'न च पुन०' (ब्रह्मलोक प्राप्त करके फिर इस लोकमें नहीं आता है) 'अनावृत्तिः शब्दात्०' (उक्त दो श्रुतियोंसे ज्ञात होता है कि ब्रह्मलोकसे पुनः आना नहीं पड़ता है) इत्यादि श्रुति और सूत्रके साथ विरोध होगा, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि देवताओंको विधेय कर्मोंसे व्यग्रता नहीं है, इससे स्वतः ही अनन्यव्यापारता हो सकती है, इसलिए क्रमशः मुक्ति देनेवाली सगुण विद्याका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रके प्रामाण्यसे संन्यासके विना भी उनका श्रवणादि में अधिकार मुख्य है; ऐसा स्वीकार किया जाता है ॥६॥

श्रवणं नन्वसन्न्यासं जन्मान्तरफलं कथम् ।
दृष्टार्थत्वाददृष्टस्यासाङ्गत्वेनाप्यसंभवात् ॥ १४ ॥

संन्याससे रहित श्रवण जन्मान्तरीय फलके प्रति हेतु कैसे होगा ? क्योंकि श्रवण दृष्टार्थक है, उसका फल अदृष्ट भी नहीं हो सकता है, क्योंकि वह संन्यासरूप अङ्गसे युक्त नहीं है ॥ १४ ॥

नन्वमुख्याधिकारिणा दृष्टफलभूतवाक्यार्थावगत्यर्थमविहितशास्त्रान्तरविचारवत् क्रियमाणो वेदान्तविचारः कथं जन्मान्तरविद्याऽवाप्तावुपयुज्यते । न खलु विचारस्य दिनान्तरीयविचार्यावगतिहेतुत्वमपि युज्यते । दूरे जन्मान्तरीयतद्धेतुत्वम् । न च वाच्यं मुख्याधिकारिणा परिव्राजकेन क्रियमाणमपि श्रवणं दृष्टार्थमेव, अवगतेर्दृष्टार्थत्वात् । तस्य यथा प्रारब्धकर्मविशेषरूपप्रतिबन्धादिह जन्मनि फलमजनयतो जन्मान्तरे प्रतिबन्धकापगमेन फलजनकत्वम् 'ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनाद्' इत्यधिकरणे (उ०

अब शङ्का होती है कि प्रत्यक्ष फलरूप वाक्यार्थज्ञानके लिए अमुख्य अधिकारी द्वारा किया गया वेदान्त-विचार अविहित अन्य न्याय आदि शास्त्रोंके विचारके समान भावी जन्मान्तरकी विद्यामें उपयुक्त कैसे होगा ? क्योंकि (आजका) विचार (कलके) विचार्य अर्थके ज्ञानके प्रति भी हेतु नहीं हो सकता है, तो फिर (इस जन्मके) विचारमें जन्मान्तरके विचार्य अर्थके ज्ञानके प्रति हेतुता कैसे हो सकती है अर्थात् कभी नहीं हो सकती । यदि कोई कहे कि जिस प्रकार मुख्याधिकारी परिव्राजकसे (संन्यासीसे) किये गये श्रवणका भी फल दृष्ट ही है, क्योंकि अवगति—विद्या—दृष्ट अर्थ है, और प्रारब्ध कर्मविशेषके प्रतिबन्धसे इस जन्ममें वह श्रवण यद्यपि दृष्टफलकी उत्पत्ति नहीं कर सकता है, तथापि दूसरे जन्ममें प्रतिबन्धकके निरसनसे अवश्य उसमें फलजनकता है, * ऐसा 'ऐहिकमप्य०' इत्यादि अधिकरणमें निर्णय किया गया

* शङ्काका भाव यह है कि जैसे मुख्य अधिकारी द्वारा सम्पादित श्रवण किसी प्रतिबन्धककी सामर्थ्यसे इस जन्ममें विद्योदय नहीं करता है, और जन्मान्तरमें उस प्रतिबन्धकके निरसन द्वारा विद्याके प्रति कारण होता है, वैसे ही असुख्याधिकारी द्वारा सम्पादित श्रवण जन्मान्तरमें प्रतिबन्धकके विगम द्वारा विद्याके प्रति साधन हो सकता है, इस अर्थका 'ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' इस सूत्रमें निर्णय भी किया गया है, सूत्रका अर्थ है कि किसी प्रस्तुत प्रतिबन्धके न रहते इसी जन्ममें विद्या उत्पन्न होती है, यदि कोई प्रतिबन्धक

मी० अ० ३ पा० ४ सू० ५१) तथा निर्णयाद्, एवममुख्याधिकारिकृतस्यापि स्यादिति। यतश्शास्त्रीयाङ्गयुक्तं श्रवणमपूर्वविधित्वपक्षे फलपर्यन्तमपूर्वम्, नियमविधित्वपक्षे नियमादृष्टं वा जनयति। तच्च जातिस्मरत्वप्रापकादृष्टवत् प्राग्भवीयसंस्कारमुद्बोध्य तन्मूलभूतस्य विचारस्य जन्मान्तरीयविद्योपयोगितां घटयतीति युज्यते। शास्त्रीयाङ्गविधुरं श्रवणं नादृष्टोत्पादकमिति कुतस्तस्य जन्मान्तरीयविद्योपयोगित्वमुपपद्यते। घटकादृष्टं विना जन्मान्तरीयप्रमाणव्यापारस्य जन्मान्तरीयावगतिहेतुत्वोपगमे अतिप्रसङ्गात्।

है, उसी प्रकार अमुख्य अधिकारीसे किये गये श्रवणमें भी जन्मान्तरीय विद्याकी हेतुता हो सकती है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि शास्त्रीय अङ्ग-संन्यासमे युक्त श्रवण अर्थात् संन्यासी द्वारा अनुष्ठित श्रवण † अपूर्वविधिपक्षमें विद्यारूप फलकी उत्पत्ति तक अदृष्टकी उत्पत्ति करता है और नियमविधिपक्षमें ‡ नियमविशिष्ट होकर उक्त श्रवण फलपर्यन्त नियमादृष्टको उत्पन्न करता है, और इस प्रकारका श्रवणजन्य उभयविध अदृष्ट जैसे पूर्वजन्मका स्मरणसम्पादक अदृष्ट पूर्वजन्म और तदीय वृत्तान्तके अनुभवजन्य संस्कारके इस जन्ममें उद्बोधन द्वारा पूर्वजन्म और उसके वृत्तान्तका स्मरण कराता है, वैसे ही पूर्व जन्मके श्रवण आदिसे उत्पन्न हुए संस्कारका उद्बोधन करके उस संस्कारके कारणीभूत श्रवणकी भावी जन्ममें विद्याके प्रति उपयोगिताका सम्पादन कर सकता है। * शास्त्रीय अङ्गसे रहित श्रवण अदृष्टका उत्पादक नहीं होता है, इसलिए ऐसे श्रवणको जन्मान्तरीय विद्यामें उपयोगी मानना कैसे उपपन्न हो सकता है ? यदि घटक (सम्पादक) अदृष्टके बिना जन्मान्तरीय प्रमाणोंका व्यापार जन्मान्तरीय विद्याका हेतु माना जाय, तो अतिप्रसङ्ग होगा, अर्थात् जन्मान्तरके अनुभूत सकल पदार्थोंका स्मरण प्रसक्त होगा, यह भाव है।

रह जाय, तो जन्मान्तरमें होती है, क्योंकि प्रतिबन्धोंके इसी जन्ममें रहते जन्मान्तरमें विद्याकी उत्पत्ति होती है, यह वामदेव प्रभृतिमें देखा जाता है।

† जिस पक्षमें श्रवणविधि अपूर्वविधि है, उस पक्षमें, यह अर्थ है।

‡ जिस पक्षमें श्रवणविधि नियमविधि है, उस पक्षमें, यह अर्थ है, इन दोनोंका उपपादन प्रथम परिच्छेदमें विधिनिरूपण के प्रसङ्गमें सविस्तर किया गया है।

उच्यते यज्ञजादृष्टजातमेतत्फलावधि ।
उत्पाद्य तेन निर्वाह्यमिति न द्वारकल्पना ॥१५॥

कहते हैं—यज्ञजन्य विविदिषोत्पादक विद्यारूप फलपर्यन्तस्थायी अदृष्टकी उत्पत्ति करके उसी अदृष्ट द्वारा जन्मान्तरीय श्रवण जन्मान्तरीय फलका हेतु हो सकता है, फिर श्रवणविधिजन्य अपूर्वाख्य द्वारकी कल्पना नहीं करनी चाहिए॥ १५ ॥

उच्यते—अमुख्याधिकारिणाऽपि उत्पन्नविविदिषेण क्रियमाणं श्रवणं द्वारभूतविविदिषोत्पादकप्राचीनविद्यार्थयज्ञाद्यनुष्ठानजन्यापूर्वप्रयुक्तमिति* तदेवाऽपूर्वं विद्यारूपफलपर्यन्तं व्याप्रियमाणं जन्मान्तरीयायामपि विद्यायां स्वकारितश्रवणस्य उपकारितां घटयतीति नाऽनुपपत्तिः । श्रवणादौ विध्यभावपक्षे तु सन्न्यासपूर्वकं कृतस्याऽपि श्रवणस्याऽदृष्टानुत्पादकत्वात् सति प्रतिबन्धे तस्य जन्मान्तरीयविद्याहेतुत्वमित्थमेव निर्वाह्यम् ।

आचार्याश्चैवमेवाऽऽहुरादोषपरिसङ्क्षयात् ।
आवृत्तं नियमादृष्टं निष्पाद्य फलदं यतः ॥१६॥

आचार्य विवरणकार नियमविधिपक्षमें भी उसी प्रकारका समाधान करते हैं, क्योंकि दोषके विनाशपर्यन्त बार बार किया हुआ श्रवण नियमादृष्टकी उत्पत्ति करके फल देनेवाला होता है ॥ १६ ॥

आचार्यास्तु नियमविधिपक्षेऽपि अयमेव निर्वाहः । श्रवणमभ्यस्यतः

इस आक्षेपके समाधानमें कहते हैं कि जिसको ब्रह्मज्ञानकी इच्छा हुई है, ऐसे अमुख्य अधिकारी द्वारा क्रियमाण श्रवण—द्वारीभूत ब्रह्मविविदिषाके उत्पादक प्राचीन (पूर्वके) विद्याप्रयोजक यज्ञ आदिके अनुष्ठानसे उत्पन्न हुए अदृष्टसे ही—उत्पन्न होता है, इसलिए वही यज्ञादिके अनुष्ठानसे जन्य अदृष्ट विद्यारूप फलकी उत्पत्ति तक व्याप्रृत होता हुआ जन्मान्तरीय विद्यामें भी अपने प्रभावसे हुए श्रवणकी उपकारिताका सम्पादन कराता है, इसलिए कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

† विवरणाचार्य कहते हैं कि नियमविधिपक्षमें भी इसी उक्त प्रकारसे

---

* यज्ञादिभिर्विद्यायां सम्पादनीयायां द्वारभूता या विविदिषा तस्या उत्पादकं प्राचीनञ्च यत् विद्यार्थयज्ञाद्यनुष्ठानम् तज्जन्येत्यर्थः, स्वपदं यज्ञाद्यनुष्ठानजन्यापूर्वपरमिति भावः ।

† विवरणाचार्यका तात्पर्य यह है—श्रवणका फल है—प्रमाणकी असम्भावनाकी निवृत्ति, मननका फल है—प्रमेयकी असम्भावनाकी निवृत्ति, निदिध्यासनका फल है—विपरीतभावनाकी निवृत्ति, जिस मुख्य अधिकारीके ये तीनों श्रवण आदि त्रिविध प्रतिबन्धककी निवृत्तिरूप फलोत्पत्तिके कालतक आवर्त्यमान हुए हैं, उसका नियमादृष्ट उत्पन्न हुआ ही है, इस प्रकार यदि

फलप्राप्तेरर्वाक् प्रायेण तन्नियमादृष्टानुत्पत्तेः। तस्य फलपर्यन्तावृत्तिगुणक-श्रवणानुष्ठाननियमसाध्यत्वात्। नहि नियमादृष्टजनकश्रवणनियमः फल-पर्यन्तमावर्तनीयस्य श्रवणस्योपक्रममात्रेण निर्वर्तितो भवति; येन तज्जन्य-नियमादृष्टस्याऽपि फलपर्यन्तश्रवणावृत्तेः प्रागेवोत्पत्तिः सम्भाव्येत। अवघात-वदावृत्तिगुणकस्यैव श्रवणस्य फलसाधनत्वेन फलसाधनपदार्थनिष्पत्तेः प्राक्

निर्वाह करना चाहिए, क्योंकि श्रवणका जो अभ्यास करता है, उसे प्रतिबन्ध-निवृत्तिरूप फलकी उत्पत्ति होनेके पूर्वमें प्रायः श्रवणनियमजन्य अदृष्टकी उत्पत्ति नहीं होती है, कारण कि फलपर्य्यन्त श्रवणानुष्ठानकी आवृत्ति करनेसे उत्पन्न श्रवण नियमसे ही नियमादृष्ट उत्पन्न होता है, क्योंकि‡ नियमादृष्टका कारणी-भूत श्रवणनियम फलनिष्पत्ति तक आवर्तनीय श्रवणके उपक्रममात्रसे उत्पन्न नहीं होता है, जिससे कि श्रवणनियमजन्य नियमादृष्ट भी फलपर्यन्त श्रवणकी आवृत्तिके पूर्वमें ही उत्पन्न हो जाय, क्योंकि अवघातकी नाईं *

साधनसम्पत्तिके रहते भी प्रतिबन्धकसे विद्याकी उत्पत्ति नहीं हुई, तो पुनर्जन्मकी प्राप्ति कर प्रतिबन्धोंके निरसन द्वारा फिर विचारकी अपेक्षा न करके ही विद्या उत्पन्न होती है, जैसे कि वामदेव, हिरण्यगर्भ आदिको हुई है, और जिस पुरुषको तथाकथित तीन प्रतिबन्धोंकी निवृत्तिपर्यन्त श्रवण आदिकी आवृत्ति नहीं हुई है, और बीचमें मरण हुआ है, वह भले ही मुख्य अधिकारी हो, परन्तु नियमादृष्टकी उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए उसको दूसरे जन्ममें उन प्रतिबन्धोंकी निवृत्तिपर्यन्त श्रवणादिका अभ्यास करके श्रवणादिके नियमादृष्टसे विद्या-प्रतिबन्धक पापोंके विनाश द्वारा विद्या प्राप्त होती है, इसीको भगवान् श्रीकृष्णने भी कहा है—

'तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयस्संसिद्धौ कुरुनन्दन॥'

अर्थात् सच्चरित्र कुलमें जन्म प्राप्त करके पूर्वदेहसे उत्पन्न और इस शरीरमें संस्कार-रूपसे अनुवर्तमान बुद्धिसंयोग अर्थात् श्रवणादि कर्तव्यबुद्धिसे सम्बन्ध पाता है, इसलिए पूर्वजन्मके यत्नकी अपेक्षा इस जन्ममें सिद्धिके लिए अधिक यत्न करता है। इससे फलपर्य्यन्त आवृत्तिगुणसे रहित जो योगभ्रष्ट है, उसे तो नियमादृष्टके न होनेसे यज्ञ आदिसे जनित अदृष्टसे कथञ्चित् निर्वाह करना चाहिए।

‡ नियमादृष्ट केवल श्रवणसे उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु श्रवण-नियमसे उत्पन्न होता है, श्रवणनियम तभी हो सकता है, जबकि फलपर्यन्त श्रवणादिकी आवृत्ति की जाय, इसलिए फलकी उत्पत्तिके पूर्वमें श्रवणादि नियमके न होनेसे नियमादृष्टकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है, यह भाव है।

* जैसे तण्डुलकी उत्पत्तितक अवघातकी आवृत्ति करनी पड़ती है, अतः आवृत्तिविशिष्ट अवघात ही तण्डुलके प्रति जनक लोकमें देखा जाता है, आवृत्तिसे रहित नहीं देखा जाता,

तन्नियमनिर्वर्तिवचनस्य निरालम्बनत्वात्, श्रवणावघाताद्युपक्रममात्रेण नियमनिष्पत्तौ तावतैव नियमशास्त्रानुष्ठानं सिद्धमिति तदनावृत्तावप्यवैकल्यप्रसङ्गाच्चेत्याहुः।

कृच्छ्राशीतिफलस्मृत्याऽऽधानवत् कर्तृसंस्कृतेः।
तद्द्वारा श्रवणं केचिज्जन्मान्तरफलं जगुः ॥ १७ ॥

श्रवणसे अस्सी कृच्छ्रका फल होता है, ऐसी स्मृति होनेके कारण आधानके समान कर्ताके संस्कारार्थ भी होनेसे उसी संस्कार द्वारा श्रवण जन्मान्तरका फल देनेवाला है, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं ॥ १७ ॥

केचित्तु दृष्टार्थस्यैव वेदान्तश्रवणस्य—

'दिने दिने तु वेदान्तश्रवणाद् भक्तिसंयुतात्।
गुरुशुश्रूषया लब्धात् कृच्छ्राशीतिफलं लभेद् ॥'

इत्यादिवचनप्रामाण्यात् स्वतन्त्रादृष्टोत्पादकत्वमप्यस्ति। यथा अग्नि-

---

आवृत्तिगुणसे युक्त श्रवण ही अपने फलके प्रति जनक होता है, इससे फलके साधन पदार्थकी—आवृत्तियुक्त श्रवणकी—उत्पत्तिके पूर्वमें श्रवणनियम निष्पन्न हो जाता है—यह वाक्य निरालम्बन है और श्रवण एवं अवघात आदिके उपक्रममात्रसे यदि नियमकी उत्पत्ति मानी जाय, तो उसीसे नियमशास्त्रके अनुष्ठानकी सिद्धि होनेसे उसकी आवृत्ति न करनेपर भी वैकल्य प्रसक्त नहीं होगा।

† कुछ लोग तो कहते हैं कि दृष्टार्थ ही वेदान्तश्रवण—'दिने दिने०' (गुरुशुश्रूषासे प्राप्त भक्तियुक्त वेदान्तके श्रवणसे प्रतिदिन पुरुष अस्सी कृच्छ्रका ‡ पुण्य प्राप्त करता है) इत्यादि वचन प्रमाण होनेसे—स्वतन्त्र अदृष्ट-

---

इसी प्रकार आवृत्तिविशिष्ट श्रवण ही विचारात्मक फलके प्रति जनक होगा, यदि इसे न माना जाय, तो 'फलपर्यन्त श्रवणसे ही अप्राप्तांश परिपूरणरूप नियम सम्पन्न होता है, पूर्वमें नहीं, इस प्रकारका वचन निरालम्बन अर्थात् निर्विषयक हो जायगा, यह भाव है।

† मुख्य या अमुख्य अधिकारी द्वारा प्रतिदिन किया जानेवाला वेदान्तश्रवण जैसे प्रतिबन्धककी निवृत्तिरूप दृष्ट फल उत्पन्न करता है, वैसे ही अदृष्टकी उत्पत्ति भी करता है, इसलिए अदृष्टके बलसे जन्मान्तरमें विचारकी विद्योपयोगिता घट सकती है, इस अभिप्रायसे यह 'केचित्तु' का मत है, यह भाव है।

‡ यह कृच्छ्रनामक व्रत अनेक प्रकारसे होता है, इसका निर्वचन मिताक्षरा आदि धर्मशास्त्रके निबन्धोंमें अनेक प्रकारसे मिलता है।

संस्कारार्थस्याऽऽधानस्य पुरुषसंस्कारेषु परिगणनात् तदर्थत्वमपि, एवं वचनबलादुभयार्थत्वोपपत्तेः । तथा च प्रतिदिनश्रवणजनितादृष्टमहिम्नैवाऽऽमुष्मिकविद्योपयोगित्वं श्रवणमननादिसाधनानामित्याहुः ॥ ७ ॥

श्रवणादेरिव ज्ञानसाधनत्वं समर्थितम् ।
प्रमाणैर्भारतीतीर्थैर्निर्गुणोपास्तिकर्मणः ॥ १८ ॥

अनेक श्रुत्यादि प्रमाणोंके आधारपर श्रीभारतीतीर्थ मुनिजीने श्रवण आदिके समान निर्गुण उपासनामें भी ज्ञानकी साधनता मानी है ॥ १८ ॥

एवं 'श्रवणमननादिसाधनानुष्ठानप्रणाल्या विद्याऽवाप्तिः' इत्यस्मिन्नर्थे सर्वसम्प्रतिपन्ने स्थिते भारतीतीर्थां ध्यानदीपे विद्याऽवाप्तौ उपायान्तरमप्याहुः । 'तत् कारणं साङ्ख्ययोगाभिपन्नम्' 'यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं

की उत्पत्ति करता है, जैसे × अग्निके संस्कारके लिए किया हुआ आधान पुरुषके संस्कारोंमें परिगणित होनेसे पुरुषार्थ भी है, वैसे प्रकृतमें भी अनेक वचन मिलते हैं, अतः उभयार्थता हो सकती है, इसलिए प्रतिदिन श्रवणसे उत्पन्न अदृष्टकी सामर्थ्यसे ही श्रवण, मनन आदि आमुष्मिक विद्याके प्रति उपयोगी हैं ॥ ७ ॥

उक्त प्रकारसे श्रवण, मनन और निदिध्यासनके अनुष्ठान द्वारा विद्याकी प्राप्ति होती है, इस प्रकारसे सब श्रुति और स्मृतियोंसे सम्मत अर्थके निश्चित होनेपर विद्याकी प्राप्तिमें अन्य उपायका भी ध्यानदीपमें * भारतीतीर्थ स्वामीजीने निरूपण किया है—'तत् कारणं०' (वह कारणत्वरूपसे उपलक्षित ब्रह्म साङ्ख्य और योगसे † विद्या द्वारा प्राप्त होता है) 'यत् साङ्ख्यैः०' (जिस

× जैसे 'अग्नीनादधीत' इत्यादि वाक्योंसे विहित आधान अग्निके संस्कारके लिए है, वैसे ही 'अग्न्याधेयमग्निहोत्रम्' इत्यादि पुरुष संस्कारके बोधक सूत्रमें अग्न्याधानका भी पाठ होनेसे पुरुषसंस्कारार्थ भी है, यह प्रतीत होता है, इसी प्रकार श्रवण भी उभयार्थ हो सकता है, यह भाव है ।

* पञ्चदशीके नवम ध्यानदीपप्रकरणमें 'संवादिभ्रमवद् ब्रह्म' इत्यादि श्लोकोंसे योगशब्दसे कहलानेवाली उपासनासे भी ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार होता है, इसका सविस्तर निरूपण किया गया है, अतः इस विचारका विस्तर वहींपर देखना चाहिए ।

† सांख्यशब्दका अर्थ है—मनन आदिसे संस्कृत वेदान्तविचार अथवा उस विचारसे युक्त पुरुष, योगशब्दार्थ है—निर्गुण ब्रह्मकी उपासना अथवा उसका उपासक ।

तद्योगैरपि गम्यते' इतिश्रुतिस्मृतिदर्शनात् । यथा साङ्ख्यं नाम वेदान्तविचारः श्रवणशब्दितो मननादिसहकृतो विद्याऽवाप्त्युपायः, एवं योगशब्दितं निर्गुणब्रह्मोपासनमपि । न च निर्गुणस्योपासनमेव नाऽस्तीति शङ्क्यम्, प्रश्नोपनिषदि शैब्यप्रश्ने 'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोङ्कारेण परं पुरुषमभिध्यायीत' इति निर्गुणस्यैवोपासनप्रतिपादनात् । तदनन्तरम् 'स

ब्रह्मकी प्राप्ति साङ्ख्य—श्रवण आदिसे युक्त पुरुष—करते हैं, उसी ब्रह्मकी निर्गुण ब्रह्मोपासक भी प्राप्ति करते हैं) इत्यादि अनेक श्रुति और स्मृतिके पर्य्यालोचनसे यह ज्ञात होता है कि जैसे साङ्ख्यनामक श्रवणशब्दसे कहलानेवाला मनन आदिसहकृत वेदान्तविचार ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिमें हेतु है, वैसे ही योगशब्दसे कहलानेवाली निर्गुणब्रह्मोपासना भी ब्रह्मविद्यामें उपयोगी है। यदि शङ्का ‡ हो कि जो निर्गुण पदार्थ है, उसकी उपासना ही नहीं हो सकती। तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि प्रश्नोपनिषत्में शैब्यके प्रश्नमें 'यः पुनरेतम्०' (जो कि इस अकार, उकार और मकारात्मक तीन मात्राओंसे युक्त ओंकारसे सूर्यान्तर्गत परम पुरुषका ध्यान करता है) इस श्रुतिसे निर्गुण ब्रह्मकी उपा-

‡ यदि प्रकृतमें शङ्का हो कि निर्गुणपदार्थकी उपासना नहीं होती है, तो यह शङ्का नहीं हो सकती, क्योंकि 'तत्कारणं साङ्ख्ययोगाभिपन्नम्' और 'यत्साङ्ख्यैः' इत्यादि श्रुति और स्मृतिका प्रमाणरूपसे उपन्यास किया गया है । यदि इसका उत्तर दें कि उक्त श्रुति और स्मृतिमें वर्तमान योगशब्दका अर्थ सगुणोपासना है, अतः यह शङ्का हो सकती है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि भिन्नविषयक उपासना और साक्षात्कारका आपसमें कार्यकारणभाव नहीं हो सकता है, अतः निर्गुण ब्रह्मके साक्षात्कारके प्रति निर्गुण उपासनाको ही हेतु मानना होगा । यदि इसमें भी शङ्का हो कि 'यत्साङ्ख्यैः' इस वाक्यमें योगशब्दका अर्थ उपासना नहीं है, किन्तु उसके भाष्यमें योगशब्द कर्मयोगपरक माना गया है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'यत्साङ्ख्यैः' इस वचनका वस्तुतः निर्गुणोपासनामें तात्पर्य रहते ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने कर्मके विषयमें उदाहरण दिया है, इस अभिप्रायसे उक्त व्याख्यान किया है । और योगशब्दकी ध्यानमें ही रूढ़ि होनेसे वस्तुतः वह कर्मका बोधक है भी नहीं, इससे उस स्मृतिकी मूलभूत 'तत्कारणम्' इत्यादि श्रुतिमें योगशब्दकी ध्यानार्थमें भगवान् भाष्यकारने शारीरकभाष्यमें वृत्ति मानी है, अतः कर्मयोग मुख्ययोग द्वारा ब्रह्मप्राप्तिका साधन है, साक्षात् नहीं—इस अर्थको सूचन करनेके लिए भगवान्ने उक्त वचनका कर्मपरकरूपसे उदाहरण दिया है, इसलिए प्रमाणाभावकी शङ्का युक्त नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उदाहृत श्रुति और स्मृतिको छोड़कर अन्यत्र कहींपर भी निर्गुण उपासनाका प्रतिपादन नहीं किया गया है, अतः शङ्का उपपन्न हो सकती है ।

एतस्माज्जीवघनात् परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' इति उपासना-फलवाक्ये 'ईक्षतिकर्मत्वेन निर्दिष्टं यन्निर्गुणं ब्रह्म, तदेवोपासनावाक्येऽपि ध्यायतिकर्म, नाऽन्यत्; ईक्षतिध्यानयोः कार्यकारणभूतयोरेकविषयत्व-नियमाद्' इत्यस्याऽर्थस्य ईक्षतिकर्माधिकरणे भाष्यकारादिभिरङ्गीकृतत्वात्। अन्यत्राऽपि तापनीयकठवल्ल्यादिश्रुत्यन्तरे निर्गुणोपास्तेः प्रपञ्चितत्वात्।

सनाका प्रतिपादन किया गया है। और ध्यानवाक्यके अनन्तर 'स एतस्मात्०' (इस जीवघनसे * उत्कृष्ट बुद्धिके साक्षीरूपसे हृदयाकाशमें वर्तमान निरुपाधिक पुरुषका वह ध्याता पुरुष साक्षात्कार करता है) इस प्रकारके उपासनाके फलबोधक वाक्यमें 'ईक्षतिके कर्मरूपसे निर्दिष्ट जो निर्गुण ब्रह्म है, वही † उपासनावाक्यमें ध्यानका कर्म (विषय) है, अन्य नहीं, क्योंकि कार्यकारणात्मक जो ईक्षति और ध्यान है, उनका एक विषय होता है, यह नियम है', इस प्रकारसे उक्त ही अर्थका ‡ ईक्षतिकर्माधिकरणमें भगवान् भाष्यकारने भी स्वीकार किया है। तापनीय, × कठवल्ली आदि अन्य श्रुतियों-

* जीवघनः—जीवरूपो घनः—परमात्मनो मूर्तिः—घटाकाशवत् उपाधिपरिच्छिन्नश्चिदात्मा, तस्मात् जीवघनात् अर्थात् जीवरूप परमात्माकी मूर्ति (ब्रह्मलोक) जीवघनशब्दका अर्थ है।

† 'परं पुरुषमभ्याध्यायीत' इस प्रकारके उपासनावाक्यमें यह अर्थ है।

‡ 'ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः' (ब्र० सू० अ० १ पा० ३ सू० १३) इस सूत्रके भाष्यमें इस विषयका उपपादन किया गया है, क्योंकि अन्यके ध्यानसे अन्यका साक्षात्कार नहीं देखा जाता है। इस विषयमें किसीको शङ्का हो कि कल्पतरुकारके मतसे निर्गुण पदार्थकी उपासना नहीं हो सकती है, क्योंकि 'स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः' इत्यादि सम्पत्तिप्रतिपादक वचनके अनुसार ध्येय पदार्थका सूर्यान्तःस्थत्व विशेषण उन्होंने दिया है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त सूर्यसम्पत्तिबोधक वचन अर्चिरादि मार्गका बोधक है, ऐसा व्यवस्थापन स्वयं कल्पतरुकारने चतुर्थाध्यायमें किया है। सूर्य अथवा तदन्तःस्थ ईश्वरप्राप्तिका बोधक नहीं है, और वस्तुतः कल्पतरुकारके अन्य वचनको देखनेसे और उक्त श्रुतिके मार्गघटक होनेसे सूर्यान्तःस्थत्व विशेषण देनेमें तात्पर्य नहीं है, यह भी ज्ञात होता है।

× 'देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन् अणोरणीयाँसमिममात्मानमोङ्कारं नो व्याचक्ष्व' (प्रजापतिके पास जाकर देवताओंने कहा कि सूक्ष्मसे सूक्ष्म ओंकारगम्य प्रत्यगात्माको कहो) इत्यादि तापनीयोपनिषद्की श्रुति है। 'एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म' (यही अक्षर ब्रह्म है) 'ॐ मित्येदक्षरमिदं सर्वम्' (यह सब ॐकार अक्षर ही है) 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' (ओंकारसे आत्माका ध्यान करना चाहिए) इस प्रकारकी क्रमशः कठवल्ली और आदिशब्दसे गृहीत माण्डूक्य और मुण्डककी श्रुतियाँ भी हैं।

सूत्रकृताऽप्युपास्यगुणपरिच्छेदार्थमारब्धे गुणोपसंहारपादे निर्गुणेऽपि 'आनन्दादयः प्रधानस्य'—इति सूत्रेण (उ० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ११) भावरूपाणां ज्ञानानन्दादिगुणानाम्, 'अक्षरधियां त्ववरोधः' इत्यादिसूत्रेण (उ० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ३३) अभावरूपाणामस्थूलत्वादिगुणानां चोपसंहारस्य दर्शितत्वाच्च। ननु आनन्दादिगुणोपसंहारे उपास्यं निर्गुणमेव न स्यादिति चेद्, न; आनन्दादिभिरस्थूलत्वादिभिश्चोपलक्षितमखण्डैकरसं ब्रह्माऽस्मीति निर्गुणत्वानुपमर्देन उपासनासम्भवात्।

में भी निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाका अङ्गीकार किया गया है, सूत्रकारने भी—उपास्य गुणोंका निश्चय करनेके लिए आरब्ध गुणोपसंहार पादमें 'आनन्दादयः प्रधानस्य'* इस सूत्रसे निर्गुण ब्रह्ममें ज्ञान, आनन्द आदि भावरूप गुणोंका और 'अक्षरधियान्त्ववरोधः' † इत्यादि सूत्रसे अस्थूलत्व आदि अभावरूप धर्मोंका—उपसंहार दिखलाया है। यदि शङ्का हो कि आनन्दादि गुणोंका यदि उक्त सूत्रोंसे ब्रह्ममें उपसंहार किया गया है, तो फिर इसीसे उपास्य ब्रह्म निर्गुण नहीं हो सकता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि आनन्द आदि और अस्थूलत्व आदि गुणोंसे ‡ उपलक्षित अखण्डैकरस 'मैं ही ब्रह्म हूं' इस प्रकार निर्गुणत्वके अनुपमर्दसे उपासना हो सकती है। यदि शङ्का हो कि

---

* 'आनन्दादयः प्रधानस्य' आनन्द, सत्य, ज्ञान आदि धर्म भले ही कहींपर सुने गये हों, परन्तु उनका उपसंहार ब्रह्ममें सर्वत्र समझ लेना चाहिए, क्योंकि प्रधानभूत ब्रह्मके एक होनेसे ब्रह्मविद्या भी सब वेदान्तोंमें एक है, यह भाव है।

† यह सूत्रका एक भागमात्र है, परन्तु सूत्रका स्वरूप तो 'अक्षरधियान्त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम्' इतना बड़ा है अक्षरार्थ यह है—अक्षर ब्रह्ममें द्वैतनिषेध बुद्धिओंका सर्वत्र उपसंहार करना चाहिए, क्योंकि द्वैतके निषेधसे सर्वत्र श्रुतियोंमें ब्रह्मका प्रतिपादन और प्रतिपाद्य ब्रह्मका एकत्वरूपसे प्रत्यभिज्ञान भी समान है, जैसे पुरोडाशके अङ्गभूत औपसद मन्त्रोंका अन्यत्र श्रवण होनेपर अध्वर्युके साथ सम्बन्ध होता है।

‡ समाधानका तात्पर्य यह है कि उपास्यकोटिमें आनन्दादि गुणोंका प्रवेश नहीं किया गया है, जिससे कि उपास्य ब्रह्ममें सगुणत्वकी सिद्धि हो, किन्तु उपास्य पदार्थके निर्गुणत्वनिर्णय द्वारा केवल उपासनामें उनका उपयोगमात्र स्वीकार किया गया है, इसलिए आनन्दादि गुणोंके उपसंहारसे केवल आनन्दादिगुणवाचक पदोंका साथ उच्चारणमात्र विवक्षित है। इस परिस्थितिमें उपाधिविशिष्ट चैतन्यवाचक आनन्दादिशब्दोंसे और स्थौल्याद्यभावविशिष्टवाचक अस्थूल आदि पदोंसे सब वाच्यार्थोंमें अनुगत अखण्डैकरस जिस ब्रह्मकी लक्षणासे प्रतीति

ननु 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' इति श्रुतेः न परं ब्रह्मोपास्यमिति चेत्, 'अन्यदेव तद्विदिताद्' इति श्रुतेस्तस्य वेद्यत्वस्याऽप्यसिद्ध्यापातात्। श्रुत्यन्तरेषु ब्रह्मवेदनप्रसिद्धेरवेद्यत्वश्रुतिर्वास्तवावेद्यत्वपरा चेद्, आथर्वणादौ तदुपासनाप्रसिद्धेस्तदनुपास्यत्वश्रुतिरपि वस्तुवृत्तपराऽस्तु। एवं च 'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः' इति श्रवणाद् येषां बुद्धिमान्द्याद्, न्यायव्युत्पादनकुशलविशिष्टगुर्वलाभाद्वा श्रवणादि न

'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि०' (बुद्धि आदिके साक्षी चैतन्यको ही ब्रह्म जानो, यह ब्रह्म नहीं है, जिसकी उपासना होती है) इस श्रुतिसे परब्रह्म उपास्य नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'अन्यदेव तद्विदितात्' (वेदनविषयसे ब्रह्म अन्य ही है, अर्थात् ब्रह्म वेद्य नहीं है) इस श्रुतिसे ब्रह्ममें वेद्यत्वकी असिद्धि भी है। यदि शङ्का हो कि अन्य श्रुतियोंमें ब्रह्मज्ञानकी प्रसिद्धि होनेसे अवेद्यत्वश्रुतिका भी तात्पर्य वस्तुतः अवेद्यत्वबोधनमें ही है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि तुल्ययुक्त्या आथर्वण श्रुतिमें ब्रह्मोपासनाकी प्रसिद्धि होनेसे ब्रह्मकी अनुपास्यत्वश्रुतिका भी वस्तुतः अनुपास्यत्वमें ही तात्पर्य क्यों न हो, अर्थात् ब्रह्ममें उपास्यत्व या वेद्यत्व वस्तुतः नहीं है, यही निषेधश्रुतिका तात्पर्य है, यह भाव है। निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाके सप्रमाण सिद्ध होनेपर * 'श्रवणायापि०' (अनेक लोगोंको आत्माका श्रवण भी प्राप्त नहीं होता) इत्यादि श्रुतिके बलसे जिनको बुद्धिकी मन्दतासे † अथवा न्याय-

होती है 'वही मैं हूँ' इस प्रकार उपासना हो सकती है, अतः ध्यानदीपमें कहा भी है—

'आनन्दादिभिरस्थूलादिभिश्चात्माऽत्र लक्षितः।
योऽखण्डैकरसस्सोऽहमस्मीत्येवमुपासते ॥'

अर्थात् वेदान्तोंमें आनन्दादि और अस्थूलादि शब्दोंसे जो अखण्डैकरस आत्मा लक्षित है, 'वही मैं हूँ' इस प्रकार उपासना करते हैं।

* कुछ मुमुक्षुओंको श्रवणका लाभ नहीं होता है, उसमें यह प्रमाण दिखलाते हैं। अर्थात्

† अनेक पुरुषोंको श्रवण नहीं होता, इस प्रकार श्रुतिने जो प्रतिपादन किया है, उसमें श्रुत्युक्त ये दोनों कारण हैं, अर्थात् बुद्धिकी मन्दतासे श्रवण नहीं होता है, अथवा कदाचित् परिष्कृत बुद्धि है, परन्तु सामग्री नहीं है, तो भी श्रवण नहीं होता, इसमें ध्यानदीपका यह श्लोक भी प्रमाण है—

'अत्यन्तबुद्धिमान्द्याद्वा सामग्र्या वाप्यसम्भवात्।
यो विचारं न लभते ब्रह्मोपासीत सोऽनिशम् ॥'

सम्भवति, तेषामध्ययनगृहीतैः वेदान्तैरापाततोऽधिगमितब्रह्मात्मभावानां तद्विचारं विनैव प्रश्नोपनिषदाद्युक्तमार्षग्रन्थेषु ब्राह्मवासिष्ठादिकल्पेषु पञ्चीकरणादिषु चानेकशाखाविप्रकीर्णसर्वार्थोपसंहारेण कल्पसूत्रेष्वग्निहोत्रादिवन्निर्धारितानुष्ठानप्रकारं निर्गुणोपासनं सम्प्रदायमात्रविद्भ्यो गुरुभ्योऽवधार्य तदनुष्ठानात् क्रमेणोपास्यभूतनिर्गुणब्रह्मसाक्षात्कारः सम्पद्यते। अवि-

व्युत्पत्तिके सम्पादनमें कुशल आचार्यके प्राप्त न होनेसे श्रवण आदि नहीं हो सकते, अध्ययनसम्पादित वेदान्तोंसे सामान्यतः जीवब्रह्मैक्य जाननेवाले उन पुरुषोंको— उसके विचारके बिना ही जैसे अनेक शाखाओंमें विप्रकीर्ण—विशकलित—रूपसे उपलब्ध पदार्थोंके उपसंहारसे अग्निहोत्रादि कर्मोंका अनुष्ठान प्रकार निश्चित होता है, वैसे ही † ब्राह्म, वासिष्ठ आदि ऋषिनिर्मित ग्रन्थोंमें और पञ्चीकरण आदि ग्रन्थोंमें ‡ विशकलितरूपसे अवस्थित अर्थोंका उपसंहार द्वारा प्रश्नोपनिषत् आदिमें उक्त निर्गुण ब्रह्मोपासनाका प्रकारविशेष सम्प्रदायवेत्ता गुरुओंसे जानकर उसके अनुष्ठान करनेसे—क्रमशः उपास्यभूत निर्गुण ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। अविसंवादिभ्रम न्यायसे × उपासना भी कदाचित् फलकालमें

अर्थात् जो बुद्धिकी मन्दतासे अथवा साधनोंके अभावसे वेदान्त श्रवणकी प्राप्ति न कर सकें, वे अहर्निश ब्रह्मकी उपासना करें, तात्पर्य यह है कि भले ही वे वेदान्तश्रवणसे रहित हों, परन्तु अध्ययनसे सामान्यतः उन्हें आत्माका परिज्ञान हो, तो श्रवणके बिना ही गुरुओंसे आत्माका सविशेष निर्णय करके उसकी उपासनासे ब्रह्मसाक्षात्कार कर सकते हैं।

† ब्रह्मपुराण और योगवासिष्ठ इत्यादि आर्ष ग्रन्थ, यह भाव है।

‡ यदि प्रकृतमें शङ्का हो कि पञ्चीकरणमें कहा है कि वेदान्तके लक्ष्यभूत अखण्डैकरस प्रणवतात्पर्यक समस्त प्रपञ्चके प्रविलापनपूर्वक 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अभेदभावनासे अवस्थान ही समाधि है, इसमें और 'सोऽखण्डैकरसः सोऽहमस्मि' इत्यादि उदाहृत ध्यानदीपके वचनमें प्रकृत निर्गुण ब्रह्मदृष्टिकी ही विवक्षा की गई है, प्रश्नोपनिषत्में शैब्यके प्रश्नमें तो ओंकाररूप प्रतीकमें निर्गुण ब्रह्मदृष्टि विवक्षित है, वैसे कठवल्लीमें भी इसी प्रकारकी उपासना लिखी है। इस परिस्थितिमें प्रकृत निर्गुणोपासनामें यह प्रश्नोपनिषत्का वाक्य प्रमाणरूपसे कैसे ग्रहण हो सकता है, सो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि प्रकृत उपासनामें तापनी, माण्डूक्य आदि उपनिषद् ही प्रमाणरूपसे विवक्षित हैं और प्रश्न, कठवल्ली आदिका उदाहरण तो यह बतलानेके लिए दिया गया है कि निर्गुण उपासना अन्यत्र भी दृष्ट है, यह भाव है।

× अविसंवादिभ्रम न्याय इस प्रकारका है—किसी एक घरमें श्रीकृष्णचन्द्रकी मूर्ति है, उसके प्रतिबिम्बका घरसे बाहर प्रदेशमें स्थित पुरुषको अवभास होनेपर 'ये श्रीकृष्णचन्द्र हैं'

संवादिभ्रमन्यायेन उपास्तेरपि क्वचित् फलकाले प्रमापर्यवसानसम्भवात्। पाणौ पञ्च वराटकाः पिधाय केनचित् 'करे कति वराटकाः'? इति पृष्टे 'पञ्च वराटकाः' इति तदुत्तरवक्तुर्वाक्यप्रयोगमूलभूतसङ्ख्याविशेष-ज्ञानस्य मूलप्रमाशून्यस्याऽऽहार्यारोपरूपस्यापि यथार्थत्ववन्निर्गुणब्रह्मोपासन-स्याऽर्थतथात्वविवेचकनिर्विचिकित्समूलप्रमाणनिरपेक्षस्य दहराद्युपासनवदु-पासनाशास्त्रमात्रमवलम्ब्य क्रियमाणस्यापि वस्तुतो यथार्थत्वेन दहराद्यु-

प्रमाणमें पर्यवसित होती है। जैसे कोई अपने हाथमें पाँच कौड़ियोंको बन्द करके * पूछे कि बतलाओ मेरे हाथमें कितनी कौड़ियाँ हैं? इसके जवाबमें किसीने अटकलसे कहा कि पाँच कौड़ियाँ हैं। इसमें जिस पुरुषने उत्तर दिया उसके वाक्यप्रयोगमें हेतुभूत जो संख्याविशेषज्ञान है, वह यद्यपि मूल प्रमाणसे शून्य और आहार्य्यारोप है, तथापि वह जैसे यथार्थ माना जाता है, वैसे ही † अर्थतथात्वनिश्चायक मूल प्रमाणसे निरपेक्ष क्रियमाण ब्रह्मोपासना भी दहरादि उपासनाके समान ‡ केवल शास्त्रका अवलम्बन करके वस्तुतः

इस प्रकार भ्रम उत्पन्न होता है, इस भ्रमके बाद उस पुरुषके प्रतिबिम्बाध्यासकी उपाधिकी सन्निधिमें जानेसे सत्य कृष्णचन्द्रविषयक प्रमा होती है, यह देखा जाता है। इस स्थलमें प्रतिबिम्ब स्थलमें उत्पन्न बिम्बभूत कृष्णचन्द्रका भ्रम अविसंवादी (सफल) कहलाता है। प्रकृतमें जैसे उस भ्रमसे प्रवृत्त पुरुषको श्रीकृष्णप्राप्तिरूप फलके समयमें श्रीकृष्णकी प्रमा उत्पन्न होती है, वैसे ही निर्गुण उपासनामें प्रवृत्त पुरुषको ब्रह्मप्राप्तिरूप फलकालमें निर्गुण ब्रह्मकी प्रमा होती है, यह भाव है।

* पूर्वमें संवादिभ्रमके दृष्टान्तसे निर्गुण उपासनका प्रमामें पर्यवसान है, यह जो कहा गया है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त विषम है, कारण कि कृष्णके प्रतिबिम्ब-विभ्रमस्थलमें उपाधिके पास जानेके बाद चक्षुके सन्निकर्षसे श्रीकृष्णकी प्रमा होती, संवादी भ्रमसे नहीं होती, प्रकृतमें प्रमाके उत्पादनमें निर्गुण उपासनाकी सामर्थ्य नहीं है और न तो कोई अन्य सामग्री है, इसलिए उसका प्रमामें पर्यवसान कैसे हो सकता है? इस प्रकारकी आशङ्का करके निर्गुण उपासनामें स्वसमान विषयकी प्रमाके उत्पादनमें सामर्थ्य है, उसका प्रतिपादन करनेके लिए उसकी यथार्थताका सदृष्टान्त उपपादन इस ग्रन्थसे करते हैं।

† ब्रह्मरूप अर्थके प्रत्यग्रूपत्व, निष्प्रपञ्चत्वरूप तथात्वका निर्णायक जो अन्यार्थबोधकत्व-शून्य मूलभूत श्रुति प्रमाण है उसकी अपेक्षा नहीं रखनेवाली अर्थात् निदिध्यासनके समान प्रकृत निर्गुणोपासना विचारपूर्वक नहीं है, अतः निर्विचिकित्स तत्त्वनिर्णयपूर्वकत्वप्रयुक्त यह यथार्थता नहीं है, यह भाव है।

‡ सगुण उपासनामें जैसे सगुण ईश्वरमें विचारपूर्वक जीवाभिन्नताका निर्णय नहीं

पासनेनेव निर्गुणोपासनेन जन्यस्य स्वविषयसाक्षात्कारस्य श्रवणादिप्रणालीजन्यसाक्षात्कारवदेव तत्त्वार्थविषयत्वावश्यंभावाच्च ।

इयांस्तु विशेषः—प्रतिबन्धरहितस्य पुंसः श्रवणादिप्रणाड्या ब्रह्मसाक्षात्कारो झटिति सिध्यतीति साङ्ख्यमार्गो मुख्यः कल्पः, उपास्त्या तु विलम्बेनेति योगमार्गोऽनुकल्प इति ॥ ८ ॥

ननु किं करणं ब्रह्मसाक्षात्कारे

ब्रह्मके साक्षात्कारमें करण क्या है ?

नन्वस्मिन् पक्षद्वयेऽपि ब्रह्मसाक्षात्कारे किं करणम् ? ।

अत्र केचन ।

प्रत्ययावृत्तिमाचख्युः साङ्ख्ये योगे च सम्भवात् ॥ १९ ॥

इस विषयमें कुछ लोग कहते हैं कि साङ्ख्य और योग दोनों मार्गमें प्रत्ययावृत्ति ही ब्रह्मके साक्षात्कारमें करण है ॥ १९ ॥

यथार्थ होनेके कारण दहरादि उपासनाके समान निर्गुण उपासनासे जन्य स्वविषयक साक्षात्कार श्रवणादि क्रमसे उत्पन्न साक्षात्कारके समान तत्त्वार्थविषयकत्व अवश्य हो सकता है ।

विशेष केवल इतना ही है कि प्रतिबन्धकोंसे शून्य पुरुषको श्रवणादि क्रमसे ही ब्रह्मसाक्षात्कार शीघ्र होता है, इसलिए सांख्यमार्ग मुख्य कल्प है और उपासनासे ब्रह्मसाक्षात्कार विलम्बसे होता है, अतः योगमार्ग गौण कल्प है ॥८॥

यहांपर * शङ्का होती है कि इन दो पक्षोंमें भी अर्थात् सांख्यमार्ग और योगमार्गमें भी ब्रह्मसाक्षात्कारमें करण कौन है ?

है, तथापि 'सगुण ईश्वरकी अभिन्नतासे अपनी उपासना करनी चाहिए' इस प्रकारके उपासनाविधिशास्त्रकी सामर्थ्यसे सगुण उपासना की जाती है, वैसे ही 'निर्गुण उपासना करनी चाहिए' इस शास्त्रके आधारपर निर्गुण उपासना करनी चाहिए, यह भाव है ।

* यदि शङ्का हो कि यह प्रश्न पक्षद्वयसाधारण नहीं हो सकता है, क्योंकि योगमार्गमें निर्गुण उपासना ही सगुण उपासनाके दृष्टान्तसे पूर्वमें करण कही गई है, तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि यह प्रश्न प्रमाणके अभिप्रायसे पूछा गया है, पहले निर्गुण उपासनामें ब्रह्मसाक्षात्कारकी हेतुता बतलाई गई है, करणता नहीं, इसलिए इस प्रश्नकी अनुपपत्ति नहीं है, अर्थात् योगमार्गमें उपासना ही करण है, या अन्य कोई यह प्रश्न हो सकता है, यह भाव है ।

केचिदाहुः—प्रत्ययाभ्यासरूपं प्रसङ्ख्यानमेव। योगमार्गे आदित आरभ्योपासनरूपस्य साङ्ख्यमार्गे मननानन्तरनिदिध्यासनरूपस्य च तस्य सत्त्वात्। न च तस्य ब्रह्मसाक्षात्कारकरणत्वे मानाभावः, 'ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' इति श्रवणात्। कामातुरस्य व्यवहित-कामिनीसाक्षात्कारे प्रसङ्ख्यानस्य करणत्वक्लृप्तेश्च। 'आ प्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्' (उ० मी० अ० ४ पा० १ सू० १२) इत्यधिकरणे, 'विकल्पोऽ-विशिष्टफलत्वाद्' (उ० मी० अ० ३ पा० ३ सू० ५९) इत्यधिकरणे च दहराद्यहंग्रहोपासकानां प्रसङ्ख्यानादुपास्यसगुणब्रह्मसाक्षात्काराङ्गी-काराच्च। ननु च प्रसङ्ख्यानस्य प्रमाणपरिगणनेष्वपरिगणनात् तज्जन्यो ब्रह्मसाक्षात्कारः प्रमा न स्यात्। न च काकतालीयसंवादिवराटकसङ्ख्या-

इस आक्षेपके समाधानमें कोई लोग कहते हैं कि प्रत्ययाभ्यासरूप प्रसंख्यान ही ब्रह्मसाक्षात्कारके प्रति करण है, क्योंकि योगमार्गमें पहलेसे लेकर उपासना-रूप और सांख्यमार्गमें मननके बाद निदिध्यासनरूप प्रसंख्यान विद्यमान ही है। यदि शङ्का हो कि प्रसंख्यानको ब्रह्मसाक्षात्कारके प्रति करण माननेमें कोई प्रमाण नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'ततस्तु०' (निर्विशेष परमा-त्माका ध्यान करनेवाला पुरुष उस ध्यानसे परमात्माको देखता है) इस प्रकार-की श्रुति प्रत्ययाभ्यासरूप प्रसंख्यानको साक्षात्कारके प्रति करण माननेमें प्रमाण है।† और कामातुरके असन्निकृष्टकामिनीके साक्षात्कारमें प्रसंख्यानकी करणता दृष्ट भी है। 'आप्रायणात् ‡ तत्रापि हि दृष्टम्' इस अधिकरणमें और 'विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्' × इस अधिकरणमें दहरादि और अहंग्रहके उपासकोंके उपास्य सगुण ब्रह्मके साक्षात्कारके प्रति प्रसंख्यानको करण माना भी गया है। यदि शङ्का हो कि प्रमाणकी गिनतीमें प्रसंख्यानका परिगणन न होनेसे उससे उत्पन्न होनेवाला ब्रह्मसाक्षात्कार प्रमा नहीं होगी। और काकतालीय कौड़ीकी

† इस स्थलमें कामिनीके साथ चक्षुका संसर्ग न होनेके कारण और मनका बाह्यार्थमें स्वातन्त्र्य न होनेके कारण कामिनीविषयक प्रसङ्ख्यान ही कामिनीसाक्षात्कारमें करण है, यह तात्पर्य है।

‡ मरणपर्यन्त सगुण उपासनाकी आवृत्ति करनी चाहिए, क्योंकि मरणकालमें भी योगी लोग ब्रह्मकी उपासना करते हैं, यह श्रुति और स्मृतिमें प्रसिद्ध है, इसलिए सर्वदा जबतक ब्रह्मचिन्तन न किया जाय, तबतक मरणकालमें वह नहीं हो सकता है, यह सूत्रका अर्थ है।

× सगुण उपासनाओंका विकल्प मानना ही युक्त है, क्योंकि ब्रह्मसाक्षात्काररूप फल सामान्यरूपसे सर्वत्र एक ही है, यह 'विकल्पो' इत्यादि सूत्रका अक्षरार्थ है।

विशेषाहार्यज्ञानवद् अर्थाबाधेन प्रमात्वोपपत्तिः, प्रमाणामूलकप्रमात्वायोगात्। आहार्यवृत्तेश्च उपासनावृत्तिवद् ज्ञानभिन्नमानसक्रियारूपतया इच्छादिवद् अबाधितार्थविषयत्वेऽपि प्रमाणत्वानभ्युपगमात्। मैवम्, क्लृप्तप्रमाकरणामूलकत्वेऽपीश्वरमायावृत्तिवत् प्रमात्वोपपत्तेः। विषयाबाधतौल्यात्। मार्गद्वयेऽपि प्रसङ्ख्यानस्य विचारितादविचारिताद्वा वेदान्तात् ब्रह्मात्म्यैक्यावगतिमूलकतया प्रसङ्ख्यानजन्यस्य ब्रह्मसाक्षात्कारस्य प्रमाणमूलकत्वाच्च। उक्तं च कल्पतरुकारैः—

संख्याविशेषके सफल ज्ञानके समान अर्थके बाधित न होनेपर भी ब्रह्मसाक्षात्कारको प्रमा नहीं मान सकते हैं, क्योंकि प्रमाणसे अनुत्पन्न ज्ञान प्रमा नहीं होता, यह नियम है, जैसी उपासना वृत्ति ज्ञानभिन्न क्रियारूप है, वैसे ही आहार्यवृत्ति भी * मानस क्रियारूप ही है, इसलिए उसके अबाधितार्थविषयक होनेपर भी इच्छा आदिके समान उसमें प्रमात्व नहीं माना जा सकता है, तो यह भी शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि यद्यपि ब्रह्मसाक्षात्कार प्रसिद्ध प्रमाणजन्य नहीं है, तथापि ईश्वरकी † मायावृत्तिके समान उसमें प्रमात्वकी उपपत्ति हो सकती है, क्योंकि विषयका ‡ अबाध समान ही है। और उक्त दो मार्गोंमें प्रसंख्यानके मूलविचारित या अविचारित वेदान्तसे × होनेवाली जीवब्रह्मैक्यविषयक अवगतिके होनेसे प्रसंख्यानजन्य ब्रह्मसाक्षात्कार भी प्रमाणमूलक ही हो सकता है। इस विषयमें कल्पतरुकारने कहा भी हैं।

* अविसंवादी वराटकसंख्या आदिको विषय करनेवाली वृत्ति आहार्य वृत्ति कहलाती है, अथवा बाधकालीन इच्छाजन्य वृत्ति आहार्यवृत्ति है।

† ईश्वरकी मायावृत्तिमें भी यदि ज्ञानत्वका अङ्गीकार न किया जायगा, तो 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इत्यादि श्रुतिकी उपपत्ति नहीं होगी, कारण कि ईश्वरमें सर्वज्ञताकी भी मायावृत्तिके आधारपर ही उपपत्ति है, यह भाव है।

‡ इच्छाका वारण करनेके लिए इच्छाभिन्नत्व विशेषण देना चाहिए, अतः इच्छामें ज्ञानत्वकी प्रसक्ति नहीं है, अन्यथा इच्छाके अबाधितार्थकत्व होनेसे उसमें भी ज्ञानत्वकी प्रसक्ति, होगी यह भाव है।

× अविचारित वेदान्तसे ब्रह्मात्म्यैक्यज्ञान होता है, यह योगमार्गाभिप्रायसे कहा गया है, और सांख्यमार्गमें विचारित वेदान्तसे ब्रह्मात्म्यैक्यावगति होती है, इस अभिप्रायसे 'विचारितात्' यह विशेषण है, यदि शङ्का हो कि विचारित या अविचारित वेदान्तसे ही ब्रह्मावगति हो

'वेदान्तवाक्यजज्ञानभावनाजाऽपरोक्षधीः ।
मूलप्रमाणदार्ढ्येन न भ्रमत्वं प्रपद्यते ॥
न च प्रामाण्यपरतस्त्वापत्तिस्तु प्रसज्यते ।
अपवादनिरासाय मूलशुद्ध्यनुरोधनात् ॥' इति ।

अन्ये तु मन एवाहुरेनां तत्सहकारिणीम् ।

कुछ लोग कहते हैं कि मन ही ब्रह्मसाक्षात्कारमें कारण है और प्रत्ययावृत्ति मनकी सहकारी कारण है ।

अन्ये तु 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः', 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' इत्यादिश्रुतेर्मन एव ब्रह्मसाक्षात्कारे करणम्, तस्य सोपाधिकात्मनि अहंवृत्तिरूपप्रमाकरणत्वक्लृप्तेः । 'स्वप्नप्रपञ्चविपरीतप्रमात्रादिज्ञानसाधनस्याऽन्तःकरणस्य' इत्यादिपञ्चपादिकाविवरणग्रन्थैरपि तथा

' वेदान्तवाक्यजज्ञान० '

अर्थात् वेदान्तवाक्योंके ज्ञानरूप अभ्याससे होनेवाली अपरोक्ष बुद्धि वेदान्तवाक्यकी अथवा इससे होनेवाली प्रमाकी दृढ़तासे (अविप्रतिपन्न प्रामाण्य होनेसे) भ्रम नहीं होती है । इससे परतः प्रामाण्यापत्ति भी प्रसक्त नहीं है, क्योंकि अपवादके (अप्रामाण्य शङ्काके) निरासके लिए मूल प्रमाणकी शुद्धिकी अपेक्षा की गई है ।

* कुछ लोग कहते हैं कि 'एषोऽणुरात्मा०' (इस अत्यन्त सूक्ष्म आत्माको मनसे जानना चाहिए) 'दृश्यते०' (कुशाग्र बुद्धिसे आत्मा देखा जाता है) इत्यादि अनेक श्रुतियोंसे आत्मसाक्षात्कारमें मन ही कारण प्रतीत होता है, क्योंकि मनमें सोपाधिक आत्माके अहमाकार वृत्तिरूप प्रमात्मक साक्षात्कारके प्रति करणता लोकमें प्रसिद्ध है, और 'प्रातिभासिक स्वप्न प्रपञ्चसे विपरीत व्यावहारिक प्रमाता आदि पदार्थोंके ज्ञानके प्रति साधनभूत अन्तःकरणके' इत्यादि प्रपञ्चपादिका आदि विवरणग्रन्थोंसे प्रमाताशब्दसे कहलानेवाले सोपाधिक

सकती है, तो प्रसंख्यानकी क्या आवश्यकता है ? तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि प्रसंख्यानके पूर्वमें अविद्याके निवर्तक अप्रतिबद्ध ब्रह्मावगति उत्पन्न नहीं हो सकती है, यह भाव है ।

* केवल प्रसङ्ख्यान ही ब्रह्मसाक्षात्कारके प्रति करण नहीं है, किन्तु तत्सहकृत अन्तःकरण ही ब्रह्मसाक्षात्कारके प्रति करण है, इस प्रकारके मतका अवलम्बन करनेवालोंके मतका निरूपण इस ग्रन्थसे करते हैं ।

प्रतिपादनात्। 'अहमेवेदं सर्वं सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः' इति श्रुत्युक्ते स्वाप्ने ब्रह्मसाक्षात्कारे एव मनसः करणत्वसम्प्रतिपत्तेश्च। तदा करणान्तराभावात्। प्रसङ्ख्यानं तु मनस्सहकारिभावेनापि उपयुज्यते। 'वाक्यार्थभावनापरिपाकसहितमन्तःकरणं त्वंपदार्थस्यापरोक्षस्य तत्तदुपाध्याकारनिषेधेन तत्पदार्थतामाविर्भावयति'—इति भामतीवचनात्। 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' इति श्रुतावपि ज्ञानप्रसादशब्दितचित्तैकाग्र्यहेतुतयैव ध्यानोपादानात्। न तु प्रसङ्ख्यानं स्वयं करणम्, तस्य क्वचिदपि ज्ञानकरणत्वाक्लृप्तेः। कामातुरकामिनीसाक्षात्कारादावपि प्रसङ्ख्यानसहकृतस्य मनस एव करणत्वोपपत्त्याऽक्लृप्तज्ञानकरणान्तरकल्पनायोगादित्याहुः।

आत्मसाक्षात्कारके प्रति मनकी करणताका प्रतिपादन किया गया है। और 'अहमेवेदम्०' (सब वस्तुओंमें सद्रूपसे अनुभूयमान यह सर्वात्मक ब्रह्म मैं ही हूँ, इसलिए सभी मैं हूँ, ऐसा स्वप्नमें ब्रह्मवित् मानता है, यह इसका उच्च लोक है) इस श्रुतिसे प्रतिपादित स्वप्नकालीन निर्गुण ब्रह्मसाक्षात्कारके प्रति मन ही करण माना गया है, क्योंकि स्वप्नकालमें मनके सिवा अन्य करण नहीं रहते हैं। आत्मसाक्षात्कारके प्रति प्रसङ्ख्यान मनकी सहकारितारूपसे उपयुक्त होता है, क्योंकि 'महावाक्यार्थकी भावनाके परिपाकसे युक्त अन्तःकरण तत्-तत् उपाधिके आकारके निषेधसे त्वंपदार्थके अपरोक्षानुभवमें तत्पदार्थत्वका आविर्भाव करता है' इस प्रकार भामतीकारका वचन भी है। 'ज्ञानप्रसादेन † विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु' (ध्यानसे लब्ध चित्तकी एकाग्रतासे शुद्ध ब्रह्मको देखता है) इस श्रुतिमें भी 'ज्ञानप्रसाद' शब्दसे विवक्षित चित्तकी एकाग्रताके प्रति हेतुरूपसे ही ध्यानशब्दका प्रयोग किया गया है। केवल प्रसंख्यान आत्मसाक्षात्कारमें करण नहीं है, क्योंकि कहीं भी उसकी ज्ञानके करणरूपसे प्रतीति नहीं होती है। और कामातुर पुरुषके कामिनीसाक्षात्कारकी प्रसङ्ख्यानसहकृत मनकी करणतासे ही उपपत्ति हो सकती है, फिर ज्ञानके प्रति अक्लृप्त अन्य करण माननेमें कोई प्रमाण नहीं है।

---

† करण-व्युत्पत्तिसे अर्थात् 'ज्ञायते अनेन' इत्यादि व्युत्पत्तिसे ज्ञानशब्दका अर्थ अन्तःकरण है, उसका प्रसाद—चित्तकी एकाग्रता, यह एकाग्रता ध्यानसे प्राप्त होती है,

महावाक्यं परे प्राहुर्मनसः प्रतिषेधतः ॥ २० ॥

कुछ लोग कहते हैं कि ब्रह्मसाक्षात्कारमें तत्त्वमस्यादि महावाक्य ही करण है, क्योंकि अनेक श्रुतियोंमें मनकी करणताका प्रतिषेध किया गया है ॥ २० ॥

अपरे तु 'तद्धास्य विजज्ञौ' 'तमसः पारं दर्शयति' 'आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरम्' इत्यादिश्रुतिषु आचार्योपदेशानन्तरमेव ब्रह्मसाक्षात्कारोदये जीवन्मुक्तिश्रवणाद्, 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' इति ज्ञानान्तरनैराकाङ्क्ष्यश्रवणात्, 'तं त्वौपनिषदं पुरुषम्' इति ब्रह्मण उपनिषदेकगम्यत्वश्रवणाच्च औपनिषदं महावाक्यमेव ब्रह्मसाक्षात्कारे

कुछ लोग कहते हैं कि 'तद्धास्य विजज्ञौ' (उसने पिताके उपदेशसे उस ब्रह्मका साक्षात्कार किया) 'तमसः पारं दर्शयति०' (अविद्याके अधिष्ठानभूत ब्रह्मको दिखलाता है) 'आचार्यवान्०' (आचार्यवाला पुरुष जानता है, विद्वान्की विदेह मुक्तिमें तबतक ही देर है, जबतक प्रारब्धसे वह मुक्त नहीं होता है) इत्यादि अनेक श्रुतियोंमें आचार्यके उपदेशके बाद ही ब्रह्मसाक्षात्कारका उदय होनेपर जीवन्मुक्तिका श्रवण है, इसलिए और 'वेदान्तविज्ञान०' * (वेदान्त वाक्योंके ज्ञानसे ही जिन्हे अर्थ निश्चित हो गया है) इससे ज्ञानके बाद किसी आकाङ्क्षाके न होनेसे एवं 'तन्त्वौपनिषदं पुरुषम्' (उस उपनिषत्प्रमाणगम्य पुरुषको) इस श्रुतिसे ब्रह्मके उपनिषत्प्रमाणगम्यत्वके श्रवणसे [यही निश्चित होता है] ब्रह्मके साक्षात्कारके प्रति उपनिषत्के महावाक्य ही † करण हैं, मन

इसलिए ध्यानसे लब्ध चित्तकी एकाग्रतासे उस आत्माको देखता है, यह इस श्रुतिका तात्पर्य है।

* जिन लोगोंके मतसे महावाक्य ही ब्रह्म-साक्षात्कारके प्रति कारण है, उनका मत इस ग्रन्थसे दिखलाया जाता है।

प्रकृत श्रुतिसे वेदान्तवाक्यजन्य ज्ञानसे ही ब्रह्मात्म्यैक्यरूप अर्थका निश्चय होता है, ऐसा कहनेसे वाक्यार्थज्ञानके बाद प्रसङ्ख्यानका अनुष्ठान अपेक्षित नहीं है, यह प्रतीत होता है, इसकी तभी उपपत्ति हो सकती है जब कि वाक्यसे ही अपरोक्ष ज्ञानकी उत्पत्ति मानी जाय, इससे 'वेदान्तविज्ञान' इत्यादि श्रुतिसे वाक्य ही अपरोक्षज्ञानमें करणत्वरूपसे निश्चित होता है, यह भाव है।

† सांख्य और योगमार्गके अनुष्ठानसे दृष्ट और अदृष्टरूप सकल प्रतिबन्धकका विनाश होनेपर प्रतिबन्धकसे रहित वाक्य ही साक्षात्कारको उत्पन्न करता है, इसलिए वाक्यके करणत्व-पक्षमें सांख्य और योगमार्गकी वैयर्थ्यशङ्का नहीं हो सकती है, यह भाव है।

करणम्, न मनः। 'यन्मनसा न मनुते' इति तस्य ब्रह्मसाक्षात्कारकरणत्वनिषेधात्। न चाऽपक्वमनोविषयमिदम्। 'येनाहुर्मनो मतम्' इतिवाक्यशेषे मनोमात्रग्रहणात्। न चैवं 'यद्वाचाऽनभ्युदितम्' इति शब्दस्यापि तत्करणत्वं निषिध्यते इति शङ्क्यम्, मनःकरणत्ववादिनामपि शब्दस्य निर्विशेषपरोक्षज्ञानकरणत्वस्याभ्युपगतत्वेन तस्य 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुत्यनुरोधेन शब्दार्थप्राप्तिरूपशक्तिमुखेन शब्दस्य तत्करणत्वनिषेधे तात्पर्यस्य वक्तव्यतया शक्यसम्बन्धरूपलक्षणामुखेन तस्य तत्कारणत्वाविरोधात्। न च 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इति श्रुतिसिद्धं मनसोऽपि तत्करणत्वं न पराकर्तुं शक्यमिति वाच्यम्,

नहीं। क्योंकि 'यन्मनसा न मनुते' (जिसका मनसे ज्ञान नहीं हो सकता है) इस श्रुतिसे ब्रह्मसाक्षात्कारके प्रति मनकी साधनताका निषेध किया गया है। यदि शङ्का हो कि वह निषेध अपक्व मनके लिए है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'येनाहुर्मनो मतम्' (जिस चैतन्यसे मनका प्रकाश होता है) इस प्रकारके वाक्यशेषमें सामान्य मनका ही ग्रहण है। यदि शङ्का हो कि 'यद्वाचानभ्युदितम्' (जिस चैतन्यका वाणीसे प्रकाश नहीं होता है) इस श्रुतिसे शब्दकी भी ब्रह्मसाक्षात्कारके प्रति कारणताका खण्डन किया गया है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि मन जिसके मतमें साक्षात्कारके प्रति करण है, उसके मतमें भी शब्दको निर्विशेष वस्तुके परोक्षज्ञानके प्रति करण मानते हैं, अतः 'यद्वाचानभ्युदितम्' इत्यादि निषेधका 'यतो वाचो०' * (मनके साथ वाणी भी प्राप्ति न कर जिससे निवृत्त होती है) इस प्रकारकी श्रुतिके अनुरोधसे शब्दकी अर्थप्राप्तिरूपा शक्तिके निषेध द्वारा शब्दनिष्ठ साक्षात्कारके निषेधमें तात्पर्य है, ऐसा कहना होगा, इसलिए शक्यसम्बन्धरूप लक्षणाके द्वारा शब्दमें ब्रह्मसाक्षात्कारकी करणताका निषेध नहीं है। यदि शङ्का हो कि 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' (मनसे ही ब्रह्मका साक्षात्कार करना चाहिए) इस श्रुतिसे मनमें सिद्ध हुई साक्षात्कारकरणताका निषेध नहीं कर सकते हैं, तो यह भी

* अर्थात् पूर्वापरवाक्योंके अनुसन्धानसे यही ज्ञात होता है, कि शब्द शक्तिवृत्तिसे ब्रह्मका बोधक नहीं है, परन्तु लक्षणावृत्तिसे बोधक नहीं है, यह नहीं मान सकते हैं, यह भाव है।

शाब्दसाक्षात्कारजननेऽपि तदैकाग्र्यस्याऽपेक्षितत्वेन हेतुत्वमात्रेण तृतीयोपपत्तेः। 'मनसा ह्येष पश्यति मनसा शृणोति' इत्यादौ तथा दर्शनात्। गीताविवरणे भाष्यकारीयमनःकरणत्ववचनस्य मतान्तराभिप्रायेण प्रवृत्तेरित्याहुः ॥ ९ ॥

ननु तथाऽपि शब्दस्य परोक्षज्ञानजनकत्वस्वभावस्याऽपरोक्षज्ञानजनकत्वं न सङ्गच्छते इति चेत्,

मानान्तरस्याप्रसरात्परोक्षेण भ्रमाक्षयात्।
सहकारिविधानाच्च शब्दादप्यपरोक्षधीः ॥ २१ ॥

ब्रह्ममें किसी अन्य प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं होनेसे, परोक्षज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति न होनेसे और सहकारी (मनन आदि) का विधान होनेसे शब्दसे भी अपरोक्ष ज्ञान हो सकता है ॥२१॥

अत्र केचित्—स्वतोऽसमर्थोऽपि शब्दः शास्त्रश्रवणमननपूर्वकप्रत्ययाभ्यासजनितसंस्कारप्रचयलब्धब्रह्मैकाग्र्यचित्तदर्पणानुगृहीतोऽपरोक्षज्ञानमु-

युक्त नहीं है, क्योंकि शब्दसाक्षात्कारके उत्पादनमें भी मनकी एकाग्रताकी अपेक्षा होनेसे केवल हेतु अर्थमें भी उक्त तृतीयाकी (मनसा) उपपत्ति हो सकती है। 'मनसा ह्येष' (यह मनसे देखता है और मनसे सुनता है) इत्यादि स्थलमें चाक्षुष आदि ज्ञानमें मनकी करणताके न होनेपर भी केवल हेतुत्वरूपसे तृतीयाकी उपलब्धि है। गीताके विवरणमें मनमें करणताका प्रतिपादक जो भाष्यकारका वचन है, उसकी किसी मतान्तरसे (वृत्तिकारके मतसे) प्रवृत्ति हुई है, खास निजी मतसे नहीं, अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है ॥९॥

अब शङ्का होती है कि शब्दके ब्रह्मसाक्षात्कारकरणत्वपक्षमें श्रुति और भाष्यका विरोध यद्यपि नहीं है, तथापि जिस शब्दका स्वभाव परोक्षज्ञानजनकता है, उसकी अपरोक्षज्ञानजनकता कैसे सङ्गत हो सकती है?

इस प्रश्नके समाधानमें कुछ लोग कहते हैं कि यद्यपि शब्द स्वतः अपरोक्षज्ञान करनेमें समर्थ नहीं है, तथापि शास्त्रश्रवणमननपूर्वक प्रत्ययाभ्याससे उत्पन्न अनेक संस्कारोंसे प्राप्त ब्रह्मैकाग्र्यसे युक्त चित्तरूप दर्पणसे * अनुगृहीत

* जैसे चक्षु अपने आप प्रतिबिम्बका ग्रहण नहीं करता है, तथापि दर्पणके समवधानसे प्रतिबिम्बका ग्रहण करता है, वैसे ही प्रकृतमें चित्ताख्य दर्पणसे युक्त शब्द अपरोक्षज्ञानको पैदा करता है, यह भाव है।

त्पादयति शास्त्रीयसंस्कारसंस्कृताग्न्यधिकरणक इव होमोऽपूर्वमिति कल्प्यते। 'तरति शोकमात्मविद्' इति शास्त्रप्रामाण्याद्। अपरोक्षस्य कर्तृत्वाध्यासस्यापरोक्षाधिष्ठानज्ञानं विना निवृत्त्ययोगाद् औपनिषदे ब्रह्मणि मानान्तराप्रवृत्तेः शब्दादप्यपरोक्षज्ञानानुत्पत्तौ अनिर्मोक्षप्रसङ्गादित्याहुः।

भावनाऽऽवृत्तिसचिवाद्विधुरस्येव मानसात्।
कामिन्या इव शब्दात्तामितरे सम्प्रचक्षते ॥ २२ ॥

भावनाकी आवृत्तिसे युक्त अन्तःकरणसे जैसे विधुर पुरुषको कामिनीका साक्षात्कार होता है, वैसे ही भावनाकी आवृत्तिसे युक्त शब्दसे भी ब्रह्मसाक्षात्कार होता है, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं ॥२२॥

शब्द अपरोक्ष ज्ञानको उत्पन्न करता है, जैसे कि शास्त्रीय संस्कारसे संस्कृत † अग्निमें होनेवाला होम अपूर्वकी उत्पत्ति करता है, क्योंकि 'तरति शोकमात्मवित्' यह श्रुति प्रमाण है। और अपरोक्षरूप कर्तृत्वादि अध्यासकी अधिष्ठानविषयक अपरोक्ष ज्ञानके विना × निवृत्ति नहीं हो सकती है, इसलिए जिसमें अन्य प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं है, ऐसे केवल उपनिषत् प्रमाणगम्य ब्रह्मकी शब्दसे भी अपरोक्षानुभूति न मानी जाय, तो मोक्षकी ‡ अप्रसक्ति होगी।

---

† अर्थात् आधान आदि संस्कारोंसे संस्कृत अग्निमें किया हुआ होम (त्यक्त द्रव्यका अग्निमें प्रक्षेप) ही अपूर्वकी उत्पत्ति करता है, क्योंकि आधान आदि संस्कार से रहित अग्निमें किया हुआ होम अपूर्वकी उत्पत्तिमें समर्थ नहीं है, इसी प्रकार शब्द भी उक्त चित्तदर्पणानुगृहीत होकर अपरोक्षज्ञानकी उत्पत्ति करता है, यह भाव है।

× कारण कि श्रवण आदिसे उत्पन्न परोक्षज्ञानके रहते हुए भी कर्तृत्वादि अध्यासकी निवृत्ति नहीं होती है, यदि परोक्षज्ञानमात्रसे अध्यासकी निवृत्ति मानी जाय, तो मनन आदिका विधान व्यर्थ होगा और अपरोक्ष दिग्भ्रम अपरोक्ष साक्षात्कारके विना निवृत्त भी नहीं होता, अतः अपरोक्षकर्तृत्वादि अध्यासकी निवृत्ति करनेके लिए अवश्य शब्दसे अपरोक्ष ज्ञान मानना चाहिए, यह भाव है।

‡ तात्पर्य यह है कि अतीन्द्रिय मनको यदि ब्रह्मसाक्षात्कारके प्रति करण माना जाय, तो केवल उपनिषत्प्रमाणसे ही ब्रह्मका ज्ञान होता है, इस औपनिषदत्वश्रुतिके साथ विरोध होनेसे ब्रह्ममें किसी शब्दभिन्न प्रमाणकी प्रवृत्ति न होनेपर शब्दकी भी यदि प्रवृत्ति न मानी जाय, तो ब्रह्मसाक्षात्कारकरणके लब्ध न होनेसे ब्रह्मसाक्षात्कार भी नहीं होगा और सुतरां मोक्षबोधक सम्पूर्ण शास्त्रोंकी अप्रामाण्यप्रसक्ति होगी, इसलिए मोक्षबोधकशास्त्रोंके प्रामाण्यके लिए अवश्य शब्दको साक्षात्कारके प्रति करण मानना चाहिए, यह भाव है।

अन्ये तु भावनाप्रचयसाहित्ये सति बहिरसमर्थस्यापि मनसो नष्टवनितासाक्षात्कारजनकत्वदर्शनाद् निदिध्यासनसाहित्येन शब्दस्याप्यपरोक्षज्ञानजनकत्वं युक्तमिति दृष्टानुरोधेन समर्थयन्ते *।

विज्ञातृचिदभिन्नस्य विषयस्यापरोक्ष्यतः ।
पारोक्ष्यासम्भवादन्ये प्राहुः शब्दापरोक्षताम् ॥ २३ ॥

कुछ लोग कहते हैं कि प्रमातृचैतन्यसे अभिन्न विषयका अपरोक्षत्व होनेसे और शब्दसे परोक्षज्ञानका सम्भव न होनेसे शब्दसे ही ब्रह्मका अपरोक्ष होता है ॥२३॥

अपरे तु अपरोक्षार्थविषयत्वं ज्ञानस्याऽपरोक्षत्वं नाम, अन्यानिरुक्तेः †। अर्थापरोक्षत्वं तु नापरोक्षज्ञानविषयत्वम्, येनाऽन्योन्याश्रयो भवेत् । किन्तु तत्तत्पुरुषीयचैतन्याभेदः ‡। अन्तःकरणतद्धर्माणां साक्षिणि कल्पिततया-

---

* कुछ लोग कहते हैं कि यद्यपि बाह्य पदार्थके ग्रहण करनेमें स्वतः मन असमर्थ है, तथापि भावनाधिक्यके सहकारसे वह अन्तःकरण विनष्ट वनिताके साक्षात्कारमें जैसे जनक देखा जाता है, वैसे ही निदिध्यासनके सहकारसे शब्द भी अपरोक्ष ज्ञानको उत्पन्न कर सकता है।

† अन्य लोग कहते हैं कि ज्ञानका अपरोक्षत्व अपरोक्षार्थविषयत्व है, क्योंकि उसका (अपरोक्षत्वका) निर्वचन अन्य प्रकारसे नहीं हो सकता है। अर्थनिष्ठ अपरोक्षत्व अपरोक्षज्ञानविषयत्वरूप नहीं है, जिससे कि अन्योन्याश्रय हो, किन्तु तत्-तत् पुरुषोंके चैतन्यके साथ अभेद है, ‡ अन्त.करणोंके धर्मोंकी

---

* शास्त्रप्रमाण कदाचित् न लिया जाय और केवल युक्तिके आधारपर ही विचार किया जाय, तो भी अपरोक्षज्ञानजनकत्व घट सकता है, ऐसा इस मतसे प्रतिपादन करते हैं।

† अब शब्दमें परोक्षज्ञानजनकत्व है ही नहीं, अतः नित्य अपरोक्षब्रह्मके साक्षात्कारमें वेदान्तोंकी करणता अबाधित है, इस प्रकारके मतान्तरको कहते हैं।

‡ तात्पर्य यह है कि अन्य प्रकारकी अनुपलब्धि होनेसे अर्थका अपरोक्षत्व यदि अपरोक्षज्ञानविषयत्व माना जायगा, तो अन्योऽन्याश्रय होगा, क्योंकि अर्थके अपरोक्षत्वका ज्ञान होनेपर ज्ञानके अपरोक्षत्वका ज्ञान होगा और ज्ञानके अपरोक्षत्वका ज्ञान होनेपर अर्थ की अपरोक्षताका ज्ञान होगा, इसलिए अपरोक्षज्ञानविषयकत्वको अर्थका अपरोक्षत्व नहीं कह सकते हैं, किन्तु तत्-तत् प्रमातृचैतन्यसे अभिन्नत्व ही उन उन विषयोंका तत्-तत् प्रमाताके प्रति अपरोक्षत्व है। अर्थात् तत्-तत् प्रमातृचैतन्यसे अभिन्न अर्थविषयक ज्ञान ही तत्-तत् प्रमातृचैतन्याभिन्न विषयमें अपरोक्षज्ञान है। यदि शङ्का हो कि इस प्रकारके अर्थापरोक्षत्वका अनुगम नहीं हो सकता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि अपरोक्षत्वकी जातिरूपता

तदभेदसत्त्वात्। बाह्यचैतन्ये कल्पितानां घटादीनां बाह्यचैतन्ये वृत्तिकृततत्तत्पुरुषीयचैतन्याभेदाभिव्यक्त्या तदभेदसत्त्वाच्च न काप्यव्याप्तिः। न चान्तःकरणतद्धर्माणां ज्ञानादीनामिव धर्माधर्मसंस्काराणामपि साक्षिणि कल्पितत्वाविशेषाद् आपरोक्ष्यापत्तिः। तेषामनुद्भूतत्वाद् उद्भूतस्यैव जडस्य चैतन्याभेद आपरोक्ष्यमित्यभ्युपगमात्। एवं च सर्वदा सर्वपुरुषचैतन्याभिन्नत्वाद् 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' इति श्रुत्या स्वत एवाऽपरोक्षं

साक्षीमें कल्पना होनेके कारण साक्षी चैतन्यके साथ अभेद है ही +। बाह्य घटावच्छिन्न चैतन्यमें कल्पित घट आदिका बाह्य चैतन्यमें वृत्ति द्वारा × तत्-तत् पुरुषके चैतन्यके साथ अभेदाभिव्यक्तिसे तत्-तत् पुरुषके चैतन्यके साथ अभेद होनेसे कोई अनुपपत्ति नहीं है। यदि शङ्का हो कि अन्तःकरण और उसके ज्ञान आदि धर्मोंके समान धर्म, अधर्म और संस्कारोंकी भी साक्षीमें ही कल्पना होनेसे उनका भी आपरोक्ष्य (प्रत्यक्षत्व) प्रसक्त होगा, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि धर्म आदिके अनुद्भूत होनेसे उद्भूत जड़ पदार्थका चैतन्यके साथ अभेद ही अर्थका अपरोक्षत्व है, * ऐसा स्वीकार किया गया है। इस अवस्थामें सदा सब पुरुषोंके चैतन्यके साथ अभेद होनेसे 'यत् साक्षादपरोक्षात् ब्रह्म' (साक्षात् अपरोक्ष ही ब्रह्म है) इस श्रुतिके अनुसार ब्रह्म स्वतः अपरोक्ष

और उपाधिकल्पताका पूर्वमें ही निरास किया गया है, इसलिए उसका यदि अननुगम हो, तो भी कोई हानि नहीं है।

+ साक्षीशब्दसे विवक्षित प्रमातृचैतन्यके साथ अभेद है, यह भाव है, अर्थापरोक्षत्वके निर्वचनमें कल्पिताकल्पित साधारण अभेदका प्रवेश होनेसे प्रमातृचैतन्य और जड़का वास्तविक अभेद न होनेपर भी 'जडं सत्' इस प्रतीतिसे कल्पित अभेदके होनेसे दोष नहीं है, यह तात्पर्य है।

× बाह्यविषयावच्छिन्न चैतन्यमें चक्षुरादिद्वारा निर्गतवृत्तिका संसर्ग होनेपर वृत्ति और वृत्तिमान्का अभेद सिद्ध होगा, इससे वृत्तिमान् अन्तःकरणके साथ भी संसर्ग प्राप्त होगा, इसलिए वृत्तिसे संसृष्ट बाह्य चैतन्य ही अन्तःकरणके सम्बन्धसे तत्-तत्पुरुषीय चैतन्य होगा, अतः इसी प्रकारके बाह्यचैतन्यमें वृत्तिकृत तत्-तत्पुरुषीय चैतन्याभेदकी अभिव्यक्ति भी होती है, यह भाव है।

* अर्थात् उद्भूतत्वे सति प्रमातृचैतन्याभिन्नत्वम् अर्थापरोक्षत्वम्, अर्थात् उद्भूत होकर प्रमातृचैतन्यके साथ जो अभिन्न हो, वही अर्थापरोक्षत्व है, उद्भूतत्व है, फलके बलसे कल्पित स्वभावविशेष, यह उद्भूतत्व धर्म आदिमें नहीं है और घट आदिमें है, यह समाधानका तात्पर्य है।

ब्रह्मेति अपरोक्षार्थविषयत्वात् शाब्दस्यापि ब्रह्मज्ञानस्याऽपरोक्षत्ववाचोयुक्तिर्युक्तेत्याहुः ।

अद्वैतविद्याचार्यास्तु स्वसुखज्ञानसङ्ग्रहात् ।
आपरोक्ष्यं स्फुरच्चित्त्वं तदभेदात्तु तद्धियि ॥ २४ ॥

अद्वैतविद्याचार्य कहते हैं कि स्वरूपसुखके अपरोक्षज्ञानका संग्रह करनेके लिए प्रकाशमान चैतन्यत्व ही अपरोक्षत्व है और चैतन्यके साथ अभेद होनेसे अर्थमें भी अपरोक्षत्व रह सकता है ॥२४॥

अद्वैतविद्याचार्यास्तु नापरोक्षार्थविषयत्वं ज्ञानस्याऽऽपरोक्ष्यम्, स्वरूपसुखापरोक्षरूपस्वरूपज्ञानाव्यापनात् स्वविषयत्वलक्षणस्वप्रकाशत्वनिषेधात् । किन्तु यथा तत्तदर्थस्य स्वव्यवहारानुकूलचैतन्याभेदोऽर्थापरोक्ष्यम्,

---

ही है । इसलिए अपरोक्ष अर्थको विषय करनेवाला होनेसे शब्दजन्य ब्रह्मज्ञानमें भी अपरोक्षत्वका कथन युक्ति-युक्त है ।

† अद्वैतविद्याचार्य कहते हैं कि ज्ञानका अपरोक्षत्व अपरोक्षार्थविषयत्व नहीं है, क्योंकि स्वविषयत्वलक्षण स्वप्रकाशत्वका निषेध होनेसे स्वरूपसुखके अपरोक्षरूप स्वरूपज्ञानमें उक्त लक्षण अव्याप्त होगा, किन्तु जैसे तत्-तत् अर्थोंका अपने व्यवहारानुकूल चैतन्यके साथ अभेद ही अर्थका आपरोक्ष्य है ‡

---

† पूर्वोक्त ज्ञानापरोक्षत्व और अर्थापरोक्षत्वका अन्य प्रकारसे निर्वचन करते हैं, तात्पर्य यह है कि स्वरूपसुखके अपरोक्षरूप स्वरूपज्ञानमें अपरोक्षार्थविषयकत्वके न होनेसे अपरोक्षार्थविषयकत्वरूप अपरोक्षत्वकी उसमें अवस्थिति नहीं होगी, यदि कहा जाय, कि आत्मस्वरूप सुखानुभव साक्षिचैतन्यात्मक है, इसलिए उसके स्वप्रकाश होनेसे और स्वप्रकाशत्वके स्वविषयकत्वरूप होनेसे स्वरूपसुखविषयकत्वरूप अपरोक्षत्व रह सकता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि एक ही चैतन्यमें विषयविषयिभाव लक्षण सम्बन्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि सम्बन्ध दो में रहता है, अतः उक्त लक्षणोंमें अव्याप्ति है ही ।

‡ अपने व्यहारके अनुकूल चैतन्यके साथ अभिन्नत्व ही अर्थका अपरोक्षत्व है, अन्तःकरण और उसके धर्मोंका अपने व्यवहारमें अनुकूल साक्षिचैतन्यके साथ अभेद है, क्योंकि साक्षिचैतन्यमें उनका अध्यास है, वैसे ही घट आदिका भी उनके व्यवहारमें अनुकूल घटाकारवृत्तिसे उपहित घटादिके अधिष्ठान चैतन्यके साथ अभेद है, वैसे ब्रह्मका भी अपने व्यवहारमें अनुकूल स्वविषयक वृत्तिसे उपहित साक्षिचैतन्यके साथ अभेद है, इसलिए कहींपर भी अव्याप्ति नहीं है । घट आदि अर्थोंकी चैतन्यमें ही कल्पना होनेसे चैतन्यके साथ अभेद तो है, परन्तु अपरोक्षत्व सदा नहीं है, इसलिए स्वव्यवहारानुकूल विशेषण दिया

एवं तत्तद्व्यवहारानुकूलचैतन्यस्य तत्तदर्थाभेदो। तथा च चैतन्यधर्म एवाऽऽपरोक्ष्यम्, न त्वनुमितित्वादिवद् अन्तःकरणवृत्तिधर्मः। अत एव सुखादिप्रकाशरूपे साक्षिणि स्वरूपसुखप्रकाशरूपे चैतन्ये चाऽऽपरोक्ष्यम्। न च घटाद्यैन्द्रियकवृत्तौ तदनुभवविरोधः। अनुभवस्य वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यगतापरोक्ष्यविषयत्वोपपत्तेः।

ननूक्तं ज्ञानार्थयोरापरोक्ष्यं हृदयादिगोचरशाब्दवृत्तिशाब्दविषययोर-

वैसे ही तत्-तत् व्यवहारके अनुकूल चैतन्यके साथ तत्-तत् अर्थोंका अभेद ज्ञानका अपरोक्षत्व है। इस परिस्थितिमें अर्थात् चैतन्यके ही तत्-तत् व्यवहारमें अनुकूलत्वेन विवक्षित होनेपर, अपरोक्षत्व चैतन्यका ही धर्म है, अनुमितित्व आदिके समान अन्तःकरणकी वृत्तिका धर्म नहीं है*, इससे अर्थात् अपरोक्षत्वके चैतन्य-धर्म होनेसे सुख आदिके प्रकाशरूप साक्षीमें और स्वरूपसुखप्रकाशरूप चैतन्यमें अपरोक्षत्व हो सकता है। यदि शङ्का हो कि ज्ञानापरोक्षत्वको चैतन्य धर्म माना जाय, तो घटादि विषयाकारवृत्तिमें अपरोक्षत्वव्यवहार विरुद्ध होगा, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त अनुभवकी—वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यमें रहनेवाले अपरोक्षत्वको विषय मान करके भी—उपपत्ति हो सकती है।

यदि शङ्का † हो कि ज्ञान और अर्थके आपरोक्ष्यकी हृदय आदिविषयक

गया है, घट आदि विषयक वृत्तिकी अवस्थामें ही घट आदि अधिष्ठानभूत चैतन्य उनके व्यवहारमें अनुकूल होता है, सर्वदा नहीं होता, इसलिए अतिप्रसङ्ग नहीं है, यह भाव है।

* यदि अपरोक्षत्वको वृत्तिधर्म माना जायगा, तो सुख, दुःख आदि पदार्थोंकी अपरोक्षवृत्तिका अङ्गीकार न होनेसे और सुखादिके अवभासक साक्षिचैतन्यमें अपरोक्षत्वरूप वृत्तिधर्मके न होनेसे सुख आदिका अपरोक्षत्वानुभव विरुद्ध होगा, इसलिए अपरोक्षत्वको ज्ञानका ही धर्म मानना चाहिए, वृत्तिका नहीं, यह तात्पर्य है। अपरोक्षत्वका परिष्कृत लक्षण यह हुआ—तत्तदर्थव्यवहारानुकूलत्वे सति तत्तदर्थाभिन्नत्वम् अर्थात् उन उन पदार्थोंके व्यवहारमें अनुकूल होकर उन उन पदार्थोंसे जो अभिन्नत्व है, वह ज्ञानापरोक्षत्व है। वह्निविषयक अनुमित्यात्मक वृत्तिसे उपहित जीव चैतन्यमें भी जो वह्निव्यवहारका अनुकूल है, मुख्यन्त अर्थात् तत्-तदर्थव्यवहारानुकूलत्व है, अतः उसमें अतिव्याप्तिवारण करनेके लिए विशेष्य दल है। घटादिविषयक ज्ञानके अभावकालमें भी घटाद्यवच्छिन्न चैतन्यमें घटाद्यर्थाभिन्नत्व है, इसलिए उसके वारणके लिए विशेषण दल है, यह भाव है।

† शङ्काका तात्पर्य यह है कि अन्तःकरणमें उत्पद्यमान सारे शरीरमें व्याप्त होनेवाली हृदय, नाडी और धर्म आदिको विषय करनेवाली शाब्दवृत्ति दैवयोगसे कदाचित् हृदय,

तिप्रसक्तम् । तत्र दैवात् कदाचित् वृत्तिविषयसंसर्गे सति वृत्त्यवच्छिन्न-चैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्यस्य चाऽभेदाभिव्यक्तेरवर्जनीयत्वादिति चेद्, न; परोक्षवृत्तेर्विषयावच्छिन्नचैतन्यगताज्ञाननिवर्तनाक्षमतया तत्राऽज्ञानेनाऽऽवृतस्य विषयचैतन्यस्याऽनावृतेन वृत्त्यवच्छिन्नसाक्षिचैतन्येनाऽभेदाभिव्यक्तेरभावादापरोक्ष्याप्रसक्तेः । अत एव जीवस्य संसारदशायां वस्तुतस्सत्यपि ब्रह्माभेदे न तदापरोक्ष्यम्, अज्ञानावरणकृतभेदसत्त्वात् । न चैवं ब्रह्मणो

शब्दवृत्ति और शाब्दज्ञान विषयमें अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि उस स्थलमें दैवसे कदाचित् वृत्ति और विषयका परस्पर संसर्ग होनेसे वृत्तिसे अवच्छिन्न चैतन्य और विषयसे अवच्छिन्न चैतन्यकी अभेदाभिव्यक्ति अवश्य हो सकती है, तो यह भी युक्त नहीं है ‡, क्योंकि परोक्षवृत्ति विषयावच्छिन्न चैतन्यमें रहनेवाले अज्ञानकी निवृत्ति नहीं कर सकती है, इसलिए उक्त स्थलमें अज्ञानसे आवृत विषय चैतन्यका अनावृत वृत्त्यवच्छिन्न साक्षीरूप चैतन्यके साथ अभेदकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है, इससे अपरोक्षत्वकी प्रसक्ति नहीं हो सकती है। इसीसे संसारदशामें ब्रह्मके साथ जीवका अभेद है, तो भी उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है, क्योंकि अज्ञानके आवरणसे भेद है* ।

नाडी आदिसे अवच्छिन्न अन्तःकरणके प्रदेशमें उत्पन्न हो, तो हृदय आदिरूप विषयसे अवच्छिन्न चैतन्यका और हृदय आदिविषयक शाब्दवृत्तिसे अवच्छिन्न चैतन्यका परस्पर अवश्य अभेद अभिव्यक्त होगा, क्योंकि घटादिस्थलमें वृत्तिका विषयके साथ सम्बन्ध होनेपर वृत्त्यवच्छिन्न और विषयावच्छिन्न चैतन्यकी अभेदाभिव्यक्ति मानी गई है। इस अवस्थामें हृदय आदिविषयक शाब्द और अनुमिति आदिवृत्तिसे अवच्छिन्न चैतन्यरूप परोक्ष ज्ञानमें, जो कि हृदय आदि अर्थोंसे अभिन्न है और उनके व्यवहारमें अनुकूल है, ज्ञानके अपरोक्षत्वरूप लक्षणकी अतिव्याप्ति अवश्य हो सकती है, अतः तथाकथित ज्ञानका अपरोक्षत्व असिद्ध है।

‡ समाधानका तात्पर्य यह है कि जिन चैतन्योंका परस्पर अभेद विवक्षित है उनका अनावृतत्व भी अपेक्षित है, क्योंकि उनमें से एक भी चैतन्य यदि आवृत हो, तो उनका अभेद अभिव्यक्त नहीं हो सकता है, इसलिए हृदय आदि विषयको अवगाहन करनेवाली शाब्दवृत्ति स्थलमें उक्त लक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं हो सकती है।

* तात्पर्य यह है कि अभेदाभिव्यक्तिमें ही अपरोक्षत्वप्रयोजकताका अङ्गीकार होनेसे तत्त्वसाक्षात्कारके पूर्वकालमें ब्रह्मका अपने व्यवहारमें अनुकूल जीव चैतन्यके साथ अभेद होनेपर भी अभेदाभिव्यक्ति न होनेसे ब्रह्मका अपरोक्षत्व नहीं होता है।

जीवापरोक्ष्यासम्भवादसर्वज्ञत्वापत्तिः; अज्ञानस्य ईश्वरं प्रत्यनावारकतया तं प्रति जीवभेदानापादनात्। यद् अज्ञानं यं प्रत्यावरकम्, तस्य तं प्रत्येव स्वाश्रयभेदापादकत्वात्। अत एव चैत्रज्ञानेन तस्य घटाज्ञाने निवृत्ते अनिवृत्तं मैत्राज्ञानं मैत्रं प्रत्येव विषयचैतन्यस्य भेदापादकमिति न चैत्रस्य

यदि शङ्का हो कि अज्ञानकृत भेदके अभेदाभिव्यक्तिका प्रतिबन्धक होनेपर ब्रह्मको जीवका प्रत्यक्ष न होनेसे ईश्वरमें असर्वज्ञत्वकी प्रसक्ति * होगी, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि † ईश्वरके प्रति अज्ञान आवरण नहीं करता है, अतः ईश्वरके प्रति जीवके भेदका वह अज्ञान आपादन नहीं करता है, क्योंकि जो अज्ञान ‡ जिसके प्रति आवरण करता हो वह उसीके प्रति अपने आश्रयके भेदका आपादन करता है। इसीसे × चैत्रके ज्ञानसे उसके घटाज्ञानके निवृत्त-होनेपर भी अनिवृत्त मैत्रका अज्ञान मैत्रके प्रति विषयचैतन्यके भेदका आपादक

---

* शङ्काका तात्पर्य यह है कि 'जीवका मैं साक्षात्कार करता हूँ' जीव मुझे अपरोक्ष है, इत्यादि जीवविषयक व्यवहारमें अनुकूल जो ब्रह्मका ज्ञान है, वह मायावृत्तिसे उपहित नहीं है, किन्तु ब्रह्मचैतन्य ही है, इस परिस्थितिमें ब्रह्मकर्तृक व्यवहारके विषयीभूत जीवका और ब्रह्मकर्तृक व्यवहारमें अनुकूल उक्त ब्रह्मचैतन्यका परस्पर अभेद होनेपर भी अभेदकी अभिव्यक्ति नहीं होनेसे ब्रह्मके प्रति जीव अपरोक्ष नहीं होगा, इसलिए ब्रह्मको सर्वज्ञत्व नहीं होगा, यदि कहा जाय कि ब्रह्मके जीवविषयक परोक्षज्ञानसे ही सर्वज्ञत्वकी उपपत्ति हो सकती है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि ईश्वरके परोक्षज्ञानका अङ्गीकार नहीं है।

† जो अज्ञान है, वह जीवधर्मिक ब्रह्मप्रतियोगिक भेदका प्रयोजक है, क्योंकि जीवको ही 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' इस प्रकार अनुभव होता है, इसलिए ब्रह्मधर्मिक जीवप्रति-योगिक भेदका अज्ञान प्रयोजक नहीं है, क्योंकि 'मैं (ब्रह्म) जीव नहीं हूँ' इस प्रकारके ब्रह्मके अनुभवमें प्रमाण नहीं है। इस अवस्थामें ब्रह्मके प्रति जीवकी ब्रह्मके साथ अभेदाव्यक्तिमें प्रतिबन्धक अज्ञानकृत भेदके न होनेसे उक्त दोष नहीं है, इस अभिप्रायसे उक्त आक्षेपका परिहार करते हैं। और दूसरी बात यह भी है कि 'मैं अज्ञानी हूँ' इस प्रकार ईश्वरको अनुभव भी नहीं होता है, अतः ईश्वरके प्रति जीवका आवारक भी अज्ञान नहीं होता है।

‡ अर्थात् जिस जीवके प्रति जो अज्ञान विषयचैतन्यका आवारक है, उसी जीवके प्रति वह अज्ञान अपने आश्रयभूत विषयचैतन्यप्रतियोगिक भेदका प्रयोजक होता है, यह भाव है।

× प्रकृतमें भाव यह है कि जैसे घटावच्छिन्न चैतन्यमें चैत्रके प्रति घटावच्छिन्न चैतन्यका आवारक अज्ञान रहता है, वैसे ही मैत्रके प्रति भी घटचैतन्यका आवारक अज्ञान भी उसमें रहता है। इससे चैत्रीय घटके ज्ञानसे चैत्रीय घटाज्ञानके—जो कि अपने आश्रय विषयचैतन्यके भेदका आपादक है—निवृत्त होनेपर भी चैत्रीय घटज्ञानसे अनिवृत्त घटचैतन्यमें रहनेवाला मैत्रके प्रति

घटापरोक्ष्यानुभवानुपपत्तिरपि। नन्वेवं वृत्तिविषयचैतन्याभेदाभिव्यक्ति-लक्षणस्याऽऽपरोक्ष्यस्य स्वविषयचैतन्यगताज्ञाननिवृत्तिप्रयोज्यत्वे तस्याज्ञाननिवृत्तिप्रयोजकत्वायोगाद् ज्ञानमात्रमज्ञाननिवर्तकं भवेदिति चेद्, नः 'यद् ज्ञानमुत्पद्यमानं स्वकारणमहिम्ना विषयसंसृष्टमेवोत्पद्यते, तदेवाज्ञाननिवर्तकम्' इति विशेषणाद्, ऐन्द्रियकज्ञानानां तथात्वात्। एवं च शब्दादुत्पद्यमानमपि ब्रह्मज्ञानं सर्वोपादानभूतस्वविषयब्रह्मसंसृष्टमेव

है, इसलिए चैत्रको घटके अपरोक्षत्वका अनुभव भी नहीं होता है। *यदि शङ्का हो कि ऐसा माननेपर अर्थात् वृत्त्यवच्छिन्न और विषयावच्छिन्न चैतन्यके अभेदकी अभिव्यक्तिरूप अपरोक्षत्वके अपने विषयमें रहनेवाले अज्ञानकी निवृत्तिसे प्रयोज्य होनेपर उसमें अज्ञाननिवृत्तिकी प्रयोजकताका अभाव होनेसे ज्ञानमात्र ही अज्ञानका निवर्तक प्रसक्त होगा? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जो उत्पद्यमान ज्ञान अपने कारणकी सामर्थ्यसे विषयसंसृष्ट ही उत्पन्न होता है, वही अज्ञानका निवर्तक होता है, ऐसा विशेषण होनेसे इन्द्रियजन्य ज्ञान ही अज्ञानके निवर्तक होते हैं, सब ज्ञान नहीं। इसी प्रकार शब्दसे उत्पद्यमान ब्रह्मज्ञान भी सबके प्रति उपादानभूत अपने विषयरूप ब्रह्मसे संसृष्ट ही उत्पन्न

घटावारक अज्ञान मैत्रके प्रति ही स्वाश्रयभूत घटचैतन्यप्रतियोगिक भेदका आपादक होगा, मैत्रका अज्ञान चैत्रके प्रति घटावच्छिन्न चैतन्यका अनावारक है, तथापि चैत्रके प्रति स्वाश्रयभूत घटावच्छिन्न चैतन्यप्रतियोगिक भेदका आपादक नहीं है, इस अवस्थामें चैत्रके घटज्ञानसे चैत्रके अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे तत्कृत भेदकी निवृत्ति होनेपर भी चैत्र और घटावच्छिन्न चैतन्यका परस्पर मैत्राज्ञानकृत भेद होनेसे अभेदकी अभिव्यक्ति नहीं है, अतः चैत्रको घटके अपरोक्षत्वका अनुभव अनुपपन्न ही होगा, इससे मैत्रका अज्ञान मैत्रके प्रति जैसे स्वाश्रय चैतन्यका अभेदापादक है, वैसे चैत्रके प्रति स्वाश्रयचैतन्यप्रतियोगिक भेदका आपादक नहीं है, क्योंकि चैत्रके प्रति स्वाश्रय चैतन्यका आवारक नहीं है, ऐसा कहना होगा, इसलिए उक्त व्यवस्थाकी सिद्धि होगी।

* तात्पर्य यह है कि 'अपरोक्षज्ञान अज्ञानका निवर्तक होता है' इस प्रकारसे ज्ञानके अज्ञाननिवर्तकत्वमें अपरोक्षत्वको प्रयोजक नहीं मान सकते हैं, क्योंकि ज्ञानगत अपरोक्षत्व अज्ञानकी निवृत्तिके अधीन है, यदि कहो कि ज्ञानगत अपरोक्षत्व अज्ञाननिवृत्तिका प्रयोजक नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे ज्ञानमात्रमें अज्ञाननिवर्तकत्वकी प्रसक्ति होनेसे परोक्षज्ञानमें भी अज्ञाननिवर्तकत्वकी प्रसक्ति होगी, इस अभिप्रायसे इस ग्रन्थसे शङ्का करते हैं।

उत्पद्यत इति तस्याऽज्ञाननिवर्तकत्वमज्ञाननिवृत्तौ तन्मूलभेदप्रविलयादा-
*परोक्ष्यं चेत्युपपद्यतेतराम् ।

नन्वध्ययनकालेऽपि शब्दात् स्यादपरोक्षधीः ।
सत्ताधृतिर्विचाराचेन्मननादिश्रमो वृथा ॥ २५ ॥
मैवं पुन्दोपशान्त्यर्थं मननादेर्विधानतः ।
तत्तत्संसृष्टवृत्त्येत्थं तदज्ञाननिवर्हणम् ॥ २६ ॥

यदि शङ्का हो कि अध्ययनकालमें भी वेदान्तशब्दसे अपरोक्ष ज्ञानके होनेसे विचार व्यर्थ है, यदि कहें कि ब्रह्मसत्ताके निश्चयात्मक ज्ञानके लिए उसकी आवश्यकता है, तो मनन आदिकी निरर्थकता होगी, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि पुरुषदोषकी निवृत्ति करनेके लिए मनन आदिका विधान होनेसे तत्-तत् अर्थोंसे संसृष्ट वृत्तिसे तत्तद्विषयक अज्ञानकी निवृत्ति होती है ॥ २५ ॥ २६ ॥

नन्वेवमध्ययनगृहीतवेदान्तजन्येनापि तज्ज्ञानेन मूलाज्ञाननिवृत्त्या आपरोक्ष्यं किं न स्यात् । न च तत्सत्तानिश्चयरूपत्वाभावाद् नाज्ञान-निवर्तकमिति वाच्यम् , तथाऽपि कृतश्रवणस्य निर्विचिकित्सशाब्दज्ञानेन तन्निवृत्त्या मननादिवैयर्थ्यापत्तिरिति चेद्, न; सत्यपि श्रवणाद् निर्वि-चिकित्सज्ञाने चित्तविक्षेपदोषेण प्रतिबन्धाद् अज्ञानानिवृत्त्या तन्निराकरणे

होता है, इसलिए उसमें अज्ञानकी निवर्तकता है और अज्ञानकी निवृत्तिहोनेसे तन्मूलक भेदका विनाश होनेसे अपरोक्षत्वकी भी उपपत्ति हो सकती है ।

यदि शङ्का हो कि ऐसा होनेपर अध्ययनसे सम्पादित वेदान्तसे उत्पन्न ब्रह्मज्ञानसे भी मूलभूत अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे अपरोक्षत्व क्यों नहीं होता ? यदि कहो कि विचारके पूर्व अध्ययनगृहीत वेदान्तजन्य ज्ञान सत्तानिश्चयात्मक नहीं है, अतः अज्ञानका निवर्तक नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि निवर्तक ज्ञानमें सत्तानिश्चयरूपत्व विशेषण देनेपर भी कृतश्रवण पुरुषको सत्तानिश्चयात्मक शाब्दज्ञान होनेसे उसीसे अज्ञानकी निवृत्ति हो सकती है, फिर मनन आदि निरर्थक प्रसक्त होंगे, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि श्रवणसे सत्ता-निश्चयात्मक ज्ञानके होनेपर भी चित्तके विक्षेपात्मक दोषसे प्रतिबन्ध होनेके कारण अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती है, अतः उसके (अज्ञानके) निराकरण

* अर्थात् जो ज्ञान नियमतः विषयसंसृष्टरूपसे उत्पन्न हो, वही ज्ञान अज्ञानका निवर्तक होता है, ऐसे नियमका अङ्गीकार करनेसे, यह भाव है ।

मननिदिध्यासननियमविध्यर्थानुष्ठानस्याऽर्थवत्त्वाद्, भवान्तरीयमननाद्यनुष्ठाननिरस्तचित्तविक्षेपस्य उपदेशमात्राद् ब्रह्मापरोक्ष्यस्य इष्यमाणत्वाच्चेत्याहुः ॥ १० ॥

नन्वेवं वृत्त्याभिव्यक्तचिदंशे विषयैक्यतः ।
श्रवणादिमतो नश्येन्मूलाज्ञानं घटेक्षणात् ॥ २७ ॥

अब शङ्का होती है कि वृत्तिसे अभिव्यक्त चैतन्यांशमें विषयका ऐक्य होनेसे श्रवणादिसे युक्त पुरुषको घटके ज्ञानसे भी मूलाज्ञानका विनाश होना चाहिए ॥२७॥

अथैवमपि कृतनिदिध्यासनस्य वेदान्तजन्यब्रह्मज्ञानेनेव घटादिज्ञानेनाऽपि ब्रह्माज्ञाननिवृत्तिः किं न स्यात् । न च तस्य ब्रह्माविषयत्वाद् न ततो ब्रह्माज्ञाननिवृत्तिरिति वाच्यम्, 'घटस्सन्' इत्यादिबुद्धिवृत्तेः सद्रूप-

करनेके लिए मनन और निदिध्यासनकी नियमविधिसे प्राप्त अर्थके अनुष्ठानकी अवश्य अपेक्षा है, और जन्मान्तरीय † मनन आदिके अनुष्ठानसे जिसके चित्तकी अस्थिरता (विक्षेप) निवृत्ति हुई है, ऐसे पुरुषको केवल उपदेशमात्रसे भी ब्रह्मापरोक्ष इष्ट ही है ॥१०॥

* अब शङ्का होती है कि विक्षेपदोषकी निवृत्तिके लिए मनन आदिकी अपेक्षा होनेपर भी जिसने निदिध्यासन किया है, ऐसे पुरुषको वेदान्तोंसे उत्पन्न ब्रह्मज्ञानसे जैसे ब्रह्मविषयक अज्ञानकी निवृत्ति होती है, वैसे ही उसके घटादिज्ञानसे भी अज्ञानकी निवृत्ति क्यों नहीं होती है ? यदि कहो कि घटविषयक ज्ञान ब्रह्मविषयक नहीं है, अतः वह ब्रह्माज्ञानका निवर्तक नहीं है, तो यह भी

† तात्पर्य यह है कि यदि मनन आदिका प्रयोजन विक्षेपशब्दसे कहलानेवाले असम्भावना, विपरीत भावना आदिकी निवृत्ति है, तो जिस अधिकारी पुरुषका जन्मान्तरीय मनन आदिके सहित श्रवणके अनुष्ठानसे समस्त विक्षेपदोष निवृत्त हो गया है, उस पुरुषको उपदेशमात्रसे भी सत्तानिश्चयात्मक और अप्रतिबद्ध ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिए उसको इस जन्ममें श्रवण, मनन, आदिके अनुष्ठानके विना भी मूलाज्ञानकी निवृत्ति और ब्रह्मका अपरोक्षज्ञान हो सकता है, इसलिए उक्त पुरुषको श्रवणादिके अनुष्ठानके विना ही यदि ब्रह्मज्ञान माना जाय, तो भी कोई हानि नहीं है।

* शङ्काका अभिप्राय यह है कि जिसने निदिध्यासन किया है, ऐसे पुरुषको ब्रह्मज्ञानसे जैसे मूलाज्ञानकी निवृत्ति होती है, वैसे ही घटज्ञानसे भी मूल अज्ञानकी निवृत्ति होनी चाहिए, क्योंकि घटादिवृत्ति भी मूलाज्ञानके विषयभूत चैतन्यको ही विषय करती है।

ब्रह्मविषयत्वोपगमात्। न च तत्र घटाद्याकारवृत्त्या तदज्ञाननिवृत्तौ स्वतः स्फुरणादेव तदवच्छिन्नं चैतन्यं सदिति प्रकाशते, न तस्य घटाद्याकारवृत्तिविषयत्वमिति वाच्यम्, तदभावे घटविषयं ज्ञानं तदवच्छिन्नचैतन्यविषयमज्ञानमिति भिन्नविषयेण ज्ञानेन तदज्ञाननिवृत्तेरयोगाद्, जडे आवरणकृत्याभावेन घटस्याऽज्ञानाविषयत्वात्। न च घटादिवृत्तेस्तदवच्छिन्नचैतन्यविषयत्वेऽपि अखण्डानन्दाकारत्वाभावाद् न ततो मूलाज्ञाननिवृत्तिरिति वाच्यम्, वेदान्तजन्यसाक्षात्कारेऽपि तदभावात्। न हि

युक्त नहीं है, क्योंकि 'घटः सन्' (घट सत् है) इत्यादि अन्तःकरणकी वृत्तिको भी सद्रूप ब्रह्मविषयक माना गया है। यदि शङ्का हो कि घटादिस्थलमें घटाकारवृत्तिसे घटाज्ञानकी निवृत्ति होनेपर स्वतः स्फुरणसे ही घटावच्छिन्न चैतन्यका सद्रूपसे प्रकाश होता है, अतः ब्रह्ममें घटाकारवृत्तिविषयता नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि चैतन्यको यदि घटादिवृत्तिका विषय न माना जाय, तो ज्ञान घटविषयक होगा और अज्ञान घटावच्छिन्नचैतन्यविषयक होगा, इसलिए भिन्नविषयक ज्ञानसे घटाज्ञानकी निवृत्ति नहीं होगी, और जड़में † आवरण कार्यका अभाव होनेके कारण घट अज्ञानका विषय ही नहीं होगा। यदि शङ्का हो कि घटादिके आकारमें परिणत वृत्ति घटाद्यवच्छिन्न चैतन्यको अवश्य विषय करती है, तथापि वह अखण्ड आनन्दाकार नहीं है, इसलिए घटज्ञानसे मूलाज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि वेदान्तजन्य साक्षात्कारमें भी अनवच्छिन्नानन्दाकारत्व नहीं भासता है, अतः उससे भी मूलाज्ञानकी निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि वेदान्तज्ञानमें अखण्डत्व (अनवच्छिन्नत्व) या आनन्दाकारत्व कोई धर्म है ही नहीं। यदि वेदान्तजन्य ज्ञानमें

† यदि शङ्का हो कि केवल घटविषयक ज्ञानसे घटावच्छिन्न चैतन्यविषयक अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि ज्ञान और अज्ञान समानविषयक नहीं हैं, अतः घटज्ञानके साथ अज्ञानकी समानविषयकता लानेके लिए अज्ञानको भी केवल घटादि जड़विषयक मानना चाहिए, इसपर 'जडे आवरणकृत्याभावेन' इससे पूर्वपक्षी कहता है कि जड़में तो स्वतः जडत्व हेतुसे प्रमाणकी अप्रवृत्तिदशामें अप्रकाशकी उपपत्ति हो सकती है, फिर जड़के अप्रकाशके लिए आवरणकी कल्पना व्यर्थ है, इस अवस्थामें वेदान्तजन्य ज्ञानके समान घटादिज्ञान भी ब्रह्मचैतन्यविषयक होनेसे मूलाज्ञानका समानविषयक है, अतः उससे भी अज्ञानकी निवृत्तिका प्रसङ्ग आ सकता है, यह भाव है।

तत्राऽखण्डत्वमानन्दत्वं वा कश्चिदस्ति प्रकारः। वेदान्तानां संसर्गागोचर-प्रमाजनकत्वलक्षणाखण्डार्थत्वहानापत्तेः। न च वेदान्तजन्यज्ञानादेव तन्निवृत्तिनियम इति वाच्यम्, क्लृप्ताज्ञाननिवर्तकत्वप्रयोजकस्य रूपस्य ज्ञानान्तरेऽपि सद्भावे तथा नियन्तुमशक्यत्वात्। न च घटाद्याकारवृत्ति-विषयस्याऽवच्छिन्नचैतन्यस्याऽपि कल्पितत्वेन यन्मूलाज्ञानविषयभूतं सत्य-मनवच्छिन्नं चैतन्यम्, तद्विषयत्वाभावाद् घटादिवृत्तीनां निवर्त्यत्वाभि-

---

अखण्डत्व, आनन्दत्वादि माने जाँय, तो संसर्गाविषयकप्रमाजनकत्वरूप अखण्डार्थत्वका व्याघात होगा। यदि शङ्का हो कि वेदान्तजन्य ज्ञानसे ही मूला-ज्ञानकी निवृत्ति होती है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि अज्ञाननिवर्तकत्वमें प्रयोजकीभूत क्लृप्त स्वरूपका अन्यज्ञानमें भी अवस्थान होनेसे वैसा नियम कर ही * नहीं सकते हैं। यदि शङ्का हो कि घटाद्याकारवृत्तिके विषय अवच्छिन्न चैतन्यके कल्पित होनेसे सत्य अनवच्छिन्न चैतन्य उसका विषय नहीं है, अतः घटादि वृत्तियोंमें निवर्त्यत्वरूपसे अभिमत अज्ञानसमानविषयत्वरूप क्लृप्त प्रयोजक ही नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उसमें अर्थात् अवच्छिन्न चैतन्यमें †

---

* वेदान्तजन्य ज्ञानमें क्लृप्त मूलाज्ञानसमानविषयकत्वरूप सत्तानिश्चयत्वरूप अप्रति-बद्धत्वात्मक जो मूलाज्ञाननिवर्तकत्वरूप प्रयोजकत्व है, वह निदिध्यासनके परिपाककालमें चक्षु आदिसे उत्पन्न होनेवाली घटादि वृत्तिमें भी है, अतः वेदान्तजन्य ज्ञानसे ही मूलाज्ञानकी निवृत्ति होती है, घटादि ज्ञानसे नहीं होती है, इस प्रकार नियमन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि सत्ता-निश्चयत्वके समान वेदान्तजन्यत्वको प्रयोजकके विशेषण करनेमें गौरव है, यह भाव है।

† अवच्छेद्य चैतन्यांश भी, जो कि घटादिवृत्तिका विषय है, अकल्पित मूलाज्ञानका विषयीभूत ब्रह्मचैतन्यात्मक ही है, अतः घटाद्यवच्छिन्न चैतन्यविषयक वृत्तिमें भी—निवर्त्यत्वेन अभिमत जो अज्ञान है, उसका समानविषयकत्वरूप वेदान्तजन्य ज्ञानमें क्लृप्त—प्रयोजक है, तात्पर्य यह है कि घटाद्यवच्छिन्न चैतन्य कल्पित है, इसमें चैतन्यको अकल्पित मानने पर यह दोष है, यदि कल्पित मानेंगे, तो घट आदिके समान उक्त अवच्छिन्न चैतन्य जड ही होगा, इस परिस्थितिमें उसके अज्ञानविषयत्व न होनेसे अवस्थारूप अज्ञानके प्रति मूलाज्ञान-का विषयभूत ब्रह्मचैतन्य ही विषय कहना होगा, क्योंकि निर्विषयक अज्ञान नहीं होता, इस अवस्थामें ब्रह्मचैतन्यविषयक अवस्थारूप अज्ञानके निवर्तकत्वकी उपपत्तिके लिए घटादि-वृत्तियोंमें भी मूलाज्ञानविषय ब्रह्मचैतन्यविषयकत्व मानना पड़ेगा, क्योंकि घटादिवृत्तियोंके सत्यब्रह्मविषयक न होनेसे अवस्थारूप अज्ञानके साथ समानविषयकत्वके न होनेसे आवृ-त्तियोंमें अवस्थारूप अज्ञाननिवर्तकत्वकी प्रसक्ति नहीं होगी।

मताज्ञानसमानविषयत्वलक्षणं क्लृप्तं प्रयोजकमेव नाऽस्तीति वाच्यम्; तत्राऽवच्छेदकांशस्य कल्पितत्वेऽप्यवच्छेद्यांशस्याऽकल्पितमूलाज्ञानविषयचैतन्यरूपत्वात्, तस्य कल्पितत्वे घटवज्जडतया अवस्थाऽज्ञानं प्रत्यपि विषयत्वायोगेनाऽवस्थाऽज्ञानस्य मूलाज्ञानविषयाकल्पितचैतन्यविषयत्वस्य वक्तव्यतया तन्निवर्तकघटादिज्ञानस्याऽपि तद्विषयत्वावश्यम्भावेन तत्पक्षेऽपि ततो मूलाज्ञाननिवृत्तिप्रसङ्गस्याऽपरिहारात्।

मैवमत्राहुराचार्या न सन्दृशे इति श्रुतेः।
चित् चक्षुराद्ययोग्यैव चिद्द्वाराऽस्त्यावृतिर्जडे ॥ २८ ॥

उक्त पूर्वपक्षके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि 'न सन्दृशे' इस श्रुतिसे ब्रह्मचैतन्य चक्षु आदिका अयोग्य ही है। जड़में चैतन्य द्वारा अज्ञानका आवरण होता है ॥ २८ ॥

अत्राऽऽहुराचार्याः—न चैतन्यं चक्षुरादिजन्यवृत्तिविषयः।

अवच्छेदक अंशके कल्पित होने पर भी अवच्छेद्य अंश मूलाज्ञानका विषयीभूत अकल्पित ब्रह्मचैतन्यात्मक है, यदि अवच्छेद्य अंशको कल्पित माना जाय, तो घटके समान जड़ होनेसे अवस्थारूप अज्ञानके प्रति भी वह विषय नहीं हो सकता है, इसलिए अवस्थारूप अज्ञानको भी मूलभूत अज्ञानका विषयभूत अकल्पित चैतन्यविषयक कहना होगा, इससे अवस्थारूप अज्ञानके निवर्तक घटादिज्ञानमें भी मूलाज्ञानका विषयीभूत ब्रह्मचैतन्यविषयकत्व अवश्य प्रसक्त होगा, अतः अवच्छेद्यांशके कल्पितत्वपक्षमें भी घटादिज्ञानसे मूलाज्ञानकी निवृत्तिका प्रसङ्ग हटा नहीं सकते हैं।

इस विषयमें आचार्य कहते हैं कि * चक्षु आदिसे उत्पन्न हुई

---

* पूर्वोक्त आक्षेपकर्ताका भाव यही सिद्ध होता है कि घटादिज्ञान भी मूलाज्ञानका निवर्तक होगा, क्योंकि वह भी चैतन्यविषयक है, जैसे कि वेदान्तजन्यज्ञान चैतन्यविषयक होता है। परन्तु इस अनुमानमें हेतुकी सिद्धि नहीं है, इस अभिप्रायसे उक्त पूर्वपक्षका परिहार करते हैं, अर्थात् चक्षु आदिसे उत्पन्न होनेवाला विज्ञान यदि आत्माको विषय करनेवाला है, तो उससे मूलाज्ञानकी निवृत्तिका प्रसङ्ग आ सकता है, परन्तु चक्षुरादिजन्यज्ञान वेदान्तजन्यज्ञानके समान आत्माको विषय करनेवाला है ही नहीं, अतः उक्त अतिप्रसङ्ग नहीं है, इसमें प्रमाण भी 'न सन्दृशे' इत्यादि श्रुति है, इस श्रुतिका तात्पर्य यही है कि चक्षु आदि इन्द्रियोंकी सामर्थ्य घटादि जड़ पदार्थोंके अवगाहन करनेमें ही है, आत्माके अवगाहन करनेमें नहीं, इससे परमाणु आदिके ग्रहणमें जैसे चक्षुकी योग्यता नहीं है, वैसे आत्माके ग्रहणमें भी इसकी सामर्थ्य

'न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' ॥

इत्यादिश्रुत्या तस्य परमाण्वादिवत् चक्षुराद्ययोग्यत्वोपदेशाद्, 'औपनिषदम्' इति विशेषणाच्च । न च—

'सर्वप्रत्ययवेद्ये वा ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते' ।

इत्यादिवार्तिकविरोधः ; तस्य घटाद्याकारवृत्त्युदये सति आवरणाभिभवात् स्वप्रभं सद्रूपं ब्रह्म 'घटस्सन्' इति घटवद् व्यवहार्यं भवतीत्यौ-

---

वृत्तिका विषय चैतन्य नहीं है, क्योंकि 'न सन्दृशे०' (आत्माका स्वरूप चक्षुके योग्य नहीं है, इसलिए आत्माको कोई भी चक्षुसे नहीं देखता है, इन्द्रियाँ ईश्वरसे जड़ अर्थोंके ग्रहण करनेके लिए ही बनाई गई है, अतः बाह्य पदार्थोंका ही इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं, अन्तरात्माका—चैतन्यका—ग्रहण नहीं करती हैं) इत्यादि श्रुतिसे परमात्माको परमाणु आदिके समान चक्षुका अयोग्य ही बतलाया है और 'औपनिषदम्' (केवल उपनिषत्प्रमाणसे गम्य) ऐसा आत्मामें विशेषण भी दिया गया है ।

यदि शङ्का हो कि 'सर्वप्रत्ययवेद्ये०' (सब प्रत्ययोंमें वेद्यरूपसे व्यवस्थित ब्रह्मरूप वस्तुमें) इत्यादि वार्तिकके साथ विरोध होगा ? नहीं, नहीं होगा, क्योंकि उस वार्तिकवचनका तात्पर्य यह है—घटाद्याकारवृत्तिके उदित होने पर आवरणके विनष्ट होनेसे स्वप्रकाश सद्रूप ब्रह्म 'घटः सन्' इस प्रकार घटके समान व्यवहृत किया जाता है, इसलिए वह गौणरूपसे वृत्तिसे वेद्य है* ।

नहीं है, अतः पूर्वोक्त प्रसङ्ग अनुचित है, यदि 'सर्वप्रत्ययवेद्ये' इत्यादि वार्तिकके आधारपर शङ्का की जाय कि सभी घटादिज्ञानोंमें ब्रह्मका प्रकाश होता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त श्रुतिके जबरदस्त प्रमाण होनेसे उक्त वार्तिक गौणार्थक है, अर्थात् जैसे घटमें घटविषयक वृत्तिके अधीन व्यवहारकी विषयता है, वैसे ही घट आदिका अधिष्ठानभूत सद्रूप ब्रह्म भी घटादिके आकारमें परिणत अन्तःकरणकी वृत्तिके अधीन व्यवहारका विषय है, इसलिए 'सद्रूप ब्रह्म घटादिज्ञानसे वेद्य है' इस प्रकारका औपचारिक व्यवहार होता है । यदि शङ्का हो कि परोक्षवृत्तियोंमें आवरणाभिभावकत्वका अभाव होनेसे वहां पर उक्त व्यवस्था नहीं घट सकती है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त वार्तिकमें उक्त प्रत्ययशब्दका अर्थ है—आवरणाभिभावक वृत्ति, अतः पूर्वोक्त आक्षेप सर्वथा अनुपपन्न है, यह समझना चाहिए ।

* इसका प्रकृतमें तात्पर्य यह है कि उक्त प्रकारसे घटादि वृत्तिको यदि चैतन्यविषयक न माना जाय, तो घटज्ञानसे घटावच्छिन्न चैतन्यावारक अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि समानविषयक

पचारिकघटादिवृत्तिवेद्यत्वपरत्वात्। आवरणाभिभावकत्वं च घटादिज्ञानस्य घटादिविषयत्वादेव उपपन्नम्, घटादेरप्यज्ञानविषयत्वाद् 'घटं न जानामि' 'घटज्ञानेन घटाज्ञानं नष्टम्' इति अवस्थाऽज्ञानस्य घटादिविषयत्वानुभवात्। न च तत्राऽऽवरणकृत्याभावादज्ञानाङ्गीकारो न युक्तः, तद्भासकस्य तदवच्छिन्नचैतन्यस्याऽऽवरणादेव तदप्रकाशोपपत्तेरिति वाच्यम्, उक्तभङ्ग्या जडस्य साक्षादज्ञानविषयत्वप्रतिक्षेपेऽपि जडावच्छिन्नचैतन्य-

घटादिज्ञानमें आवरणका अभिभावकत्व तो घटादिविषयत्वकी शक्ति होनेसे ही उपपन्न है, क्योंकि घट आदि भी अज्ञानका विषय होता है, कारण कि 'मैं घटको नहीं जानता हूँ' 'घटके ज्ञानसे घटका अज्ञान नष्ट हुआ' इस प्रकार अवस्थारूप अज्ञान घट आदिको विषय करनेवाला है, ऐसा अनुभव होता है। यदि शङ्का हो कि घटादि जड़ वस्तुओंमें आवरणरूप कार्य न होनेसे अज्ञानका अङ्गीकार युक्त नहीं है,† क्योंकि जड़वस्तुके अवभासक जड़ावच्छिन्न चैतन्यके आवरणसे ही जड़के अप्रकाशकी उपपत्ति हो सकती है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त प्रणालीसे ‡ अर्थात् 'जड़में आवरणकार्य न होनेसे अज्ञानका अङ्गीकार युक्त

ज्ञानाज्ञानका परस्पर विरोध है, असमानविषयकका नहीं है, इसपर 'आवरणाभिभावकत्व'का निर्वचन करते हैं, अर्थात् अनुभवके अनुसार अज्ञानका विषय जड़ भी होता है, क्योंकि 'मैं घटको नहीं जानता हूँ' ऐसी लोकप्रसिद्धप्रतीति अबाधितरूपसे हुआ करती है, अतः उक्त अतिप्रसङ्ग नहीं है, यह भाव है।

† तात्पर्य यह है कि अज्ञानाश्रय जड़ नहीं हो सकता है, क्योंकि जड़में आवरण ही नहीं है, कारण कि आवरणका कोई कार्य जड़ वस्तुमें देखा नहीं जाता। 'मैं घटको नहीं जानता हूँ' इस प्रकारकी प्रतीति घट और घटाधिष्ठान चैतन्यके परस्पर तादात्म्य होनेसे उपपन्न हो सकती है। यदि शङ्का हो कि जड़में यदि आवरण नहीं है, तो उसका सर्वदा प्रकाश होना चाहिए, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि घट आदिके प्रकाशक चैतन्यका उसके साथ सम्बन्ध नहीं है, अतः उसका प्रकाश नहीं होता है। आवरणके बलसे प्रकाश नहीं होता यह बात नहीं है। यदि कहो कि चैतन्यमें जड़का अध्यास होनेसे सर्वदा चैतन्यके साथ सम्बन्ध है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उस चैतन्यके आवरणसे घटका भी अप्रकाश हो सकता है, अतः जड़में अज्ञान क्यों माना जाय? यह पूर्वपक्षीका मन्तव्य है।

‡ समाधानका तात्पर्य यह है कि 'तत्रावरणकृत्याभावात्' इत्यादि ग्रन्थसे साक्षात् अज्ञानविषयत्वका निषेध होनेपर भी, अनुभवके आधारपर परम्परया अज्ञानविषयता जड़में मानी जाती है, अतः साक्षात् या परम्परया जो अज्ञानका विषय है, तद्विषयक ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है, इस प्रकार निवर्त्य-निवर्तक-भावका निर्वचन करनेसे सब दोषोंका निरास हो सकता है, इसी भावको 'उक्तभङ्ग्या' इत्यादि ग्रन्थसे कहते हैं।

प्रकाशस्याऽज्ञानेनाऽऽवरणम्, ततो नित्यचैतन्यप्रकाशसंसर्गेऽपि जडस्य 'नास्ति', 'न प्रकाशते' इत्यादिव्यवहारयोग्यत्वमिति परम्परया अज्ञान-विषयत्वाभ्युपगमात् साक्षात् परम्परया वा यदज्ञानावरणीयम्, तद्विषय-त्वस्यैव ज्ञानस्य तदज्ञाननिवर्तकत्वप्रयोजकशरीरे निवेशात् । न चैवं घटा-दीनामुक्तरीत्या मूलाज्ञानविषयत्वमपीति घटादिसाक्षात्कारादेव मूला-ज्ञाननिवृत्त्यापातः, फलबलात्तदज्ञानकार्यातिरिक्ततद्विषयविषयकत्वस्यैव तन्निवर्तकत्वे तन्त्रत्वात् ।

नहीं है' इत्यादि वाक्यसे जड़में साक्षात् अज्ञानविषयताका निषेध करनेपर भी जड़ावच्छिन्न चैतन्यके प्रकाशका अज्ञानसे आवरण है, इससे नित्य चैतन्य प्रकाशका सम्बन्ध होनेपर भी जड़में 'नहीं है, प्रकाशित नहीं है' इस प्रकारका व्यवहारयोग्यतारूप आवरण है' इस प्रकार परम्परासे जड़में अज्ञानकी विषयताका स्वीकार होनेसे साक्षात् या परम्परासे जो अज्ञानसे आवृत है तद्विषयकत्वका ही ज्ञानके (तद्) अज्ञाननिवर्तकत्वप्रयोजक शरीरमें निवेश करना चाहिए। यदि शङ्का हो कि उक्त रीतिसे * घट आदि भी मूलाज्ञानके विषय हैं, इसलिए घट आदिके साक्षात्कारसे मूलाज्ञानकी निवृत्तिका प्रसङ्ग होगा, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि फलके बलसे† अज्ञाननिवर्तकत्वमें अज्ञानकार्या-तिरिक्ततद्विषयकत्व ही प्रयोजक है ।

---

* शङ्काका तात्पर्य यह है कि जैसे अवस्थारूप अज्ञानके प्रति परम्परासे विषयीभूत जड़ पदार्थके साक्षात्कारसे घटावच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ अवस्थारूप अज्ञानकी निवृत्ति होती है, वैसे ही मूलाज्ञानमें परम्परया विषयीभूत जड़के साक्षात्कारसे भी ब्रह्मचैतन्यनिष्ठ मूला-ज्ञानकी निवृत्ति प्रसक्त होगी ।

† समाधानका तात्पर्य यह है कि उक्त आपत्ति नहीं हो सकती है, अर्थात् घटसाक्षा-त्कारसे ब्रह्मचैतन्यनिष्ठ अज्ञानकी निवृत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि घट आदिका साक्षात्कार होनेपर भी मूलाज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती है, यह अनुभव है, इससे मूलाज्ञान और मूलाज्ञानके कार्यसे अतिरिक्त जो मूलाज्ञानका विषयीभूत चैतन्यमात्र है, तद्विषयक ज्ञान ही मूलाज्ञानका निवर्तक है, ऐसी कल्पना की जायगी, इसलिए घटादिज्ञानके उक्त अज्ञानतत्कार्यातिरिक्त—चैतन्यमात्र विषय न होनेसे उससे मूलाज्ञानकी निवृत्ति प्रसक्त नहीं होगी ।

मूलाज्ञानस्याऽविषयो जड एवाऽथवाऽन्यथा ।
चक्षुषा सौरभं भायाद् वृत्तिव्यक्तचिदन्वयात् ॥ २९ ॥

अथवा मूलाज्ञानका ही जड़ विषय नहीं होता है, अवस्थाऽज्ञानका तो तत्तत् जड़ ही विषय होता है, यदि ऐसा न माना जाय, तो चक्षुसे चन्दनखण्डवृत्ति सौगन्ध्यका भी प्रत्यक्ष होने लगेगा, क्योंकि चन्दनाकार वृत्तिसे अभिव्यक्त चैतन्यका उसमें भी अन्वय है ॥ २९ ॥

अथवा मूलाज्ञानस्यैव जडं न विषयः । अवस्थाऽज्ञानानां त्ववच्छिन्नचैतन्याश्रितानां तत्तज्जडमेव विषयः । अन्यथा चाक्षुषवृत्त्या चन्दनखण्डचैतन्याभिव्यक्तौ तत्संसर्गिणो गन्धस्याप्यापरोक्ष्यापत्तेः । तदनभिव्यक्तौ चन्दनतद्रूपयोरप्यप्रकाशापत्तेः । न च चाक्षुषवृत्त्या चन्दनतद्रूपावच्छिन्नचैतन्ययोरभिव्यक्त्या तयोः प्रकाशः, गन्धाकारवृत्त्यभावेन गन्धावच्छिन्नचैतन्यस्याऽनभिव्यक्त्या तस्याप्रकाशश्चेति वाच्यम्, चैतन्यस्य

अथवा ‡ मूलाज्ञानका ही जड़ विषय नहीं होता है । अवच्छिन्नचैतन्यमें आश्रित अवस्थारूप अज्ञानोंके तो तत्-तत् जड़ पदार्थ ही विषय होते हैं । यदि जड़ अनावृत माना जाय, तो चक्षुरिन्द्रियजन्य वृत्तिसे चन्दनखण्डावच्छिन्न चैतन्यकी अभिव्यक्ति होनेपर चन्दनखण्डके साथ सम्बन्ध रखनेवाले गन्धका भी अपरोक्ष अनुभव हो जायगा । यदि चन्दनखण्डावच्छिन्न चैतन्यकी अभिव्यक्ति न मानी जाय, तो चन्दन और चन्दनके रूपका भी प्रकाश नहीं होगा । यदि शङ्का की जाय कि चाक्षुषवृत्तिसे चन्दन और उसके रूपसे अवच्छिन्न चैतन्यकी अभिव्यक्ति होनेसे उनका प्रकाश होता है, और गन्धाकार वृत्तिके न होनेसे गन्धावच्छिन्न

---

‡ जड़मात्रविषयक वृत्तिसे अवच्छिन्न चैतन्यके आवारक अज्ञानका विनाश कैसे होता है, क्योंकि वे भिन्नविषयक हैं, इस प्रकारकी शङ्काके होनेपर अवस्थारूप अज्ञान अवच्छिन्न चैतन्यके आवरण द्वारा जड़को भी आवृत करता है, अतः जड़मात्रविषयक वृत्ति भी अवस्थारूप अज्ञानकी निवृत्ति कर सकती है, ऐसा समाधान किया गया है । अब उक्त शङ्काका प्रकारान्तरसे भी 'अथवा' इत्यादि ग्रन्थसे समाधान करते हैं, इस पक्षमें जितने जड़ पदार्थ हैं, वे सबके सब मूलाज्ञानके विषय नहीं हैं, तथापि अवस्थारूप अज्ञानके विषय हैं, क्योंकि 'मैं घटको नहीं जानता हूँ' इस प्रकार भी प्रतीति होती है, यदि जड़ अवस्थारूप अज्ञानका विषय न माना जाय, तो चन्दनके टुकड़ेके आकारमें परिणत चाक्षुषवृत्तिसे अभिव्यक्त चैतन्यसे चन्दनमें रहनेवाले गन्धका भी प्रकाश होने लगेगा, अतः तत्-तत् जड़ पदार्थोंको अवश्य अवस्थारूप अज्ञानोंसे आवृत मानना चाहिए, इसीसे 'जड़ अज्ञानका विषय नहीं होता' इस सिद्धान्तके साथ विरोध भी नहीं है, क्योंकि यह सिद्धान्त मूलाज्ञानमात्रविषयक है, यह भाव है ।

द्विगुणीकृत्य वृत्त्ययोगेन चैकद्रव्यगुणानां स्वाश्रये सर्वत्र व्याप्य वर्तमानानां पृथक् पृथक् गगनावच्छेदकत्वस्येव चैतन्यावच्छेदकत्वस्याप्यसम्भवात्, तेषां स्वाश्रयद्रव्यावच्छिन्नचैतन्येनैव शुक्तीदमंशावच्छिन्नचैतन्येन शुक्तिरजतवत् प्रकाश्यतया तस्याभिव्यक्तौ गन्धस्यापि प्रकाशस्य, अनभिव्यक्तौ रजतादेरप्यप्रकाशस्य चापत्तेः। न च गन्धाकारवृत्त्युपरक्ते एव चैतन्ये गन्धः प्रकाशते इति नियमः, प्रकाशसंसर्गस्यैव प्रकाशमानशब्दार्थत्वेनाऽसत्यामपि तदाकारवृत्तावनावृतप्रकाशसंसर्गे

चैतन्यकी अभिव्यक्ति न होनेके कारण गन्धका प्रकाश नहीं होता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि चैतन्यकी द्विगुणित * वृत्तिके न होनेसे तथा अपने आश्रयमें व्याप्यवृत्तित्वरूपसे वर्तमान एक द्रव्यमें अवस्थित गुणोंका गगनावच्छेदकत्वके समान पृथक्-पृथक् चैतन्यावच्छेदत्वका भी सम्भव न होनेसे जैसे शुक्तिके इदमंशावच्छिन्न चैतन्यसे शुक्तिरजतका † प्रकाश होता है, वैसे ही उन गुणोंका भी अपने आश्रय द्रव्यावच्छिन्न चैतन्यसे ही प्रकाश होता है, इससे द्रव्यावच्छिन्न चैतन्यके अभिव्यक्त होनेपर गन्धका प्रकाश भी प्रसक्त होगा, और यदि उक्त चैतन्यकी अभिव्यक्ति न मानी जाय, तो रजत आदिका भी प्रकाश नहीं होगा। यदि शङ्का हो कि गन्धाकार वृत्तिसे उपरक्त चैतन्यके प्रकाशित होनेसे ही गन्धका प्रकाश होता है, यह नियम है? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रकाशसंसर्गके ही प्रकाशमानशब्दका अर्थ

---

* तात्पर्य यह है कि चैतन्य निरवयव है, इसलिए निरवयव चैतन्यमें द्रव्यावच्छेदेन एक और गुणावच्छेदेन दूसरी वृत्ति नहीं हो सकती है, और एक ही द्रव्यमें गन्ध आदि गुणोंका प्रदेशके भेदसे यदि अवस्थान माना जाय, तो एक द्रव्यमें गन्धादिके भेदसे चैतन्यका भी भेद प्रसक्त होगा, परन्तु गन्ध आदि गुण अव्याप्यवृत्ति नहीं हैं, किन्तु व्याप्यवृत्ति हैं, अतः उक्त शङ्का भी नहीं हो सकती है। और घट आदि द्रव्य गगनके अवच्छेदक होते हैं, इससे उनके भेदसे गगनका भेद होता है, परन्तु गन्ध गगनका अवच्छेदक नहीं होता, वैसे ही गन्ध चैतन्यका भी अवच्छेदक नहीं होता। जिससे कि गन्धादिके भेदसे चैतन्यका भी भेद प्रसक्त हो।

† अर्थात् शुक्तिके इदमंशावच्छिन्न चैतन्यमें रजतका अध्यास होनेसे रजतका शुक्तिके इदमंशावच्छिन्न चैतन्यसे अवभास होता है, उससे अतिरिक्त चैतन्यसे अवभास नहीं होता है, वैसे ही द्रव्यावच्छिन्न चैतन्यमें कल्पितरूप आदिका भी द्रव्यावच्छिन्न चैतन्यसे भी अवभास होता है, यह भाव है।

अप्रकाशमानत्वकल्पनस्य विरुद्धत्वात्। अभिव्यक्तस्य गन्धोपादानचैतन्यस्य गन्धासंसर्गोक्त्यसम्भवात्। तस्माद् यथा चैत्रस्य घटवृत्तौ तं प्रत्यावरकस्यैवाज्ञानस्य निवृत्तिरिति तस्यैव विषयप्रकाशो, नान्यस्य, तथा तत्तद्विषयाकारवृत्त्या तत्तदावरकाज्ञानस्यैव निवृत्तेर्न विषयान्तरस्यापरोक्ष्यम्, 'अनावृतार्थस्यैव संविदभेदाद् आपरोक्ष्यम्' इत्यभ्युपगमादिति। प्रमातृभेदेनेव विषयभेदेनाप्येकत्र चैतन्ये अवस्थाऽज्ञानभेदस्य वक्तव्यतया अवस्थाऽज्ञानानां तत्तज्जडविषयकत्वमिति घटादिवृत्तीनां

होनेसे गन्धाकार वृत्तिके न होनेपर भी अनावृत प्रकाशके संसर्गसे अप्रकाशमानत्वकी कल्पना हो ही नहीं सकती है, कारण कि अभिव्यक्त गन्धोपादान चैतन्य गन्धका संसर्गी नहीं है, इत्याकारक उक्तिका असम्भव ही है। इससे जैसे चैत्रकी घटाकार वृत्ति होनेपर चैत्रके प्रति आवारण करनेवाले अज्ञानकी ही निवृत्ति होती है, इससे चैत्रको ही घटका प्रकाश होता है, अन्यको नहीं होता, वैसे ही तत्-तत् विषयाकार वृत्तिसे तत्-तत् विषयोंके आवारक अज्ञानकी ही निवृत्ति होती है, अतः अन्य विषयोंके अपरोक्षत्वकी प्रसक्ति नहीं है, क्योंकि अनावृत्त अर्थ ही चैतन्यसे अभिन्न होनेसे अपरोक्ष होता है, ऐसा सिद्धान्त है *। प्रमातृचैतन्यके भेदसे जैसे एक विषयमें अनेक अज्ञान माने जाते हैं †, वैसे ही विषयके भेदसे भी एक चैतन्यमें अवस्थारूप अज्ञानोंका भेद कहना होगा, इससे अवस्थारूप अज्ञान

---

* तात्पर्य यह है कि जडमें आवरणकी सिद्धि होनेसे जैसे चैत्रके घटविषयक अज्ञानकी निवृत्ति चैत्रके घटविषयक ज्ञानसे ही होती है, अन्यके ज्ञानसे नहीं होती, वैसे ही गुण और गुणीका तादात्म्य होनेपर भी भेदके भी अवस्थित होनेसे चन्दनविषयक चाक्षुषवृत्तिसे गन्धविषयक अपरोक्ष ज्ञानकी प्रसक्ति नहीं होती, क्योंकि जो अज्ञानकृत आवरणसे रहित अर्थ होता है, वही चैतन्यसे अभिन्न होता है, यह नियम है।

† तात्पर्य यह है कि जैसे एक ही विषयमें चैत्र, मैत्र, देवदत्त आदि अनेक प्रमाताओंके भेदसे अज्ञान अनेक हैं, वैसे ही एक ही चन्दनादिविषयावच्छिन्न चैतन्यमें गन्ध आदि विषयोंके भी भेदसे अज्ञान अनेक हैं, अतः चन्दनकी अपरोक्षतादशामें गन्धका अवभास न होनेके कारण उस कालमें गन्ध आदिमें आवरण है, यह अवश्य मानना होगा, इसलिए चन्दनके चाक्षुष प्रत्यक्षकालमें गन्धका प्रत्यक्ष नहीं होता है।

नावस्थाऽज्ञाननिवर्तकत्वे काचिदनुपपत्तिः। न वा मूलाज्ञाननिवर्तकत्वापत्तिः।

साक्षिणः स्वप्रकाशत्वान्नाहंवृत्त्याऽपि तत्क्षयः।
तथा कालादिवैशिष्ट्यगोचरप्रत्यभिज्ञया ॥ ३० ॥

साक्षीके स्वप्रकाश होनेसे अहंवृत्तिसे भी मूलाज्ञानका नाश नहीं होता है, तथा काल आदिसे सम्बन्धका अवगाहन करनेवाली प्रत्यभिज्ञासे भी मूलाज्ञानका विनाश नहीं होता है ॥ ३० ॥

न चैवमपि जीवविषयाया अहमाकारवृत्तेर्मूलाज्ञाननिवर्तकत्वापत्तिः।

तत्-तत् जड़विषयक है, अतः घटादिवृत्तियोंके अवस्थारूप अज्ञाननिवर्तकत्वमें ‡ कोई अनुपपत्ति नहीं है, और घटादि वृत्तियोंके अथवा मूलाज्ञान निवर्तकत्वकी भी प्रसक्ति नहीं है, क्योंकि वे चैतन्यविषयक नहीं हैं।

यदि शङ्का हो कि ऐसा * माननेपर भी अहमाकार वृत्तिमें मूलाज्ञान निवर्तकत्वकी प्रसक्ति होगी, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि अहमाकार

‡ तात्पर्य यह है कि घटादिवृत्तियोंके चैतन्यविषयक न होनेसे ज्ञान और अज्ञानमें परस्परविरोधप्रयोजक समानविषयकत्व नहीं है, क्योंकि घटादिवृत्तियाँ केवल जड़पदार्थविषयक है और अज्ञान केवल चैतन्यविषयक है, इसी प्रकार जड़में आवरण माननेपर भी अपसिद्धान्तकी आपत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि जड़में आवरणका अनभ्युपगम मूलाज्ञानविषयक है। वैसे तत्-तत् जड़ पदार्थोंके आवारक अज्ञान यदि अनेक माने जायँ, तो भी उनके एकत्वसिद्धान्तका विरोध नहीं है, क्योंकि वस्तुतः वह एक ही है, इसी अभिप्रायसे कोई आपत्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं, घटादिवृत्तियाँ मूलाज्ञानविषयभूतब्रह्मविषयक नहीं है, अतः घटादिवृत्तियोंमें अज्ञाननिवर्तकत्व नहीं हैं, अतः पूर्वपक्षियोंका मत सर्वथा अनुपपन्न है। इसलिए ब्रह्मचैतन्यमें सर्वप्रत्ययवेद्यत्वप्रतिपादक पूर्वमें उदाहृत वार्तिकवाक्यकी भी उपपत्ति हो सकती है।

* घटादिवृत्तियोंके चैतन्यविषयक न होनेपर भी अहंशब्दका अर्थभूत जो जीव है, वह चित् और अचित्से सम्पृक्त है, इससे अहंवृत्तिके चैतन्यविषयक होनेसे उससे अज्ञानकी निवृत्ति हो सकती है, यह पूर्वपक्षीका तात्पर्य है, इसपर सिद्धान्तीका कहना है कि स्वप्रकाश होनेके कारण प्रकाशमान चैतन्यमें चित्तादात्म्यरूपसे अध्यस्यमान अचिदंशमात्रका ही अवगाहन करनेसे अहमाकार वृत्ति भी चैतन्यावगाहिनी नहीं है। अन्यथा केवल उपनिषद् गम्यत्वका विरोध प्रसक्त होगा। इसी प्रकार 'जिस मैंने स्वप्नमें श्रीकृष्णका अनुभव किया, वही मैं जागरणमें उसका स्मरण करता हूँ' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा भी जैसे 'अहम्' इत्याकारक वृत्ति स्वप्रकाश चैतन्यमें अन्तःकरणतादात्म्यका अवगाहन करती है, वैसे ही तत्तादिविशिष्टका भी अवगाहन करती है, स्वप्रकाश चैतन्यका अवगाहन नहीं करती है, यह भाव है।

तस्याः स्वयंप्रकाशमानचित्संवलिताचिदंशमात्रविषयत्वात् । 'सोऽहम्' इति प्रत्यभिज्ञाया अपि स्वयम्प्रकाशचैतन्ये अन्तःकरणवैशिष्ट्येन सह पूर्वापरकालवैशिष्ट्यमात्रविषयत्वेन चैतन्यविषयत्वाभावादिति ।

केचिच्छ्रोतव्यनियमादृष्टदोषक्षयान्वितम् ।
वाक्यजं ज्ञानमेवाहुर्मूलाज्ञाननिवर्हणम् ॥ २१ ॥

कुछ लोग कहते हैं कि श्रोतव्यवाक्यनियमजन्य अदृष्टसे जन्य दोषके विनाशसे युक्त तत्त्वमस्यादि वाक्यजन्य ज्ञान ही मूलाज्ञानका विनाशक है ॥ २१ ॥

केचित्तु घटादिवृत्तीनां तत्तदवच्छिन्नचैतन्यविषयत्वमभ्युपगम्य—
'सर्वमानप्रसक्तौ च सर्वमानफलाश्रयात् ।
श्रोतव्येति वचः प्राह वेदान्तावरुरुत्सया ॥'
इति वार्तिकोक्तेः श्रोतव्यवाक्यार्थवेदान्तनियमविध्यनुसारेण वेदान्तजन्य-

वृत्ति स्वयंप्रकाशमान चित्संवलित अचिदंशमात्रका ही अवगाहन करती है, और 'सोऽहम्' (वही मैं हूँ) इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञा भी स्वयंप्रकाशमान चैतन्यमें अन्तःकरणके सम्बन्धके साथ पूर्वापरकालके सम्बन्धमात्रको विषय करती है, अतः वह भी चैतन्यविषयक नहीं है ।

कुछ † लोग घटादि वृत्तियोंमें तत्-तत् विषयोंसे अवच्छिन्न चैतन्य-विषयकत्वका अङ्गीकार करके ‡ 'सर्वमानप्रसक्तौ च०' (सभी प्रमाणोंके चैतन्यविषयक होनेसे ब्रह्मसाक्षात्कारके प्रति सम्पूर्ण प्रमाणोंकी कारणता प्रसक्त होनेसे वेदान्तोंकी नियमेच्छासे 'श्रोतव्यः' यह वाक्य 'वेदान्तोंका ही विचार करना चाहिए' ऐसा प्रतिपादन करता है) इस प्रकारकी वार्तिकोक्तिसे

† घटादिविषयक वृत्तियोंके चैतन्यविषयक होनेसे वेदान्तजन्य ज्ञानके समान उनसे भी मूलाज्ञानकी निवृत्ति प्रसक्त होगी, ऐसा पूर्वपक्ष करके उसके समाधानमें हेत्वसिद्धिप्रयुक्त अतिप्रसङ्ग पूर्वमें दिखलाया गया है, अब उन वृत्तियोंको यदि चैतन्यविषयक माना जाय, तो भी कोई हानि नहीं है, इस प्रकार 'केचित्तु' मत कहते हैं ।

‡ इसमें यदि शङ्का की जाय कि चैतन्यको चक्षु आदिसे जन्य वृत्तिका विषय यदि माना जाय, तो चैतन्यमें चक्षु आदि इन्द्रियोंसे जन्य वृत्ति विषयताका श्रुतियोंसे जो निषेध किया गया है, उनके साथ विरोध होगा, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उन श्रुतियोंसे चक्षुरादिजन्य-वृत्तियोंमें निरुपाधिक चैतन्यविषयकत्वका निषेध किया गया है, इसलिए अवच्छिन्नचैतन्यको विषय माननेमें कोई विरोध नहीं है ।

मेव नियमादृष्टसहितं ब्रह्मज्ञानमप्रतिबद्धं ब्रह्माज्ञाननिवर्तकमिति घटादि-ज्ञानान्न तन्निवृत्तिप्रसङ्ग इत्याहुः ।

अन्ये स्वरूपसम्बन्धाद्वैजात्याद्वाऽपि वाक्यजात् ।
अखण्डाकारकं ज्ञानमाचख्युस्तन्निवर्तकम् ॥ ३२ ॥

कुछ लोग कहते हैं कि वाक्यजन्य स्वरूपसम्बन्धविशेषरूप अथवा वैजात्यसे उपलक्षित अखण्डाकारक ज्ञान मूलाज्ञानका निवर्तक है ॥ ३२ ॥

अन्ये तु तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यं जीवब्रह्माभेदगोचरमेव ज्ञानं मूलाज्ञाननिवर्तकम्, मूलाज्ञानस्य तदभेदगोचरत्वादिति न चैतन्यस्वरूपमात्रगोचराद् घटादिज्ञानात् तन्निवृत्तिप्रसङ्गः । न चाऽभेदस्य तत्त्वावेदकप्रमाणबोध्यस्य चैतन्यातिरेके द्वैतापत्तेः 'चैतन्यमात्रमभेदः' इति तद्गोचरं घटा-

---

श्रोतव्य वाक्यके अर्थभूतवेदान्तनियम विधिके अनुसार वेदान्तजन्यनियमादृष्टसे युक्त अप्रतिबद्ध ब्रह्मज्ञान ही * ब्रह्मविषयक अज्ञानका निवर्तक है, इसलिए घटादि ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति प्रसक्त नहीं है—यह कहते हैं ।

† और कुछ लोग कहते हैं कि 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यसे उत्पन्न जीव और ब्रह्मके अभेदको विषय करनेवाला ज्ञान ही मूलभूत अज्ञानका निवर्तक है, क्योंकि मूलाज्ञान जीव और ब्रह्मके अभेदको विषय करता है, इसलिए केवल चैतन्यस्वरूपको अवगाहन करनेवाले घटादिविषयक ज्ञानसे मूलाज्ञानकी निवृत्ति नहीं हो सकती है । यदि शङ्का हो कि तत्त्वावेदक प्रमाणसे बोध्य जीव और ब्रह्मका अभेद चैतन्यसे अतिरिक्त माना जाय, तो द्वैतकी प्रसक्ति होनेसे

---

* अर्थात् नियमादृष्टसे प्रतिबन्धकीभूत दुरितका विनाश होता है, इसलिए अप्रतिबद्ध ब्रह्मज्ञानका निर्वतक है, यह भाव है ।

† 'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थं ज्ञानं मोक्षस्य साधनम्' अर्थात् 'तत्त्वमसि' (वह तू है) इत्यादि महावाक्यजन्य ज्ञान मोक्षका साधन है, इत्यादि नारदजीके वचनके दर्शनसे और—

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थं यज्जीवपरमात्मनोः ।
तादात्म्यविषयं ज्ञानं तदिदं मुक्तिसाधनम् ॥

अर्थात् तत्त्वमस्यादिवाक्यसे होनेवाला जो जीव और परमात्माका तादात्म्यविषयक विज्ञान है, वही मुक्तिका साधन है, इत्यादि भगवत्पादके वचनके दर्शनसे और मूलाज्ञान जीव और ब्रह्मके अभेदको ही आवृत्त करता है, इससे जीव और ब्रह्मका ऐक्यलक्षणतादात्म्यविषयक जो विज्ञान है, वही मुक्तिका साधन है, अतः पूर्वोक्त अतिप्रसङ्ग नहीं है, इस अभिप्रायसे यह मत है ।

दिज्ञानमप्यभेदगोचरमिति वाच्यम्। नह्यभेदज्ञानमिति विषयतो विशेषं ब्रूमः, किन्तु तत्त्वंपदवाच्यार्थधर्मिद्वयपरामर्शादिरूपकारणविशेषाधीनेन

केवल चैतन्य ही अभेद होगा, अतः परमार्थ वस्तुका अवगाहन करनेवाला घटादिविषयक ज्ञान भी ‡ अभेदविषयक है, इससे घटादि ज्ञानसे भी मूलाज्ञानकी निवृत्ति प्रसक्त होगी, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जीव-ब्रह्माभेदविषयक ज्ञानकी विषयप्रयुक्त विशेषता नहीं है ×। किन्तु तत् और

‡ अर्थात् अभेद और चैतन्यके एक होनेसे घटज्ञान यदि चैतन्यविषयक हुआ, तो जीव और ब्रह्मका अभेदविषयक भी हुआ, इसलिए अभेदावगाही घटके ज्ञानसे भी अज्ञानकी निवृत्ति हो सकती है, यह प्रश्नका आशय है।

× घटादिज्ञानमें विषयरूपसे चैतन्य भासता है, अभेद नहीं भासता है और महावाक्यजन्य ज्ञानमें तो जीव और ब्रह्मका अभेद भासता है। इस प्रकार घटादिज्ञानकी अपेक्षासे महावाक्यजन्य ज्ञानकी विषयप्रयुक्त विशेषता नहीं है, जिससे कि उक्त अतिप्रसङ्ग हो, क्योंकि अभेद और चैतन्यके एक होनेसे घट आदि ज्ञानमें यदि चैतन्य विषय हुआ, तो अभेद भी विषय हुआ ही, अन्यथा द्वैतापत्ति होगी। यदि शङ्का हो कि 'इदं रजतम्' इस भ्रममें जितना अधिष्ठानांश भासता है, उसकी अपेक्षासे अधिक शुक्तित्व आदि विशेषको विषय करनेवाले शुक्त्यादिविषयक ज्ञानमें ही रजतादिभ्रमकी विरोधिता देखी जाती है, इसलिए 'सन् घटः' 'स्फुरति घटः' इत्यादि भ्रमोंमें जितना अधिष्ठानभूत चैतन्य विषय है उसकी अपेक्षा अधिक अभेदको विषय करनेवाला वाक्यजन्य ज्ञान न माना जाय, तो उसमें भ्रमनिवर्तकत्व हो ही न सकेगा, इसलिए विषयप्रयुक्त भेद अवश्य मानना चाहिए, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि भ्रमसे अधिकविषयक ज्ञान ही अज्ञानके निवर्तक हैं, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि ऐसे अनेक स्थल देखे जाते हैं, जो भ्रमसे अधिकविषयक यद्यपि नहीं हैं, तथापि भ्रमके निवर्तक हैं, जैसे कि वस्तुतः घोषका आधारभूत ही गङ्गाका तीर है, तथापि किसीको उसमें तटाकतीरत्वके भ्रमसे 'तटाकतीरे घोषः' ऐसा भ्रम होता है, उस पुरुषके प्रति 'गङ्गायां घोषः' इस प्रकारके वाक्यप्रयोगके होनेपर उसको 'गङ्गातीरे घोषः' इस प्रकारका ज्ञान होता है और तटाकतीरत्वका भ्रम भी निवृत्त होता है। इसमें भ्रमविषयकी अपेक्षा वाक्यजन्यज्ञानमें कोई अधिक विषय नहीं भासता है। यदि शङ्का हो कि वाक्यजन्य ज्ञानमें तटाकतीरत्वकी व्यावृत्ति करनेवाला गङ्गातीरत्वरूप विशेष भासता है, अतः विशेष विषय नहीं भासता है, यह कहना असङ्गत है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जहाँपर तीरत्वमात्र विशेषणके तात्पर्यसे 'गङ्गायां घोषः' इस शब्दका प्रयोग किया, और उसी प्रकारका भ्रान्त पुरुषको तात्पर्यज्ञान हुआ, उस स्थलमें गङ्गातीरत्वप्रकारक बोध यद्यपि नहीं है, तथापि भ्रमकी निवृत्ति देखी जाती है, इसलिए व्यभिचार तदवस्थ ही है। तथा किसी भी कपालसे तुषोंका उपवाप करना चाहिए, इस प्रकार जिस पुरुषको भ्रम है उस पुरुषके प्रति कपालत्वमात्रविशेषणके तात्पर्यसे प्रयुक्त और उसी तात्पर्यसे गृहीत 'पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपति' इस वाक्यसे कपालसे तुषका उपवाप करना

स्वरूपसंबन्धविशेषेण चैतन्यविषयत्वमेव तदभेदज्ञानत्वम्। यथा हि

त्वं पदके वाक्यार्थभूत जो जीव और ईश्वर दो धर्मी हैं, उनके परामर्श आदि कारणविशेषके अधीन स्वरूपसम्बन्धविशेषसे चैतन्यविषयकता ही

चाहिए, ऐसा ही उस पुरुषको बोध होता है। इसमें कपालांशमें कपालान्तरव्यावर्तकविशेषके गृहीत न होनेपर भी पुरोडाशकपालसे अतिरिक्त कपालोंमें तुषोपवापसाधनत्वकी निवृत्ति देखी जाती है, इसलिए अबाधिकविषयक ज्ञानमें भ्रमनिवर्तकत्व नियम यदि माना जाय, तो इस स्थलमें भी व्यभिचार हो सकता है। इससे 'तीरे घोषः' (तीरमें घोष है) इस शाब्दबोधमें गङ्गातीरत्वरूप विशेषविषयत्वके न होनेपर भी उसके हेतुभूत पदार्थोपस्थितिके समयमें गङ्गा-सम्बन्धित्वरूपसे तीरकी उपस्थिति रहनेके कारण उपस्थितिकी सामर्थ्यसे वस्तुतः गङ्गातीर-विषयक ज्ञान जो कि अबाधिकविषयक नहीं है, वह भ्रमका निवर्तक है, ऐसा कहना होगा। इसी प्रकार 'कपालसे तुषोंका उपवाप करना चाहिए' इत्यादि शाब्दबोधके स्वतः कपालान्तरकी व्यावृत्ति करनेवाले विशेषविषयक न होनेपर भी उक्त शाब्दबोधके हेतुभूत पदार्थकी उपस्थिति-कालमें पुरोडाशकी सम्बन्धितारूपसे कपालकी उपस्थिति होनेसे उपस्थितिकी सामर्थ्यसे उसके अबाधिकविषयक न होनेपर भी भ्रमनिवर्तकत्वका अङ्गीकार करना होगा, इस परिस्थितिमें ज्ञानकी भ्रमविरोधितामें सामग्रीविशेषाधीनत्व ही प्रयोजक मानना होगा, अबाधिकविषयत्व नहीं, क्योंकि उक्त स्थलमें व्यभिचार है। किञ्च, महावाक्यजन्य जो ज्ञान है, उसमें संसारके मूलभूत अज्ञानकी विरोधिता श्रुति, स्मृति और अनुभवसे सिद्ध है, महावाक्योंसे चैतन्यस्वरूप मात्रका बोध होता है, इसका द्वितीय परिच्छेदमें साधन किया जा चुका है और अन्य निबन्धोंमें विस्तार भी किया गया है, इसलिए जैसे शुक्तिरजतादिस्थलमें भ्रमविरोधी अबाधिकविषयक शुक्तिज्ञानादिमें अबाधिकविषयता है, वैसे ही दोषाभाव आदिसे घटित सामग्रीविशेषाधीनत्वसे, अखण्डार्थक वेदान्तके अनुसारसे और पूर्वके उदाहृत व्यभिचार-स्थलोंके अनुरोधसे भी ज्ञानकी भ्रमविरोधितामें सामग्रीविशेषाधीनत्व को ही अनुगत प्रयोजक कहना होगा, अबाधिकविषयत्वका अङ्गीकार करके अबाधिकविषयकत्वसे रहित महावाक्यार्थ ज्ञान भ्रमनिवर्तक नहीं हो सकता है, इसी अभिप्रायसे 'किन्तु' इत्यादि ग्रन्थ है, तात्पर्य यह है कि 'तत्' और त्वम् शब्दके वाच्यभूत जो ईश्वर और जीव दो धर्मी हैं, उन दो धर्मियोंका पहले 'तत्' और 'त्वम्' शब्दसे शक्तिवृत्तिसे स्मृतिरूप परामर्श होता है, उसके बाद तत् और त्वम्पदके सामानाधिकरण्यसे जीव ईश्वरसे अभिन्न है, इस प्रकार उनकी (जीव और ईश्वरकी) विशेषण और विशेष्यभावसे अवगति होती है, अनन्तर 'तत्' और 'त्वम्' पदसे वाच्य अर्थभूत जो विशिष्ट हैं उनमें से विशेष्यरूप अभेदके योग्य जो चैतन्य हैं। उनकी लक्षणासे प्रतीति होती है, इसके बाद दोनों विशेष्यके अभेदको विषय करनेवाले शाब्दबोधका उदय होता है। इस क्रमसे होनेवाला महावाक्यजन्य ज्ञानका अपने विषयके साथ जो स्वरूप-सम्बन्ध है, उस सम्बन्धसे चैतन्यविषयत्व ही घटादिज्ञानव्यावृत्त वाक्यजन्य जीव और ब्रह्मका अभेदज्ञान है, इसके बलसे वह अभेदज्ञान मूलाज्ञान और मिथ्याज्ञानका विरोधी होता है।

विशेषणविशेष्यतत्सम्बन्धगोचरत्वाविशेषेऽपि विशिष्टज्ञानस्य विशेषणज्ञानादिकारणविशेषाधीनस्वरूपसम्बन्धविशेषेण तत्त्रितयगोचरत्वमेव समूहालम्बनव्यावृत्तं विशिष्टज्ञानत्वम्, यथा वा 'स्थाणुत्वपुरुषत्ववान्' इति आहार्यवृत्तिव्यावृत्तं संशयत्वं विषयतो विशेषानिरूपणात्, तथा घटादावपि 'सोऽयं घटः' इत्यादिज्ञानस्य स्वरूपसम्बन्धविशेषेण घटादिविषयत्वमेव

वाक्यजन्य जीवब्रह्माभेदविषयक ज्ञानत्व है, क्योंकि * जैसे विशेषण, विशेष्य और उनके संसर्गविषयताकी बराबरी होनेपर भी विशेषणज्ञान आदि कारणविशेषके अधीन स्वरूपसम्बन्धविशेषसे उक्त त्रितयविषयता ही समूहालम्बनव्यावृत्त विशिष्टज्ञानत्व है अथवा जैसे 'स्थाणुत्वपुरुषत्ववान्' इस प्रकार आहार्यवृत्तिसे व्यावृत्त † संशयत्व है, क्योंकि विशिष्टज्ञानमें और 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस प्रकारके संशयात्मक ज्ञानमें विषयतः विशेषका निरूपण नहीं हो सकता है, वैसे ‡ घटादिस्थलमें भी 'सोऽयं घटः' (वही यह घट है) इत्यादि ज्ञानमें

---

* महावाक्यजन्य ज्ञानके घटादिज्ञानकी अपेक्षासे चैतन्य अंशमें विषयप्रयुक्त विशेषके न होनेपर भी सामग्रीविशेषसे घटादिज्ञानकी अपेक्षा वैलक्षण्य है, उसका इस ग्रन्थसे स्पष्टीकरण करते हैं, 'दण्डी पुरुषः' (दण्डवान् पुरुष है) इस प्रकारके विशिष्ट ज्ञानमें तीन विषय हैं, इसी प्रकार 'दण्डपुरुषसंयोगाः' इस प्रकारके समूहालम्बन ज्ञानमें भी ये तीन विषय हैं, इसलिए उक्त विशिष्ट ज्ञान और समूहालम्बनात्मक ज्ञानका परस्पर विषय भेद नहीं कर सकते हैं। क्योंकि विषय तो समान है, इसलिए विशेषण, विशेष्य और संसर्गके ज्ञान आदि कारण विशेषके अधीन स्वरूपसम्बन्धविशेषसे विशेषणादित्रयविषयकत्व ही समूहालम्बनज्ञानव्यावृत्त विशिष्टज्ञानत्व है, इस प्रकार सामग्रीविशेषसे उक्त विशिष्टज्ञान और समूहालम्बनात्मक ज्ञानमें वैलक्षण्य मानना होगा, इसी प्रकार तत्त्वमस्यादि वाक्यजन्य ज्ञानमें भी सामग्रीप्रयुक्त ही वैलक्षण्य है, यह भाव है।

† 'स्थाणुत्वविरुद्धपुरुषत्ववान्' (स्थाणुत्वसे विरुद्ध जो पुरुषत्व, तद्वान्) इस प्रकारका निश्चय संशयसमानविषयक आहार्यवृत्तिरूप कहलाता है, इससे व्यावृत्त संशयत्व भी विषयप्रयुक्त नहीं है, किन्तु सामग्रीविशेषप्रयुक्त है, क्योंकि विषयकृत भेद तो आहार्यवृत्तिसे संशयमें नहीं आ सकता है, क्योंकि विषय समान है, यह भाव है।

‡ उक्त प्रकारकी व्यवस्था केवल 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यजन्य ज्ञानके अभेद ज्ञानत्वमें ही नहीं है, किन्तु 'सोऽयं घटः' 'सोऽयं देवदत्तः' (वही यह घट है और वही यह देवदत्त है) इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञानके केवल घटशब्द और देवदत्तशब्दसे होनेवाले ज्ञानसे व्यावृत्त अभेद-

केवलघटशब्दादिजन्यज्ञानव्यावृत्तं तदभेदज्ञानत्वम्। अतिरिक्ताभेदानिरूपणात्। अभावसादृश्यादीनामधिकरणप्रतियोग्यादिभिः स्वरूपसम्बन्धयुक्तानामधिकरणेनाऽऽधाराधेयभावरूपः स्वरूपसम्बन्धविशेषः प्रतियोगिना प्रतियोग्यनुयोगिभावरूप इत्यादिप्रकारेण स्वरूपसम्बन्धे अवान्तरविशेषकल्पनावद् वृत्तीनां विषयेऽपि संयोगतादात्म्ययोरतिप्रसक्त्या विषयैर्विषय-

स्वरूपसम्बन्धविशेषसे घटादिविषयकत्व ही केवल घटशब्द आदिसे होनेवाले ज्ञानसे भिन्न घटाभेदविषयक ज्ञानत्व है, क्योंकि अतिरिक्त अभेदका निरूपण नहीं हो सकता है। और × अभाव एवं सादृश्य आदिका, जो कि अधिकरण और प्रतियोगी आदिके साथ स्वरूपसम्बन्धसे युक्त हैं, अधिकरणके साथ आधाराधेयभावरूप स्वरूपसम्बन्धविशेष है और प्रतियोगीके साथ प्रतियोग्यनुयोगिभावरूप स्वरूपसम्बन्धविशेष है, इस प्रकारसे जैसे स्वरूपसम्बन्धमें अवान्तर भेदोंकी कल्पना की जाती है, वैसे ही वृत्तियोंके विषयीभूत निर्विशेषचैतन्यमें भी संयोग * और तादात्म्यसंसर्गकी अतिप्रसक्ति होनेके कारण

ज्ञानत्वमें भी वही व्यवस्था है, इसे इस ग्रन्थसे कहते हैं। तात्पर्य यह है केवल घट आदि शब्दसे जन्य ज्ञानके विषयभूत घट आदिके स्वरूपकी अपेक्षा 'सोऽयं घटः' इत्यादि वाक्यसे बोधित अभेद अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि भिन्न माननेमें प्रमाण नहीं है, इसलिए 'घटः' और 'सोऽयं घटः' इनमें विषयप्रयुक्त वैलक्षण्यके न होनेसे 'सोऽयं घटः' इत्यादि स्थलमें भी 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यके समान 'सः' और 'अयम्' इन दो पदोंके वाक्यार्थरूप दो धर्मोंके परामर्श आदि कारणविशेषके अधीन स्वरूपसम्बन्ध विशेषसे घटादिस्वरूपविषयकत्व ही घटाद्यभेदज्ञानत्व होगा, दूसरा नहीं, इसीका सर्वत्र अनुसरण करना चाहिए।

× प्रकृतमें वक्तव्य यह है कि केवल घटादिशब्दजन्य ज्ञानका भी विषयके साथ स्वरूप सम्बन्ध ही है, इस अवस्थामें स्वरूप सम्बन्धको लेकर अभेद ज्ञानत्वादिकी व्यवस्था कैसे कर सकते हैं। यदि इसमें शङ्का हो कि वृत्त्यात्मक ज्ञानोंका विषयोंके साथ विषयविषयिभाव प्रयोजक स्वरूपसम्बन्धोंके साधारण होनेपर भी उनमें विषय और उनके ज्ञानके स्वरूपात्मक सम्बन्धोंमें सामग्रीविशेषके प्रभावसे परस्पर वैलक्षण्यकी कल्पनासे व्यवस्थाकी उपपत्ति कर सकते हैं, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि स्वरूपसम्बन्धोंका कहींपर भी वैलक्षण्य देखनेमें नहीं आता है, इसलिए वैसी कल्पना नहीं कर सकते हैं, इसपर 'अभाव सादृश्य' इत्यादि ग्रन्थसे स्वरूपसंसर्गोंके भेदका उपपादन करते हैं।

* तात्पर्य यह है कि यहाँ किसीको शङ्का हो कि वृत्तियोंका विषयके साथ विषयविषयिभाव स्वरूपसम्बन्धप्रयुक्त नहीं है, किन्तु संयोगादिप्रयुक्त है, अतः वृत्तियोंका विषयोंके साथ स्वरूपसम्बन्धके असिद्ध होनेसे उन सम्बन्धोंमें वैलक्षण्यात्मक विषयकी कल्पना अयुक्त है,

विषयिभावरूपस्वरूपसम्बन्धवतीनां विषयविशेषनिरूपणासम्भवे क्लृप्ते एव स्वरूपसम्बन्धे अवान्तरविशेषकल्पनेनाभेदज्ञानत्वादिपरस्परवैलक्षण्य-निर्वाहाच्च। एवं च ब्रह्मज्ञानस्याभेदाख्यकिञ्चित्संसर्गगोचरत्वानभ्युपगमाद् न वेदान्तानामखण्डार्थत्वहानिरपीत्याहुः।

ननु स्वहेतुमज्ञानं विरोधात्सा कथं हरेत्।
वृत्तिर्मैवं विरुद्धत्वाद्वह्निसंयोगवत् पटे॥ ३३॥

अत्र शङ्का होती है कि ब्रह्मज्ञानसे, जिसका उपादान अज्ञान है, विरोध होनेसे अविद्याका विनाश कैसे हो सकता है, क्योंकि कार्यका उपादानके साथ विरोध नहीं हो सकता है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि ब्रह्माकार अखण्ड वृत्तिके साथ अज्ञानका पटमें वह्निसंयोगके समान विरोध है, अतः ज्ञानसे अज्ञानका विनाश हो सकता है॥ ३३॥

ननु घटादिज्ञानवद् ब्रह्मज्ञानस्यापि न मूलाज्ञाननिवर्तकत्वं युक्तम्,

---

विषयविशेषका निरूपण न होनेसे परिशेषसे विषयोंके साथ विषयविषयिभावरूप स्वरूपसम्बन्धसे युक्त उन वृत्तियोंके † क्लृप्त स्वरूपसम्बन्धके अवान्तर विशेषकी कल्पनासे अभेदज्ञानत्व आदि परस्परविलक्षणत्वकी भी कल्पना कर सकते हैं। एवञ्च, ‡ ब्रह्मज्ञानकी अभेदरूप किसी संसर्गविषयताका स्वीकार न होनेसे वेदान्तोंकी अखण्डार्थताकी हानि भी नहीं है।

यदि शङ्का हो कि जैसे घट आदिका ज्ञान मूलभूत अज्ञानका निवर्तक नहीं है, वैसे ब्रह्मज्ञान भी मूलभूत अज्ञानका निवर्तक नहीं हो सकता है, क्योंकि

तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि यदि वृत्तिका संयोग वृत्तिविषयत्वमें प्रयोजक माना जायगा, तो चक्षुके गोलक आदिका भी घटादिवृत्तिके साथ संयोग होनेसे उसमें वृत्तिविषयत्वकी प्रसक्ति होगी, यदि वृत्तिके तादात्म्यको वृत्तिविषयत्वमें प्रयोजक मानें, तो वृत्तिके अधिष्ठानत्वरूपसे वृत्तिके साथ तादात्म्यापन्न घटाद्यवच्छिन्न चैतन्यमें घटाद्याकारवृत्तिविषयत्वका सम्भव होनेपर भी वृत्तितादात्म्यसे रहित घट आदिमें वृत्तिविषयत्वकी प्रसक्ति न होगी, और वृत्तिके परिणामी अन्तःकरणमें घटादिवृत्तिविषयत्वका प्रसङ्ग होगा, क्योंकि परिणाम और परिणामीका परस्पर तादात्म्य होता है।

† स्वरूपसम्बन्ध वृत्ति आदिका स्वरूप है, इसलिए वह क्लृप्त है, अतः क्लृप्त सम्बन्धके विशेषकी कल्पनामें लाघव है, अन्य सम्बन्धकी कल्पना करके उसमें—सम्बन्धान्तरमें अभेद ज्ञानत्वादिका निर्वाहकविशेष माना जाय, तो गौरवमात्र है, इसलिए वृत्तियोंका विषयोंके साथ स्वरूपसम्बन्ध ही है, संयोग, तादात्म्यादि नहीं है।

‡ अर्थात् महावाक्यजन्य ज्ञानमें रहनेवाले अभेदज्ञानत्वका प्रकारान्तरसे उपपादन किया गया है, अतः अभेदसंसर्गभानकी अपेक्षा नहीं है, यह भाव है।

निवर्तकत्वे तदवस्थानासहिष्णुत्वरूपस्य विरोधस्य तन्त्रत्वात्, कार्यस्य चोपादानेन सह तादृशविरोधाभावादिति चेत्, नः कार्यकारणयोरन्यत्र तादृशविरोधादर्शनेऽपि एकविषयज्ञानाज्ञानप्रयुक्तस्य तादृग्विरोधस्याऽत्र सत्त्वात्, कार्यकारणयोरप्यग्निसंयोगपटयोस्तादृशविरोधस्य दृष्टेश्च। न चाऽग्निसंयोगादवयवविभागप्रक्रियया असमवायिकारणसंयोगनाशादेव पटनाशः, नाऽग्निसंयोगादिति वाच्यम्, दग्धपटेऽपि पूर्वसंस्थानानुवृत्तिदर्शनेन मुद्गरचूर्णीकृतघटवद् अवयवविभागादर्शनात्। तत्राऽवयवविभागादिकल्पनाया अप्रामाणिकत्वात्। नाऽपि तत्र तन्तूनामपि दाहेन समवायिकारण-

निवर्तकत्वमें तदवस्थानासहिष्णुत्वरूप × विरोध कारण है और कार्यका अपने उपादानके साथ उक्त विरोध नहीं देखा जाता है, तो यह शङ्का युक्त नहीं है, क्योंकि कार्य और कारणका अन्य स्थलमें यद्यपि उक्त विरोध नहीं देखा जाता है, तथापि प्रकृतमें समानविषयक ज्ञान और अज्ञानप्रयुक्त उक्त विरोध विद्यमान है, और कार्यकारणात्मक अग्निसंयोग और पटमें उक्त विरोध देखा जाता है। यदि इसमें शङ्का हो कि अग्निके संयोगसे होनेवाले अवयवविभागकी प्रक्रिया द्वारा * असमवायिकारणभूत तन्तुसंयोगके नाशसे ही पटका नाश होता है, अग्निके संयोगके नाशसे नहीं होता, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि दग्ध वस्त्रमें भी पूर्वकी संयुक्तावस्थाकी अनुवृत्ति होनेसे जैसे मुद्गरसे चूर्णित घटमें अवयवोंका विभाग देखा जाता है, वैसे ही पटके दग्ध होनेके पश्चात् दग्ध तन्तुओंमें अवयवविभागके दृष्ट न होनेसे पटके दाहस्थलमें अवयवविभागकी कल्पना अप्रामाणिक है। और उक्त स्थलमें यह भी नहीं कह सकते हैं कि तन्तुओंका भी दाहसे अर्थात् अपने समवायिकारणका नाश होनेके कारण पट-

× निवर्त्य और निवर्तकका सहावस्थान अपेक्षित नहीं होता है, क्योंकि वे ही पदार्थ विरोधी होते हैं, जो सहावस्थानको सहन नहीं करते हैं, प्रकृतमें ब्रह्मज्ञान और मूलाज्ञानका तत्शब्दसे निवर्त्य सहावस्थानासहिष्णुत्वलक्षण विरोध न होनेसे निवर्त्यनिवर्तकभाव नहीं हो सकता है, यह भाव है।

* अग्निके संयोगसे तन्तुमें क्रिया, उसके बाद तन्तुओंमें विभाग, उसके बाद पटके प्रति असमवायिकरणभूत तन्तुसंयोगका नाश, अनन्तर पटका विनाश, इस प्रकारकी वैशेषिक प्रक्रिया द्वारा, यह भाव है।

नाशात् पटनाश इति युक्तम्। अंशुतन्त्वादिभिस्सह युगपदेव पटस्य दाह-दर्शनेन क्रमकल्पनायोगात्। यतोऽधस्तान्नावयवनाशः, तत्राऽवयवे अग्नि-संयोगादेव नाशस्य वाच्यत्वात् ॥ ११ ॥

नन्वस्त्वेतदेवम्, तथाऽपि सविलासाज्ञाननाशकमिदं ब्रह्मज्ञानं कथं नश्येद्, नाशकान्तरस्याऽभावादिति चेद्,

हत्वा मोहं विनश्येत् सा कतकाम्बिन्दुवह्नयः।
पङ्कवाह्नितृणानीव वारतप्तायसभूमिषु ॥ ३४ ॥

अज्ञानका विनाश करके ब्रह्माकार वृत्ति भी उसी प्रकार स्वयं नष्ट हो जाती है, जैसे कि जलमें प्रक्षिप्त निर्मली जलके मलिन भागको अलग कर स्वयं अलग हो जाती है तप्तलोहपिण्डके ऊपर गिरे हुए जलके बिन्दु अग्निको शान्तकर स्वयं शान्त हो जाते हैं और अग्नि भूमिके तृणोंको नष्ट करके स्वयं नष्ट हो जाती है ॥ ३४ ॥

यथा कतकरजः सलिलेन संयुज्य पूर्वयुक्तरजोऽन्तरविश्लेषं जनयत्

नाश हुआ है, क्योंकि अंशु और तन्तु आदिके साथ एक ही समयमें पटनाशके देखे जानेसे क्रमकी कल्पना अयुक्त है, और † जिस द्व्यणुकावयव परमाणुका नाश नहीं होता है, उस अवयवका अग्निसंयोगसे ही नाश मानना होगा ॥ ११ ॥

अब शङ्का करते हैं कि उक्त प्रकारसे यद्यपि ब्रह्मज्ञान ही अन्तःकरण द्वारा अपने उपादानभूत अज्ञानका नाशक भले ही हो, तथापि अपने विलास सहित अज्ञानका विनाशक ब्रह्मज्ञान कैसे नष्ट होगा? क्योंकि ब्रह्मज्ञानके सिवा अन्य कोई नाशक नहीं है।

इस * प्रकारकी शङ्काके समाधानमें कोई लोग कहते हैं कि जैसे कतकरज जलके साथ सम्बन्ध पाकर अपने संयोगसे पूर्व जलके साथ सम्पृक्त अन्य

---

† तात्पर्य यह है कि द्व्यणुकनाशके प्रति परमाणुनाश प्रयोजक नहीं हो सकता है, क्योंकि परमाणु नित्य है, इसलिए द्व्यणुकमें विद्यमान अग्निके संयोगसे ही द्व्यणुकका विनाश मानना होगा। अवयवविभागकी प्रक्रियाका अवलम्बन करके प्रकृतमें समाधान नहीं हो सकता है, क्योंकि अवयवविभागकी प्रक्रियाका पहले निरास किया जा चुका है। इसलिए अग्निसंयोगमें अपने उपादानभूत पटकी नाशकता भ्रान्त नहीं है।

* समाधानका तात्पर्य यह है कि ब्रह्मज्ञानसे व्यतिरिक्त समस्त पदार्थका ब्रह्मज्ञानसे नाश होगा, पीछे अवशिष्ट ब्रह्मज्ञानका नाश होगा, इस प्रकार क्रम नहीं माना जाता है, किन्तु ब्रह्मज्ञानसे जब अपने विलासके सहित अविद्याका विनाश प्रसक्त होगा उसीके साथ साथ ब्रह्मज्ञानका भी नाश होगा अपने नाशके प्रति ब्रह्मज्ञान भी कारण माना जाता है। यह भी

स्वविश्लेषमपि जनयति, तथाऽऽत्मन्यध्यस्यमानं ब्रह्मज्ञानं पूर्वाध्यस्तसर्वप्रपञ्चं निवर्तयत् स्वात्मानमपि निवर्तयतीति केचित्।

अन्ये तु अन्यन्निवर्त्य स्वयमपि निवृत्तौ दग्धलोहपीताम्बुन्यायमुदाहरन्ति।

अपरे त्वत्र दग्धतृणकूटदहनोदाहरणमाहुः। न च ध्वंसस्य प्रतियोग्यतिरिक्तजन्यत्वनियमः, अप्रयोजकत्वात्। निरिन्धनदहनादिध्वंसे व्यभिचाराच्च। न च ध्वंसस्य प्रतियोगिमात्रजन्यत्वेऽतिप्रसङ्गात् कारणा-

---

रजका पृथक्करण करके अपने विश्लेषको भी उत्पन्न करता है, वैसे ही आत्मामें अध्यस्त ब्रह्मज्ञान पूर्वके अध्यस्त समस्त प्रपञ्चकी निवृत्ति करके अपने आपकी भी निवृत्ति करता है।

कुछ लोग तो इस विषयमें अन्यकी निवृत्ति करके अपनी निवृत्तिमें दग्धलोहपीताम्बुन्यायको † दृष्टान्तरूपसे देते हैं।

अन्य कुछ लोग दग्धतृणकूटदहनको * दृष्टान्तरूपसे कहते हैं। यदि शङ्का हो कि ध्वंस प्रतियोगीसे भिन्न कारणसे उत्पन्न होता है, यह नियम है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उक्त नियमके अङ्गीकारमें कोई प्रमाण नहीं है, और इन्धनशून्य अग्नि आदिके ध्वंसमें व्यभिचार भी है। (तात्पर्य यह है इन्धनोंका निःशेष ध्वंस होनेके पश्चात् अग्निका स्वतः ही नाश देखा जाता है, एवं सुषुप्तिके अव्यवहित पूर्वकालमें जो ज्ञानका विनाश होता है, वह भी प्रतियोगिमात्रसे होता है, अतः उक्त नियममें व्यभिचार दोष है, अतः प्रयोजकशून्य निरर्थक नियमका अङ्गीकार नहीं करना चाहिए)। यदि शङ्का हो कि

शङ्का नहीं हो सकती है कि एक वस्तु अपने और दूसरेके नाशके प्रति कारण कैसे हो सकती है, क्योंकि कतकरजमें (निर्मली जिससे मलिन जल साफ होता है) स्व और परकी विरोधिता देखी जाती है, अतः यह पूर्वपक्ष युक्त नहीं है कि सब प्रपञ्चका ब्रह्मज्ञानसे भले ही नाश हो परन्तु ब्रह्मज्ञानका नाश नहीं होगा, क्योंकि अन्य नाशक नहीं है, क्योंकि ब्रह्मज्ञानका ब्रह्मज्ञानसे ही नाश उक्त रीतिसे हो सकता है।

† 'दग्धलोहपीताम्बुन्याय' यह न्याय इस प्रकारका है कि जैसे अग्निसे तपे हुए लोहेके गोलेमें पानी यदि फेंका जाय, तो उस जलका लोहेमें रहनेवाला अग्नि नाश करता है और स्वयं भी नष्ट हो जाता है, वैसे ही प्रकृतमें ब्रह्मज्ञान भी अपनेसे व्यतिरिक्त सम्पूर्ण प्रपञ्चका विनाश करता है और स्वयं भी नष्ट हो जाता है।

* जैसे अग्नि तृणके समुदायको नष्ट करती है, और स्वयं भी नष्ट हो जाती है, वैसे ही ब्रह्मज्ञान सम्पूर्ण प्रपञ्चका विनाश करके स्वयं भी नष्ट हो जाता है, यह तात्पर्य है।

न्तरमवश्यं वाच्यम्, निरिन्धनदहनादिध्वंसेऽपि कालादृष्टेश्वरेच्छादिकारणान्तरमस्तीति वाच्यम्, अतिप्रसङ्गापरिज्ञानात्। न च घटादिध्वंसस्यापि कारणान्तरनिरपेक्षत्वं स्यादित्यतिप्रसङ्गः, ध्वंसमात्रे कारणान्तरनैरपेक्ष्यानभिधानात्। न च घटध्वंसदृष्टान्तेन ब्रह्मज्ञानध्वंसस्य कारणान्तरापेक्षासाधनम्, तद्दृष्टान्तेन मुद्गरपतनापेक्षाया अपि साधनापत्तेः। नापि ज्ञानध्वंसत्वसाम्याद् घटज्ञानादिध्वंसस्यापि कारणान्तरनैरपेक्ष्यं स्यादित्यतिप्रसङ्गः, सेन्धनानलध्वंसस्य जलसेकादिदृष्टकारणापेक्षत्वेऽपि निरिन्धनानलध्वंसस्य तदनपेक्षत्ववद्, जाग्रज्ज्ञानध्वंसस्य विरोधिविशेषगुणा-

ध्वंसको केवल प्रतियोगिजन्य माना जायगा, तो अतिप्रसङ्ग होगा, इसलिए उसके प्रति अवश्य कारणान्तर भी मानना चाहिए, और निरिन्धन दहन आदिके ध्वंसमें भी काल, अदृष्ट, ईश्वर आदि अन्य कारण हैं ही, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि अतिप्रसङ्गोंका † परिज्ञान हो ही नहीं सकता है। यदि कहें कि घट आदिके ध्वंसको भी कारणान्तरनिरपेक्षत्व प्रसक्त होगा, यही अतिप्रसङ्ग है, तो यह भी अयुक्त है, क्योंकि हम सम्पूर्ण ध्वंसके प्रति कारणान्तरकी निरपेक्षता नहीं कहते हैं, और यदि घटध्वंसके दृष्टान्तसे ब्रह्मज्ञानध्वंसको कारणान्तरकी अपेक्षा मानें, तो उसी घटध्वंसके दृष्टान्तसे मुद्गरपातकी अपेक्षाका भी साधन प्रसक्त होगा। और ज्ञानध्वंसत्वके दृष्टान्तसे घटज्ञानध्वंसके प्रति भी अन्य कारणकी निरपेक्षता प्रसक्त होगी, इस प्रकार भी अतिप्रसङ्ग नहीं दे सकते हैं, क्योंकि जैसे इन्धनसे युक्त वह्निके ध्वंसके प्रति जलसिञ्चन आदि अन्य कारणकी अपेक्षा होनेपर भी इन्धनरहित अग्निध्वंसके प्रति कारणान्तरकी आवश्यकता नहीं होती है और जैसे जाग्रत्कालीन ज्ञानध्वंसोंके प्रति विरोधी अन्य विशेष

† यदि कोई शङ्का करे कि अतिप्रसङ्गोंका परिज्ञान क्यों नहीं होता है, तो इसपर कहना चाहिये कि ब्रह्मज्ञानका ध्वंस यदि प्रतियोगीसे अतिरिक्त कारणसे जन्य न हो, तो घटादिध्वंस भी, प्रतियोगीसे अतिरिक्त कारणसापेक्ष नहीं होगा, इस प्रकारका अतिप्रसङ्ग है अथवा घटादिध्वंसके समान ब्रह्मज्ञानका ध्वंस भी प्रतियोगीसे अतिरिक्त कारणसे सापेक्ष होगा, यह अतिप्रसङ्ग है अथवा ब्रह्मज्ञानके ध्वंसके समान घटादिज्ञानका ध्वंस भी कारणान्तरसे निरपेक्ष होगा यह अतिप्रसङ्ग है अथवा ब्रह्मज्ञानका अपनी उत्पत्तिके द्वितीय क्षणमें नाश होगा, यह अतिप्रसङ्ग है, इनमें से प्रत्येकका अग्रिम ग्रन्थसे खण्डन किया गया है।

न्तरापेक्षत्वेऽपि सुषुप्तिपूर्वज्ञानध्वंसस्य तदनपेक्षत्ववच्च मूलाज्ञानानिवर्तकज्ञानध्वंसस्य कारणान्तरसापेक्षत्वेऽपि तन्निवर्तकज्ञानध्वंसस्य तदनपेक्षत्वोपपत्तेः। नापि कारणान्तरनैरपेक्ष्ये स्वोत्पत्त्युत्तरक्षणे एव नाशः स्यादित्यतिप्रसङ्गः। इष्टापत्तेः, तदुत्पत्त्युत्तरक्षणे एव ब्रह्माध्यस्तनिखिलप्रपञ्चदाहेन तदन्तर्गतस्य तस्यापि तदैव दाहाभ्युपगमात्। निरिन्धनदहनध्वंसन्यायेन ब्रह्मज्ञानध्वंसस्यापि कालादृष्टेश्वरेच्छादिकारणान्तरजन्यत्वेऽप्यविरोधाच्च। सर्वप्रपञ्चनिवृत्त्यनन्तरमेकशेषस्य ब्रह्मज्ञानस्य निवृत्तिरित्यनभ्युपगमेन युगपत्

गुणोंकी अपेक्षा होनेपर भी सुषुप्तिके पूर्वकालीन ज्ञानध्वंसके प्रति उनकी अपेक्षा नहीं होती है, वैसे ही मूलाज्ञानके अनिवर्तक ज्ञानके ध्वंसके प्रति-कारणान्तरकी अपेक्षा होनेपर भी मूलाज्ञानके निवर्तक ज्ञानके ध्वंसके प्रति कारणान्तरकी अपेक्षा न मानना युक्तियुक्त ही है। और यह भी अतिप्रसङ्ग नहीं हो सकता है कि ब्रह्मज्ञानके ध्वंसके प्रति कारणान्तरकी अपेक्षा न मानी जाय, तो ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्तिके उत्तरक्षणमें ही नाशकी उसके प्रसक्ति होगी, क्योंकि यह तो इष्ट ही है, कारण कि ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्तिके द्वितीय क्षणमें ही ब्रह्ममें अध्यस्त सकल प्रपञ्चका दाह होनेसे प्रपञ्चके अन्तर्गत ब्रह्मज्ञानका भी उसी उत्तरक्षणमें विनाश माना जाता है। और इन्धनशून्य अग्निके ध्वंसके उदाहरणसे यह भी मान लिया जाय कि ब्रह्मज्ञानके ध्वंसके प्रति * काल, अदृष्ट, ईश्वरकी इच्छा आदि अन्य कारण हैं, तो भी कोई विरोध नहीं है। कारण कि सब प्रपञ्चकी निवृत्तिके बाद एक अवशिष्ट ब्रह्मज्ञानकी निवृत्ति होती है, ऐसा स्वीकार न होनेसे एक ही कालमें सब

---

* कार्यमात्रके प्रति काल, अदृष्ट आदि कारण होते हैं, अतः ब्रह्मज्ञानके ध्वंसके प्रति यदि वे कारण मानें जांय, तो कोई हानि नहीं है, यदि यहां पर यह शङ्का हो कि पहले ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्ति हुई, पीछे वासनासहित अविद्याकी निवृत्ति और इसके बाद तृतीय क्षणमें ब्रह्मज्ञानकी निवृत्ति होगी, इस प्रकार यदि क्रम स्वीकार किया जाय, तो ब्रह्मज्ञाननाशके पूर्वक्षणमें काल आदिकी अवस्थिति न होनेके कारण ब्रह्मज्ञानके नाशके प्रति उनमें हेतुता कैसे आ सकती है, तो यह शङ्का युक्त नहीं है, कारण कि 'सब प्रपञ्चकी निवृत्तिके पीछे एक ब्रह्मज्ञान बचता है' इस प्रकार नहीं माना जाता है, किन्तु ब्रह्मज्ञानसे एक ही क्षणमें सभीका विनाश होता है, ऐसा माना जाता है, इसलिए पूर्वक्षणमें काल, अदृष्ट आदि अवश्य कारणरूपसे रह सकते हैं, यह भाव है।

सर्वदाहे पूर्वक्षणे चिदविद्यासम्बन्धरूपस्य द्रव्यान्तररूपस्य वा कालस्य, ईश्वरप्रसादरूपस्यान्तःकरणगुणविशेषस्य वाऽदृष्टस्य, अन्येषां च सत्त्वात्। न च तत्र ज्ञानातिरिक्तकारणापेक्षणे ब्रह्मज्ञानस्यामिथ्यात्वप्रसङ्गः, ज्ञानैकनिवर्त्यत्वं मिथ्यात्वमित्यभ्युपगमादिति वाच्यम्; ज्ञानाघटितसामग्र्यनिवर्त्यत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वस्य तदर्थत्वात्। 'नान्यः पन्थाः' इति श्रुतेरपि तत्रैव तात्पर्यात्। अतो युक्त एव दग्धृदाह्यदहनादिन्यायः।

प्रपञ्चके विनाशके प्रति पूर्वकालमें चित् और अविद्याका सम्बन्धरूप अथवा द्रव्यान्तररूप काल, ईश्वरका प्रसादरूप अथवा अन्तःकरणका गुणविशेषरूप अदृष्ट, ईश्वर और दिशा आदि साधारण कारण विद्यमान हैं। यदि शङ्का हो कि ब्रह्मज्ञानके ध्वंसमें ज्ञानसे अतिरिक्त कारणकी अपेक्षा मानी जाय, तो ब्रह्मज्ञानमें सत्यत्वकी प्रसक्ति होगी? क्योंकि मिथ्यात्वका लक्षण यही माना गया है कि जो केवल ज्ञानसे निवर्त्यमान हो वह मिथ्यात्व है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्वका लक्षण यही है—ज्ञानसे अघटित सामग्रीसे * अनिवर्त्य होकर जो ज्ञानसे निवर्त्य हो, 'नान्यः पन्थाः॰' (ज्ञानको छोड़कर मुक्तिके लिए अन्य मार्ग नहीं है) इस श्रुतिका भी उसीमें तात्पर्य है, इसलिए दग्धृदाह्यदहनादिन्याय युक्त ही है।

---

* ज्ञानसे अघटित जो सामग्री उससे निवर्त्य न हो करके जो ज्ञानसे निवृत्त होता हो, वही मिथ्या है, जो लोग प्रपञ्चको सत्य मानते हैं उनके मतमें भी ज्ञानसे घटादिकी निवृत्ति होती है, क्योंकि 'मैं घटका विनाश करता हूं' इस प्रकारके ज्ञानके अनन्तर ही मुद्गरके प्रहारसे घटका विनाश देखा जाता है, अतः उनके प्रपञ्चके मिथ्यात्वके परिहारके लिए प्रथम सत्यन्त पद दिया गया है, उनके मतमें घटादिके विनाशमें नियमतः ज्ञानपूर्वकत्वके न होनेसे ज्ञानाघटित सामग्रीसे निवृत्त होनेवाले घटादिमें ज्ञानाघटितसामग्रीसे अनिवर्त्यत्व नहीं है। यदि शङ्का हो कि प्रपञ्चसत्यवादियोंके मतमें नाशमात्र ईश्वरीयज्ञानघटित सामग्रीजन्य हैं, अतः ईश्वरके ज्ञानको लेकर कार्यमात्रमें ज्ञानाघटितसामग्र्यनिवर्त्यत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वरूप मिथ्यात्व है, इसलिए इस प्रकारका मिथ्यात्व भी युक्तियुक्त नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि 'ज्ञानाघटित' इत्यादिलक्षणमें जो ज्ञानपद है, वह जीवके ज्ञानके अभिप्रायसे कहा गया है अतः उक्त दोष नहीं है। विशेष्य दल दिया है—आत्मामें दोषके निवारणके लिए है, इसीलिए 'नान्यः पन्थाः' इत्यादि श्रुतिका तात्पर्य यह नहीं है कि मोक्षके प्रति केवल ज्ञान ही कारण है और अन्य कारण नहीं है, किन्तु जो कारण है, वह ज्ञानसे अघटित नहीं है, किन्तु ज्ञानघटित है, अतः कार्यमात्रके प्रति कालादिके कारण होनेसे मूलाज्ञानध्वंसरूप मोक्षमें भी उनको कारण माना जाय, तो भी इस श्रुतिके साथ विरोध नहीं है, यह भाव है।

आहुरन्ये तु वृत्तीद्ध आत्मैवाज्ञानतत्कृतम् ।
प्रदहेत्सूर्यकान्तेद्धा सूर्यकान्तिस्तृणं यथा ॥ ३५ ॥

कुछ लोग कहते हैं कि वृत्तिमें आरूढ़ आत्मा ही अज्ञान और अज्ञानकृत प्रपञ्चका निवर्तक है, जैसे कि सूर्यकान्त मणिके ऊपर आरूढ़ सूर्यकी किरणें तृणको दग्ध करती हैं ॥ ३५ ॥

केचित्तु वृत्तिरूपं ब्रह्मज्ञानं नाज्ञानतन्मूलप्रपञ्चनिवर्हकम्, अज्ञानस्य प्रकाशनिवर्त्यत्वनियमेन जडरूपवृत्तिनिवर्त्यत्वायोगात्। किन्तु तदारूढ-चैतन्यप्रकाशस्तन्निवर्तकः, स्वरूपेण तस्याज्ञानादिसाक्षितया तदनिवर्त-कत्वेऽप्यखण्डाकारवृत्त्युपारूढस्य तस्य तन्निवर्तकत्वोपपत्तेः।

'तृणादेर्भासिकाऽप्येषा सूर्यदीप्तिस्तृणं दहेत्।
सूर्यकान्तमुपारुह्य तन्न्यायं तत्र योजयेत् ॥'

इत्यभियुक्तोक्तेः। एवं च यथा किञ्चित् काष्ठमुपारुह्य ग्रामनगरादिकं दहन् वह्निर्दहत्येव तदपि काष्ठम्, तथा चरमवृत्तिमुपारुह्य निखिलप्रपञ्च-

---

कुछ लोग कहते हैं कि वृत्तिरूप ब्रह्मज्ञान अज्ञान और अज्ञानमूलक प्रपञ्चका विनाशक नहीं है, क्योंकि अज्ञानकी निवृत्ति प्रकाशसे होती है, इसलिए जड़रूप वृत्तिसे अज्ञानकी निवृत्ति हो नहीं सकती, किन्तु वृत्तिमें आरूढ़ जो चैतन्यात्मक प्रकाश है, वह उसका निवर्तक है, यद्यपि स्वरूपतः चैतन्य अज्ञान आदिका साक्षी है, अतः अज्ञानका निवर्तक नहीं है, तथापि अखण्डाकार वृत्तिमें आरूढ़ होकर वह अज्ञानका निवर्तक होता है।

'तृणादेः०' (यद्यपि सूर्यकी कान्ति तृण आदिकी प्रकाशिका है, तथापि सूर्यकान्तमणिमें आरूढ़ होकर तृण आदिको दग्ध करती है, यही न्याय प्रकृतमें भी लगाना चाहिए, इस प्रकारकी पण्डितोंकी उक्ति भी है। एवञ्च * जैसे किसी काष्ठका अवलम्बन कर अग्नि ग्राम, नगर आदिका दाह करता हुआ उस काष्ठका भी दाह करता है, वैसे चरमवृत्तिका अवलम्बनका

---

* कुछ लोग शङ्का करते हैं कि सूर्यकान्तमणिमें आरूढ सूर्यकी कान्ति उस मणिसे भिन्न तृण आदिका जैसे विनाश करती है, मणिका विनाश नहीं करती है, वैसे ही वृत्तिमें आरूढ चैतन्य वृत्तिसे व्यतिरिक्त अज्ञान आदिका विनाश करता है, वृत्तिको नहीं, इसलिए ब्रह्मज्ञानका नाश कैसे हो सकता है, क्योंकि अन्य नाशक नहीं है—इस शङ्काका समाधान करनेके लिए 'प्रपञ्च' यह ग्रन्थ है।

मुन्मूलयन्नखण्डचैतन्यप्रकाशस्तन्निवर्तनेऽपि प्रकल्पते इति न तन्नाशे काचिदनुपपत्तिरित्याहुः ।

उपादानक्षयादन्ये विश्वोच्छेदं प्रचक्षते ।
जीवन्मुक्तस्य भोगोऽत्राविद्यालेशेन युज्यते ॥ ३६ ॥

अन्य लोग कहते हैं कि उपादानके नष्ट होनेसे ही सम्पूर्ण प्रपञ्चका नाश होता है और जीवन्मुक्त पुरुषको अविद्याके लेशसे भोग हो सकता है ॥ ३६ ॥

इति श्रीगङ्गाधरसरस्वतीविरचितवेदान्तसिद्धान्तसूक्तिमञ्जर्यां
तृतीयः परिच्छेदः ।

अन्ये तु ब्रह्मज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकम्, ज्ञानाज्ञानयोरेव साक्षाद्विरोधात् । प्रपञ्चस्य तूपादाननाशान्नाश इति प्रपञ्चान्तर्गतस्य ब्रह्मज्ञानस्यापि तत एव नाशः । न च प्रपञ्चस्य ज्ञानानिवर्त्यत्वे मिथ्यात्वानुपपत्तिः । प्रपञ्चनिवृत्तेस्साक्षाद् ज्ञानजन्यत्वाभावेऽपि ज्ञानजन्याज्ञाननाशजन्यत्वात् । 'साक्षात् परम्पराया वा ज्ञानैकनिवर्त्यत्वं मिथ्यात्वम्' इत्यङ्गीकारात् । एवं च तत्त्वसाक्षात्कारोदयेऽपि जीवन्मुक्तस्य देहादिप्रतिभास उपपद्यते । प्रारब्धकर्मणा प्रतिबन्धेन तत्त्वसाक्षात्कारोदयेऽपि प्रारब्धकर्मतत्कार्यदेहादि-

---

कर सम्पूर्ण प्रपञ्चका उच्छेद करता हुआ चैतन्यात्मक प्रकाश चरमवृत्तिके विनाश करनेमें भी समर्थ होता है, इसलिए उसके विनाशमें कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

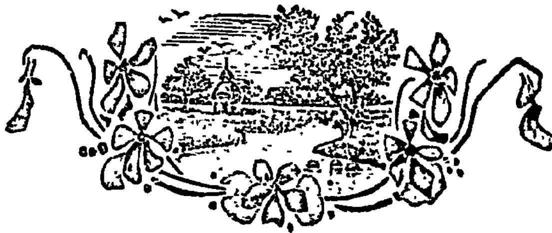
अन्य कुछ लोग कहते हैं कि ब्रह्मज्ञान अज्ञानका ही निवर्तक है । क्योंकि ज्ञान और अज्ञानका साक्षात् विरोध है, प्रपञ्चका तो उपादानके नाशसे नाश होता है, इसलिए प्रपञ्चके अन्तर्गत ब्रह्मज्ञानका भी उपादानके नाशसे नाश होता है । यदि शङ्का हो कि प्रपञ्चकी निवृत्ति ज्ञानसे न मानी जाय, तो मिथ्यात्वकी अनुपपत्ति होगी, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रपञ्चनिवृत्ति यद्यपि साक्षात् ज्ञानजन्य नहीं है, तथापि ज्ञानजन्य अज्ञान नाशसे जन्य है, अतः मिथ्यात्वकी उपपत्ति हो सकती है, क्योंकि साक्षात् अथवा परम्परया केवल ज्ञाननिवर्त्यत्वको मिथ्यात्वका अङ्गीकार किया जाता है, एवञ्च * तत्त्वसाक्षात्कारके उत्पन्न होनेपर भी जीवन्मुक्त पुरुषको

प्रतिभासानुवृत्त्योपादानाविद्यालेशानुवृत्त्युपपत्तेः। अज्ञानवत् प्रपञ्चस्यापि साक्षाद् ब्रह्मसाक्षात्कारनिवर्त्यत्वे नायमुपपद्यते। विरोधिनि ब्रह्मसाक्षात्कारे सति प्रारब्धकर्मणः स्वयमेवावस्थानासम्भवेनाविद्यालेशनिवृत्तिप्रतिबन्धकत्वायोगादित्याहुः।

इति श्रीसिद्धान्तलेशसंग्रहे तृतीयः परिच्छेदः समाप्तः।

देहादिप्रतिभासकी उपपत्ति हो सकती है, कारण कि प्रारब्ध कर्मके † प्रतिबन्धक होनेके कारण तत्त्वसाक्षात्कारके उदित होनेपर भी प्रारब्ध कर्म और उसके कार्य देहादिप्रतिभासकी अनुवृत्तिसे उपादानभूत अविद्यालेशकी अनुवृत्ति उपपन्न हो सकती है। यदि अज्ञानके समान प्रपञ्चको भी ब्रह्मसाक्षात्कारसे साक्षात् निवर्त्य माना जाय, तो जीवन्मुक्तके देहादि प्रतिभासकी उपपत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि ब्रह्मसाक्षात्काररूप विरोधीके होनेसे प्रारब्ध कर्मकी स्वतः अवस्थिति न होनेके कारण अविद्यालेशनिवृत्तिके प्रति प्रतिबन्धकत्वका सम्भव नहीं है।

श्रीसिद्धान्तलेशके वेदान्ताचार्य श्री पं० मूलशङ्करव्यासविरचित
भाषानुवादमें तृतीय परिच्छेद समाप्त।



ॐ

नमः परमात्मने

चतुर्थः परिच्छेदः ।

अथ कोऽयमविद्याया लेशो यदनुवर्तनात् ।
देहादेः प्रतिभासेन जीवन्मुक्तिरिहोच्यते ॥ १ ॥

अब शङ्का होती है कि यह अविद्यालेश क्या चीज है, जिसके अनुवर्तनसे देह आदिका प्रतिभास होनेसे यहाँ जीवन्मुक्ति कही जाती है ॥ १ ॥

अथ कोऽयमविद्यालेशः, यदनुवृत्त्या जीवन्मुक्तिः ? ।

ज्ञानेनावरणे नष्टे विक्षेपांशोऽनुवर्तते ।
प्रारब्धप्रतिबन्धेन स लेशस्तेन जीवनम् ॥ २ ॥

ज्ञानसे आवरणके नष्ट होनेपर भी प्रारब्ध कर्मसे जो अज्ञानका विक्षेपांश अनुवृत्त होता है, वही अविद्याका लेश है, और उसीसे जीवन है ॥ २ ॥

आवरणविक्षेपशक्तिमत्या मूलाविद्यायाः प्रारब्धकर्मवर्तमानदेहाद्यनुवृत्तिप्रयोजको विक्षेपशक्त्यंश इति केचित् ।

* अब यह अविद्यालेश क्या चीज है, जिसके अनुवर्तनसे जीवन्मुक्ति कहलाती है ।

† इस प्रश्नके उत्तरमें कुछ लोग कहते हैं कि आवरण और विक्षेपशक्तिसे युक्त मूलाविद्याका—प्रारब्ध कर्म और वर्तमान शरीर आदिकी अनुवृत्तिमें प्रयोजकीभूत—जो विक्षेपशक्ति अंश है, वही अविद्याका लेश है ।

* तृतीय परिच्छेदमें मुक्तिके साधन ब्रह्मज्ञानका निरूपण बड़े ऊहापोहके साथ किया गया है, इस चतुर्थ परिच्छेदमें ब्रह्मज्ञानकी फलभूत मुक्तिका निरूपण किया जाता है, इसलिए 'अथ कोऽयम्' इस मूल ग्रन्थमें पड़े हुए अथशब्दका साधननिरूपणके लिए प्रस्तुत तृतीय परिच्छेदके अनन्तर—यह अर्थ है । शङ्काका तात्पर्य यह है कि अविद्यालेश' शब्दमें लेशशब्दका अवयव अर्थ है, परन्तु अविद्याका अवयव नहीं हो सकता है, क्योंकि अविद्या सावयव नहीं है, कारण कि जो कार्य होता है, वही सावयव होता है, इसलिए अविद्यालेश हो ही नहीं सकता है ।

† अविद्यामें दो प्रकार की शक्तियाँ होती हैं, एक तो आवरणशक्ति और दूसरी विक्षेपशक्ति, इनमेंसे वृत्त्यात्मक आत्मसाक्षात्कारसे अविद्याकी आवरणशक्तिका विनाश होता है, और जो

क्षालितेष्विव हिङ्ग्वादिपात्रेष्वन्ये तु वासना ।

कुछ लोग कहते हैं कि हिंग आदिके पात्रोंके धोनेपर भी जैसे उसकी वासना रह जाती है, वैसे ही अज्ञान की वासना का रहना ही अविद्याका लेश है ।

क्षालितलशुनभाण्डानुवृत्तलशुनवासनाकल्पोऽविद्यासंस्कार इत्यन्ये ।

‡ कुछ लोग कहते हैं कि अत्यन्त स्वच्छ किये हुए लशुनके पात्रमें अनुवर्तमान लशुनकी वासनाके समान अनुवर्तमान अविद्याकी वासना (संस्कार) ही अविद्याका लेश है ।

विक्षेपशक्तियुक्त अविद्या है, उसका—प्रतिबन्धकीभूत प्रारब्धकर्मके क्षीण होनेपर पूर्वमें अनावृतरूपसे अवस्थित चैतन्य ही—विनाशक है, ऐसा स्वीकार होनेसे तत्त्वज्ञानसे विक्षेपशक्तियुक्त अविद्यारूप अविद्यालेशकी निवृत्ति न होनेसे उसका विनाशक कौन है, इस प्रकारकी शङ्का ही नहीं हो सकती है, यह तात्पर्य है ।

‡ तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञानसे अन्तःकरणकी उपादानभूत अविद्याकी निवृत्ति होनेपर भी अविद्याजन्य कोई देहकी अवस्थितिमें प्रयोजक वासनाविशेष रहता है, उसी वासनाविशेषको अविद्यालेश कहा जाता है । यदि इसमें शङ्का की जाय कि उपादानभूत अविद्याका नाश होनेपर कार्यका अवस्थान कैसे होगा ? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जैसे अन्य मतावलम्बी पटके नाशक्षणमें पटके रूपादिकी अवस्थिति मानते हैं, वैसे ही हमारे मतमें भी उपादानके नाश होनेपर भी वासनाविशेषकी अवस्थिति माननेमें कोई हानि नहीं है । यदि शङ्का हो कि समवायिकारणका नाशरूप जो अनवस्थितिमें कारण है, उसकी प्रतीक्षासे उपादानके अभावकालमें भी रूपादिकी अवस्थिति हो सकती है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस परिस्थितिमें तो प्रकृतमें भी तत्त्वज्ञानसे उत्पन्न देहादिके प्रति उपादानभूत अविद्याका विनाश, जो देहादिके विनाशमें कारणभूत है, प्रारब्धकर्मसे प्रतिबद्ध है, इसलिए प्रतिबन्धकरहित अविद्याके विनाशकी प्रतीक्षासे देह आदिकी भी अवस्थिति हो सकती है । यदि शङ्का हो कि प्रारब्धकर्मको प्रतिबन्धक मानना प्रमाणशून्य है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जीवन्मुक्तिप्रतिपादक शास्त्र और तत्त्ववेत्ताओंका अनुभव उसमें प्रमाण है । किञ्च, पट और उसके रूपकी एक ही क्षणमें निवृत्ति देखनेमें आती है, अतः परमतमें ही तथाविध अनियमाङ्गीकारमें प्रमाण नहीं है, इसीलिए विद्यारण्य स्वामीजीने कहा है कि

विना क्षोदक्षमं मानं तैर्वृथा परिकल्प्यते ।
श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यो वदतां किं नु दुःशकम् ॥

अर्थात् अन्यमतावलम्बी किसी प्रमाणविशेषके विना वृथा ही वस्तुका अङ्गीकार करते हैं, तो हम लोगोंके लिए, जो कि श्रुति, युक्ति और अनुभवके अनुसार वस्तुकी सिद्धि कहते हैं, क्या असाध्य है ।

नष्टानुवृत्तिमाचख्युरन्ये दग्धपटे यथा ॥ ३ ॥

जैसे दग्धपट में उसके आकारकी अनुवृत्ति होती है, वैसे कार्याक्षम मूलाविद्या ही अविद्याका लेश कहलाता है ॥ ३ ॥

दग्धपटन्यायेनानुवृत्ता मूलाविद्यैवेत्यपरे ।

विरोधिन्युदिते शेषासम्भवादर्थवादताम् ।
सर्वज्ञात्मगुरुः प्राह जीवन्मुक्तिश्रुतेः स्फुटम् ॥ ४ ॥

सर्वज्ञात्मगुरु कहते हैं कि विरोधी ब्रह्मज्ञानके उदित होनेपर कुछ भी अज्ञान आदि अवशिष्ट नहीं रह सकता, जीवन्मुक्तिप्रतिपादक श्रुति अर्थवादमात्र है ॥ ४ ॥

सर्वज्ञात्मगुरवस्तु—विरोधिसाक्षात्कारोदये लेशतोऽप्यविद्याऽनुवृत्त्य-

---

× दग्धपटन्यायसे अनुवर्तमान मूलाविद्या ही अविद्याका लेश है ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं ।

* सर्वज्ञात्मगुरु तो इस प्रकारके पक्षको भी कहते हैं कि अविद्याके विरोधी तत्त्वसाक्षात्कारके उदित होनेपर लेशरूपसे भी अविद्याकी अनुवृत्ति

× 'दग्धपटन्यायेन' दग्धपटन्याय उसको कहते हैं—किसी वस्त्रके अग्निमें जल जानेपर भी उसका आकार पूर्ववत् ज्योंका त्यों देखा जाता है, परन्तु उससे परिधान आदि क्रिया नहीं हो सकती है, इसी प्रकार तत्त्वज्ञानसे मूलाविद्याका विनाश हो गया है, परन्तु वह दग्धपटके समान अनुवर्तमान और अपने कार्यमें असमर्थ है, अतः यही अनुवर्तमान अविद्या अविद्यालेश कही जाती है, यही इस मतका भाव है ।

* इन सर्वज्ञात्म गुरुके मतमें जीवन्मुक्ति है ही नहीं, क्योंकि अज्ञानके विरोधी ज्ञानके होनेपर उस अज्ञानका अपने कार्यके साथ नाश होनेसे उसका अंश भी नहीं रह सकता है, जीवन्मुक्तिके प्रतिपादक जो 'तस्य तावदेव चिरम्' (उसको—तत्त्वज्ञानीको—मुक्त होनेके लिए उतनी ही देर है, जबतक कि उसकी शरीरसे मुक्ति न हो) इत्यादि शास्त्र है, वे तो केवल श्रवण आदिमें प्रवृत्ति करानेके लिए हैं, अतः जीवन्मुक्तिके लिए अविद्याका लेश मानना या उसका निर्वचन करना सर्वथा अशक्य है, यह भाव है। वस्तुतस्तु 'तस्य तावदेव चिरम्' इत्यादि जीवन्मुक्तिके प्रतिपादक शास्त्र श्रवणादिके अर्थवाद हैं, तथापि वे सालम्बन हैं, क्योंकि निरालम्बन अर्थवाद नहीं हो सकता है, अतः अर्थवादके आलम्बनस्वरूपसे जीवन्मुक्तिका अङ्गीकार अवश्य करना होगा, और लोकमें रज्जुमें उत्पन्न हुए सर्पभ्रमकी रज्जुतत्त्वके साक्षात्कारसे निवृत्ति होनेपर भी उस सर्पभ्रमके अभ्याससंस्कारसे फिर भी कुछ काल तक जैसे भय आदिकी अनुवृत्ति देखी जाती है, वैसे ही तत्त्वज्ञानसे अविद्याका विनाश होनेपर भी अविद्याके संस्कार कुछ काल तक रहते हैं, अतः उन संस्कारोंसे शरीरादिकी अनुवृत्ति होनेसे जीवन्मुक्तिकी

सम्भवाद् जीवन्मुक्तिशास्त्रं श्रवणादिविध्यर्थवादमात्रम्। शास्त्रस्य जीवन्मुक्तिप्रतिपादने प्रयोजनाभावात्। अतः कृतनिदिध्यासनस्य ब्रह्मसाक्षात्कारोदयमात्रेण सविलासवासनाऽविद्यानिवृत्तिरित्यपि कश्चित् पक्षमाहुः ॥ १ ॥

का निवृत्तिरविद्यायाः ? ब्रह्मसिद्धिकृतां नये।
आत्मैव, तदभावो हि मोहस्तत्संक्षयश्च सः ॥ ५ ॥

अविद्याकी निवृत्ति किसे कहते हैं ? इस प्रश्नके उत्तरमें ब्रह्मसिद्धिकार कहते हैं कि आत्मा ही अविद्याकी निवृत्ति है, अविद्यानिवृत्तिका अभाव मोह है और मोहका विनाश आत्मा है ॥ ५ ॥

अथ केयमविद्यानिवृत्तिः ? आत्मैवेति ब्रह्मसिद्धिकाराः ॥

न च तस्य नित्यसिद्धत्वाद् ज्ञानवैयर्थ्यम्, असति ज्ञानेऽनर्थहेत्व-

---

नहीं हो सकती है, इसलिए जीवन्मुक्तिका प्रतिपादक शास्त्र श्रवण आदि विधिका केवल अर्थवाद है, क्योंकि जीवन्मुक्तिके प्रतिपादनमें शास्त्रका कुछ भी प्रयोजन नहीं है, इससे जिस पुरुषने निदिध्यासन किया है, उस पुरुषको ब्रह्मसाक्षात्कारकी उत्पत्तिमात्रसे विलास (कार्य) और वासनाके साथ अविद्याकी निवृत्ति हो ही जाती है ॥ १ ॥

† अब शङ्का होती है कि अविद्याकी निवृत्ति क्या है ? [अर्थात् प्रकृतमें अविद्याकी निवृत्तिका स्वरूप क्या है, यह प्रश्नका भाव है]

इस आक्षेपके समाधानमें ब्रह्मसिद्धिकार कहते हैं कि आत्मा ही अविद्याकी निवृत्ति है।

यदि शङ्का हो कि आत्मा ही यदि अविद्याकी निवृत्ति है, तो उसकी स्वतःसिद्धि होनेसे अविद्याकी निवृत्तिके लिए तत्त्वज्ञान निरर्थक ही है ?

उपपत्ति हो सकती है, इसी गूढ़ अभिप्रायसे 'इत्यपि कश्चित्पक्षमाहुः' इसमें अपि शब्दका प्रयोग किया गया है।

† शङ्काका भाव है—यदि अविद्यानिवृत्ति पदार्थ आत्मरूप माना जाय, तो अविद्यानिवृत्ति ज्ञानजन्य नहीं होगी, क्योंकि वह नित्य ठहरी, यदि उसको अतिरिक्त मानें तो द्वैतापत्ति होगी, अतः अविद्यानिवृत्तिका स्वरूप क्या है, यह प्रश्नकर्ता पूछता है।

विद्याया विद्यमानतया अनर्थमपि तिष्ठेदिति तदन्वेषणाद्। 'यस्मिन् सति अग्रिमक्षणे यस्य सत्त्वम्, यद्व्यतिरेके चाऽभावः, तत् तत्साध्यम्' इति

तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञानके न होनेपर अनर्थकी कारणीभूत अविद्याके विद्यमान होनेसे अनर्थकी अवस्थिति अवश्य होगी, इसलिए अनर्थ-निवृत्तिकी अभिलाषा करके ज्ञानकी अन्वेषणा हो सकती है [पूर्वपक्ष तथा समाधानका तात्पर्य यह है कि यदि अविद्याकी निवृत्ति आत्मस्वरूप मानी जाय, तो अविद्यानिवृत्तिरूप आत्माके सर्वदा प्राप्त होनेसे उसकी प्राप्तिके लिए कोई भी यत्न करनेकी आवश्यकता नहीं है, इसलिए अविद्याकी निवृत्तिका हेतुभूत तत्त्वज्ञान व्यर्थ ही है। यह पूर्वपक्षीका कहना है। इसपर समाधान कर्ता पूर्वपक्षीसे पूछता है कि तत्त्वज्ञानको व्यर्थ बतलानेके पहले तुम्हें कहना चाहिए कि तत्त्वज्ञान क्यों व्यर्थ है, क्या तत्त्वज्ञानका कुछ प्रयोजन नहीं है, इसलिए तत्त्वज्ञान व्यर्थ है अथवा अविद्यानिवृत्तिके आत्मस्वरूप होनेपर उसके अनादि होनेसे ज्ञानके विना भी वह सिद्ध है, अतः अविद्यानिवृत्ति ज्ञानसाध्य नहीं हो सकती इसलिए तत्त्वज्ञान व्यर्थ है ? इसमें प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि अनर्थनिवृत्तिके उद्देश्यसे ज्ञानसाधनके अनुष्ठानमें प्रवृत्ति हो सकती है, क्योंकि ज्ञानके न रहनेपर अनर्थकी हेतुभूत अविद्याके रहनेसे अनर्थका भी अवस्थान हो सकता है, इस प्रकार ज्ञानाभावदशामें अनर्थका सम्भव हो सकता है, इसलिए अनर्थनिवृत्तिके उद्देश्यसे ज्ञानके साधनोंके अनुष्ठानमें भी पुरुषकी प्रवृत्ति होती है, अतः प्रयोजनके अभावसे ज्ञान व्यर्थ है, ऐसा नहीं कह सकते हो। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि]* जिसके रहनेपर उत्तर क्षणमें जिसकी सत्ता हो और जिसका अभाव होनेपर जिसका अभाव हो, वह उससे साध्य होता है, इस प्रकारके साध्यलक्षणके अनुरोधसे आत्मस्वरूप

* साध्यका लक्षण दो प्रकारका होता है, एक तो केवल सादिपदार्थके लिए जन्यत्वरूप और दूसरा सादि और अनादि पदार्थोंके लिए 'यस्मिन्सति' इत्यादिरूप, इसलिए आत्मस्वरूप अविद्यानिवृत्तिमें जन्यत्वरूप प्रथम लक्षणके न होनेपर भी द्वितीय लक्षण है, अतः अविद्यानिवृत्तिमें ज्ञानसाध्यत्वकी उपपत्ति हो सकती है। जैसे घटके प्रति मृत्तिका कारण है और घट मृत्तिकासे साध्य है, इसमें यह लक्षण घटता है, क्योंकि मृत्तिकाके रहनेपर उत्तरक्षणमें घटकी सत्ता है और मृत्तिकाके अभावमें घटका भी अभाव है, इसलिए घट मृत्तिकासे साध्य कहलाता है, इस प्रकार लक्षणसमन्वय करना चाहिए, यह भाव है।

लक्षणानुरोधेनाऽऽत्मरूपाया अप्यविद्यानिवृत्तेः ज्ञानसाध्यत्वाच्च । ज्ञाने सति अग्रिमक्षणे आत्मरूपाविद्यानिवृत्तिसत्त्वम्, तद्व्यतिरेके तत्प्रतियोग्य- विद्यारूपस्तदभाव इति उक्तलक्षणसत्त्वात् ।

आनन्दबोधाचार्यास्तु युक्तिभिः पञ्चमीं विधाम् ।
सदसत्सदसन्मिथ्याभिन्नामात्मनि तां विदुः ॥ ६ ॥

आनन्दबोधाचार्य कहते हैं कि अविद्याकी निवृत्तिका पञ्चम प्रकार ही युक्तियोंसे सिद्ध होता है अर्थात् अविद्यानिवृत्ति सत्, असत्, सदसत् और अनिर्वचनीयसे भिन्न ही है ॥ ६ ॥

आत्मान्यैवाऽविद्यानिवृत्तिः । सा च न सती, अद्वैतहानेः । नाऽप्यसती, ज्ञानसाध्यत्वायोगात् । नाऽपि सदसद्रूपा, विरोधात् । नाऽप्यनिर्वाच्या, अनिर्वाच्यस्य सादेरज्ञानोपादानकत्वनियमेन मुक्तावपि तदुपादानाज्ञानानुवृत्त्यापत्तेः, ज्ञाननिवर्त्यत्वापत्तेश्च । किन्तु उक्तप्रकारचतुष्टयोत्तीर्णा पञ्चमप्रकारेत्यानन्दबोधाचार्याः ।

अविद्यानिवृत्ति ज्ञानसाध्य हो सकती है, क्योंकि ज्ञानके होनेपर उससे उत्तर क्षणमें आत्मरूप अविद्यानिवृत्तिकी सत्ता है और ज्ञानके न रहनेपर अविद्या-निवृत्तिकी प्रतियोगिभूत जो अविद्या है तद्रूप अभाव है अर्थात् अविद्या-निवृत्तिका अभाव है, इसलिए साध्यत्वका उक्त लक्षण अविद्यानिवृत्तिमें घट जाता है ।

आत्मासे भिन्न ही अविद्यानिवृत्ति पदार्थ है, और वह अविद्यानिवृत्ति पदार्थ सत्य नहीं है, क्योंकि उसे सत्य माननेसे अद्वैतकी हानि होगी, और असत् भी नहीं मान सकते, क्योंकि ऐसा माननेसे उसमें ज्ञानसाध्यत्व नहीं हो सकेगा, और सत् और असत्‌रूप भी नहीं मान सकते, क्योंकि सत्त्व और असत्त्वका विरोध होनेसे एकमें उन विरुद्ध दो धर्मोंका समावेश नहीं हो सकता है । और अज्ञाननिवृत्तिको अनिर्वचनीय भी नहीं मान सकते हैं, क्योंकि सादि अनिर्वचनीय पदार्थोंके प्रति अज्ञान ही उपादानकारण होता है, ऐसा नियम होनेके कारण मुक्तिमें भी अपने उपादानकारण अविद्याकी अनुवृत्ति प्रसक्त होगी और मुक्तिमें ज्ञाननिवर्त्यत्वका भी प्रसङ्ग होगा । इसलिए उक्त चार प्रकारोंसे (सत्, असत्, सदसत् और अनिर्वचनीय इन चार प्रकारोंसे)

उत्पत्तिरिव नाशोऽपि क्षणिका भावविक्रिया ।
अद्वैतविद्याचार्यास्तद्वृत्तिकालेति तां विदुः ॥ ७ ॥

उत्पत्तिके समान विनाश भी अविद्यावृत्तिकालिक क्षणिक, भावका विकार ही है, अतः अनिर्वचनीय है, ऐसा अद्वैतविद्याचार्य कहते हैं ॥ ७ ॥

अविद्यावत्तन्निवृत्तिरप्यनिर्वाच्यैव । न च तदनुवृत्तौ तदुपादानाज्ञानस्याप्यनुवृत्तिनियमाद् अनिर्मोक्षप्रसङ्गः, तदनुवृत्तौ प्रमाणाभावात्; उत्पत्तेः

विलक्षण कोई पञ्चम प्रकार ही अविद्यानिवृत्ति है, ऐसा आनन्दबोधाचार्य * कहते हैं ।

अविद्या जैसे अनिर्वचनीय है, वैसे ही अविद्याकी निवृत्ति भी अनिर्वचनीय है । यदि शङ्का हो कि मुक्तिमें अविद्यानिवृत्तिकी अनुवृत्ति होगी, तो उसके उपादानभूत अविद्याकी भी अनुवृत्ति होनेसे अनिर्मोक्षकी प्रसक्ति होगी, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि अज्ञाननिवृत्तिकी अनुवृत्तिमें कोई प्रमाण ही नहीं है, कारण कि जैसे † घटादि पदार्थोंकी उत्पत्ति केवल

---

* इस विषयमें आनन्दबोधाचार्यजीका विस्तृत विचार उनके बनाये हुए न्यायमकरन्द ग्रन्थमें देखना चाहिए [पृ० ३५२ काशी चौखम्भा मुद्रित] उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

नन्विद्याक्षतेः सत्त्वे सद्वितीयत्वमात्मनः ।
मिथ्याभावे त्वनिर्मोक्षो मूलाविद्याव्यवस्थितेः ॥

उक्तमेतदविद्यास्तमयो मोक्ष इति । तत्रैतद्विचार्यते—स किं सत्यो मिथ्या वेति·················
अतः कथमविद्याव्यावृत्तिर्मोक्ष इति ।

न सन्नासन्न सदसन्नानिर्वाच्योऽपि तत्क्षयः ।
यस्मात्तुरूपो हि बलिरित्याचार्या व्यचीचरन् ॥

अर्थात् अविद्यानिवृत्तिको सत्य मानें, तो द्वैतापत्ति होगी, उसे मिथ्या मानें, तो अविद्याका अवस्थान प्रसक्त होगा क्योंकि मिथ्याभाव अविद्या अथवा अविद्याका कार्य होता है, इसलिए अनिर्मोक्ष प्रसक्त होगा, पूर्वमें जो अविद्यास्तमय मोक्ष कहा गया है उसके बारेमें विचार किया जाता है कि वह सत्य है या मिथ्या·······························इस प्रकारके अनेक सत्यत्वादि विकल्पोंसे अविद्यानिवृत्तिका निर्वचन नहीं हो सकता, इसलिए अविद्यानिवृत्ति मोक्ष कैसे हो सकती है । इसपर कहते हैं—अविद्यानिवृत्ति सत् नहीं है, असत् नहीं है, सदसत् नहीं है और अनिर्वाच्य भी नहीं है, किन्तु इन चार कल्पोंसे भिन्न पञ्चम प्रकार ही अविद्यानिवृत्ति है, यह भाव है ।

† भाव यह है कि जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उनमें उत्पत्ति नामका एक भावरूप विकार है, जो केवल एक ही क्षणमें याने उत्पत्त्यवच्छिन्न कालमें ही रहता है, सर्वदा नहीं रहता, यह अनुभवसिद्ध है, वैसे ही निवृत्ति भी (विनाश भी) पदार्थोंका भावरूप धर्म ही है, जो

प्रथमसमयमात्रसंसर्गिभावविकारत्ववद् निवृत्तेरपि चरमसमयमात्रसंसर्गि-भावविकारत्वोपपत्तेः। अत एव यथा पूर्वं पश्चाच्च 'उत्पत्स्यते, उत्पन्नः' इति भाविभूतभावेन व्यवह्रियमाणाया उत्पत्तेः प्रथमसमयमात्रे 'उत्पद्यते' इति वर्तमानव्यवहारः, तथा पूर्वं पश्चाच्च 'निवर्तिष्यते, निवृत्तः' इति भाविभूतभावेन व्यवह्रियमाणाया निवृत्तेश्चरमसमयमात्रे 'निवर्तते, नश्यति, ध्वंसते' इति वर्तमानव्यपदेशः। निवृत्तेरनुवृत्तौ तु चिरशकलितेऽपि घटे 'इदानीं निवर्तते' इत्यादिव्यवहारः स्यात्, आख्यातानां प्रकृत्यर्थगतवर्तमानत्वाद्यर्थाभिधायित्वात्।

प्रथम क्षणमात्रमें सम्बन्ध रखनेवाला भावविकार है, वैसे ही विनाश भी अन्तिम क्षणमात्रके साथ सम्बन्ध रखनेवाला भावभूत विकार ही है, अभावभूत नहीं है, इसीसे अर्थात् निवृत्तिको क्षणिक भावविकार माननेसे ही जैसे उत्पत्तिके पूर्वमें 'घट उत्पन्न होगा' और उत्पत्तिके पीछे 'घट उत्पन्न हुआ' इस प्रकार भावी और भूतरूपसे व्यवह्रियमाण उत्पत्तिमें केवल प्रथम समयमें ही 'उत्पन्न होता है' इस प्रकार वर्तमानव्यवहार होता है और यह उत्पत्तिके क्षणिक भावविकारमें प्रयोजक है, वैसे ही निवृत्तिके पूर्वमें और निवृत्तिके उत्तरकालमें 'निवृत्त होगा और निवृत्त हुआ' इस प्रकार भावी और भूतरूपसे व्यवह्रियमाण निवृत्तिमें भी अन्तिम समयमात्रमें 'निवृत्त होता है' 'नष्ट होता है' 'ध्वस्त होता है' इस प्रकारका वर्तमानत्वव्यवहार क्षणिकत्वका भी साधन करता है, निवृत्ति स्थायी मानी जाय, तो चिरकालसे ध्वस्त हुए घटमें भी 'अभी घट निवृत्त होता है, ऐसा व्यवहार प्रसक्त होगा। क्योंकि जितने आख्यात हैं, वे सबके सब अपने * प्रकृत्यर्थमें रहनेवाले वर्तमानत्व आदिका ही अभिधान करते हैं।

निवृत्त्यवच्छिन्न कालमें ही रहता है, अन्यत्र नहीं रहता। उत्पत्ति और निवृत्ति आद्य और चरम कालको छोड़कर अन्य कालमें भी यदि रहें, तो चिरकालोत्पन्न घटमें और चिरशकलित घटमें 'उत्पन्न होता है और नष्ट होता है', ऐसा व्यवहार प्रसक्त होगा, अतः अविद्यानिवृत्ति, जो अत्यन्त क्षणिक पदार्थ है, उसकी अनुवृत्ति मोक्षकालमें नहीं हो सकती है, अतः अनिर्मोक्षका प्रसङ्ग नहीं है।

* प्रकृत्यर्थ अर्थात् धातुका अर्थ, उसमें रहनेवाले वर्तमानत्व, अतीतत्व, भविष्यत्त्वका ज्ञान आख्यातसे (तिबादिसे) होता है, यह भाव है।

ननु च तेषां स्वाभिहितसङ्ख्याश्रयप्रकृत्यर्थकर्तृकर्मगतवर्तमानत्वाद्यर्थाभिधायकत्वम्, स्वाभिहितप्रकृत्यर्थानुकूलव्यापारगतवर्तमानत्वाद्यर्थाभिधायकत्वं वाऽस्तु। तथा च निवृत्तिक्रियाकर्तुश्चिरचूर्णितस्य घटस्य, तद्‌गतनिवृत्त्यनुकूलव्यापारस्य चाऽवर्तमानत्वाद् नोक्तातिप्रसङ्ग इति चेद्; न; आद्ये उत्पन्नेऽपि घटे 'उत्पद्यते' इति व्यवहारापत्तेः। उत्पत्तिक्रियाकर्तुर्घटस्य वर्तमानत्वात्। द्वितीये आमवातजडीकृतकलेवरे उत्थानानुकूलयत्नवति उत्थानानुदयेऽपि 'उत्तिष्ठति' इति व्यवहारापत्तेः। आख्यातार्थस्य प्रकृत्यर्थभूतोत्थानानुकूलस्य यत्नरूपव्यापारस्य वर्तमानत्वात्।

*यदि शङ्का हो कि वे आख्यात (तिप् आदि) अपने से अभिहित सङ्ख्याके आश्रयीभूत प्रकृत्यर्थ क्रियाके कर्ता, कर्म आदिमें रहनेवाले वर्तमानत्व आदिका अथवा अपनेसे अभिहित प्रकृत्यर्थके अनुकूल व्यापारमें रहनेवाले वर्तमानत्व आदिका अभिधान करते हैं, इसलिए निवृत्तिरूप क्रियाके कर्ता चिरकालसे चूर्णित घटमें और उसमें रहनेवाले निवृत्तिके अनुकूल व्यापारमें वर्तमानत्वके न होनेसे उक्त आपत्ति अर्थात् चिरशकलित घटको लेकर अभी घट निवृत्त होता है, इस प्रकारकी आपत्ति नहीं आ सकती है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि तथोक्त दो अर्थोंमें से पूर्वके अर्थमें उत्पन्न घटको लेकर घट उत्पन्न होता है, ऐसा व्यवहार प्रसक्त होगा, क्योंकि उत्पत्तिरूप क्रियाका कर्ता घट वर्तमान है। और दूसरे पक्षमें यह दोष होगा कि आमवातसे जिसका कलेवर अकड़ गया है, ऐसा पुरुष उठनेके अनुकूल यत्न करता है, तथापि उत्थान नहीं होता, परन्तु 'उत्तिष्ठति' (उठता है) ऐसा व्यवहार प्रसक्त होगा, क्योंकि प्रकृत्यर्थभूत उत्थानके अनुकूल यत्नरूप

* आख्यात—प्रकृत्यर्थमें रहनेवाले वर्तमानत्व आदिका बोध नहीं करते हैं, किन्तु अन्यगत वर्तमानत्व आदिके बोधक हैं, इस प्रकार आशङ्का करते हैं, तात्पर्य यह है कि स्वाभिहित—एकवचनत्व आदिरूपसे आख्यातोंसे अभिहित—जो सङ्ख्या, उस सङ्ख्याके आश्रयभूत—'घटो निवर्तते, देवदत्तः पचति, तण्डुलाः पच्यन्ते' इत्यादि प्रयोगोंमें प्रकृत्यर्थभूत निवृत्त्यादि क्रियाओंका कर्तृकर्मादिरूप—जो घटादि हैं, उन घटादिमें रहनेवाले वर्तमानत्व आदिका आख्यात बोध कराते हैं अथवा 'घटो निवर्तते' (घट विनष्ट होता है) इत्यादि प्रयोगोंमें आख्यातसे अभिहित प्रकृत्यर्थभूत निवृत्तिके अनुकूल जो व्यापार है उस व्यापारमें रहनेवाले वर्तमानत्व आदिका आख्यात बोधक है, परन्तु प्रकृत्यर्थगत वर्तमानत्व आदिका बोधक नहीं है॥

तस्मात् प्रकृत्यर्थगतमेव वर्तमानत्वादि आख्यातार्थ इति ध्वंसस्य स्थायित्वे चिरनिवृत्तेऽपि घटे 'निवर्तते' इति व्यवहारो दुर्वारः ।

यदि च मुद्गरादिशकलिते घटे ध्वंसो नाम कश्चिदभावस्तत्प्रतियोगिकः स्थायी भूतलाद्याश्रित उपेयते, तदा कपालमालापसरणे तदनपसरणेऽपि मणिकशरावादिकपालव्यावृत्तकपालसंस्थानविशेषादर्शने च किमिति स

व्यापार, जो कि आख्यातार्थ है, वर्तमान है। इससे अर्थात् किसी अर्थान्तरके न होनेसे प्रकृत्यर्थगत वर्तमानत्व आदि ही आख्यातार्थ है, इससे ध्वंसको स्थायी माननेमें चिरनिवृत्त घटमें 'निवर्तते' (अब निवृत्त होता है) ऐसा व्यवहार अवश्य होगा।

* मुद्गर आदिसे घटके शकलित (खण्डित) होनेपर ध्वंस नामका घटप्रतियोगिक स्थायी और भूतलमें रहनेवाला अभाव यदि माना जाय, तो † कपालमालाके अपसरणमें और अपसरणके अभावमें मणिक, शराव आदिके कपालोंसे व्यावृत्त कपालके संस्थान विशेषका दर्शन न होनेपर भी वह ध्वंस क्यों नहीं प्रत्यक्ष देखा जाता है। यदि शङ्का हो कि कपालोंके

---

* जो लोग अतिरिक्त अभावरूप ध्वंसका अङ्गीकार करते हैं, वह ध्वंस क्या प्रत्यक्ष है या अनुमेय है, इस प्रकारके दो विकल्प करके क्रमशः उन विकल्पोंका अग्रिम ग्रन्थसे निरास करते हैं, यहाँ समझना चाहिए कि घटके ध्वंसके अनन्तर कपालमें जैसे घटध्वंसकी प्रतीति होती है, वैसे ही खण्डित घटके अधिकरण भूतलमें भी 'यहाँ घट ध्वस्त हुआ' इस प्रतीतिके आधारपर भूतल आदि भी घटध्वंसके अधिकरण होते हैं, ऐसा कुछ तार्किक मानते हैं, उन्हींके अनुसार यह पूर्वपक्ष है।

† समाधानका तात्पर्य यह है कि यदि घटध्वंस भूतल आदिमें प्रत्यक्ष मानते हो, तो जहाँपर कपालोंकी कतार है, वहाँसे उस कतारको हटा देनेपर 'यहाँ घटका ध्वंस है' ऐसा प्रत्यक्ष होना चाहिए, परन्तु होता तो है नहीं, अतः ध्वंसका प्रत्यक्ष नहीं होता है, यह मानना चाहिए। यदि शङ्का हो कि घटध्वंसके प्रत्यक्षके प्रति कपालमालाका प्रत्यक्ष भी कारण है, अतः घटध्वंसका प्रत्यक्ष नहीं होता, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि तुम्हारे कथनके अनुसार कपालमालाका अपसरण न करनेपर भी मणिक (मिट्टीका बड़ा पात्र) आदि अन्य पात्रोंसे व्यावृत्त भूतलगत कपालोंमें घटके कपालोंका असाधारण रूप गृहीत—जिस कालमें नहीं हुआ उस कालमें भी घटध्वंसका प्रत्यक्ष होना चाहिए; क्योंकि कपालमालाका प्रत्यक्ष विद्यमान है, अतः ध्वंस प्रत्यक्ष है, यह मत अनादरणीय है। वस्तुतस्तु प्रध्वंसाभावके प्रत्यक्षमें इन्द्रियका सन्निकर्ष निरूपित नहीं होता, अतः प्रत्यक्ष नहीं होता, यह भाव है।

प्रत्यक्षो न स्यात्। कपालसंस्थानविशेषादिनाऽनुमेयो घटादिध्वंसो न प्रत्यक्ष इति चेत्, तर्हि तेन मुद्गरपातकालीनस्य उत्पत्तिवद् भावविकाररूपतया प्रतियोग्याश्रितध्वंसस्याऽनुमानं सम्भवतीति न ततः पश्चादनुवर्तमानप्रतियोग्यधिकरणाश्रिताभावरूपध्वंससिद्धिः। 'इह भूतले घटध्वंसः' इति भूतले ध्वंसाधिकरणत्वव्यवहारस्य 'इह भूतले घट उत्पन्नः' इतिवत् भावविकारयुक्तप्रतियोग्यधिकरणत्वविषयत्वोपपत्तेः। घटध्वंसानन्तरं भूतले घटाभावव्यवहारस्य घटापसरणानन्तरं तदभावव्यवहारवत् समयविशेष-

---

संस्थानविशेषसे घटादिध्वंस अनुमेय है, प्रत्यक्ष नहीं है, तो वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उसी कपालके संस्थानविशेष आदिसे उत्पत्तिके समान भावके विकाररूपसे अवस्थित मुद्गरपतनके समानकालीन प्रतियोगीमें आश्रित ध्वंसका भी अनुमान हो सकता है, इसलिए उस अनुमानसे प्रतियोगीके अधिकरणमें रहनेवाले ध्वंसरूप अभावकी सिद्धि नहीं हो सकती है ‡। 'इस भूतलमें घटका ध्वंस है' इस प्रकार जो भूतलमें ध्वंसाधिकरणत्वका व्यवहार होता है, वह तो इस भूतलमें घट उत्पन्न हुआ, इस प्रकारके व्यवहारके समान भावभूत विकारसे युक्त प्रतियोगीके अधिकरणत्वकी विषयताको लेकर भी उपपन्न हो सकता है। घटके ध्वंसके बाद भूतलमें जो घटाभावका व्यवहार होता है * वह भी घटके अपसरणके बाद होनेवाले

---

‡ इस अनुमानसे भूतकालीन ध्वंसका भी अनुमान हो सकता है, इसलिए उक्त अनुमानसे ध्वंसमात्रकी सिद्धि होनेपर भी इससे तार्किकाभिमत ध्वंसके स्थायित्वकी सिद्धि नहीं हो सकती है, यह भाव है। यदि शङ्का हो कि यह भूतल घटध्वंसका आश्रय है, कपालमालाविशेष होनेसे, जो कपालमालाविशेषका अधिकरण भूतल नहीं है, वह घटध्वंसका अधिकरण नहीं है, इस प्रकारके अनुमानसे घटाश्रित ध्वंसकी सिद्धि कैसे होगी, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि ध्वंसकी उत्पत्तिदशामें प्रतियोगीमें ही ध्वंस यद्यपि रहता है, तथापि प्रतियोगी द्वारा भूतलमें भी ध्वंस रहता है, अतः उक्त अनुमानकी विषयता भूतलाश्रित ध्वंसमें भी है।

* तात्पर्य यह है कि घटके नष्ट हो जानेपर 'इस भूतलमें घट नहीं है' इस प्रकारका व्यवहार अत्यन्ताभावका ही—जो कि अत्यन्ताभाव किसी समयविशेषमें अर्थात् भूतल आदिमें घटादिसंयोगके अभावकालमें रहता है—अवलम्बन करता है, अतः इसी क्लृप्त अत्यन्ताभावसे तथोक्त व्यवहारकी यदि उपपत्ति हो सकती है, तो फिर अतिरिक्त ध्वंसकी अङ्गीकृति निष्फल प्रतीत होती है। और 'अतोऽन्यदार्तम्' (नित्य स्वप्रकाशचैतन्यसे इतर

संसर्गात्यन्ताभावालम्बनतोपपत्त्या ध्वंसविषयत्वस्याऽकल्पनीयत्वाच्च। एवं सति घटोत्पत्तेः पूर्वं तदभावव्यवहारोऽप्यत्यन्ताभावेन चरितार्थ इति प्रागभावोऽपि न स्यादिति चेत्, सोऽपि मा भूत्। नन्वेवं 'प्रागभावाधारकालः पूर्वकालः, ध्वंसाधार उत्तरकालः' इति निर्वचनासम्भवात् काले पूर्वोत्तरादिव्यवहारः किमालम्बनस्स्यात्। घटादिषु प्रतियोगित्वादिव्यवहारवदखण्डकिञ्चिद्धर्मगोचरोऽस्तु। अभावरूपस्थायिध्वंसाभ्युपगमेऽपि तेषु ध्वंसत्वादेरखण्डस्य वक्तव्यत्वात्। न च जन्याभावत्वरूपं सखण्ड-

घटाभावव्यवहारके समान विशेषसमयमें सम्बन्ध रखनेवाले अत्यन्ताभावको ही अवलम्बन करता है, इसलिए उसको ध्वंसविषयक मानना अनुचित है। यदि इस परिस्थितिमें † शङ्का हो कि घटकी उत्पत्तिके पूर्वमें घटाभावका व्यवहार भी अत्यन्ताभावसे ही उपपन्न हो सकता है, अतः प्रागभावकी भी सिद्धि नहीं होगी, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रागभावका भी अङ्गीकार नहीं करते हैं। यदि शङ्का हो कि प्रागभाव और ध्वंस न मानें जायँ, तो प्रागभावका आधारभूत काल पूर्वकाल है और ध्वंसका आधारभूत काल उत्तरकाल है, इस प्रकारसे पूर्वकाल और उत्तरकालका निर्वचन नहीं कर सकते हैं, अतः कालमें जो पूर्वत्व और उत्तरत्व आदि व्यवहार होते हैं, वे किसको आलम्बन करेंगे? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जैसे घट आदिमें प्रतियोगित्व आदिका व्यवहार अखण्ड प्रतियोगित्वादि धर्मविषयक है, वैसे ही कालमें पूर्वत्वादि व्यवहार भी अखण्ड पूर्वत्वादि धर्मविषयक ही है। और अभावरूप स्थायी ध्वंसके माननेपर भी उस अभावमें ध्वंसत्व आदि अखण्ड धर्म ही मानने पड़ेंगे ‡। यदि शङ्का हो कि 'जन्यत्वे सति अभावत्वम्' अर्थात् जन्य होकर जो अभाव हो, वह ध्वंस है, ऐसा ध्वंसका निर्वचन करनेसे ध्वंसत्व सखण्ड ही सिद्ध होता है, अखण्ड नहीं; तो यह

नश्वर है) इस श्रुतिसे पराभिमत नित्य ध्वंसका खण्डन भी हो जाता है। अतः ऐसे पदार्थोंकी कल्पना प्रमाणशून्य है।

† घटनाशके उत्तरकालमें होनेवाले अभावव्यवहारकी सामयिक अत्यन्ताभावसे ही उपपत्ति हो सकती है, इस अवस्थामें, यह भाव है।

‡ अर्थात् ध्वंसत्व और प्रागभावत्व आदि धर्मोंको पूर्वपक्षी भी अखण्ड धर्म ही मानता है, अतः पूर्वत्वादि धर्मोंको अखण्ड धर्म माननेमें गौरव नहीं है, यह भाव है।

मेव ध्वंसत्वम् , ध्वंसप्रागभावरूपस्य घटस्य तद्ध्वंसत्वापत्तेः ।

न च सप्तमपदार्थरूपाभावत्वं विवक्षितम् , घटस्य प्रागभावं प्रत्यपि ध्वंसत्वाभावप्रसङ्गेन घटकाले प्रागभावोत्तरकालत्वव्यवहारस्य निरालम्बनत्वापत्तेः । न च प्रतियोग्यतिरिक्तः प्रागभावध्वंसः, तथा सति तुल्यन्यायतया ध्वंसप्रागभावोऽपि प्रतियोग्यतिरिक्तः स्यादिति प्रागभावध्वंसस्यापि प्रागभावोऽन्यः, तस्यापि कश्चिद् ध्वंसः, तस्यापि प्रागभावोऽ-

भी युक्त नहीं है, क्योंकि ध्वंसप्रागभावरूप घटमें भी घटध्वंसत्वकी प्रसक्ति होगी ।

यदि शङ्का हो कि 'जन्य होकर सप्तमपदार्थरूप अभाव'* ही ध्वंसका लक्षण विवक्षित है, अतः दोष नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस लक्षणमें प्रागभावके ध्वंसरूप घटमें प्रागभावध्वंसत्वकी प्रसक्ति नहीं होगी, इसलिए घटकालमें प्रागभावोत्तरकालीनत्वका व्यवहार निरालम्बन हो जायगा । यदि शङ्का हो कि प्रागभावका ध्वंस प्रतियोगीसे अतिरिक्त ही है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रागभावध्वंसके प्रतियोगीसे भिन्न होनेपर समानरीतिसे † ध्वंसका प्रागभाव भी प्रतियोगीसे अतिरिक्त होगा, इससे प्रागभावध्वंसका भी अन्य–दूसरा—प्रागभाव और उसका भी कोई अन्य ध्वंस, उसका भी अन्य प्रागभाव,

* जन्य होकर जो सप्तम पदार्थरूप अभाव है, वही ध्वंस नामका अभाव है, यह इसका अर्थ है । केवल सप्तम पदार्थरूप अभाव ही ध्वंस कहा जाय, तो अत्यन्ताभाव, प्रागभाव और अन्योऽन्याभावमें अतिव्याप्ति हो जायगी, इसलिए जन्यत्व विशेषण दिया है । यदि केवल ऐसा ही कहा जाय कि 'जो जन्य हो, वह ध्वंसाभाव है' तो घट आदिमें भी ध्वंसका लक्षण चला जायगा, इसलिए जन्य होकर जो सप्तम पदार्थरूप अभाव हो वही ध्वंस है, ऐसा लक्षण करना होगा । इसपर ध्यान देना चाहिए कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सात पदार्थ हैं ।

† प्रागभावके ध्वंसको अर्थात् घटादिप्रतियोगिक प्रागभावके ध्वंसको घटादिप्रतियोगीसे यदि भिन्न माना जाय, तो इसी युक्तिसे घटध्वंसका प्रागभाव भी घटरूप ध्वंसके प्रतियोगीसे भिन्न होगा । इस अवस्थामें जैसे घटप्रागभावका ध्वंस घटरूप प्रतियोगीसे भिन्न है, वैसे ही घटप्रागभावध्वंसके भी प्रागभावको घटप्रागभावसे भिन्न मानना होगा, क्योंकि ध्वंसप्रागभाव भी ध्वंसके प्रतियोगीसे भिन्न है, इसी प्रकार अन्य प्रागभाव और अन्य ध्वंसका भी ध्वंस और प्रागभाव प्रतियोगीसे अतिरिक्त होंगे, इसी प्रकार आगे भी परम्परामें विचार कर सकते हैं, इसलिए अनवस्था स्फुट है, यह भाव है ।

न्य इत्यप्रामाणिकानवधिकध्वंसप्रागभावकल्पनापत्तेः । न चान्यद् ध्वंसत्वमात्माश्रयादिशून्यं निर्वक्तुं शक्यम् । एवं प्रागभावत्वमपीत्य- न्यत्र विस्तरः ।

तस्मान्न पूर्वं प्रागभावः, न च पश्चात् ध्वंसाभावः । मध्ये परं कियत्कालमनिर्वचनीयोत्पत्तिस्थितिध्वंसरूपभावविकारवान् घटाद्यध्यासः ।

इस रूपसे अनेक अप्रामाणिक ध्वंस और प्रागभावोंकी कल्पना करनी पड़ेगी, और आत्माश्रय दोषसे शून्य अन्य ध्वंसका निर्वचन भी नहीं हो सकता है * । इसी प्रकार प्रागभावत्वका भी निर्वचन नहीं हो सकता † । इस विषयमें अधिक विचार अन्य ग्रन्थोंमें देखना चाहिए ।

इससे ‡ उत्पत्तिसे पहले प्रागभाव भी नहीं है और उत्पत्तिके पश्चात् ध्वंस भी नहीं है, परन्तु बीचकी अवस्थामें कुछ कालतक अनिर्वचनीय, उत्पत्ति, स्थिति और ध्वंसरूप भावविकारसे युक्त घटादिका अध्यास है । लोकमें घटादि

---

* यदि कोई कहे कि जन्याभावत्वरूप ध्वंसत्व उक्त दोषसे दुष्ट है, तो 'ध्वंसाप्रतियोगित्वे सति त्रैकालिकभिन्नाभावत्वम्' (अर्थात् ध्वंसका अप्रतियोगी हो करके अत्यन्ताभावसे या अन्यो- न्याभावसे जो भिन्न हो वह ध्वंस है) ध्वंसका लक्षण करो, और इसमें प्रागभावको लेकर अति- व्याप्तिके वारणके लिए विशेषण दल है और अत्यन्ताभाव आदिके निरासके लिए विशेष्यदल है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि ध्वंसके लक्षणमें ध्वंसका प्रवेश होनेसे आत्माश्रय दोष होगा अर्थात् अपने ज्ञानमें अपनी ही अपेक्षा हुई, अतः इस लक्षणसे भी ध्वंसत्वको सखण्ड नहीं बना सकते हैं । यदि कहें कि 'प्रागभावात्यन्ताभावान्योऽन्याभावभिन्नत्वे सति अभावत्वम् ध्वंसत्वम्' अर्थात् प्रागभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभावसे भिन्न होकर जो अभाव हो वह ध्वंस है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस लक्षणमें प्रागभावका निवेश है, इसलिए उसके निर्वचनमें ध्वंसभिन्नत्वका निवेश करना होगा, अतः अन्योन्याश्रय होगा ।

† तात्पर्य यह है कि 'अनादित्वे सति सान्तत्वम् प्रागभावत्वम्' अर्थात् अनादि होकर जो अन्तवान् हो, उसे प्रागभाव कहते हैं, ऐसा कहा जाय, तो घटध्वंसके प्रागभावरूप घटमें अना- दित्वके न होनेसे अव्याप्ति होगी । और कदाचित् कहो कि 'प्रतियोगिजनकत्वे सति अभावत्वम्' अर्थात् प्रतियोगीके प्रति जो जनक अभाव है, वह प्रागभाव है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जनकत्वके लक्षणमें प्रविष्ट पूर्ववृत्तित्वके कार्यप्रागभाववृत्तिरूप होनेसे आत्माश्रय दोष होगा, इसलिए प्रागभावत्व भी सखण्ड धर्म नहीं हो सकता है ।

‡ अन्य प्रतिपक्षियों द्वारा स्वीकृत प्रागभाव और ध्वंसके साधक प्रमाणोंके न होनेसे यह भाव है ।

एवं चाऽविद्यानिवृत्तिरपि ब्रह्मसाक्षात्कारोदयानन्तरक्षणवर्ती कश्चिद्भावविकार इति तस्या मुक्तावनुवृत्त्यभावान्न तदनिर्वाच्यत्वे कश्चिद्दोष इत्यद्वैतविद्याचार्याः ॥ २ ॥

नन्वेवं क्षणिकत्वं स्यान्मुक्तेर्भ्रान्तोऽसि नह्यसौ ।

दुःखाभावः सुखं वेति पुरुषार्थत्ववर्जनात् ॥ ८ ॥

यदि शङ्का हो कि अविद्यानिवृत्तिको क्षणिकत्व माननेसे मुक्तिमें भी क्षणिकत्व प्रसक्त होगा, तो यह शङ्का केवल भ्रान्ति है, क्योंकि यह अविद्यानिवृत्ति न तो दुःखाभाव है और न सुख है, इसलिए पुरुषार्थत्वसे रहित है ॥ ८ ॥

नन्वेवमविद्यानिवृत्तेः क्षणिकत्वे मोक्षः स्थिरपुरुषार्थो न स्यादिति चेद्, भ्रान्तोऽसि । नह्यविद्यानिवृत्तिः स्वयमेव पुरुषार्थ इति तस्याः ज्ञानसाध्यत्वमुपेयते, तस्याः सुखदुःखाभावेतरत्वात् । किन्तु अखण्डानन्दावारकसंसारदुःखहेत्वविद्योच्छेदे अखण्डानन्दस्फुरणम्, संसारदुःखोच्छेदश्च भवतीति तदुपयोगितया तस्यास्तत्त्वज्ञानासाध्यत्वमुपेयते ।

ध्वंसके क्षणिक भावविकार सिद्ध होनेसे अविद्याकी निवृत्ति भी ब्रह्मसाक्षात्कारकी उत्पत्ति होनेके अनन्तरक्षणमें रहनेवाला कोई भावभूत विकार ही है । इसलिए उसकी मुक्तिमें अनुवृत्ति न होनेके कारण उसके अनिर्वचनीय होनेपर भी कोई दोष नहीं है, इस प्रकार अद्वैतविद्याचार्य कहते हैं ॥ २ ॥

* अब शङ्का होती है कि यदि अविद्यानिवृत्ति क्षणिक मानी जाय, तो अविद्यानिवृत्तिरूप मोक्ष स्थायी पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होगा, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस विषयमें तुमको भ्रम है, कारण कि अविद्यानिवृत्ति ही स्वयं पुरुषार्थ नहीं है, इसीसे उसको ज्ञानजन्य मानते हैं, क्योंकि अविद्यानिवृत्ति न तो सुख है और न दुःखाभाव है, किन्तु अखण्ड आनन्दको आवृत्त करनेवाली और सांसारिक दुःखके हेतुभूत अविद्याका उच्छेद होनेसे अखण्ड आनन्दका प्रकाश हो जाता है और सांसारिक दुःखकी निवृत्ति हो जाती है, इसलिए अखण्डानन्दकी प्राप्ति और दुःखाभावमें उपयोगी होनेसे अज्ञाननिवृत्तिको ज्ञानसाध्य मानते हैं ।

---

* अविद्यानिवृत्ति मोक्षके प्रति साधनभूत ज्ञानसे साध्य है, ऐसा पूर्वमें सिद्धान्तीने उपपादन किया, इसलिए पूर्वपक्षीको यह भ्रम हुआ कि अविद्यानिवृत्ति ही मोक्ष पदार्थ है, इसलिए पूर्वपक्षीके भ्रमनिवारणके लिए इस ग्रन्थसे शङ्कापूर्वक समाधान करते हैं ।

दुःखं सुखविरोधीति तन्नाशोऽपि हि न स्वतः ।
पुमर्थः सुखमात्रं तु तथा चित्सुखदर्शने ॥ ९ ॥

चित्सुखाचार्य की दृष्टिमें दुःख सुखका विरोधी है, इसलिए दुःखका विनाश स्वतःपुरुषार्थ नहीं है, किन्तु केवल सुख ही पुरुषार्थ है ॥ ९ ॥

चित्सुखाचार्यास्तु—दुःखाभावोऽपि मुक्तौ न स्वतःपुरुषार्थः, सर्वत्र दुःखाभावस्य स्वरूपसुखाभिव्यक्तिप्रतिबन्धकाभावतया सुखशेषत्वात्; सुखस्यैव स्वतःपुरुषार्थत्वम् । अन्येषां सर्वेषामपि तच्छेषत्वमिति सुखसाधनताज्ञानस्यैव प्रवर्तकत्वे सम्भवति दुःखाभावस्यापि स्वतःपुरुषार्थत्वं परिकल्प्य-

---

* चित्सुखाचार्य कहते हैं कि मुक्तिमें दुःखाभाव स्वयं पुरुषार्थ नहीं है, क्योंकि सभी जगह † दुःखाभाव स्वरूपसुखकी अभिव्यक्तिमें प्रतिबन्धकीभूत पदार्थका अभावरूप होनेसे सुखका ही अङ्ग है, अतः सुख ही स्वतःपुरुषार्थ है । और जितने सुखके साधन हैं, उन सबको सुखाङ्ग मान करके सुखसाधनताज्ञानको प्रवर्तक मान लेने पर दुःखाभावको भी स्वतःपुरुषार्थ मान करके दुःखाभावके साधनोंमें दुःखाभावसाधनताज्ञानरूप प्रवर्तकके संग्रह

---

* अविद्याकी निवृत्तिके समान दुःखकी निवृत्ति भी स्वतः पुरुषार्थ नहीं है, इसलिए ब्रह्मानन्दस्फुरणके हेतुरूपसे ही अविद्यानिवृत्ति ज्ञानसाध्य है, इस प्रकारके चित्सुखाचार्यजीके मतको कहते हैं, यह मत इन्होंने अपने तत्त्वप्रदीपिकाग्रन्थमें, चतुर्थ परिच्छेदमें निम्नलिखित पङ्क्तियोंसे बतलाया है—

'नात्र दुःखाभावः स्वतन्त्रतया पुरुषार्थः, सुखाभिव्यक्तिशेषत्वात् । न च विपरीतवृत्तिप्रसङ्गः, विकल्पासहत्वात् । किं सुखं दुःखाभावस्योत्पादकमुताभिव्यञ्जकम्, नोभयथापि ।' अर्थात् दुःखाभाव स्वतन्त्ररूपसे पुरुषार्थ नहीं है, प्रत्युत सुखाभिव्यक्तिका अङ्ग है । यदि शङ्का हो कि सुख ही दुःखाभावका अङ्ग है, इस प्रकार उलटा प्रसङ्ग क्यों नहीं आता ? नहीं, विपरीत प्रसङ्ग नहीं आ सकता है, क्योंकि विकल्पका सहन नहीं कर सकता है—क्या सुख दुःखाभावका उत्पादक है या उसका अभिव्यञ्जक है ? दोनों ही प्रकार नहीं हो सकते हैं ।

† दुःखकालमें आत्मस्वरूपभूत सुखकी अभिव्यक्ति (स्फुरण) न होनेसे दुःख सुखाभिव्यक्तिमें प्रतिबन्धक माना जाता है, इसलिए दुःखाभावकी सुखाभिव्यक्तिके लिए ही कामना होती है, सुखके समान स्वतःपुरुषार्थत्वरूपसे नहीं होती है, यह भाव है ।

तत्साधनप्रवर्तकसङ्ग्रहाय इष्टसाधनताज्ञानस्य इच्छाविषयत्वप्रवेशेन गुरुघटितस्य प्रवर्तकत्वकल्पनायोगात् ।

न च दुःखाभाव एव स्वतःपुरुषार्थः, तच्छेषतया सुखं काम्यमिति वैपरीत्यापत्तिः; बहुकालदुःखसाध्येऽपि क्षणिकसुखजनके निन्दितग्राम्य-

करनेके लिए इष्टसाधनताज्ञानको भी प्रवर्तक मानना पड़ेगा, यह युक्त नहीं है, क्योंकि इष्टसाधनताज्ञानमें इच्छाविषयताका प्रवेश होनेसे पूर्व प्रवर्तककी अपेक्षा इसमें गौरव है।

* यदि शङ्का हो कि दुःखाभाव ही स्वयं पुरुषार्थ है। और सुख दुःखाभावके अङ्गरूपसे ही काम्य हैं अर्थात् अभीष्ट है, इस प्रकार वैपरीत्यकी भी प्रसक्ति हो सकती है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि † अधिककाल तक दुःखसे साध्य निन्दित अगम्यागमन आदि क्षणिक सुखके साधनोंमें अनेक मनुष्योंकी

* भाव यह है कि दुःखाभावको सुखशेष माननेसे दुःखाभावके साधन भी सुखसाधन ही गिने जायँगे, इस अवस्थामें सुखके या दुःखाभावके साधनोंमें सर्वत्र सुखसाधनता ज्ञानको ही प्रवर्तक माननेसे काम चल सकता है। यदि सुखके समान दुःखाभाव भी स्वतःपुरुषार्थ माना जायगा, तो दुःखाभावके साधनोंमें सुखसाधनताका बाध होनेसे सुखसाधनत्वसे उनमें प्रवृत्ति नहीं होगी। यदि शङ्का हो कि दुःखाभावके साधनोंमें प्रवृत्तिके प्रति दुःखाभावसाधनता ज्ञानको प्रवर्तक मानेंगे, इसलिए उनमें भी प्रवृत्तिकी उपपत्ति हो सकती है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि इस प्रकार माननेसे प्रवृत्तिके कारणका अनुगम नहीं होगा। यदि शङ्का हो कि दोनोंके लिए अर्थात् सुखसाधनोंमें और दुःखाभावसाधनोंमें प्रवृत्तिकी उपपत्तिके लिए इष्टसाधनताज्ञानको ही प्रवर्तक मानो, दुःखाभाव भी सुखके समान अभीष्ट है, अतः इष्टशब्दसे उसका भी संग्रह हो सकता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रवृत्तिमात्रके प्रति जो तुमने इष्टसाधनताज्ञानको कारण माना है, उसमें प्रविष्ट इष्टांशमें सुखत्वजातिका अङ्गीकार करो तो कथञ्चित् लाघव हो सकता है, परन्तु इष्टांशमें सुखत्वजातिके अङ्गीकारमें किसी प्रमाणके न होनेसे उपाधि ही माननी होगी। इस परिस्थितिमें कारणतावच्छेदकप्रयुक्त गौरव ही प्रसक्त होगा, इसलिए दुःखाभावको सुखशेष मानना ही युक्त है।

† कुछ लोग इस प्रश्नके विषयमें तर्क करते हैं कि यह शङ्का हो ही नहीं सकती, क्योंकि इस विपरीत पक्षमें दुःखाभाव साधनोंमें प्रवर्तक ज्ञानकारणतावच्छेदक शरीरमें दुःखाभावत्वरूप उपाधिका ही प्रवेश मानना पड़ेगा, इसलिए इच्छाविषयत्वरूप उपाधिके प्रवेशके समान गौरव ही है, तो यह तर्क युक्त नहीं है, क्योंकि सिद्धान्तमें सुख आत्मरूप है, इसलिए आत्माके एक होनेसे सुखत्व जाति ही नहीं हो सकती है, अतः उसमें जातित्वका असम्भव है और उसे उपाधि मानना होगा, इसलिए ग्रन्थमें उक्त शङ्का हो सकती है। इच्छाविषयत्वके समान सुखत्व भी उपाधिरूप है, अतः सुखत्वका प्रवेश करनेपर भी कारणावच्छेदकप्रयुक्त गौरवके समान होनेसे किसी विनिगमकके न रहनेसे वैपरीत्यकी आशङ्का हो सकती है, यह भाव है।

धर्मादौ प्रवृत्तिदर्शनात् । तत्र क्षणिकसुखकालीनदुःखाभावस्य पुरुषार्थत्वे तदर्थं बहुकालदुःखानुभवायोगात् । न च तत्र क्षणिकसुखस्य पुरुषार्थत्वेऽपि दोषतौल्यम्, भावरूपे सुखे उत्कर्षापकर्षयोरनुभवसिद्धत्वेन क्षणमप्यत्युत्कृष्टसुखार्थं बहुकालदुःखानुभवोपपत्तेः । दुःखाभावे चोत्कर्षापकर्षासम्भवात् । तस्मान्मुक्तौ संसारदुःखनिवृत्तिरप्यविद्यानिवृत्तिवत् सुखशेष इत्यनवच्छिन्नानन्दप्राप्तिरेव स्वतःपुरुषार्थ इत्याहुः ॥ ३ ॥

प्रत्यगेव परानन्दस्तिरोभूतः स्वमोहतः ।
स्वकण्ठचामीकरवत् प्राप्तप्राप्यः स्वविद्यया ॥ १० ॥

अपने मोहसे प्रत्यग्रूप परानन्द ही तिरोभूत हुआ है अतः प्राप्त होनेपर भी भूली हुई अपनी कण्ठगत सुवर्णमालाके समान अपनी विद्यासे प्राप्य होता है ॥१०॥

प्रवृत्ति देखी जाती है । उस स्थलमें अर्थात् निन्दित उक्त प्रवृत्तिस्थलमें * क्षणिक सुखकालिक दुःखाभावमें पुरुषार्थताका यदि अङ्गीकार किया जाय, तो उसके लिए अधिककाल तक दुःखानुभव नहीं हो सकता है । यदि शङ्का हो कि निन्दित प्रवृत्तिस्थलमें क्षणिक सुख पुरुषार्थ माना जाय, तो भी दोष तो समान है ? तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि भावरूप सुखमें उत्कर्ष और अपकर्षका अनुभव होनेसे क्षणिक उत्कृष्ट सुखके लिए बहुत काल तक दुःखका अनुभव उपपन्न हो सकता है, और दुःखाभावमें उत्कर्ष और अपकर्ष नहीं हो सकते हैं † । इससे अर्थात् दुःखाभावके स्वतः पुरुषार्थ न होनेसे संसाररूप दुःखकी निवृत्ति भी अविद्यानिवृत्तिके समान सुखकी अङ्ग है, अतः अनवच्छिन्न-शुद्ध-आनन्दकी प्राप्ति ही स्वतः-पुरुषार्थ है ॥ ३ ॥

---

* समाधान इस अभिप्रायसे देते हैं कि सुखव्यक्ति वस्तुतः एक है, तथापि उपाधिके भेदसे सुखका भेद होनेके कारण सुखत्व जाति अक्षत है, अतः सुखको स्वतः पुरुषार्थ माननेसे कारणतावच्छेदकप्रयुक्त लाघव है । और दुखाभाव ही यदि स्वतः पुरुषार्थ होता, तो अधिक काल तक क्षणिक सुखके लिए अनेक पुरुष प्रवृत्त नहीं देखे जाते, अतः सुखको ही पुरुषार्थ मानना युक्ति-युक्त है ।

† कारण कि अभावमें उत्कर्षत्व और अपकर्षत्वरूप जाति नहीं मानी जाती है, यह भाव है ।

नन्वनवच्छिन्नानन्दः प्रत्यग्रूपतया नित्यमेव प्राप्तः । सत्यम् , नित्यप्राप्तोऽपि अनवच्छिन्नानन्दस्तमावृत्य तद्विपरीतमर्थं प्रदर्शयन्त्या अविद्यया संसारदशायामसत्कल्पत्वं नीत इत्यकृतार्थताऽभूत् । निवर्तितायां च तस्यां निरस्तनिखिलानर्थविक्षेपे स्वकण्ठगतविस्मृतकनकाभरणवत् प्राप्यते इवेत्यौपचारिकी तस्य प्राप्यतेति केचित् ।

अप्राप्तिरपि तस्याऽभूत् संसृतौ व्यावहारिकी ।
सा विद्यया निवृत्तेति मुख्यां प्राप्तिं परे जगुः ॥ ११ ॥

कुछ लोग कहते हैं कि संसारदशामें अनवच्छिन्न आनन्दकी व्यावहारिक अप्राप्ति थी वह विद्यासे निवृत्त हुई, इसलिए उसकी मुख्य प्राप्ति हो सकती है ॥११॥

यदि कोई शङ्का करे कि अनवच्छिन्न आनन्द तो प्रत्यगात्मरूप है, अतः वह † सर्वदा प्राप्त ही है, इसलिए उसकी प्राप्तिके लिए कोई प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं है ? तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि यद्यपि वह अनवच्छिन्न आनन्द नित्य प्राप्त ही है, तथापि उस आनन्दको आवृत करके विपरीत अर्थको—दुःखात्मक संसारको—दिखलाती हुई अविद्या संसारदशामें उस आनन्दको नहींके समान बना देती है, अतः पूर्णानन्दकी अप्राप्ति भासती है । उस अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर सम्पूर्ण अनर्थरूप विक्षेपकी निवृत्ति हो जानेसे अपने कण्ठमें स्थित सुवर्णहारको विस्मृतिके समान * उस आनन्दकी भी प्राप्ति हो जाती है, अतः आनन्दमें औपचारिक प्राप्तिविषयता है, ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं ।

---

† जीवको स्वस्वरूप होनेसे ब्रह्मानन्द नित्य प्राप्त ही है, अतः उसकी प्राप्तिके उद्देश्यसे आनन्दप्राप्तिके साधनोंमें पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए, यह प्रश्नका तात्पर्य है ।

* जैसे अपने हारके गलेमें रहते भी, उसकी विस्मृतिसे उसे इधर उधर खोजता है, यद्यपि हार प्राप्त ही है, अप्राप्त नहीं है, तथापि भ्रान्तिसे उसको अप्राप्तके समान मानता है, जब उसकी भ्रान्ति निकल जाती है कि हार तो मेरे गलेमें ही है, तब उसके प्राप्त रहनेपर भी मैंने अप्राप्त वस्तु प्राप्त की, ऐसा मानता है, बस इसी प्रकार स्वरूप आनन्दके नित्य प्राप्त होनेपर भी अनादि अविद्यासे आवृत हो जानेके कारण वह अप्राप्तके समान प्रतीत होने लगता है, उस अविद्याके निवृत्त हो जानेपर, तो निखिल अनर्थरूप विक्षेपके निकल जानेसे स्वतः आनन्दका स्फुरण हो जाता है, इसलिए अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति हुई, ऐसा औपचारिक व्यवहार है, यह भाव है ।

अन्ये तु संसारदशायां 'नास्ति, न प्रकाशते' इति व्यवहारयोग्यत्वरूपाज्ञानावरणप्रयुक्तस्य 'मम निरतिशयानन्दो नास्ति' इति प्रत्ययस्य सर्वसिद्धत्वात् तदालम्बनभूतः कश्चिद् ब्रह्मानन्दस्याऽभावः काल्पनिको यावदविद्यमनुवर्तते, अविद्यानिवृत्तौ च तन्मूलत्वान्निवर्तते इति 'यस्मिन् सत्यग्रिमक्षणे' इत्यादिलक्षणानुरोधेन मुख्यमेव तस्य प्राप्यत्वमित्याहुः ।

परे प्रागावृतत्वेन पारोक्ष्यादपुमर्थताम् ।
मुक्तौ तु तदभिन्नत्वादात्मप्राप्त्या पुमर्थताम् ॥ १२ ॥

कुछ लोग कहते हैं कि संसारदशामें अनवच्छिन्न आनन्दमें आवृत होनेके कारण परोक्ष होनेसे, पुरुषार्थ नहीं है और मुक्तिमें तो अपरोक्ष होनेसे उसकी प्राप्ति होनेके कारण वह पुरुषार्थ है ॥१२॥

कुछ लोग तो कहते हैं कि 'नास्ति, न प्रकाशते' (निरतिशय आनन्द नहीं है और उसका प्रकाश भी नहीं होता) इस प्रकारसे व्यवहारके योग्य अज्ञानरूप आवरणसे होनेवाला 'हमको निरतिशय आनन्द नहीं है' इस प्रकार ज्ञान सभीको अनुभव सिद्ध है, इसलिए उस प्रकारके विज्ञानका विषयीभूत कोई काल्पनिक ब्रह्मानन्दका अभाव अविद्याकी अवस्थिति तक † अनुवर्तमान होता है। और अविद्याकी निवृत्ति हो जानेसे अविद्यामूलक उस काल्पनिक अभावकी निवृत्ति हो जाती है, इसलिए ‡ 'यस्मिन्सत्यग्रिमक्षणे' इत्यादि अग्रिम लक्षणके अनुरोधसे ब्रह्मानन्दमें मुख्य ही प्राप्यता है।

---

† 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इत्यादि वेदान्तोंसे प्रतिपादित निरतिशय आनन्दका सांसारिक पुरुषोंको अनुभव नहीं होता, यह जगत्प्रसिद्ध है। इसलिए प्रत्यक्रूपसे उस आनन्दके सर्वदा रहनेपर भी उसके अभावका अनुभव होनेसे वास्तविक अभावके न होनेपर भी काल्पनिक अविद्याप्रयुक्त निरतिशय आनन्दका अभाव माना जाता है, जो आनन्दाभाव व्यवहारका आलम्बन है, और यह अभाव जब तक अविद्या रहती है, तब तक रहता है, यह तात्पर्य है।

‡ 'यस्मिन् सति अग्रिमक्षणे यस्य सत्त्वम् यदभावे च यस्य अभावः तत् तत्साध्यम्' अर्थात् जिसके अस्तित्वमें उत्तरक्षणमें जिसका अस्तित्व हो और जिसके अभावमें जिसका अभाव हो वह उससे साध्य होता है, प्रकृतमें ज्ञानके होनेपर उत्तरक्षणमें निरतिशय आनन्दकी अस्तिता है, और ज्ञानके अभावमें उक्त आनन्दका अभाव है, अतः ज्ञानसे वह साध्य है, इसलिए निरतिशय आनन्दमें प्राप्यता मुख्य है, यह भाव है।

अपरे तु अवेद्यस्याऽपुरुषार्थत्वात् संसारदशायां सदप्यनवच्छिन्नसुख-आपरोक्ष्याभावान्न पुरुषार्थः। न च स्वरूपज्ञानेनाऽऽपरोक्ष्यं तदाऽप्यस्ति, तस्य सर्वदा स्वरूपसुखाभिन्नत्वात्। वृत्तिज्ञानेनाऽऽपरोक्ष्यं तु न मुक्तावपीति वाच्यम्, नहि स्वव्यवहारानुकूलचैतन्याभेदमात्रमापरोक्ष्यम्, घटावच्छिन्नचैतन्याभिव्यक्तौ तदभिन्नस्य घटगन्धस्याऽपि आपरोक्ष्यापत्तेः। किन्तु अनावृतार्थस्य तदभेदः। तथा चाऽनावृतत्वांशस्तत्त्वसाक्षात्कारे

*और कुछ लोग कहते हैं कि अवेद्य पुरुषार्थ नहीं होता है, अतः संसारदशामें अनवच्छिन्न सुखके रहनेपर भी आपरोक्ष्यके न रहनेसे उसमें पुरुषार्थता नहीं है। यदि शङ्का† हो कि स्वरूपज्ञानसे आपरोक्ष्य संसारदशामें भी उक्त आनन्दमें है, क्योंकि स्वरूपज्ञान सर्वदा स्वरूपसुखसे अभिन्न है, और वृत्तिज्ञानकृत अपरोक्षत्व तो मुक्तिमें भी नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि‡ अपने व्यवहारके अनुकूल चैतन्यका अभेद ही अपरोक्षत्व नहीं है, कारण कि यदि अभेदको ही अपरोक्षत्व माने, तो घटावच्छिन्न चैतन्यकी अभिव्यक्ति होनेपर उस चैतन्यसे अभिन्न घटके गन्धका भी अपरोक्षत्व प्रसक्त होगा, किन्तु अनावृत अर्थका अनावृत चैतन्यके साथ अभेद ही अपरोक्षत्व है। इस अवस्थामें अनवच्छिन्न सुखांशमें 'अनावृतत्वांशकी

* पूर्वमतसे इस मतमें यही विशेषता है कि पूर्वमतमें ब्रह्मानन्दका स्वरूप ही पुरुषार्थ है और इस मतमें ब्रह्मानन्दका आपरोक्ष्य पुरुषार्थ है, अविद्याके विद्यासे निवृत्त हो जानेपर अपरोक्षत्व प्राप्त होता है, अतः विद्यासाधनत्वकी उपपत्ति हो सकती है, यह भाव है।

† शङ्काका भाव यह है कि विद्यासे प्राप्त होनेवाला आनन्दापारोक्ष्य क्या स्वप्रकाश चैतन्यरूप है, अथवा वृत्तिरूप है? दोनों ही पक्ष नहीं बन सकते, क्योंकि स्वप्रकाशरूप चैतन्य तो संसारकालमें भी है, कारण कि स्वव्यवहारानुकूलचैतन्याभिन्नत्वरूपमें पर्यवसित उक्त आपरोक्ष्यका संसारदशामें अभाव नहीं है। द्वितीय पक्ष—वृत्तिरूप कहेंगे, तो वह भी मुक्तिमें नहीं है, अतः उभयथा आपरोक्ष्यका असम्भव है, यह भाव है।

‡ समाधानका तात्पर्य यह है कि स्वव्यवहारानुकूलचैतन्याभिन्नत्व। अर्थात् अपने व्यवहारमें प्रयोजक (उपयोगी) चैतन्यके साथ वस्तुका अभेद केवल अपरोक्षत्व नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे घटव्यवहारमें उपयोगी घटावच्छिन्न चैतन्यकी अभिव्यक्ति होनेपर अभिव्यक्त चैतन्यके साथ अभिन्न घटवृत्ति गन्धका भी प्रत्यक्ष हो जायगा, क्योंकि उन दोनोंके अभेदमें प्रयोजक समानदेशत्वादि विद्यमान ही है, अतः अनावृत अर्थके साथ अनावृत चैतन्यके अभेदको ही अपरोक्षत्व कहना होगा, अतः उक्त दो प्रकारके अपरोक्षत्वको लेकर दोष नहीं हो सकता है, यह भाव है।

सत्येवेति निरतिशयसुखापरोक्ष्यस्य पुरुषार्थस्य विद्याप्राप्यत्वं युक्तमित्याहुः ।

अन्ये भूमसुखाद्भेदो जीवेऽध्यस्तोऽभवत् पुरा ।
मुक्तौ तन्नाशतः प्राहुः प्राप्तिं स्फुटसुखात्मिकाम् ॥ १३ ॥

इतर लोग कहते हैं कि संसारदशामें ब्रह्मरूप सुखसे भेद भी जीवमें अध्यस्त हुआ था, मुक्तिमें उसका नाश होनेसे सुखरूप की प्राप्ति होती है ॥१३॥

इतरे तु अस्तु व्यवहारानुकूलचैतन्याभेदमात्रमापरोक्ष्यम् । तथाऽप्यज्ञानमहिम्ना जीवभेदवच्चिदानन्दभेदोऽपि अध्यस्त इति संसारदशायां पुरुषान्तरस्य पुरुषान्तरचैतन्यापरोक्ष्यवद् अनवच्छिन्नसुखापारोक्ष्यस्यापि

उपपत्ति तत्त्वसाक्षात्कार होनेपर ही हो सकती है, इसलिए निरतिशय सुखके अपरोक्षत्वरूप पुरुषार्थमें विद्याप्राप्यत्व युक्त है ।

और कुछ लोग कहते हैं कि* यद्यपि स्वव्यवहारानुकूल चैतन्यका अभेदमात्र अपरोक्षत्व भले ही हो, तथापि अज्ञानके प्रभावसे जीवके भेदके समान चिदानन्दका भेद भी अध्यस्त है, इसलिए संसारदशामें पुरुषान्तरको अन्य पुरुषके चैतन्यका जैसे आपरोक्ष्य नहीं होता, उसके समान अनवच्छिन्न सुखका भी आपरोक्ष्य नहीं होता† । और अज्ञानकी निवृत्ति होनेपर तो चिदानन्दभेदके भी

---

* इस मतमें स्वव्यवहारानुकूल चैतन्याभिन्नत्व ही अपरोक्षत्वका लक्षण है, इसमें अनावृतत्व अंश देने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसके न रहनेपर भी कोई दोष नहीं है । यदि शङ्का हो कि घटावच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति होनेपर घटवृत्ति गन्धका भी अपरोक्षत्व प्रसक्त होगा, अतः अनावृतत्व अंशकी आवश्यकता है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि धर्म आदिके साक्षीमें अध्यस्त होनेसे अनावृत साक्षीरूप चैतन्याभिन्नत्वके रहनेपर भी जैसे उनका अपरोक्षत्व नहीं माना जाता है, वैसे ही प्रकृतमें समझना चाहिए । यदि शङ्का हो कि धर्म आदि तो प्रत्यक्षके अयोग्य हैं, अतः उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि इसी युक्तिके आधारपर प्रकृतमें भी चाक्षुषवृत्तिसे अभिव्यक्त चैतन्यके प्रति अनुभवके अनुरोधसे गन्धको अयोग्य मानेंगे, अतः उक्त दोषका परिहार हो सकता है, इसलिए केवल स्वव्यवहारानुकूलचैतन्याभिन्नत्वको अपरोक्षत्व माननेपर भी कोई दोष नहीं है, यह भाव है ।

† जैसे एक पुरुषको अन्य पुरुषके चैतन्यका साक्षात्कार नहीं होता है, वैसे ही संसारदशामें जीवको अनवच्छिन्न आनन्दका अपरोक्ष नहीं होता, क्योंकि जैसे जीवोंका अज्ञाननिबन्धन परस्परभेद अध्यस्त है, वैसे ही अज्ञाननिबन्धन साक्षी चैतन्य और ब्रह्मानन्दका

नास्ति। अज्ञाननिवृत्तौ तु चिदानन्दभेदप्रविलयात्तदापरोक्ष्यमिति तस्य विद्यासाध्यत्वमित्याहुः ॥ ४ ॥

अथ मुक्तो भवेच्छुद्ध उतेशोऽत्र निगद्यते ।
व्यक्ता जीवैक्यवादे हि शुद्धमह्नैकशेषता ॥ १४ ॥

अब शङ्का होती है कि मुक्त पुरुष शुद्ध चैतन्यस्वरूप हो जाता है अथवा ईश्वररूप होता जाता है ? इस विषयमें कहते हैं कि एकजीववादमें शुद्ध चैतन्यस्वरूपसे उस जीवकी अवस्थिति व्यक्त ही है ॥१४॥

अथ विद्योदये सत्युपाधिविलयादपेतजीवभावस्य किम् ईश्वरभावापत्तिर्भवति, उत शुद्धचैतन्यमात्ररूपेणाऽवस्थानम् ? इति विवेचनीयम्। उच्यते—

एकजीववादे तदेकाज्ञानकल्पितस्य जीवेश्वरविभागादिकृत्स्नभेदप्रपञ्चस्य तद्विद्योदये विलयान्निर्विशेषचैतन्यरूपेणैवाऽवस्थानम्।

विनष्ट होनेसे उसकी अपरोक्षता हो सकती है, इसलिए उसमें विद्यासाध्यत्व हो सकता है ॥४॥

अब शङ्का होती है कि विद्याका उदय होनेपर उपाधिका विनाश होनेसे जिसका जीवभाव निवृत्त हो गया है, उस चैतन्यकी क्या ईश्वरभावापत्ति-परमेश्वररूपता-होती है या उसका शुद्ध चैतन्यमात्रसे अवस्थान होता है, इसका निर्वचन करना चाहिए ? कहते हैं—

एक जीववादमें केवल जीवके ‡ एक अज्ञानसे कल्पित जीव और ईश्वरके विभाग आदि समस्त प्रपञ्चका उस जीवकी विद्याका उदय होनेपर विनाश होनेसे निर्विशेष चैतन्यरूपसे जीवका अवस्थान होता है।

अनादि भेद अध्यस्त है, इसलिए ब्रह्मानन्दका अपने व्यवहारमें अनुकूल साक्षी चैतन्यके साथ अभेद न होनेसे परस्पर वस्तुतः जीवोंमें अभेदके रहनेपर भी उसके अकिञ्चित्कर होनेसे दोष नहीं है, यह भाव है।

‡ जीवके एक होनेसे उसका मूलाज्ञान भी एक ही है, यह भाव है। इसलिए एक जीवके किसी भी अन्तःकरणमें तत्त्वसाक्षात्कारके उदित होनेपर अज्ञानका देव, तिर्यक्, मनुष्य आदि सम्पूर्ण स्वकार्योंके साथ उसी दम नाश हो जाता है। यदि इस विषयमें शङ्का हो कि शुक आदिके अन्तःकरणमें उत्पन्न तत्त्वज्ञानसे ही सब प्रमाताओंके संसारका समूल विलय हो जाना चाहिए, अतः इस समय संसारकी अनुवृत्ति कैसे देखी जाती है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि शुक आदिकी मुक्तिमें कोई प्रमाण ही नहीं है, और शुक आदिके मुक्तिप्रतिपादकवाक्य स्वार्थमें उपचरित हैं, अतः संसारकी अनुवृत्तिमें कोई हानि नहीं है, यह भाव है।

अनेकजीववादेऽपि प्रतिबिम्बेशवादिनाम् ।
मुक्तस्य बिम्बसद्भावाच्छुद्धता पर्यवस्यति ॥ १५ ॥
अनेकजीववादेऽतो नाऽवच्छेदनयः शुभः ।
बद्धमुक्ताव्यवस्थानात्तद्देशोपाधिबन्धनात् ॥ १६ ॥

अनेकजीववादमें भी जो मायामें चैतन्यके प्रतिबिम्बको ईश्वर कहते हैं, उनके मतमें बिम्बका अस्तित्व होनेसे मुक्तकी शुद्धता ही प्रसक्त होती है । इसीसे अनेकजीववादमें अवच्छेदवाद युक्त नहीं है, क्योंकि बद्ध और मुक्त की व्यवस्था नहीं हो सकती है कारण कि तत् तत् देशवर्ती उपाधिके साथ मुक्त जीवरूप चैतन्यका सम्बन्ध है ॥१५॥१६॥

अनेकजीववादमभ्युपगम्य बद्धमुक्तव्यवस्थाङ्गीकारेऽपि यद्यपि कस्यचिद्विद्योदये तदविद्याकृतप्रपञ्चविलयेऽपि बद्धपुरुषान्तराविद्याकृतो जीवेश्वरविभागादिप्रपञ्चोऽनुवर्तते, तथाऽपि 'जीव इवेश्वरोऽपि प्रतिबिम्बविशेषः' इति पक्षे मुक्तस्य बिम्बभूतशुद्धचैतन्यरूपेणैवाऽवस्थानम् । अनेकोपाधिष्वेकस्य प्रतिबिम्बे सति एकोपाधिविलये तत्प्रतिबिम्बस्य बिम्ब-

अनेकजीववादका अङ्गीकार करके बद्ध और मुक्तकी व्यवस्थाका अङ्गीकार करनेपर भी जिस पुरुषको ज्ञानकी उत्पत्ति हुई है, उसी पुरुषके प्रति अविद्यादि समस्त प्रपञ्चका विलय होगा और अन्य बद्ध पुरुषोंकी अविद्यासे जीव तथा ईश्वर विभाग आदि प्रपञ्चकी यद्यपि अनुवृत्ति हो *सकती है, तथापि 'जीवके समान ईश्वर भी प्रतिबिम्बविशेष है' इस पक्षमें मुक्त पुरुष बिम्बभूत शुद्ध चैतन्यरूपसे ही अवस्थित रहता है । क्योंकि अनेक उपाधियोंमें एक ब्रह्म चैतन्यके प्रतिबिम्ब होनेपर एक उपाधिके विलयसे उस प्रतिबिम्बका बिम्ब-

*अर्थात् अनेक जीववादमें वक्ष्यमाण प्रकारसे जब तक सबकी मुक्ति नहीं हो जाती तब तक मुक्त पुरुषकी अन्य पुरुषनिष्ठ अविद्याकृत ईश्वरभावप्राप्ति रहती है, यह भाव है । यदि प्रकृतमें शङ्का हो कि मूल ग्रन्थमें 'यद्यपि' शब्द कहा गया है, इससे यह अर्थ होगा कि यद्यपि ईश्वरभावापत्ति हो सकती है, तथापि नहीं हो सकती है, यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि अनेकजीववादका निरूपण अनेक प्रकारोंसे उपलब्ध होता है, इसलिए सब अनेक जीववादोंमें मुक्तकी ईश्वरभावापत्ति नहीं हो सकती है, किन्तु जीवके समान ईश्वर भी प्रतिबिम्ब है, इस पक्षमें शुद्ध चैतन्यरूपसे जीवकी अवस्थिति होती है, इसी अर्थका सूचन करनेके लिए 'यद्यपि' शब्द दिया गया है, यह भाव है ।

भावेनैवाऽवस्थानौचित्येन प्रतिविम्बान्तरत्वापत्त्यसम्भवात् । तत्सम्भवे कदाचिज्जीवरूपप्रतिविम्बान्तरत्वापत्तेरपि दुर्वारत्वेनाऽवच्छेदपक्ष इव मुक्तस्य पुनर्बन्धापत्तेः । अत एवाऽनेकजीववादे अवच्छेदपक्षो नाऽऽद्रियते । यदवच्छेदेन मुक्तिस्तदवच्छेदेनाऽन्तःकरणान्तरसंसर्गे पुनरपि वन्धापत्तेः ।

विम्बेशवादे मुक्तः प्राक् सर्वजीवविमोचनात् ।
ईशो भूत्वा ततः शुद्धे स्वभावे व्यवतिष्ठते ॥ १७ ॥

विम्ब चैतन्य ईश्वर है, इस पक्षमें जब तक सब जीवों की मुक्ति नहीं होती तब तक मुक्त जीव ईश्वर रहकर फिर सब जीवोंके मुक्त होनेपर शुद्धस्वभाव ब्रह्म हो जाता है ॥१७॥

भावसे अवस्थान उचित है, अतः प्रतिविम्बान्तरभावकी आपत्ति नहीं हो सकती है। यदि उसका प्रतिविम्बान्तरभाव माना जाय, तो किसी समय उसका जीवरूप प्रतिविम्बान्तरभाव भी प्रसक्त हो सकता है, इसलिए अवच्छेद पक्षके समान मुक्त पुरुषको पुनः वन्धकी आपत्ति हो सकती है। इसीलिए अनेक जीववादमें अवच्छेद पक्षका अङ्गीकार नहीं किया जाता है, क्योंकि यदवच्छेदेन मुक्ति हुई हो, तदवच्छेदेन अन्तःकरणान्तरका सम्बन्ध होनेपर फिर भी बन्धकी ‡ आपत्ति हो सकती है।

---

‡ पूर्ण चैतन्यमें जिस चैतन्यप्रदेशसे मुक्ति हो, उस प्रदेशमें चैतन्यके साथ अन्य उपाधिका सम्बन्ध होनेपर फिर वन्धकी आपत्ति हो सकती है, यह भाव है। चैतन्यप्रदेशसे मुक्तका ग्रहण करना चाहिए।

इस विषयमें एक विचार करना चाहिए कि चैतन्य तो स्वतः नित्यमुक्त है, वह जब अनादि अविद्यादि उपाधिसे युक्त होता है, तब उसमें जीवत्व या बन्धकी सम्भावना हो सकती है, यह वस्तुस्थिति है, इस अवस्थामें मुक्तिके पूर्वमें जिस उपाधिपरतन्त्रचैतन्यप्रदेशमें बन्ध था, उसमें फिर बन्धकी आपत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि मुक्तिकालमें उस उपाधिकी निवृत्ति हो जानेसे उपाधिपरतन्त्र बन्धाश्रय चैतन्यकी भी निवृत्ति हो ही जाती है। और शुद्ध मुक्त चैतन्यमें भी बन्धका आपादन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि उसमें बद्ध जीवान्तरकी उपाधिके संसर्गसे जीवान्तरत्वकी आपत्ति आ सकती है, तथापि जो बद्ध मुक्तिको प्राप्त हुआ है, उसमें पुनः बन्धकी प्रसक्ति नहीं हो सकती है, अतः उसमें बन्धकी आपत्ति होती है, यह कहना असङ्गत है, किञ्च, मुक्त चैतन्यका अन्य अन्तःकरणके साथ संसर्ग होनेसे उससे जीवान्तरत्वकी आपत्ति होनेपर भी 'जो मैं पूर्वमें संसारी होकर मुक्त था, वही मैं पुनः संसारको प्राप्त हुआ' इस प्रकारका अनुसन्धान (प्रत्यभिज्ञा) नहीं हो सकती है, क्योंकि मुक्त जीव और बद्ध जीवकी एक उपाधि नहीं है। इसलिए जीवान्तरत्वकी प्राप्ति जो मूलमें दी गई है, वह अकिञ्चित्कर है। इसी प्रकार पूर्वोक्त प्रतिविम्बरूप जीवान्तरत्वकी भी प्रसक्ति नहीं हो सकती है।

'प्रतिबिम्बो जीवः, बिम्बस्थानीय ईश्वरः, उभयानुस्यूतं शुद्धं चैतन्यम्' इति पक्षे तु मुक्तस्य यावत्सर्वमुक्तिसर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वसर्वेश्वरत्वसत्यकामत्वादिगुणपरमेश्वरभावापत्तिरिष्यते । यथा अनेकेषु दर्पणेषु एकस्य मुखस्य प्रतिबिम्बे सति एकदर्पणापनये तत्प्रतिबिम्बो बिम्बभावेनाऽवतिष्ठते, न तु मुखमात्ररूपेण, तदानीमपि दर्पणान्तरसन्निधानप्रयुक्तस्य मुखे बिम्बत्वस्याऽनपायात्, तथैकस्य ब्रह्मचैतन्यस्याऽनेकेषूपाधिषु प्रतिबिम्बे सति, एकस्मिन् प्रतिबिम्बे विद्योदये तेन तदुपाधिविलये तत्प्रतिबिम्बस्य बिम्बभावेनाऽनवस्थानावश्यम्भावात् । न च मुक्तस्याऽविद्याऽभावात् सत्यकामत्वादिगुणविशिष्टसर्वेश्वरत्वानुपपत्तिः । तदविद्याऽभावे-

* अविद्यामें चैतन्यका प्रतिबिम्ब जीव है, बिम्बस्थानीय चैतन्य ईश्वर है और उभयमें अनुस्यूत चैतन्य शुद्ध चैतन्य है, इस पक्षमें तो मुक्त पुरुषकी, जब तक कि सब जीव मुक्त न हों, तब तक सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व, सर्वेश्वरत्व, सत्यकामत्व आदि गुणोंसे विभूषित ईश्वरके साथ तादात्म्यरूपसे अवस्थिति मानी जाती है। जैसे अनेक दर्पणोंमें एक मुखके प्रतिबिम्बित होनेपर उनमें से एक दर्पणके हटानेपर उसमें पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब बिम्बरूपसे अवस्थित रहता है, मुखमात्रसे अवस्थित नहीं रहता, क्योंकि एक दर्पणके हटानेपर भी अन्य दर्पणके सन्निधानप्रयुक्त बिम्बत्व मुखमें विद्यमान है, वैसे ही एक ब्रह्मचैतन्यके अनेक उपाधियोंमें प्रतिबिम्बित होनेपर एक प्रतिबिम्बमें विद्याके उदित होनेपर उससे उस उपाधिके विलीन होनेके कारण उसमें पड़े हुए प्रतिबिम्बकी भी बिम्बरूपसे अवश्य अवस्थिति होगी। यदि शङ्का हो कि उक्त पुरुषको अविद्याका अभाव होनेसे सत्यकामत्व आदि गुणोंसे युक्त सर्वेश्वरत्वकी अनुपपत्ति हो जायगी, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि * उस कालमें मुक्त पुरुषकी

* यदि शङ्का हो कि अनेक जीववादमें प्रतिबिम्बेश्वरपक्षमें मुक्तको ईश्वरभावापत्ति नहीं हो सकती है और अवच्छेद पक्षमें तो मुक्ति ही नहीं है, तो फिर ईश्वरभावापत्ति किस पक्षमें होगी ? तो इस शङ्काका उत्तर इस ग्रन्थसे देते हैं।

* प्रकृत ग्रन्थमें अविद्याके नानात्वव्यवहारसे अनेक अविद्याओंमें प्रतिबिम्बित अनेक जीव हैं और अन्तःकरण तो उनमें रहनेवाले कर्तृत्व आदिकी उपाधि है, यह सूचित किया गया है, इसलिए मुक्त पुरुषका ऐश्वर्य अविद्याप्रयुक्त है, ऐसा स्वीकार करनेसे परमार्थरूपसे एकरूप ही सर्वदा मुक्ति है, अतः ब्रह्मसूत्रके तृतीयाध्यायके अन्तिम अधिकरणके साथ विरोध नहीं है, यह भाव है।

पि तदानीं बद्धपुरुषान्तराविद्यासत्त्वात्। नहीश्वरस्येश्वरत्वं सत्यकामादिगुणवैशिष्ट्यं च स्वाविद्याकृतम्, तस्य निरञ्जनत्वात्, किन्तु बद्धपुरुषाविद्याकृतमेव तत्सर्वमेष्टव्यम्।

न च विद्यान्तरफलैः साम्यं मोहपरिक्षयात्।
तेषु भोगस्य साम्येऽपि जगद्व्यापारवर्जनात् ॥ १८ ॥

सगुण उपासनाओंके फलोंके साथ मुक्तिका साम्य भी नहीं है, साम्य होनेपर भी जगद्व्यापार उसमें नहीं है ॥ १८ ॥

न च 'यथाक्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति' 'तं यथा यथोपासते' इत्यादिश्रुतिषु सगुणोपासकानामपीश्वरसायुज्यश्रवणाद् मुक्तेः सगुणविद्याफलाविशेषापत्तिः। सगुणोपासकानामखण्डसाक्षात्कारा-

---

अविद्या नहीं है, तथापि बद्ध पुरुषान्तरकी अविद्या विद्यमान है। और * ईश्वरका ईश्वरत्व है, और सत्यकामत्वादिगुणवैशिष्ट्य अपने आश्रित अविद्यासे जन्य नहीं हैं, क्योंकि ईश्वर तो निरञ्जन अर्थात् सम्पूर्ण दोषोंसे रहित है, किन्तु बद्धपुरुषकी अविद्यासे ही उसमें ईश्वरत्व आदि हैं, यह समझना चाहिए।

यदि शङ्का हो कि 'यथाक्रतुरस्मिन् लोके०' (जिस गुणसे युक्त ब्रह्मकी इस लोकमें पुरुष उपासना करता है उसी गुणसे युक्त ब्रह्मको मरणके बाद प्राप्त करता है) 'तं यथा यथोपासते' (उस ईश्वरकी जिन जिन गुणोंसे युक्ततया उपासना करता है, वह उस गुणसे विशिष्टको प्राप्त करता है) इत्यादि श्रुतियोंमें सगुण उपासककी भी ईश्वरसायुज्यरूप मुक्ति सुनी जाती है, अतः मुक्ति भी

---

* इसमें यदि किसीको शङ्का हो कि जीवकी संसारिता जैसे अपनी अविद्यासे होती है, वैसे ही ईश्वरकी ईश्वरता भी उसकी उपाधिसे ही होगी, इसलिए मुक्त पुरुषमें उपाधिके न रहनेसे ऐश्वर्य नहीं हो सकता, इस शंकाका इस ग्रन्थसे उत्तर देते हैं—तात्पर्य यह है कि ईश्वरकी उपाधि क्या अविद्या है या अविद्याभिन्न माया है? द्वितीय पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि अविद्यामें बिम्बभूत चैतन्यमें जीवाश्रित अविद्यासे ही ऐश्वर्य हो सकता है, तो फिर अतिरिक्त मायारूप उपाधिकी कल्पना व्यर्थ ही है और तत्-तत् जीवगत तत्त्वज्ञानसे तत्-तत् अविद्याकी निवृत्ति होगी, इस क्रमसे सब जीवोंकी मुक्तिके बाद भी मायाका निवर्तक न होनेसे उस समयमें भी माया अवश्य रहेगी। 'मम माया दुरत्यया' इत्यादि एकवचनान्त निर्देश जातिके अभिप्रायसे है, अतः अविद्याके नानात्वपक्षमें दोष नहीं है, प्रथम पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि ईश्वरका ऐश्वर्य स्वाविद्याकृत नहीं है, यह भाव है।

भावाद् नाऽविद्यानिवृत्तिः, न वा तन्मूलाहङ्कारादेर्विलयः । आवरणानिवृत्तेर्नाखण्डानन्दस्फुरणम् । 'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च' (उ० मी० अ० ४ पा० ४ सू० १७) 'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च' (उ० अ० ४ पा० ४ सू० २१) इत्यादिसूत्रोक्तन्यायेन तेषां परमेश्वरेण भोगसाम्येऽपि सङ्कल्पमात्रात् स्वभोगोपयुक्तदिव्यदेहेन्द्रियवनितादिसृष्टिसामर्थ्येऽपि सकलजगत्सृष्टिसंहारादिस्वातन्त्र्यलक्षणं न निरवग्रहमैश्वर्यम् । मुक्तानां तु निस्सन्धिबन्धमीश्वरभावं प्राप्तानां तत्सर्वमिति

सगुणविद्याके फलके समान ही होगी, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि सगुणोपासकोंको अखण्डब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता है, अतः उनकी अविद्याकी निवृत्ति नहीं होती है और अविद्यामूलक अहङ्कार आदिकी भी निवृत्ति नहीं होती। आवरणकी निवृत्ति न होनेके कारण अखण्ड आनन्दकी स्फूर्ति भी नहीं होती। 'जगद्व्यापारवर्जम्०' * और 'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च' † इत्यादि सूत्रोक्तन्यायसे यद्यपि उन सगुण उपासकोंका भोग परमेश्वरके साथ समान है और सङ्कल्पमात्रसे ‡ अपने भोगके उपयुक्त दिव्य देह, इन्द्रिय, वनिता आदिकी सृष्टिमें सामर्थ्य है, तथापि सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि, संहार आदिमें स्वातन्त्र्यरूप अप्रतिहत ऐश्वर्य नहीं है। और मुक्त पुरुषोंके, जो कि निर्गुण उपासनाके प्रभावसे सर्वात्मरूपसे ईश्वरभावको प्राप्त हुए हैं, पूर्वोक्त अविद्यानिवृत्ति

---

* इस सूत्रका यह अर्थ है—सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि, स्थिति और संहार करनेकी ईश्वरमें जो शक्ति है उससे भिन्न अपने भोगमें उपयुक्त भोग्यभोगोपकरणमात्रकी उत्पत्ति करनेकी ही उपासकोंमें शक्ति हो जाती है, क्योंकि जगत्की सृष्टिमें 'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' इत्यादिसे परमात्माका ही उल्लेख किया गया है और सृष्टिवाक्योंमें उपासकोंका सन्निधान भी नहीं है।

† हिरण्यगर्भके शरीरमें प्रवेश करके भोग भोगनेवाले परमेश्वरके साथ उपासकोंका केवल भोगमात्रमें ही साम्य है, क्योंकि उसमें प्रमाण है—'तमाह आपो वै खलु मीयन्ते लोकोऽसौ' अर्थात् अपने पास आये हुए उपासकसे उसने कहा कि मैं अमृतरूप जलका भोग करता हूँ, अतः तुम्हें भी इसी अमृतरूप जलका भोग करना चाहिए, यह भाव है।

‡ 'यं यं कामं पित्रादिरूपं कामयते स स कामः सङ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति' (उपासक पिता आदि जिन जिन पदार्थोंकी अभिलाषा करता है, वे सबके सब केवल इसके सङ्कल्पमात्रसे ही प्राप्त हो जाते हैं, इस श्रुतिसे केवल भोग्य पदार्थ ही सङ्कल्पसिद्ध प्रतीत होते हैं, यह भाव है।

महतो विशेषस्य सद्भावात् । न च परमेश्वरस्य रघुनाथाद्यवतारे तुमस्वित्वदुःखसंसर्गादिश्रवणाद् मुक्तानामीश्वरभावे पुनर्बन्धापत्तिः, तस्य विप्रशापामोघत्वादिस्वकृतमर्यादापरिपालनाय कथंचिद् भृगुशापादिसत्यत्वं

आदि सभी विद्यमान हैं, अतः महान् अन्तर है। × यदि शङ्का हो कि परमेश्वरको रामचन्द्र आदि अवतारोंमें अज्ञान और दुःखसम्बन्ध आदि सुने जाते हैं, इसलिए मुक्त पुरुषोंका ईश्वरभाव होनेपर भी फिर बन्धकी आपत्ति हो सकती है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि ब्राह्मणों द्वारा दिये गये शापोंमें अमोघत्व आदि स्वकृत मर्यादाके परिपालनके लिए और किसी प्रकारसे भृगुऋषिके शापादिके * सत्यत्वप्रख्यापनके लिए नरके समान वह केवल

× शङ्काका तात्पर्य यह है कि रामचन्द्र, श्रीकृष्ण आदि जितने ईश्वरके अवतार हैं, उनमें अज्ञान आदि वर्तमान हैं, क्योंकि इस अर्थमें उन्हींके वाक्य उपलब्ध होते हैं, जैसे कि—

'आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्' अर्थात् रामचन्द्रजी अपनेको दशरथका पुरुषरूप पुत्र समझने लगे, और—

'राज्यनाशो वने वासः सीता नष्टा द्विजो हतः ।
ईदृशीयं ममालक्ष्मीर्निर्दहेदपि पावकम् ॥'
'न मद्विधो दुष्कृतकर्मकारी'

अर्थात् राज्यनाश, वनमें वास, सीताका नाश, ब्राह्मणका (रावणका) विनाश आदि मेरे महापातक अग्निको भी दग्ध कर सकते हैं, मेरे जैसा संसारमें अन्य कोई दुष्कृत कर्म करनेवाला नहीं है, इत्यादि वाक्य रामचन्द्रजीको अत्यन्त दुःखी सूचन करते हैं और 'सुग्रीवं शरणं गतः' इत्यादिसे उनकी दीनता भी सूचित होती है। उत्तरका तात्पर्य यह है कि यद्यपि अज्ञान आदिका उक्त वचनोंसे ईश्वरावतारमें श्रवण होता है, तथापि वह श्रवण केवल ईश्वरका नटके समान अभिनयमात्र बोधक है अर्थात् ईश्वरने संसारके निर्माणके समयमें उसकी ठीक ठीक व्यवस्था रहे इसलिए मर्यादा बनाई है, जैसे ब्राह्मणोंके शापमें अवन्ध्यत्व आदि। उस मर्यादाका परिपालन करनेके लिए उसको भी वैसा ही आचरण लोकमें करना चाहिए जिससे कि मर्यादाका भङ्ग न हो। और श्रीरामचन्द्र स्वयं सर्वज्ञ एवं साक्षात् ईश्वर थे, तथापि महादेव, इन्द्र आदिके सामने विनयको सूचन करनेके लिए ही अपने आपको मनुष्य बतलाते हैं और अपनी उद्दण्डताका खण्डन करते हैं। यदि अपने आप अपना अभिमान प्रकट करते, तो लोकमें भी इसका बुरा प्रभाव पड़ता और लोकमें एक प्रकारसे अनर्थ फैलता, अतः लोककी शिक्षाके लिए वैसे वचन हैं, यह समझना चाहिए। इसी प्रकार अनेक मर्यादाओंके परिपालनके लिए तत्-तत् वचनोंकी सङ्गति लगानी चाहिए, यह भाव है।

* भृगुशापका अङ्गीकार और उसकी सत्यताको लोकमें बतलानेके लिए ईश्वरका मनुष्यरूपसे अवतार है, यह भाव है, इस विषयमें उत्तररामायणमें एक कथा उपलब्ध होती है

प्रत्याययितुं नटवदीश्वरस्य तदभिनयमात्रपरत्वात् । अन्यथा तस्य नित्यमुक्तत्वनिरवग्रहस्वातन्त्र्यसमाभ्यधिकराहित्यादिश्रुतिविरोधात् । तस्मा‌द्यावत्सर्वमुक्ति परमेश्वरभावो मुक्तस्येति बिम्बेश्वरभावे न कश्चिद्दोषः ।

अभिनयमात्र करता है, इसके सूचनके लिए ही रामादि अवतारोंमें अज्ञानका कथन है, वस्तुतः नहीं। † यदि ऐसा न माना जाय, तो उस परमात्मामें नित्यमुक्तत्व, निरवग्रहस्वातन्त्र्य एवं सम और अभ्यधिकके राहित्य आदिका जो श्रुतिने प्रतिपादन किया है, उसका विरोध हो जायगा। इससे जब तक सभी जीवोंकी मुक्ति नहीं होती, तब तक मुक्त पुरुषका परमेश्वरके साथ तादात्म्य-रूपसे अवस्थान होता है, अतः बिम्बभूत ईश्वरभावमें कोई दोष नहीं है।

और वह दशरथके प्रति दुर्वासासे कही गई है—

एक समय देवताओंका और असुरोंका परस्पर भयङ्कर युद्ध हुआ, उस युद्धमें देवताओंने असुरोंका पराजय किया। असुर लोग अपनी रक्षाके लिए भृगु ऋषिकी पत्नीकी शरणमें गये, उसने असुरोंको अभयप्रदान किया और निर्भय होकर वे रहने लगे। भगवान्‌को जब यह मालूम हुआ तब उन्होंने क्रुद्ध होकर अपने चक्रसे भृगुपत्नीका माथा काट डाला। अपनी पत्नीका शिरश्छेद देखकर भृगुने विष्णुको सहसा शाप दिया कि अरे विष्णु! तुमने मेरी पत्नीका वध किया है, इसलिए तुम मनुष्ययोनिमें जन्म पाकर अपनी पत्नीके वियोगमें अनेक वर्षतक दुःख भोगोगे। परन्तु भगवान्‌की अमोघशक्तिसे वह शाप भगवान्‌को नहीं लगा, बल्कि वापस आकर भृगुको ही सताने लगा। जब उन्होंने इस शापसे अत्यन्त दुःखी होकर शापसे मुक्त होनेके लिए अन्य ऋषियोंकी प्रार्थना की तब उन्होंने विष्णुकी उपासनाके लिए सलाह दी। सलाहके अनुसार भृगुने विष्णुकी उपासना की। फलतः भगवान् प्रसन्न हुए और कहा कि हे भृगु, तुम दुःखी मत होओ, तुम्हारा दिया हुआ शाप मैं वापिस ले लेता हूँ और तुम्हारे शापकी सत्यताके लिए मैं मनुष्य भी होऊँगा और पत्नीवियोगका कष्ट भी सहन करूँगा। तब भृगुने अनेक प्रकारसे भगवान्‌की अर्चना और स्तुति की। इस प्रकार शापकी रक्षाके लिए भगवानने नर बनकर यह सब अभिनय किया, यह भाव है।

† 'एष त आत्मा सर्वान्तर्याम्यमृतः, एष सर्वेश्वरः, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते, सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (यही तुम्हारा आत्मा अमृत (नित्य) और सबका अन्तर्यामी है, यही सबका नियामक है, इस आत्माकी बराबरी करनेवाला और इससे अधिक दूसरा नहीं है, निर्गुणोपासक संसारसे तर जाता है, वही परमपद है) इत्यादि श्रुतियोंसे 'नारायणात् ब्रह्मा जायते, अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः' (नारायणसे ब्रह्मा हुआ, बाहर और भीतर सबको व्याप्त करके नारायण अवस्थित है) इत्यादि अनेक श्रुतियोंसे सिद्ध ईश्वरमें नित्यमुक्तत्व आदि धर्म सुने जाते हैं, यह भाव है।

पक्षोऽयं चरमः साधुः सूत्रभाष्यादिषु स्फुटः ।
आविर्भूतस्वरूपेऽपि गुणाष्टकानिरूपणात् ॥ १९ ॥

यह अन्तिम पक्ष ही श्रेष्ठ है, क्योंकि सूत्र, भाष्य आदिमें इसीकी स्पष्टता पाई जाती है, सगुण अपरोक्ष ब्रह्मानुभवसे ईश्वरस्वरूपमें आविर्भूत जीवमें आठ गुणोंका निरूपण किया गया है ॥ १९ ॥

अयमेव पक्षः श्रुतिसूत्रभाष्याद्यनुगुणः । तथा हि—समन्वयाध्याये तावद् 'दहर उत्तरेभ्यः' (उ० मी० अ० १ पा० ३ सू० १४) इत्यधिकरणे 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन् अन्तराकाशः' इत्यादिश्रुतिनिर्दिष्टो दहराकाशो न भूताकाशः, नापि जीवः, किन्तु परमेश्वरः, उत्तरेभ्यो वाक्यशेषेभ्यः । 'उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः' 'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' इत्यादिना प्रतिपाद्यमानेभ्यो द्यावापृथिव्याद्याधारत्वलक्षणगुणेभ्यो हेतुभ्य इति निर्णीय 'उत्तराच्चेदाविर्भूत-

यही पक्ष श्रुति, सूत्र और भाष्य आदि सम्मत है—क्योंकि समन्वयाध्यायमें 'दहर उत्तरेभ्यः' इस अधिकरणमें 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म०'* इत्यादि श्रुतिमें उक्त दहराकाश भूताकाश नहीं है, और जीव भी नहीं है, किन्तु परमेश्वर ही है, 'उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी' (इस प्रकृत दहराकाशमें अन्तः द्युलोक और पृथ्वी स्थित हैं) 'यावान्वा०' (यह जितना बड़ा बाहरका भूताकाश है उतना ही बड़ा हृदयके भीतर दहराकाश है) 'एष आत्मा०' (आत्मा पापसम्बन्धसे रहित है, जरासे रहित है, मृत्युसे रहित है, शोकसे रहित है, भोजनेच्छासे रहित है, पिपासासे रहित है, आत्मा सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है) इत्यादि श्रुतिसे प्रतिपादित द्यु, पृथ्वी आदिके प्रति आश्रयत्व प्रभृति गुणरूप हेतुओंसे दहराकाशसे परमात्माका ही ग्रहण† है, ऐसा निर्णय करके

* ब्रह्मकी उपलब्धिमें हेतुभूत जो यह शरीर है उसमें छोटे आकारका जो पुण्डरीक है, उसके भीतर दहर आकाश है, यह इस श्रुतिका अर्थ है । और 'दहर उत्तरेभ्यः' इस सूत्रसे, दहराकाश शब्दसे परमात्मा ही लिया जायगा, किससे ? उत्तरके वाक्यशेषोंसे, इस प्रकारका जो अर्थ होता है, उसीका ही इस अग्रिम ग्रन्थसे कथन है ।

† कारण कि दहराकाशशब्दसे यदि भूताकाश लिया जाय, तो उसमें सत्यसङ्कल्पत्व

स्वरूपस्तु' (उ० मी० अ० १ पा० ३ सू० १९) इति सूत्रान्तरेण दहरविद्यानन्तरमिन्द्रप्रजापतिसंवादे 'य आत्माऽपहतपाप्मा' इत्यादिना अपहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकयुक्तमात्मानमुपदेश्यमुपक्षिप्य 'य एषोऽक्षिणि

'उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु'‡ इस प्रकारके अन्य सूत्रसे—दहरविद्याके बादके इन्द्रप्रजापतिके संवादमें 'य आत्माऽपहतपाप्मा'× (जो आत्मा है, वह पाप-रहित है) इत्यादि श्रुतिसे अपहतपाप्मत्व आदि गुणोंसे युक्त उपदेष्टव्य आत्माका प्रस्ताव करके 'य एषोऽक्षिणि' (जो आँखमें पुरुष देखा जाता है, वही तुम्हारा

आदि गुणोंकी अनुपपत्ति होगी। यदि जीव लिया जाय, तो उसमें पृथ्वी आदि जगत्का आधारत्व नहीं आ सकता है, अतः दहराकाश परमात्मा ही है, ऐसा निर्णय होता है, यह भाव है।

‡ इस सूत्रका यह अर्थ है—उत्तरात् अर्थात् 'य एषोऽक्षिणि' इत्यादि उत्तरके प्रजापति-वाक्यसे अपहतपाप्मत्वादि गुणवाला जीव ही होगा, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उस उत्तरवाक्यमें आविर्भूतस्वरूपवाले—अपने ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हुए जीवका ही कथन है, जीवत्वविशिष्ट जीवका नहीं, अतः अपहतपाप्मत्वादिविशिष्ट परमात्मस्वरूप ही है, जीव नहीं है, इससे दहराकाश जीव नहीं हो सकता, यह अर्थ है।

× इन्द्र और विरोचन प्रजापतिके पास आत्मज्ञानकी इच्छासे गये, उस समयके ये प्रजापतिके वाक्य हैं (छान्दोग्य ८-७-४) और ये वाक्य 'अपहतपाप्मा' इत्यादि वाक्यसे पूछे गये आठ गुणोंसे युक्त उपदेश्य आत्माके उत्तररूपमें कहे गये हैं, इसलिए आठ गुणोंसे युक्त आत्मा जीव ही प्रतीत होता है। यह ख्यालमें रखना चाहिए कि इस ग्रन्थका दूर तक सम्बन्ध है, इसमें पर्यायशब्द जो आये हुए हैं, उनका अर्थ—प्रकार या तरीका, अथवा एक आत्मरूप अर्थके बोधक वाक्य—करना चाहिए, अर्थात् चार प्रकारसे आत्माका बोध करानेके लिए प्रजापति द्वारा उक्त वाक्य, यह मूलग्रन्थमें 'पर्याय' शब्दका अर्थ होगा। समुदित ग्रन्थका तात्पर्य यह है कि 'य एषोऽक्षिणि' इत्यादि वाक्योंसे अपहतपाप्मत्व आदि गुणोंसे युक्त जीव भी प्रतीत होता है, इसलिए अपहतपाप्मत्व आदि आठ गुण दहराकाशमें परमेश्वरके निर्णायक नहीं हो सकते हैं। यदि कथञ्चित् कहें कि प्रजापतिके चार वाक्योंमें से प्रथम वाक्यमें जाग्रदवस्थाका बोधक कोई पद नहीं है, अतः प्रजापतिके चार पर्यायोंका तात्पर्य जीवके बोधनमें नहीं हो सकता है, इसलिए प्रजापतिके प्रथम वाक्यसे परमात्माका ही प्रतिपादन है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रत्येक वाक्योंमें पहले 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' (इसी आत्माका [जाग्रदादि अवस्थापन्न जीवका] फिर तुझे उपदेश करता हूँ) इस वाक्यके होनेसे ग्रन्थोक्त चार प्रकारके श्रुतिवाक्योंसे जीवका ही प्रतिपादन है, इस प्रकारकी आशङ्का करके इस शङ्काका समाधान करते हुए सूत्रकारने 'उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु' इस सूत्रसे मुक्त पुरुषकी ईश्वरभावापत्ति स्पष्टरूपसे बतलाई है।

पुरुषो दृश्यते एष आत्मा' इति जाग्रदवस्थायां द्रष्टृत्वेनाऽक्षिसन्निहितस्य 'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरति एष आत्मा' इति स्वप्नावस्थापन्नस्य 'तद्यत्रैतत्सुप्तस्समस्तस्सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति एष आत्मा' इति सुषुप्त्यवस्थापन्नस्य 'एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाऽभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' इत्यवस्थात्रयोत्तीर्णस्य च जीवस्योपदेशाद् जीवेऽप्यस्ति अपहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकमिति न तद् दहाराकाशस्य परमेश्वरत्वनिर्णायकम्, 'य एष स्वप्ने' इत्यादिपर्यायेषु प्रतिपर्यायम् 'एतं त्वेव ते भूयोऽनु-

---

आत्मा है) इस श्रुतिसे जाग्रदवस्थामें द्रष्टारूपसे अक्षिसन्निहित जीवका, 'य एष स्वप्ने०' (जो यह स्वप्नमें वनिता आदिसे पूज्यमान होकर विषयोंका अनुभव करता है, वह आत्मा है) इत्यादि श्रुतिसे स्वप्नावस्थापन्न जीवका, 'तद्यत्रैतत्सुप्तस्समस्तः०' (जिस कालमें यह जीव सुषुप्तिको प्राप्त होता है और इसके समस्त करणोंका समुदाय विलीन हो जाता है, तब अपने स्वरूपभूत आनन्दमें मग्न होकर स्वप्नको भी नहीं देखता है, वही आत्मा है) इस प्रकारकी श्रुतिसे सुषुप्त्यवस्थापन्न जीवका और 'एष सम्प्रसादो०' (सुषुप्ति अवस्थासे उपलक्षित जीव शरीरसे उत्क्रमण करके देवयान मार्गको पा कर अपनी उपासनाके फलभूत ऐश्वर्यसे युक्त स्वरूपको प्राप्त करता है *) इत्यादि श्रुतिसे अवस्थात्रयसे रहित जीवका उपदेश होनेसे जीवमें भी अपहतपाप्मत्व आदि आठ गुण विद्यमान हैं, अतः वह गुणाष्टक दहराकाशमें परमेश्वरत्वका निर्णायक नहीं हो सकता है, क्योंकि 'य † एष स्वप्ने०' इत्यादि पर्य्यायोंके प्रत्येक पर्य्यायमें 'एतं त्वेव भूयोऽनु-

---

* इस वाक्यका पूर्वपक्षकी रीतिसे ब्रह्मलोकमें गया हुआ उपासक जीव उत्तमपुरुष अर्थात् अपहतपाप्मत्व आदि गुणोंसे युक्त होता है, यह अर्थ समझना चाहिए ।

† तात्पर्य यह है कि प्रजापतिवाक्यमें चार पर्यायोंका सर्वथा जाग्रद् आदि अवस्थापन्न जीवमें तात्पर्य नहीं है, क्योंकि प्रथम पर्य्यायमें किसी जाग्रदवस्थापन्न जीववाची पदके न होनेसे यह जाग्रदवस्थापन्न जीवका बोधक नहीं हो सकता है । इसलिए प्रथम पर्य्यायसे इन्द्र और विरोचन द्वारा अपहतपाप्मत्वादि गुणोंसे युक्त जिस आत्माके विषयमें प्रश्न किया जाता है, वही आत्मा निर्दिष्ट है, और वह ब्रह्म है, इसलिए प्रजापतिवाक्यमें भी आठ गुणोंसे संयुक्त ब्रह्मका ही उपदेश किया गया है, जीवका नहीं, अतः यह आशङ्का नहीं हो सकती है कि गुणाष्टक दहराकाशमें परमेश्वरत्वका निर्णायक नहीं है, इस मध्यवर्ती शङ्काका इससे परिहार करते हैं ।

व्याख्यास्यामि' इति श्रवणेन स्फुटस्वप्नादिजीवलिङ्गानां द्वितीयादिपर्यायाणामेव जीवविषयत्वम्, प्रथमपर्यायस्य च ब्रह्मविषयत्वमिति चोद्यानवकाशादित्याशङ्क्य तत्र चतुर्थपर्याये निरूप्यमाणः सकलबन्धविनिर्मुक्तत्वेनाऽऽविर्भूतस्वरूपो जीवः प्रतिपाद्यः। न तु सांसारिकावस्था-

---

व्याख्यास्यामि' (इसी आत्माका पुनः व्याख्यान करता हूँ) ऐसा श्रवण होनेसे—जिनमें स्वप्न आदि जीवलिङ्ग स्पष्टरूपसे प्रतीत होते हैं, ऐसे द्वितीय आदि पर्यायोंका ही जीव विषय है और प्रथम पर्य्यायका ब्रह्म विषय है, इस प्रकारके प्रश्नका—अवकाश नहीं है, ऐसी आशङ्का करके 'उन चार पर्य्यायोंमें से चतुर्थ पर्य्यायमें निरूप्यमाण सम्पूर्ण सांसारिक बन्धनोंसे विनिर्मुक्त अपने स्वस्वरूपमें आविर्भूत जीव ही प्रतिपाद्य है, सांसारिक अवस्थाविशेषसे कलुषित जीव प्रतिपाद्य नहीं है, क्योंकि सांसारिक आत्मामें * सत्यसङ्कल्पत्व

पूर्वपक्षीका यह भाव है कि द्वितीय आदि जो पर्य्यायवाक्य हैं, वे जीवपरक ही हैं, ऐसा तो निश्चित ही है। इसी प्रकार प्रथम पर्य्यायवाक्यका भी जीवको ही विषय मानना चाहिए, क्योंकि प्रथम पर्य्यायमें निर्दिष्ट आत्माका ही 'एतं त्वेव' इत्यादि वाक्यस्थित सर्वनाम 'एतद्' शब्दसे परामर्श होनेसे अर्थभेद माननेपर एतद्शब्दकी अनुपपत्ति होगी। इसीसे यह प्रश्न भी निरस्त हुआ समझना चाहिए कि प्रथम पर्यायकी विषयता चक्षुःस्थ प्रतिविम्बमें है, और वह दृश्यमान भी है, क्योंकि द्वितीय पर्य्यायगत एतद्शब्दसे प्रथमपर्यायमें ही निर्दिष्ट अक्षिस्थ पुरुषके अमृतत्व, अभयत्व, ब्रह्मत्व आदिका कथन है, और इन सबकी प्रतिविम्बमें उपपत्ति नहीं हो सकती है। यदि शङ्का हो कि उन गुणोंकी जीवमें भी उपपत्ति नहीं हो सकती है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि जाग्रद् आदि अवस्थापन्न जीवमें उक्त गुण यद्यपि नहीं रह सकते हैं, तथापि उन अवस्थाओंसे रहित जीवमें उक्त गुण हैं, ऐसा प्रजापतिवाक्यसे प्रतीत होता है।

* यदि शङ्का हो कि चौथे पर्य्यायमें भी प्रथमके तीन पर्य्यायोंके समान संसारी आत्माका प्रतिपादन क्यों नहीं होता है, क्योंकि चतुर्थ पर्य्यायमें भी 'शरीरात् समुत्थाय' इससे शरीरसे उत्क्रान्तिसे युक्त संसारीकी स्पष्टरूपसे प्रतीति होती है, तो इस शङ्काके परिहारके लिए 'उत्तराच्चेत्' इत्यादि सूत्रमें स्थित तुशब्दकी व्याख्या द्वारा इस ग्रन्थसे उत्तर देते हैं। तात्पर्य यह है कि यदि चतुर्थ पर्य्यायमें भी संसारी आत्माका निरूपण होगा, तो इन्द्र द्वारा पूछे गये अपहतपाप्मत्वादिगुणविशिष्ट आत्माका प्रजापतिने उपदेश नहीं किया, यही सिद्ध होगा। इससे प्रजापतिवाक्य प्रतिवचन ही नहीं होगा, इसलिए चतुर्थ पर्य्याय उक्त गुणोंसे युक्त मुक्त जीवपरक है, यही कहना चाहिए। यदि शङ्का हो कि पूर्वपक्षीकी उक्तिसे सगुणविद्यासे ब्रह्मलोकमें गये हुए जीवमें अपहतपाप्मत्व आदि आठ गुण रह सकते हैं, अतः चतुर्थ पर्य्याय आत्यन्तिक मुक्त जीवपरक नहीं है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि सगुणविद्यासे आत्यन्तिक अविद्याकी

भेदकलुषितः, तत्र सत्यसङ्कल्पत्वादिगुणबाधात्। अवस्थात्रयोपन्यासस्य तत्तदवस्थादोषाभिधानेन चतुर्थपर्यायोपदेशशेषत्वप्रतिपत्तेरिति समादधानः सूत्रकारश्चतुर्थपर्याये प्रतिपाद्यस्य मुक्तस्येश्वरभावापत्तिं स्पष्टयाह। तदभावे

आदि गुणोंका बाध है। और तीन * अवस्थाओंके बोधक तीन पर्य्यायोंका इसलिए उपन्यास किया गया है कि तत्-तत् अवस्थाओंके दोषोंके अभिधान द्वारा उन तीन पर्य्यायोंमें चतुर्थ पर्य्यायके उपदेशकी अङ्गत्वप्रतिपत्ति हो, इस प्रकारसे समाधान † करनेवाले सूत्रकारने चतुर्थ पर्य्यायमें प्रतिपाद्य मुक्त पुरुषकी ईश्वरभावापत्ति स्पष्ट रीतिसे बतलायी है। मुक्तपुरुषकी यदि ‡ ईश्वरभावापत्ति न हो, तो मुक्तमें भी सत्यसङ्कल्पत्व

निवृत्ति न होनेसे निरङ्कुश अपहतपाप्मत्व आदि रह नहीं सकते और प्रजापतिवाक्यका निर्गुण ब्रह्ममें तात्पर्य सविस्तर बतलाया गया है, अतः निर्गुण ब्रह्मको जाननेवाले पुरुषमें उत्क्रान्ति आदिका सम्भव नहीं है, यह भाव है। इसलिए इस तात्पर्यके अनुसार 'शरीरात् समुत्थाय' इत्यादि श्रुतिका यह अर्थ है—शरीरसे समुत्थान करके अर्थात् तीन शरीरोंसे विलक्षण त्वम्पदके लक्ष्यका निर्णय करके परब्रह्मरूप ज्योतिका साक्षात्कार कर अपने स्वरूपको प्राप्त होता है, यह भाव है।

* यदि शङ्का हो कि चतुर्थ पर्य्याय ही यदि जिज्ञासित आठ गुणोंसे युक्त आत्माका प्रतिपादन करता है, तो पूर्वके तीन पर्य्याय निरर्थक ही होंगे? तो इस शङ्काका परिहार इस ग्रन्थसे करते हैं, तात्पर्य यह है कि जाग्रदवस्थामें अन्धत्व आदि दोषोंके कथनसे, स्वप्नावस्थामें रोदन आदि दोषोंके अभिधानसे और सुषुप्तिमें अपने आपका और दूसरेका ज्ञान न होना आदि दोषोंके अभिधानसे तीन अवस्थाओंसे कलुषित लोकसिद्ध जीवके स्वरूपकी हेयताके बोधन द्वारा ठीक ठीक अधिकारी जिज्ञासुके वास्तविक स्वरूपका बोध करानेके लिए चतुर्थ पर्य्यायकी प्रवृत्ति है, ऐसा ज्ञात होता है, अतः पूर्व पर्य्याय चतुर्थ पर्य्यायके अङ्ग हैं, ऐसा प्रतीत होता है, इसलिए पूर्व पर्याय व्यर्थ नहीं है, यह भाव है।

† अपहतपाप्मत्वादि आठ गुण दहराकाशमें नहीं रह सकते, क्योंकि प्रजापतिके वाक्यसे ये आठ गुण जीवमें भी हैं, अतः व्यभिचार होगा। इस प्रकारकी आशङ्का करके समाधान किया है कि प्रजापतिवाक्यसे मुक्त जीवमें ही आठ गुणोंका प्रतिपादन होता है, सांसारिक जीवमें नहीं, अतः उक्त आठ गुणोंकी सत्ता परमेश्वरसे अन्यत्र नहीं है, जिससे कि व्यभिचारकी शङ्का की जाय, यह भाव है।

‡ तात्पर्य यह है कि कदाचित् मुक्त पुरुषकी ईश्वरभावापत्ति न मानी जाय, तो बद्ध जीवके समान मुक्त जीवमें भी, जो उपाधियोंसे रहित है, सत्य-सङ्कल्पत्व आदि गुणोंका योग नहीं होगा, इस प्रजापतिवाक्यमें आठ गुणोंसे युक्त आत्माका निरूपण ही नहीं हो सकेगा, अतः

मुक्तेऽपि सत्यसङ्कल्पत्वाद्ययोगाद्, अनुक्रान्तस्य गुणाष्टकस्य ईश्वरादन्यत्रापि भावे कृतशङ्कापरिहारालाभाच्च । तस्मिन् सूत्रे 'तस्मादविद्याप्रत्युपस्थापितमपारमार्थिकं जैवं रूपं कर्तृत्वभोक्तृत्वरागद्वेषादिदोषकलुषितमने-

---

आदिका अयोग होगा, और यदि उपक्रममें श्रुत आठ गुणोंकी ईश्वरसे अन्यत्र भी सत्ता मानी जायगी, तो की गई शङ्काका परिहार भी नहीं हो † सकेगा । और 'उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु' इस सूत्रमें भाष्यकारने भी 'जीवब्रह्माभेद ही वास्तविक है' इससे अविद्याप्रयुक्त अपारमार्थिक कर्तृत्व, भोक्तृत्व, राग, द्वेष आदि दोषसे

प्रजापतिवाक्यके आधारपर ईश्वरभावापत्ति द्वारा ही आठ गुणोंसे युक्त आत्माका अभिधान है, यह सूत्रकारका तात्पर्य स्पष्ट है, यह भाव है ।

† तात्पर्य यह है कि यदि शङ्का की जाय कि जीव और ईश्वरका वस्तुतः भेद होनेसे मुक्त जीवमें ईश्वरतादात्म्य नहीं हो सकता, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि जो यह शङ्का हुई थी कि गुणाष्टकके जीवसाधारण होनेसे ईश्वरका वह असाधारण धर्म नहीं है, अतः वह गुणाष्टक दहराकाशके ईश्वरत्वमें प्रमाण नहीं हो सकता है । इस शङ्काका 'उत्तराच्चेत्' इत्यादि सूत्रसे उस आत्माकी ईश्वरभावापत्ति द्वारा ही समाधान किया गया है, उसका विरोध होगा ।

इस विषयमें शङ्का होती है—मुक्तकी ईश्वरभावापत्तिमें क्या प्रमाण है ? 'उत्तराच्चेत्' इस सूत्रभागसे की गई शङ्काके परिहारका अलाभ प्रमाण है, अथवा प्रजापतिवाक्य ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है, क्योंकि मुक्तका विम्बभूत ईश्वरभावापत्तिके विना यदि केवल चैतन्यरूपसे भी अवस्थान माना जाय, तो ईश्वरसे अन्यत्र सत्ताके न होनेसे उक्त आठ गुण जो केवल ईश्वरमें ही असाधारणरूपसे वर्तमान हैं, दहराकाशमें ईश्वरत्वके निर्णायक हो सकते हैं । द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि निर्गुण विद्याके प्रतिपादक प्रजापतिवाक्यमें गुणोंकी विवक्षा न होनेसे मुक्त जीवमें भी गुणाष्टकका सम्बन्ध प्रतिपादित नहीं हो सकता है । और ज्ञेय ब्रह्ममें उन गुणोंका असम्बन्ध है, ऐसा आनन्दमयाधिकरणमें भी प्रतिपादन किया गया है । इसीसे वेदान्तसिद्धान्तमें ज्ञेयब्रह्मप्रतिपादक वाक्योंमें अखण्डार्थता मानी जाती है, जो अखण्डार्थता संसर्गको विषय न करनेवाली प्रमितिके प्रति जनकरूप है । इसलिए प्रजापतिवाक्यके उपक्रममें सुने गये सत्यसङ्कल्पत्व आदि—बृहदारण्यकके छठे अध्यायमें सर्वेश्वरत्व आदि गुण जैसे ब्रह्मकी प्रशंसाके लिए बतलाये गये हैं वैसे ही—ब्रह्मकी प्रशंसाके लिए ही हैं अथवा उपलक्षणमात्र हैं, दहरविद्यामें श्रुत गुणोंके समान प्रतिपाद्य नहीं हैं, अतः भाष्यकी भी उपपत्ति हो सकती है, यह अधिक समझना चाहिए । इससे तथोक्त श्रुति, सूत्र और भाष्य मुक्तकी ईश्वरभावापत्तिमें प्रमाणरूपसे नहीं दिखलाए जा सकते हैं, यह इस पक्षमें अस्वरस है, अतः इसी अस्वरससे 'अविरोधाध्यायेऽपि' इत्यादि ग्रन्थका उपक्रम है ।

कानर्थयोगि तद्विलयनेन तद्विपरीतमपहतपाप्मत्वादिगुणकं पारमेश्वरं रूपं विद्यया प्रतिपद्यते' इति भाष्यकारोऽप्यतिस्पष्टं मुक्तस्य सगुणेश्वरभावापत्तिमाह ।

ईशांशस्येशभावाप्तौ सर्वदुःखप्रसञ्जनम् ।
निवारयद्भिरग्रेऽपि बिम्बभावप्रदर्शनात् ॥ २० ॥

यदि ईश्वरांश जीवकी ईश्वरभावापत्ति मानी जाय, तो ईश्वरमें भी जीवके दुःख आदिकी प्रसक्ति हो जायगी, इस पूर्वपक्षका समाधान करते हुए श्रीसूत्रकार आदिने मुक्त जीवकी बिम्बभूत ईश्वरभावापत्तिके स्वीकार द्वारा समाधान किया है ॥ २० ॥

अविरोधाध्यायेऽपि 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' इत्यादिश्रुतेस्तत्तत्कर्मकर्तृत्वेन तत्तत्कर्मकारयितृत्वेन च उपकार्योपकारकभावेनावगतयोर्जीवेश्वरयोरंशांशिभावरूपसम्बन्धनिरूपणार्थत्वेनाऽवतारिते 'अंशो नानाव्यपदेशात्' (उ० मी० अ० २ पा० ३ सू० ४३)

कलुषित जो अनेक अनर्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाला जीवका स्वरूप है, उसका विलय हो जानेसे तद्विपरीत अपहतपाप्मत्वादि गुणवाले परमेश्वरस्वरूपको विद्यासे प्राप्त करता है, इस ग्रन्थसे स्पष्टरूपतया मुक्तमें सगुण ईश्वरत्व बतलाया गया है ।

अविरोधाध्यायमें * 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति०' (ईश्वर जिसको ऊपरके लोकोंमें चढ़ाना चाहता है, उसीसे अच्छा कर्म कराता है और जिसको नीचेकी ओर ले जाना चाहता है उसीसे असत् कर्म कराता है) इस श्रुतिसे तत्-तत् कर्मोंके कर्तृत्व और तत्-तत् कर्मोंके कारयितृत्वभावसे उपकार्य और उपकारकरूपसे ज्ञात जीव और ईश्वरके अंशांशिभावरूप सम्बन्धका निर्णय करनेके लिए अवतारित † 'अंशो नानाव्यपदेशात्' इस अधिकरणमें भाष्यकारने भी

---

* अविरोधाध्यायशब्दसे ब्रह्मसूत्रका द्वितीय अध्याय लेना चाहिए, क्योंकि प्रथमाध्यायमें जिस पदार्थका निरूपण किया गया है, उसके साथ अन्य प्रमाणोंके विरोधका परिहार द्वितीयाध्यायमें ही किया गया है । इस अविरोधाध्यायमें भी समाहित शङ्काग्रन्थसे भाष्यकारने मुक्तकी ईश्वरभावापत्ति स्पष्टरूपसे बतलायी है । इस प्रकार इस समुदित ग्रन्थका सार है यह समझना चाहिए ।

† जीव ईश्वरका अंश—अवयव है, क्योंकि नानात्वका—भेदका—यत्र तत्र उपदेश—कथन—है यह इस सूत्रके इस भागका अर्थ है । सम्पूर्ण सूत्र—'अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके' इतना बड़ा है ।

इत्यधिकरणे 'जीवस्येश्वरांशत्वाभ्युपगमे तदीयेन संसारदुःखभोगेन ईश्वरस्यापि दुःखित्वं स्यात्। यथा लोके हस्तपादाद्यन्यतमांशगतेन दुःखेनांशिनो देवदत्तस्यापि दुःखित्वम्, तद्वत्। ततश्च तत्प्राप्तानां महत्तरं दुःखं प्राप्नुयात्, ततो वरं पूर्वावस्था संसार एवास्त्विति सम्यग्ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्गः' इति शङ्काग्रन्थेन भामत्यादिषु स्पष्टीकृतं बिम्बप्रतिबिम्बभावकृतासङ्करमुपादाय समाहितेन भाष्यकारो मुक्तस्य ईश्वरभावापत्तिं स्पष्टीचकार।

पराभिध्यानतः सत्यकामत्वादेतिरोहितेः।
नाशे मुक्तौ पुनस्तेषामाविर्भावस्य चेरणात् ॥ २१ ॥

ईश्वरके बार बार अभिध्यानसे—संसारदशामें जो सत्यकामत्व आदि तिरोहित धर्म हैं, उनके तिरोधानका विनाश होनेपर मुक्तिमें उन गुणोंका पुनः—आविर्भाव होता है, ऐसा साधनाध्यायमें कहा गया है, इससे भी मुक्तकी ईश्वरभावापत्ति मानी गई है ॥२१॥

निम्न लिखित शङ्काग्रन्थसे, जिसका कि भामती आदि निबन्धोंमें स्पष्टरूपसे बतलाये गये बिम्बप्रतिबिम्बभावकृत असाङ्कर्यका * ग्रहण करके ही समाधान किया गया है, मुक्तकी ईश्वरभावापत्तिका ही विशदीकरण किया है। भाष्यका वह शङ्काग्रन्थ इस प्रकार है—'जीवको ईश्वरका अंश माननेपर जीवके सांसारिक दुःखके उपभोगसे अंशीरूप ईश्वरको भी दुःखका उपभोग वैसे ही प्रसक्त होगा, जैसे कि लोकमें हाथ, पैर आदि किसी अंशके दुःखित होनेपर अंशी देवदत्त भी दुःखित होता है। इससे ईश्वरभावको प्राप्त हुए जीवोंको बड़ा दुःख प्रसक्त होगा, इससे ईश्वरप्राप्तिकी अपेक्षा पहलेसे अवस्थित संसार ही उचित है, इस बुद्धिसे ईश्वरप्राप्तिके उपायभूत सम्यक्ज्ञानमें कोई भी प्रवृत्त नहीं होगा, इससे सम्यक्ज्ञान निरर्थक हो जायगा।

---

* भामतीमें साङ्कर्यका परिहार इस आशयसे किया गया है, अविद्यामें प्रतिबिम्ब जीव ही ईश्वरके अंशरूपसे कहे गये हैं, हाथ, पैर आदि अवयवोंके समान अवयवत्वरूपसे नहीं, वैसे ही ईश्वर भी बिम्बरूपसे अंशी कहा गया है, अवयवित्वरूपसे नहीं, प्रतिबिम्ब और बिम्बके धर्मोंका लोकमें परस्पर साङ्कर्य नहीं देखा जाता है, अतः जीवके दुःखका ईश्वरमें प्रसङ्ग नहीं है।

साधनाध्यायेऽपि 'सन्ध्ये सृष्टिराह हि' (उ० मी० अ० ३ पा० २ सू० १) इत्यधिकरणे स्वप्नप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वे व्यवस्थापिते तत्र मिथ्याभूते स्वप्नप्रपञ्चे जीवस्य कर्तृत्वमाशङ्क्य 'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ' (उ० मी० अ० ३ पा० २ सू० ५) इति सूत्रेण 'जीवस्येश्वराभिन्नत्वात् सदपि सत्यसङ्कल्पत्वादिकमविद्यादोषात्तिरोहितमिति न तस्य स्वप्नप्रपञ्चे स्रष्टृत्वं सम्भवति' इति वदन् सूत्रकारः, तत्पुनस्तिरोहितं सत् परमभिध्यायतो यतमानस्य जन्तोर्विधूतध्वान्तस्य तिमिरतिरस्कृतस्ये दृक्छक्तिरौषधवीर्यादीश्वरप्रसादात्संसिद्धस्य कस्यचिदेवाविर्भवति, न स्वभावत एव सर्वेषां जन्तूनाम्' इति तत्सूत्राभिप्रायं वर्णयन्

साधनाध्यायमें भी * 'सन्ध्ये सृष्टिराह हि' इस अधिकरणमें स्वप्नप्रपञ्चके मिथ्यात्वके व्यवस्थित होनेपर उस मिथ्याभूत स्वप्नके प्रति जीवकी कर्तृताकी आशङ्का करके † 'पराभिध्यानात्०' ‡ इस सूत्रसे—'जीव ईश्वरसे अभिन्न है, इसलिए यद्यपि उसमें सत्यसङ्कल्पत्व आदि विद्यमान हैं, तथापि वे अविद्यादोषसे तिरोहित हैं, इसलिए जीव स्वप्नका स्रष्टा नहीं हो सकता है'—इस प्रकार कहते हुए सूत्रकारने और 'यद्यपि वह सत्यसङ्कल्पत्व आदि तिरोहित है, तथापि परमात्माकी उपासनामें प्रयत्नशील किसी जीवविशेषको—तिमिररोगसे तिरस्कृत लोचनशक्ति औषधके प्रभावसे जैसे प्राप्त होती है, वैसे ईश्वरके प्रसादसे अविद्याके विनष्ट होनेसे सत्यसङ्कल्पत्व आदिका आविर्भाव होता है, स्वभावतः × सब प्राणियोंमें उसका आविर्भाव नहीं होता, इस

* साधनाध्यायमें अर्थात् ब्रह्मविद्याके साधनीभूत वैराग्य आदिका प्रतिपादन करनेवाले तृतीय अध्यायमें सूत्रकारने और उसके अभिप्रायका वर्णन करते हुए भाष्यकारने भी मुक्त पुरुषको ईश्वरभावापत्ति बतलाई है। इस प्रकार संक्षेपमें इस समुदित ग्रन्थका भाव है। आप्रत् , और सुषुप्तिके सन्धिस्थानमें अर्थात् स्वप्नस्थानमें रथादिसृष्टि सत्य ही हो सकती है, क्योंकि 'अथ रथान्' इत्यादि श्रुति उसके सत्यत्वमें प्रमाण है, यह सूत्रका आशय है।

† कर्तृत्वकी आशङ्का करके अर्थात् जिस प्रकारसे अग्निके अंशभूत विस्फुलिङ्गमें अग्निके समान दाहकत्वशक्ति है, उसी प्रकार परमेश्वरका अंश जीव भी स्वप्न आदि सृष्टिमें प्रयोजक सत्यसङ्कल्पत्व आदि सामर्थ्ययुक्त है, अतः जीव स्वप्नसृष्टिका कर्ता हो सकता है, इस प्रकारकी आशङ्का करके, यह भाव है।

‡ इस सूत्रका तात्पर्य मूलमें ही स्पष्ट है।

× अर्थात् वैराग्य आदि साधनोंके बिना नहीं होता है, यह भाव है।

भाष्यकारश्च मुक्तस्य स्वप्नसृष्ट्याद्युपयोगिसत्यसङ्कल्पत्वाद्यभिव्यक्त्यङ्गीकारेण परमेश्वरभावापत्तिं स्पष्टीचकार।

ब्राह्मचैतन्यमात्रत्वाविरोधस्य च कीर्तनात्।
प्रतिबिम्बेशजीवैक्यवादयोर्नैतदञ्जसा ॥ २२ ॥

ब्राह्म सत्यसङ्कल्पत्वादि धर्म और चैतन्यमात्रत्व—इन दोनोंमें अविरोधका कथन होनेसे 'बिम्ब ईश और प्रतिबिम्ब जीव है' यह मत ठीक है और यह अविरोध माया-प्रतिबिम्ब ईश है, इस मतमें और एक ही जीव है इस मतमें समञ्जस नहीं है ॥ २२ ॥

फलाध्यायेऽपि 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति मुच्यमानविषयायां श्रुतौ 'केन रूपेणाभिनिष्पत्तिर्विवक्षिता' इति बुभुत्सायाम् 'ब्राह्मेण जैमिनिरूपन्यासादिभ्यः' (उ० मी० अ० ४ पा० ४ सू० ५) इति सूत्रेण ब्राह्मं रूपमपहतपाप्मत्वादिसत्यसङ्कल्पत्वाद्यवसानं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वादि च,

---

प्रकारसे सूत्रके अभिप्रायको कहते हुए भाष्यकारने भी मुक्त पुरुषकी स्वप्न-सृष्टि आदिमें उपयोगी सत्यसङ्कल्पत्व आदिकी अभिव्यक्तिके अङ्गीकारसे परमेश्वरभावापत्ति स्पष्टरूपसे बतलाई है।

फलाध्यायमें भी * 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' (अपने स्वरूपसे अभिव्यक्त होता है) इस प्रकारकी मुक्त पुरुषको अवलम्बन करनेवाली श्रुतिमें 'किस स्वरूपसे अभिव्यक्ति विवक्षित है' † इस प्रकारकी विशेष जिज्ञासाके होनेपर 'ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः' ‡ इस सूत्रसे जैमिनि मुनि कहते हैं—मुक्त पुरुषकी ब्राह्मरूपसे अर्थात् अपहतपाप्मत्व आदिसे लेकर सत्यसङ्कल्पत्व-पर्यन्तरूपसे और सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व आदिरूपसे अभिनिष्पत्ति होती

---

* फलाध्यायमें भी अर्थात् जिसमें मुक्तिरूप फलका वर्णन किया गया है, ऐसे ब्रह्मसूत्रके चतुर्थ अध्यायमें—

† क्या मुक्त पुरुष सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व आदि गुणविशिष्ट रूपोंसे अवस्थित होता है अथवा शुद्ध चिन्मात्रसे अवस्थित होता है, इस प्रकारकी विशेषजिज्ञासा होनेपर, यह भाव है।

‡ ब्राह्मेण इत्यादि सूत्रका अर्थ है कि ब्रह्मका जो सर्वज्ञत्व आदि स्वरूप है, उस रूपसे ही मुक्त पुरुषकी अवस्थिति होती है, क्योंकि 'य आत्माऽपहतपाप्मा' इत्यादि श्रुतिसे उपक्रम करके 'सोऽन्वेष्टव्यः' (उसीकी अन्वेषणा करनी चाहिए) इस प्रकारके उपसंहारवाक्यसे विचारका विधान किया गया है, ऐसा जैमिनि आचार्य मानते हैं।

तेनाभिनिष्पत्तिः 'य आत्माऽपहतपाप्मा' इत्याद्युपन्यासेन 'स तत्र पर्येति जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा' इत्याद्यैश्वर्यावेदनेन चेति जैमिनिमतम्। 'चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः' (उ० मी० अ० ४ पा० ४ सू० ६) इत्यनन्तरसूत्रेण 'एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' इत्यादिश्रुत्या 'चैतन्यमात्रमात्मस्वरूपम्' इत्यवगतेः 'तन्मात्रेणाभिनिष्पत्तिः' इति मतान्तरं चोपन्यस्य 'एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः' (उ० मी० अ० ४ पा० ४ सू० ७) इति सिद्धान्तसूत्रेण 'वस्तुदृष्ट्या चैतन्यमात्रत्वेऽपि पूर्वोक्तगुणकलापस्य उपन्यासाद्यवगतस्य मायामयस्य बद्धपुरुषव्यवहारदृष्ट्या सम्भवाद् न श्रुतिद्वयविरोधः इति अविरोधं वदन् सूत्रकारः, सूत्रत्रयमिद-

है, क्योंकि 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (जो आत्मा है, वह पापादिसम्बन्धसे रहित है) इत्यादि उपन्यास-उद्देश्यरूप वाक्यसमुदाय है और 'स तत्र पर्येति०' (हँसता हुआ, खेलता हुआ और अनेक स्त्रियोंके साथ रमण करता हुआ वह आत्मा वहाँ जाता है) इत्यादि श्रुतिसे ऐश्वर्यका कथन भी है। चितितन्मात्रेण०'× इस उत्तरसूत्रसे—'एवं वा अरे०' (हे मैत्रेयि! जैसे लवणका पिण्ड बाहरसे और भीतरसे लवणरससे ही युक्त है, वैसे ही यह आत्मा बाहर और भीतरसे चैतन्यैकरस है) इस श्रुतिके आधारपर चैतन्यमात्रसे मुक्त आत्माकी—अवस्थिति है, ऐसा बतलाकर 'एवमप्युपन्यासात्०' * इत्यादि सिद्धान्तसूत्रसे—'परमार्थतः आत्माके चैतन्यस्वरूप होनेपर भी पूर्वोक्त गुणोंका समुदाय, जो उपन्यास आदिसे जाना गया है और मायामय है, वह आत्मामें संसारसे युक्त पुरुषकी व्यावहारिक दृष्टिसे ही हो सकता है, इसलिए उक्त दोनों श्रुतियोंमें विरोध नहीं है, इस प्रकार विरोधाभावको बतलाते हुए सूत्रकारने और

× 'चितितन्मात्रेण०' चैतन्यमात्रस्वरूपसे मुक्त पुरुष अवस्थित रहता है, ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं, यह भाव है।

* यदि पारमार्थिक चैतन्यमात्रसे मुक्त पुरुषकी अवस्थिति मानी जाय, तो भी मुक्त आत्माके सप्रपञ्चत्व और निष्प्रपञ्चत्वमें परस्पर विरोध नहीं है, क्योंकि उपन्यास आदि हेतुओंसे सर्वज्ञत्व आदिके व्यावहारिक होनेसे चैतन्यमात्ररूपसे अवस्थितिप्रतिपादक श्रुतिके साथ और औडुलोमिके मतके समान सर्वज्ञत्वादि धर्मोंके सिद्धान्तमें तुच्छ न होनेसे गुणकलापका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिके साथ विरोध भी नहीं है, यह भाव है।

मुक्तार्थपरत्वेन व्याकुर्वन् भाष्यकारश्च मुक्तस्येश्वरभावापत्तिं स्पष्टमनुमेने। भामतीनिबन्धप्रभृतयश्च श्रुत्युपबृंहितमिदं सूत्रजातं भगवतो भाष्यकारस्य उदाहृतं वचनजातं च तथैवान्ववर्तन्त। न च श्रुत्युपबृंहितस्य एतावतः सूत्रभाष्यवचनजातस्य—

ऐश्वर्यमज्ञानतिरोहितं सद् ध्यानादभिव्यज्यत इत्यवोचत्।
शरीरिणः सूत्रकृदस्य यत्तु तदभ्युपेत्योदितमुक्तहेतोः॥ अ. ३ श्लो. १७५

इति संक्षेपशारीरकोक्तरीत्याऽभ्युपेत्यवादत्वं युक्तं वक्तुम्।

तस्मान्मुक्तानामीश्वरभावापत्तेरवश्याभ्युपेयत्वादेतदसम्भव एव प्रतिबिम्बेश्वरवादे दोषः। तदाहुः कल्पतरुकाराः—'न मायाप्रतिबिम्बस्य

इन तीनों सूत्रोंकी तथोक्त अर्थोंके बोधनमें ही शक्ति है, ऐसी व्याख्या करनेवाले भाष्यकारने भी मुक्तकी ईश्वरभावापत्ति स्पष्ट बतलाई है। भामती आदि निबन्धकारोंने श्रुतिसे प्रमाणित उन सूत्रोंका और भगवान् भाष्यकारके उदाहृत वाक्योंका ही अनुसरण किया है। और † श्रुति प्रमाणोंसे उपबृंहित उक्त अनेक सूत्रकार और भाष्यकारके वचनोंको—'ऐश्वर्यज्ञान०' ‡ इत्यादि संक्षेपशारीरकके कथनानुसार—अभ्युपेतवाद भी नहीं मान सकते हैं।

इससे * मुक्तोंकी ईश्वरभावापत्ति अवश्य स्वीकार्य है, अतः प्रतिबिम्बको ईश्वर माननेवालोंके पक्षमें इसका असम्भव दोष है ही। कल्पतरुकारने इसे कहा भी है—मायाप्रतिबिम्बित ईश्वरकी मुक्तों द्वारा प्राप्यता नहीं हो सकती

---

† यदि शङ्का हो कि ब्रह्मसूत्रोंके चार अध्यायोंके यद्यपि सूत्रोंसे और भाष्यकारके वचनोंसे मुक्तकी ईश्वरभावापत्ति ज्ञात होती है तथापि संक्षेपशारीरकके वचनके साथ विरोध होता है, अतः उक्त वाक्योंमें उपचरितार्थता ही मानना युक्त है, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उन सूत्रोंके जबरदस्त प्रमाण होनेके कारण संक्षेपशारीरककी उक्तिको ही गौण मानना युक्त है।

‡ इस वचनका यह अर्थ है—सूत्रकारने जो 'पराभिध्यानात्तु' इस सूत्रसे शरीरी जीवका ऐश्वर्य, जो अज्ञानसे तिरोहित है, वह ईश्वरके स्वरूपके ध्यानसे अभिव्यक्त होता है, ऐसा कहा है, वह अभ्युपेतमवादसे अर्थात् एकदेशीरीतिसे कहा है।

*इससे अर्थात् उक्त प्रमाणोंके आधारसे, यह भाव है।

विमुक्तैरुपसृप्यता' इति । एतदसम्भवश्च एकजीववादपारमार्थिकजीवभेदवादयोरपि दोषः ।

जीवेशभेदसत्यत्वेऽप्येतत्सर्वमसङ्गतम् ।
न च शक्त्यन्तरं जीवे प्रमाणफलवर्जनात् ॥ २३ ॥

आसर्वमुक्ति परकल्पितसत्यकामसङ्कल्पकल्पितजगत्स्थितिभङ्गसर्गे ।
शक्तं स्वतस्तु सुखचिद्घनमद्वितीयं मुक्तोपसृप्यमहमस्मि विशुद्धतत्त्वम् ॥ २४ ॥

श्रुतिकल्पलताकुञ्जसञ्जाता सूक्तिमञ्जरी ।
रम्या राद्धान्तगन्धाढ्या रञ्जयत्वखिलान् बुधान् ॥ २५ ॥

यदि जीव और ईश्वरका भेद सत्य माना जाय, तो पूर्वोक्त समाधान असङ्गत हो जायगा, और जीवमें पापनाशक किसी अन्य शक्तिकी कल्पना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उसमें प्रमाण और फल नहीं है। सम्पूर्ण जीवोंकी मुक्ति जब तक न हो तब तक अविद्यावत्पुरुषसे कल्पित सत्यकाम और सत्यसंकल्पसे कल्पित जगत्की स्थिति, लय और उत्पत्तिमें समर्थ और मुक्त पुरुषों द्वारा प्राप्य स्वतः चिद्घन अद्वितीय ब्रह्म मैं हूँ। श्रुतिरूप कल्पलताके कुञ्जसे उत्पन्न हुई अनेक सिद्धान्तरूपी सुगन्धिसे परिपूर्ण सुन्दर सूक्तिमञ्जरी सम्पूर्ण विद्वानोंका मनोरञ्जन करे ॥२३॥२४॥२५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्रामचन्द्रसरस्वती-
पूज्यपादशिष्यगङ्गाधरेन्द्रसरस्वत्याख्यभिक्षुविरचिता
वेदान्तसिद्धान्तसूक्तिमञ्जरी सम्पूर्णा ।

है। और * इसका असम्भवरूप दोष एकजीववाद और पारमार्थिक जीवभेदवादमें भी है।

---

* एकजीववादमें मुक्तकी ईश्वरभावापत्ति नहीं है, यह पहले ही बतलाया जा चुका है। और जीव एवं ईश्वरका भेद भी पारमार्थिक है, इस वादमें भी जीवकी ईश्वरभावापत्तिका असम्भव स्पष्ट ही है, किं बहुना। जीवेश्वरका पारमार्थिक भेद माननेवालोंके मतमें जीवका शुद्ध चैतन्यस्वरूपसे अवस्थान भी नहीं बन सकता है, यह भाव है।

यत्तु कैश्चिद् द्वैतिभिरुच्यते—भेदस्य पारमार्थिकत्वेन मुक्तौ जीवस्येश्वरभावाभावेऽपि तत्रापीश्वर इव पृथगपहतपाप्मत्वादिगुणसम्भवादविरोध इति, तत्तुच्छम्, तथा सति जीवस्यापहतपाप्मत्वादिकमस्तीति न तस्य ब्रह्मलिङ्गत्वमिति शङ्कापरिहारालाभेन 'उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु' इति सूत्रविरोधात्। 'ब्राह्मेण जैमिनिः' इति सूत्रे जीवगतस्यापहतपाप्मत्वादेः, 'उपन्यासादिभ्यः' इत्यत्रादिशब्दार्थत्वेन परेषामप्यभिमतस्य 'जक्षन् क्रीडन् रममाणः' इत्यादिश्रुत्युदितस्य जक्षणादेश्च ब्राह्मत्वनिर्देशविरो-

* और कुछ द्वैतवादियोंने कहा है कि भेद पारमार्थिक है, इसलिए यद्यपि जीवका ईश्वरभाव नहीं हो सकता है, तथापि मुक्त जीवमें ईश्वरके समान अलग अपहतपाप्मत्व आदि गुणोंकी अवस्थिति हो सकती है, अतः कोई विरोध नहीं है, परन्तु यह पक्ष अत्यन्त तुच्छ है, क्योंकि ऐसा माननेपर जीवमें अपहतपाप्मत्व आदि गुण रह सकते हैं, इसलिए वह गुणाष्टक ब्रह्मका बोध करानेमें लिङ्ग नहीं हो सकेगा, अतः शङ्काके समाधानका † लाभ न होनेके कारण 'उत्तराच्चेत्' इत्यादि सूत्रके साथ विरोध होगा, तथा 'ब्राह्मेण जैमिनिः' इस सूत्रमें जीवगत अपहतपाप्मत्व आदिकी और 'उपन्यासादिभ्यः' इसमें स्थित आदिशब्दके अर्थरूपसे दूसरों का भी अभिमत 'जक्षन् क्रीडन्' इत्यादि श्रुतिमें कथित जक्षण आदिकी ब्रह्मसम्बन्धिताका निर्देश भी विरुद्ध होगा। जीव और ब्रह्मके भेदपक्षमें

* अब इस ग्रन्थसे यह बतलाना चाहते हैं कि सिद्धान्तीने कहा है कि मुक्त पुरुषोंके अपहतपाप्मत्व आदि आठ गुण ईश्वरभावापत्तिके विना नहीं हो सकते हैं, अतः मुक्त पुरुषकी ईश्वरभावापत्ति कहनी चाहिए, और पारमार्थिक जीवेश्वरभेदवादमें मुक्त पुरुषको लेकर कहे गये उक्त आठ गुणोंकी उपपत्ति नहीं हो सकती है, परन्तु इस विषयमें जीवेश्वरभेदका अवलम्बन करनेवाले कुछ लोग कहते हैं कि पारमार्थिक भेदवादमें भी श्रुति और सूत्रोंसे निरूपित आठ गुण ईश्वरभावापत्तिके विना भी रह सकते हैं, इस मतके परिहारके लिए उक्त भेदवादियोंका अनुवाद करके खण्डन करते हैं।

† तात्पर्यार्थ यह है कि यदि ईश्वरमें रहनेवाले अपहतपाप्मत्व आदि की अपेक्षा जीवमें अलग ही अपहतपाप्मत्व आदि गुण माने जायँ, तो 'उत्तराच्चेत्' इस सूत्रके अंशसे पूर्वमें जो शङ्का की गई थी—उसका 'आविर्भूतस्वरूपस्तु' इस अंशसे परिहार किया गया है, इस परिहारभागसे यदि मुक्त जीवमें आठ गुणोंका आविर्भाव माना जाय, तो भी ठीक ठीक परिहार नहीं होगा, क्योंकि मुक्त और ब्रह्मके भेदपक्षमें उक्त गुण जीवसाधारण होंगे, इससे ब्रह्मासाधारणत्वरूप ब्रह्मलिङ्गकी प्राप्ति न होनेके कारण दहराकाशमें ईश्वरत्वके निर्णायक आठ गुण नहीं होंगे, यह भाव है।

धाच। भेदे तेषां गुणानां सत्यत्वेन 'चितितन्मात्रेण' इति सूत्रोक्तस्य मुक्तजीवानां चैतन्यमात्रत्वस्य 'एवमपि' इति सिद्धान्तसूत्रेऽङ्गीकारविरोधाच्च, 'सम्पद्याविर्भावः' इत्यधिकरणविरोधाच्च। तत्र हि 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति श्रुतौ आगन्तुना केनचिद्रूपेणाभिनिष्पत्तिर्नोच्यते स्वेनशब्दवैयर्थ्यापत्तेः। येन रूपेण आगन्तुना स्वयमभिनिष्पद्यते तस्यात्मीयत्वस्याऽवक्तव्यत्वात्। तस्मादात्मवाचिस्वशब्दोपादानाद् नित्यसिद्धेन स्वस्वरूपेणैवाभिनिष्पत्तिर्विवक्षिता, न तु केनचिद्धर्मेणेति व्यवस्थापितम्।

किञ्चेदमपहतपाप्मत्वादि जीवस्य मुक्तावागन्तुकं चेत्, 'सम्पद्याविर्भावः' इति मुक्तावागन्तुकरूपनिषेधेन 'पराभिध्यानात्तु तिरोहितम्' 'उत्तराचेदाविर्भूतस्वरूपस्तु' इत्यपहतपाप्मत्वादेर्बन्धमुक्त्योस्तिरोभावा-

---

उन गुणोंके सत्य होनेसे 'चितितन्मात्रेण' इस सूत्रमें कथित मुक्त जीवोंके चैतन्यमात्रत्वका जो 'एवमपि' इत्यादि सूत्रमें अङ्गीकार किया गया है, वह विरुद्ध होगा और सम्पद्याविर्भावः' * इस अधिकरणके साथ भी विरोध होगा, क्योंकि सम्पद्याधिकरणमें आगन्तुक किसी धर्मसे अभिनिष्पत्ति नहीं कही जा सकती है, क्योंकि वैसा माननेसे 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इस श्रुतिमें उक्त स्वेनशब्दके साथ विरोध होगा, कारण कि जिस आगन्तुक स्वरूपसे अपने आप अभिव्यक्त होता है, उसमें आत्मीयत्व नहीं रह सकता, इससे आत्माके वाचक स्वशब्दका श्रुतिमें उपादान होनेसे नित्यसिद्ध स्वरूपसे ही अभिनिष्पत्ति विवक्षित है, आगन्तुक किसी धर्मसे नहीं, ऐसा व्यवस्थापन किया गया है।

किञ्च, यदि अपहतपाप्मत्व आदि धर्म मुक्तिमें जीवके आगन्तुक माने जायँगे तो 'सम्पद्याविर्भावः' इससे मुक्तिमें आगन्तुक धर्मोंके निषेधसे 'पराभिध्यानात्तु तिरोहितम्' 'उत्तराचेदाविर्भूतस्वरूपस्तु' इत्यादि सूत्रोंसे अपहतपाप्मत्वादिका बन्ध और मुक्तिमें क्रमशः तिरोभाव और आविर्भावके

---

* किञ्च, अपहतपाप्मत्व आदि आठ गुण मुक्तिमें उत्पन्न होते हैं अथवा स्वतःसिद्ध ही हैं, इस प्रकारके दो विकल्प करके प्रथम विकल्पके समाधानपूर्वक द्वितीयका इस ग्रन्थसे एक प्रकारसे शेष रखते हैं, यह भाव है।

विर्भावप्रतिपादनेन च विरोधः स्यादिति नित्यसिद्धं वाच्यमिति बन्धस्य मिथ्यात्वं दुर्वारम्, नित्यसिद्धमपहतपाप्मत्वं हि सर्वदा पाप्मरहितत्वम्। न च वस्तुतः सर्वदा पाप्मरहिते पाप्मसम्बन्धः, तन्मूलककर्तृत्वभोक्तृत्वसम्बन्धो वा पारमार्थिकः सम्भवति। एवं च जीवस्येश्वराभेदोऽपि दुर्वारः, श्रुतिबोध्यतदभेदविरोधिबन्धस्य सत्यत्वाभावात्। अन्यथा संसारिणि नित्यसिद्धसत्यसङ्कल्पतिरोधानोक्त्ययोगाच्च। नहि जीवस्य संसारदशायाम-

प्रतिपादनसे विरोध होगा, इससे अपहतपाप्मत्व आदिको नित्यसिद्ध मानना चाहिए, इससे बन्धका मिथ्यात्व दुर्वार है। क्योंकि नित्यसिद्धा अपहतपाप्मत्व—सर्वदा पाप्मसम्बन्धसे रहितस्वरूप ही है। अतः वास्तविक पापसम्बन्धसे जो रहित है, उसमें पापका सम्बन्ध हो ही नहीं सकता है, तथा पापसम्बन्धमूलक कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिके सम्बन्ध भी नहीं रह सकते। बन्धके मिथ्या होनेपर जीवका ईश्वरके साथ अभेद भी दुर्वार है, क्योंकि * श्रुतिसे बोधित ब्रह्माभेदका विरोधी संसार सत्य नहीं हो सकता है। यदि संसारके मिथ्यात्वका अङ्गीकार न करके जीव और ब्रह्मका अभेद न माना जाय, तो नित्यसिद्ध सत्यसङ्कल्पत्व आदिका तिरोधान जो 'पराभिध्यानात्' इत्यादि सूत्रमें सूत्रकारने कहा है, वह अयुक्त हो जायगा, क्योंकि† अन्य लोग भी जीवकी संसारदशामें एकाध अर्थको विषय करनेवाला एक

* यदि यहांपर शङ्का हो कि संसारके मिथ्यात्वके प्रतिपादनसे क्या लाभ है, क्योंकि उसके सत्य होनेपर भी जीव और ब्रह्मका अभेद बोधित हो सकता है। इस प्रकारके भास्करके मतको लेकर कहते हैं कि संसारको सत्य माननेपर परमात्मामें रहनेवाले नित्यमुक्तत्वका भी सत्यत्वरूपसे ही अङ्गीकार करना चाहिए, इससे परमार्थस्वरूप विरुद्ध धर्मोंसे आक्रान्त जीव और ब्रह्मका अग्नि और हिमके समान श्रुतिसे बोधित अभेद हो ही नहीं सकता है।

† यदि शङ्का हो कि तिरोधानका प्रयोग कैसे हो सकता है? तो इसपर कहना चाहिए कि जीवमें रहनेवाले नित्यसिद्ध सत्यसङ्कल्पत्वका तिरोधान 'पराभिध्यानात्तु०' इत्यादि सूत्रसे कहा जाता है। अथवा ईश्वरगत सत्यसङ्कल्पत्वका जीवके प्रति तिरोधान उक्त सूत्रसे कहा जाता है। इस प्रकारके दो विकल्प करके प्रथम विकल्पका इस ग्रन्थसे परिहार करते हैं, तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी साधारण अर्थको विषय करनेवाले एक सत्यसङ्कल्पको भी तिरोहित नहीं मानता है, तो सब धर्मोंको विषय करनेवाले सत्यसङ्कल्पको कैसे मानेगा?

नुवर्तमानो यत्किञ्चिदर्थगोचरः कश्चिदस्त्यवितथसंकल्पस्तिरोहित इति परैरपीष्यते। किन्त्वीश्वरस्य यन्नित्यसिद्धं निरवग्रहं सत्यसङ्कल्पत्वम्, तदेव जीवस्य संसारदशायामीश्वराभेदानभिव्यक्त्या स्वकीयत्वेनाऽनवभासमानं तं प्रति तिरोहितमित्येव समर्थनीयमिति घट्टकुटीप्रभातवृत्तान्तः।

नन्वपहतपाप्मत्वं न पाप्मविरहः, किन्तु पाप्महेतुकर्माचरणेऽपि पापोत्पत्तिप्रतिबन्धकशक्तियोगित्वमिति न तस्य नित्यसिद्धत्वेन बन्धस्य मिथ्यात्वप्रसङ्गः। एवं सत्यसङ्कल्पत्वमपि शक्तिरूपेण निर्वाच्यमिति

सत्यसङ्कल्प तिरोहित है, ऐसा यदि नहीं मानते हैं, तो सर्वार्थको विषय करनेवाला सत्यसङ्कल्प तिरोहित है, ऐसा कैसे मान सकते हैं? किन्तु ‡ ईश्वरका निरवद्य जो नित्यसिद्ध सत्यसङ्कल्पत्व है, उसीका, जीवकी संसारदशामें ईश्वरके साथ अभेदकी अनभिव्यक्तिसे अपने प्रति स्वसम्बन्धित्वेन अनवभासमान होकर उसके प्रति, तिरोधान होता है, ऐसा समर्थन करना होगा, इससे घट्टकुटीप्रभात वृत्तान्त ही प्रसक्त होगा।

यदि शङ्का हो कि* पापसम्बन्धसे रहितत्व अपहतपाप्मत्व नहीं है, किन्तु पापके हेतुभूत कर्मोंका आचरण करनेपर भी पापकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धकशक्तिसम्बधितारूप है, इसलिए उसके नित्यसिद्ध होनेपर भी संसारमें मिथ्यात्वकी प्रसक्ति नहीं हो सकती, इसी प्रकार शक्तिरूपसे† सत्यसङ्कल्पत्वकी भी व्याख्या करनी चाहिए, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि उस प्रकारके

---

‡ यदि द्वितीय विकल्पका अङ्गीकार किया जाय, तो आखिरमें सिद्धान्तीका ही पक्ष मानना होगा, इससे पारमार्थिक भेद नहीं मान सकते हैं, यह भाव है।

* इस ग्रन्थसे भेदवादी यह शङ्का करता है कि अपहतपाप्मत्वका परिष्कार हम ऐसा करते हैं कि जिससे संसार वास्तविक माना जाय, तो भी अपहतपाप्मत्वके साथ विरोध नहीं है।

† किञ्च, निषिद्ध कर्मोंका आचरण करनेपर भी पापकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धकरूप जिस शक्तिकी तुम अपहतपाप्मशब्दके अर्थरूपसे कल्पना करते हो, उसकी क्या इसलिए कल्पना करते हो कि विद्याके उदयके पूर्वमें पापका प्रतिबन्ध हो, अथवा विद्याके बाद? तुम्हारे मतमें होनेवाली मुक्तिके पूर्वमें पापका प्रतिबन्ध हो अथवा तुम्हारे मतके अनुसार मुक्तिके कालमें देह आदिके रहनेके कारण कदाचित् पापके हेतुभूत निषिद्ध कर्मोंका आचरण हो सकता है, अतः उसका प्रतिबन्ध हो? इस प्रकारके तीन विकल्पोंका मनमें निश्चय करके क्रमशः इस ग्रन्थसे उन विकल्पोंका परिहार करते हैं।

नेश्वराभेदप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम्; एवं शब्दार्थकल्पने प्रमाणाभावात्। नहि पापजननप्रतिबन्धिका शक्तिः संसाररूपपरिभ्रमणदशायां पापानुत्पत्त्यर्थं कल्पनीया, तदानीं तदुत्पत्तेरिष्टत्वात्। विद्योदयप्रभृति तु विद्यामाहात्म्यादेवाऽश्लेषः 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' (उ० मी० अ० ४ पा० १ सू० १३) इति सूत्रेण दर्शितः। तत एव मुक्तावप्यश्लेष उपपद्यत इति व्यर्था शक्तिकल्पना। तस्मादुदाहृतश्रुतिसूत्रानुसारिभिर्मुक्तजीवानां यावत्सर्वमुक्ति वस्तुसच्चैतन्यमात्रत्वाविरोधिबद्धपुरुषाविद्याकृतनिरवग्रहैश्वर्यतदनुगुणगुणकलापविशिष्टनिरतिशयानन्दस्फुरणसमृद्धनिस्सन्धिबन्धपरमेश्वरभावापत्तिरादर्तव्येति सिद्धम्॥ ५॥

विद्वद्गुरोर्विहितविश्वजिदध्वरस्य
श्रीसर्वतोमुखमहाव्रतयाजिसूनोः।

अपहतपाप्मत्वका अर्थ करनेमें कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि * पापोत्पत्तिमें प्रतिबन्धक शक्तिकी संसाररूपके विद्यमानत्वकालमें पापके अनुत्पादके लिए कल्पना नहीं कर सकते हैं, कारण कि उस कालमें पापकी उत्पत्ति इष्ट ही है। और विद्याके उदित होनेपर तो विद्याके प्रभावसे ही पापका सम्बन्ध नहीं रहेगा, यह 'तदधिगम०' इत्यादि सूत्रसे स्पष्ट बतलाया गया है, इसीसे मुक्तिमें भी पापका असम्बन्ध हो सकता है, इसलिए शक्तिकी कल्पना व्यर्थ है। इससे उदाहृत श्रुति और सूत्रोंका अनुसरण करनेवालेको यह मानना चाहिए कि जब तक सब जीवोंकी मुक्ति न हो जाय, तब तक मुक्त जीवोंकी—वस्तुसत् चैतन्यमात्रत्वका विरोध न करनेवाले बद्ध पुरुषकी अविद्यासे सम्पादित निरवग्रह ऐश्वर्य और इस ऐश्वर्यके अनुकूल गुणसमूहसे युक्त निरतिशयानन्दके स्फुरणसे समृद्ध—परमेश्वरभावापत्ति है ॥५॥

अनेक विद्वानोंके गुरु, विश्वजित् आदि अनेक याग करनेवाले, श्रीसर्वतोमुखमहाव्रतयाजी आचार्य दीक्षितसे उत्पन्न, भगवान् शङ्करजीके परमभक्त श्रीरङ्ग-

---

* तत्त्वसाक्षात्कारके प्राप्त होनेसे विद्याके पूर्वकालमें रहनेवाले पापका विनाश होता है और विद्याके उत्तरकालमें होनेवाले पापसे भी सम्बन्ध नहीं होता है, क्योंकि विद्यासे पूर्वोत्तर पापोंका नाश होता है, श्रुति, स्मृति आदि प्रमाणोंसे सिद्ध है, यह 'तदधिगमे' इत्यादि सूत्रका अर्थ है।

श्रीरङ्गराजमखिनः श्रितचन्द्रमौले-
रस्त्यप्पदीक्षित इति प्रथितस्तनूजः ॥१॥

तन्त्राण्यधीत्य सकलानि सदाऽवदात-
व्याख्यानकौशलकलाविशदीकृतानि ।
आम्नायमूलमनुरुध्य च सम्प्रदायम्
सिद्धान्तभेदलवसङ्ग्रहमित्यकार्षीत् ॥२॥

सिद्धान्तरीतिषु मया भ्रमदूषितेन
स्यादन्यथाऽपि लिखितं यदि किञ्चिदस्य
संशोधने सहृदयाः सदया भवन्तु
सत्सम्प्रदायपरिशीलननिर्विशङ्काः ॥३॥

॥ इति पदवाक्यप्रमाणपारावारपारीणसर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीमदप्पदीक्षितविरचिते शास्त्रसिद्धान्तलेशसङ्ग्रहे चतुर्थः परिच्छेदः ॥

राजाध्वरीके पुत्र प्रसिद्ध विद्वान् अप्पदीक्षितने व्याख्यानकी कुशलकलाओंसे विस्तारित अनेक शास्त्रोंका अध्ययन कर और सदा वेदानुसारी सम्प्रदायका अनुसरण करके अद्वैतवेदान्तसिद्धान्तके पृथक्-पृथक् स्वरूपोंका संक्षेपसे संग्रह किया है ॥ १–२ ॥

यदि भ्रमवश सिद्धान्तोंकी रीतियोंमें मेरे द्वारा कुछ हेर-फेर हो गया हो, तो परिशुद्धसम्प्रदायके परिशीलनसे सन्देहरहित सहृदय पुरुष उसको शोधने की दया करें ॥ ३ ॥

श्रीसिद्धान्तलेशके वेदान्ताचार्यश्रीपं० मूलशङ्करव्यास-विरचित
भाषानुवादमें चतुर्थ परिच्छेदका भाषानुवाद समाप्त ॥

